

य
म
रं

15.4

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भारतीय सामाजिक संस्थाएं

(INDIAN SOCIAL INSTITUTIONS)

लेखक :

रवीन्द्र नाथ मुकर्जी

रीडर तथा अध्यक्ष, समाजशास्त्र विभाग,
बरेली कॉलेज,
बरेली।

प्रकाशक :

विवेक प्रकाशन

7-यू-ए, जवाहर नगर
दिल्ली-7

संस्करण : 1990

मूल्य 45/-

प्रकाशक : Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

विवेक प्रकाशन

7-यू-ए, जवाहर नगर

दिल्ली-7

प्रथम संस्करण : 1964

द्वितीय संस्करण : 1967

तृतीय संस्करण : 1969

चतुर्थ संस्करण : 1972

पंचम संस्करण : 1975

षष्ठ संस्करण : 1978

सप्तम संस्करण : 1981

अष्टम संस्करण : 1983

पुनर्मुद्रण 1990

I. S. B. N. : 81-7004-047-7

मुद्रक : मेहरा ऑफसेट प्रेस,

दरियागंज, नई दिल्ली-110002

आमुख : अष्टम संस्करण

इस पुस्तक का छठा संस्करण सन् १९८१ के अन्त में प्रकाशित हुआ था; अर्थात् केवल दो वर्ष की अति अल्प अवधि में पुस्तक का छठा संस्करण बिल्कुल विक गया। यह तथ्य स्वयं में ही पुस्तक की अमूलपूर्व लोकोपयता का परिचायक है। पर यह इसीलिए सम्भव हुआ क्योंकि स्नेही विद्यार्थियों व विद्वान अध्यापकों ने इसकी उपयोगिता को परखा एवं खरा पाकर उसे साग्रह अपनाया। इस सहयोग व सद्भावना के लिए हम उनके हृदय से अभारी हैं।

प्रस्तुत संस्करण में कोई क्रान्तिकारी परिवर्तन किया गया है, यह झूठा दावा मैं नहीं करता, पर साथ ही इस सत्य का दावेदार मैं निश्चय ही हूँ कि इस बीच भारतीय समाज, सामाजिक विज्ञान, सामाजिक व राजनीतिक घटनाओं में जो परिवर्तन या परिवर्द्धन हुए हैं उन सभी को एक-एक करके यथा-स्थान मैंने निष्ठापूर्वक सम्मिलित कर लिया है ताकि पुस्तक को पढ़ते हुए पाठकवर्ग को किसी भी रूप में यह अनुभव न हो कि नवीनतम सूचनाओं के मामले में वे पिछड़ रहे हैं। फलतः मार्च सन् १९८३ तक उपलब्ध समस्त नये आँकड़ों व सूचनाओं से यह पुस्तक समृद्ध है। यह इस संस्करण की विशेष उपलब्धि है।

हम इस संस्करण को सबके लिए अधिक उपयोगी बनाना चाहते हैं, और बनाया भी है। पर उस दिशा में हमारी सफलता का मूल्यांकन अगर पाठक वर्ग स्वयं ही करें, तो कैसा हो?

‘मातृ आशीष’
तिलक कॉलोनी,
सुभाष नगर, बरेली।

—रवीन्द्र नाथ मुकर्जी

आमुख : षष्ठ संस्करण

‘भारतीय सामाजिक संस्थाएँ’ के इस षष्ठ पूर्णतया संशोधित, परिमार्जित व परिवर्द्धित संस्करण को नए नाम से और नए रूप में प्रस्तुत करते हुए मुझे आज अपार सन्तोष व गर्व का अनुभव हो रहा है। वस्तुतः किसी भी पुस्तक का छठा संस्करण स्वयं में ही उस पुस्तक की अभूतपूर्व लोकप्रियता का द्योतक है और इसका सम्पूर्ण श्रेय उन्हीं सहृदय विद्यार्थियों व विज्ञा अध्यापकों को ही है जिन्होंने इस पुस्तक के प्रत्येक नए संस्करण को अधिक आग्रहपूर्वक अपनाकर मुझे गौरवान्वित किया है। मैं उन सभी के प्रति हृदय से आभार व्यक्त करता हूँ एवं ‘भारतीय समाज व संस्कृति’ (‘भारतीय सामाजिक संस्थाएँ’ का नया नाम) को नई विशेषताओं एवं नई सामग्री के साथ पुनः उन्हीं की सेवा में प्रस्तुत करता हूँ। मुझे केवल सान्त्वना ही नहीं बरन् पूर्ण सन्तोष भी है कि प्रस्तुत संस्करण मुख्य-पृष्ठ से लेकर अन्तिम पृष्ठ तक वह नहीं है जो इसका पिछला संस्करण था क्योंकि नवीन आवश्यकताओं के अनुरूप पुस्तक का सब-कुछ बदल दिया गया है।

इस बीच नए विश्वविद्यालयों के रूप में रूहेलखण्ड व अवध विश्वविद्यालयों आदि के बन जाने तथा उनके नए पाठ्यक्रम प्रकाशित हो जाने एवं गोरखपुर विश्व-विद्यालय द्वारा अपने पाठ्यक्रम में कुछ परिवर्तन कर देने के कारण यह आवश्यक हो गया कि ‘भारतीय सामाजिक संस्थाएँ’ की सम्पूर्ण सामग्री व अध्यायों को फिर एकदम नए ढंग से व्यवस्थित किया जाए, अनेक नए अध्यायों को जोड़ा जाए एवं उपरोक्त तीन विश्वविद्यालयों के पाठ्यक्रमानुसार पुस्तक के नाम तक को बदल दिया जाए। प्रस्तुत संस्करण में यह सब कुछ किया गया है। पिछले संस्करण में कुल 29 अध्याय थे, प्रस्तुत संस्करण में उनकी संख्या बढ़कर 37 हो गई है। एक ओर जहाँ पिछले संस्करण में से 11 अध्यायों को नवीनतम पाठ्यक्रमों के सन्दर्भ में निकाल दिया गया है, वहीं दूसरी ओर 18 नए अध्यायों को जोड़ा भी गया है; पुस्तक का आरम्भ नया है सामग्री नई है और नया है अध्यायों का क्रम। फलतः केवल नाम के ही दृष्टिकोण से नहीं अपितु पुस्तक की अन्तर्वस्तु एवं संरचना के दृष्टिकोण से भी यह एक सम्पूर्ण नई पुस्तक है जिसका कि प्रत्येक अध्याय मई 1978 तक उपलब्ध नवीनतम सूचनाओं व आंकड़ों से समृद्ध है। अतः आशा यही है कि पुस्तक के इस नवीन संस्करण को सभी लोग अधिक रुचिकर व उपयोगी पाएँगे। यदि ऐसा हुआ तो संशोधन का उद्देश्य सार्थक होगा।

विषय-सूची

अध्याय

पृष्ठ

- 1—भारतीय समाज व संस्कृति की एक झलक (A Glimpse of Indian Society and Culture) 1

भूमिका; भारतीय समाज—भारतवर्ष क्या है ? भौगोलिक दशाएँ, ग्रामीण तथा नागरिक समुदाय, जनसंख्यात्मक पृष्ठभूमि, लिंग-भेद तथा वैवाहिक स्थिति, भाषा, धर्म, शिक्षा-प्रणाली; भारतीय संस्कृति—संस्कृति क्या है ? भारतीय संस्कृति की मूल धारा, भारतीय संस्कृति की विशेषताएँ ।

- 2—भारतीय समाज में विभिन्नता व एकता (Diversity and Unity in Indian Society) 17

भूमिका, भारतीय समाज में विभिन्नताएँ: भारतीय समाज में विभिन्नताओं में मौलिक अखण्ड एकता—(1) भौगोलिक एकता, (2) राजनीतिक एकता, (3) सांस्कृतिक एकता, (4) धार्मिक एकता, (5) सामाजिक एकता, (6) भाषा की एकता, (7) कला की एकता (8) भारत के निवासियों की एकता; निष्कर्ष ।

- 3—भारतीय समाज के दार्शनिक या परम्परागत आधार (Philosophical or Traditional Bases of Indian Society) ... 26

भूमिका, सामाजिक व्यवस्था क्या है ? भारतीय सामाजिक व्यवस्था का अभिप्राय, भारतीय समाज या सामाजिक व्यवस्था के परम्परागत आधार, निष्कर्ष ।

- 4—मनुष्य की अवधारणा (The Concept of Man) ... 34

भूमिका, मनुष्य की उत्पत्ति; मनुष्य जीवन के आधार व अभिव्यक्तियाँ—(1) संसार, (2) देहतव, (3) आत्मा व परमात्मा, (4) यज्ञ, (5) संस्कार, (6) जीवन व धर्म, (7) कर्मफल और कर्मवाद, (8) मनुष्य के पाँच कर्म, (9) पुनर्जन्म, (10) पुरुषार्थ, (11) मोक्ष ।

- 5—धर्म (Dharma) ✓ ... 49

भूमिका, धर्म का अर्थ व प्रकृति, भारतीय संस्कृति में धर्म का अर्थ, धर्म के लक्षण, धर्म के स्रोत, धर्म के रूप—जीवन के कर्तव्य-कर्म धर्म के रूप में, भारत में जीवन का धार्मिक आधार ।

- 6-वर्णाश्रम-व्यवस्था—वर्ण (Varnashrama System—Varna)... 60
 'वर्णाश्रम' का अर्थ; वर्ण-व्यवस्था—'वर्ण' का अर्थ, वर्ण में निहित
 दर्शन, वर्ण-व्यवस्था की उत्पत्ति सम्बन्धी सिद्धान्त, वर्ण-व्यवस्था का
 आधार—जन्म या कर्म ? वर्ण और जाति में भेद, वर्णों के कर्तव्य
 या 'वर्ण'-धर्म ।
- 7-आश्रम-व्यवस्था (Ashrama System) ... 81
 भूमिका, 'आश्रम' का अर्थ, आश्रम-व्यवस्था की उत्पत्ति, आश्रमों
 का विभाजन, विभिन्न आश्रमों में प्रवेश की आयु; चार आश्रम—
 (1) ब्रह्मचर्याश्रम, (2) गृहस्थाश्रम, (3) वानप्रस्थाश्रम, (4)
 संन्यासाश्रम आश्रम-व्यवस्था का महत्त्व, आश्रम व्यवस्था और
 पुरुषार्थ, निष्कर्ष ।
- 8-पुरुषार्थ (Purushartha) ... 107
 भूमिका, 'पुरुषार्थ' क्या है ? धर्म—'धर्म' का अर्थ, धर्म के दो पहलू,
 धर्म का सार्वभौमिक पहलू, धर्म का सामाजिक पहलू, धर्म का महत्त्व;
 अर्थ—'अर्थ' क्या है ? अर्थ का महत्त्व; काम—'काम' शब्द का अर्थ,
 'काम' के दो पहलू, 'काम' के सम्बन्ध में विभिन्न मत, 'काम' का
 महत्त्व; मोक्ष—'मोक्ष' का अर्थ, मोक्ष के विभिन्न मार्ग तथा उनमें
 अन्तर, मोक्ष-प्राप्ति के लिए कौनसा मार्ग सर्वोत्तम है ? मोक्ष का
 महत्त्व, निष्कर्ष : पुरुषार्थ का समाजशास्त्रीय महत्त्व ।
- 9-कर्म का सिद्धान्त (Doctrine of Karma) ... 136
 भूमिका, 'कर्म' का अर्थ, कर्म का सिद्धान्त—मनुष्य अपने भाग्य का
 निर्माता है, कर्म-फल की अवधारणा, कर्म के सिद्धान्त के अन्तर्निहित
 तत्त्व, कर्म के भेद, कर्म के विभिन्न सिद्धान्त, गीता में कर्म का
 सिद्धान्त—कर्मयोग, कर्म के सिद्धान्त का महत्त्व, निष्कर्ष ।
- 10-हिन्दू संस्कार (Hindu Sanskar) ... 160
 भूमिका, 'संस्कार' का अर्थ, संस्कारों के भेद, संस्कारों के उद्देश्य या
 महत्त्व ।
- 11-पौराणिक कथाएँ तथा प्रतीक (Myths and Symbols) ... 168
 भूमिका, पौराणिक कथाओं तथा लोक-गाथाओं में अन्तर, पौराणिक
 कथा—पौराणिक कथा का अर्थ, पौराणिक कथाओं की उत्पत्ति,
 पौराणिक कथाओं की विशेषताएँ, पौराणिक कथाओं का महत्त्व,
 पौराणिक कथाओं का वर्गीकरण, पौराणिक कथाओं के कुछ उदाहरण;
 प्रतीक—प्रतीक की परिभाषा, प्रतीकों के भेद, सामाजिक जीवन में
 प्रतीकों के कार्य, हिन्दुओं के कुछ परम्परागत प्रतीक ।
- 12-भारतीय जाति-प्रथा (Indian Caste System) ... 183
 भूमिका, जाति की परिभाषा, जाति-प्रथा की प्रमुख विशेषताएँ,
 जातियों का वर्गीकरण, जाति एक धार्मिक कृत्य और वैचारिक-दोनों

ही है, जाति और उपजाति; जाति और वर्ग—जाति और वर्ग में अन्तर, निष्कर्ष ।

13—जाति-प्रथा की उत्पत्ति (Origin of Caste System) ... 200

भूमिका—(1) परम्परागत सिद्धान्त, (2) राजनीतिक सिद्धान्त, (3) धार्मिक सिद्धान्त, (4) व्यावसायिक सिद्धान्त, (5) उद्विकासीय सिद्धान्त (6) प्रजातीय सिद्धान्त (7) आदिम संस्कृति का सिद्धान्त. (8) सांस्कृतिक एकीभाव का सिद्धान्त, निष्कर्ष ।

14—जाति के कार्य (Functions of Caste) ... 222

भूमिका; जाति के कार्य या लाभ—(1) सदस्यों के व्यक्तिगत जीवन में लाभ या कार्य, (2) जातीय समुदाय से सम्बन्धित कार्य या लाभ, (3) सामाजिक कार्य या लाभ; जाति-प्रथा से हानियाँ—(1) आर्थिक दृष्टिकोण से, (2) राजनीतिक दृष्टिकोण से, (3) सांस्कृतिक दृष्टिकोण से, (4) सामाजिक दृष्टिकोण से ।

15—जाति-प्रथा में समकालीन परिवर्तन (Contemporary Changes in Caste System) ... 235

भूमिका, वैदिक युग, उत्तर-वैदिक काल, धर्मशास्त्र युग, मध्यकालीन युग, वर्तमान युग; जाति-प्रथा में आधुनिक परिवर्तन के कारक अथवा जाति-प्रथा को निर्बल या विघटित करने वाले तत्त्व; जाति-प्रथा में समकालीन परिवर्तन या जाति-प्रथा की वर्तमान अवस्था—जाति-प्रथा में संरचनात्मक पहलू में परिवर्तन, जाति-प्रथा के सांस्कृतिक पहलू में परिवर्तन, क्या जाति क्रमशः वर्गों के रूप में विकसित हो रही है? क्या भारत में जाति विहीन समाज की स्थापना सम्भव है? जाति-प्रथा का भविष्य ।

16—परिवार—केन्द्रीय या मूल परिवार (Family—Nuclear Family) 262

भूमिका परिवार का अर्थ एवं परिभाषा, परिवार की सामान्य प्रकृति या विशेषताएँ; परिवार के प्रकार—विभिन्न आधारों पर परिवार के प्रकार : निवास के आधार पर परिवार के प्रकार, अधिकार या सत्ता के आधार पर परिवार के प्रकार, उत्तराधिकार के आधार पर परिवार के प्रकार, वंश-नाम के आधार पर परिवार के प्रकार, विवाह-सम्बन्ध के आधार पर परिवार के प्रकार, परिवार की सदस्य-संख्या के आधार पर परिवार के प्रकार, मूल या केन्द्रीय परिवार ।

17—संयुक्त परिवार (Joint Family) ... 271

भूमिका, संयुक्त परिवार का अर्थ, संयुक्त परिवार की प्रमुख विशेषताएँ, संयुक्त परिवार के प्रकार, पितृसत्तात्मक संयुक्त परिवार की संरचना; संयुक्त परिवार के सामाजिक कार्य—आर्थिक कार्य, सामाजिक कार्य, राष्ट्रीय कार्य; संयुक्त परिवार के दोष—आर्थिक दृष्टिकोण सामाजिक दृष्टिकोण, संयुक्त परिवार को विघटित करने वाले कारक, संयुक्त परिवार का भविष्य ।

18—परिवार में आधुनिक परिवर्तन (Modern Changes in Family) 302
 भूमिका, परिवार तथा विवाह में आधुनिक परिवर्तन के कारण;
 आधुनिक भारत में परिवार परिवर्तन—परिवार का भविष्य; क्या
 परिवार टूट रहा है ?

19—हिन्दू-विवाह—एक संस्कारात्मक विवाह (Hindu Marriage—A
 Scaramental Marriage) ... 310

भूमिका, विवाह की सामान्य परिभाषा, विवाह के सामान्य उद्देश्य,
 हिन्दुओं में विवाह, हिन्दू-विवाह का अर्थ; हिन्दू-विवाह एक धार्मिक
 संस्कार है—हिन्दू-विवाह के उद्देश्य या आदर्श हिन्दू-विवाह के
 परम्परागत स्वरूप, वर्तमान काल में हिन्दू में प्रचलित विवाह,
 हिन्दू-विवाह के भेद—एक-विवाह, बहुपत्न या बहुपत्नी-विवाह.
 बहुपतित्व या बहुपति-विवाह; हिन्दुओं में जीवन-साथी के चुनाव के
 सिद्धांत-हिन्दू-विवाह के निषेध—अन्तर्विवाह : हिन्दू-अन्तर्विवाह के
 कारण, हिन्दू अन्तर्विवाही प्रतिबन्धों का दुर्बल होना; बहिर्विवाह—
 (अ) गोत्र बहिर्विवाह, (ब) प्रवर बहिर्विवाह, (स) सपिण्ड बहिर्विवाह;
 अनुलोम व प्रतिलोम; कुलीन विवाह—कुलीन विवाह की उत्पत्ति
 के कारण, कुलीन विवाह के परिणाम ।

20—विवाह से सम्बन्धित समस्याएँ एवं आधुनिक परिवर्तन या प्रवृत्तियाँ
 (Problems and Recent Trends or Changes in Marriage) 342

समस्याएँ—(1) दहेज तथा वर-मूल्य-प्रथा : दहेज व वर-मूल्य-प्रथा
 क्या है? उत्पत्ति के कारण, वर-मूल्य-प्रथा से हानियाँ, वर-मूल्य-प्रथा
 से लाभ, समस्या का हल; (2) बाल-विवाह : बाल-विवाह क्या है ?
 बाल-विवाह का इतिहास, बाल-विवाह के कारण, बाल-विवाह से
 हानियाँ, बाल-विवाह से लाभ, बाल-विवाह को समाप्त करने के उपाय,
 कानूनी सुधार, कानूनी प्रतिकारों की विफलता के कारण, बाल-विवाह
 के प्रतिकूल सामाजिक परिस्थितियाँ; (3) विधवा-विवाह—विभिन्न
 युगों में विधवा-विवाह, विधवा-विवाह के प्रतिकूल परिस्थितियों के
 कारण, विधवा-विवाह के लिए अनुकूल परिस्थितियाँ, विधवा-विवाह
 के सम्बन्ध में वैधानिक सुविधाएँ, विधवा-विवाह का नैतिक औचित्य;
 (4) विवाह-विच्छेद : विवाह-विच्छेद के विरोध में तर्क और उनका
 खण्डन, विवाह-विच्छेद के सम्बन्ध में कुछ आवश्यक सतर्कता; विवाह
 से सम्बद्ध आधुनिक परिवर्तन या प्रवृत्तियाँ—अन्तर्जातीय विवाह—
 अन्तर्जातीय विवाह को प्रोत्साहित करने वाले कारक या अन्तर्जातीय
 विवाह कैसे ? अन्तर्जातीय विवाह से लाभ या अन्तर्जातीय विवाह
 क्यों ? निष्कर्ष ।

21—मुस्लिम परिवार तथा विवाह (Muslim Family and Marriage) 369

भूमिका, मुस्लिम परिवार की सामान्य विशेषताएँ, मुस्लिम परिवार
 की आधारभूत विशेषताएँ, मुस्लिम परिवार के प्रमुख संस्कार; मुस्लिम

विवाह—मुस्लिम विवाह का अर्थ, मुस्लिम विवाह एक समझौते के रूप में, विवाह की रात, विवाह-समझौते का प्रतिकूल—‘महर’; विवाह और नाबालिग, विवाह में संरक्षक का स्थान, विवाह के अधिकार और कर्तव्य, विवाह के भेद, हिन्दू और मुस्लिम विवाह में अन्तर, भारतीय मुस्लिम विवाह की एक झलक; मुसलमानों में विवाह-विच्छेद—बिना अदालत के विवाह-विच्छेद, अदालत द्वारा विवाह-विच्छेद, निष्कर्ष ।

22—सामाजिक विधानों का विवाह तथा परिवार पर प्रभाव (Compact of Social Legislations on Marriage and Family) 390

सामाजिक विधान का अर्थ, भारत में सामाजिक विधान का महत्त्व; भारत में प्रमुख सामाजिक विधान—(1) सती-प्रथा निषेध अधिनियम, 1829; (2) हिन्दू-विधवा-पुनर्विवाह अधिनियम, 1856; (3) हिन्दू स्त्रियों का सम्पत्ति पर अधिकार अधिनियम, 1937; (4) बाल-विवाह अवरोध अधिनियम, 1929; (5) विशेष विवाह अधिनियम, 1872; 1923, 1954; (6) हिन्दू-विवाह तथा विवाह-विच्छेद अधिनियम, 1955; (7) हिन्दू उत्तराधिकार अधिनियम 1956; (8) हिन्दू नाबालिगी तथा संरक्षकता अधिनियम, 1956; (9) हिन्दू गोद लेना तथा भरण-पोषण का अधिनियम, 1956; (10) दहेज निरोधक अधिनियम, 1961; (11) मुस्लिम विवाह-विच्छेद अधिनियम, 1939; हाल के विधानों का परिवार तथा विवाह पर प्रभाव; निष्कर्ष ।

23—भारतीय समाज में नारी की स्थिति (Status of Women in Indian Society) ... 408

भूमिका, विभिन्न युगों में नारी की स्थिति—वैदिक युग, उत्तर-वैदिक काल, स्मृति युग, मध्यकालीन युग, आधुनिक युग, (स्वतन्त्रता के पूर्व तक), हिन्दू स्त्रियों की निम्न स्थिति के कारण, वर्तमान भारत में स्त्रियों की स्थिति या उनकी परम्परागत स्थिति में परिवर्तन; वर्तमान समय में भारतीय स्त्रियों की स्थिति में हुए सुधार या परिवर्तन के कारण, हिन्दू और मुस्लिम स्त्रियों की स्थिति की तुलना; निष्कर्ष : क्या स्त्रियों का लोक-जीवन में प्रवेश वांछनीय है ?

24—सांस्कृतिक समन्वय की समस्याएँ (The Problems of Cultural Synthesis) ... 420

भूमिका, सांस्कृतिक समन्वय क्या है ? भारत में सांस्कृतिक समन्वय की समस्याएँ, निष्कर्ष ।

25—इस्लाम तथा ईसाई धर्म का सामाजिक प्रभाव (The Social Influence of Islam and Christianity) ... 427

भूमिका, इस्लाम—एक संक्षिप्त परिचय इस्लाम का प्रभाव—धार्मिक जीवन पर प्रभाव, जाति-प्रथा पर प्रभाव, विवाह पर प्रभाव, सामाजिक जीवन के अन्य पक्षों पर प्रभाव, स्थापत्य कला पर प्रभाव,

चित्रकला पर प्रभाव, संगीत पर प्रभाव; ईसाई धर्म—एक संक्षिप्त परिचय; ईसाई धर्म का प्रभाव : जनजातीय जीवन पर प्रभाव ।

26—आधुनिक सामाजिक सुधार आन्दोलन (Modern Social Reform Movements) ... 444

भूमिका, सामाजिक सुधार का अर्थ, भारत में सामाजिक सुधार आन्दोलन की सहायक अवस्थाएँ; सामाजिक सुधार आन्दोलनों का सामाजिक परिवर्तन लाने में महत्त्व; सामाजिक सुधार आन्दोलन व सामाजिक परिवर्तन; भारत में सामाजिक सुधार आन्दोलन का इतिहास; भारतीय समाज-सुधार-आन्दोलन के प्रमुख नेतागण—(1) राजा राममोहन राय, (2) महर्षि देवेन्द्रनाथ ठाकुर, (1) श्री केशवचन्द्र सेन, (4) स्वामी दयानन्द सरस्वती, (5) स्वामी विवेकानन्द, (6) महात्मा गांधी; भारत में सामाजिक सुधार आन्दोलन की संस्थाएँ—भक्ति-आन्दोलन, ब्रह्म समाज, प्रार्थना-समाज, आर्य समाज, रामकृष्ण मिशन, सर्वोदय, अन्य समाज-सुधारक संस्थाएँ, सामाजिक सुधार आन्दोलन के परिणाम ।

27—समकालीन सामाजिक वर्ग—अल्पसंख्यक तथा नवीन भारतीय अभिजात वर्ग (Contemporary Social Classes—the Minorities and New Indian Elite) ... 474

भूमिका, सामाजिक वर्ग की परिभाषा, भारत में सामाजिक वर्ग की विशेषताएँ; भारत में वर्ग-निर्माण के आधार; आधुनिक भारत में नवीन अभिजात वर्ग व उनकी भूमिकाएँ; अल्पसंख्यक समुदाय; ईसाई परिवार—ईसाई परिवार की आधारभूत विशेषताएँ, ईसाई परिवार के उद्देश्य; ईसाई विवाह—परिभाषा, उद्देश्य, विवाह-संस्कार, विवाह-विच्छेद; अल्पसंख्यक आयोग की नियुक्ति ।

28—भारतीय समाज व संस्कृति में समकालीन परिवर्तन (Contemporary Changes in Indian Society and Culture) ... 491

भूमिका, भारत में सामाजिक परिवर्तन के कारक; भारत में सामाजिक परिवर्तन—सामाजिक जीवन में परिवर्तन, आर्थिक जीवन में परिवर्तन, राजनीतिक जीवन में परिवर्तन, शिक्षा के क्षेत्र में परिवर्तन, सांस्कृतिक जीवन में परिवर्तन ।

29—संस्कृतीकरण (Sanskritization) ... 507

भूमिका, संस्कृतीकरण—जाति-प्रथा के अन्तर्गत क्रियाशील एक प्रक्रिया, संस्कृतीकरण का अर्थ, संस्कृतीकरण की प्रक्रिया व सामाजिक परिवर्तन, संस्कृतीकरण में सहायक अवस्थाएँ, संस्कृतीकरण की प्रक्रिया, संस्कृतीकरण की संकल्पना में दोष ।

30—भारत में पश्चिमीकरण (Westernization in India) ... 517

भूमिका, पश्चिमीकरण का अर्थ, ऐतिहासिक पृष्ठभूमि, पश्चिमीकरण के लक्षण, पश्चिमीकरण के परिणाम; पश्चिमीकरण व भारतीय

समाज एवं संस्थाओं में परिवर्तन—(1) सामाजिक जीवन और संस्थाओं में परिवर्तन, (2) धार्मिक जीवन में परिवर्तन, (3) राजनीतिक जीवन में परिवर्तन, (4) साहित्य के क्षेत्र में परिवर्तन, (5) ललित कला में परिवर्तन, (6) शिक्षा के क्षेत्र में परिवर्तन, (7) आर्थिक जीवन में परिवर्तन; निष्कर्ष : भारतीय संस्कृति का भविष्य ।

31—लौकिकीकरण व सामाजिक परिवर्तन (Secularization and Social Changes) ... 559

भूमिका, लौकिकीकरण का अर्थ एवं परिभाषा, लौकिकीकरण के प्रमुख तत्त्व, लौकिकीकरण के कारण, भारतीय समाज में लौकिकीकरण से सामाजिक परिवर्तन—(1) अपवित्रता व पवित्रता की धारणा में परिवर्तन एवं लौकिकीकरण, (2) जीवन-चक्र व संस्कारों में लौकिकीकरण द्वारा परिवर्तन, (3) जाति संरचना में परिवर्तन और लौकिकीकरण, (4) परिवार पर लौकिकीकरण का प्रभाव, (5) ग्रामीण समुदाय में लौकिकीकरण ।

32—अस्पृश्यता—(Untouchability) ... 550

भूमिका, अस्पृश्यता का अर्थ, अस्पृश्यता—ऐतिहासिक पृष्ठभूमि, अस्पृश्यता की उत्पत्ति; अस्पृश्य जातियों की नियोग्यताएँ—(1) आर्थिक नियोग्यताएँ, (2) सामाजिक नियोग्यताएँ, (3) धार्मिक नियोग्यताएँ (4) राजनीतिक नियोग्यताएँ; नियोग्यताओं के प्रभाव, सुधार आन्दोलन—सुधार आन्दोलन के चार पहलू; स्वतन्त्रता के पश्चात् सरकारी प्रयत्न : संवैधानिक तथा कानूनी संरक्षण, अस्पृश्यता विरोधी आन्दोलन, नागरिक अधिकार संरक्षण कानून, 1976; हरिजन-कल्याण कार्य—विधानमण्डलों में प्रतिनिधित्व, सरकारी नौकरियों में प्रतिनिधित्व, कल्याण तथा सलाहकार संस्थाएँ, पंचवर्षीय योजनाओं के अन्तर्गत व्यय, प्रशिक्षण व शिक्षण कार्यक्रम, छात्र-वृत्तियाँ एवं शिक्षा सम्बन्धी अन्य सुविधाएँ, राज्य-क्षेत्र की योजनाएँ, अस्पृश्यता को दूर करने के लिए केवल कानून पर्याप्त नहीं, अस्पृश्यता के उन्मूलन के लिए कुछ सुझाव, निष्कर्ष ।

33—जातिवाद (Casteism) ... 571

भूमिका, जातिवाद की परिभाषा और अर्थ, जातिवाद के विकास के कारक, जातिवाद के परिणाम, जातिवाद तथा समाजवाद परस्पर विरोधी हैं, जातिवाद के निराकरण के उपाय ।

34—साम्प्रदायिकता (Communalism) ... 578

भूमिका, साम्प्रदायिकता का अर्थ, साम्प्रदायिकता का जन्म तथा विकास, साम्प्रदायिकता—वर्तमान भारत में, साम्प्रदायिकता के दुष्परिणाम, साम्प्रदायिकता को दूर करने के सुझाव, साम्प्रदायिक सौहार्द के लिये 7-सूत्री कार्यक्रम, 1976 ।

35—क्षेत्रीयता (Regionalism)

... 620

भूमिका, क्षेत्रीयता का विस्तृत अर्थ, क्षेत्रीयता का संकीर्ण अर्थ, क्षेत्रीयता की प्रकृति, क्षेत्रीयता के विकास के कारक, क्षेत्रीयता के दुष्परिणाम, क्षेत्रीयता को रोकने के उपाय ।

36—समकालीन राजनीतिक परिवर्तन (Contemporary Political Changes)

... 594

भूमिका, भारत में आधुनिक राजनीतिक परिवर्तन—लोकतन्त्रात्मक गणराज्य की स्थापना, स्वतन्त्र व निष्पक्ष न्यायपालिका का उदय, लोकतान्त्रिक विकेन्द्रीकरण व पंचायती राज की स्थापना, लोकतान्त्रिक समाजवाद, नियोजन तथा धर्मनिरपेक्षता; देशी रियासतों का विलय, राज व राष्ट्रभाषा के रूप में हिन्दी को मान्यता, सिण्डिकेट का उदय व कांग्रेस का प्रथम विभाजन, 1969; अनेक नई राजनीतिक पार्टियों का उदय, भारतीय राजनीति में प्रदेशवाद, राजनीति में जाति और धर्म का प्रयोग, दल-बदल की राजनीति, मिली-जुली सरकार की राजनीति; आपात्स्थिति की घोषणा; लोकसभा चुनाव, 1977—जनतन्त्र की जय जनता सरकार का गठन—कांग्रेस का दूसरा विभाजन 1978; सातवीं लोकसभा (1980) के लिये आम चुनाव; निष्कर्ष ।

37—राष्ट्रीय एकीकरण की समस्याएँ (The Problems of National Integration)

... 620

भूमिका, राष्ट्रीय एकीकरण का अर्थ, राष्ट्रीय एकीकरण की आवश्यकता, राष्ट्रीय एकीकरण की समस्या की पृष्ठभूमि, राष्ट्रीय एकीकरण के विरोधी तत्त्व या राष्ट्रीय एकीकरण की समस्या; राष्ट्रीय एकीकरण के तीन महत्त्वपूर्ण पहलू—अल्पसंख्यक वर्गों का एकीकरण, धार्मिक एकीकरण, उत्तर और दक्षिण का एकीकरण, राष्ट्रीय एकीकरण को प्रभावशाली बनाने के लिए सुझाव, राष्ट्रीय एकीकरण की दिशा में किए गए सरकारी प्रयत्न, निष्कर्ष ।

1

भारतीय समाज व संस्कृति की एक झलक

[A Glimpse of Indian Society and Culture]

इतिहास कुछ कहता है; कहता है कि अनुमानतः ईसा के प्रायः ढाई हजार वर्ष पूर्व एक आक्रमणकारी समूह का भारत के विशाल महादेश में प्रवेश हुआ; उसके पराक्रम के सामने यहाँ के आदिवासियों ने अपना सिर झुकाया। पर उस दिन किसी को क्या पता था कि केवल उन आदिवासियों का ही नहीं, एक दिन सम्पूर्ण संसार का सिर झुक जाएगा, झुक जाएगा भारत की शक्ति, पराक्रम या तलवार के सामने नहीं, बरन् उसके ज्ञान, सभ्यता, संस्कृति और उदात्त हृदय के सामने। किन्तु उस दिन तो केवल आदिवासियों की ही हार हुई और वह आक्रमणकारी समूह अपनी विजय-घोषणा के साथ पंचनदी के मैदान में बस गया। उसी के साथ प्रारम्भ हुआ भारतवर्ष के ऐतिहासिक युग का वास्तविक व क्रमवद्ध इतिहास—संस्कृति और समाज की अमर कथा। वह आक्रमणकारी समूह था 'आर्य' लोगों का और उनकी ही सम्पूर्ण जीवन-विधि (ways of life) 'आर्य-संस्कृति' या 'भारतीय संस्कृति' के नाम से पुष्पित और पल्लवित हुई। उसकी पुष्पगुच्छ ने अपनी मोहक सुरभि से संसार को विमोहित किया और अपने को अमर बनाया। रोम, यूनान, सुमेर, वैबीलोनिया आदि की संस्कृतियाँ समय के प्रवाह में बया मालूम कहाँ बह गई; जो कुछ रह गया, वह है केवल इतिहास के शुष्क पृष्ठों पर उनकी ही स्मृति-गाथा या इतिवृत्त। पर भारतीय संस्कृति व समाज आज भी जीवित हैं, जीवित हैं अपनी विशिष्टताओं के साथ, जीवित हैं अपनी ही संजीवनी शक्ति से संजीवित होकर।

भारतीय समाज यहाँ के शास्त्रकारों के उपदेशों, निर्देशों तथा नियमों पर आधारित हैं। अपने दीर्घ अनुभव, ज्ञान और चिन्तन द्वारा वे इस निष्कर्ष पर पहुँचे थे कि "आत्मानुभव, आत्मसाक्षात्कार व आत्मदर्शन ही मानव-जीवन का परम पुरुषार्थ है। जीवन और जगत् में दो प्रकार के तत्व हैं : एक वह जो नित्य परिवर्तनशील है जो प्रतिक्षण बदल रहा है; दूसरा वह जो इस परिवर्तन के मूल में है; वह स्वयं अव्यक्त है, पर उसी के कारण और उसी को लेकर जगत् की सम्पूर्ण दृश्य वस्तुओं, सम्पूर्ण व्यक्त पदार्थों का अस्तित्व है। जगत् के पीछे जो यह महती अव्यक्त शक्ति है, उसका उद्घाटन करने और उसे अनुभव तथा धारण करने से ऊपर से असहाय, दुर्बल, अशक्त दीखने वाला मानव-जीवन असीम कल्याणकारी शक्ति एवं वैभव से पूर्ण हो सकता है। हमारे पीछे शक्ति का जो अक्षय कोष छिपा हुआ है, उसकी खोज और सिद्धि से ही मानव-जीवन का आदर्श पूर्ण हो सकता है।

इस आदर्श या विशिष्टता की ओर संकेत करते हुए ही डॉ० राधाकमल मुखर्जी ने लिखा है कि "अन्य समाजों की तुलना में भारतीय समाज की विशेषता यही है कि हमारा समाज बाह्य कानूनों, नीतियों और बन्धनों पर सबसे कम निर्भर है। समाज-

व्यवस्था रखने के लिये, एक वर्ग को दूसरे वर्ग पर हावी होने और मनुष्य का मनुष्य पर अत्याचार रोकने के लिये हमारे यहाँ सबसे कम राजाज्ञाएँ बनीं। भारत में तो प्रथा, परम्परा तथा अन्य संस्थागत व्यवस्था के द्वारा ऐसे सच्चरित्र व्यक्तियों के निर्माण करने का प्रयत्न हुआ, जो सबके जीवन में समभागी होने के कारण और सामान्य मानवों से तादात्म्य स्थापित कर लेने के कारण अपने प्रभाव से उत्कृष्ट और न्यायोचित समाज-रचना करने में समर्थ होते हैं। उदाहरणार्थ, जाति-प्रथा नामक संस्था को ही लीजिए। आज हमको ऐसा अनुभव होता है कि संकीर्ण जाति-भाव रखने वाले लोग अच्छे नहीं होते और ऐसे भेदों के आधार पर बनी समाज-रचना भी अन्याय पर आधारित होने के कारण अनुचित ही होती है। किन्तु इसमें सन्देह नहीं कि राजनीतिक दासता के युग में हमारी वर्ण-व्यवस्था ने ही उस काल में हमारे समाज की रक्षा की, जब विदेशी शासन के नियमों और हस्तक्षेप के कारण सामूहिक प्रतिरक्षा करने की शक्ति हममें कम हो गई थी।” भारतीय समाज व संस्कृति की यही विलक्षणता है और उसी का समाजशास्त्रीय विश्लेषण व निरूपण करना इस पुस्तक का उद्देश्य है। उस उद्देश्य की पूर्ति के लिए भारतीय समाज व संस्कृति के सम्बन्ध में कुछ प्रारम्भिक ज्ञान प्राप्त कर लेना उचित होगा।

भारतीय समाज (Indian Society)

भारतीय समाज का इतिहास लगभग पाँच सहस्र वर्ष से भी अधिक प्राचीन है। इस दौरान में सामाजिक जीवन की सामान्य आवश्यकताओं की पूर्ति के साधन के रूप में भारतीय समाज-निर्माताओं ने मानव की बौद्धिक क्षमताओं द्वारा, केवल भौतिक जीवन से ही नहीं, अपितु आध्यात्मिक जीवन से भी सम्बद्ध अनेक संस्थाओं का निर्माण किया व एक स्वस्थ समाज-व्यवस्था को जन्म देने का श्रेय प्राप्त किया। भारतीय धर्म, दर्शन, कला, अर्थ-व्यवस्था, वर्ण और आश्रम, परिवार और विवाह — ये और इसी प्रकार की कितनी ही अन्य संस्थाएँ हमारे सामाजिक इतिहास में महत्वपूर्ण प्रयोग कहे जा सकते हैं। यह प्रयोग वैदिक काल से ही आरम्भ होता है। वैदिक काल भारतीय आर्यों के इतिहास के उस युग को कहते हैं जब वेदों की रचना की गई थी। वेदों की रचना अनुमानतः ईसा से 2500 से 500 वर्ष के पूर्व तक में हुई थी। इसका तात्पर्य यह हुआ कि जिस समय अधिकांश विश्व का मानव बर्बरता के सघन तिमिर में भ्रमण कर पाशविक जीवन व्यतीत कर रहा था, उस समय भारतीय लोग सभ्यता व संस्कृति की ज्योति को जाग्रत कर प्रकाशमय प्रांजल पथ पर बहुत आगे बढ़ चुके थे। जब अशिक्षित विश्व के मानव अज्ञानता के अन्धकार में विलुप्त जीवन की प्राथमिक आवश्यकताओं की पूर्ति करने में भी अपनी शक्तियों को अपर्याप्त पा रहे थे, उस समय भारतीयों का साहित्य, कला, धर्म तथा दर्शन विकास की ओर निरन्तर बढ़ता जा रहा था। अपने भौतिक जीवन को सुखी तथा सम्पन्न बनाते हुए उन्होंने धर्म, अर्थ तथा काम में सामंजस्य उत्पन्न करके आध्यात्मिकता का सहारा लेते हुए मोक्ष के मार्ग को परिष्कृत कर दिया था। आइए, इस भारत में होने वाले आधुनिक परिवर्तनों की विवेचना करने से पूर्व स्वयं भारतवर्ष या भारतीय समाज के बारे में एक सामान्य ज्ञान प्राप्त कर लें।

भारतवर्ष क्या है ?

(What is India ?)

भारतीय समाज अर्थात् भारतवर्ष के समाज के विषय में कुछ भी जानने के

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

लिए यह आवश्यक है कि हम भारतवर्ष का परिचय जान लें। हिमालय से लेकर हिन्द महासागर तक विस्तृत यह उपमहाद्वीप 'भारतवर्ष' अर्थात् 'भारत का देश' नाम से विख्यात है। पौराणिक गाथाओं के अनुसार इस देश पर 'भरत' नाम का एक प्रतापी राजा राज्य करता था और इसीलिये इस देश का नाम उसी राजा के नाम पर 'भारतवर्ष' पड़ा। भारतवर्ष एक विशाल भू-भाग, जम्बूद्वीप, का एक अङ्ग माना जाता था। हिन्दुओं के विचारानुसार समस्त पृथ्वी सात समकेन्द्रिक महाद्वीपों में विभक्त मानी जाती है। इनमें बीच का महाद्वीप जम्बूद्वीप है और भारतवर्ष उसी का एक अङ्ग है। परन्तु प्रारम्भिक बौद्ध ग्रन्थों के प्रमाणों से प्रतीत होता है कि जम्बूद्वीप तो ईसवी पूर्व तृतीय शताब्दी से दैनिक प्रयोग में आने वाला एक प्रादेशिक नाम था जिसका प्रयोग चीन को छोड़कर एशिया के उस समस्त भू-भाग के लिये होता था जिसे महान् साम्राज्यवादी मौर्य राजवंश ने अपनी शक्ति द्वारा प्रभावित किया था।

भारतवर्ष का एक दूसरा नाम 'हिन्दुस्तान' या 'इण्डिया' है जोकि इस देश के प्रारम्भिक आक्रमणकारियों, फारस-निवासियों और यूनानियों द्वारा रखा गया था। उन्होंने इस देश का नाम सिन्धु या इण्डस (Indus) नदी के नाम के आधार पर 'सिन्धु का प्रदेश' रखा। फारस-निवासी 'स' अक्षर का उच्चारण 'ह' की भाँति करते हैं। अतः उन्होंने 'सिन्धु' का उच्चारण 'हिन्दु' जैसा किया और उसी से इस देश का नाम 'हिन्दुस्तान' पड़ा।

भौगोलिक दशाएँ

(Geographical Conditions)

एशिया के अन्तर्गत भारतवर्ष एक विस्तीर्ण प्रायद्वीप है, जिसका आकार एक विषमबाहु-चतुर्भुज के समान प्रतीत होता है। यह अपनी भौगोलिक स्थिति के कारण एशिया के दूसरे भागों से बिल्कुल पृथक् हो गया है। उदाहरणार्थ, "उत्तर में हिमालय के अमेघ श्रृंगों की श्रृंखला-बद्ध दीवारों तथा दोनों निचली पर्वत-श्रेणियों द्वारा भारत तिब्बत, चीन तथा एशिया के शेष भागों से पृथक् हो जाता है। पूर्व और पश्चिम में दोनों ओर पर्वत-श्रेणियों में दर्रे हैं जो भारत के प्रवेश-द्वार के सदृश हैं। पूर्व, पश्चिम और दक्षिण में बंगाल की खाड़ी, अरब सागर और हिन्द महासागर इस देश के समुद्र-तट का पग-प्रक्षालन करते हैं।" श्री लूनिया ने आगे और लिखा है कि एक ओर समुद्र की अथाह जलराशि द्वारा अफ्रीका से और दूसरी ओर मलाया और जावा-सुमात्रा द्वीपसमूह से अलग होकर और उत्तर-पूर्व व पश्चिम में थल-सीमाओं पर पर्वत-श्रेणियों द्वारा पृथक् होकर भारत अपने इतिहास के आदिकाल से ही अपने विकास में अधिकांश रूप से निरपेक्ष रहा है; अपने सांस्कृतिक जीवन व प्रगति में उसके प्रयत्न व्यक्तिगत ही रहे हैं। इस महत्त्वपूर्ण पृथकता ने भारत को अपनी एक असाधारण सभ्यता की द्योतक विलक्षणताओं और विशिष्ट गुणों की वृद्धि और प्रगति करने में समर्थ कर दिया है। भारत की सभ्यता विश्व के शेष भू-भागों की सभ्यता से अनेक महत्त्वपूर्ण बातों में भिन्न है। अधिकांशतः इस देश के निवासियों का स्वभाव, आदतें, वेश-भूषण, धर्म, विधान तथा ज्ञान वे ही हैं जिनका उन्होंने स्वयं ही विकास किया है और जिन्हें अपने लिये पूर्ण उपयोगी पाया है।

भारत का दक्षिणी भाग उष्ण कटिबन्ध में और उत्तरी भाग शीतोष्ण कटिबन्ध में है। इसलिए दक्षिण भारत की जलवायु गर्म, पर उत्तरी भारत की जलवायु ठण्डी और गर्म है। वास्तव में भारत देश लगभग 8° और $37^{\circ}14'$ उत्तरी रेखांशों तथा 68°

व 97¹⁰ पूर्वी देशान्तरों के बीच फैला हुआ है। काश्मीर से कुमारी अन्तरीप तक इसकी लम्बाई 3219 किलोमीटर तथा पूर्वी छोर से पश्चिमी छोर तक की चौड़ाई 2977 किलोमीटर है। यह उपमहाद्वीप क्षेत्रफल में संसार का चालीसवाँ भाग है। इसका क्षेत्रफल लगभग 32,76,141 वर्ग किलोमीटर है। भारत की स्थलीय सीमा की लम्बाई 15 168 किलोमीटर तथा समुद्री सीमा 5689 किलोमीटर है। विस्तार की दृष्टि से संसार में भारत का सातवाँ स्थान है।

भौगोलिक दृष्टि से भारत को निम्नलिखित पाँच बड़े भागों में विभक्त किया जा सकता है—

1. उत्तर का पर्वतीय प्रदेश—भारत के तराई क्षेत्र के दलदलमय वन-खण्ड सं लेकर हिमालय के शृंगों तक यह प्रदेश फैला हुआ है। इसके अन्तर्गत काश्मीर, कांगड़ा, टिहरी, कुमायूँ, उत्तरकाशी, गढ़वाल जैसे पर्वतीय प्रदेश ही नहीं हैं, अपितु विशाल व सर्वोच्च पर्वत हिमालय भी है जोकि देश के उत्तर में 2,414 किलोमीटर लम्बी दीवार के समान स्थित है! हिमालय की इस रक्षाकारी दीवार के कारण ही भारत की सामाजिक व्यवस्था और सभ्यता का स्रोत अविरल गति से निरन्तर प्रवाहित होता रहा है। धार्मिक सिद्धान्त तथा विश्वास, वैवाहिक नियम, अत्येष्टि क्रिया-विधि तथा सामाजिक व्यवस्था व जाति-प्रथा, आज भी सब मौलिक रूप में प्राचीनकाल के अनुरूप ही हैं। भारतीय जीवन की यह एकसूत्रता और अखंडता हिमालय पर्वत की ही महान् देन है। साथ ही यह भी उल्लेखनीय है कि इसी हिमालय की दीवार के उत्तर-पश्चिम में कतिपय दरें हैं जो वनों की विरलता और ऊँचाई के अभाव के कारण अनादिकाल से इस देश पर आक्रमण करने वालों को सरलता से देश में प्रवेश करने का अवसर प्रदान करते रहे हैं। आर्य, फारसी, यूनानी, सिथियन, हूण, तुर्क, तातारी तथा मंगोल आदि ने खैबर, गोमल, बोलन, कुर्रम तथा टोची नाम से प्रसिद्ध इन्हीं दरों से प्रवेश किया था, फिर भी यह स्मरणीय है कि इन्हीं दरों ने जगत् के साथ भारतीय सम्पर्क और शांतिसम्बन्ध स्थापित करने में भी अत्यधिक सहायता दी। आजकल ये दरें पाकिस्तान में हैं। हिमालय की तराई में अनेक स्वास्थ्यप्रद स्थान (जैसे नैनीताल, मसूरी, शिमला, दार्जिलिंग आदि) और विस्तृत घने वन हैं। यहां की विविध जड़ी-बूटियाँ, प्रचुर मात्रा में पाइ जाने वाली लकड़ी, अन्य वन्य सम्पत्ति और वन्य पशु देश के व्यापार-व्यवसाय, सुख-समृद्धि में वृद्धि करते हैं। इसके अतिरिक्त हिन्द महासागर की मानसूनी हवायें हिमालय की पर्वत-श्रृणियों से टकराकर भारत में पर्याप्त वर्षा कराकर कृषि-कार्य सम्भव बनाती हैं। साथ ही, उत्तर की ठण्डी हवायें हमारे देश में आने का अवसर नहीं पातीं। जिससे भयानक शीत-लहरी से देश की रक्षा होती है। हिमालय पर्वत से ही अनेक नदियाँ निकलती हैं जोकि मैदानी भागों में साल-भर जल लाती रहती हैं, जिनसे नहरें निकाल-डालों पर उत्पादित चाय के निर्यात से देश को प्रतिवर्ष प्रायः 1 अरब 25 करोड़ रुपयों की विदेशी मुद्रा उपलब्ध होती है।

2. उत्तरी भारत का बड़ा मैदान—हिमालय पर्वतमाला तथा दक्षिणी पठार के बीच देश का विशाल समतल एवं सर्वाधिक उपजाऊ मैदान है जो सतलज, गंगा-जमुना तथा ब्रह्मपुत्र के मैदान के नाम से विख्यात है। लगभग 7 लाख 70 हजार वर्ग कि० मी० क्षेत्रफल वाले इस मैदान की लम्बाई 2,414 कि० मी० तथा चौड़ाई 241 से 321 कि० मी० है। यह संसार का सबसे घना वसा क्षेत्र है। इसकी भूमि की उर्वरता व

सम्पन्नता के कारण ही यहाँ विशाल वैभवाली नगरों की वृद्धि हुई, व्यापार-वाणिज्य के केन्द्रों का निर्माण हुआ और प्राचीन एवं अर्वाचीन साम्राज्यों की राजधानियाँ स्थापित हुई। “यह वही मैदान है जो प्राचीन युग में आर्यावर्त के नाम से विख्यात था, जो भारतीय सभ्यता तथा संस्कृति का उद्गम स्थल है, जैन तथा बौद्ध जैसे महान् धार्मिक आन्दोलन का केन्द्र रहा है एवं उस भारतीय जीवन का अन्तस्तल रहा है जिसका सम्पूर्ण महाद्वीप में क्रमशः विकास और प्रसार इतिहास की प्रमुख घटना रही है।” भारत का यही सर्वोत्तम कृषि-प्रधान क्षेत्र है जिसकी मिट्टी को अपूर्व, असीम उर्वरा शक्ति ने जूट चावल, तम्बाकू, गन्ना, गेहूँ, रुई आदि विविध फसलों के प्रचुर उत्पादन की क्षमता द्वारा प्राचीनकाल से ही मानव को आकृष्ट किया है। देश की ४० प्रतिशत जनसंख्या का निवास-स्थल भारत का यह भू-भाग आज भी राष्ट्र के आर्थिक एवं व्यावसायिक विकास में महत्त्वपूर्ण योग दे रहा है।

3. दक्षिण का पठारी प्रदेश—उत्तरी मैदान के दक्षिण में पूर्वी तथा पश्चिमी घाट पर्वतों (विन्ध्याचल, सतपुड़ा, अरावली, राजमहल, मैकाल और अजन्ता) से घिरा हुआ दक्षिण भारत का त्रिभुजाकार पठार है। चोटियों को छोड़कर इस पठार की सामान्यतः ऊँचाई 458 से 1,220 मीटर तक है। यह क्षेत्र पूरे देश का ६ भाग है। बनावट की दृष्टि से यह भारत का सबसे प्राचीन भाग है जो सम्भवतः किसी समय के प्राचीन ‘गोंडवाना लैण्ड’ का अवशेष है। विन्ध्याचल और सतपुड़ा ने आदिवासी सभ्यता व संस्कृति को आज भी सुरक्षित रखा हुआ है और इन दोनों पर्वतों के क्षेत्रों में भारत की भील, गोंड, संथाल, बारेला आदि जनजातियाँ रहती हैं। इस पठारी प्रदेश के निवासियों के रीति-रिवाज रहन-सहन, आचार, विचार वेश-भूषा, सामाजिक व सांस्कृतिक संस्थाएँ उत्तरी भारत के रीति-रिवाज आदि से भिन्न रहें हैं। दक्षिण में द्राविणों की सभ्यता, संस्कृति और भाषाएँ सर्वोपरि रही हैं। प्राचीन भारतीय संस्कृति के अनेक मौलिक तत्त्व इस प्रदेश में विद्यमान हैं।

4. राजस्थान का मरुस्थल—गंगा-सिन्धु के मैदान और विन्ध्याचल पर्वत के बीच में दक्षिण-पश्चिम में राजस्थान का मरुस्थल है। इस मरुस्थल ने मालवा और राजस्थान की रक्षा की। इसी के कारण राजस्थान की संस्कृति, स्वतन्त्र राज्य आदि विदेशी आक्रमणकारियों से सुरक्षित रहे। इससे यहाँ के निवासियों की सामाजिक और धार्मिक संस्थाएँ, रीति-रिवाज, खान-पान, वेश-भूषा, रहन-सहन, बोल-चाल आदि भारत के अन्य प्रान्तों की संस्थाओं आदि से भिन्न रहे हैं। यहाँ की जौहर और सती प्रथाएँ प्रसिद्ध हैं।

5. समुद्रतट के मैदान—दक्षिण पठार के पूर्व तथा पश्चिम में समुद्रतटीय मैदान पाए जाते हैं। इनका निर्माण नदियों द्वारा लाई हुई जलोढ मिट्टी से हुआ है। कच्छ की खाड़ी से कन्याकुमारी तक फैले हुए पश्चिमी तटीय मैदान की औसत चौड़ाई केवल 65 कि० मी० है। इसके उत्तरी भाग को कोंकण और दक्षिणी भाग को मालाबार कहते हैं। कन्याकुमारी से बंगाल की खाड़ी के उत्तरी छोर तक फैला पूर्वी तटीय मैदान अपेक्षाकृत अधिक चौड़ा है। इस मैदान के दो प्रधान भाग हैं—तामिलनाडु और आन्ध्र-उड़ीसा तट। हमारे देश के मुख्य द्वार, जिसके द्वारा देश का प्रायः 75 प्रतिशत विदेशी व्यापार होता है, इन्हीं तटीय मैदानों में स्थित है। इनमें बम्बई, कालीकट, कोचीन, मद्रास, विशाखापट्टनम विशेष उल्लेखनीय हैं। मालाबार तट उत्तम प्रकार की कड़ी लकड़ियों का भण्डार है जबकि केरल के तटीय भाग पर मिलने वाली रेत से यूरेनियम

प्राप्त होता है जो आधुनिक अणु-युग में बड़े महत्त्व का खनिज पदार्थ है। पूर्वी तट के बन्दरगाहों ने अनादिकाल से पूर्वी जावा, सुमात्रा, ब्रह्मा, श्याम तथा हिन्दचीन से भारत का सम्पर्क बनाए रखा और इस प्रकार उन्होंने समस्त पूर्वीय एशिया में भारतीय सभ्यता और संस्कृति का प्रसार करने के लिए एक राजमार्ग का निर्माण किया। सांस्कृतिक दृष्टिकोण से यह अत्यधिक महत्त्वपूर्ण बात है।

ग्रामीण तथा नागरिक समुदाय (Rural and Urban Communities)

जैसाकि हम आगे विस्तारपूर्वक विवेचना करेंगे, सन् 1981 की जनगणना के अनुसार भारत की कुल जनसंख्या 68.52 करोड़ है। इनमें से 52.55 करोड़ या 76.69 प्रतिशत जनता गाँवों में निवास करती है और शेष 15.97 करोड़ या 23.31 प्रतिशत जनता नगरों में बसी हुई है।

1971 की जनगणना के अनुसार देश में 5,75,936 गाँव और 2,643 शहर व शहर-समूह हैं। गाँवों में 3,18,633 गाँव ऐसे हैं जिनमें से प्रत्येक की जनसंख्या 500 से कम है और 6,332 ऐसे हैं जिनमें से प्रत्येक 5,000 या इससे अधिक जनसंख्या वाला है। शहर और शहर-समूहों में 148 ऐसे हैं जिनमें प्रत्येक एक लाख से ऊपर जनसंख्या वाला है। इनमें से नौ शहर ऐसे हैं जिनमें से प्रत्येक की जनसंख्या दस लाख से अधिक है। ये हैं—कलकत्ता शहरी क्षेत्र (70,31,382), बृहत्तर बम्बई (59,70,575), दिल्ली शहरी क्षेत्र (36,47,023), मद्रास (31,99,930), हैदराबाद शहरी क्षेत्र (17,96,339) अहमदाबाद शहरी क्षेत्र (17,41,522), बंगलौर शहरी क्षेत्र (16,56,779), कानपुर शहरी क्षेत्र (12,75,242), और पूना (11,35,034)।

उपरोक्त जनगणना के अनुसार ही उत्तर प्रदेश में कुल 1,12,561 गाँव हैं जिनमें से 62,212 गाँव ऐसे हैं जिनकी जनसंख्या 500 से कम है और केवल 58 गाँव ऐसे हैं जिनमें से प्रत्येक 10,000 या इससे अधिक जनसंख्या वाला है। उत्तर प्रदेश में शहरों की संख्या 293 है जिनमें से 22 शहर ऐसे हैं जिनकी जनसंख्या एक लाख से अधिक है।

जनसंख्यात्मक पृष्ठभूमि

(The Demographic Background)

सन् 1901 में भारत की जनसंख्या 23,83,37,313 थी, जोकि बढ़कर सन् 1911 में 25,20,05,470; सन् 1921 में 25,13,39,492; सन् 1931 में 27,89,67,430; सन् 1941 में 31,86,39,060; सन् 1951 में 36,10,88,090; सन् 1961 में 43,92,34,771 सन् 1971 में 54,81,59,652 और सन् 1981 में 68,51,91,051 हो गई।

इस देश में प्रतिवर्ष 2.10 करोड़ बच्चों का जन्म और 0.80 करोड़ व्यक्तियों की मृत्यु होती है और इस प्रकार जनसंख्या प्रतिवर्ष 1.30 करोड़ की दर से बढ़ती जाती है। इस प्रकार बढ़ने वाले 1.30 करोड़ अतिरिक्त व्यक्तियों के लिये हमें प्रतिवर्ष 25 लाख मकानों की, 1 करोड़ क्विण्टल अन्न की, 19 करोड़ मीटर कपड़े की, 1 लाख स्कूलों की, 4 लाख शिक्षकों की और 40 लाख नए रोजगारों की नई आवश्यकता होती है।

भारत के विभिन्न राज्यों में सबसे अधिक जनसंख्या उत्तर प्रदेश की है जहाँ 11.08 करोड़ से भी अधिक व्यक्ति इस समय निवास कर रहे हैं। इसके बाद

क्रमशः बिहार (6.98 करोड़), महाराष्ट्र (6.27 करोड़), आन्ध्र प्रदेश (5.31 करोड़), पश्चिम बंगाल (5.45 करोड़), तामिलनाडु (4.83 करोड़) तथा मध्य प्रदेश (5.21 करोड़) का स्थान है। पर जनसंख्या के घनत्व के दृष्टिकोण से दिल्ली प्रदेश ज्यादा घना बसा हुआ है जहाँ कि प्रतिवर्ग कि० मी० 4178 व्यक्ति निवास करते हैं। राज्यों में सर्वाधिक घना बसा राज्य केरल है जहाँ कि प्रतिवर्ग कि० मी० 654 व्यक्ति रहते हैं। इसके बाद क्रमशः पश्चिमी बंगाल (614), बिहार (402), तामिलनाडु (371) तथा उत्तर प्रदेश (377) का स्थान है।

लिंग-भेद तथा वैवाहिक स्थिति

(Sex and Marital Status)

सन् 1981 की जनगणना के अनुसार भारत की जनसंख्या प्रायः 68.52 करोड़ थी। इनमें 35.41 करोड़ पुरुष तथा 33.11 करोड़ स्त्रियाँ हैं। इनमें अविवाहित पुरुषों की संख्या 15.60 करोड़ और अविवाहित स्त्रियों की संख्या 12.05 करोड़; विवाहित पुरुष 11.88 करोड़, विवाहित स्त्रियाँ 11.91 करोड़; विधुर 84 लाख, विधवा 2.34 करोड़; तलाकप्राप्त और परित्यक्त पुरुष 7 लाख व स्त्रियाँ 10.26 लाख, और अज्ञात वैवाहिक स्थिति वाले पुरुषों की संख्या 2.61 लाख तथा स्त्रियों की संख्या 1.40 लाख है। उपरोक्त जनगणना से यह भी पता चलता है कि विवाहित स्त्रियों की सर्वाधिक संख्या 20-24 वर्ष के आयु-समूह (age group) में है, जबकि सबसे कम 65-69 वर्ष के आयु-समूह में है। इसके विपरीत पुरुषों की सर्वाधिक संख्या 25-29 वर्ष के आयु-समूह में तथा सबसे कम संख्या 15-19 वर्ष के आयु-समूह में है। अविवाहित पुरुषों और अविवाहित स्त्रियों दोनों की ही अधिकतम संख्या 9 वर्ष तक के आयु-समूह में देखने को मिलती है। विधवाओं की सर्वाधिक संख्या 60-64 के आयु-समूह में तथा सबसे कम संख्या 10-14 वर्ष के आयु-समूह में है। विधुरों की सबसे कम संख्या 10-14 वर्ष के आयु-समूह में तथा सबसे अधिक संख्या 70 वर्ष या इससे अधिक आयु वालों की है।

भाषा

(Language)

भारतवर्ष में 1,652 मातृ-भाषाओं (Mother languages) का प्रचलन है, जिन्हें 826 भाषाओं के अन्तर्गत लाया जा सकता है। इन 826 भाषाओं में 103 अभारतीय (non-Indian) भाषाएं भी सम्मिलित हैं। हिन्दी भाषा को बोलने वालों की संख्या सर्वाधिक है। 13,34,35,360 व्यक्ति इस भाषा को बोलते हैं। इसके बाद क्रमशः तेलगू व बंगाली भाषाओं का स्थान है। इन भाषाओं को बोलने वालों की संख्या क्रमशः 3,76,68,132 व 3,38,88,939 है। इसके बाद भाषा को बोलने वालों की संख्या के आधार पर जिन भाषाओं का स्थान है वे क्रमशः इस प्रकार हैं—मराठी (3,32,86,771), तामिल (3,05,65,706), उर्दू (2,33,23,518), गुजराती (2,03,04,464), कन्नड़ (1,74,15,827), मलयालम (1,70,15,782), बिहारी (1,68,06,772), उड़िया (1,57,19,398), राजस्थानी (1,49,33,016), पंजाबी (1,09,50,826), असामी (68,03,465), संथाली (32,47,058), भीली (24,39,611), काश्मीरी (19,56,115), गोंडी (15,01,431) तथा सिन्धी (13,71,932)। संस्कृत भाषा को बोलने वालों की संख्या केवल 2,544 है। स्मरण रहे कि ये मभी आंकड़े सन् 1961

की जनगणना के आधार पर भारत सरकार द्वारा मान्य हैं क्योंकि 1971 की जनगणना पर आधारित आंकड़े अभी संकलित किए जा रहे हैं।

धर्म

(Religion)

भारतवर्ष में प्रमुख रूप से प्रचलित छः धर्म देखने को मिलते हैं और ये हैं— बौद्ध धर्म, जैन धर्म, इस्लाम, ईसाई धर्म, सिक्ख धर्म तथा हिन्दू धर्म। इनके अतिरिक्त कुछ अन्य धर्म व धार्मिक विश्वासों का प्रचलन इस देश में देखने को मिलता है, पर उनको मानने वालों की संख्या भारत की कुल जनसंख्या का केवल 0.40 प्रतिशत ही है। सन् 1971 की जनगणना के अनुसार हिन्दू धर्म को मानने वालों की संख्या प्रायः 45.35 करोड़ है जोकि कुल जनसंख्या का 82.72 प्रतिशत है। इसके बाद इस्लाम धर्म को मानने वालों की संख्या 6.14 करोड़ है जो देश की कुल जनसंख्या का 11.20 प्रतिशत है। इसके बाद धर्म पर विश्वास करने वालों की संख्या के आधार पर क्रमशः ईसाई धर्म (1.42 करोड़), सिक्ख धर्म (1.04 करोड़), बौद्ध धर्म (38.75 लाख) तथा जैन धर्म (26.05 लाख) का स्थान है। बौद्ध धर्म को मानने वालों की सर्वाधिक संख्या महाराष्ट्र में है, ईसाई धर्म के अनुयायी सबसे अधिक संख्या में केरल राज्य में निवास करते हैं, हिन्दू धर्म को मानने वालों की सर्वाधिक संख्या उत्तर प्रदेश में है, जैन धर्म के अनुयायियों की सर्वाधिक संख्या महाराष्ट्र में है, इस्लाम धर्म को मानने वालों की भी सर्वाधिक संख्या उत्तर प्रदेश में ही है जबकि सिक्ख धर्म के अधिकतम अनुयायी पंजाब में बसे हुए हैं।

शिक्षा-प्रणाली

(Educational System)

भारतीय शिक्षा-व्यवस्था एक अति प्राचीन संस्था है क्योंकि भारतीयों ने शिक्षा के महत्व को समझा और यह स्वीकार किया कि शिक्षा वैयक्तिक, सामाजिक और राष्ट्रीय प्रगति के लिये ही नहीं, अपितु सभ्यता और संस्कृति के विकास के लिए भी अनिवार्य है। वेदों में अनेक ऐसे उदाहरण हैं जिनसे कि यह प्रमाण मिलता है कि सुदूर अतीत में संगठित रूप में गुरुओं द्वारा शिक्षा दी जाती थी। ऋग्वेद के एक मन्त्र में अनेक छोटे-छोटे बालकों के एक साथ पढ़ने की उपमा दी गई है। अथर्ववेद में ब्रह्मत्रय की महिमा के गीत गाये गए हैं। शिक्षा का प्रारम्भ उपनयन संस्कार से होता था। इस संस्कार द्वारा बालक गुरु के समीप जाकर विद्याभ्यास के लिए उसका शिष्य बनता था। यह संस्कार 7 या 8 वर्ष की आयु में होता था। मनुष्य-जीवन के प्रथम 25 वर्ष के भाग को ब्रह्मचर्य आश्रम कहा जाता था। इस आश्रम में, व्यक्ति विद्यार्थी के रूप में गुरुकुल में रहकर विद्या प्राप्त करता था एवं शारीरिक, मानसिक और आध्यात्मिक उन्नति करता था। विद्यार्थी के रूप में वह वेद, पुराण, व्याकरण, ज्योतिष, छन्द, दर्शन, कला आदि का अध्ययन करता था। मुस्लिम युग में शिक्षा की इस व्यवस्था में अनेक परिवर्तन हो गए। उस काल में शिक्षण-संस्थायें दो प्रकार की थीं— एक तो मकतब और दूसरे मदरसे। मकतब एक छोटी-सी पाठशाला के समान थे जहाँ बालक-बालिकाओं को प्रारम्भिक शिक्षा निःशुल्क दी जाती थी। उन्हें लिखना-पढ़ना, गणित, कुरान, प्रख्यात धर्मोपदेशकों और सन्तों की जीवन-गाथायें और ऐतिहासिक कहानियाँ पढ़ाई जाती थीं। मकतब से ऊपर मदरसे होते थे। ये उच्च शिक्षण-संस्थायें थीं जिनमें मुस्लिम

दर्शन, कानून, धर्म, व्याकरण, इतिहास, चिकित्सा और तर्कशास्त्र की शिक्षा दी जाती थी। इस युग में लोग स्त्री-शिक्षा के पक्ष में नहीं थे। इसके पश्चात् अंग्रेजी शासनकाल की शिक्षा-प्रणाली का आरम्भ हुआ जोकि अब तक प्रचलित है। इस शिक्षा-प्रणाली के अन्तर्गत सम्पूर्ण शिक्षा-व्यवस्था को मोटे तौर पर तीन स्तरों पर बाँटा गया—प्राथमिक शिक्षा, माध्यमिक शिक्षा और विश्वविद्यालयीय शिक्षा। प्राथमिक शिक्षा के अन्तर्गत छठी कक्षा तक की शिक्षा आ जाती है, माध्यमिक शिक्षा 12वीं कक्षा तक तथा विश्वविद्यालय की शिक्षा स्नातक (graduate) कक्षा से आरम्भ होती है। स्वतन्त्रता के पश्चात् इस शिक्षा-प्रणाली में पर्याप्त सुधार व उन्नति करने का प्रयत्न निरन्तर किया जा रहा है। भारत में साक्षरता-दर सन् 1951 के 16.6 प्रतिशत से बढ़कर सन् 1981 में 36.17 प्रतिशत हो गई। 6 से 11 की आयु-समूह के बच्चों में अब 86% बच्चे स्कूल जाते हैं, जबकि आज से 25 वर्ष पहले केवल 33% बच्चे जाते थे। सभी राज्यों में प्रारम्भिक शिक्षा अब निःशुल्क हो गई है और अधिकांश राज्यों में तो अनिवार्य भी कर दी गई है। सन् 1980 में स्कूलों में पढ़ने वाले बच्चों की संख्या 10 करोड़ से भी ज्यादा थी जबकि 1950-51 में ऐसे बच्चों की संख्या मात्र 2.35 करोड़ थी। सन् 1971-81 के दशक में 15-24 आयु-वर्ग में प्रौढ़ शिक्षा के अन्तर्गत साक्षरता 2.53 करोड़ बढ़ी। सन् 1979-80 में लगभग 3.37 करोड़ लड़कियाँ स्कूलों में थीं। विश्वविद्यालय स्तर पर विद्यार्थियों की संख्या नौ गुनी से अधिक हो गई है और कालेजों की संख्या छः गुनी से भी अधिक। इस समय देश में 108 विश्वविद्यालय हैं।

भारत में शिक्षा का उत्तरदायित्व मुख्यतः राज्य सरकारों पर है, परन्तु कुछ बातों के लिए केन्द्रीय सरकार भी जिम्मेदार है। अलीगढ़, बनारस, दिल्ली, हैदराबाद, जबहारलाल नेहरू, उत्तर पूर्वीय पहाड़ी और विश्व-भारती—इन सात केन्द्रीय विश्व-विद्यालयों का एवं देश के विभिन्न भागों में स्थित 187 केन्द्रीय विद्यालयों का संचालन भी केन्द्र सरकार करती है। भारतीय समाज-व्यवस्था के मुख्य-आधारों की विवेचना हम अध्याय 3 में करेंगे। उससे पहले यहाँ भारतीय संस्कृति का संक्षिप्त विवरण प्रस्तुत करते हैं।

भारतीय संस्कृति (Indian Culture)

भारतीय संस्कृति विश्व के मानव-इतिहास की एक अमूल्य निधि है। मानव-इतिहास में करोड़ों मानवों की असंख्य कीर्तियाँ मूर्त रूप में प्रस्थापित हैं और सैकड़ों अध्यायों में उन कीर्तियों की कथाएँ बिखरी पड़ी हैं। उन बिखरे हुए मोतियों को सभेट-कर एक परिपूर्ण माला में पिरोकर इस देश के दुलारों ने भारत माँ के गले में पहनाकर उसे औरवानित्त किया है। उस गौरव का हिस्सेदार बनने का अधिकार सबको है क्योंकि सबको लेकर ही भारत का इतिहास है। भारत ने, भारतीय संस्कृति व सामाजिक व्यवस्था ने, कभी अपने को अपने तक ही सीमित नहीं रखा है—विश्व का कोई भी भाग कोई भी जाति या सम्प्रदाय इसके स्नेहमय आह्वान से कभी वंचित नहीं रहा। गौरवमय भारत की यही गौरवमयी परम्परा है। यही उसकी संस्कृति है। पर इस सम्बन्ध में कुछ लिखने से पूर्व यह जान लेना उचित होगा कि संस्कृति कहते किसे है।

संस्कृति क्या है ?

(What is Culture ?)

सामान्य रूप में संस्कृति सीखे हुए व्यवहारों की वह समग्रता है जिसमें कि एक व्यक्ति का व्यक्तित्व पलता, पनपता और पशु-स्तर से ऊँचा उठता है। श्री टायलर (Tylor) के अनुसार, “संस्कृति वह जटिल समग्रता है, जिसमें ज्ञान, विश्वास, कला, आचार, कानून, प्रथा तथा ऐसी ही अन्य क्षमताओं और आदतों का समावेश रहता है जिन्हें मनुष्य समाज का सदस्य होने के नाते प्राप्त करता है।”¹

श्री पिडिंगटन (Piddington) का विचार है कि “संस्कृति उन भौतिक तथा बौद्धिक साधनों या उपकरणों का सम्पूर्ण योग है जिनके द्वारा मानव अपनी प्राणि-शास्त्रीय तथा सामाजिक आवश्यकताओं की सन्तुष्टि करता है तथा अपने-आपको अपने पर्यावरण के अनुकूल बनाता है।”²

ये तो सब अंग्रेजी शब्द ‘कल्चर’ (Culture) की परिभाषायें हैं। अब भारतीय शब्द ‘संस्कृति’ के विषय में भी कुछ ज्ञान लेना आवश्यक होगा। ‘संस्कृति’ शब्द संस्कृत भाषा का है। संस्कृत व्याकरणानुसार ‘सम्’ (उत्तम) उपसर्गपूर्वक ‘कृञ्’ धातु से ‘कृत्’ प्रत्यय होने पर ‘संस्कृति’ शब्द बनता है। उसका सरल अर्थ है ‘उत्तम कृति’ अर्थात् देह, इन्द्रिय, प्राण, मन, बुद्धि आदि की उत्तम (सम्यक्) चेष्टाएँ या हलचलें। इनमें लौकिक, पारलौकिक, धार्मिक, आध्यात्मिक, आर्थिक, राजनीतिक, सभी प्रकार के अम्युदय—उन्नति के अनुकूल चेष्टायें आ जाती हैं। वैसे तो मनुष्य को अच्छी-बुरी सभी चेष्टायें कृति हैं; किन्तु उनमें अच्छी, सम्यक्, उत्तम चेष्टायें ही ‘संस्कृति’ (सम् + कृति) कही जाती हैं।

कुछ विद्वानों का कथन है कि ‘संस्कृति’ शब्द ‘संस्कार’ का रूपान्तर है। एक हिन्दू को अपने जीवन को परिमार्जित करने के लिये अनेक प्रकार के संस्कारों को करना पड़ता है और उसके बाद वह कहीं ‘संस्कृत’ (परिमार्जित या cultured) कहा जाता है। इस जन्म से लेकर मृत्यु तक एक हिन्दू की शुद्धि के लिये आवश्यक कृत्यों या संस्कारों की योजना को ‘संस्कृति’ मान लिया गया है। अन्य विद्वान् संस्कृति से मानव के नैतिक, आध्यात्मिक तथा बौद्धिक उपलब्धियों (achievements) की समग्रता समझते हैं।

भारतीय संस्कृति की मूलधारा

(The Fundamental Element of Indian Culture)

संस्कृति किसी देश या समाज की आत्मा है। इससे उसके उन सब संस्कारों, सम्यक् चेष्टाओं और उपलब्धियों का बोध होता है, जिनके सहारे वह अपने सामूहिक या सामाजिक जीवन-व्यवस्था, लक्ष्यों व आदर्शों का निर्माण करता है। यह संस्कृति

1. “Culture is that complex whole which includes knowledge, belief, art, morals, law, custom and any other capabilities and habits acquired by man as a member of society.”—E. B. Tylor, *Primitive Culture*, 1874, p. 1.

2. “The Culture of a people may be defined as the sum total of the material and intellectual equipment whereby they satisfy their biological and social needs and adapt themselves to their environment.”—Ralph Piddington, *An Introduction to Social Anthropology*, London, 1952, pp. 3-4.

विशिष्ट मानव-समूह के उन उदात्त गुणों को सूचित करती है जो मानव-जाति में सर्वत्र पाए जाते हैं परन्तु किसी समाज-विशेष में जिनका रूप या स्वरूप एक विशेष प्रकार का होता है। इसीलिये भारतीय संस्कृति भी एक विशेष प्रकार की संस्कृति है। उस संस्कृति की मूलधारा इस प्रकार है—

अपने दीर्घ अनुभव, तपःपूत ज्ञान और चिन्तन द्वारा भारत के आत्मदर्शी ऋषिगण इस निष्कर्ष पर पहुँचे थे कि आत्मानुभव, आत्मसाक्षात्कार, आत्मदर्शन ही मानव-जीवन का परम पुरुषार्थ है। हमारी समस्त सम्यक् चेष्टायें इसी की उपलब्धि की दिशा में संचालित होनी चाहिए। यही कारण है कि भारतीय जीवन-विधि में त्याग, तप, दया, सेवा, धर्म व कर्म, दर्शन व आध्यात्मिकता का प्राधान्य है। इसीलिये कुछ आलोचक यह आक्षेप करते हैं कि भारतीय संस्कृति स्वप्नों और कल्पनाओं की अस्थिर भूमि पर खड़ी है और जगत् की ठोस भूमि से उसका कोई सम्बन्ध नहीं है। यह सर्वथा मिथ्या धारणा है। भारतीय संस्कृति खड़ी तो जगत् की ठोस भूमि पर ही है, पर उसका सिर आकाश की ओर उठा है। इसीलिये भारतीय संस्कृति जीवन के अन्तरिक्ष को भेदकर उसके अनन्त रहस्यों को जानने के लिये विकल हुई थी। यह शुद्ध वैज्ञानिक वृत्ति है। इसने अध्यात्म-विद्या में जो उन्नति की है, उसमें पदार्थ-विद्या की उपेक्षा नहीं है। इसने पदार्थ-विद्या (भौतिकशास्त्र), शासन-व्यवस्था, समाज व्यवस्था अर्थशास्त्र, शरीरशास्त्र, चिकित्सा-शास्त्र, वास्तु कला, चित्र कला नृत्य व संगीत, युद्धविद्या, जनन-विज्ञान आदि भौतिक विद्याओं के क्षेत्र में भी अभूतपूर्व प्रगति कर दिखाई है। अनेक वर्ष पहले ही वह वायु-विज्ञान की सहायता से समय और दूरी के व्यवधान पर विजय प्राप्त कर सकी थी; वह सूर्य-विज्ञान के द्वारा वस्तुओं के रूप को तुरन्त बदल देने में, एक प्रकार के पदार्थ को दूसरे प्रकार के पदार्थ में बदल देने में, लोहे को सोना करने में और मृत्यु पर भी, एक सीमा तक, विजय प्राप्त करने में समर्थ हुई थी; समाज-व्यवस्था में उसने श्रम-विभाजन के वैज्ञानिक सिद्धान्त वर्ण-व्यवस्था को अपनाया और उसके गुण के अनुसार कर्मों का विभाजन किया और इन कर्मों को लोगों से सुचारु ढंग से करवाने के लिये कर्म को धर्म माना और वर्ण धर्म, कुल धर्म राज धर्म, देश धर्म स्वधर्म आदि की अवधारणाओं को विकसित किया; व्यक्ति के व्यक्तित्व का सन्तुलित विकास करने और पुरुषार्थ (धर्म, अर्थ काम और मोक्ष) की प्राप्ति के लिये आश्रम-व्यवस्था का विधान दिया, और समाज में व्यक्ति के विकास, की सम्पूर्ण सुविधाओं को प्रदान करते हुए भी समाज या समूह के हित को ही सर्वोपरि माना, उसका अर्थशास्त्र समाज के शोषण का कारण न बनकर उसके संरक्षण और संवर्धन का साधन बन सका, धन ने जीवन पर प्रभुत्व प्राप्त नहीं किया। जीवन का कोई ऐसा क्षेत्र नहीं है जिस पर भारतवासियों की विजय-पताका लहरा न रही हो। पर हाँ, इन सब शास्त्रों और विज्ञानों के मूल में उसी परम पुरुषार्थ या आदर्श की प्रेरणा सदा से रही है। सबका आधार वही है सम्पूर्ण जीवन-विधि का यह आध्यात्मिक आधार ही भारतीय संस्कृति की मूलधारा है। आज इतनी वैज्ञानिक, प्रौद्योगिक तथा भौतिक उन्नति हो जाने पर भी भारतीय संस्कृति की यह मूलधारा विकृत नहीं हुई है।

इसी मूलधारा के विषय में चर्चा करते हुए स्वामी विवेकानन्द जी ने लिखा है कि “भारतवासी जानते हैं कि इस भौतिक सृष्टि के मूल में वह सत्य और दिव्य आत्म-तत्त्व निहित है जिसे पाप कलुषित नहीं कर सकता, दुराचार अष्ट नहीं कर सकता

और दुर्वासना गन्दा नहीं कर सकती; जिसे अग्नि जला नहीं सकती और जल गीला नहीं कर सकता; जिसे गर्मी सुखा नहीं सकती और मृत्यु मार नहीं सकती। उनकी दृष्टि में मनुष्य की यह परा-प्रकृति-आत्मा उतनी ही सत्य है जितनी कि एक पाश्चात्य व्यक्ति की इन्द्रियों के लिये कोई भौतिक पदार्थ। इसी विचारधारा में वह शक्ति निहित है जिसने भारतीयों को शताब्दियों के उत्पीड़न और वैदेशिक आक्रमण व अत्याचार के बीच अजेय बनाए रखा है। आज भी राष्ट्र जीवित है और उस राष्ट्र में भयंकर-से-भयंकर विपत्ति के दिनों में भी आध्यात्मिक महापुरुष कभी उत्पन्न होने से नहीं चूके हैं। सैकड़ों वर्षों तक लहरों पर लहरें प्रत्येक वस्तु को तोड़ती-फोड़ती हुई देश को आप्लावित करती रही हैं; तलवारें चली हैं और साम्प्रदायिक भावनाओं से भरपूर गगनभेदी नारे लगे हैं; किन्तु वे बाढ़ें चली गईं और राष्ट्रीय आदर्शों में परिवर्तन न कर सकीं। ... भारतीय राष्ट्र मर नहीं सकता। अमर है वह, और उस वस्तु तक अमर रहेगा जब तक कि यह विचारधारा पृष्ठभूमि के रूप में रहेगी, जब तक कि उसके लोग आध्यात्मिकता को नहीं छोड़ेंगे।”

भारतीय संस्कृति की विशेषताएं

(Characteristics of Indian Culture)

भारत की अपनी विशिष्ट भौगोलिक, राजनीतिक, आर्थिक तथा सामाजिक परिस्थितियाँ रही हैं और ये परिस्थितियाँ अन्य समाजों से स्वभावतः ही भिन्न हैं। अतः यह आशा नहीं की जा सकती कि भारतीय संस्कृति भी अन्य समाजों की संस्कृतियों के समान होगी क्योंकि अलग-अलग परिस्थितियाँ अलग-अलग सांस्कृतिक प्रतिग्रानों (culture pattern) को उत्पन्न करती हैं। अतः भारत की भी अपनी एक विशिष्ट संस्कृति है। भारतीय संस्कृति भारत राष्ट्र की अपनी परिस्थितियों का प्रतिफल या विरासत (heritage) है। “भारतीय संस्कृति में धर्म, अध्यात्मवाद, ललितकलाएँ, ज्ञान-विज्ञान, विविध विद्यायें, नीति, विधि-विधान, जीवन-प्रणालियाँ और वे समस्त क्रियायें और कार्य हैं जो उसे विशिष्ट बनाते हैं और जिन्होंने भारतीयों के सामाजिक और राजनीतिक विचारों को, धार्मिक और आर्थिक जीवन को साहित्य, शिष्टाचार और नैतिकता में ढाला है।” फलतः भारतीय संस्कृति की अपनी कई विशेषतायें हैं जिन्हें हम इस प्रकार प्रस्तुत कर सकते हैं—

1. प्राचीनता—भारतीय संस्कृति विश्व की प्राचीनतम संस्कृति है। जब विश्व के अन्य देशों में बर्बरता का अन्धकार छाया हुआ था, उस समय भारतवासी एक उच्चस्तरीय संस्कृति का विकास कर चुके थे। मद्रास के निकट पल्लावरम में, चिंगलपेट, वेल्लौर, तिन्नेवल्ली में पश्चिमी पंजाब में, सोहन नदी की घाटी में और पिण्डीषेव क्षेत्र में, उत्तर प्रदेश के मिर्जापुर के रिहन्द क्षेत्र में, मध्य प्रदेश में, नर्मदा घाटी में, महेश्वर और होशंगाबाद में सुदूर अतीत के पूर्व-भाषाणकाल के जो अनेक अवशेष-चिह्न प्राप्त हुए हैं उनसे यह स्पष्ट है कि मानव-जीवन के प्रारम्भ काल से ही भारतवर्ष मानव-संस्कृति की तीलामृमि रहा है। हड़प्पा, मोहनजोदड़ों आदि स्थानों की खुदाइयों के आधार पर घाटी में प्रागैतिहासिक काल में पाई जाने वाली उन्नत सभ्यता व संस्कृति का पता चलता है जोकि 3200 ई० पू० के आस पास की है। अतः भारतीय संस्कृति कम-से-कम 5200 वर्ष पुरानी है।

2. निरन्तरता—प्राचीनता के साथ-साथ भारतीय संस्कृति में निरन्तरता की विशेषता भी देखने को मिलती है। यूनान, रोम और सुमेर की प्राचीन संस्कृतियाँ

समय के धारा-प्रवाह में क्या मालूम कहां वह गई और आज वहां निवास करने वाले लोगों के जीवन में उनका कोई उल्लेखनीय चिन्ह नहीं रह गया। उनके जीवन में उनकी अपनी ही पुरातन संस्कृति की कोई छाप देखने को नहीं मिलती। पर यह बात भारतीय संस्कृति पर लागू नहीं होती। भारतीय संस्कृति आज भी जीवित है, आज भी जनजीवन में वह जगमगा रही है। यह सच है कि हजारों वर्ष की यात्रा की छाप भारतीय संस्कृति के चेहरे पर सुस्पष्ट है और पहले वह जिस रूप में थी, बिल्कुल उस रूप में आज वह नहीं है, फिर भी आघात उसे बिल्कुल मिटा नहीं सका है। भारत के वर्तमान सांस्कृतिक प्रतिमान को देखकर इस देश के सुदूर अतीत की संस्कृति को समझा जा सकता है। प्राचीन भारतीय सांस्कृतिक जीवन की ज्योति आज भी झिलमिला रही है। अनेक आक्रमण हुये हैं, अनेक राजसिंहासन बदल गये हैं; अनेक अधिनियम पारित किये गये हैं; पर आज भी परम्परागत संस्थायें, धर्म, महाकाव्य, साहित्य, दर्शन, संस्कार, रीति-रिवाज आदि जीवित हैं। समग्र या सरकार इन्हें पूर्णतया मिटा नहीं सकी है।

3. धर्म की प्रधानता—भारतीय संस्कृति में धर्म और अध्यात्मवाद का अपना एक विशिष्ट ही नहीं, प्रधान स्थान है। इससे यह संस्कृति ओत-प्रोत है। वस्तुतः प्राचीनकाल में भारतीय जीवन के प्रायः सभी क्षेत्रों में धर्म की प्राबल्य था और सभी पर इसकी स्पष्ट छाप देखने को मिलती है। उदाहरणार्थ, हिन्दू-विवाह को आज भी एक धार्मिक संस्कार माना जाता है और यह विश्वास किया जाता है कि बर-बधू का चुनाव भगवान् के द्वारा ही होता है। इसी प्रकार वर्णों की उत्पत्ति के सम्बन्ध में यह कहा जाता है कि ब्राह्मण, क्षत्रीय, वैश्य तथा शूद्र की उत्पत्ति क्रमशः ब्रह्मा के मुख, बांह, जाँघ और पैर से हुई है। इस सम्बन्ध में यह भी स्मरणीय है कि—“भारतीय संस्कृति में धर्म की अभिव्यक्ति अत्यन्त ही व्यापक रूप में रही है। धर्म में ब्रह्मा, देवी-देवता, धार्मिक क्रिया-विधियाँ, कर्मकाण्ड, स्वर्ग-नरक तथा अन्य धार्मिक सिद्धांत तो हैं ही, पर साथ ही उनमें उन अनेक नियमों और विधि-विधानों को भी सम्मिलित कर लिया गया है जिनसे व्यक्ति के अभ्युदय के साथ-साथ समाज की भौतिक और आध्यात्मिक प्रगति भी हो सके।” इसी से यह स्पष्ट है कि मानव-जीवन का शायद ही कोई अंग ऐसा हो जिसे धर्म के अधीन न कर दिया गया हो—स्वधर्म, वर्णाश्रम धर्म, कुल धर्म, राज धर्म, देश व काल का धर्म आदि भारतीय संस्कृति पर धर्म की प्रधानता के ही द्योतक हैं। जहां वर्ण धर्म के द्वारा सामाजिक व्यवस्था को आयोजित करके भौतिक प्रगति के पथ को प्रशस्त करने का प्रयत्न किया गया है वहां कुल धर्म के आधार पर पारिवारिक जीवन को सुख, समृद्धि, पवित्रता और निरन्तरता प्रदान करने का प्रयास किया गया है। एक ओर राज-धर्म राजा को प्रजा-पालन, प्रजा-हित-वर्धन व न्याय-दान के आदर्शों से आवृत्त करता है; दूसरी ओर आश्रम-धर्म पुरुषार्थ (धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष) के आदर्शों की प्राप्ति को सुलभ करता है। यहां वास्तुकला का श्रेष्ठ निदर्शन मन्दिरों में, मूर्तिकला का देवी-देवताओं की प्रतिमाओं में और चित्रकला का उन्हीं के चित्रों में देखने को मिलता है। यहां संगीत का एक श्रेष्ठ रूप भजन व कीर्तन है। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि भारतीय संस्कृति के प्रत्येक पक्ष में धर्मपरता और आध्यात्मिकता ही झलकती है।

4. दार्शनिक तत्त्व—श्री लूनिया के अनुसार भारतीय संस्कृति की पृष्ठभूमि प्रायः दार्शनिक रही है। भारतीय दर्शन हमारे सम्मुख ब्रह्म तत्त्वों का रहस्योद्घाटन

करता है। दार्शनिक प्रणालियों, सिद्धांतों और परम्पराओं का आश्रय लेकर ही भारतीय संस्कृति प्रवाहित और विकसित होती रही है। दर्शन को राष्ट्रीय जीवन में भी उपयोग में लाया गया है। भारतीय संस्कृति की यह एक विशिष्ट देन है। पुराण इतिहासकार, लेखक, कवि, स्मृतिकार, कलाकार, मूर्तिकार, चित्रकार आदि सभी अपने कार्यों व कृतियों में उच्च दार्शनिक तत्त्वों को लोक-स्तर पर प्रतिष्ठित करने में संलग्न रहे हैं और इसमें उन्हें सफलता भी प्राप्त हुई है।

5. देवपरायणता—भारतीय संस्कृति की एक और उल्लेखनीय विशेषता इसकी देवपरायणता है। भारतीय सांस्कृतिक प्रतिमान के अन्तर्गत अनेक देवी-देवता अपने असंख्य भक्तों की अनन्य भक्ति से घिरे हुए विराजमान हैं। जगत् की उत्पत्ति, स्थिति एवं प्रलय के लिए क्रमशः तीन देवता ब्रह्मा, विष्णु व महेश की कल्पना की जाती है। इसी प्रकार जीवन के अन्य पक्षों से सम्बद्ध अन्य देवी-देवता भी हैं—जैसे आर्थिक जीवन से सम्बद्ध भगवती लक्ष्मी है, तथा कला, विद्या, ज्ञान व प्रतिभा की देवी भगवती भारती (सरस्वती) है। भगवान् गणेश बुद्धि के अधिष्ठाता, सिद्धिदाता हैं—उनकी प्रथम पूजा न हो तो कर्म के निर्विघ्न पूर्ण होने की आशा कम ही रहती है। इसी प्रकार इन्द्र, अग्नि, वरुण, सूर्य, श्रीराम, श्रीकृष्ण, भगवान् बुद्ध आदि विविध देवताओं का लीलाक्षेत्र है यह भारत ! इन देवी-देवताओं को यज्ञ, पूजन, अर्चन आदि से प्रसन्न करके उनके प्रसाद व वरदान से ही इहलोक में सुख-समृद्धि व परलोक में स्वर्ग की प्राप्ति की कल्पना भारतीय संस्कृति की एक प्रमुख प्रवृत्ति रही है। इसका कारण यह है कि भारतीय परम्परा में ईश्वर को ही परम सत्य के रूप में माना गया है और उसकी प्राप्ति ही जीवन का चरम उद्देश्य है। “सत्य के अन्वेषण में ही जीवनयापन करने से बढ़कर सत्य-चिन्तन अथवा सत्य के पूजन की और कोई अन्य पद्धति है ही नहीं।”¹³ भारतीय संस्कृति उसी परम सत्य के अन्वेषण की गाथा है... वह भी सत्यमय ईश्वरमय है। इसीलिये भारतीय दृष्टिकोण तो यह है कि “मैं जीवित हूँ, पर मुझमें मेरा अहं नहीं। मुझमें मेरा ईश्वर ही ओत-प्रोत है।”¹⁴ भारतीयों के ईश्वरवाद या देवपरायणता की यदि कोई प्रत्यक्ष मूर्ति देखना चाहता है तो उसे भगवद्गीता देखनी चाहिये जिसमें भगवान् श्रीकृष्ण ने कहा है कि “जो सब कहीं मुझे देखता है और सबको मुझमें देखता है, मैं उससे कभी अलग नहीं होता और न ही वह मुझसे कभी अलग नहीं होता है।”¹⁵

6. सहिष्णुता—भारतीय संस्कृति की एक और उल्लेखनीय विशेषता इसकी सहिष्णुता है। इतिहास यह बताता है कि विश्व के अन्य धर्मों में सदैव धार्मिक सहिष्णुता का अभाव रहा है और धर्म के नाम पर शीघ्र संग्राम और रक्तपात हुए हैं। धर्म के नाम पर इतना अधर्म शायद ईश्वर के नाम पर भी एक अमिट कलंक बन गया है, पर उस कलंक पर लज्जा तक प्रकट करने का प्रयत्न भी नहीं हुआ है। यह बात भारत के सम्बन्ध में नहीं कही जा सकती। सभी के प्रति सहिष्णुता की भावना को बरतना भारत की अपनी एक अनोखी विशेषता है। इस सहिष्णुता की भावना का

3. “A man cannot pay a more sincere compliment to Truth than to spend his life seeking it.”

4. “I live, yet not I, but God in me.”

5. यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति ।

तस्याहं न प्रणश्यामि स च मे न प्रणश्यति ॥

—Recejac

(ग्रेटा, 6/30)

रहस्य 'भारतीय संस्कृति के उस प्रमुख विचार में मिलता है जिसके अनुसार सर्वशक्तिमान् ईश्वर अव्यक्त, अचिन्त्य और मानव-बुद्धि से परे है और विभिन्न धर्म और उपासना-पद्धतियाँ उस ईश्वर तक पहुँचने के भिन्न-भिन्न मार्ग हैं।' रास्ते अलग-अलग हैं, पर लक्ष्य सबका एक है। इसी दृष्टिकोण से प्रेरित भारतवासियों के लिये यह सम्भव हुआ कि वे अपनी संस्कृति की छत्रछाया में मुस्लिम व अंग्रेजी संस्कृतियों को भी आश्रय प्रदान कर सकें। सबको स्नेह-आह्वान करना और सबको प्रीति का स्पर्श प्रदान करना भारतीय जीवन-विधि व दर्शन की प्रमुख विलक्षणता है।

7. ग्रहणशीलता—सहिष्णुता की विशेषता से सम्बद्ध दूसरी विशेषता यह है कि भारतीय संस्कृति में ग्रहणशीलता का भी गुण देखने को मिलता है। इसका तात्पर्य यह है कि भारतीय संस्कृति जड़ और स्थिर नहीं है, गतिशीलता उसकी एक उल्लेखनीय विशेषता है। भारतीय संस्कृति समय-समय पर आवश्यकतानुसार विदेशों से आए हुए शासकों के सांस्कृतिक तत्व से अपना अनुकूलन करके तथा उनके कुछ तत्वों को ग्रहण करके चिर-नूतन और चिर-सक्रिय बनी रही है। भारतीय संस्कृति ने मुस्लिम संस्कृति के अनेक तत्वों को ग्रहण किया है और पाश्चात्य संस्कृति से भी बहुत-कुछ लेने में उसे संकोच नहीं हुआ है। इसीलिये उसकी निरन्तरता, उसकी उपयोगिता व उसकी सक्रियता आज भी बनी हुई है। भारतवर्ष ने कितने ही विदेशी आक्रमणों को सहन किया है, कितने ही दबाव व प्रभाव उस पर डाले गये हैं और कितने ही सांस्कृतिक तत्वों का आगमन इस देश में हुआ है। यदि इन सबसे अनुकूलन करने की शक्ति का अभाव भारतीय संस्कृति में होता तो वह कब की नष्ट हो गई होती। परन्तु ऐसा नहीं हुआ। इस संस्कृति की अनुकूलनशीलता या ग्रहणशीलता ने इसे सभी परिस्थितियों में जीवित रहने की शक्ति प्रदान की है। इसी गुण के कारण भारतीय संस्कृति विभिन्न बाह्य आक्रमणों के बीच भी नष्ट नहीं हुई। वस्तुतः विदेशी आक्रमणकारियों को सुविधा देकर भारतीय समाज व संस्कृति ने उन्हें अपने निकट बुलाकर उनसे आंतरिक सम्बन्ध स्थापित कर लिया और उन्हें बहुत-कुछ देने के साथ-साथ उनसे आवश्यकतानुसार ग्रहण भी किया। वांछनीय सांस्कृतिक तत्वों (elements) को ग्रहण करने में उसे कभी लेशमात्र भी संकोच नहीं हुआ। इसी ग्रहणशीलता के कारण ही भारतीय संस्कृति में इतनी विशालता, व्यापकता तथा विविधता परिलक्षित होती है। भारतीय संस्कृति का अन्तर्निहित सिद्धांत ग्रहण, संरक्षण एवं सृजन है, न कि बहिष्कार तथा विष्वंस।

8. सर्वांगीणता—भारतीय संस्कृति सर्वांगीण भी है। इसका तात्पर्य यह है कि मानव-जीवन का सर्वांगीण विकास इसका परम लक्ष्य था। इसी सर्वांगीण विकास को ध्यात में रखकर ही वर्ण, आश्रम, पुरुषार्थ, विवाह, परिवार आदि की व्यवस्था एक विशेष ढंग से की गई थी और धर्म, अर्थ, काम तथा मोक्ष को जीवन का सन्तुलित आप्तर निर्धारित किया गया था। अर्थ और काम में पूर्ण सामंजस्य स्थापित करने का आदेश इस कारण दिया गया कि शारीरिक, मानसिक तथा आध्यात्मिक—तीनों प्रकार का विकास सम्भव हो सके। इनके विकास से ही मोक्ष की प्राप्ति हो सकती है, यह विश्वास लोगों में भर दिया गया था। इसी प्रकार बौद्धिक तथा शारीरिक विकास के लिए ब्रह्मचर्य तथा गृहस्थाश्रम और आध्यात्मिक विकास के लिए वानप्रस्थ व संन्यास आश्रमों की व्यवस्था की गई थी। आधुनिक भारत में ये व्यवस्थायें नहीं हैं, पर उनके स्थान पर प्रजातान्त्रिक समाजवाद (democratic socialism), भूदान, भ्रष्टाचार, सर्वोदय आदि के सिद्धान्त व कार्यक्रम सर्वसाधारण के कल्याणार्थ ही आज क्रियान्वित किए जा

रहे हैं। इसके अतिरिक्त आज भी भारत में ब्राह्मण, जैन और बौद्ध धर्मों के वे उदात्त उपदेश प्रतिध्वनित हो रहे हैं जिनके अनुसार "किसी को कष्ट न दो, दूसरों का कष्ट दूर करने के लिए तन, मन और धन से सदा तत्पर रहो, दूसरों की उन्नति के लिए सदैव प्रस्तुत रहो। भारत का विश्वास 'सर्वे सुखिनः सन्तु' में रहा है। जो कुछ सत्य, शिव और सुन्दर हो वह सबके लिए हो।"

9. भिन्नताओं में मौलिक-एकता (Unity among diversities)—जैसा कि हम अगले अध्याय में विस्तारपूर्वक विवेचना करेंगे भारतीय संस्कृति विभिन्नताओं के बीच एक एकता है। इसी सत्य को यहाँ अति संक्षेप में हम इस प्रकार प्रस्तुत कर सकते हैं कि भारत में विभिन्न समूह हिन्दू, ईसाई, मुसलमान, पारसी आदि निवास करते हैं जिनकी अपनी भाषा, अपना रहन-सहन, अपने रीति-रिवाज, अपने आचार-व्यवहार, अपना धर्म तथा अपने आदर्श हैं। इस अर्थ में भारत विभिन्नताओं का एक लघु महाद्वीप है। डॉ० राधाकुमुद मुकर्जी के शब्दों में, "भारतवर्ष विभिन्न प्रकार के सम्प्रदायों, रीति-रिवाजों, धर्मों संस्कृति, विश्वासों भाषाओं, जातियों तथा सामाजिक व्यवस्थाओं का एक संग्रहालय है।" परन्तु इन बाह्य भिन्नताओं के होते हुये भी भारतीय-संस्कृति में अन्तःनिहित मौलिक एकता या समानता को भी कोई अस्वीकार नहीं कर सकता। श्री स्मिथ ने लिखा है, "भारत की विभिन्नताओं में एक एकता निहित है, परन्तु मौलिक एकता उतनी स्पष्ट नहीं है जितनी बाह्य विभिन्नता।" फिर भी उस एकता के अनेक उदाहरण प्रस्तुत किये जा सकते हैं। जैसे भारतवर्ष में मौलिक धार्मिक एकता देखने को मिलती है। विष्णु तथा शिव की उपासना सम्पूर्ण भारत में प्रचलित है। राम तथा कृष्ण गाथा का गुण-गान सम्पूर्ण भारत में किया जाता है। इसी प्रकार अनेक ऐसे रीति-रिवाज, रूढ़ियाँ तथा परम्परायें हैं जो सम्पूर्ण भारत में एक-से हैं। संयुक्त परिवार की प्रथा सर्वत्र प्रचलित है। विवाह में कुछ-न-कुछ धार्मिक तत्व सम्पूर्ण भारत में देखने को मिलते हैं। जाति-प्रथा केवल हिन्दुओं तक सीमित नहीं है, मुसलमान आदि भी इसके पंजे से अपने को विमुक्त नहीं रख सके। अतः स्पष्ट है कि भिन्नताओं के बीच मौलिक एकता भारतीय संस्कृति की एक उल्लेखनीय विशेषता है। यही एकता भारतीयों की शक्ति है, इसी एकता के कारण उनका स्थान-जगत्-सभा में आज भी गौरवपूर्ण है। अतः इस एकता को बनाये रखने के लिये हमें सदैव प्रयत्नशील रहना है—यही हमारा धर्म और यही हमारा कर्म है !

2

भारतीय समाज में विभिन्नता व एकता

[Diversity and Unity in Indian Society]

भारतीय समाज (व संस्कृति) अति प्राचीन व गौरवपूर्ण है और वह अपने ज्ञानमय प्रकाश से पथ-भ्रष्ट मानवता को निरन्तर राह दिखलाता आया है। आज भी इस गौरव से भारत वंचित नहीं है। विश्व के नाना देश जब आज युद्ध, प्रतियोगिता और आपसी तनाव के बीच फँसेकर त्राहि-त्राहि कर रहे हैं, तब भी भारत शान्ति और विश्वप्रेम के अभय-मन्त्र का पाठ उन्हें पढ़ा रहा है; आत्मसेवित व विवेकपूर्ण मार्गदर्शक का काम कर रहा है। इसके लिये अत्यधिक सहिष्णुता व ग्रहणशीलता के गुणों का होना आवश्यक था। भारतीय समाज व संस्कृति में इन गुणों का अभाव नहीं, प्रचुरता रही है। इसी लिये उसने विश्व की विभिन्न संस्कृतियों, विचारों, प्रजातियों, दर्शनों, धर्मों, भाषाओं आदि के प्रति अत्यधिक सहनशीलता का परिचय देते हुये उन्हें अपने से स्थान दिया है। फलतः प्रत्येक दृष्टिकोण से भारतीय समाज विभिन्नताओं की एक लीला भूमि बन गया है। इन्हीं विविधताओं के वन में फँसकर कुछ विदेशी विद्वानों ने यह निष्कर्ष निकाल लिया है कि भारत विभिन्न जातियों, प्रजातियों, धर्मों, भाषाओं, आचार-विचारों व प्रथा-परम्पराओं का एक गड़बड़झाला देश है और इसकी संस्कृति में एकता का जितान्त अभाव है। पर यह विचार गलत ही नहीं है, अपितु यथार्थता का अपमान है। ये विद्वान केवल ऊपरी तौर पर भारतीय समाज, संस्कृति व जन-जीवन को देखते हैं। विविधतायें बाह्य हैं, आन्तरिक रूप में भारत की आधारभूत अखण्ड मौलिक एकता को कोई अस्वीकार नहीं कर सकता। इस अध्याय में उन बाहरी विभिन्नताओं में सारभूत अखण्ड एकता की खोज हम करेंगे।

भारतीय समाज में विभिन्नतायें

(Diversities in Indian Society)

भारतीय समाज या संस्कृति एक-रंगी साड़ी नहीं, बहु-रंगी चुनरी है। इस कथन का तात्पर्य यह है कि भारतीय संस्कृति में विभिन्न प्रकार के सांस्कृतिक तत्वों का एक अनुपम समन्वय देखने को मिलता है। इन विभिन्नताओं से भारतीय समाज व संस्कृति का कोई बेढंगा रूप सामने नहीं आया है, अपितु उसकी सौन्दर्य-वृद्धि ही हुई है। भारतीय संस्कृति में, जैसा कि पहले ही कहा जा चुका है, दूसरों के सांस्कृतिक तत्वों को आत्मसात् करने और अपने भीतर उनको उपयुक्त स्थान प्रदान करने की अद्भुत शक्ति है। यही कारण है कि यवन, शक, कुषाण, हूण, मुसलमान और अंग्रेज आदि कितने ही विदेशी सांस्कृतिक समूहों का भारत में प्रवेश हुआ। इनकी

संस्कृति एक-दूसरे से बहुत अधिक भिन्न थी, फिर भी भारत ने इन विदेशी-संस्कृतियों को निःसंकोच ग्रहण किया और उसे अपने साथ मिला लिया। इस प्रकार समय की माँग के अनुसार विभिन्न संस्कृतियों के विभिन्न तत्वों को आत्मसात् करके भारत ने अपने को क्षुब्ध नहीं किया, अपितु अपनी सम्पन्नता को ही बढ़ाया। भारत ने उन सभी सांस्कृतिक तत्वों को ग्रहण किया जिन्हें ग्रहण किया जा सकता था। इसी ग्रहणशीलता के कारण ही भारतीय समाज (व संस्कृति) आज भी चिर-नूतन, चिर-सक्रिय तथा चिर-निरन्तर बना हुआ है और उसमें इतनी विशालता, व्यापकता तथा विविधता देखने को मिलती है। इन विविधताओं को हम इस प्रकार प्रस्तुत कर सकते हैं—

1. भौगोलिक दशाओं की भिन्नतायें (Diversities in Geographical Conditions)—जैसा कि हम अध्याय 1 में पहले ही लिख चुके हैं कि भारत का आकार और क्षेत्रफल बहुत बड़ा है। इसका क्षेत्रफल रूस को छोड़कर समस्त यूरोप के क्षेत्रफल के बराबर तथा ग्रेट ब्रिटेन के क्षेत्रफल का बीस गुना है। इतने बड़े देश में भौगोलिक भिन्नताओं का होना स्वाभाविक ही है। भारत में यदि एक ओर बर्फ से ढकी हुई व आकाश को छूती हुई पर्वतों की चोटियाँ और हिमालय की लम्बी व ऊँची पर्वत-श्रेणियाँ हैं, तो दूसरी ओर समुद्र की लहरों से खेलते हुए, विस्तृत, उपजाऊ, मैदान है। यदि एक ओर राजस्थान का शुष्क मरुस्थल है—जहाँ मीलों मानव का नाम तक नहीं हैं, तो दूसरी ओर सिन्धु-गंगा का वह मैदान भी है जहाँ मानव-जीवन के असंख्य दीप नित्य जल-बुझ रहे हैं। भारतभूमि में जहाँ एक ओर हिन्दुओं की पापमोचनी गंगा की लहरें ईश्वरीय आशीर्वाद की भाँति, देखने को मिलती हैं, वहाँ दक्षिण की कुछ ऐसी नदियाँ भी हैं जिन्हें कि केवल वर्षा में ही जल-प्लावित होने का सौभाग्य प्राप्त होता है। इस देश में न केवल पहाड़ों और नदियों में ही भिन्नतायें हैं, अपितु मिट्टी तक में विविधतायें हैं। यहाँ दोमट और कछारी, काली और लाल विभिन्न प्रकार की मिट्टियाँ पाई जाती हैं।

2. जलवायु की भिन्नतायें (Diversities in Climatic Conditions)—भारत की जलवायु में भी भिन्नताओं की अपूर्वता देखने को मिलती है। यहाँ उष्ण, शीतोष्ण और शीत तीनों प्रकार की जलवायु पाई जाती है। यदि एक ओर हिमालय प्रदेश की, हड्डियों तक को कंपा देने वाली, सर्दी है तो दूसरी ओर झुलसा देने वाली राजस्थान के रेगिस्तान की गर्मी भी है। कोंकण और कारोमण्डल तट पर नमी और गर्मी दोनों ही हैं। यदि एक ओर दक्षिण के शुष्क पथरीले पठार की सूखी जलवायु है तो दूसरी ओर बंगाल व मालाबार की आर्द्र जलवायु और मालवा की समशीतोष्ण जलवायु भी है। जहाँ एक ओर असम, बंगाल, हिमालय के दक्षिण-पूर्वी ढाल तथा मालाबार तट पर वर्ष में 200 से० मी० से अधिक वृष्टि होती है वहाँ दूसरी ओर कच्छ, राजस्थान व पंजाब के दक्षिणी भाग में 50 से० मी० से भी कम वर्षा होती है।

3. प्रजातीय भिन्नतायें (Racial differences)—भारत प्रजातियों का एक अजायबघर (Museum of Races) है। इस प्रदेश में बहुत नाटे कद वाले नीग्रिटो प्रजाति के लोग रहते हैं और लम्बे कद वाले नाडिक-प्रजाति के लोग भी। यहाँ पीले या भूरे रंग वाले मंगोल लोग रहते हैं और चॉकलेटी रंग वाले प्रोटो-आस्ट्रेलॉयड प्रजाति के लोग भी। जहाँ एक ओर लम्बे सिर वाले भूमध्यसागरीय प्रजाति के लोग निवास करते हैं, वहाँ दूसरी ओर चौड़े सिर वाले आल्पाइन प्रजाति के सदस्य

भी यहाँ रहते हैं। इस प्रकार इस देश में नीग्रिटो, प्रोटो-आस्ट्रेलॉयड, मंगोल भूमध्यसागरीय, अल्पाइन, डिनारी, आर्मीनॉयड, नॉर्डिक आदि प्रजातियों का महा-मिलन हुआ है।

डॉ० गुहा द्वारा उल्लिखित प्रजातियों के सम्बन्ध में कुछ संक्षिप्त विवरण उपयोगी सिद्ध होगा—(क) नीग्रिटो (Negrito)—यह नीग्रो प्रजाति की एक शाखा है जिसका कद बहुत नाटा होता है। इस उप-प्रजाति के लोगों की अन्य शारीरिक विशेषतायें चौड़ा सिर, गहरा काला रंग, काले ऊनी बाल, मोटे होंठ और चौड़ी नाक है। डॉ० गुहा के अनुसार यह भारत की सबसे पुरानी प्रजाति है और इसके कुछ चिन्ह कोचीन तथा द्रावन्कोर की पहाड़ियों में रहने वाली काली कादर और पलयन नामक जनजातियों में, आसाम के अंगामी नागाओं में और पूर्वी बिहार की राजमहल की पहाड़ियों की जनजातियों में मिलते हैं। (ख) प्रोटो-आस्ट्रेलॉयड (Proto Australoid)—इस प्रजाति के लोगों के सिर लम्बे, कद छोटा, बाल, घुंघराले, खाल का रंग चॉकलेटी, नाक चौड़ी और होंठ मोटे होते हैं। इनके बालों का रंग काला और आँखों का रंग काला और भूरा होता है। मध्य भारत की अधिकांश जनजातियाँ इसी प्रजाति की हैं। दक्षिण भारत में भी ये लोग पाये जाते हैं। भील और चेन्नू जनजातियाँ इसी प्रजाति की मानी जाती हैं। (ग) मंगोलॉयड (Mongoloid)—इस प्रजाति के लोगों की प्रमुख शारीरिक विशेषतायें पीला या भूरा रंग, चपटा चेहरा, गालों की हड्डियाँ उभरी हुयीं, नाक छोटी और चपटी, सिर चौड़ा और होंठ मोटे होते हैं। भारत में इस प्रजाति की दो मुख्य शाखायें हैं—प्रथम शाखा प्राचीन मंगोलॉयड है। इनमें लम्बे सिर और चौड़े सिर, यह दो भेद होते हैं। लम्बे सिर वाले आसाम और सीमान्त प्रान्त में बसी जनजातियों में, और चौड़े सिर वाले चटगाँव तथा बर्मा में पाये जाते हैं। दूसरी शाखा तिब्बती मंगोलॉयड है। ये लोग सिक्किम और भूटान में तिब्बत से आकर बस गये हैं। (घ) भूमध्य-सागरीय (Mediterranean)—इस प्रजाति के लोगों की सामान्य विशेषतायें निम्न हैं—मध्यम कद, लम्बे सिर, हल्का भूरा रंग, चौड़ा मुँह, पतला होंठ और घुंघराले बाल। भारत में इसकी तीन शाखायें हैं, पर सभी लम्बे सिर वाले हैं। इन तीन शाखाओं में सबसे पुरानी उपप्रजाति प्राचीन-भूमध्यसागरीय है जोकि कन्नड़, तामिल तथा मलयालम भाषाभाषी प्रदेशों में पाई जाती है। दूसरी शाखा भूमध्यसागरीय है। जो पंजाब और गंगा की ऊपरी घाटी में मिलती है और तीसरी शाखा पूर्वी-प्रारूप है जो पंजाब, सिन्ध, राजपूताना और पश्चिमी उत्तर प्रदेश में पाई जाती है। (ङ) पश्चिमी चौड़े सिर वाले (Western Brachy Cephalic)—भारतवर्ष की जनसंख्या में इस प्रजाति के भी तीन प्रकार हैं। पहला प्रकार अल्पाइन (Alpinoid) है। इसका सबसे महत्वपूर्ण शारीरिक लक्षण चौड़ा सिर है। इसके अतिरिक्त मध्यम कद, नाक छोटी पर ऊँची और खाल का रंग पीलापन के साथ भूरा होता है। यह गुजरात में विशेष रूप से पायी जाती है और मध्यभारत, पूर्वी उत्तर प्रदेश और बिहार में भी कहीं-कहीं मिलती है। इस प्रजाति की दूसरी शाखा डिनारी (Dinaric) है। यह बंगाल, उड़ीसा, काठियावाड़, कन्नड़ और तामिल भाषाभाषी प्रदेश में मिलती है। कुर्ग में इस शाखा का सबसे शुद्ध रूप मिलता है। इस प्रजाति की तीसरी शाखा आर्मीनॉयड है। बम्बई के पारसी लोग इस शाखा के ही प्रतिनिधि हैं। (च) नॉर्डिक (Nordic) इस प्रजाति के लोगों के प्रमुख शारीरिक लक्षण लम्बे सिर, ऊँची और पतली नाक, लम्बे कद, पतले होंठ, बाल सीधे और

साधारण घुँघराले और रंग गोरा या गेहूँवा होता है। इस प्रजाति के लोग सिन्धु नदी की ऊपरी घाटी तथा स्वात, पंजकोटा, कुमार, चित्तराल नदियों की घाटियों में और हिन्दुकुश पर्वत के दक्षिण में मिलते हैं। ये काश्मीर, पंजाब और राजस्थान में भी फैले हुए हैं।

उपरोक्त विवेचना और भारत के प्रजातीय इतिहास से एक बात स्पष्ट ही है कि भारत की जनसंख्या के निर्माण में एक नहीं, अनेक प्रजातियों का योग रहा है। ये विभिन्न प्रजातियाँ विभिन्न समय में भारत आई और एक-दूसरे से मिश्रित होती रहीं। महत्वपूर्ण बात यह थी कि भारत की सामाजिक व्यवस्था कुछ ऐसी थी कि इनमें से प्रत्येक प्रजाति को इनमें कोई-न-कोई स्थान मिल ही गया और वे यहाँ के सम्पूर्ण सामाजिक ढाँचे की एक अभिन्न अंग बन गईं। इससे उनको आपस में संमिश्रित होने के अधिक अवसर प्राप्त हो सके। ऐसी परिस्थिति में किसी भी प्रजाति के लिए यह सम्भव न था कि वह अपने शुद्ध रूप को बनाए रखे। यही कारण है कि आज संसार के अन्य देशों की भाँति भारत में भी कोई विशुद्ध प्रजाति नहीं है। इसलिए यह कहना अनुचित न होगा कि “स्मरणातीत युगों से भारत परस्पर विरोधी प्रजातियों और सम्यताओं का संगमस्थल रहा है और इनमें आत्मसात्करण तथा समन्वय की प्रक्रियाएँ चलती रही हैं।” और इसी कारण यह कहने में भी अतिशयोक्ति न होगी कि “भारत प्रजातियों का एक अजायबघर है” (India is a museum of Races) या “भारत प्रजातियों का एक द्रावण-पात्र (कुठाली) है” (India is a melting pot of the Races)।

4. धर्म की भिन्नताएँ (Diversities of Religion)—प्रजातियों की भाँति हमारे देश में धर्मों में भी भिन्नताएँ हैं। भारत धर्मों की लीलाभूमि है। यहाँ एकाधिक धर्म और उसके अनुयायी कितने ही वर्षों से साथ-साथ रहते हैं और अब भी रह रहे हैं। यही कारण है कि हिन्दू धर्म के अगणित रूपों और सम्प्रदायों के अतिरिक्त इस देश में बौद्ध, जैन, सिक्ख, इस्लाम, ईसाई आदि धर्मों का प्रचलन है। केवल हिन्दू धर्म के ही विविध सम्प्रदाय व मत सारे देश में फैले हुए हैं जैसे वैदिक धर्म, पौराणिक धर्म, सनातन धर्म, शाक्त धर्म, शैव धर्म, वैष्णव धर्म, राजा बल्लभ सम्प्रदाय, नानक-पन्थी, आर्यसमाजी, ब्रह्मसमाजी आदि। इनमें से कुछ धर्म साकार ईश्वर की पूजा करते हैं तो कुछ धर्म निराकार ईश्वर की आराधना करते हैं; कोई धर्म बलि और यज्ञ पर बल देता है तो कोई अहिंसा का पुजारी है; किसी धर्म में भक्ति-मार्ग की प्रधानता है तो किसी में ज्ञानमार्ग की। यह बात निम्नलिखित विवेचना से और भी स्पष्ट हो जाएगी—

भारतीय धर्मों में हिन्दू धर्म का स्थान सर्वप्रमुख है क्योंकि भारत की कुल जनसंख्या के प्रायः 84 प्रतिशत लोग इसी धर्म के अनुयायी हैं जोकि संख्या में प्रायः 45-35 करोड़ हैं। वैदिक धर्म हिन्दू धर्म का आदि रूप है। इसमें अनेक देवी-देवताओं की पूजा व आराधना की जाती है। धार्मिक उत्सव, दान-व्रत, हवन या यज्ञ, पाठ, स्मृति-पूजा, मन्दिर, तीर्थ-यात्रा आदि इस धर्म के प्रधान अंग बन गए हैं। दूसरा भारतीय धर्म बौद्ध धर्म है जिसके प्रवर्तक गौतम बुद्ध थे। छठी शताब्दी ई० पू० हिन्दू धर्म में कर्मकाण्ड की जटिलता, प्रशुओं की बलि, अन्धविश्वास, बाहरी दिखावा आदि दोष उत्पन्न हो गए थे, बौद्ध धर्म का विकास उसी की प्रतिक्रिया थी। इस धर्म में सत्य दृष्टि, सत्य भक्ति, सत्य भाषण, सत्य कर्म, सत्य निर्वाह, सत्य प्रयत्न सत्य विचार और सत्य

ध्यान—इन आठ संयमों पर विशेष बल दिया जाता है। सत्य व अहिंसा इस धर्म का आधार हैं। जैन धर्म में त्याग व अहिंसा पर अत्यधिक बल दिया जाता है। इस्लाम धर्म के संस्थापक मुहम्मद साहब (570-632 ई०) थे। यह एकेश्वरवादी धर्म है—अल्लाह एक है और उसके अलावा अन्य कोई देवता नहीं है। वह सर्वशक्तिमान, सर्वज्ञ और करुणामय है। नियमित रूप से नमाज अदा करना, संयम, परोपकार, क्षमा, ईमानदारी, सभी मुसलमान भाई-भाई हैं आदि इस धर्म के प्रमुख नैतिक नियम हैं। सिक्ख धर्म के संस्थापक गुरु नानक थे। यह धर्म एकेश्वरवादी तथा मूर्ति-पूजा-विरोधी है। ईश्वर सर्वव्यापी, अनन्त, अखण्ड, अमेद, अछेद और अनादि है। मनुष्य को सदैव उसके ही चिन्तन-ध्यान में लीन रहना चाहिए। नानक ने क्रमशः शरण, ज्ञान, कर्म और सच—इन चार सोपानों को पार कर ब्रह्म प्राप्ति का मार्ग बतलाया है। ईसाई धर्म को महात्मा ईसा ने प्रतिपादित किया था। उन्होंने ईश्वर की एकता, तथा उसकी सर्ववत्सलता एवं निष्पक्षता को लोगों के सामने रक्खा और प्रेम, करुणा, मानव-सेवा, अहिंसा, त्याग और परोपकार का सन्देश दिया। ये हैं भारत के या भारतवासियों के कुछ प्रमुख धर्म और उनके आदर्श व उपदेश। इसी से यह स्पष्ट हो जाता है कि धर्मों की विभिन्नता भी भारत की अपनी एक रोचक विशेषता है।

5. भाषा की भिन्नतायें (Differences of Language) —भारतवर्ष में 1,652 मातृभाषाओं (mother languages) का प्रचलन है जिन्हें 826 भाषाओं के अन्तर्गत लाया जा सकता है। इन भाषाओं में 103 अभारतीय (non-Indian) भाषायें भी सम्मिलित हैं। हिन्दी भाषा को बोलने वालों की संख्या सर्वाधिक है। 13,34,35,360 व्यक्ति इस भाषा को बोलते हैं और इसे बोलने वाले विशेषकर उत्तर प्रदेश में रहते हैं। इसके बाद क्रमशः तेलगू व बंगला भाषाओं का स्थान है। इन भाषाओं को बोलने वालों की संख्या क्रमशः 3.77 करोड़ तथा 3.39 करोड़ है। इसके बाद भाषा को बोलने वालों की संख्या के आधार पर हम इस देश की विभिन्न भाषाओं को इस क्रम से प्रस्तुत कर सकते हैं—मराठी, तामिल, उर्दू, गुजराती, कन्नड़, मलयालम, बिहारी, उड़िसा, राजस्थानी, पंजाबी, असामी, संथाली, मीली, काश्मीरी, गोंडी तथा सिन्धी। संस्कृत भाषा को बोलने वालों की संख्या केवल 2,544 है। इन भाषाओं को चार अलग-अलग भाषा-परिवारों (linguistic families)—आर्यन, द्राविड़यन, आस्ट्रिक और चीनी-तिब्बती भाषा-परिवार—से सम्बद्ध किया जा सकता है। केवल भारतीय जनजातियों या आदिवासियों (tribes) को तीन भाषा-परिवारों में विभाजित किया जाता है—

(अ) आर्यन भाषा-परिवार जिसमें मध्य तथा पूर्वी भारत की कोल या मुण्डा समूह की भाषायें या बोलियाँ आती हैं। इस प्रकार की भाषायें बिहार, उड़ीसा, बंगाल और आसाम में प्रचलित संथाली, मुन्दारी, खरिया, गारो तथा खासी जनजातियों द्वारा बोली जाती है।

(ब) द्राविड़ भाषा-परिवार से सम्बन्धित भाषाओं व बोलियों को विशेषकर दक्षिणी भारत की जनजातियाँ बोलती हैं।

(स) चीनी-तिब्बती भाषा-परिवार से सम्बन्धित भाषाओं व बोलियों का व्यवहार हिमालय के दक्षिणी ढालों पर रहने वाली पंजाब से भूटान, उत्तर-पूर्वी बंगाल और आसाम तक फैली हुई जनजातियाँ करती हैं। इसी प्रकार विभिन्न भाषाओं भारत के हर शहर, हर गाँव में हर पल गूँजती रहती हैं। इसीलिए यह कहा जाता है कि भारत में प्रति बीस मील की दूरी पर बोली बदल जाती है।

6. अन्य भिन्नतायें (Other Diversities)—भारत के विभिन्न प्रदेशों में भाषा, रहन-सहन, खान-पान, वेश-भूषा, प्रथा, परम्परा, लोकगीत, लोकगाथा, विवाह-प्रणाली, जीवन-संस्कार, कला, संगीत तथा नृत्य में भी हमें अनेक रोचक व आकर्षक भेद देखने को मिलते हैं। इस देश में विवाह को धार्मिक संस्कार माना जाता है और एक सामाजिक शिष्ट समझौता मात्र भी। यहाँ यदि मुसलमान भाई सिर ढककर खाली पैर नमाज पढ़ते हैं, तो ईसाई भाई सिर खोलकर जूते पहने ही प्रार्थना में सम्मिलित हो जाते हैं। इस देश में वेद, उपनिषद्, गीता, रामायण, कुरान, बाइबिल और ग्रंथ साहब सबको माथे से लगाया जाता है; यहाँ दरबारी, कान्हड़ा, मिराँ मल्हार, ध्रुपद, भजन, ख्याल, टप्पा, ठुमरी आदि विविध प्रकार की स्वर-लहरी लहराती है; यहाँ भरत-नाट्यम, कथाकली, कत्यक, मणिपुरी आदि विभिन्न प्रकार के नृत्य नाचे जाते हैं और इसी भारतभूमि में तुर्की, ईरानी, भारतीय व पाश्चात्य चित्र-कला, मूर्तिकला व वास्तुकला के विविध रूप देखने को मिलते हैं। यही भारतीय संस्कृति की प्रकृति का एक महत्वपूर्ण पक्ष है; यही भारतीय संस्कृति व समाज में पाई जाने वाली विभिन्नतायें हैं।

भारतीय समाज में विभिन्नताओं में मौलिक अखण्ड एकता (Fundamental Unity among Diversities in India)

भारतीय समाज व संस्कृति में पाई जाने वाली उपरोक्त विभिन्नताओं को देखकर यह निष्कर्ष निकालना गलत होगा कि भारत विभिन्नताओं का एक विशाल देश है और इसकी संस्कृति व समाज में एकता का अभाव है। इसमें सन्देह नहीं कि भारत में हिन्दू, मुसलमान, सिक्ख, ईसाई, पारसी आदि विविध प्रकार के लोग निवास करते हैं जिनकी अपनी-अपनी भाषा, रहन-सहन, रीति-रिवाज, आचार-व्यवहार, धर्म तथा आदर्श एक-दूसरे से अलग हैं। परन्तु यदि हम भारतीय समाज व जन-जीवन का गहरा अध्ययन करें तो हमें स्वतः ही पता चल सकता है कि इन विविधताओं और विषमताओं के पीछे आधारभूत अखण्ड मौलिक एकता भी भारतीय समाज व संस्कृति की अपनी एक विशिष्ट विशेषता है। बाहरी तौर पर तो विषमता और अनेकता ही झलकती है, पर इसकी तह में आधारभूत एकता भी एक शाश्वत सत्य की भाँति झलमलाती है। निम्नलिखित विवेचना से यह बात और भी स्पष्ट हो जायेगी—

1. भौगोलिक एकता (Geographical unity)—यद्यपि भारतवर्ष को भौगोलिक दृष्टिकोण से कई क्षेत्रों में विभक्त किया जा सकता है, परन्तु सम्पूर्ण देश विशेष सीमाओं द्वारा सुरक्षित और भारतवर्ष के नाम से विख्यात है। इस विशाल देश के अन्दर न तो ऐसी पर्वत-मालायें हैं और न ही ऐसी सरितायें अथवा गहन वन हैं, जिनको पार नहीं किया जा सकता। अतः भारत एक सम्पूर्ण भौगोलिक इकाई है। इसके अतिरिक्त उत्तर में हिमालय की विशाल पर्वत-माला तथा दक्षिण में समुद्र ने सारे भारत में एक विशेष प्रकार की ऋतु पद्धति बना दी है। "गर्मी की ऋतु में जो भाप बादल बनकर उठती है वह हिमालय की चोटियों पर बर्फ के रूप में जम जाते हैं और गर्मियों में पिघलकर नदियों की धारयें बनकर, वापस समुद्र में चले जाते हैं। सनातन काल से समुद्र और हिमालय में एक-दूसरे पर पानी फेंकने का यह अद्भुत खेल चल रहा है। इसके पश्चात् बरसात आती है, नदियों में पानी आता है, एक निश्चित क्रम के अनुसार ऋतुयें आती हैं और यह ऋतु-वक्र समूचे देश में एक-सा है। अतः स्पष्ट है कि भारत में पूर्ण भौगोलिक एकता विद्यमान है।

2. राजनीतिक एकता (Political unity)—राजनीतिक दृष्टिकोण से भी भारत सदैव एक रहा है। इसमें सन्देह नहीं कि भारत में सदैव अनेक राज्य विद्यमान रहे, परन्तु भारत के सभी महत्वाकांक्षी सम्राटों का ध्येय सम्पूर्ण भारत पर अपना एकछत्र साम्राज्य स्थापित करने का रहा है और इसी ध्येय से राजसूय, वाजपेय, अश्वमेध आदि यज्ञ किये जाते थे और एकराट्, राजाधिराज, चक्रवर्ती आदि उपाधियों से सम्राट् अपने को विभूषित करते और इस अनुभूति को व्यक्त करते थे कि भारत का विस्तृत भूखण्ड राजनीतिक तौर पर भी वास्तव में एक है। प्राचीन ग्रन्थों में इस प्रकार के अनेक राजाओं और सम्राटों की गाथायें मिलती हैं जिन्होंने उत्तर में दिल्ली से, दक्षिण में कन्याकुमारी अन्तरीप तक और पूर्व में आसाम से सिन्ध तक, अपने एक छत्र साम्राज्य बना लिये थे। मध्य युग के कई मुसलमान सुल्तानों और बादशाहों (जैसे अलाउद्दीन, अकबर, औरंगजेब आदि) द्वारा सम्पूर्ण भारत पर राज्य करने के प्रयत्न किये गये और वे सफल भी हुए। आधुनिक युग में अंग्रेजी शासनकाल में भी यही हुआ और आज भी राजनीतिक आधार पर सम्पूर्ण भारत एक ही है। राजनीतिक एकता और राष्ट्रीय भावना के आधार पर ही राष्ट्रीय आन्दोलनों व स्वतन्त्रता संग्राम में, देश के विभिन्न प्रान्तों के निवासियों ने दिल खोलकर सक्रिय भाग लिया और अपने प्राणों तक की बाजी लगा दी। स्वतन्त्र भारत में राष्ट्रीय एकता की परख पिछले दिनों चीनी तथा पाकिस्तानी आक्रमणों के दौरान में खूब हो गई है और विश्व के लिये एक उज्ज्वल दृष्टान्त बन गया है।

3. सांस्कृतिक एकता (Cultural unity)—श्री जूनिया के अनुसार भारत में सांस्कृतिक एकता प्राचीनकाल से ही रही है। विभिन्न धर्मविविधियों व जातियों के होने पर भी उनकी संस्कृतिक भारतीय संस्कृति का ही एक अंग बनकर रही है। समूचे देश के सामाजिक और सांस्कृतिक जीवन का मौलिक आधार एक-सा है। प्रोफेसर हुमायूँ कबीर ने ठीक ही कहा है, "भारतीय संस्कृति की कहानी, एकता और समाधानों का समन्वय है तथा प्राचीन परम्पराओं और नवीन मानों के पूर्ण संयोग की उन्नति की कहानी है। यह प्राचीनकाल में रही है और जब तक यह विश्व रहेगा तब तक सदैव रहेगी। दूसरी संस्कृतियाँ नष्ट हो गई परन्तु भारतीय संस्कृति व इसकी एकता अमर है।"

4. धार्मिक एकता (Religious unity)—भारत की एकता अखण्डता भारतीयों के धार्मिक विश्वासों और कृत्यों में स्पष्ट देखने को मिलती कहने को तो यहाँ अनेक धर्म, धार्मिक सम्प्रदाय व मत हैं, पर अगर हम गहराई से देखें तो हमें यह पता चलेगा कि वे सभी समान दार्शनिक व नैतिक सिद्धान्तों पर आधारित हैं। एकेश्वरवाद, आत्मा का अमरत्व, कर्म, पुनर्जन्म, मायावाद, मोक्ष विचारण, भक्ति आदि प्रायः सभी धर्मों की समान निधि हैं। इसी प्रकार भारतीयों की सात पवित्र नदियाँ (गंगा, यमुना, गोदावरी, सरस्वती, सिन्ध, नर्मदा और कावेरी), पर्वत और पुरिकायें यद्यपि देश के विभिन्न भागों में स्थित हैं तथापि देश के प्रत्येक भाग के निवासी उन्हें समान पवित्र मानते और उनके लिये समान श्रद्धा और प्रेम की भावना रखते हैं। इतना ही नहीं, विष्णु तथा शिव की उपासना सम्पूर्ण भारत में प्रचलित है। राम कृष्ण की गाथा का गुण-गान सम्पूर्ण भारत में किया जाता है। हिमालय के हिमालच्छादित शिखरों से लेकर कृष्णा तथा कावेरी के समतल डेल्टाओं तक सर्वत्र शिव ओ विष्णु के मन्दिरों के शिखर प्राचीनकाल से आकाश से बातें करते और धार्मिक एकता

की घोषणा करते आ रहे हैं। इसी प्रकार चारों दिशाओं के चार धाम—उत्तर में ब्रह्मनाथ, दक्षिण में रामेश्वरम, पूर्व में जगन्नाथपुरी और पश्चिम में द्वारिका भारत की धार्मिक एकता और अखण्डता के पुष्ट प्रमाण हैं। मोक्ष प्रदान करने वाली पवित्र पुरियाँ—अयोध्या, मथुरा, गया, काशी, कांची और अवन्ति—सारे देश में बिखरी हुई हैं। गाय को सभी हिन्दू पवित्र मानते हैं। उनके आदर्श पुरुष मर्यादा पुरुषोत्तम श्रीराम और श्रीकृष्ण एक-से हैं। वे समान रूप से उपनिषद्, वेद, गीता, रामायण, महाभारत, धर्मशास्त्र, पुराण आदि के प्रति श्रद्धा रखते हैं। इस प्रकार भारतीयों के समक्ष भारत की एकता की कल्पना सदैव भूतिमान रही है।

5. सामाजिक एकता (Social unity)—भारत के विभिन्न भागों के सामाजिक जीवन में भी साम्य है। संयुक्त परिवार की प्रथा सर्वत्र प्रचलित है। जाति-प्रथा का प्रभाव किसी-न-किसी रूप में भारत के सभी लोगों पर पड़ा है। रक्षाबन्धन, दशहरा, दीपावली, होली आदि त्यौहारों का फैलाव समूचे भारत में है। इसी प्रकार सारे देश में जन्म-मरण के संस्कारों व विधियों, विवाह-प्रणालियों, शिष्टाचार, आमोद-प्रमोद, उत्सव, मेलों, सामाजिक रुढ़ियों और परम्पराओं में पर्याप्त समानता देखने को मिलती है।

6. भाषा की एकता (Unity of Language)—भारतवर्ष में भाषाओं की बहुलता है, पर रोचक तत्त्व तो यह है कि वे सभी एक ही सँघे में ढली हुई हैं। अधिकांश भाषाओं की वर्णमाला एक ही है, सभी भाषाओं पर संस्कृत भाषा का प्रभाव देखने को मिलता है जिसके फलस्वरूप भारत की प्रायः सभी भाषायें बहुत अर्थों में समान बन गई हैं। श्री लूनिमा ने लिखा है कि ईसा से पूर्व तृतीय शताब्दी में इस विशाल देश की एक ही राष्ट्रभाषा प्राकृत भाषा थी जो महामान्य सम्राट् अशोक का सन्देश उसकी प्रजा के निम्नस्थ श्रेणी के व्यक्ति के द्वार तक ले जाने में भी समर्थ हुई थी। कतिपय शताब्दी पश्चात् संस्कृत नामक एक अन्य भाषा ने इस उप-महाद्वीप के दूरस्थ कोनों में भी अपना घर कर लिया था। समस्त धर्मों का प्रचार संस्कृत व पाली भाषा के द्वारा ही हुआ। संस्कृत के ग्रंथ रचिपूर्वक आज भी समस्त देश में पढ़े जाते हैं। रामायण और महाभारत नामक महाकाव्य तामिल तथा कनाड़ी प्रदेशों के राजदरबारों में उतनी ही श्रद्धा और भक्ति से पढ़े जाते थे जितने की वे पश्चिमी पंजाब में तक्षशिला की विद्वत् मण्डली एवं गंगा की ऊपरी घाटी में स्थित नैमिषारण्य में। समस्त देश के विद्वत् समाज को एक सूत्र में पिरोने का काम, पहले प्राकृत व संस्कृत भाषा ने, बाद में अंग्रेजी और आज हिन्दी से पूर्ण हो रहा है। भाषा की एकता की इस निरन्तरता को कदापि खण्डित नहीं किया जा सकता।

7. कला की एकता (Unity of Arts)—भारतीय जीवन में कला की एकता भी कम उल्लेखयोग्य विषय नहीं है। स्थापत्यकला, मूर्तिकला, चित्रकला, नृत्य, संगीत आदि के क्षेत्र में हमें एक अखिल भारतीय समानता देखने को मिलती है। इन सभी क्षेत्रों में देश की विभिन्न कलाओं का एक अपूर्व मिलन हुआ है। देश के विभिन्न भागों में बने मन्दिरों, मस्जिदों, चर्चों तथा इमारतों में इस मिलन का आभास होता है। दरबारी, मियाँ मह्लार, ध्रुपद, भजन, ख्याल, टप्पा, ठुमरी गजल यहाँ तक कि पाश्चात्य युगों का भी विस्तार सारे भारतवर्ष में है। इसी प्रकार भरतनाट्यम, कथा-कली, कथक, मणिपुरी आदि सब प्रकार के नृत्य भारत के सभी भागों में प्रचलित हैं। अतः हम कह सकते हैं कि कला के क्षेत्र में भी भारत में अखण्ड एकता है।

8. भारत के निवासियों की एकता (Unity of Indians)—यह सच है कि भारतवर्ष प्रजातियों का एक अजायबघर है, पर बाहर से आई आर्य, द्राविड़, शक, सिथियन, हूण, तुर्क, पठान, मंगोल आदि प्रजातियाँ हिन्दू-समाज में अब इतनी घुल-मिल गई हैं कि उनका पृथक् अस्तित्व आज मिट गया है। इसके अतिरिक्त बहुसंख्यक ईसाई व मुसलमान, जो आज भारत के नागरिक हैं, वास्तव में मूलतः हिन्दू ही हैं; केवल धर्म-परिवर्तन के द्वारा वे ईसाई या मुसलमान बन गये थे। धर्म-परिवर्तन कर लेने पर भी हृदय-परिवर्तन नहीं हुआ है। यही कारण है कि हिन्दुओं, मुसलमानों और ईसाइयों के अनेक रीति-रिवाज, उत्सव, मेले, भाषा, पहनावा आदि में समानता है। विरोधी धार्मिक सम्प्रदायों के पवित्र साधुओं, पुण्यात्माओं और पैगम्बरों के परस्पर घनिष्ठ सम्पर्क और मित्रता के अनेक उदाहरण विद्यमान हैं। स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात् भारत के निवासियों की एकता और भी बढ़ गई है क्योंकि वे सभी आज धर्म-निरपेक्ष भारत-संघ के नागरिक हैं और उन्हें सभी क्षेत्रों में समान अधिकार प्राप्त हैं। इससे पारस्परिक धार्मिक, जातीय व साम्प्रदायिक भेद-भाव शीघ्रता से दूर होता जा रहा है और भारत के सभी नागरिक आज एक राष्ट्र के रूप में किसी भी विदेशी आक्रमण या विपत्ति का सामना करने के लिये तैयार हैं। कामना है कि भारत की यह अखण्ड एकता स्थिर रहे और अमर बने !

निष्कर्ष

(Conclusion)

उपरोक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि बाहरी तौर पर भारतीय समाज, संस्कृति व जन-जीवन में विभिन्नतायें दिखाई देने पर भी—भारत एक है, मौलिक व अखण्ड रूप में एक है—एक है इसकी संस्कृति, धर्म, भाषा, विचार और राष्ट्रीयता। इस एकता को नष्ट नहीं किया जा सकता—हजारों वर्षों की अग्नि-परीक्षा और विदेशी आक्रमणों ने इस सत्य को प्रमाणित कर दिया है। इसीलिये प्रत्येक भारतवासी को आज अपने देश पर नाज है, भारत माँ के नाम तक का उच्चारण करने में उसे असीम गौरव का अनुभव होता है। कवि गुरु रवीन्द्रनाथ टैगोर द्वारा रचित एक प्रख्यात कविता के भावार्थ के अनुसार, “भारत महामानवता के लिये एक पुण्य-तीर्थ के समान है। किसी को भी ज्ञात नहीं कि किसके आह्वान पर मनुष्यों की इतनी धारायें (प्रजातियाँ) दुबरी वेग से बहती हुई कहां-कहां से आईं और महासमुद्र रूपी इसी भारत में आ मिलीं तथा घुल-मिल गईं। यहाँ आर्य हैं, यहाँ अनार्य हैं, यहाँ द्राविड़ और चीनी भी हैं। शक, हूण, पठान और मुगल—न जाने कितनी प्रजातियों के लोग इस देश में आये और सब-के-सब एक ही शरीर में समाकर एक हो गये। समय-समय पर जो लोग रण की धारा बहाते हुये, उन्माद और उत्साह में विजय के गीत गाते हुए रेगिस्तानों और पर्वतों को लाँघकर इस देश में आये थे, उनमें से किसी का भी अब अलग अस्तित्व नहीं है। वे सब-के-सब एक होकर भारत माँ की गोद में विद्यमान हैं।—उससे (उस भारत माँ से) कोई भी दूर नहीं है, उसी के रक्त में सबके रक्त की धाराओं का स्वर आज ध्वनित हो रहा है।” यही महामिलन है, यही एकाकार हो जाना है और यही विभिन्नताओं के बीच भी अखण्ड एकता का मूर्तिमान रूपा है—यही हम सबका प्यारा भारत है !

भारतीय समाज के दार्शनिक या परम्परागत आधार

[Philosophical or Traditional Bases of
Indian Society]

भूमिका

(Introduction)

डॉ० लल्लन जी गोपाल ने उचित ही लिखा है कि भारत का अतीत उसके वर्तमान में जीवित है। भारतीय समाज और संस्कृति की विभिन्न शताब्दियों का इतिहास एक ही सूत्र में गुंथा है। रोम, यूनान और बैबीलोनिया की भव्य संस्कृतियां नष्ट होकर अतीत की कथा-मात्र रह गई हैं। पर इन सबके विपरीत आधुनिक भारत के थे। यही कारण है कि आज भी भारतीय सामाजिक संगठन में संयुक्त परिवार, जाति-प्रथा, पंचायत, विवाह और घर्म अपनी-अपनी भूमिकाएँ निभा रहे हैं। यद्यपि पाश्चात्य संस्कृति के प्रभाव में आकर इनके रूप या स्वरूप कुछ बदल भी गये हैं, फिर भी आधार वही हैं और वही रहेंगे भी।

स्पष्ट है कि भारतीय सामाजिक व्यवस्था अति प्राचीन एवं गौरवपूर्ण है और वह अपने ज्ञानमय प्रकाश से पथभ्रष्ट मानवता को निरन्तर राह दिखलाती आई है। आज भी भारत इस गौरव से वंचित नहीं है; विश्व के नाना देश जब आज युद्ध, प्रतियोगिता और आपसी तनाव के बीच फँसकर त्राहि-त्राहि कर रहे हैं, तब भी भारत शान्ति और विश्व-प्रेम के अभय मन्त्र का पाठ उन्हें पढ़ा रहा है और उन्हें हाथ पकड़ कर सही रास्ते की ओर उन्मुख करने का कार्य कर रहा है। वास्तव में इसके लिये अनेक गुणों की आवश्यकता होती है, और भारतीय सामाजिक व्यवस्था में इन गुणों का अभाव नहीं, प्रचुरता रही है। भारतीय सामाजिक संगठन का यही सबसे महान् विशेषता है। इससे पूर्व की भारतीय सामाजिक संगठन का अध्ययन किया जाये, सामाजिक संगठन का अर्थ समझ लेना आवश्यक है।

सामाजिक व्यवस्था क्या है ?

(What is Social Organization?)

समाज एक अखण्ड संगठन या व्यवस्था नहीं है। यह अनेक इकाइयों के सह-योग से बनता है। दूसरे शब्दों में, समाज की कुछ निर्मायक इकाइयाँ (constituent units) होती हैं। ये इकाइयाँ समाज में पाई जाने वाली समिति, संस्था, वर्ग, जाति आदि होती हैं। इनमें से प्रत्येक इकाई का समाज में एक निश्चित स्थान और एक निश्चित कार्य होता है उदाहरणार्थ—जाति-प्रथा या संयुक्त परिवार का भारतीय समाज में एक निश्चित स्थान तथा कुछ निश्चित कार्य निर्धारित हैं। इस निश्चित कार्य और निश्चित स्थान के आधार पर जाति-प्रथा और संयुक्त परिवार किसी-न-

किसी रूप में एक दूसरे से सम्बद्ध हैं। इसी प्रकार समाज की अन्य इकाइयाँ भी एक दूसरे से सम्बद्ध होती हैं और इनके फलस्वरूप उनका एक संगठित व सन्तुलित रूप प्रकट होता है। इसी को सामाजिक संगठन या व्यवस्था कहते हैं। और भी स्पष्ट शब्दों में, सामाजिक संगठन या व्यवस्था वह स्थिति है जिसमें कि समाज की विभिन्न इकाइयाँ, अपने-अपने कार्यों के आधार पर एक-दूसरे से सम्बद्ध हो जाने के फलस्वरूप एक सन्तुलित स्थिति को उत्पन्न करती है।

श्री जोन्स (Marshall E. Jones) ने सामाजिक व्यवस्था की परिभाषा करते हुये लिखा है, "सामाजिक संगठन वह व्यवस्था है जिसके द्वारा समाज की विभिन्न इकाइयाँ आपस में तथा पूरे समाज के साथ एक अर्थपूर्ण ढंग से सम्बद्ध होती है।"¹

भारतीय सामाजिक व्यवस्था का अभिप्राय (Meaning of Indian Social Organization)

हम यह ऊपर कह चुके हैं कि सामाजिक संगठन वह स्थिति है जिसमें कि समाज की विभिन्न इकाइयाँ अपनी-अपनी पूर्वस्थिति पर रहते हुये समाज द्वारा निर्धारित कार्यों के आधार पर एक दूसरे से इस प्रकार सम्बद्ध रहती है कि समाज में एक सन्तुलन की स्थिति उत्पन्न हो जाती है। इसी सन्दर्भ में भारतीय सामाजिक संगठन या व्यवस्था के अभिप्राय को भी स्पष्ट किया जा सकता है। भारतीय सामाजिक संगठन का अर्थ भारतीय समाज में पाई जाने वाली उस सन्तुलित या व्यवस्थित स्थिति से है जोकि इस समाज की विभिन्न निर्मायक इकाइयों के अपने-अपने स्थान पर रहते हुये पूर्वनिश्चित कार्यों को करने के फलस्वरूप उत्पन्न होती है। इस दृष्टिकोण से भारतीय सामाजिक संगठन उस व्यवस्था की ओर संकेत करता है जिसके अन्तर्गत भारतीय जीवन के स्थापित तथा मान्य उद्देश्यों और आदर्शों की प्राप्ति सम्भव होती है। इन उद्देश्यों की प्राप्ति के लिये भारतीय समाज ने विभिन्न उप-व्यवस्थाओं को प्रस्थापित किया है जैसे वर्ण-व्यवस्था, आश्रम-व्यवस्था, संयुक्त-परिवार व्यवस्था, जाति-व्यवस्था इत्यादि। इन उप-व्यवस्थाओं (sub-systems) में वर्ण-व्यवस्था भारतीय सामाजिक संगठन की केन्द्रीय धुरी है क्योंकि इसके द्वारा न केवल समाज को कुछ निश्चित वर्णों में बाँटा गया है बल्कि सामाजिक व्यवस्था व कल्याण को दृष्टि में रखते हुये प्रत्येक वर्ण के कर्तव्य-कर्मों को भी निश्चित किया गया है। अतः स्पष्ट है कि वर्ण-व्यवस्था समाज में सरल श्रम-विभाजन की व्यवस्था करती है; आश्रम-व्यवस्था द्वारा जीवन को चार स्तरों में बाँटकर और प्रत्येक स्तर पर कर्तव्यों के पालन का निर्देश देकर गानव-जीवन को सुनियोजित किया गया है; जाति-प्रथा मनुष्य को जन्म से मृत्यु तक घेरे रहती है; संयुक्त परिवार मानव के कार्यों का नियोजन और निर्देशन करता है; विवाह मनुष्य को पूर्णता प्रदान करता है; और गांव-पंचायत गाँव के सामूहिक जीवन का प्रतीक है। ये सभी भारतीय सामाजिक संगठन के आधार हैं और इन सबका सम्मिलित रूप ही भारतीय सामाजिक संगठन या व्यवस्था है।

1. "Social organization is a system by which the parts of society are related to each other and to the whole society in a meaningful way."—M. E. Jones, *Basic Sociological principles* P. 195.

भारतीय समाज या सामाजिक व्यवस्था के परम्परागत आधार (Traditional Bases of Indian Society or Social Organization)

1. वर्ण-व्यवस्था (Varna System) भारतीय सामाजिक संगठन या व्यवस्था की केन्द्रीय घुरी वर्ण-व्यवस्था है और इसीलिये परम्परागत भारतीय सामाजिक संगठन या व्यवस्था को तब तक नहीं समझा जा सकता, जब तक कि वर्ण-व्यवस्था को न समझ लिया जाये। सामाजिक संगठन या व्यवस्था को सुचारु रूप से क्रियाशील करने के लिये यह आवश्यक है कि सामाजिक कार्यों का विभाजन उचित ढंग से हो। उचित रूप से श्रम-विभाजन व्यक्ति के प्राकृतिक स्वभाव, गुण और प्रवृत्ति के आधार पर ही सम्भव है। अतः सामाजिक कार्यों को विभिन्न स्वभाव, गुण व प्रवृत्ति वाले व्यक्तियों के समूहों में बांट देना ही उचित समझा गया। एक-एक समूह को एक-एक वर्ण माना गया और प्रत्येक समूह के सदस्यों के आधार-व्यवहार या सामाजिक कार्य व कर्तव्यों का एक निश्चित मानदण्ड निर्धारित कर दिया गया। यही वर्ण-व्यवस्था है। श्री यास्काचार्य ने 'वर्ण' शब्द की उत्पत्ति के विषय में कहा है कि वर्ण शब्द की उत्पत्ति वर्ण अथवा चुनाव करने का अर्थ देने वाले 'वृ' (वृज्वरणे) धातु से हुई है। अर्थात् वर्ण वह है जिसकी व्यक्ति अपने कर्म और स्वभाव के अनुसार चुनता है। ऋग्वेद के पुरुषसूक्त में वर्णित विवरण के अनुसार विश्व-पुरुष के (ब्रह्मा के) शरीर के चार अंगों से विभिन्न वर्णों की उत्पत्ति हुई है। उस प्रभु ने मुख से ब्राह्मण बाहु से क्षत्रीय, जंघा से वैश्य और पदों से शूद्रों को उत्पन्न किया।

मनुस्मृति, पुरुषसूक्त आदि में विभिन्न वर्णों के कर्तव्यों या वर्ण-धर्म का भी उल्लेख किया गया है। पुरुषसूक्त में ब्राह्मण को समाज का मस्तिक माना गया है। ज्ञानार्जन और ज्ञान-वितरण ब्राह्मण का प्रमुख कर्तव्य है। क्षत्रिय को समाजरूपी पुरुष की मुञ्जा अर्थात् शक्ति व संरक्षण का प्रतीक माना गया है। इसीलिये शासन तथा सुव्यवस्था का उत्तरदायित्व क्षत्रिय पर ही है। मनुस्मृति के अनुसार वैश्य के कार्य पशुओं का पालन तथा उनकी रक्षा करना, दान, अध्ययन, यज्ञ, वाणिज्य तथा कृषि हैं। शूद्रों को समाजरूपी पुरुष का चरण माना गया है। मनुस्मृति के अनुसार शूद्रों का कार्य द्विज वर्णों (अर्थात् ब्राह्मण, क्षत्रिय व वैश्य) की सेवा करना है।

2. कर्म का सिद्धान्त (Theory of Karma)—भारतीय सामाजिक संगठन या व्यवस्था की एक अन्य महत्वपूर्ण विशेषता या आधार कर्म का सिद्धान्त भी है। इस सिद्धान्त के अनुसार मानव-जीवन का सबसे प्रमुख उद्देश्य 'कर्म' (कार्य) करना है। इस सिद्धान्त के अन्तर्गत यह विश्वास किया जाता है कि मनुष्य को अपने भाग्य पर भरोसा रखकर अकर्मण्य नहीं हो जाना चाहिए। साथ ही मनुष्य का भाग्य भी उसके 'कर्मों' के सन्दर्भ में ही निर्मित होता है। और भी स्पष्ट शब्दों में, जो मनुष्य जिस प्रकार के कर्म करता है, उसका भाग्य भी उसी प्रकार का निर्धारित होगा। इस रूप में अच्छे कर्मों को करना मनुष्य का परम कर्तव्य है। कर्म के सिद्धान्त की एक अन्य महत्वपूर्ण बात यह है कि व्यक्ति को कर्म भी फल की इच्छा के सन्दर्भ में नहीं करना चाहिये। मनुष्य का कर्तव्य तो 'कर्म' करने का है, फल प्रदान करना तो ईश्वर का कार्य है। यही कर्मवाद है जिस पर सम्पूर्ण भारतीय समाज आधारित है।

3. आश्रम-व्यवस्था (Ashram System)—भारतीयों ने अपने सामाजिक संगठन या व्यवस्था के अन्तर्गत व्यक्ति के महत्त्व को पूर्णतया स्वीकार किया है। यह माना गया है कि समाज में सुव्यवस्था व संगठन तब तक सम्भव नहीं है जब तक कि

व्यक्ति के जीवन को संगठित व व्यवस्थित नहीं किया जाएगा। इसके लिए यह आवश्यक है कि व्यक्ति की जीवन-व्यवस्था को नियोजित किया जाए। आश्रम-व्यवस्था इसी नियोजन का एक व्यावहारिक रूप है। हिन्दू दर्शन के अनुसार वही जीवन व्यक्तित्वपूर्ण व सार्थक है जिसमें बौद्धिक, व्यावहारिक तथा आध्यात्मिक प्रगति के लिए समान व सन्तुलित अवसर प्राप्त हो। इसी उद्देश्य की प्राप्ति के लिए आश्रम-व्यवस्था को प्रतिपादित किया गया है जिसके द्वारा सम्पूर्ण मानव-जीवन को चार भागों में विभक्त किया गया है : पहले भाग में व्यक्ति को ब्रह्मचर्याश्रम में रहना पड़ता है और वह अपनी बौद्धिक प्रगति के लिए अध्ययन करके शिक्षा या ज्ञान प्राप्त करता है। दूसरा स्तर गृहस्थाश्रम है जिसमें व्यक्ति विवाह करके गृहस्थ जीवन व्यतीत करता है, सन्तानों को जन्म देता है और यज्ञों (ब्रह्म-यज्ञ, पितृ-यज्ञ, देव-यज्ञ, भूत-यज्ञ तथा नृयज्ञ) को सम्पादित करता है। जीवन के तीसरे भाग, वानप्रस्थाश्रम, के स्तर पर वह सांसारिक माया-मोह को त्यागने का प्रयत्न करता है। चौथा स्तर संन्यास-आश्रम का है जिसमें कि व्यक्ति संन्यासी बनकर भगवान् को पाने के लिए या मोक्ष की खोज में अपने को नियोजित करता है। प्रत्येक आश्रम 25 वर्ष का होता है। इसीलिये हिन्दुओं में 100 वर्ष जीवित रहने की कामना की जाती थी। हिन्दू की दृष्टि में जीवन का लक्ष्य भोग नहीं, संग्रह नहीं, अपितु त्याग और परोपकार है।

4. संयुक्त परिवार (Joint Family)—भारतीय सामाजिक संगठन या व्यवस्था का एक अन्य आधार संयुक्त परिवार है। ऋग्वैदिक काल से ही सामाजिक जीवन की एक आधारभूत इकाई के रूप में संयुक्त परिवार को भारतवासियों ने स्वीकार कर लिया था। परम्परागत रूप में पति और पत्नी के अतिरिक्त परिवार में माता-पिता, भ्राता-भगिनी, पुत्र-पुत्री, बहू व अन्य नाते-रिश्तेदार भी रहते हैं परिवार के सभी सदस्य एक ही मकान में रहते हैं, एक ही रसोई में पका भोजन करते हैं तथा सम्मिलित सम्पत्ति का उपभोग सब मिलकर करते हैं। परिवार का स्वामी या कर्त्ता कोई वयोवृद्ध सदस्य या बहुधा पिता होता है, जोकि परिवार के अन्य सदस्यों पर नियन्त्रण करता हुआ परिवार की सम्पत्ति की देख-भाल करता है। तीज-त्योहार तथा सामाजिक व धार्मिक कृत्यों में परिवार के सभी लोग सम्मिलित होते हैं। इस प्रकार संयुक्त परिवार भारतीय सामाजिक संगठन की आधारभूत इकाई के रूप में भारतीय जीवन को संगठित करने में योगदान देता रहा है; यद्यपि आज अनेक कारणों से इस प्रणाली का विघटन आरम्भ हो गया है।

5. जाति-प्रथा (Caste System)—भारतीय सामाजिक संगठन या व्यवस्था की एक अन्य उल्लेखनीय विशेषता या आधार जाति-प्रथा है। कहा जाता है कि भारत की हवा तक में जाति-प्रथा का प्रभाव है और इसीलिए इस प्रभाव से इस देश का कोई भी समूह या समुदाय अपने को पूर्णतः विमुक्त नहीं कर पाया है। जाति-प्रथा का आदि रूप वर्ण-व्यवस्था है जिसके अनुसार समाज मोटे तौर पर चार वर्णों—ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र—में बँटा हुआ था। प्रारम्भ में इस वर्ण-विभाजन का आधार कर्म और श्रम था; पर धीरे-धीरे यह आधार पूर्णतया जन्म ही हो गया और साथ ही प्रत्येक जाति स्वयं अनेक उपजातियों में बँट गई। फलतः आज भारतवर्ष में तीन हजार के लगभग जातियाँ और उपजातियाँ पाई जाती हैं। यह जाति-प्रथा भारतीय समाज को विभिन्न खण्डों में विभाजित करके भोजन, विवाह व सामाजिक सहवास के सम्बन्ध में अनेक या कुछ प्रतिबन्धों को अपने सदस्यों पर लागू करती है, और इस

प्रकार मनुष्य पर जन्म से लेकर मृत्यु तक नियन्त्रण रखती है, यद्यपि आज इसके परम्परागत रूप में महान् परिवर्तन हो रहे हैं।

6. विवाह (Marriage)—भारतीय सामाजिक संगठन या व्यवस्था के एक प्रमुख आधार के रूप में विवाह संस्था का महत्त्व अत्यधिक है। मनु ने स्वीकार किया है कि “जैसे सब जन्तु वायु के सहारे जीते हैं, वैसे ही सब प्राणी गृहस्थ आश्रम से जीवन धारण करते हैं; जैसे सब नदी-नद समुद्र में जाकर स्थिर हो जाते हैं, वैसे ही तीनों आश्रम गृहस्थ से ही स्थिति प्राप्त करते हैं; उसी की सहायता से जीवित है।” हिन्दू विवाह इसी गृहस्थाश्रम में प्रवेश पाने का साधन है। हिन्दू-मान्यता के अनुसार विवाह का विधान ईश्वरेच्छा का फल है। कौन किसका पति या पत्नी होगा इसका निर्धारण स्वयं भगवान् करते हैं। अतः विवाह की प्रकृति सनातन है। मनुस्मृति में कहा गया है कि सृजन की इच्छा से स्वयं विराट् पुरुष ने अपने को नर एवं नारी दो भागों में विभाजित किया। अतः इनका मिलन स्वाभाविक है और विवाह के द्वारा ही वह मिलन सम्भव होता है। साथ ही इस मिलन के बिना न तो स्त्री पूर्ण है और न ही पुरुष परिपूर्णता- लाभ कर सकता है। इसीलिए शतपथ ब्राह्मण में लिखा है कि पत्नी निश्चय ही पति का आधा अंश है; अतः जब तक पुरुष पत्नी प्राप्त नहीं करता, सन्तान नहीं उत्पन्न करता, तब तक वह पूर्ण नहीं होता। किन्तु जब वह पत्नी उपलब्ध करता है, सन्तति प्राप्त करता है तो वह पूर्ण बन जाता है। वेदों का आदेश है कि स्त्री एवं पुरुष के सहयोग से वेद-सम्मत नियमों का पालन किया जाना चाहिए। विवाह एक ओर काम-आवश्यकताओं की सन्तुष्टि करता है और दूसरी ओर पुत्रोत्पत्ति के द्वारा पितृश्रृण से उद्भूत करता है। विवाह की आवश्यकता हिन्दू के लिये इसीलिए भी है कि कोई भी शुभ कार्य, यज्ञ तथा पूजन बिना पत्नी के पूर्ण नहीं माना जाता है।

7. गाँव-पंचायत (Village Panchayat)—भारत गाँवों का विशाल देश है और इसमें प्रत्येक ग्रामीण समुदाय की सामाजिक व्यवस्था के तीन बड़े आधार हैं—जाति-प्रथा, संयुक्त परिवार और गाँव-पंचायत। भारत में गाँव-पंचायत ग्रामीण गणतन्त्र के रूप में बहुत प्राचीनकाल से चली आ रही है और भारतीय ग्रामीण जीवन में उसका महत्वपूर्ण स्थान रहा है।

भारत एक कृषि-प्रधान देश है और गाँव ही उसकी इकाई है। प्राचीनकाल में प्रत्येक गाँव आत्मनिर्भर हुआ करता था और ग्रामीण शासन-प्रबन्ध, शान्ति और सुरक्षा को एक मात्र संस्था पंचायत ही थी। दसवीं शताब्दी के ग्रन्थ ‘शुक्रनीतिसार’, में गाँव-पंचायत के संगठन का विस्तृत विवरण मिलता है। उस वर्णन से यह पता चलता है कि उस समय गाँव-पंचायत निर्वाचित होती थीं। गाँव-पंचायत का संगठन आधुनिक गणतन्त्र जैसा ही था। यह संगठन पाँच निर्वाचित व्यक्तियों को मिलाकर हुआ करता था। इसी कारण इसे ‘पंचायत’ कहा जाता था। ये लोग गाँव के बड़े-बूढ़े और अनुभवी व्यक्ति होते थे। इसी कारण इनके मुँह से निकला प्रत्येक शब्द कानून से भी अधिक प्रभावशाली होता था। ‘पंच-परमेश्वर’ की धारणा गाँव-पंचायत के परम्परात्मक स्वरूप ने ही स्पष्ट रूप से व्यक्त होती है। इस गाँव-पंचायत का ग्रामीण जीवन से सम्बद्ध समस्त विषयों पर नियन्त्रण तथा अधिकार होता था। दूसरे शब्दों में, इसको कार्यपालिका तथा न्यायपालिका-सम्बन्धी दोनों प्रकार के अधिकार प्राप्त होते थे। भूमि का वितरण, उस पर कर (tax) निर्धारण और वसूली, शान्ति-

सुरक्षा, शिक्षा, स्वास्थ्य और सार्वजनिक सेवा आदि कार्य पंचायत ही करती थी। सब पंच मिलकर प्रत्येक की, और प्रत्येक सबकी, सेवा करते थे। इनको इन सेवाओं के लिये वेतन तो नहीं मिलता था, पर कर-मुक्त (tax-free) जमीन या अन्य सुविधायें प्राप्त थीं। भारतीय सामाजिक व्यवस्था के प्रमुख आधार के रूप में गाँव-पंचायत आज भी क्रियाशील है और गाँव की उन्नति और कल्याण की दिशा में नाना प्रकार के कार्यों को कर रही है।

8. धर्म की प्रधानता (Dominance of Religion)—भारतीय सामाजिक संगठनों या व्यवस्थाओं की एक बहुत बड़ी विशेषता यह रही है कि इनमें जीवन के अन्य क्षेत्रों की उपेक्षा न करते हुए धार्मिक जीवन की प्रधानता रही है। वस्तुतः प्राचीनकाल में भारतीय जीवन के प्रायः सभी क्षेत्रों में धर्म का प्राबल्य था और सभी पर उसकी स्पष्ट छाप देखने को मिलती है। कुछ उदाहरणों द्वारा इस बात का स्पष्टीकरण किया जा सकता है। पंचायत के सम्बन्ध में यह कहा जा सकता है कि पंच 'परमेश्वर' होता है अर्थात् पंच के निर्णयों में भी धर्म-भाव छिपा हुआ है। हिन्दू-विवाह को तो एक धार्मिक संस्कार माना ही जाता है और यह विश्वास किया जाता है कि विवाह में वर-वधू का चुनाव भगवान् के द्वारा ही होता है। जाति-प्रथा का भी कुछ-न-कुछ धार्मिक आधार अवश्य ही ढूँढा जा सकता है। उदाहरणार्थ, परम्परागत रूप में चारों वर्णों अर्थात् ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र की उत्पत्ति क्रमशः ब्रह्मा के मुख, बाहु, जांघ तथा पैर से मानी जाती है। चारों आश्रमा अर्थात् ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ तथा संन्यास में भी देवपरायणता परिलक्षित होती है। साथ ही धर्म मानने वाले सभी व्यक्ति एक नैतिक समुदाय में संयुक्त व संगठित होते हैं। इस दृष्टिकोण से धर्म का क्षेत्र विस्तृत है, समस्त संकुचित मनोभाव से परे है और संकुचितता का अभाव समाज के लिये कल्याणकारी है। इसी कारण प्रत्येक संस्था को धर्म से सम्बन्धित रखा गया, जिससे व्यक्तिगत स्वार्थ सामूहिक स्वार्थ के सम्मुख झुका रहे। "वैयक्तिक जीवन की संकुचितता से ऊपर उठकर समष्टि के साथ व्यक्ति के तादात्म्य का अनुभव होना समाज के व्यावहारिक जीवन में वास्तविक सुख और शान्ति का निर्माण करता है। समाज जिन व्यक्तियों से बना है, उन सबमें एकात्म-भाव से उत्पन्न निरतिशय प्रेम के बिना वह तादात्म्य नहीं हो सकता। अतः जब व्यक्ति संकुचितता को छोड़कर इस बात को पहचान लेता है कि अपने में और अन्य व्यक्तियों में अभेद रूप से वही सतत्व भरा हुआ है, तभी वह वास्तविक प्रेम करने में समर्थ होकर समाज के साथ तादात्म्य अनुभव कर सकता है और इस तादात्म्य से विशाल होकर सुखी होता है।"

कुछ पश्चात्य विद्वान् इसी आधार पर यह दोषारोपण करते हैं कि सम्पूर्ण भारतीय जीवन में परलोक पर इतना अधिक बल दिया गया है कि इहलोक के जीवन के प्रति उदासीनता और इसके फलस्वरूप निष्क्रियता की भावना को प्रश्रय मिला है। परन्तु यह आक्षेप निराधार है। डॉ. लल्लन जी गोपाल के शब्दों में, "भारतीयों ने सदैव ही पारमार्थिक और व्यावहारिक का अन्तर समझा है। पारमार्थिक सुख को सर्वोच्च सुख मानते हुये भी वे जानते थे कि इहलोक के सुखों और कल्याण की उपेक्षा नहीं करनी चाहिये। भोग के साथ त्याग का सुन्दर सामंजस्य अर्थात् त्यागमय भोग—यही भारतीय संस्कृति का आदर्श व प्राण है। भोग व त्याग का इतना सुन्दर सम्मिश्रण संसार की और किसी भी सामाजिक व्यवस्था में देखने को नहीं मिलता है।"

9. साम्य और स्वतन्त्रता (Similarity and Liberty)—कुछ विद्वानों का कथन है कि भारतीय समाज के नियम व निर्देश एक पक्षीय हैं; विशेषकर स्त्रियों पर अनेक नियन्त्रिताओं को लादकर उनके समस्त विकास को रोक दिया गया है। परन्तु वास्तव में इतना कहना ही पर्याप्त नहीं है, क्योंकि भारतीय दृष्टिकोण से साम्य व स्वतन्त्रता का अर्थ ही कुछ भिन्न है। डॉ० राधाकमल मुखर्जी के शब्दों में, “भारतीयों की मूलभूत धारणा यह है कि सच्चरित्र व्यक्तियों के बिना समाज अच्छा नहीं हो सकता। उत्कृष्ट समाज-रचना के लिये अच्छे राज-नियम बनाने या व्यक्ति के ‘अधिकारों’ की व्यवस्था करने की अपेक्षा उदात्त भावनाओं, स्वाभाविक स्नेह-सूत्रों और नीति का प्रसार अधिक आवश्यक है। हादिक एवं निश्चल प्रेम-भाव, अकृत्रिम निःस्वार्थ, सहकारिता और आन्तरिक दृढ़ता भारत में समाज-रचना की आधार ला है। हमारा दृष्टिकोण रूसो के इस दृष्टिकोण से भिन्न है कि ‘मनुष्य जन्मतः स्वतन्त्र होने पर भी हर जगह शृंखलाओं से बद्ध, बन्दी है।’ भारतीय दृष्टि मानव को भौतिक एषणाओं के अवीन और मनुष्य द्वारा रचित व्यवस्थाओं से जकड़ा हुआ नहीं मानती। स्वतन्त्रता हमारा जन्मसिद्ध अधिकार है, यह तो हम भी समझते हैं, किन्तु..... जन्म से ही जो उत्तरदायित्व और कर्तव्य हमारे ऊपर आ पड़े हैं, उनका समुचित निर्वाह करने के बाद ही सच्ची स्वतन्त्रता प्राप्त हो सकती है।” भारतीय समाज व्यवस्था के अन्तर्गत यह कर्तव्य-भार न तो एक पक्षीय है और न ही अन्यायपूर्ण। उदाहरणार्थ, संयुक्त परिवार-प्रणाली को ही लीजिये, इस व्यवस्था के अन्तर्गत यदि पुत्र के लिये ‘मातृ देवो भय, पितृ देवो भव’ है तो पिता के लिये भी ‘पुत्रादिच्छेत् पराजयम्’ और ‘प्राप्ते तु षोडशे वर्षे पुत्रे मित्रत्वमाचरेत्’ है। यदि पत्नी के लिये उपदेश है कि वह पति को देवता समझते तो पति के लिये भी यह है कि वह स्त्री को देवीस्वरूप और सत्ता के समान माने। मनु ने लिखा है, “जहाँ नारियों की पूजा की जाती है, उनका सम्मान किया जाता है, वहाँ देवता रमण करते हैं। जहाँ स्त्रियों की पूजा नहीं की जाती है, वहाँ सब काम निष्फल होते हैं” (मनु०, 3/57) और “जिस कुल में पत्नी से पति प्रसन्न है और पति से पत्नी प्रसन्न है—दम्पति एक दूसरे को सन्तुष्ट रखते हैं—निश्चय जानो कि उस कुल में कल्याण का सर्वदा निवास रहता है” (मनु०, 3/60)। यही भारतीय सामाजिक व्यवस्था में अन्तर्निहित साम्य और स्वतन्त्रता की धारणाएँ हैं।

निष्कर्ष

(Conclusion)

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि भारतीय समाज की कुछ अपनी दार्शनिक या परम्परागत विशेषतायें हैं और संसार में अपनी इन्हीं विशेषताओं के कारण उनका आदर है। इतना ही नहीं, इन्हीं विशेषताओं के कारण ही इस समाज ने विदेश के असंख्य प्रख्यात विद्वानों का ध्यान अपनी ओर आकर्षित किया है, जिन्होंने कि इसके विषय में गहन अध्ययन व विश्लेषण किया है और यह प्रमाणित किया है कि जो भारतीय संस्थाओं को कपोल-कल्पित पौराणिक कथाओं, अन्धविश्वासों, धार्मिक संकीर्णताओं, रुढ़ियों, अस्पृश्यता, अत्युक्ति और आडम्बरो का एक अद्भुत मिश्रण मानते या कहते हैं वे न तो ‘भारतीय आत्मा’ को जानते हैं और न ही भारतीय संस्कृति के यथार्थ स्वरूप को पहचानते हैं। डॉ० अग्रवाल ने भारतीयों के दार्शनिक मन के विषय में उचित ही लिखा है कि “वह मन उदार, सहिष्णु, नूतन भावों का

जागरूकता से स्वागत करने वाला है। अनुशासन या अंकुश की अपेक्षा वह उच्च आदर्श, त्याग की भावना, स्वगत कर्म-प्रेरणा से अधिक द्रवित होता है। उस मन को दृढ़ता से लोकहित में बांधने के लिये, उसमें उदात्त भावों के भरने के लिये त्याग, तप या यज्ञ का घरातल ही एकमात्र उपाय है।” और भारतीय समाज उसी घरातल के मूर्त रूप हैं। “सब प्राणी मुझे अपना मित्र समझें और सब प्राणियों को मैं अपना मित्र समझूँ,” यह यजुर्वेद में एक ऋषि का वचन है। समस्त प्राणियों में एकात्म-बोध या विश्व-बन्धुत्व के विचार को इतने स्पष्ट रूप में भारतीय समाज के प्रवर्तकों के लिये ही उच्चारण करना सम्भव है। और जो कुछ उस यजुर्वेदकाल के एक ऋषि ने कहा था उसी को वर्तमान काल में भी इस देश के महापुरुष अपने शब्दों में दोहराते हैं। इस देश के ही स्वामी विवेकानन्दजी की वह उदात्त वाणी आज भी भारत ही नहीं, संसार के समस्त गोम में गूँज रही है—“Look upon every man, woman and everyone as God. You cannot help anyone; you can only serve; serve the children of the Lord, serve the Lord Himself, if you have the privilege.....The only God to worship is the human soul in the human body. Of course, all animals are temples too, but man is the highest, the Taj Mahal of temples. If I cannot worship in that, no other temple will be of any advantage.”

भारतीय समाज के सम्बन्ध में अध्ययन करने वाले विद्यार्थियों को इसे समझना है, इसे व्यावहारिक रूप देना है—यह उत्तरदायित्व आपका ही है।

4

मनुष्य की अवधारणा

[The Concept of Man]

अनेक प्रख्यात विद्वान् यह स्वीकार करते हैं कि हिन्दुओं का जीवन-दर्शन समग्र दर्शनशास्त्र की एक अनूद्य निधि है क्योंकि इससे मनुष्य और उसके जीवन से सम्बन्धित अनेक जटिल व सूक्ष्म ग्रन्थियों का सफल समाधान हमें स्वतः ही मिल जाता है। मनुष्य के सम्बन्ध में अनेक भारतीय दर्शन कोई तात्कालिक विचार या भावना नहीं है, यह तो कितने ही महात्मा, ऋषि-मुनियों के दीर्घ अनुभव, ज्ञान और चिन्तन की एक ठोस अभिव्यक्ति है। इन जीवन-दर्शन का सार-तत्त्व यह है कि मनुष्य की उत्पत्ति परमेश्वर के कारण ही सम्भव हुई है, वे ही उसके अस्तित्व का आधार हैं और जहाँ में इस मानव-जीवन का अन्ततः अन्त होना है। अतः मनुष्य के जीवन का आरम्भ व अन्त दोनों ही ईश्वर है। इस कारण ईश्वर के प्रति उन्मुख जीवन ही श्रेष्ठ है। “जीवन और जगत् में दो प्रकार के तत्त्व हैं। एक वह जो नित्य परिवर्तनशील है, जो प्रतिक्षण बदल रहा है, और दूसरा वह जो इस परिवर्तन के मूल में है। वह स्वयं अव्यक्त है, पर उसी के कारण और उसी को लेकर जगत् की सम्पूर्ण दृश्य वस्तुओं, सम्पूर्ण व्यक्त पदार्थों एवं स्वयं मनुष्य का अस्तित्व है। जगत् के पीछे जो यह महती अव्यक्त शक्ति है, उसका उद्घाटन करने और उसे अनुभव व धारण करने से यह ऊपर से असहाय, दुर्बल, अज्ञान दीखने वाला मनुष्य-जीवन असीम कल्याणकारी, शक्तिमान एवं वैभव से पूर्ण हो सकता है। हमारे पीछे शक्ति का जो अक्षय कोष छिपा हुआ है, उसकी खोज व सिद्धि से ही मनुष्य-जीवन का अन्तिम आदर्श पूर्ण हो सकता है और ‘परम’ (ईश्वर) की प्राप्ति (मोक्ष) सम्भव हो सकता है।” भारतीय दर्शन में मनुष्य की अवधारणा की यही परम गति है।

मनुष्य की उत्पत्ति

(The Origin of Man)

विभिन्न धार्मिक ग्रन्थों, स्मृतियों आदि में मनुष्य की उत्पत्ति के सम्बन्ध में अनेक बातें कही गई हैं। जल को सृष्टि का स्रोत माना गया है। साथ ही, जल जीवन का आधार भी है। जल के बिना किसी का भी न तो उत्पन्न होना सम्भव है और न ही वृद्धि। कहा जाता है प्रारम्भ में कुछ भी नहीं था, केवल जल था। इस जल को सृष्टि रचना के उद्देश्य से भगवान् नारायण ने सर्वप्रथम उत्पन्न किया। ये नारायण अपने ही द्वारा उत्पन्न किए गए अथवा सदैव से अपने साथ रहने वाले जल में निवास करते हैं। इसीलिए उन्हें नारायण कहते हैं। ‘नारा’ का अर्थ है जल और ‘अयन’ का अर्थ है निवास। इस प्रकार नारायण का अर्थ है। ‘वह जो जल में निवास करता है। जब सृष्टि का प्रलय होता है तो जल ही उसमें कारण बनता है। कहा जाता है कि एक बार भगवान् ऐसे जल को प्राप्त होने पर विष्णु के शरीर में

विचरण कर रहे थे कि एकाएक मुंह से बाहर आ गए। उन्हें सर्वत्र अन्धकारपूर्ण महासागर के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं जान पड़ रहा था। प्रलयकाल की अवधि बीत जाने पर पुनः उस जल से अथवा उस महान् सागर में स्थित विष्णु की नाभी से पद्म उत्पन्न होता है और उसके साथ ही प्रजापति ब्रह्मा उत्पन्न होकर सृष्टि की रचना करते हैं। इस रचनाकाल में भिन्न-भिन्न प्रकार के जीवधारियों की क्रमशः सृष्टि होती है—सर्वप्रथम मत्स्य (मछली) की सृष्टि हुई, उसके बाद सुकर (सूअर) की, उसके बाद नरसिंह की और फिर नर या मनुष्य की सृष्टि हुई। इसी अनुसार धार्मिक ग्रन्थों में मत्स्य अवतार, सुकर अवतार, नरसिंह अवतार आदि का वर्णन मिलता है।

ऋग्वेद के अनुसार, “समस्त अस्तित्व के सृष्टिकर्ता हिरण्यगर्भ अर्थात् स्व-प्रकाश-स्वरूप प्रभु का सर्वप्रथम जन्म हुआ। उसी ने पृथ्वी और स्वर्ग की स्थापना की।” ऋग्वेद (10-99-12) और यजुर्वेद (31-11) के “पुरुषसूक्त” में इस बात का उल्लेख है कि प्रभु के ही विभिन्न अंगों से अलग-अलग वर्णों की उत्पत्ति हुई। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि ऋग्वेद में केवल मनुष्य की ही नहीं, सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड के रचयिता, शासक और पालनकर्ता के रूप में एक ईश्वर की कल्पना की गई है एवं देवताओं व संसार या मनुष्यों के बीच पाई जाने वाली एकता को इस प्रकार प्रस्तुत किया गया है कि ‘एकंसद्विप्रा बहुधा वदन्ति’ अर्थात् वह (ईश्वर) एक ही है जिसे अनेक नामों से पुकारा जाता है।

मनु के अनुसार सृष्टि के शुरू होने से पूर्व जगत् सम्पूर्ण अन्धकारमय था। स्वयम्भू परमात्मा इस स्थिति को सहन न कर सके और उन्होंने अपने पराक्रम से अन्धकार को आलोक में बदला। वह परमात्मा कार्यरूप (जिसका कारण भी वह स्वयं था) में स्वयं प्रगट हुआ और विभिन्न प्रकार की प्रजाओं (मनुष्यों) की सृष्टि की इच्छा से अपने शरीर से जल उत्पन्न किया (मनुस्मृति, 1/5-7)।

उपनिषद् के महान् दार्शनिक उद्दलक (Uddalaka) ने अपने पुत्र को शिक्षा या ज्ञान देते हुए बताया था कि कुछ लोगों का विचार है कि आरम्भ में केवल असत् या अस्तित्वहीनता (non-being) की स्थिति थी, फिर उस अस्तित्वहीनता से सत् या अस्तित्व उत्पन्न हुआ। पर यह, उद्दलक के अनुसार, असम्भव है क्योंकि अस्तित्व (being) का जन्म अस्तित्वहीनता से कैसे हो सकता है? अतः आरम्भ में केवल सत् ही था। इस सत् से जल उत्पन्न हुआ, जल से भोजन और भोजन से प्राणी। खा लेने पर भोजन के तीन परत (three fold) प्रकट हुए अर्थात् भोजन के तीन परिणाम सामने आए—भोजन का सबसे अधिक स्थूल (coarsest) अंश मल (विष्ठा) बना, बीच का अंश मांस (flesh) बना और उसके सबसे अधिक सूक्ष्म व सुन्दर-कोमल (subtlest) अंश से मस्तिष्क (mind) का निर्माण हुआ। उसी प्रकार जल को पीने पर भी उसके तीन परत प्रकट हुए—उसका सबसे अधिक स्थूल अंश मूत्र (पेशाब) बना, बीच का अंश खून बना और उसके सबसे अधिक सूक्ष्म व कोमल-सुन्दर अंश से श्वास (सांस) बना। उत्ताप (heat) को काम में लाने पर भी वही तीन परिणाम निकले—उसके सबसे अधिक स्थूल अंश से हड्डियाँ बनीं, उसके बीच के अंश से मज्जा (marrow) एवं सबसे सूक्ष्म अंश से वाणी (speech) बनी। इस प्रकार मस्तिष्क की रचना भोजन से, सांस की रचना जल से एवं वाणी की रचना ताप से

हुई।¹ इस रूप में सत् से ही समस्त जीवित प्राणियों की सृष्टि हुई और यद्यपि प्रत्येक जीवित प्राणी अलग-अलग नाम से परिचित है फिर भी उन सबका आधार केवल सत् ही है। जिस प्रकार स्वर्ण से निर्मित विभिन्न आभूषणों का नाम अलग-अलग होते हुए भी वे सब मूलतः स्वर्ण ही हैं। इस प्रकार सत् ही एकमात्र वास्तविकता है और उस रूप में मनुष्य की उत्पत्ति का कारण व आधार भी।

तैत्तिरीय उपनिषद् में मनुष्य की उत्पत्ति का क्रम इस प्रकार दिया गया है— ब्रह्म से व्योम (ether) या तेजोबह तत्त्व की उत्पत्ति; उस तत्त्व से वायु, वायु से अग्नि, अग्नि से जल, से पृथ्वी, पृथ्वी से वनस्पति, वनस्पति से भोजन, भोजन से बीज और बीज से मनुष्य की उत्पत्ति हुई।² मुण्डकोपनिषद् के अनुसार भोजन से जीवन उत्पन्न होता है और जीवन से मस्तिष्क। छान्दोग्य उपनिषद् में यह दर्शाया गया है कि मनुष्य की स्मरण-शक्ति किस प्रकार उस भोजन से सम्बन्धित है जोकि वह खाता है।³ इस प्रकार मनुष्य का शरीर भोजन के सार-तत्त्व से बनता है। यही बात पशुओं के बारे में भी है। पर मनुष्य के शरीर में केवल भोजन का सार-तत्त्व ही नहीं, अपितु 'प्राण' भी होता है। प्राण के बिना उसका अस्तित्व सम्भव नहीं। यह बात दूसरे प्राणियों पर भी लागू होती है। प्राण ईश्वरीय महिमा की अभिव्यक्ति है। वस्तुतः सम्पूर्ण सृष्टि ही उसी ईश्वर की इच्छा की प्रकाशमय अभिव्यक्ति है। उसी को संसार कहते हैं जिसमें मनुष्य जन्म लेता, अगले जन्म के लिए कर्म करता, पिछले जन्म में किए गए कर्मों का फल भोगता, यज्ञ, संसार आदि के माध्यम से अपने धर्म का पालन करते हुए जन्म-मृत्यु के झंझट से अपने को विमुक्त करने या मोक्ष प्राप्त करने का प्रयत्न करता है। भारतीय विचारधारा में यही मनुष्य की सम्पूर्ण अवधारणा है। पर इसे और भी स्पष्ट रूप से समझने के लिये मनुष्य की कर्म-भूमि संसार और मनुष्य-जीवन की अन्य अभिव्यक्तियों को भी समझना आवश्यक है। अतः अब हम मनुष्य-जीवन के आधार (संसार) व अभिव्यक्तियों के विषय में विवेचना करेंगे।

मनुष्य जीवन के आधार व अभिव्यक्तियाँ (Bases and Expressions of Man's Life)

1. संसार-सृष्टि का साकार रूप संसार है। साकार होते हुये भी यह मृत्यु-लोक के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। इसीलिये यह परम सत्य नहीं है। परम सत्य तो केवल परमात्मा ही है। मनुष्य इस संसार में जन्म लेता है, कर्म करता है और फिर एक दिन सब छोड़कर उसे चला जाना पड़ता है। अतः इस संसार के मायाजाल में ब फँसकर मनुष्य को सद्कर्मों द्वारा अपने जीवन को उन्नत करने का प्रयत्न करना चाहिये। मनु के अनुसार यह संसार मायात्मक तथा सारहीन नहीं, अपितु धर्म तथा कर्म-क्षेत्र है। इसी संसार में उसे धर्मानुसार आचरण करने तथा सद्कर्मों को करने का अवसर मिलता है। इसी संसार में अपने कर्मों की पूर्णता के द्वारा ही जीवन के चरम लक्ष्य अर्थात् 'परम सत्य' की ओर बढ़ा जा सकता है। मनु के अनुसार, "यह अव्यक्त परमात्मा ही सब उत्पन्न होने वालों का कारण है। उसी ने आकाश तथा पृथ्वी, सत्य-असत्य से युक्त मन, स्वर्गलोक, भूलोक तथा दोनों के मध्य आकाश की रचना की।"

1. K. Damodaran, *Man and Society in Indian Philosophy*, People's Pub House, Bombay, 1970, pp. 43-44.

2. *Taittiriya Upanishad*, 2 : 1

3. K. Damodaran, *op. cit.*, p. 10. *Nya Maha Vidyalya Collection.*

मुण्डकोपनिषद् की काव्यमयी भाषा में कहा जाये तो “उस ब्रह्म में पृथ्वी तथा अन्तरिक्ष के साथ प्राणों सहित पिरोया हुआ है। अग्नि उसका सिर, चन्द्र-सूर्य नेत्र दिशाएँ काल, वेद उसकी वाणी, वायु उसका प्राण, पृथ्वी उसके चरणों से उद्भूत और वह स्वयं उसकी अन्तरात्मा है। उसी से समुद्र और पर्वत निकले हैं। उसी से अनेक रूप नदियाँ प्रवाहित होती हैं और उसी से सारी औषधियाँ एवं रस निकलते हैं।” मनु-स्मृति के अनुसार इस संसार की रचना चौबीस तत्वों से हुई है जो सांख्यदर्शन की भाँति ईश्वर अथवा उनके अंश ब्रह्म को मिला देने पर 25 हो जाते हैं। जगत् की रचना के मूल में ईश्वर की सुनियोजित गम्भीरता है जो अपना शक्तिरूप बीज-स्वरचित उस अनन्त जलराशि में बोता है जिससे स्वर्णरूप अण्डे का उदय हुआ जो सृष्टि का मूल है।

2. देहतत्व—जीव ब्रह्म का अंश है (‘अंशो नानाव्यपदेशात्’—वेदान्तसूत्र, 2/3/42)। गीता में भी कहा है—‘ममैवांशो जीवलोकं जीवभूतः सनातनः’ (15/7)। आविर्भाव के पहले जीव ब्रह्म के अन्तर्गत रहता है, अतएव ब्रह्म ही रहता है। जीव के आविर्भाव के साथ-साथ देह होती है। देह नहीं तो जीव नहीं। जीव का अर्थ है देही। जीव की उत्पत्ति के लिये देह आवश्यक है। ब्रह्म से पृथक् होकर शत-सहस्र जन्म-जरा-मरण के प्रवाह में, परम्परा-क्रम से शत-सहस्र देह धारण करके तथा उनका त्याग करके असंख्य सुख-दुःख, पाप-पुण्य तथा धर्म-ज्ञान से अभिज्ञता प्राप्त कर जीव की जीवन-यात्रा सुर-नर-तिर्यक आदि नाना पथों में कोटि-कोटि वर्ष व्याप्त होकर एक दिन अवसान को प्राप्त होती है। जीव लौटकर पुनः परब्रह्म में मिल जाता है। वस्तुतः जीव ब्रह्म से अलग होकर कभी नहीं रहता और न अलग रहना उसके लिये सम्भव ही है। जब तक जन्म-मृत्यु का चक्र चलता है, जब तक यह आवागमन है, अविरत यातायात हो रहा है, तब तक जीव देह से जुड़ रहेगा, देह से पृथक् नहीं होता। देह बन्धन जिस दिन टूट जाता है, उसी दिन इस दीर्घ भयावह व्यापार का भी अन्त हो जाता है। जीव मुक्त हो जाता है। यह देह प्राकृत देह है, त्रिगुणनिर्मित देह है, नश्वर शरीर है। पर जीव जब मुक्त होकर अमृत बनता है तब वह अशरीरी, अमूर्त नहीं हो जाता, अपितु गुणमय देह से मुक्त रहकर दिव्य देह, चिन्मय देह से युक्त होता है। यही देह की परम गति है। यही उसकी सार्थकता है। जीव अमृत एवं अविनश्वर है। जीव के नित्यत्व में कभी व्याघात नहीं होता। यह सारे शास्त्रों का सिद्धान्त है। सभी विद्वानों ने इसे स्वीकार किया है। श्रुति ने कहा है कि जीव परम पुरुष के संग रहता है। उनके प्राण-प्राण में गुंथा है। जब बद्ध जीव ही प्रभु का सखा है, तब मुक्त जीव तो निश्चय ही होगा। बद्ध जीव के चार देह हैं—(अ) कारण देह या कारण-शरीर, (ब) लिंग देह या लिंग-शरीर, (स) सूक्ष्म-देह या सूक्ष्म शरीर, और (द) स्थूल-देह या स्थूल शरीर। जब पुरुष प्रकृति के भीतर प्रवेश करता है अर्थात् प्रकृति के साथ सम्मिलित होता है तो अव्यक्त प्रकृति अभिव्यक्त होकर सृष्टि के आदि में जीव को आश्रय देती है, वह रूप ही ‘महत्तत्त्व’ है। इसी के व्यष्टि-विभाग को कारण-शरीर कहते हैं, क्योंकि यही जीव जीवन का सर्वस्व है। यही अहंकार, बुद्धि, मन, इन्द्रिय आदि तथा सुख-दुःख, धर्मधर्म, सारे तत्व, सारी वृत्ति और सारे विकास का मूल कारण है। इसी का नाम शरीर है क्योंकि यह निश्चय ही एक दिन शीर्ण होकर नष्ट हो जाएगा। दूसरा है लिंग-शरीर। पंच ज्ञानेन्द्रिय, पंच कर्मेन्द्रिय, पंच प्राण, पंच तन्मात्रांश

तथा मन, बुद्धि, अहंकार—इन सबका सूक्ष्म समन्वय ही लिंग-शरीर कहलाता है। ज्ञान, विज्ञान, वितर्क विचारादि से युक्त, संकल्प, विकल्प, अनुभव, संस्कार, स्मृति आदि से सम्पन्न जिस दुर्गम, दुर्ज्ञेय प्रकोष्ठ में बैठकर मायाश्रित जीव सांसारिक जीवजन्म यापन करता है—धर्म, ज्ञान, वैराग्य ऐश्वर्यादि तथा इनके विपरीत अधर्म, अज्ञान, अवैराग्य और अनैश्वर्यादि का साधन करता है, उस प्रकोष्ठ का नाम ही लिंग-शरीर है। इसको हम 'मानस-शरीर' कह सकते हैं। प्रतिक्षण मन, वाणी और शरीर से, जाने अथवा अनजाने, इच्छा से या अनिच्छा से जीवन में जो कुछ किया जाता है, सोचा जाता है या अनुभूत होता है, सब कुछ लिंग-शरीर के भीतर लिख जाता है, अंकित और चित्रित हो जाता है। लोग जो चित्रगुप्त के हिसाब की बात कहते हैं, वह लिंग-शरीर ही है। जन्म, जाति, स्वभाव, चरित्र, मति, गति, रुचि, प्रवृत्ति—सबका निरूपण और निर्णय होता है लिंग-शरीर के द्वारा। लिंग-शरीर कोटि-कल्प स्थायी होने पर भी इसका ध्वंस अनिवार्य है, अर्थात् यह नित्य देह नहीं है—इस बात को सदा याद रखने के लिये ही ऋषियों ने इसका नाम रखा है 'लिंग-शरीर'। तीसरा है सूक्ष्म-शरीर। रक्त और मांस का शरीर जैसे भोग-शरीर होता है, उसी प्रकार सूक्ष्म-शरीर भी भोग-शरीर होता है। लिंग-शरीर में सुख-दुःख का भोग नहीं होता। लिंग-शरीर सुख-दुःख को नियन्त्रित करता है, सुख-दुःख का विधान करता है। मानसिक दुःख का कारण मन में रहता है। परन्तु भोग (suffering) सूक्ष्म-देह में होता है। स्वर्ग-नरकादि के सुख-सम्भोग, दुःख-दुर्दशा, ज्वाला-यन्त्रणा—सबका अनुभव सूक्ष्म-देह में होता है, मानस-शरीर (लिंग-शरीर) में नहीं। पाश्चात्य समाज की यह मान्यता गलत है कि मरने के बाद आत्मा अनन्त में मिलकर आनन्द प्राप्त करती है। आत्मा मृत्युकाल में स्थूल-देह का त्याग करके सूक्ष्म-देह से अपने-अपने कर्मों के अनुसार अपने-अपने उपयुक्त लोक में सुख-दुःख का भोग करने के लिये चली जाती है। सूक्ष्म-देह स्थूल-देह के अन्दर चिरकाल तक रहता है, उसकी नई सृष्टि नहीं होती। सूक्ष्म-शरीर का नाम 'आतिवाहिक' शरीर है। इसी शरीर में रहकर जीव लोकान्तर में गमन करता है। चौथा है स्थूल-देह या शरीर। यही देह सांसारिक जीवन के समस्त विषय-व्यापार और व्यवहार का क्षेत्र है। साक्षात् सब प्रकार की क्रियाओं को चलाने वाले यन्त्र इसी देह के अन्तर्गत हैं। इसी को मानव-शरीर कहते हैं। यह देह-यन्त्र नाना प्रकार के अंगों (मस्तक, बाहु, उदर, हस्त आदि) तथा प्रणालियों (जैसे श्वास-प्रश्वास प्रणाली, रक्त-प्रवाह प्रणाली आदि) से बना है। त्वक, चर्म, मांस, रक्त, मेह, अस्थि, मज्जा व शुक्र-ये आठ धातुयें इस स्थूल-देह में होती हैं। इसी शरीर को लेकर मनुष्य व्यस्त और विमुग्ध हो जाता है। हृदय-मन, आत्मस्वरूप, विवेक-विचार और विज्ञान, इन सबको मनुष्य भूल जाता है इस देह के महामोह में पड़कर। वह शरीर को ही सब कुछ मान लेता है। शरीर धर्म साधन का, परम पुरुषार्थ के साधन का प्रधान उपाय है, यह ज्ञान उसको नहीं रहता। तभी देह में आत्मसमर्पण करके वह अधःपतन को प्राप्त होता है। देहात्मवादी लोग आत्मघाती होते हैं, वे निश्चय ही नरकगामी होते हैं।

3. आत्मा व परमात्मा भारतीय जीवन-दर्शन में मनुष्य के अन्तरतम के सार को 'आत्मा' कहा गया है। यह आत्मा परमात्मा का ही एक अंग है। सम्पूर्ण जगत् इस महान् विश्वआत्मा ब्रह्म से ही निकलता है। वास्तव में आत्मा और परमात्मा में कोई भेद नहीं। आत्मा एक इकाई है, जबकि परमात्मा अनेक आत्माओं का एक

सम्मिलित रूप है। वास्तव में यह दोनों भिन्न-भिन्न न होकर एक ही हैं। 'अहं ब्रह्मास्मि' (मैं ब्रह्मा हूँ) इस लोकप्रिय कथन से यही प्रमाणित होता है। अपनी लीलाओं को प्रकट करने के लिये ब्रह्मा ने स्वयं अपने-आपको एवं स्वयं अपने-आपमें से ही इस विश्व तथा इस प्राकृतिक जगत् को अभिव्यक्त किया। जैसे मकड़ी अपने-आपमें से तार निकालती और उससे जाल बुनती है और बाद को अपनी इच्छानुसार जब चाहे उन तारों को अपने-आपमें समेट लेती है, वैसे ही आत्मा स्वयं परमात्मा से ही निकलकर प्रकट होती है और फिर उसकी इच्छामात्र से ही उसी विलीन हो जाती है। "जिस प्रकार भली प्रकार से प्रज्वलित अग्नि से चिनगारियां सहस्रों की संख्या में निकलती और फिर उसी में आ मिलती हैं, उसी प्रकार अमर विश्वआत्मा से सभी प्रकार के जीवित प्राणी निकलते हैं और पीछे उसी में विलीन होते हैं।" "जैसे नदियां समुद्र में से उत्पन्न होती हैं और बाद को उसी में लौटकर व उसी में मिलकर स्वयं समुद्र बन जाती हैं, उसी प्रकार आत्मा भी आदि और अन्त दोनों ही परमात्मा है क्योंकि आत्मा स्वयं परमात्मा का ही एक अभिन्न अंग है। जब उस परमात्मा ने एक से अनेक होने की इच्छा की तभी यह जगत् तथा इसके असंख्य जीव उसमें से उद्भूत हुए। सबका आधार वही परमात्मा है। अतः जो परमात्मा है वही आत्मा है, और जो आत्मा है वही तुम हो। इसीलिये यह आत्मा अमर है। केवल शरीर नष्ट हो जाता है; आत्मा तो सदैव बनी रहती है। आत्मा का न तो कभी जन्म होता है और न वह कभी मरती ही है। ऐसा भी नहीं है कि यह एक बार होकर फिर होने की नहीं। यह आत्मा नित्य, शाश्वत और सनातन है, एवं यदि शरीर का वध हो जाये तो भी यह मारी नहीं जाती। गीता में लिखा है, (जिस प्रकार एक मनुष्य पुराने वस्त्रों को त्यागकर नये वस्त्रों को ग्रहण कर लेता है, उसी प्रकार आत्मा भी पुराने शरीर को त्यागकर उस शरीर में निवास करने चली जाती है जोकि नया है (गीता, 2/20-22))। गीता में यह भी कहा गया है कि "वे दोनों ही मूर्ख हैं जो यह सोचते हैं कि आत्मा को मारा जा सकता है या जो यह सोचते हैं कि आत्मा की मृत्यु होती है। आत्मा न तो मरती है और न ही मारती है। इसीलिये श्री कृष्ण का कथन है कि "वास्तव में ऐसा कोई समय न था जबकि मैं तुम या ये राजा लोग नहीं थे; न ही ऐसा कोई समय भविष्य में आयेगा जब हम सब लोग नहीं रहेंगे।"

4. यज्ञ—संसार के सबसे प्राचीनतम ग्रन्थ के रूप में ऋग्वेद को ही स्वीकार किया जाता है और ऋग्वेद के प्रथम मन्त्र में ही यज्ञ का उल्लेख इस बात का द्योतक है कि हिन्दू जीवन में यज्ञ का अत्यधिक महत्त्व है। महर्षि जैमिनी ने यज्ञ को धर्म-स्वरूप माना है। उनके अनुसार यज्ञभावना से हीन जो विषय है, वह अनर्थक है। यज्ञविहीन सदाचार भी वस्तुतः सदाचार नहीं, अधर्म ही है। जब यज्ञ ही धर्म है तब इस क्षणमंगुर मानव-जीवन की सफलता के लिये यज्ञस्वरूप का ज्ञान तथा उसका अनुष्ठान करना परम आवश्यक है। महर्षि कात्यायन के अनुसार द्रव्य देवता और त्याग—ये तीन यज्ञ के लक्षण हैं। सामान्यतः तेल, दही, दूध, सोमलता, चावल या जौ की लपसी, भात, घी, कच्चे चावल, फल और जल—ये दस द्रव्य ही वैदिक यज्ञों में देवताओं के प्रीत्यर्थ त्यागने में आते हैं। यज्ञों के समुचित अनुष्ठान से उद्देश्यों की पूर्ति एवं स्वर्ग की प्राप्ति सम्भव होती है। मनुष्यों की बात तो दूर रही, देवतागण ने भी अपने उद्देश्यों की पूर्ति के लिये यज्ञों को ही अपनाया

है। वे देवता, जिन्होंने अपने-आपको असुरों के साथ संघर्ष में हीन स्थिति में पाया, प्रजापति के पास सहायता के लिये पहुंचे। उन्होंने अनेक प्रकार के यज्ञों का विधान दिया जिन्हें यथार्थ रूप में सम्पादित करके देवताओं ने सफलता प्राप्त की। इससे यह परिणाम निकालना स्वाभाविक ही था कि संसार में ऐसी कोई शक्ति नहीं है जो यज्ञ के ठीक रूप से सम्पादित करने पर भी इच्छित लक्ष्यों की प्राप्ति में बाधक हो सके। यज्ञ न केवल इस धरती पर ही लौकिक हित प्रदान करता है अपितु परलोक में भी कर्मों के फल निर्धारित करने की दिशा में बड़ा महत्त्वपूर्ण योगदान करता है। पर धीरे-धीरे यज्ञ का यह महत्व घटने लगा और लोग यज्ञ को औपचारिकता या आडम्बर मात्र मानने लगे। “वास्तविक यज्ञ तो हमारे अपने अन्दर प्राण की आहुति देने में है। वह मनुष्य जो इस आन्तरिक यज्ञ को नहीं जानता चाहे कितना ही औपचारिक अनुष्ठान क्यों न करे, केवल राख पर ही आहुति डालता है। इस आन्तरिक यज्ञ को जानकर यदि वह बचे हुये भाग को चाहे चाण्डाल को ही दान में क्यों न देवे तो भी वह उसके आन्तरिक ‘वैश्वानर’ की सच्ची आहुति होगी।”

उपरोक्त औपचारिक यज्ञों के अतिरिक्त वैदिक मान्यता के अनुसार गृहस्थ-आश्रम में व्यक्ति को पंच महायज्ञ करने का निर्देश दिया जाता है। पंच महायज्ञ (ब्रह्म-यज्ञ, पितृ-यज्ञ, देव-यज्ञ, भूत-यज्ञ और नृयज्ञ) में से प्रथम तीन यज्ञ क्रमशः तीन ऋणों (ऋषि-ऋण, पितृ-ऋण तथा देव-ऋण) से उन्मृण होने के साधन हैं। धार्मिक आधार पर निश्चित प्रत्येक पुरुष के अपने जीवन में इहलोक तथा परलोक से सम्बन्धित कुछ नैतिक कर्तव्य होते हैं। इन नैतिक कर्तव्यों को ही मनु ने ‘यज्ञ’ कहा है। मनुस्मृति के अनुसार ब्रह्म-यज्ञ को पठन पाठन या वेदाध्ययन व वेदमन्त्रों के उच्चारण द्वारा, पितृ-यज्ञ को पितरों के तर्पण या श्राद्ध द्वारा, देव-यज्ञ को देवताओं को अग्नि-आहुति, बलि या अन्य प्रकार के पदार्थ समर्पित करके, भूत-यज्ञ को प्रेतात्माओं को बलि तथा भोजन, जानवरों, कीड़े-मकोड़ों, अपाहिज मनुष्यों और असहाय जातियों को भोजन देकर तथा नृयज्ञ को आतिथ्य-सत्कार द्वारा सम्पन्न किया जाता है। मनु के अनुसार इन यज्ञों को विधिवत् सुसम्पन्न करने वाले व्यक्ति का केवल वर्तमान जीवन ही सुखी व समृद्धगाली नहीं होता बल्कि वह अपार पुण्य का भागीदार बनकर परमगति को प्राप्त होता है।

5. संस्कार—हिन्दू मान्यता के अनुसार जीवन को परिष्कृत, परिशुद्ध एवं पूर्ण बनाने के लिए मनुष्य को कुछ पवित्र अनुष्ठानों को करना ही होता है। शारीरिक, बौद्धिक, सामाजिक एवं आध्यात्मिक परिष्कार के लिए किए गए इन पवित्र अनुष्ठानों को ही संस्कार कहा गया है। हिन्दुओं का सम्पूर्ण जीवन इन्हीं संस्कारों से घिरा हुआ माना जाता है और इन संस्कारों की पूर्ति के बिना मानव-जीवन पूर्ण नहीं हो सकता। संस्कार केवल विपत्ति से रक्षा करने, सांसारिक समृद्धि प्राप्त करने का ही नहीं अपितु आध्यात्मिक उन्नति का भी साधन हैं। इनके विषय में हम अगले एक अध्याय में विस्तारपूर्वक विवेचना करेंगे।

6. जीवन व धर्म—डॉ० अग्रवाल के अनुसार, “धर्म और जीवन का मेल हिन्दू संस्कृति के आग्रह का विषय है। कर्म पर पूरा जोर दिया गया है, किन्तु कर्म बिना धर्म अपूर्ण है। जिस कर्म में धर्म-ज्ञान का भाव नहीं, वह कर्म स्वार्थयुक्त होने

से व्यक्ति और समाज के जीवन को और भी उलझन में डाल देता है। इसीलिए हिन्दुओं ने जीवन को एक आध्यात्मिक स्तर पर प्रतिष्ठित करने का प्रयत्न किया है जिससे कि "इस जीवन में भी सुख मिले और इस शरीर के अन्त के पश्चात् भी यदि कोई जीवन हो तो वह भी सुसम्पन्न हो।" भारतीय दर्शन में धर्म को अभ्युदय और निःश्रेयस, ऐहिक तथा पारलौकिक सुख की सिद्धि के हेतु समाज का धारण करने वाला कहा गया है। इस धर्म की मान्यता यह है कि प्रत्येक प्राणी में वही एक ही ईश्वर का निवास है। अतः हम सब एक हैं; हम सबका जीवन एक ही परम शक्ति द्वारा संचालित व नियन्त्रित है। अतः जीव व जीवन के मध्य भी ईश्वर का दर्शन सम्भव है। महाभारत में तो एक स्थान पर कहलाया गया है कि मनुष्यलोक में जो श्रेय है वही परम महत्वपूर्ण है। "मौलिक विचार यह है कि संसार को भोगने के लिए ही रचा गया है, परन्तु इस भोग का कदापि यह अर्थ नहीं है कि ईश्वर को भूल जाया जाए।" इस ईश्वर को याद रखने के लिए कोई विशेष प्रयत्न, जप-तप की आवश्यकता नहीं है। इसके लिए सबके प्रति प्रेम-भाव ही पर्याप्त है। स्वामी विवेकानन्द जी के शब्दों में, "सर्वश्रेष्ठ ब्राह्मण से लेकर कीड़े-मकोड़े तक सबमें प्रेम-मूर्ति भगवान् का निवास है। उसी प्रेम-मूर्ति के चरणों में भक्तिपूर्वक अपने तन-मन-धन को समर्पित कर दो। निखिल विश्व में उन्हीं के प्रकाश को हर प्राणी मात्र में देखने की चेष्टा करो। ऊँच-नीच की भावना को त्यागकर सबसे प्रेम करो—यही मुक्ति, यही मन्त्र, यही पूजा, यही भगवान् है।"

7. कर्मफल और कर्मवाद कर्मफल का परम्परागत सिद्धान्त यह है कि प्रत्येक कर्म अपना एक फल अवश्य ही उत्पन्न करता है। 'जो जैसा बोएगा वैसा ही काटेगा।' आलू बोकर आम खाने की आशा नहीं की जा सकती। अच्छे कर्म के फल भी अच्छे होते हैं और बुरे कर्म के फल बुरे। अच्छे कर्मों के लिए पुरस्कार और बुरे कर्मों के लिए दण्ड मिलकर ही रहेगा। प्रत्येक कर्म का फल अवश्यम्भावी है और साथ ही, प्रत्येक फल नए कर्म का कारण भी। बीज वृक्ष को उत्पन्न करता है, वही वृक्ष फिर बीज को उत्पन्न करता है और वह बीज अगले वृक्ष को जन्म देता है। कर्म और फल का यह चक्र निरन्तर चलता रहता है। कर्म का फल नष्ट नहीं होता और बिना किए हुए कर्म का फल नहीं मिलता। "कर्म का परिणाम कर्ता के चरित्र, प्रवृत्ति, विचार, भावनाओं आदि पर प्रभाव डालता है और उसके व्यक्तित्व का एक अंग बन जाता है; जीवनपर्यन्त उसके साथ रहता है और मरने के बाद भी दूसरे जीवन में उसके साथ जाता है। ब्राह्मण ग्रन्थों में भी कहा गया है कि मृत्यु के पश्चात् मनुष्य के अच्छे और बुरे कर्मों को तराजू के दोनों पलड़ों पर रखा जाता है। उनमें से जो नीचे झुक जाता है उसी के अनुसार व्यक्ति को स्वर्ग या नरक मिलता है। साथ ही, यह आत्मा वैसी ही बन जाती है जैसा इसका कर्म तथा आचरण होता है। वह मनुष्य जिसके कर्म अच्छे होते हैं अच्छा बन जाता है और जिसके कर्म बुरे होते हैं वह बुरा बन जाता है। पुण्य कर्मों से पुण्यात्मा और पाप कर्मों से पापात्मा होती है। धर्मानुसार कर्म ही, श्रेष्ठ है। साथ ही, फलाशा को छोड़कर कर्म करना ही उचित है। गीता में कहा गया है कि मनुष्य को तो केवल कर्म करने का ही अधिकार है, फल मिलना या न मिलना कभी भी उसके अधिकार में नहीं। इसलिए न तो मेरे कर्म का अमुक फल मिले, यह ध्येय मन में रखकर कभी कर्म करना चाहिए और न ही कर्म न करने का आग्रह होना चाहिए (गीता, 2/47)। अपने को निलिप्त रखते हुए कर्म करने पर ही ईश्वर

को प्राप्त करना सम्भव हो सकता है। कर्मवाद के सम्बन्ध में विस्तारपूर्वक विवेचना एक पृथक् अध्याय में की गई है।

8. मनुष्य के पांच कर्म—कर्मवाद इसी मान्यता पर आधारित है कि बुरे कर्म का परिणाम बुरा और अच्छे कर्म का परिणाम अच्छा ही होता है। अतः वैयक्तिक एवं सामाजिक हित इसी में निहित है कि मनुष्य अच्छे कर्मों को ही करे। अच्छे कर्म कौन से हैं, इसका उल्लेख धर्मग्रन्थों में नाना प्रकार से किया गया है। ये सत्कर्म बहुसंख्यक हैं परन्तु उनमें यज्ञ, तप, दान, शौच और स्वाध्याय ये पांच विशेष प्रशंसनीय कर्म माने गए हैं।¹ भगवान् श्रीकृष्ण ने कहा है कि कर्म का आरम्भ किए बिना निष्कर्मता नहीं प्राप्त होती और न कर्म-संन्यास से पुरुष को सिद्धि ही प्राप्त होती है (गीता, 3/4)। योगी लोग आसक्ति का त्याग करके आत्म-शुद्धि के लिए कर्म करते हैं तथा यज्ञ, दान, और तप मनीषियों को पवित्र करने वाले हैं, ऐसा मत अनेक स्थानों पर प्रगट किया गया है (गीता, 18/5)। प्रो० विश्वनाथ शुक्ल ने उपरोक्त पांच कर्मों का जो विस्तृत विवरण संकलित किया है, उसका संक्षिप्त सार इस प्रकार है—

(क) यज्ञ—कर्मों में यज्ञ को सर्वश्रेष्ठ माना गया है। वेद में तो यज्ञ को ईश्वर बताया गया है। यज्ञ के निमित्त किया हुआ कर्म मनुष्य को किसी बन्धन में नहीं बाँधता। भगवान् ने प्रजा के साथ ही यज्ञ की सृष्टि की। मनुष्यों को इच्छित फल अज्ञों से ही प्राप्त होते हैं। इसलिए यज्ञ में देवताओं को अर्पित किए बिना जो चर्न देवताओं द्वारा उपलब्ध कराए गए भोगों को भोगता है उसे चोर कहा गया है (गीता, 3/12)। यज्ञ से पाप का नाश होता है। यज्ञ से बचे हुए अन्न को खाने वाला सब पापों से छूट जाता है। जो केवल अपने लिए भोजन पकाते हैं, वे मानो साक्षात् पाप का ही भोजन करते हों (गीता, 3/13)। यज्ञ के महत्व के विषय में हम इसी अध्याय में विस्तारपूर्वक लिख चुके हैं।

(ख) तप—धार्मिक क्रियाओं में तप के महत्व को स्वीकार किया गया है। आरम्भ में वैदिक आर्य यज्ञ को प्रधानता देते थे, परन्तु जैसे-जैसे वे लौकिक और पारलौकिक की तुलना में आध्यात्मिक तत्व पर बल देने लगे, वैसे-वैसे तप का महत्व भी बढ़ता गया (शांतिपर्व, 79/17)। “स्वेच्छा से स्वीकार किया गया कष्ट जो आत्म-शुद्धि अथवा किसी प्रकार की सिद्धि का साधन माना जाये ‘तप’ है। शुद्धि के लिये मनुष्य को तपना ही पड़ता है। चाहे वह कार्य करने के पहले संयम आदि द्वारा तपे अथवा अधर्म कर डालने पर पश्चात्ताप रूपी अग्नि से तपे अथवा इन दोनों के अभाव में नरकाग्नि के ताप से तपे। प्रथम प्रकार का तपना सबसे अच्छा है। इसलिये इसको साधना का अंग माना गया है। पश्चात्ताप भी अच्छा है क्योंकि इससे भी शुद्धि होती है, पर चूँकि पश्चात्ताप की स्थिति अधर्म हो जाने के बाद आती है, इसलिए इसका स्थान तप की तुलना में नीचा है।” आश्रम-व्यवस्था के अन्तर्गत गृहस्थ आश्रम के बाद वानप्रस्थ में प्रवेश करने पर मनुष्य को तप-प्रधान जीवन व्यतीत करना होता है। वानप्रस्थी के लिए क्रमशः कठिनतर उपवास तथा सर्दी-गर्मी आदि की पीड़ा का अभ्यास करने का विधान किया गया है। विश्वास यह था कि बिना तप के न आत्मशुद्धि होती है और न ही सम्यक् ज्ञान की प्राप्ति। महाभारत, पुराण आदि में अनेक ऐसे राजर्षियों

4. विस्तृत विवरण के लिए देखिए प्रो० विश्वनाथ शुक्ल द्वारा रचित हिन्दू समाज व्यवस्था, नारायण प्रकाशन, लखनऊ, पृष्ठ 20-46।

के प्रसंग हैं जो राजधर्म पालन करने के पश्चात् तप द्वारा उच्चतर सिद्धि प्राप्त करने के लिये वन में चले गए थे। मनुष्य की बात तो दूर रही, देवताओं ने भी तप किये। शंकर के तप करने का प्रसंग प्रसिद्ध ही है। रावण का वध करने में सफलता मिले— इस उद्देश्य से रामचन्द्र जी ने भी तप किया था। वाणासुर, वृशासुर, रावण आदि राक्षसों ने भी शंकर, ब्रह्मा अथवा विष्णु भगवान् को प्रसन्न करने के लिये तप किए और वरदान पाकर देवताओं तक को पराजित किया। शेषनाग ने भी ब्रह्मा को प्रसन्न करने के लिये तप किया था और पृथ्वी को धारण करने का वर तथा अपने पूर्वपुरुषों के लिए सद्गति प्राप्त की थी। ध्रुव ने भी तपस्या द्वारा ही अद्वितीय स्थान प्राप्त किया।

(ग) दान—दान का अर्थ है देना—ऐसा देना जिसमें बदले में कुछ लिया नहीं जाता है। दान में अन्तर्निहित दर्शन यह है कि समाज में ऐसे बहुत से लोग होते हैं जिनके पास अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये पर्याप्त साधन (धन आदि) नहीं होते, पर कुछ ऐसे लोग भी हैं जिनके पास आवश्यकता से अधिक साधन होते हैं। जिसके पास अधिक है वह उन्हें कुछ दे दे जिनके पास कुछ नहीं है या कम है। ऐसा होने पर समाज में एकता, समानता और दया-प्रेम का वातावरण होगा। इसीलिये दान-कर्म पर सभी धर्म अत्यधिक बल देते हैं। ईसाई धर्म में दान की गणना उच्चतम गुणों में की गई है। इस्लाम धर्म में दूसरों के साथ मिल-बाँटकर खाना तथा व्याज न लेने के सम्बन्ध में जो नियम है उसके पीछे भी यही भावना दिखाई देती है। हिन्दुओं की धर्म-व्यवस्था में दान को बहुत श्रेष्ठ कर्म माना गया है। ब्राह्मण, क्षत्रिय एवं वैश्य वर्णों के लिये दान-कर्म आवश्यक माना गया है। रामचन्द्र और युधिष्ठिर ने जो अवशेष यज्ञ किए थे, उनमें याचकों को तब तक दान देना बन्द नहीं किया गया था, जब तक उनकी पूर्ण तृप्ति न हुई। पशुराम ने इक्कीस बार क्षत्रिय राजाओं से पृथ्वी छीनकर उसे ब्राह्मणों को दे डाला था। राजा हरिश्चन्द्र द्वारा अपने पूरे राज्य का दान किए जाने की कथा प्रसिद्ध है। अन्न, गाय, रत्न, जमीन, वस्त्र, गृह, शय्या, धन, दासी आदि वस्तुओं को दान देने को कहा जाता है। इनमें जमीन, गाय, बैल व अन्न दान को विशेष महत्व दिया जाता है क्योंकि ये सब जीविका पालन के साधन हैं। सद्गुणसम्पन्न ब्राह्मण एवं दीन-दुःखी को दिया हुआ दान अधिक फलदायक होता है। पर अन्याय से प्राप्त धन या वस्तु को दान देने से पुण्य नहीं मिलता। गुरु, ग्रामगणजक (गाँव में यज्ञ करने वाले पुरोहित), स्त्री और नौकर को दान नहीं देना चाहिए। उसी प्रकार चोर ब्राह्मण, पापी, वेद विक्रयी, वृषली पति (शूद्र स्त्री से विवाह करने वाला पुरुष) को भी दान वर्जित है। हिन्दुओं में आज भी सबसे लोकप्रिय ब्राह्म विवाह में तो वस्त्र, अलंकार आदि से सुसज्जित कन्या का दान उसके माता-पिता वर को करते हैं। कहा जाता है कि कन्या दान करने से बहुत पुण्य प्राप्त होता है। उसी प्रकार मरते हुए व्यक्ति के हाथों से अन्न, धन, जमीन, गाय आदि का दान करवाया जाता है ताकि उसके पाप का नाश हो और आत्मा को शांति मिले। किसी भी फल का लोभ किए बिना जो दान दिया जाता है उसी का परिणाम अच्छा होता है। स्वामी विवेकानन्दजी का उपदेश है, “इस संसार में दाता का स्थान ग्रहण करो और बिना फल की आशा जो कुछ दे सकते हो सब कुछ दान करो तो तुम देखोगे कि जो कुछ तुमने दिया है वह हजार गुना ज्यादा होकर तुम्हारे पास लौट आया है।”

(घ) शौच—शौच का साधारण अर्थ स्वच्छता या सफाई है। पर यह सफाई केवल शरीर या वस्त्र की सफाई नहीं, अपितु मन, विचार व वाणी की सफाई है। अर्थात् शौच में शुद्धता व पवित्रता की भावना निहित है। एक पाखण्डी चाहे जितने बार स्नान करे, चाहे कितने ही साफ कपड़े पहने, वह स्वच्छ होते हुए भी शुद्ध व पवित्र कदापि नहीं हो सकता। प्रत्येक मनुष्य के लिये नित्य स्नान आदि के द्वारा शरीर को और पानी से धोकर वस्त्रों को स्वच्छ करना अच्छा माना गया है। ब्राह्मण, क्षत्रिय व वैश्यों के लिये तो शौच का पालन नित्य-कर्म के अन्तर्गत ही सम्मिलित कर दिया गया है, यद्यपि धर्म के रूप में उनके लिये शौच का विधान नहीं है। परन्तु शूद्र अपने सीमित सधन, आलस आदि के कारण कहीं शौच पर उचित ध्यान न दें, इस डर से शौच उनके आवश्यक कर्तव्यों में सम्मिलित किया गया है। उसी प्रकार वानप्रस्थी व संन्यासी के लिये भी विशेष रूप से शौच का विधान है। शौच से मन विचार पवित्र व पवित्र होते हैं और वैसा होने पर यज्ञ, तप, स्वाध्याय, योग या पूजा-पाठ—आराधना में ध्यान लगाना सरल होता है। इसीलिये कहा जाता है कि शुद्ध व पवित्र मन या हृदय स्वतः ही ईश्वर के अधिक निकट होता है। एक बार रैदास अपनी कुटिया के बाहर झाड़ू लगा रहे थे, उधर से एक सन्त निकले, उन्होंने कहा, “बाहर की सफाई से क्या होगा, मन की सफाई कर।” कुछ ऐसी ही कथा सन्त कबीर के सम्बन्ध में भी प्रचलित है। गंगा स्नान का कोई महापर्व था, कबीर जी अपने घर के बाहर बैठे काम कर रहे थे। कुछ साधुओं ने उधर से गुजरते हुए कबीर से पूछा कि स्नान का शुभ मूर्त बीता जा रहा है, कबीर क्या गंगा को नहीं चलेंगे? कबीर जी ने उत्तर दिया, “मन चंगा, तो कठौती में गंगा।” शौच का महत्व इसी से स्पष्ट है। जो लोग शुद्धता व पवित्रता के सिद्धान्त का सच्चे अर्थ में पालन करते हैं वे शरीर, विचार व मन के साथ-साथ वाणी की भी पवित्रता को बनाये रखते हैं। वे अपने मुंह से तीखा, चुभने वाला, किसी की भावना को ठेस पहुंचाने वाला या अश्लील शब्द अथवा गाली-गलौज नहीं निकालते हैं और सबसे मीठे-कोमल शब्दों में प्रेम-भाव सहित बोलते हैं। पवित्र मन पवित्र वाणी ही उच्चरण करता है।

(ङ) स्वाध्याय—विद्याभ्यास का दूसरा नाम स्वाध्याय है। पठन-पाठन को यह क्रिया हिन्दुओं में जीवन का आधार अंग मानी गई है। आश्रम-व्यवस्था के अंतर्गत मनुष्य-जीवन का प्रथम भाग (25 वर्ष की आयु तक) ब्रह्मचर्य आश्रम तो गुरुकुल में जाकर विद्याभ्यास करने तथा कुछ आवश्यक नियमों का पालन करने हेतु ही होता है। ब्रह्मचारी को अत्यन्त सरल, पवित्र तथा सदाचार का जीवन व्यतीत करना पड़ता है और एकाग्र मन से ज्ञानार्जन में संलग्न रहना पड़ता है। इस अवस्था में ब्रह्मचारी वेद, उपनिषद् आदि धार्मिक ग्रन्थों का अध्ययन करके अपने को ऋषि-ऋण से मुक्त करता है और अपनी परम्परा व संस्कृति के सम्बन्ध में ज्ञान प्राप्त करता है। निर्देश यह है कि तीनों वर्णों के पुरुष सब वेदों का अध्ययन गुरु की सेवा-सुश्रूषा में लगे रहते हुए करें। तत्पश्चात् दक्षिणा देकर गुरु को सन्तुष्ट कर ब्रह्मचर्य आश्रम का समापन करें (शांतिपर्व, 234/3)। यद्यपि ब्राह्मण जन्म से ही अपने उच्च कुल के कारण पूज्य है, फिर भी वेदों के अभ्यास के बिना वह पूर्ण श्रद्धा का अधिकारी नहीं होता। वैसे भी विद्याभ्यास से ज्ञान की प्राप्ति होती है, ज्ञान की प्राप्ति होने से अज्ञानता का अन्धकार दूर हट जाता है, और अज्ञानता का अन्धकार समाप्त हो जाने पर हमारा सम्पर्क एक प्रकार से प्रकाशमान हो जाता है। इस प्रकार विद्याभ्यास मनुष्य की अन्धकार

से निकालकर प्रकाश की ओर, ज्योतिर्गमय ईश्वर के निकट ले जाता है। जिन क्रियाओं द्वारा इस शरीर को ईश्वर प्राप्ति के योग्य बनाया जाता है उनमें स्वाध्याय को मनु ने पहला स्थान दिया है। उनके अनुसार ब्राह्मण निर्धन होने के कारण यदि वैदिक यज्ञ न कर सके तो वह स्वाध्याय द्वारा यज्ञ के फल को प्राप्त कर सकता है। मनु ने यह भी लिखा है कि आचार्यपुत्र, सेवक, ज्ञानान्तरदाता, धर्मात्मा, पवित्र, प्रामाणिक, धारणाशक्ति वाला, धन देने वाला, हितेच्छु और ज्ञाति—ये दस धर्म से पढ़ाने योग्य हैं अर्थात् इनको पढ़ाना कर्तव्य है (मनु०, 2/109)। जिस शिष्य के पढ़ने में धर्म और अर्थ न हो और जिसकी गुरु में भक्ति भी न हो, इस प्रकार के शिष्य को विद्या न पढ़ावे, जैसे अच्छा बीज ऊसर में न बोवे क्योंकि इस प्रकार बोने से भी कुछ उत्पन्न नहीं होता (मनु० 2/112)। इस प्रकार मनु का कठोर निर्देश है कि चाहे विद्या के साथ मरना पड़े, फिर भी वेदाध्यापक घोर आपत्ति में भी अयोग्य शिष्य को विद्या न देवे (मनु०, 2/113)। साथ ही, जो पढ़-लिखकर बुद्धिमान होते हुए भी अपने गुरु का मन, वचन व कर्म से आदर नहीं करते, वे जिस प्रकार गुरु के द्वारा स्वीकारने-योग्य नहीं हैं, उसी प्रकार उनका पढ़ना कुछ भी सुफल देने वाला नहीं हो सकता (मनु० 2/116)। इससे यह भी स्पष्ट है कि वास्तविक ज्ञान की प्राप्ति गुरु के बिना सम्भव नहीं। उत्तम गुण वाले विद्वान् पुरुष को गुरु बनाना चाहिये। यद्यपि ब्राह्मण गुरु की ही प्रशंसा की गई है, पर विद्या या ज्ञान सब-कहीं से प्राप्त कर लेनी चाहिये। जाजलि ने तुलाधार से, जानश्रुति ने रूक्म से और कौशिक ने धर्म-व्याघ्र से ज्ञान प्राप्त किया था। विद्वान् पुरुष के अभाव में पुस्तक या गुरुमूर्ति अथवा गुरु-प्रतीक को भी गुरु माना जा सकता है। एकलव्य ने द्रोणाचार्य की मिट्टी की मूर्ति को गुरु मान लिया और कबीर ने स्वामी रामानन्द के पैर की ठोकर खाकर उनके मुंह से निकले 'राम-राम' के शब्द को ही गुरु-मन्त्र मान लिया। किसी भी अवस्था में गुरु के प्रति अटूट श्रद्धा व भक्तिभाव का होना आवश्यक है। गुरु से ज्ञान और ज्ञान से मुक्ति (मोक्ष) सम्भव होता है।

इस प्रकार मनुष्य-जीवन के पाँच प्रमुख कर्मों के विषय में विवेचना कर लेने के पश्चात् मनुष्य-जीवन की उस प्रक्रिया को भी समझ लेना जरूरी होगा जिसके अनुसार मोक्ष प्राप्ति न होने तक मनुष्य को जन्म और मृत्यु के चक्र से छुटकारा नहीं मिलता और उसे बार-बार इस संसार में जन्म लेकर देह धारण करना पड़ता है। इसी को पुनर्जन्म की प्रक्रिया कहते हैं।

9. पुनर्जन्म—भारतीय मान्यता यह है कि अपने कर्मफल को भोगने के लिये जीव को बार-बार इस संसार में जन्म लेना होता है। पर प्रश्न यह है कि जीव का पुनर्जन्म मृत्यु के पश्चात् तुरन्त इसी लोक में होता है या परलोक जाकर जब उसे लौटना पड़ता है? शास्त्रों में ऐसे वचन हैं जिनसे यह अर्थ निकलता-सा प्रतीत होता है कि मृत्यु के पश्चात् जीव तुरन्त इस लोक में दूसरे शरीर में जन्म लेता है। उदाहरणार्थ, जातक ग्रन्थों में कहा गया है कि 'मृत्यु-घड़ी में ही अगले जन्म की जन्म-कुण्डली तैयार होती है।' पर वास्तव में शायद ऐसा नहीं होता है। बृहदारण्यकोपनिषद् (4/4-6/2) के अनुसार अन्न खाने पर पुनः अन्न खाने का समय आने तक खाए हुए अन्न का पाचन होना उसे जरूरी होता है, वैसे ही मृत्यु होने के बाद से पुनः जन्म लेने तक बीच में कर्म-विपाक के लिये (अर्थात् कर्म-फल को भोगने के लिये) कुछ समय परलोक में बिताना पड़ता है। इच्छा से कर्म, कर्म से वासना और उसका फल,

कर्म और फल, इहलोक-वास और परलोक-वास, अन्न-सेवन और उसका पाचन, सृष्टिक्रम के ये असंख्य द्वन्द्व-आंदोलन हैं। इन्हीं में मृत्यु और पुनर्जन्म भी एक द्वन्द्व है। इसका उद्देश्य जीव को परिशुद्ध करना होता है ताकि वह परम-शुद्ध परमात्मा में जा मिलने योग्य बन सके। बार-बार जन्म लेने से उत्पन्न प्रतिकूल परिस्थितियों के साथ संघर्ष करते हुए, जीव की सामर्थ्य, वैराग्य, विवेक-संयम आदि गुणों का संवर्धन होता है और वह मुक्ति के अधिक निकट होता जाता है। जीव अनुभव प्राप्त करते-करते परम-गति, परमोच्च ध्येय को प्राप्त हो—यह एक जन्म में सधने वाली बात नहीं है। एक जन्म में, एक शरीर में, एक परिस्थिति में सब कुछ सध जाये—यह सम्भव ही नहीं है। एक जन्म में देहात्मा का पूर्ण विकास होने के लिये कई वर्ष लगते हैं, इसी प्रकार क्षेत्रज्ञ आत्मा के पूर्ण विकास के लिये अनेक पुनर्जन्म आवश्यक होते हैं। पर स्मरण रहे कि पुनर्जन्म कोई नया जन्म नहीं है। सनातन आत्मा केवल नया वेश (शरीर) धारण कर प्रगट होती है क्योंकि उसे विकास की ओर (परमात्मा की ओर) बहुत ऊँचे जाना होता है। बहुत ऊँचे पर्वत पर चढ़ने के बीच में कहीं-कहीं उतार भी होते हैं। उसी प्रकार जीव के कर्मानुरूप तात्कालिक अधःपतन अथवा पशु-कोटि में पुनर्जन्म होना भी स्वाभाविक है। यही कारण है कि भारत को मृग का जन्म लेना पड़ा; नल-कूबर-मणिग्रीव वृक्ष बने। इसी प्रकार चढ़ाव-उतार चढ़ते-उतरते अन्त में यह आत्मा अपने पूर्णत्व को प्राप्त होती है। पर जीव कितनी बार जन्म लेगा, कितनी उच्च या निम्न योनि में जन्म लेगा, यह बात उसके पूर्व-जन्म और वर्तमान जन्म के कर्मों पर निर्भर करती है। जीव को कर्म-फल भोगने के लिये अपने कर्म तथा वासना से बाध्य होकर ऊँच-नीच विविध योनियों में जन्म ग्रहण करना पड़ता है (बृहदारण्यक 4/4/5)। गीता में भी लिखा है कि मनुष्य कर्म करने में तो स्वतन्त्र है परन्तु भोग में परतन्त्र है। गीता में यह भी कहा गया है कि जैसे पुराने वस्त्रों को त्याग कर मनुष्य नए वस्त्रों को ग्रहण करता है, उसी प्रकार जीवात्मा पुराने शरीर को त्यागकर नए शरीर को ग्रहण कर लेती है। मृत्यु के बाद जीव को उसी समय दूसरी देह मिल जाती है, पर वह स्थूल-देह नहीं होती। वह तेज-प्रधान या वायु-प्रधान 'अतिबाहिक' देह होती है जिसको ग्रहण करके जीव अपने पुण्य और पाप के अनुसार विविध देवलोक अथवा पितृलोक के विभिन्न स्तरों में पहुँचता है और वहाँ सुख-दुःख का भोग करके पुनः नियति के विधान से यथायोग्य स्थूल-देह को प्राप्त होता है। निवृत्ति-साधक विरक्त जीव पुनर्जन्म से बचने की इच्छा करते होंगे, पर लोकसंग्रही सन्त पुरुष पुनर्जन्म का भय या तिरस्कार नहीं करते। सन्त तुकाराम जी ने भगवान् से यह विनय की है कि "भगवन् ! मुझे मुक्ति या धन-सम्पत्ति नहीं चाहिये। पर ऐसा करो कि तुम्हारा कभी विस्मरण न हो ! तुम्हारा गुणगान करने में मेरा मन सदा रंगा हुआ हो। सत्संगति का सदा लाभ होता रहे। इतना दो। फिर भले ही पुनर्जन्म देते रहो।" इन सन्तों का भारतीयों को सतत यही उपदेश रहा है कि ज्ञान, उपासना और कर्म के इस त्रिवेणी-संगम पर आनन्द के साथ पुनर्जन्म लेकर संसार में वणिधम धर्म का पालन करते हुए सुखपूर्वक रहो।

10. पुरुषार्थ—हिन्दू-जीवन-दर्शन में पुरुषार्थ की धारणा अत्यन्त महत्वपूर्ण है। पुरुषार्थ मानव-जीवन के चार प्रमुख आधारों या उद्देश्यों की ओर संकेत करता है और वे हैं—धर्म, अर्थ, काम, तथा मोक्ष। धर्म मानव-जीवन का आदि या मूल आधार है। मनु ने लिखा है कि जीवन की प्रत्येक क्रिया धर्म की भावना से प्रेरित होनी

चाहिये। मीमांसकों के अनुसार भगवद् आज्ञा धर्म का लक्षण है। अर्थात् ईश्वरीय नियमानुसार सबके कल्याण के लिये किये गये नैतिक कर्त्तव्यों को ही धर्म कहते हैं। हिन्दू-मान्यता के अनुसार इन कर्त्तव्यों के समुचित पालन से ही व्यक्ति अपनी आत्मा की उन्नति कर सकता है और इस प्रकार मोक्ष की ओर बढ़ सकता है। वर्णधर्म, आश्रम-धर्म, देश-धर्म, राजधर्म, स्वधर्म आदि कर्त्तव्यों के विभिन्न खप को ही दसति हैं और इनके माध्यम से ही ईश्वर प्राप्ति सम्भव होती है। पर साथ ही महाभारत में लिखा है कि धर्म का पूर्ण रूप से पालन काफी सीमा तक अर्थ पर निर्भर है, जिसके जीवन में अर्थ का साधन नहीं है, वह अपने कर्त्तव्यों का उचित ढंग से पालन नहीं कर सकता। 'अर्थ' भौतिक सुखों की सभी आवश्यकताओं और पाधनों का द्योतक है। अर्थात् हिन्दू-जीवन-दर्शन में भौतिक उन्नति की भी अवहेलना नहीं की गई है क्योंकि भौतिक उन्नति के बिना दान, यज्ञ, तीर्थयात्रा आदि सद्कर्मों या कर्त्तव्यों का करना सम्भव नहीं हो सकता। पर भौतिक साधनों का संग्रह व उपयोग धर्मानुसार ही होना चाहिये। दूसरे शब्दों में यदि अन्यायपूर्ण ढंग से अर्थ का संग्रह किया गया है या यदि उसका व्यय धर्म-विरुद्ध कार्यों में किया गया है तो उसका फल बुरा होता है। कहा जाता है कि पापपूर्ण साधनों से उपाजित धन व्यक्ति के लिये नरक जाने का मार्ग प्रशस्त करता है जबकि सत्कर्मों पर व्यय किया हुआ अर्थ स्वर्ग की सीढ़ी तैयार करता है। मानव-जीवन का एक और स्वाभाविक पक्ष 'काम' है। 'काम' यौन सम्बन्धी तमाम इच्छाओं और प्रवृत्तियों की ओर संकेत करता है जोकि प्रत्येक जीव के लिये सहज व स्वाभाविक है। अतः धर्म पर आधारित और आध्यात्मिक उन्नति पर बल देने वाला हिन्दू-जीवन-दर्शन भी 'काम' की अवहेलना नहीं करता है। हिन्दू-शास्त्रकारों ने इस बात पर बल दिया है कि यौन-सम्बन्धी इच्छाओं की नृप्ति इस जीवन का एक सहज, स्वाभाविक अंग मानकर की जाये, पर इसी को सब कुछ समझकर इसी में डूबे रहने की नीति को कदापि न अपनाया जाये। इस प्रकार धर्म के अनुसार अर्थ और काम को नियन्त्रित व निर्देशित करके मनुष्य को सदा मोक्ष प्राप्ति की ओर आगे बढ़ना चाहिये ताकि जीवन-मरण के चक्र से आत्मा विमुक्त होकर परमात्मा से जा मिले और परम आनन्द का अनुभव करे। इसीलिये मनुस्मृति धर्मशास्त्र के रूप में धर्म की उच्चता पर नहीं, धर्म, अर्थ, काम तीनों के उचित समन्वय पर बल देती है। 'काम' हमारी सुष्टि के मूल में है। स्वयं प्रभु ने ही अपने को स्त्री तथा पुरुष दो भागों में विभाजित किया है। उसी प्रकार 'अर्थ' के बिना अनेक सद्कर्म अर्थहीन हो सकते हैं। अतः इन तीनों का सन्तुलित समन्वय ही आदर्श मानव-जीवन का प्रतीक है। धर्म, अर्थ तथा काम के इस समन्वित रूप को ही मनु ने 'त्रिवर्ग' की संज्ञा दी है। यह समन्वित रूप ही मनुष्य के मोक्ष का साधन बन जाता है।

11. मोक्ष—भारतीय जीवन-दर्शन के अनुसार एक सार्थक जीवन का अन्तिम ध्येय 'मोक्ष' ही है। यही परम प्राप्ति है क्योंकि यहीं पर आकर जीव को जीवन-मरण के झंझट से छुटकारा मिल जाता है और उसे परम आनन्द की अवस्था प्राप्त हो जाती है। आत्मा का परमात्मा में महामिलन ही मोक्ष है। दूसरे शब्दों में आत्मा जब अपने सच्चे व सर्वोच्च स्वरूप या स्थिति को प्राप्त कर लेती है तो उसे मोक्ष कहते हैं। कहा जाता है कि आत्मा परमात्मा का ही एक अंग है। अतः परमात्मा ही आत्मा का सबसे सत्य तथा सर्वोच्च स्वरूप है। जब आत्मा जीवन-मृत्यु के चक्र से विमुक्त होकर उसी परमात्मा में एकाकार हो जाती है तो उसी महामिलन की स्थिति को मोक्ष

कहते हैं। हिन्दू-शास्त्रों के अनुसार यह तभी सम्भव होता है जबकि मनुष्य को सभी कर्मों से तृप्ति तथा उसकी इच्छाओं का नाश हो जाता है और वह अपने को समस्त सांसारिक बन्धनों से विमुक्त पाता है। इसीलिये संसार से निवृत्ति को ही मोक्ष कहते हैं। 'शिव गीता' में कहा गया है कि हृदय की अज्ञान-ग्रन्थि का नाश हो जाने अर्थात् पूर्ण ज्ञान की प्राप्ति को मोक्ष कहते हैं। 'गीता' में कहा गया है कि बाह्य सुख-दुखों की अपेक्षा न कर जो व्यक्ति अपने अन्तःकरण में ही सुखी हो जाये, जो अपने आपमें ही 'आनन्द' का अनुभव करने लगे और जिसे अन्तःप्रकाश मिल जाये वह योगी ब्रह्म-रूप हो जाता है और वह ही ब्रह्म में मिलकर मोक्ष प्राप्त कर लेता है। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि मोक्ष पूर्ण ज्ञान व सत्य और अनन्त आनन्द की वह स्थिति है जिसमें कि आत्मा अपने चरम व परम लक्ष्य या गति परमात्मा को प्राप्त कर लेती है। अति संक्षेप में, सत्य, शिव एवं सुन्दर की प्राप्ति ही मोक्ष है और भारतीयों का सम्पूर्ण जीवन-दर्शन इन्हीं सत्य, शिव एवं सुन्दर की आराधना पर आधारित है।

प्रारम्भ

भारतीय समाज सदा से ही धर्मपरायण समाज है और संसार में अपनी इसी विशेषता के कारण उसका आदर है। धर्म की यह परम्परा भारतीय समाज की अति प्राचीन परम्परा है और पूर्व-वैदिक काल से इसकी निरन्तरता अविच्छिन्न रूप में बनी हुई है। धर्म ही भारतीय जीवन का सर्वोच्च आदर्श माना गया है। यह विश्वास किया जाता है कि मनुष्य के सभी क्रिया-कलापों का अन्तिम लक्ष्य धर्म-संचय करना है। भारतीय समाज-व्यवस्था (social system) का विकास पाश्चात्य समाज के विकास की भाँति अर्थ या भौतिक वस्तुओं को आधार मानकर नहीं हुआ है। जिस प्रकार पाश्चात्य समाज अर्थ व भौतिक सुख-प्राप्ति पर अवलम्बित है, अपने प्रत्येक कार्य में भौतिक सुख को प्रमुखता देता है, उसी प्रकार भारतीय समाज धर्म पर अवलम्बित है। जीवन के प्रत्येक छोटे-बड़े कार्य यहाँ धर्म के आधार पर व्यवस्थित होते हैं। 'धारयतीति धर्मः।' जो समाज का, व्यक्ति का धारण करे वह धर्म है।¹ यह धर्म की पहली परिभाषा है। जैसे अग्नि का धर्म उष्णत्व है—उष्णता न हो तो अग्नि की सत्ता ही नहीं रह जाएगी—ऐसे ही धर्म न हो, तो हिन्दू समाज भी अस्तित्वहीन, अर्थहीन हो जाएगा। धर्म पर ही इसकी संस्कृति अवलम्बित है। पर इस विषय में और कुछ विवेचना करने से पूर्व धर्म के अर्थ व प्रकृति को समझ लेना आवश्यक होगा।

धर्म का अर्थ व प्रकृति

(Meaning and Nature of Religion)

धर्म किसी-न-किसी प्रकार की अति-मानवीय (super-human) या अलौकिक (super-natural) या समाजोपरि (supra-social) शक्ति पर विश्वास है, जिसका आधार भय, श्रद्धा, भक्ति और पवित्रता की धारणा है और जिसकी अभिव्यक्ति, प्रार्थना, पूजा या आराधना है।²

धर्म की उपरोक्त परिभाषा, आदिम और आधुनिक, दोनों प्रकार के समाजों में पाये जाने वाले धर्मों की एक सामान्य व्याख्या है। प्रत्येक धर्म का आधार किसी शक्ति पर विश्वास है और यह शक्ति मानव-शक्ति से अवश्य ही श्रेष्ठ है। परन्तु केवल विश्वास सम्पूर्ण धर्म नहीं है, इस विश्वास का एक भावात्मक (emotional) आधार होता है, जैसे उस शक्ति के सम्बन्ध में भय या उसके दुष्ट का भय। साथ ही उस

1. धारणाद् धर्मान्त्याहुर्धर्मो धारयति प्रजाः। महाभारत।

2. Religion is the belief in one or the other super-human or super-natural or supra-social power which (the belief) has for its basis the fear, the reverence, the devotion and the idea of sacredness and which is expressed through prayer, worship or submission.

—The Author.

शक्ति के प्रति श्रद्धा, भक्ति या प्रेम-भाव भी धर्म का आवश्यक अंग है। उस शक्ति से लाभ उठाने के लिये और उसके कोप से बचने के लिये प्रार्थना, पूजा या आराधना करने की विधियाँ या संस्कार (rituals) भी हुआ करते हैं। इन धार्मिक क्रियाओं में अलग-अलग समाजों में अलग-अलग तरह की धार्मिक सामग्रियों (religious objects), धार्मिक प्रतीकों (religious symbols) और जादू-टोने, पौराणिक कथाओं आदि का समावेश होता है। उस शक्ति का, जिस पर विश्वास किया जाता है, रूप और स्वरूप भी प्रत्येक समाज में अलग-अलग होता है। कहीं तो निराकार शक्ति की आराधना की जाती है और कहीं उस शक्ति के साकार रूप को पूजा जाता है। संक्षेप में, इस शक्ति से सम्बन्धित समस्त विश्वासों, भावनाओं और क्रियाओं को ही धर्म कहते हैं।

आधुनिक मानवशास्त्र (Anthropology) के प्रवर्तक श्री एडवर्ड टायलर (Edward Tylor) ने ही शायद सर्वप्रथम 'सबसे कम शब्दों में' धर्म की सबसे विस्तृत परिभाषा प्रस्तुत की थी। आपके अनुसार, "धर्म आध्यात्मिक शक्ति पर विश्वास है।"³

सर जेम्स फ्रेजर (Sir James Frazer) के मतानुसार धर्म की प्रकृति और भी निश्चित है। आपने लिखा है, "धर्म से मैं मनुष्य से श्रेष्ठ उन शक्तियों की सन्तुष्टि या आराधना समझता हूँ जिनके सम्बन्ध में यह विश्वास किया जाता है कि वे प्रकृति और मानव-जीवन को मार्ग दिखलाती और नियन्त्रित करती हैं।"⁴

समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण से सर्वश्री गिल्लिन और गिल्लिन (Gillin and Gillin) की परिभाषा उल्लेखनीय है। आपके शब्दों में, "एक सामाजिक समूह में फैले हुये उन भावात्मक विश्वासों को जोकि किसी अलौकिक शक्ति से सम्बन्धित हैं तथा उन बाहरी व्यवहारों, भौतिक वस्तुओं और प्रतीकों को, जो इन विश्वासों से सम्बन्ध रखते हैं, धर्म के समाजशास्त्रीय क्षेत्र में सम्मिलित समझा जा सकता है।"⁵

भारतीय संस्कृति में धर्म का अर्थ

(Meaning of Dharmā in Indian Culture)

भारतीय संस्कृति में धर्म का अर्थ अंग्रेजी शब्द 'रिलीजन' (religion) के अर्थ से भिन्न है। शाब्दिक दृष्टिकोण से धर्म शब्द 'धृ' धातु से बना है और इसका अर्थ वह है जो किसी वस्तु को धारण करे या उस वस्तु का अस्तित्व बनाए रखे। इस दृष्टिकोण से धर्म किसी भी वस्तु का वह मूल तत्त्व है जिसके आधार पर उस वस्तु की यथार्थता को समझा जा सकता है और जिसके आधार पर उस वस्तु का अस्तित्व सम्भव

3. "Religion is the belief in Spiritual Beings." —Edward B. Tylor, *Primitive Culture*, John Murray, London, 1933, p. 424.

4. "By religion... I understand a propitiation or conciliation of powers superior to man which are believed to direct and control the course of nature and of the human life." —Sir James Frazer, *The Golden Bough*, Abridged Edition, Macmillan Co., New York, p. 50.

5. "The sociological field of religion may be regarded as including those emotionalized beliefs prevalent in a social group concerning the supernatural plus the overt behaviour; material objects and symbols associated with such beliefs." —J. L. Gillin and J. P. Gillin, *Cultural Sociology*, The Macmillan Co., New York, 1950, p. 459.

होता है। महाभारत में स्पष्टतः उल्लेख है—‘धारणाद्धर्ममित्याहुर्धर्मो धारयति प्रजाः।’ अर्थात् धारणा करने वाले को धर्म कहते हैं, धर्म प्रजा को धारण करता है। इसी आधार पर डॉ० शर्मा ने लिखा है कि ‘‘धर्म का सिद्धान्त सभी प्राणियों की रक्षा का सिद्धान्त है। चूँकि यह सिद्धान्त सब प्राणियों की धारणा या रक्षा करता है, इसीलिए इसे धर्म कहते हैं।’’

वैशेषिक दर्शन में कहा गया है कि ‘यतोऽभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिः स धर्मः।’ अर्थात् जिससे इस लोक में अभ्युदय (लौकिक उन्नति) और परलोक में परम कल्याण (पारलौकिक कल्याण) की प्राप्ति हो, वह धर्म है। मीमांसकों के अनुसार, ‘चोदना लक्षणार्थो धर्मः’ अर्थात् भगवद्-आज्ञा धर्म का लक्षण है अथवा शास्त्र से अनुशासित या स्वीकृत कर्म या आचरण पद्धति ही धर्म है। मनुस्मृति में तो धर्म की परिभाषा के स्थान पर धर्म के चार स्रोतों का उल्लेख किया गया है—श्रुति (वेद), स्मृति, सदाचार, और जो अपनी आत्मा को प्रिय लगे।

डॉ० राधाकृष्णन् ने धर्म की व्याख्या करते हुए लिखा है—‘‘यह ‘धृ’ धातु (बनाए रखना, धारण करना, पुष्ट करना) से बना है। यही वह मानदण्ड है जो विश्व को धारण करता है, किसी भी व्यक्ति का वह मूल तत्त्व है जिसके कारण वह वस्तु है। वेदों में इस शब्द का प्रयोग धार्मिक विधियों के अर्थ में किया गया है। छान्दोग्य उपनिषद् में धर्म की तीन शाखाओं (स्कन्धों) का उल्लेख किया गया है जिसका सम्बन्ध गृहस्थ, तपस्वी, ब्रह्मचारी के कर्तव्यों से है। जब तैत्तिरीय उपनिषद् हमसे धर्म का आचरण करने को कहता है, तब उसका अभिप्राय जीवन के उस सोपान के कर्तव्यों के पालन से होता है जिसमें कि हम विद्यमान हैं। इस अर्थ में धर्म शब्द का प्रयोग भगवद्गीता और मनुस्मृति दोनों में हुआ है। वैशेषिक सूत्रों में धर्म की परिभाषा करते हुए कहा गया है कि जिससे आनन्द और परमानन्द की प्राप्ति हो, वह धर्म है। अपने प्रयोजन के लिए धर्म की परिभाषा हम इस प्रकार कर सकते हैं कि यह चारों वर्णों और चारों आश्रमों के सदस्यों द्वारा जीवन के चार प्रयोजनों (धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष) के सम्बन्ध में पालन करने में योग्य मनुष्य का समूचा कर्तव्य है।’’

धर्म के लक्षण

(Characteristics of Dharma)

उपरोक्त विवेचन से ही धर्म के लक्षणों का कुछ स्पष्टीकरण हो जाता है, पर उसे और भी स्पष्ट रूप में इस प्रकार प्रस्तुत किया जा सकता है—

(1) मनु महाराज ने कहा है—‘वेदोऽखिलो धर्ममूलम्’ (2/6) अर्थात् समस्त वेद अर्थात् ऋक्, यजुः, साम और अथर्ववेद धर्म का मूल है। श्रीमद्भागवत् में भी स्पष्ट कहा है—‘वेदप्रणिहितो धर्मो ह्यधर्मस्तद्विपर्ययः’ (6/1/44) अर्थात् वेद में कहा हुआ धर्म है और उससे विपरीत अधर्म है। इस प्रकार धर्म का प्रथम व आधारभूत लक्षण यह है कि शास्त्रप्रेरित या वेद द्वारा निर्धारित कर्म ही धर्म है।

(2) धर्म का दूसरा लक्षण है—‘क्रियासाध्यत्वे सति श्रेयस्करत्वमिति लौकिकाः’ अर्थात् क्रिया या कर्म द्वारा सिद्ध होकर कल्याणकारी होना धर्म का लक्षण है—यह लौकिक पुरुषों का मत है।

(3) धर्म का तीसरा लक्षण ऐसा किया गया है—‘सत्याज्जायते, दयया बानेन च वर्धते, क्षमाया तिष्ठति क्रोधान्तर्ध्रुति’ अर्थात् धर्म की उत्पत्ति सत्य से होती है, दया व दान से वह बढ़ता है, क्षमा में वह निवास करता है और क्रोध से उसका नाश होता है।

(4) धर्म का चौथा लक्षण उपनिषद् के अनुसार यह है कि धर्म समस्त विश्व का आधार या नींव है क्योंकि इसके द्वारा व्यक्ति के आचरण की वे समस्त बुराइयाँ दूर हो जाती हैं जोकि विश्वकल्याण के विपरीत हैं।

(5) कौटिल्य के अनुसार धर्म वह शाश्वत सत्य है जोकि सारे संसार पर शासन करता है। यह धर्म का पाँचवाँ लक्षण है।

(6) धर्म का छठा लक्षण यह है कि “जो धर्म दूसरे धर्म को बाधा दे, वह धर्म नहीं है वल्कि ‘कुधर्म’ है। जो धर्म समस्त धर्मों का अविरोधी है, वही यथार्थ धर्म है।” जो धर्म के बिल्कुल विपरीत है वह ‘अधर्म’ कहलाता है।

(7) धर्म का सातवाँ लक्षण यह है कि स्वधर्म ही श्रेय है और पराये धर्म का त्याग ही कल्याणकारी है। गीता में श्रीकृष्ण का निर्देश है कि “पराये धर्म का आचरण कितना ही सुखकर क्यों न हो, तो भी उसकी अपेक्षा स्वधर्म ही अधिक श्रेयस्कर है, चाहे वह स्वधर्म विगुण अर्थात् सदोष भले ही हो। स्वधर्म-पालन में यदि मृत्यु हो जाए तो वह भी श्रेयस्कर है; परन्तु दूसरों का धर्म भयावह या भयंकर होता है।”

(8) धर्म का अन्तिम लक्षण यह है कि

एक एव सुहृद् धर्मो निधनेऽप्यनुयाति यः ।

शरीरेण समं नाशं सर्वमन्यत्तु गच्छति ॥

अर्थात् एक धर्म ही ऐसा मित्र है जो मरने पर भी जीव के साथ जाता है; और सब तो शरीर का साथ छोड़कर चले जाते हैं।

धर्म के स्रोत

(Sources of Dharma)

जहाँ तक धर्म के स्रोत का प्रश्न है, महाभारत के अनुसार सत्यता, हितकर प्रथाएँ तथा आचरण धर्म के मुख्य स्रोत हैं। मनुस्मृति के अनुसार धर्म के चार स्रोत इस प्रकार हैं—(क) वेद, (ख) स्मृति या धर्मशास्त्र, (ग) धर्मात्मा लोगों का आचरण, और (घ) व्यक्ति का अपना अन्तःकरण। इन स्रोतों का स्पष्टीकरण इस प्रकार किया जा सकता है—

(क) वेद हिन्दू धर्म के मूल एवं आधार ग्रन्थ हैं। ‘वेद’ शब्द का वास्तविक अर्थ ‘ज्ञान’ है। वेद चार हैं—ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्ववेद। इन वेदों में जो मन्त्र हैं वे हमारे ऋषियों के दिव्य ज्ञान का प्रकाश हैं। ऋषियों ने जगत् की उत्पत्ति, मनुष्य की चरम गति एवं कर्मकाण्ड से सम्बन्ध अनेक विषयों पर मानव-कल्याणार्थ अपनी विश्वासपूर्ण व्यवस्थायें दी हैं। वेदों का उद्घोष ‘तमसो मा ज्योतिर्गमय’ है।

(ख) मानव-आचरण के लिये सुव्यवस्थित नियम एवं आदेश का प्रतिपादन स्मृतियों एवं धर्मशास्त्रों में किया गया है। इन नियमों को यदि अपना कर्तव्य मानकर करें तो वही होगा उसका धर्म का पालन। श्रुति (वेद) और स्मृति (धर्मशास्त्र) के

7. धर्मो यो बाधते धर्मं न स धर्मः कुधर्मं तत् ।

अविरोधी तु यो धर्मः स धर्मः सत्यविक्रमः ॥

सम्बन्ध में मनुस्मृति में लिखा है कि श्रुति और स्मृति में जो कहा गया है वह धर्म कहलाता है। इन दोनों में कहे हुए कर्तव्यों-आचरणों को करता हुआ अर्थात् धर्म का पालन करता हुआ मनुष्य इस लोक में यश को पाता है और मरकर परलोक में उत्तम सुख या मोक्ष को प्राप्त होता है।

(ग) सत्पुरुष या धर्मात्मा लोगों का आचरण धर्म का अन्यतम श्रोत है। वेदों के जानने वाले आदर्श पुरुष जो आचरण करते हैं, वे साधारण व्यक्तियों के लिये पथ-प्रदर्शक होते हैं। महाभारत में जब महाराज यक्ष ने धर्मपुत्र युधिष्ठिर से यह पूछा कि धर्म क्या है—तो इसके उत्तर में उन्होंने (युधिष्ठिर ने) यह उत्तर दिया कि महाजन जिस मार्ग से गये हैं वह ही सच्चा धर्म है।

(घ) धर्म का अन्तिम स्रोत स्वयं व्यक्ति का अन्तःकरण है। विशुद्ध अन्तःकरण व्यक्ति को विशुद्ध पथ पर ही परिचालित करता है। अतः अन्तःकरण का निर्देश ही हमारा यथार्थ मार्गदर्शक बन सकता है।

धर्म के रूप—जीवन के कर्तव्य-कर्म धर्म के रूप में

(Forms of Dharma—Duties of Life in the Form of Dharma)

धर्म के अनेक रूप हैं, इनमें से कुछ इस प्रकार हैं—(1) वर्ण-धर्म का तात्पर्य वर्ण द्वारा निर्धारित नियमों और कर्तव्यों का निष्ठापूर्वक पालन करना है। जैसे ब्राह्मण का वर्ण-धर्म है—अध्ययन, पढ़ाना, यज्ञ व बलि आदि का निधान करना, यज्ञ आदि को सुसम्पन्न करना तथा दान लेना। (2) आश्रम-धर्म विभिन्न आश्रमवासियों के द्वारा किये जाने वाले कर्तव्य-आचरणों की ओर संकेत करता है। उदाहरणार्थ, ब्रह्मचर्याश्रम में ब्रह्मचारी का धर्म यह है कि ब्रह्मचारी सुयोदय से पहले उठे, गायत्री मन्त्र का जप तथा ईश्वर पूजा करें, सादा जीवन बितायें, गुरु की सेवा करें, आदि। (3) कुल-धर्म व्यक्ति के अपने परिवार, वंश या कुल के प्रति उसके कर्तव्यों को कहते हैं। उदाहरणार्थ, माता-पिता की सेवा करना, सतीत्व का पालन करना, पित्रों को पिण्ड-दान करना आदि कुल-धर्म हैं। (4) काल एवं देश-धर्म उन कर्तव्यों के प्रति संकेत करता है जो कि एक व्यक्ति को समय-समय पर तथा अपने देश के लिये करना पड़ता है। आवश्यकता पड़ने पर देश की मर्यादा-रक्षार्थ जीवन तक की बलि चढ़ा देना देश-धर्म है। (5) राजधर्म प्रजा के प्रति राजा के कर्तव्य-कर्मों का परिचायक है। राजा का कर्तव्य है कि वह ऐसा कार्य करे जिससे कि जनता के सुख व समृद्धि की निरन्तर वृद्धि होती जाये। (6) स्वधर्म अपने धर्म से सम्बद्ध आचरणों का बोध करवाता है। यदि एक व्यक्ति ब्राह्मण है तो उसका स्वधर्म ब्राह्मण-धर्म है अर्थात् इस वर्ण से सम्बद्ध कर्तव्य-कर्म है। (7) आपद्धर्म उन कर्तव्य-कर्मों को ओर संकेत करता है जिन्हें किसी व्यक्ति को आपत्ति के समय विवश होकर करना पड़ता है। चाहे वह सामान्य धर्म के विपरीत ही क्यों न हो, वह मान्य है। आपद्धर्म केवल आपत्ति-काल के लिये होता है और वह भी उतने अंश में जितने अंश में आपत्ति है। मरणासन्न शाकाहारी रोगी को वैद्य ने लहसुन दे दिया, तो अच्छे होने पर भी लहसुन उसका खाद्य नहीं हो गया। इन सब धर्म के सम्बन्ध में हम अध्याय 8 में विस्तारपूर्वक विवेचना करेंगे।

भारत में जीवन का धार्मिक आधार
(Religious Basis of Life in India)

भारतीय जीवन का मूल आधार धर्म ही है। धर्म को निकालकर भारतीय

जीवन की कल्पना आज भी नहीं की जा सकती, क्योंकि भारत की 82 प्रतिशत जन-संख्या गाँव में निवास करती है और गाँव की जनता आज भी धर्मपरायण है। भारतीय मान्यता यही है कि धर्म के बिना जीवन को बनाये रखना ही असम्भव है—'धर्म एव हतो हन्ति धर्मो रक्षति रक्षितः' अर्थात् धर्म का जो नाश करेगा, धर्म उसका नाश कर देगा; पर जो धर्म की रक्षा करता है, धर्म उसकी रक्षा करता है। यह प्राचीनतम सिद्धान्त भारतीय जीवन के प्रत्येक पक्ष में प्रत्यक्ष है। इसीलिए उपदेश यही है कि "धर्म के अनुसार चलो। परमेश्वर के सम्मुख नम्र रहो, यह दासता भी कल्याणमय है क्योंकि इसी दासता के माध्यम से तुम्हें अपने जीवन में 'परम' (मोक्ष) की प्राप्ति होगी।" भारत में जीवन का धार्मिक आधार इसी से स्पष्ट है। फिर भी निम्नलिखित विवेचना इस सम्बन्ध में और भी उपयोगी सिद्ध होगी—

1. जगत् जीवन का आरम्भ और धर्म—जगत् और जीवन का आधार भी धर्म है। भारतीय मान्यता के अनुसार इस विश्व और ब्रह्माण्ड का सृष्टिकर्ता केवल एक ईश्वर (ब्रह्मा) है। मनु जी की मान्यता है कि इस जगत् की उत्पत्ति का मूल कारण परमात्मा है। उनके अनुसार सृष्टि के आरम्भ होने से पूर्व जगत् सम्पूर्ण भू-अन्धकार-मय था। स्वयं परमात्मा इस स्थिति को सहन न कर सके और उन्होंने अपने पराक्रम से अन्धकार को आलोक में बदला। इस प्रकार यह सम्पूर्ण जड़ तथा चेतन जगत् उसी सर्वशक्तिमान परमात्मा की अभिव्यक्ति है। मनु के अनुसार यह संसार मायामय तथा सारहीन नहीं अपितु मानव-जीवन के लिये धर्म तथा कर्म-क्षेत्र है। इसी संसार में अपने धर्मानुसार आचरण के द्वारा ही जीवन के परम लक्ष्य अर्थात् 'परम सत्य' की ओर बढ़ा जा सकता है।

वेदान्त सूत्र के अनुसार जीव ब्रह्म का ही अंश है। गीता में भी कहा गया है—“ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः” (15/7) अर्थात् आविर्भाव के पहले जीव ब्रह्म के अन्तर्गत रहता है, अतएव ब्रह्म ही रहता है। फिर ब्रह्म से पृथक् होकर शत-सहस्र जन्म-जरा-मरण के प्रवाह में असंख्य सुख-दुःख, पाप-पुण्य तथा धर्म-ज्ञान से अभिज्ञता प्राप्त कर जीव की जीवन-यात्रा एक दिन समाप्त होती है और उस दिन फिर वह परम ब्रह्म में आ मिलता है। इस प्रकार फिर आ मिलने की अवधि मनुष्य द्वारा किये गये धर्म-कर्म पर निर्भर करती है। धर्म के अनुसार कर्म मनुष्य को जीवन-मृत्यु के चक्कर से मुक्ति देता है और उसे ईश्वर से एकाकार होने में मदद करता है। इस प्रकार जीवन धर्म से ही आरम्भ होता है और धर्म में ही उसका अन्त होता है।

भारत में जीवन का धार्मिक आधार इस बात से भी स्पष्ट है कि हिन्दू-जीवन-दर्शन में मनुष्य के अन्तरतम के सार को 'आत्मा' कहा गया है। यह आत्मा परमात्मा का ही एक अंग है। सम्पूर्ण जगत्-इस महान् विश्व-आत्मा ब्रह्म से ही निकलता है और उसी में फिर विलीन हो जाता है। जैसे नदिया समुद्र में से उत्पन्न होती हैं और बाद उसी में लौटकर व उसी में मिलकर स्वयं समुद्र बन जाती हैं, उसी प्रकार आत्मा का भी आदि और अन्त दोनों ही परमात्मा है, क्योंकि आत्मा स्वयं परमात्मा का ही एक अग्रिम अंग है। जब उस परमात्मा ने एक से अनेक होने की इच्छा की तभी यह जगत् तथा उसके असंख्य जीवों ने उसमें से जन्म लिया। अतः जो परमात्मा है, वही आत्मा है, और जो आत्मा है वही तुम हो। इसलिये, गीता के अनुसार यह आत्मा अमर

अथवा धर्म-ज्ञान
प्राप्त करने के लिए

शास्त्र के अनुसार
आत्मा के अन्तर्गत

है। केवल शरीर नष्ट हो जाता है, आत्मा तो सदैव बनी रहती है, वह कभी नहीं मरती। अतः मृत्यु से क्या डर, डर तो एक मात्र भगवान् से ही होना चाहिये।

केवल हिन्दुओं का जीवन ही नहीं, मुसलमानों का जीवन भी धर्म पर ही आधारित है और वह धर्म है इस्लाम धर्म। इस्लाम का अर्थ होता है समर्पण अथवा उत्सर्ग, जिसका मतलब होता है अल्लाह (ईश्वर) की इच्छा के सामने झुकना।

2. उत्सव, पर्व व त्यौहार एवं धर्म—उत्सव, पर्व और त्यौहार सामाजिक जीवन के महत्वपूर्ण अंग हैं और इन पर भी हमें धर्म का प्रभाव स्पष्ट रूप से देखने को मिलता है। हिन्दू या मुसलमान अथवा सिक्ख के प्रायः सभी पर्व, उत्सव और त्यौहार किसी-न-किसी रूप में धर्म से सम्बन्धित हैं एवं उनमें धार्मिक कृत्यों को ढूँढना किसी के लिये भी मुश्किल नहीं है। नवरात्र, गंगा दशहरा, नागपंचमी, गणेश चतुर्थी, जन्माष्टमी, तीज, करवाचौथ आदि हिन्दुओं के महत्वपूर्ण पर्व हैं और इनमें से प्रत्येक में किसी-न-किसी देवी-देवता को पूजने का विधान है। उसी प्रकार प्रमुख त्यौहारों को लीजिये। होली में होलिका की पूजा, दीपावली में लक्ष्मी-गणेश की पूजा, दशहरे में दुर्गा की पूजा—इन त्यौहारों का प्रमुख अंग है। उसी प्रकार मुस्लिम त्यौहारों, जैसे ईद, वकरईद आदि में नमाज पढ़ना आवश्यक है। सिक्खों के प्रत्येक त्यौहार पर गुरु ग्रन्थ साहब का पाठ किया जाता है एवं लोग गुरुद्वारा में माथा टेकने जाते हैं। अतः स्पष्ट है कि भारतवासी उत्सव, पर्व व त्यौहारों की खुशी में इतना ज्यादा डूब नहीं जाते कि अपने मालिक उस ईश्वर को ही भूल जायें। हमारे लिये जीवन का सर्वोत्तम आनन्द तभी सार्थक होता है जबकि वह परम आनन्दमय, परम मंगलमय हमारे साथ रहता है। हम दुःख में ही नहीं, सुख में भी उसे समान रूप से याद करते हैं।

3. जीवन के कर्त्तव्य-कर्म तथा धर्म—भारतीय जीवन के जितने भी प्रमुख कर्त्तव्य हैं वे भी सब धर्म पर ही आधारित हैं। हिन्दू-जीवन-दर्शन के अनुसार शास्त्र-विहित कर्म ही धर्म हैं। सत्य, अहिंसा, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, त्याग आदि सार्वभौम कर्त्तव्य-कर्म हैं और इन सबका आधार धर्म ही है। जीवन के आधारभूत कर्त्तव्य-कर्मों में यज्ञ का स्थान उल्लेखनीय है। वह जीवन निरर्थक है जोकि यज्ञ-विहीन है और यज्ञ का आधार धर्म ही है। महर्षि जैमिनी ने यज्ञ को धर्म-स्वरूप माना है। यज्ञ-विहीन सदाचार भी वस्तुतः सदाचार नहीं, अधर्म ही है। यज्ञों के समुचित अनुष्ठान से उद्देष्ट्यों की पूर्ति एवं स्वर्ग की प्राप्ति सम्भव होती है। वास्तव में धार्मिक आधार पर निश्चित प्रत्येक हिन्दू के अपने जीवन में इहलोक और परलोक से सम्बन्धित कुछ नैतिक कर्त्तव्य होते हैं। इन नैतिक कर्त्तव्यों को ही मनु ने 'यज्ञ' कहा है। मनुस्मृति के अनुसार ये यज्ञ पाँच हैं—ब्रह्मयज्ञ, पितृयज्ञ, देवयज्ञ, भूतयज्ञ तथा नृयज्ञ। ब्रह्मयज्ञ को पठन-पाठन या वेदाध्ययन व वेदमन्त्रों के उच्चारण द्वारा पितृयज्ञ को पितरों के तर्पण या श्राद्ध द्वारा, देवयज्ञ को देवताओं को अग्नि-आहुति, बलि या अन्य प्रकार के पदार्थ समर्पित करके, भूतयज्ञ को प्रेतात्माओं को बलि तथा भोजन, जानवरों, कीड़े-मकड़ों, अपाहिज मनुष्यों और असहाय व्यक्तियों को भोजन देकर तथा नृयज्ञ को आतिथ्य-सत्कार द्वारा सम्पन्न किया जाता है। इस प्रकार हिन्दू-जीवन के समस्त कर्त्तव्य-कर्म धर्म पर ही आधारित हैं।

मुसलमानों में भी स्थिति बहुत-कुछ यही है। कुरान के अनुसार, "सदाचार इसमें नहीं है कि तुम केवल नमाज पढ़ो, बल्कि सदाचार का अर्थ है अल्लाह, अन्तिम

दिन, देवदूत, कुरान और पैगम्बर में विश्वास) इन पर विश्वास रखते हुए जो लोग भी अल्लाह के प्रेम के लिये अपना धन अपन भाई-बन्धुओं, अनाथों, निर्धनों, यात्रियों तथा भिखारियों को व कैदियों को छुड़ाने के लिये देते हैं और जो प्रार्थना करते हैं तथा दान देते हैं, और जो अपने अनुबन्ध या इकरार पूरे करते हैं, और जो विपत्ति, कठिनाई तथा अशान्ति के समय धैर्यशील होते हैं और जो अल्लाह या कुरान के नियमों से डरते हैं, वे सब सदाचारी हैं।" मुस्लिम मान्यता के अनुसार जीवन के उच्चतम आदर्शों तथा लक्ष्यों की प्राप्ति कुरान के अनुसार जीवन व्यतीत करने से ही सम्भव है।

4. जीवन-पथ के संस्कार और धर्म—व्यक्ति की शारीरिक, मानसिक तथा बौद्धिक शुद्धि, सुधार या सफाई के लिये किये जाने वाले अनुष्ठानों को ही संस्कार कहते हैं। संस्कारों के माध्यम से ही एक व्यक्ति समाज का पूर्ण विकसित सदस्य बन सकता है। पर जीवन पथ के ये सभी संस्कार किसी-न-किसी रूप में धर्म से सम्बन्धित व धर्म पर आधारित होते हैं। वास्तव में धार्मिक आधार पर व्यक्ति के जीवन को परिशुद्ध तथा पवित्र बनाने के उद्देश्य से ही संस्कारों का जन्म हुआ है। इस प्रकार जन्म से लेकर मृत्यु तक सम्पूर्ण जीवन ही धर्म पर आधारित हो जाता है। दो-एक उदाहरणों द्वारा इसे प्रमाणित किया जाता है। जन्म के दसवें अथवा बारहवें दिन शुभ तिथि, नक्षत्र एवं मुहूर्त को देखकर बच्चों का नामकरण संस्कार किया जाता है। नाम प्रायः देवताओं, कुल-देवता, ग्राम-देवता आदि के आधार पर रख दिये जाते हैं। जब किसी दम्पति के बच्चे जीते नहीं हैं तो वे किसी विशेष देवी-देवता की मित्रता करते हैं और उन्हीं के नाम पर बच्चे का नाम रख लेते हैं। मानव-जीवन का प्रथम परिचय नाम है और भारत में उस नाम पर भी धर्म की छाप देखने को मिलती है। यदि हिन्दू अपने बच्चे का नाम रामप्रसाद या कालीचरण रखते हैं तो मुसलमानों के नाम भी अल्लारक्खा अथवा खुदाबक्श होता है। भारत में जीवन के धार्मिक आधार का इससे उत्तम प्रमाण और क्या हो सकता है? स्मरण रहे कि हिन्दुओं में इस नामकरण संस्कार में पूजा, हवन आदि भी होता है और मुसलमानों में बच्चे के जन्म के चालीसवें दिन जो 'चिल्ला' संस्कार किया जाता है उसमें भी नमाज पढ़ना और अल्लाह से दुआ माँगना इस संस्कार का आवश्यक अंग होता है। हिन्दुओं में पण्डितजी और मुसलमानों में मुल्लाजी बच्चे का नाम रखने आते हैं। इस प्रकार भारत में जीवन का आरम्भ धर्म को साक्षी बनाकर ही होता है।

5. शैक्षिक जीवन और धर्म—सफल जीवन के लिये शिक्षा एक आवश्यक शर्त है और भारत में बच्चे के जीवन में यह विद्यारम्भ भी धार्मिक आधार पर ही होता है। हिन्दुओं में इसे पट्टी-पूजन और मुसलमानों में बिसमिल्ला कहा जाता है। इन संस्कारों के नाम से ही स्पष्ट है कि शैक्षिक जीवन का भी इस देश में एक धार्मिक आधार होता है। हिन्दुओं में इस संस्कार के अवसर पर विधिवत् पट्टी को पूजा जाता है और फिर बच्चे का हाथ पकड़कर उसी पट्टी पर उससे 'ओम्' या अन्य कोई देवी-देवता का नाम सर्वप्रथम लिखवाया जाता है। मुसलमानों में मुल्लाजी बच्चे से 'बिसमिल्ला' का उच्चारण करवाते हैं और पाटी पर लिखना आरम्भ करवाते हैं। पुराने जमाने में तो गुरुकुल में जाकर बच्चों के लिये धार्मिक ग्रन्थों का अध्ययन अनिवार्य था। आज भी ग्रामीण समुदायों में कुछ लोग लिखना-पढ़ना इस उद्देश्य से सीखना चाहते हैं कि वे धार्मिक पुस्तकों जैसे रामायण, महाभारत आदि को पढ़ सकें।

6. **पारिवारिक जीवन तथा धर्म**—भारत में व्यक्ति का पारिवारिक जीवन भी धर्म पर आधारित है। परिवार बसाने के लिये अर्थात् पारिवारिक जीवन में प्रवेश पाने के लिये विवाह अनिवार्य है और हिन्दुओं में तो विवाह स्वयं ही एक धार्मिक संस्कार है। इसमें देवता को साक्षी मानकर कन्या का दान किया और लिया जाता है, अग्नि देवता का हवन किया जाता है और अन्य अनेक धार्मिक क्रिया-कलापों को करना होता है। मुसलमानों में विवाह एक शिष्ट सामाजिक समझौता है, फिर भी निकाह (विवाह संस्कार) के समय मुल्ला या काजी जी की उपस्थिति कुछ-न-कुछ धार्मिक आधार की ओर संकेत करती है। हिन्दुओं में यह आधार बहुत ही ठोस है। यह बात इसी से स्पष्ट है कि हिन्दुओं में पत्नी को धर्म-पत्नी व पति को पति-देवता कहा जाता है। देवी भागवत में कहा गया है कि स्वेच्छामय भगवान् स्वेच्छा से दो रूप हो गए—वाम भाग के अंग से स्त्री और दक्षिण भाग के अंग से पुरुष बने। इन दोनों के सहयोग के बिना सृष्टि का कोई काम सम्पन्न नहीं होता। विवाह उसी धार्मिक कार्य की अभिव्यक्ति है। विवाह का प्रथम उद्देश्य धार्मिक कर्तव्यों का पालन है। इन धार्मिक कर्तव्यों को ही 'यज्ञ' कहा गया है और पत्नीहीन पुरुष यज्ञ का अधिकारी नहीं होता। हिन्दू-विवाह का दूसरा उद्देश्य पुत्र-प्राप्ति है। महाभारत में स्पष्ट रूप में कहा गया है कि जो पुरुष सन्तान उत्पन्न नहीं करता वह अधार्मिक होता है। सन्तान को जन्म देना बड़ा धर्म है—इसकी तुलना में अग्निहोत्र, तीनों वेद बिल्कुल नगण्य हैं। सन्तान ही तीनों वेद हैं और सदा बने रहने वाले देवता हैं। दुस्तर संसार-सागर को पुत्र की नौका-से पार किया जा सकता है। स्वर्ग में बने रहने के लिये तथा नरक से बचने के लिये पुत्र आवश्यक है। पुत्रप्राप्ति ऋण है, इसे न चुकाने पर पुत्र के अभाव में पिता पुत्र नामक नरक में जाता है और उससे पितर पिण्डदान के अभाव में भूखे-प्यासे मरते हैं। व्यासस्मृति में गृहस्थ या पारिवारिक जीवन को सर्वश्रेष्ठ बताते हुये यह भी स्पष्ट रूप से कहा गया है कि सच्चे दिल से गृहस्थ-धर्म का पालन करने वाले को घर में ही कुक्षेत्र, हरिद्वार तथा केदार तीर्थ मिल सकता है। पारिवारिक जीवन के धार्मिक आधार को दशनि के लिये इससे बड़ा प्रमाण और क्या हो सकता है।

7. **आर्थिक जीवन और धर्म**—भारत में आर्थिक जीवन का भी धार्मिक आधार है। हिन्दुओं में लक्ष्मी को धन की देवी माना जाता है और यह विश्वास किया जाता है कि धनी या निर्धन होना पूर्णतया इसी देवी माँ की कृपा पर निर्भर करता है। नगरों तक में व्यापारी, दुकानदार आदि व्यवसाय को आरम्भ करने के दिन पूजा-पाठ, हवन कीर्तन आदि करवाते हैं, प्रतिवर्ष दिवाली की शाम को दुकान में लक्ष्मी-पूजन तथा कारखाने में अन्य अवसर पर श्रमिकगण विश्वकर्मा का पूजन करते हैं; दशहरा या अन्य किसी अवसर पर हर साल नया बही-खाता आरम्भ करने से पूर्व उसकी पूजा की जाती है। शिल्पकार वर्ग अपने औजारों की पूजा तथा भारतीय किसान अपने हल-झैल व खेत की पूजा नियमित रूप से आज भी करते हैं। इन सबसे यह स्पष्ट है कि हमारे आर्थिक जीवन पर धर्म का वास्तव में अत्यधिक प्रभाव है। इतना ही नहीं, धर्म के पालन में अर्थ के महत्व को भी स्वीकार किया गया है। महाभारत में लिखा हुआ है कि धर्म का पूर्ण रूप से पालन काफी सीमा तक अर्थ पर निर्भर है। जिसके जीवन में अर्थ का साधन नहीं है वह अपने धार्मिक कर्तव्यों अर्थात् पंच महायज्ञों (ब्रह्मयज्ञ, पितृयज्ञ, देवयज्ञ, भूतयज्ञ तथा नृयज्ञ) का उचित ढंग से पालन

नहीं कर सकता। इसलिये निर्धनता को एक ईश्वरीय अभिशाप ही माना गया है। उसी प्रकार धर्म-विरुद्ध तरीकों से धन कमाने को पाप माना जाता है। इसीलिये धूस लेना पाप है और ऐसे लोग ईश्वरीय दण्ड के भागीदार होते हैं। इस्लाम धर्म भी धूस लेने और सूद कमाने को बुरा बताकर उसकी स्वीकृति नहीं देता।

8. राजनीतिक जीवन और धर्म—प्राचीन भारत में राजनीतिक जीवन का भी एक धार्मिक आधार होता था। प्रत्येक राजा के दरबार में एक राजपुरोहित या राजगुरु होता था जिसकी आज्ञा का पालन राजा भी करता था। शासन-कार्य में भी राजा अपने राजगुरु से परामर्श करता था। परम्परागत रूप में राजनीतिक जीवन के धार्मिक आधार का एक और प्रमाण 'राजधर्म' की अवधारणा में देखने को मिलता है। राजधर्म राजा के कर्तव्यों को बताता है। विष्णुस्मृति के अनुसार राजा का प्रमुख कर्तव्य प्रजापालन अर्थात् प्रजा के अधिकाधिक सुख, शान्ति और समृद्धि के लिये प्रयत्नशील रहना, दुष्टजनों को दण्ड देना तथा धर्म की रक्षा करना है। आधुनिक समय में राजनीतिक जीवन का धार्मिक आधार बहुत-कुछ दुर्बल हो गया है, पर फिर भी आज भी प्रजातन्त्रात्मक राज्य तक में जनता के प्रतिनिधि (संसद् तथा विधानसभा के सदस्य) ईश्वर के नाम पर ही अपने पद तथा गोपनीयता की शपथ लेते हैं और राजनीतिक नारों में मानव-धर्म के प्रति अपनी निष्ठा को व्यक्त करते हैं। हिन्दू महासभा, अकाली दल, मुस्लिम लीग आदि कुछ राजनीतिक पार्टियों का मूल आधार धर्म ही है। कहा जाता है कि स्वतन्त्रता-प्राप्ति से पूर्व पाकिस्तान की माँग को 'इस्लाम खतरे में है' का नारा लगाकर ही प्रभावशाली बनाया गया था। आज भी अनेक राष्ट्रीय नेता राजनीतिक कार्यों (जैसे मन्त्रिमण्डल की शपथ दिलवाने, विधानसभा का सत्र बुलाने, मुख्यमन्त्री पद की स्वीकार करने तथा लोकसभा को भंग करके फिर से मध्यावधि चुनाव करवाने) के मामले में दिन, तिथि, नक्षत्र, मुहूर्त तथा अन्य धार्मिक विधि-विधानों को मानते हैं और अपने भविष्य-भाग्य के बारे में ज्योतिषियों से परामर्श करते हैं। इन सब बातों से राजनीतिक जीवन का धार्मिक आधार स्पष्ट हो जाता है।

9. जीवन का अन्त और धर्म—भारत में केवल जीवित अवस्था में ही जीवन धर्म पर आधारित नहीं है अपितु जीवन का अन्त हो जाने अर्थात् मृत्यु के बाद भी 'जीवन' (अगर हम उसे जीवन मानें) धर्म पर आधारित है। व्यक्ति के मर जाने पर जो अन्तिम संस्कार किया जाता है वह भी धर्म पर ही आधारित होता है। हिन्दुओं में मर रहे व्यक्ति को भगवान् का नाम लेने को कहा जाता है अथवा भगवान् का नाम कहकर या रामायण आदि धर्मग्रन्थ को पढ़कर सुनाया जाता है, उसके मुँह में गंगाजल दिया जाता है, उसके शव को 'रामनाम सत्य है' कहते हुये श्मशान घाट तक ले जाया जाता है, उसकी देह की अस्थियों या जली हुई राख को गंगा अथवा अन्य किसी पवित्र नदी में बहा दिया जाता है, तेरहवीं के दिन हवन आदि किया जाता है। मुसलमानों में भी 'जन्मजा' पढ़ना, 'फातिहा' पढ़ना आदि मृतक संस्कार के आवश्यक अंग हैं। इससे भी धार्मिक आधार का ही पता चलता है। गीता के अनुसार जैसे पुराने वस्त्रों को त्यागकर मनुष्य नए वस्त्रों को ग्रहण करता है, उसी प्रकार जीवात्मा पुराने शरीर को त्यागकर नए शरीर को ग्रहण कर लेती है। मृत्यु के बाद जीव को उसी समय दूसरी देह मिल जाती है, पर वह स्थूल-देह नहीं होती। वह तेज-प्रधान या वायु—प्रधान अतिवाहिक देह होती है जिसको ग्रहण

करके जीव अपने पाप और पुण्य के अनुसार विविध पितृलोक अथवा देवलोक के विभिन्न स्तरों में पहुँचता है और वहाँ दुःख-सुख का भोग करके पुनः नियति के विधान से यथायोग्य स्थूल-देह को प्राप्त होता है। अन्त में यह जीवन-मृत्यु का चक्र समाप्त हो जाता है और आत्म का परमात्मा के साथ महामिलन घटित होता है। ईश्वर की देन यह जीवन, अन्त में ईश्वर में ही विलीन हो जाता है।

उसी प्रकार इस्लाम धर्म की मान्यता के अनुसार अल्लाह की इच्छा का पालन करने का पुरस्कार मुसलमानों को परम आनन्द के रूप में प्राप्त होता है। वे लोग, जो उनके सन्देश में विश्वास नहीं करते और उनकी इच्छा को मुला देते हैं, दण्ड के भागीदार बनते हैं; जीवन के अन्तिम दिन मनुष्य के कर्मों का न्याय होता है। कोई नहीं जानता कि वह दिन कब आएगा; पर जब आता है तो सभी को अल्लाह के सामने हाजिर होना पड़ता है। तब उनके कर्मों का न्याय होता है और अपराधी को दण्ड दिया जाता है, जबकि धर्मशील लोग अनन्त आनन्द भोगते हैं।

6

वर्णाश्रम-व्यवस्था—वर्ण

[Varnashrama System—Varna]

'वर्णाश्रम' का अर्थ

(Meaning of Varnashrama)

संसार की अन्य अनेक संस्कृतियों में भौतिकवाद पर अत्याधिक बल देकर जीवन के अध्यात्म पक्ष की उपेक्षा की गई है। परन्तु, जैसाकि पहले ही स्पष्ट किया जा चुका है, भारतीय संस्कृति में भौतिकवाद और अध्यात्मवाद में एक अपूर्व समन्वय स्थापित किया गया है। 'भारतीयों ने सदैव ही पारमार्थिक और व्यावहारिक का अन्तर समझा है। पारमार्थिक सुख को सर्वोच्च सुख मानते हुए भी वे जानते थे कि इहलोक के सुखों और कल्याण की उपेक्षा नहीं करनी चाहिये।' हिन्दू-जीवन-दर्शन में सांसारिक अभ्युदय या समृद्धि और अध्यात्म-भावना के इस समन्वय का परिणाम उस सामाजिक व्यवस्था का विकास था, जिसे 'वर्णाश्रम' कहते हैं। यह वर्णाश्रम दो शब्द 'वर्ण' तथा 'आश्रम' से मिलकर बना है और इनमें से प्रत्येक शब्द हिन्दू सामाजिक व्यवस्था के दो पक्षों का प्रतिनिधित्व करता है। वैदिक काल की सामाजिक व्यवस्था में वर्ण और आश्रम समाजरूपी भवन के दो सुदृढ़ आधार या स्तम्भ थे जिन पर आर्य लोगों का व्यक्तिगत तथा सामाजिक जीवन आधारित था। और भी स्पष्ट रूप से यह कहा जा सकता है कि 'इस देश के साक्षात्कृतधर्मा ऋषियों ने समष्टि और व्यष्टि के कल्याणार्थ, वर्णाश्रम-व्यवस्था को जन्म दिया था। वर्णाश्रम का तात्पर्य है वर्ण-व्यवस्था एवं आश्रम-व्यवस्था। इसे वर्णाश्रम-धर्म भी कहते हैं। धर्म का तात्पर्य यहाँ नैतिक कर्तव्य या जीवन में व्यावहारिक नैतिक नियम है। वर्ण-व्यवस्था के अन्तर्गत सम्पूर्ण समाज के सदस्यों को चार वर्णों—ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र—में विभाजित किया गया था और प्रत्येक वर्ण के लिये कुछ नियमों व कर्तव्यों को निर्धारित कर दिया गया था और प्रत्येक से यह आशा की जाती थी कि वह उन नियमों को अपना 'धर्म' या नैतिक कर्तव्य समझकर उनका पालन करेगा। यही वर्ण-व्यवस्था या वर्ण-धर्म था जिस प्रकार वर्ण व्यवस्थाके अन्तर्गत समाज को चार भागों में विभाजित कर दिया गया था, उसी प्रकार आश्रम-व्यवस्था में व्यक्ति के जीवन को चार श्रेणियों (stages) में विभाजित कर दिया गया था अर्थात् आश्रम-व्यवस्था व्यक्तिगत जीवन के चार विभागों या स्तरों की व्यवस्था थी। चार वर्णों की भाँति आश्रम भी चार माने गये हैं—ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यास।

इस प्रकार हिन्दू सामाजिक व्यवस्था की आधारशिला वर्णाश्रम-व्यवस्था अर्थात् वर्ण एवं आश्रम-व्यवस्था है। एक लेखक ने सच ही लिखा है कि "वर्णाश्रम-धर्म वह धरी है जिसके चारों ओर सम्पूर्ण हिन्दू सामाजिक व्यवस्था घूमती है।" (Varna-Ashrama Dharma is the pivot around which the entire Hindu social system revolves)। वर्णाश्रम-व्यवस्था को 'धर्म' की संज्ञा इसलिये

दी गई है क्योंकि चारों वर्ण इसे व्यवस्था के अनुसार चलने या अपने को ढालने के काम को अपना परम और पवित्र कर्तव्य समझें। आगे के पृष्ठों में वर्ण-धर्म तथा आश्रम-व्यवस्था के महत्व की अलग-अलग विस्तृत विवेचना की गई है, जिससे यह स्वतः स्पष्ट हो जाता है कि हिन्दू सामाजिक व्यवस्था में वर्णाश्रम-धर्म एक घुरी की भाँति क्यों या कैसे है। यहाँ तो इतना कहना ही पर्याप्त होगा कि वर्ण-व्यवस्था का उद्देश्य सामाजिक संगठन, सुव्यवस्था एवं समृद्धि के हेतु समाज को चार भागों में बाँटना और आश्रम-व्यवस्था का उद्देश्य है व्यक्तिगत जीवन को समुन्नत करने के लिये जीवन को चार भागों में विभाजित करना। आश्रम-व्यवस्था का उद्देश्य एवं महत्व इस दृष्टि से वैयक्तिक था, जबकि वर्ण-व्यवस्था में आधारभूत प्रेरणा का स्वरूप सामाजिक था। वास्तव में दोनों ही एक प्रकार के धर्म हैं और वह इस अर्थ में कि इनमें से प्रत्येक व्यवस्था के आदर्श के अनुसार प्रत्येक समूह या व्यक्ति से कुछ निश्चित सामाजिक-नैतिक कर्तव्यों का पालन करने की आशा की जाती थी, जिससे कि आत्महित के साथ-साथ सामूहिक एवं सामाजिक हित की अभिवृद्धि सम्भव हो सके। इस दृष्टि से ये दोनों ही व्यवस्थायें व्यक्ति तथा समाज के संगठन व समृद्धि से सम्बन्धित हैं। इसलिये इन दोनों को एक संयुक्त शब्द 'वर्णाश्रम' व्यवस्था या धर्म द्वारा अभिव्यक्त किया जाता है और दोनों को समष्टि के अन्तःसम्बन्धि तथा अन्तः एकीकृत भाग के रूप में देखा और अभ्यास में लाया जाता है।

भारतीय आदर्श के अनुसार व्यक्ति तथा समाज के सर्वांगीण विकास के लिये वर्ण और आश्रम-धर्म का पालन करना आवश्यक है। वर्णाश्रम-धर्म का पालन करके ही व्यक्ति अपनी तथा समाज की प्रगति में योग दे सकता है, क्योंकि वर्ण-धर्म के पालन से समाज के विभिन्न समूहों में अनावश्यक प्रतिस्पर्धा समाप्त हो जाता है और प्रत्येक वर्ण सामूहिक एवं सामाजिक हित की अभिवृद्धि के लिये प्रयत्नशील होती है और आश्रम-धर्म के पालन के द्वारा मनुष्य में वे गुण एवं शक्तियाँ उत्पन्न होती हैं जिनकी सहायता से व्यक्तिगत जीवन को समुन्नत तथा जीवन के परमलक्ष्य मोक्ष को ही प्राप्त नहीं करता बल्कि सामाजिक कल्याण व सेवा से सम्बन्धित अनेक कार्यों को सुचारु रूप से सम्पादित कर सकता है। इसीलिये यह व्यवस्था धर्म है और इस धर्म का पालन सबके लिये आवश्यक व आदर्श है।

उपयुक्त विवेचन से स्पष्ट है कि आर्य संस्कृति के मूल तत्वों में जो स्थान चार आश्रमों का है, वही स्थान चार वर्णों का भी है। इस अध्याय में हम केवल वर्ण-व्यवस्था के सम्बन्ध में एवं अगले अध्याय में आश्रम-व्यवस्था के सम्बन्ध में पृथक्-पृथक् विवेचना करेंगे।

वर्ण-व्यवस्था (Varna System)

प्राचीनकाल में वर्ण-व्यवस्था इस देश की संस्कृति तथा सामाजिक संघटना का प्राण थी। परन्तु यह व्यवस्था आज की जाति-व्यवस्था से बिल्कुल ही भिन्न थी। जैसाकि ऊपर बताया गया है वर्ण-व्यवस्था के अन्तर्गत समाज परम्परागत चार वर्णों—ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र—में विभाजित किया गया था। समाज को केवल चार भागों में ही विभाजित करने का एक वैज्ञानिक उद्देश्य भी ढूँढा जा सकता है। ज्ञान, रक्षा, जीविका तथा सेवा मनुष्य की ये चार स्वाभाविक इच्छायें हैं। आर्य-

सामाजिक व्यवस्था के विशेषज्ञों का कथन है कि इन्हीं चार इच्छाओं या मानव-प्रवृत्तियों की पूर्ति के लिये ही समाज चार भागों में विभाजित किया गया था। इस प्रकार समाज को चार भागों में विभाजित करने की परम्परा केवल भारतवर्ष में ही अनीसी नहीं है बल्कि अन्य प्राचीन संस्कृतियों में भी इसका दर्शन स्पष्टतः होता है।

‘वर्ण’ का अर्थ

(Meaning of Varna)

प्रायः ‘जाति’ और ‘वर्ण’ इन दो अवधारणाओं को लोग एक मान लेते हैं और एक ही अर्थ में इन दोनों का प्रयोग भी करते हैं। परन्तु वास्तव में यह गलत है और ये दोनों अवधारणायें एक-दूसरे से भिन्न हैं। ‘वर्ण’ शब्द का अर्थ रंग और वर्ण दोनों ही होता है। अधिकतर विद्वान् जो भारतीय जाति-प्रथा की उत्पत्ति में प्रजातीय सिद्धांत को मानते हैं ‘वर्ण’ शब्द को रंग के ही अर्थ में प्रयोग करते हैं। साहित्यिक दृष्टिकोण से वर्ण शब्द ‘वृज्, वरणे’ या वरी’ धातु से बना है जिसका अर्थ है वरण करना या चुनना। हो सकता है कि यह चुनाव पेशे के चुनाव की ओर इशारा करता है और इस रूप में वर्ण का अर्थ उस समूह से था जो कि एक विशेष प्रकार के पेशे को अपनाता था या समाज द्वारा निर्धारित कुछ निश्चित कार्यों को करता था। सांख्य-दर्शन आदि में वर्ण शब्द को एक विशेष प्रकार के रंग से सम्बन्धित कर दिया गया है और प्रत्येक वर्ण का एक विशेष प्रकार का रंग माना गया है। इसी प्रकार सांख्य-दर्शन के आधार पर यह कहा जा सकता है कि रूप या रंग का नाम ही वर्ण है। इसीलिये पुराणों में भी कई जगह शुक्ल ब्राह्मण, रक्त क्षत्रिय, पीत वैश्य और कृष्ण शूद्र लिखा मिलता है। इसके कारण के विषय में विस्तृत विवेचना हम आगे करेंगे।

डॉ० शर्मा ने लिखा है कि वैदिक साहित्य में वर्ण शब्द का प्रयोग ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र इन चारों वर्णों और इनके घर्मों एवं गुणों के वर्णन के अर्थ में ही किया गया मालूम पड़ता है। दूसरी बात यह है कि हिन्दू समाज को चार हिस्सों में बाँटने की प्रणाली को वर्ण-व्यवस्था कहते हैं। चूँकि वैदिक काल के लोगों के लिये यह सम्भव न था कि वे शारीरिक लक्षणों को ठीक माप सकें, इसलिये यह आशा नहीं की जा सकती है कि वर्ण का अर्थ रंग या प्रजातीय भिन्नता हो सकता है। इससे यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि ‘वर्ण’ शब्द मुख्य रूप से कर्मों और गुणों का वर्णन करने, उनको स्वीकार करने या एक वर्ण को स्वीकार करने के बाद उसके गुणों और कर्मों को निभाने की प्रेरणा देने के लिये ही प्रयुक्त हुआ है।

श्री यास्काचार्य ने निरुक्त में वर्ण शब्द की उत्पत्ति के विषय में कहा है, कि वर्ण शब्द की उत्पत्ति वरण अथवा चुनाव करने का अर्थ देने वाले ‘वृ’ (वृत्ति-वरणों) धातु से हुई है। अर्थात् वर्ण वह है जिसको व्यक्ति अपने कर्म और स्वभाव के अनुसार चुनता है। ऋग्वेद के कुछ स्थानों पर (1/73/7, 2/3/5, 9/97/15) वर्ण शब्द का प्रयोग रंग के लिये किया गया है। सांख्य-दर्शन के आधार पर भी यह कहा जा सकता है कि रूप या रंग का नाम ही वर्ण है। इसीलिये पुराणों में भी कई जगह शुक्ल ब्राह्मण, रक्त क्षत्रिय, पीत वैश्य और कृष्ण शूद्र लिखा मिलता है। श्री कर्मे के अनुसार वर्ण शब्द का प्रयोग और वर्ण आयों तथा कृष्ण वर्ण दासों के लिये होता था। बाद में इनका प्रयोग ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र इन चारों सामाजिक वर्गों के लिये किया जाने लगा।

मोटे तौर पर हम यह कह सकते हैं कि वर्ण सामाजिक विभाजन की वह व्यवस्था है जिसका आधार जन्म उतना नहीं जितना कि कर्म का विभाजन रंग के आधार पर नहीं हो सकता, इस विभाजन का आधार तो गुण, प्राकृतिक स्वभाव और प्रवृत्ति ही हो सकता है। सामाजिक व्यवस्था व संगठन को बनाये रखने के लिये यह आवश्यक था कि सामाजिक कार्यों का विभाजन किया जाए जिससे कि एक के कार्यों में दूसरा अनावश्यक रूप में हस्तक्षेप न करे। इसी उद्देश्य से कर्मों और गुणों के आधार पर समाज के सदस्यों की विभिन्न समूहों में बाँट देने की जो व्यवस्था चालू की गई उसी को वर्ण-व्यवस्था की संज्ञा दी गई। अतः वर्ण-व्यवस्था सामाजिक कार्यों के कर्त्तव्यों को विभिन्न समूहों में विभाजित करने की वह व्यवस्था है जिसका आधार प्राकृतिक प्रभाव व गुण हैं। वर्ण, व्यवस्था श्रम-विभाजन की सामाजिक व्यवस्था का ही दूसरा नाम है। निम्नलिखित विवेचना से यह बात और भी स्पष्ट हो जाएगी।

वर्ण में निहित दर्शन

(Philosophy of Varna)

वर्ण-व्यवस्था के अन्तर्गत सम्पूर्ण समाज को जो चार भागों में बाँटा गया है उसमें अन्तर्निहित दर्शन क्या है इस विषय में अनेक अन्वेषण विद्वानों द्वारा किये गये हैं। उनमें से एक महत्वपूर्ण दर्शन या दृष्टिकोण या विचार यह है कि भारतीय संस्कृति के अन्तर्गत जीवन का परम लक्ष्य मोक्ष की प्राप्ति है। इसीलिये यहाँ प्रत्येक व्यक्ति मोक्ष को प्राप्त करना चाहता है। यह मोक्ष कई तरीकों से प्राप्त किया जा सकता है और वर्ण-धर्म का यथोचित पालन उनमें से एक तरीका है। वर्ण-व्यवस्था के अन्तर्गत प्रत्येक वर्ण के लिये कुछ कार्यों व कर्त्तव्यों को निर्धारित कर दिया गया था और इस बात पर बल दिया गया था कि इन कर्त्तव्यों का पालन ही प्रत्येक व्यक्ति का सामाजिक धर्म है और जो इस धर्म को उचित ढंग से निभाता है वह मोक्ष-प्राप्ति का अधिकारी होता है।

वर्ण-व्यवस्था में अन्तर्निहित दूसरा विचार यह है कि समाज में संगठन व सुव्यवस्था कायम रखने के लिये यह आवश्यक है कि विभिन्न समूहों में होने वाली अनावश्यक प्रतिस्पर्धा को समाप्त कर दिया जाये और प्रत्येक समूह के कार्यों का निर्धारण कर दिया जाये ताकि कोई भी समूह दूसरे के कार्यों में अनुचित हस्तक्षेप न कर सके और अपने-अपने कार्य-क्षेत्र के अन्तर्गत क्रियाशील रहते हुए आत्महित के साथ-साथ सामूहिक एवं सामाजिक हितों की रक्षा सम्भव हो सके। इस अर्थ में वर्ण-व्यवस्था समाज की सर्वांगीण उन्नति के लिये आयोजित एक व्यवस्था कही जा सकती है।

श्री पाण्ड्या के अनुसार जीवन के लिये संघर्ष (struggle for existence) नहीं, किन्तु प्रतिस्पर्धा का अभाव हिन्दू-संस्कृति का ध्येय है और इसी के उपायस्वरूप वर्ण-व्यवस्था का विधान है, जिसका मतलब है—सांसारिक सम्पत्ति (अर्थ) के लिए अपने वर्ण की यानि पैतृक आजीविका को अपनाकर उससे सन्तुष्ट रहना और उसके द्वारा जो सम्पत्ति प्राप्त हो उसे आत्महित के साथ-साथ सामूहिक एवं सामाजिक हित की अभिवृद्धि के लिए दूसरों में वितरण करना। मनुष्यों के लिये पैतृक व्यवसाय कितना उपयुक्त है और उसे अपनाते में कितनी कठिनाइयों तथा अशान्ति से छुटकारा मिल जाता है, यह बताने की आवश्यकता नहीं है। प्रश्न हो सकता है कि यदि किसी में

विशेष योग्यता हो तो वह क्या करे ? इसका उत्तर यह है कि 'अर्थ' साधन के लिये वर्ण-व्यवस्था का नियम है, धर्म के साधन के लिये नहीं। एक व्याध तथा एक जुलाहा भी तत्त्ववेत्ता और धर्म-परायण हो सकता है; परन्तु आजीविका के लिये वह अपने वर्ण द्वारा निर्धारित कार्य ही करे—

सन्तोषस्त्रिषु कर्त्तव्यः स्वदारे भोजने घने ।

त्रिषु चैव न कर्त्तव्योऽध्ययने जपदानयोः ॥

अर्थात् "स्त्री, भोजन और घन में—'अर्थ' और 'काम' में—सन्तोष करे, परन्तु ज्ञान-साधन, उपासना और दान देने में सन्तोष-वृत्ति न रखे।" और भी स्पष्ट रूप में 'अर्थ' और 'काम' सम्बन्धी मानव-जीवन के उद्देश्यों की पूर्ति अपने वर्ण के निर्देशानुसार करे, परन्तु ज्ञान-साधन, उपासना और दान अपनी योग्यता के अनुसार किया जा सकता है। यदि किसी में विशेष योग्यता हो तो वह उसे समाज-कल्याण तथा आत्म-कल्याण में नियोजित करे। हिन्दू-संस्कृति में अन्तर्गत वर्ण-व्यवस्था जहाँ एक और लौकिक आकांक्षाओं को घटाकर मनुष्य को पूर्ण अपरिग्रह की ओर ले जाती है, वहाँ दूसरी ओर पूर्ण ज्ञान, पूर्ण आनन्द और पूर्ण शक्ति का भोक्ता बनने की प्रेरणा भी प्रदान करती है।

गाँधी जी के अनुसार वर्ण-व्यवस्था का दर्शन कुछ प्राकृतिक नियम ही है। उन्होंने लिखा है कि वर्ण-व्यवस्था एक सहज ही क्रियाशील तथा स्वाभाविक व्यवस्था है, जिसका उद्देश्य उचित व्यक्ति को उचित पेशे में लगाये रखना है, क्योंकि सभी व्यक्ति शारीरिक तथा मानसिक दृष्टि से समान नहीं होते हैं। वर्ण के नियम का अर्थ यह है कि धार्मिक कर्त्तव्य के रूप में प्रत्येक व्यक्ति अपने पूर्वजों के वंशानुगत पेशों को अपनाएगा, जहाँ तक कि वह मौलिक नैतिकता के नियम के विरुद्ध नहीं है। वह अपनी आजीविका का उपार्जन उसी पेशे के द्वारा करेगा। इससे वह सम्पत्ति भले ही न जोड़ पाये परन्तु अपनी न्यायोचित आवश्यकताओं की पूर्ति के बाद उसके पास जो भी धन शेष रह जायेगा उसे जन-कल्याण के लिये व्यय करेगा। वर्ण द्वारा निर्धारित पेशों को अपनाने के साथ-साथ अपनी इच्छानुसार किसी प्रकार का भी ज्ञानार्जन का अधिकार व्यक्ति को है, वर्ण-व्यवस्था यही बतलाती है और वर्ण-व्यवस्था का यही अन्तर्निहित मूल दर्शन भी है।

वर्ण-व्यवस्था की उत्पत्ति सम्बन्धी सिद्धान्त

(Theory regarding Origin of Varna System)

वर्ण-व्यवस्था की उत्पत्ति किस भाँति हुई है इस सम्बन्ध में विद्वानों में मत-भेद है। यही कारण है कि वर्ण-व्यवस्था की उत्पत्ति के सम्बन्ध में विभिन्न सिद्धान्त अलग-अलग विद्वानों द्वारा प्रतिपादित किए गए हैं। उनमें से कुछ प्रमुख सिद्धान्तों की विवेचना हम यहाँ करेंगे।

1. परम्परागत सिद्धान्त (Traditional Theory)—वर्ण-व्यवस्था की उत्पत्ति के सम्बन्ध में परम्परागत सिद्धान्त सबसे प्राचीन सिद्धान्त है। यह सिद्धान्त वर्ण-व्यवस्था की उत्पत्ति को समझाने के लिए ऋग्वेद के पुरुषसूक्त में वर्णित विवरण को स्वीकार करता है। इसके अनुसार विश्व-पुरुष के शारीरिक अंगों से विभिन्न वर्णों की उत्पत्ति हुई है। उस प्रभु ने मुख से ब्राह्मण, बाहु से क्षत्रिय, जंघा से वैश्य तथा पदों से शूद्रों को उत्पन्न किया। मनु के अनुसार इन वर्णों की उत्पत्ति लोक वृद्धि के

लिये है। स्मरण रहे कि शरीर के विभिन्न अंगों से विभिन्न वर्णों की उत्पत्ति का तात्पर्य यह नहीं है कि वे अंग वास्तव में मनुष्य को जन्म देने की योग्यता को रखते हैं। यह पूर्णतया प्रतीकात्मक (symbolic) वर्ण है और अंगों की उच्चता के अनुसार वर्णगत उच्चता को दर्शाता है। साथ ही प्रत्येक अंग का पूरे शरीर के अस्तित्व में एक विशेष कार्य होता है। उसी प्रकार प्रत्येक वर्ण का भी समाज के अस्तित्व में एक कोई-न-कोई कार्य होता है। चूँकि मुँह से ब्राह्मणों की उत्पत्ति मानी जाती है इस कारण ब्राह्मणों का कार्य मुँह से ही सम्बन्धित है अर्थात् उनका परम कर्तव्य लोगों को ज्ञान और उपदेश देना है। बाहु शक्ति का द्योतक है। अतः क्षत्रियों का मुख्य कार्य शक्ति के बल पर मानव-जाति की रक्षा करना है। वैश्य वर्ण की उत्पत्ति जाँघ से हुई है और इस कारण उनका कार्य व्यापार और वाणिज्य से सम्बन्धित है क्योंकि समाज के अस्तित्व के लिये व्यापार और वाणिज्य उतना ही महत्वपूर्ण है जितना कि शरीर के अस्तित्व के लिये जाँघ जिसका कि कार्य भोजन को पचाना है। अन्त में, पैर का कार्य पूरे शरीर को गतिशील रखते हुये उसकी सेवा करना है और चूँकि शूद्रों की उत्पत्ति विश्व-पुरुष के पैरों से मानी जाती है इस कारण शूद्र सेवा वर्ग (service class) का प्रतिनिधित्व करते हैं। इस प्रकार समाज के विभिन्न समूहों में श्रम-विभाजन द्वारा समाज के कार्यों को सुचारु ढंग से चलाने के लिये ही 'विश्व-पुरुष' ने वर्णों की सृष्टि की। पर जिससे एक वर्ण दूसरे पर अनावश्यक अधिकार न पा सके इस उद्देश्य से उन्होंने किसी भी एक वर्ण को सर्वशक्तिमान नहीं बनाया। वर्णव्यवस्था में ब्राह्मण बौद्धिक शक्ति का तो अधिकांशी है, पर शासन तथा अर्थ-शक्ति से वंचित है। यही बात अन्य वर्णों पर भी लागू होती है।

2. रंग का सिद्धान्त (Theory of Colour)—महाभारत में भृगु ऋषि ने भारद्वाज को वर्ण-व्यवस्था की उत्पत्ति का आधार मनुष्यों की त्वचा के विभिन्न रंगों को ही बताया है। उनके अनुसार ब्रह्मा ने पहले-पहल केवल ब्राह्मणों की सृष्टि की थी। पर इसके बाद त्वचा के विभिन्न रंगों के आधार पर अन्य तीनों वर्णों—क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र—की भी उत्पत्ति हुई। ब्राह्मणों का रंग सफेद, क्षत्रियों का रंग लाल, वैश्यों का रंग पीला और शूद्रों का काला होता है। यही स्वाभाविक है और यदि ऐसा न हुआ तो वह वास्तव में अप्राकृतिक अवस्था को ही दर्शाता है। अतः यदि कोई ब्राह्मण काले रंग का है या कोई शूद्र गोरे रंग का तो वे दोनों साँप से भी भयंकर और खतरनाक सिद्ध हो सकते हैं; उनका कदापि विश्वास नहीं करना चाहिये। यद्यपि आज कोई भी वैज्ञानिक इस मत से सहमत नहीं होगा, फिर भी भृगु का वर्ण का सिद्धान्त रंग पर आधारित है। भृगु ऋषि के इस सिद्धान्त के प्रति शंका प्रकट करते हुये भारद्वाज मुनि ने पूछा था कि हजारों भेद हो सकते हैं, तो फिर समाज को केवल चार वर्णों में विभाजित क्यों किया गया? इस शंका का समाधान करने हुये भृगु ऋषि ने कहा कि रंग का यह सिद्धान्त त्वचा के रंग से उतना अधिक सम्बन्धित नहीं है जितना कि कर्म और गुण से। दूसरे शब्दों में विभिन्न वर्ण के रंग से उनकी त्वचा या खाल का नहीं अपितु कर्म और गुण का रंग प्रकट होता है। उदाहरणार्थ, जो लोग भोग में अधिक आनन्द पाते थे, कठोरता व क्रोध का गुण जिनमें निहित था, जो वीरता के गुण से सम्पन्न थे तथा जो अपने 'धर्म' के प्रति उदासीन थे, इस प्रकार के लाल या लोहित गुण अर्थात् रजःप्रधान व्यक्ति क्षत्रिय वर्ण के कहलाये। उसी प्रकार जो लोग अपने द्विज धर्म से उदास हो खेती-बारी और पशुपालन आदि कार्य में लग गये, वे वैश्य कहलाये क्योंकि इन

लोगों में पीत गुण अर्थात् तमोमिश्रित रजःगुण विशिष्ट रूप में पाये जाते हैं। उसी प्रकार के जो लोग अपना धर्म छोड़कर असत्य बोलने लगे, अन्य प्राणियों को सताने लगे और जो प्रतिलोभ की लालसा से भरे थे, इस प्रकार के श्याम या कृष्ण गुण अर्थात् तमःप्रधान व्यक्ति शूद्र कहलाये। इस प्रकार भृगु ऋषि के अनुसार सर्वप्रथम ब्रह्मा ने ब्राह्मणों की सृष्टि की थी जोकि 'द्विज' कहलाते थे, पर बाद को जब इन्हीं 'द्विज' के विभिन्न सदस्यों में अलग-अलग रंग (गुण) विकसित हो गये तो इन रंगों या कर्म-गुणों के आधार पर उन्हें अलग-अलग वर्णों में विभाजित कर दिया गया।

3. कर्म तथा धर्म का सिद्धान्त (Theory of Function and Religion)—वर्ण-उत्पत्ति को समझने के लिये कर्म व धर्म के सिद्धान्त का भी सहारा लिया जाता है। कहा जाता है कि वर्ण-व्यवस्था सामाजिक व्यवस्था का ही एक अभिन्न अंग है। समाज-व्यवस्था को तभी बनाये रखा जा सकता है जबकि तत्कालीन समाज की मूलभूत आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए समाज के विभिन्न अंगों में कार्यों का उचित विभाजन तथा नियमन हो। वैदिक युग में वर्णों की उत्पत्ति इसी आधार पर हुई थी। उस समय के समाज की चार आधारभूत आवश्यकतायें थीं—(अ) पठन-पाठन, धार्मिक तथा बौद्धिक कार्यों की पूर्ति; (ब) राज्य-व्यवस्था का संचालन तथा समाज की रक्षा; (स) आर्थिक क्रियाओं की पूर्ति तथा (द) सेवा। समाज व्यवस्था को सुचारु रूप से संचालित करने के लिये यह आवश्यक था कि समाज को कुछ निश्चित श्रेणियों में बाँटकर कर्मों का नियमन व सामाजिक आवश्यकताओं की पूर्ति की जाती। इसी उद्देश्य से चार वर्णों की सृष्टि की गई जिससे प्रत्येक श्रेणी अपने कर्मों का निष्ठा से पालन करे, इस उद्देश्य से कर्मों का पालन ही प्रत्येक श्रेणी का धर्म (अर्थात् कर्त्तव्य) है—यह बात उसके सदस्यों में कूट-कूट कर भर दी गई। वर्ण द्वारा निर्धारित कर्म या कर्त्तव्य ही वर्ण-धर्म कहलाया। अतः समाज-व्यवस्था को स्थिर रखने के लिये धार्मिक कर्त्तव्य के रूप में कर्मों के विभाजन के फलस्वरूप ही समाज में वर्ण-व्यवस्था का उद्भव हुआ।

इस 'कर्म-सिद्धान्त' का एक दूसरा रूप भी हो सकता है और वह यह है कि हिन्दुओं में यह विश्वास किया जाता है कि व्यक्ति का अपना कर्म ही उसके जीवन की स्थिति व दिशा को निर्धारित करता है। इस जीवन में वह 'जो कुछ है' वह उसके पिछले जीवन के कर्मों का प्रतिफल है, और अगले जीवन में वह 'जो कुछ होगा' वह उसके वर्तमान जीवन के कर्मों का ही फल है। अतः अपने कर्मों के अनुसार ही एक व्यक्ति एक विशेष परिवार में जन्म लेता है, और उसे जीवन सम्बन्धी कुछ विशिष्ट परिस्थितियाँ उपलब्ध होती हैं। बहुत-कुछ एक-सी जीवन सम्बन्धी परिस्थितियों को उपभोग करने वाले व्यक्तियों से ही एक-एक वर्ण की सृष्टि हुई है। एक वर्ण के सभी सदस्य अपनी वर्तमान स्थिति से सन्तुष्ट हैं क्योंकि उसे बदला नहीं जा सकता। इसका कारण यह है कि वह स्थिति उनके ही अपने पिछले जीवन के कर्मों का प्रतिफल है। साथ ही, प्रत्येक सदस्य अपनी वर्तमान स्थिति में रहते हुए समाज द्वारा निर्धारित कर्मों या कर्त्तव्यों को निष्ठापूर्वक करता है क्योंकि इन कर्मों या कर्त्तव्यों को ईमानदारी से करने पर ही अगले जन्म में उनकी स्थिति में सुधार होने की आशा है। कर्म का यह सिद्धान्त इस रूप में अत्यधिक महत्वपूर्ण है।

(इस सन्दर्भ में कौशिक मुनि की कहानी का उल्लेख किया जा सकता है। कौशिक मुनि ने एक दिन एक धार्मिक व्याध को माँस बेचते हुए पाया और आश्चर्य

में होकर यह प्रश्न किया कि इतना विद्वान् होने हुए भी यह मांस क्यों खेच रहा है ? इस पर व्याघ्र ने उत्तर दिया, “हे द्विज, मैं अपने वर्ण का कर्म कर रहा हूँ और इस प्रकार अपने उस धर्म का पालन कर रहा हूँ जिसके लिए भगवान् ने मुझे पैदा किया है। मैं अपने वर्ण-धर्म का पालन करके ही अपने से ऊँचे और नीचे वर्ण वाले व्यक्तियों की सेवा कर सकता हूँ। भाग्य बलवान् होता है, पूर्वजन्मों के कर्मों को और उसके परिणामों को मिटाना बड़ा मुश्किल है। जो कर्म मैं इस जन्म में कर रहा हूँ वह पूर्व-जन्म के कार्यों का ही फल है। जो अपने वर्ण के धर्म का ठीक से पालन करता है, उसे भी मोक्ष की प्राप्ति होती है।” इस प्रकार स्पष्ट है कि कर्म-सिद्धान्त के अनुसार कर्मों के आधार पर ही वर्ण-व्यवस्था की सृष्टि हुई है।

4. गुण का सिद्धान्त (Theory of Traits)—वर्णों की उत्पत्ति गुणों के आधार पर हुई है, यह विश्वास भी कुछ लोग करते हैं। इस विश्वास के अनुसार एक व्यक्ति किस वर्ण का सदस्य होगा यह इस बात पर निर्भर नहीं है कि उसका जन्म किस परिवार या वर्ण में हुआ है, अपितु इस बात पर निर्भर है कि उसमें किस प्रकार के गुण पाए जाते हैं। महाभारत में धर्मराज युधिष्ठिर से जलदेवता ने यह पूछा कि ब्राह्मण कौन है ? इस प्रश्न का उत्तर देते हुए धर्मराज ने कहा कि “जो सत्यवादी है, दानी है, दयालु है, क्षमाशील है, जो चरित्रवान् है तथा जो दूसरों के प्रति सहानुभूति रखता है और जो तपस्वी है वही स्मृतियों द्वारा ब्राह्मण कहा गया है।” इस पर जल-देवता ने पुनः प्रश्न किया कि यदि ये गुण व लक्षण किसी शूद्र में पाए जायें ? उत्तर देते हुए युधिष्ठिर ने कहा, “यदि ये गुण किसी शूद्र में पाये जायें तो वह शूद्र नहीं, वरन् एक ब्राह्मण ही है और यदि किसी ब्राह्मण में इन गुणों का अभाव है तो वह ब्राह्मण नहीं, शूद्र है।”

इस दृष्टिकोण से ‘वर्णों’ का विभाजन व्यक्तिगत स्वभाव पर आधारित है। प्रारम्भ में केवल एक ही वर्ण था। हम सब-के-सब ब्राह्मण थे या सब-के-सब शूद्र थे। एक स्मृति के मूल पाठ में कहा गया है कि जब व्यक्ति जन्म लेता है, तब वह शूद्र होता है और फिर शुद्ध होकर वह ब्राह्मण बनता है। यह शुद्ध होने की क्रिया संस्कारों द्वारा सम्भव होती है। संस्कारों द्वारा ही व्यक्ति को जीवन की विभिन्न अवस्थाओं में प्रवेश कराया जाता है और वह विशिष्ट गुणों को धारण करता है। इन्हीं गुणों के आधार पर उसके वर्ण का निर्धारण होता है।

भारतीय मान्यता के अनुसार गुण तीन प्रकार के होते हैं—सतोगुण, रजोगुण व तमोगुण। मनु के अनुसार जिस मनुष्य के स्वभाव में जिस गुण की प्रधानता होती है उसी के अनुसार उसे एक विशिष्ट वर्ण प्राप्त हो जाता है। मनु का कथन है कि ज्ञान सतोगुण का, अज्ञान तमोगुण का तथा राग-द्वेष रजोगुण के लक्षण हैं। “आत्मा का निर्मल पक्ष जो प्रीतियुक्त, प्रशान्त तथा प्रकाशरूप है, वह सतोगुण है। जिनमें इसकी प्रधानता हो उन्हें ब्राह्मण माना जाना चाहिए। फल प्राप्ति के उद्देश्य से कर्म करना, अधीरता तथा यशस्वी होने की इच्छा—ये रजोगुण के लक्षण हैं। क्षत्रियों में इस गुण का प्राधान्य रहा इसीलिए उन्हें शासन-व्यवस्था लोक-रक्षा तथा शौर्य के कार्य सौंपे गए।” इस प्रकार सतोगुण प्रधान ब्राह्मण, रजोगुण प्रधान क्षत्रिय, तमोमिश्रित रजोगुण प्रधान वैश्य तथा तमोगुण प्रधान शूद्र होता है। अतः व्यावहारिक दृष्टि से देखा जाए तो वर्ण-व्यवस्था की उत्पत्ति किसी को ऊँचा या नीचा स्थान देने के लिए

नहीं हुई है, अपितु प्रत्येक व्यक्ति को उसके स्वभावानुसार गुणों के आधार पर उन्नति के मार्ग में अग्रसर होने के लिए अवसर देने के लिए हुई है।

5. जन्म का सिद्धान्त (Theory of Birth)—कुछ विद्वानों का कथन है कि वर्ण का आधार जन्म है, न कि कर्म। जो व्यक्ति जिस परिवार में जन्म लेता है उसी के अनुसार उसके वर्ण का निर्धारण होता है। श्री बी० के० चटोपाध्याय के अनुसार यदि किसी मनुष्य का वर्ण उसकी वृत्ति या कर्म पर निर्भर होता, तो द्रोणाचार्य क्षत्रिय कहलाते क्योंकि उनका व्यवसाय युद्ध करना था। पर जन्म के कारण ही द्रोणाचार्य को ब्राह्मण कहा जाता है, न कि क्षत्रिय। अश्वत्थामा में ब्राह्मण के न तो कोई गुण थे और न कर्म ही। कर्म करते थे वे एक क्षत्रिय का और गुण में तो वे इतने क्रूर थे कि रात को पाण्डवों के शिविर में घुसकर सोए हुए द्रोपदी के बच्चों का उन्होंने वध कर डाला। फिर भी उन्हें ब्राह्मण ही कहा जाता है। युधिष्ठिर क्षत्रिय होते हुए भी सतोगुण के वास्तविक धारक थे। उनका स्वभाव ऐसा था कि चाहे कोई कितना ही अपराध करे, युधिष्ठिर उसे क्षमा करने को तैयार रहते थे। दूसरी ओर भीम छोटी-सी बात पर लड़ने को तैयार रहते थे। यदि गुणों को वर्ण का निर्णायक माना जाए तो दोनों का वर्ण अलग-अलग होना चाहिए। परन्तु वे दोनों ही क्षत्रिय थे क्योंकि क्षत्रिय कुल में उनका जन्म हुआ था। दूसरी बात यह है कि वर्ण-व्यवस्था एक सुनिश्चित व्यवस्था है, जब कि गुण तो किसी भी समय बदल सकता है। बाल्मीकि अपने प्रारम्भिक जीवन में दस्यु थे, पर बाद को महर्षि हो गए। असाधु पुरुष साधु हो सकते हैं और उसी प्रकार साधु भी असाधु हो सकते हैं। इन सब बातों से यह अच्छी तरह स्पष्ट हो जाता है कि गुणकर्मानुसार वर्ण निश्चित करने की व्यवस्था अव्यावहारिक है।

उपरोक्त विवेचना के आधार पर यह कहा जा सकता है कि वर्ण-व्यवस्था की उत्पत्ति के सम्बन्ध में जो मत-विरोध है वह इस प्रश्न को लेकर है कि वर्ण-व्यवस्था का आधार जन्म है या कर्म। यदि ध्यानपूर्वक उपरोक्त सिद्धान्तों का विश्लेषण किया जाए तो यह स्पष्ट है कि वर्ण-व्यवस्था जन्म और कर्म दोनों पर ही आधारित है। आरम्भ में आर्य तथा अनार्यों में भेद करने के लिए तथा इन दोनों में पाए जाने वाले प्रजातीय व सांस्कृतिक अन्तरों के आधार पर सामाजिक दूरी को बनाए रखने के लिए वर्ण-व्यवस्था आर्यों के मस्तिष्क की एक उपज थी जिसका कि आधार जन्म व कर्म दोनों ही था। एक प्रजातीय समूह (आर्य या अनार्य) में जन्म लेने वाले लोगों को एक निश्चित श्रेणी के अन्तर्गत रखा गया और उसी के अनुसार उनके कार्यों का भी विभाजन कर दिया गया। आर्य समूह में जन्म लेने वाले द्विज कहलाए जबकि अनार्य समूह में जन्म लेने वाले लोग 'दास' या शूद्र नाम से परिचित हुए। पर इन दोनों समूहों में सम्पूर्ण पृथक्ता बनी न रह सकी और इनमें वैवाहिक सम्बन्ध कुछ-न-कुछ मात्रा में स्थापित हुए जिसके फलस्वरूप रक्त संमिश्रण हुआ; इससे द्विज की शुद्धता जाती रही और रक्त संमिश्रण की मात्रा के अनुसार यह द्विज वर्ण स्वयं एकाधिक समूहों में विभाजित हो गया और जन्म के आधार पर ही नहीं अपितु व्यवस्था या कर्म के आधार पर भी अपने को एक-दूसरे से पृथक् मानने लगे। इस प्रकार वर्ण-व्यवस्था का आधार जन्म और कर्म दोनों ही हैं।

इसी को एक दूसरे ढंग से भी दर्शाया जा सकता है। श्रीमद्भगवद्गीता में लिखा है, "चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्मविभागशः" (4/13)। इस उद्धरण के अनुसार वर्ण-व्यवस्था गुण और कर्म के आधार पर है, किन्तु यह व्यवस्था किसके द्वारा हुई ?

‘मया’ अर्थात् ईश्वर के द्वारा। साथ ही ‘सृष्ट’ शब्द भी उल्लेखनीय है जिससे वर्ण-व्यवस्था की उत्पत्ति में जन्म का महत्व स्पष्ट हो जाता है। ऋग्वेद (10-99-12) और यजुर्वेद (31-11) के ‘पुरुषसूक्त’ में वर्णों की उत्पत्ति के सम्बन्ध में जो मन्त्र है वह इस प्रकार है—

ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद् बाहू राजन्यः कृतः । *अन्तर्गता वैश्या*
ऊरू तदस्य यद्वैश्यः पद्भ्यां शूद्रोऽजायत ॥

इस मन्त्र में भी ‘जन्’ धातु से व्युत्पन्न ‘अजायत’ (अर्थात् उत्पन्न हुआ) शब्द विद्यमान है। इससे यह स्पष्ट है कि वर्ण-व्यवस्था का आधार जन्म भी है। निम्न-लिखित विवेचन से यह बात और भी स्पष्ट हो जायेगी।

वर्ण-व्यवस्था का आधार—जन्म या कर्म?

(Basis of Varna System—Birth or Function)

यह एक अत्यधिक विवादास्पद विषय है कि वर्ण-व्यवस्था का आधार जन्म या या कर्म व गुण अर्थात् एक व्यक्ति किम वर्ण का सदस्य होगा। यह इस बात पर निर्भर था कि उसका जन्म किस परिवार में हुआ है या इस बात पर निर्भर था कि उसके कर्म व गुण किस प्रकार के हैं? कुछ विद्वान् वर्ण-व्यवस्था का आधार जन्म मानते हैं तो कुछ विद्वान् कर्म और गुण को आधार बतलाते हैं। इस मतभेद की गम्भीरता निम्नलिखित विद्वानों के विचारों से स्पष्ट हो जायेगी—

‘वर्ण-व्यवस्था की वैज्ञानिकता’ शीर्षक से अपने लेख में स्वामी श्री राघवाचार्य जी ने लिखा है—वर्णानुगत भेद का मूलधार क्या था, इस प्रश्न का उत्तर देने के लिये आज से 50 शताब्दी पूर्व भगवान् श्री कृष्ण के द्वारा कुरुक्षेत्र के युद्ध-प्रांगण में क्षत्रिय वीर अर्जुन के सम्मुख निःसृत शब्द निर्णायक हो सकते हैं। स्नेह, कारुण्य एवं धर्माधर्म के भय से शोकाकुल अर्जुन को सावधान करते हुये भगवान् ने कहा था—

स्वधर्ममपि चावेक्ष्य
न विकम्पितुमर्हसि
धर्म्याद्धि युद्धाच्छ्रेयोऽ-
न्यत्क्षत्रियस्य न विद्यते ॥ 2/31
शौर्यं तेजो धृतिर्दाक्ष्यं
युद्धे चाप्यपलायनम्
दानमीश्वरभावश्च
क्षात्रं कर्म स्वभावजम् ॥ 18/43
यदहंकारमाश्रित्य न
योत्स्य इति मन्यसे
मिथ्येष व्यवसायस्ते
प्रकृतिस्त्वां नियोक्यति ॥ 18/59

पहले श्लोक में, भगवान् कृष्ण ने अर्जुन से कहा है कि यदि तुम्हारा ध्यान स्वधर्म पर चला जाये, तो तुम कांपोगे नहीं, भयभीत नहीं होगे। क्षत्रिय के लिये धर्मतः प्राप्त युद्ध से बढ़कर अन्य कोई साधन श्रेयस्कर नहीं है।

दूसरे श्लोक में, भगवान् ने बताया है कि शौर्य, तेज, चातुर्य, युद्ध से भागन

का स्वभाव, दान और प्रभुत्व अर्थात् हितकर शासन का भाव—ये सब क्षत्रिय के स्वाभाविक धर्म हैं।

तीसरे श्लोक में, भगवान् कृष्ण ने कहा है कि यदि अहंकार का आश्रय लेकर यह तुम मानते हो कि मैं युद्ध नहीं करूँगा तो तुम्हारी यह मान्यता मिथ्या सिद्ध होगी, काष्ण तुम्हारा क्षात्र-स्वभाव स्वयं ही तुमको युद्ध में संलग्न कर देगा।

अर्जुन क्षत्रिय था। युद्ध करना क्षत्रिय का धर्म है। युद्ध से पलायन न करना क्षत्रिय का स्वभाव होता है। अतः भले ही अर्जुन अपने धर्म से अर्थात् युद्ध से विरत होने का प्रयास करता, फिर भी वह युद्ध से विरत नहीं रह सकता। उसकी प्रकृति उससे युद्ध करा ही लेती। भगवान् कृष्ण द्वारा प्रयुक्त ये साधिकार शब्द स्पष्ट निर्देश कर रहे हैं कि वर्ण शरीर के रंग की वस्तु न होकर स्वभाव का तथ्य है, जो किसी भी अवस्था में नहीं परिवर्तित होता। “प्रकृतिविशिष्टं चातुर्वर्ण्यसंस्कारविशेषाच्च” का यही तात्पर्य है। चातुर्वर्ण्य प्रकृति में स्थित रहता है। अपने पूर्व-संस्कारों के वेश जिसको जैसी प्रकृति मिली है, जिसको जैसा स्वभाव मिला है, वही उसका वर्ण है।

व्यवहारिक दृष्टि से देखा जाये तो वर्ण-व्यवस्था का अभिप्राय किसी को ऊँचा या नीचा स्थान देना नहीं, प्रत्युत प्रत्येक व्यक्ति को उसके स्वभावानुसार उन्नति के मार्ग पर अग्रसर करना है। सभी देश-काल अवस्थाओं में समाज में चार प्रकार के व्यक्ति चाहिये—ज्ञान के द्वारा समाज की सेवा करने वाले, बल के द्वारा समाज की रक्षा करने वाले, अर्थ के द्वारा समाज की तृप्ति करने वाले, तथा श्रम के द्वारा आवश्यक पदार्थों का उत्पादन करने वाले। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र के रूप में ये ही चार चातुर्वर्ण्य समाज के अंग हैं। चारों वर्णों की महत्ता अपने-अपने कर्तव्य का पालन करने में है, अधिकारों की मांग करने में नहीं। श्रम के द्वारा समाज की सेवा करने वालों का अधिकार जहाँ सबसे अधिक है, वहाँ अर्थ, बल अथवा ज्ञान के द्वारा समाज की सेवा करने वालों के कर्तव्य अधिकारों से कहीं अधिक हैं। भारतीय संस्कृति ने कर्तव्य को अधिकार-सापेक्ष अथवा अधिकार को कर्तव्य-सापेक्ष न मानकर कर्तव्य को ही अधिकार माना है। “कर्मण्येवाधिकारस्ते” कहकर भगवान् श्रीकृष्ण ने इसी तत्त्व का निर्देश किया है।

मातृमहोपाध्याय श्री गिरधर शर्मा चतुर्वेदी के अनुसार व्यावहारिक आत्मा के अंश—मन, प्राण और वाक्—मायाशबलित होने के कारण भिन्न-भिन्न शक्ति रखते हैं। मन में ज्ञान-शक्ति, प्राण में क्रिया-शक्ति और वाक् में अर्थ-शक्ति है। त्रिगुणात्मक भावों की परिणामभूत इन शक्तियों में गुणों के परिवर्तन से न्यूनाधिक भाव भी होता रहता है। कहीं कोई शक्ति प्रबल होकर प्रधान हो जाती है और दूसरे स्थान में दूसरी शक्ति प्रधान हो जाती है। इस तारतम्य को स्वभाववादी प्राकृतिक कहते हैं और कर्मवादी शास्त्र-पूर्व कर्मों का परिणाम कहते हैं। ये ही तीनों वर्ण-व्यवस्था के मुख्य बीज हैं। मनःशक्ति की अर्थात् ज्ञान-शक्ति की जहाँ प्रधानता हो, वह ब्राह्मण; प्राण-शक्ति या तज्जनित क्रिया-शक्ति की जहाँ प्रधानता हो वह क्षत्रिय और अर्थ-शक्ति की प्रधानता वाला वैश्य कहलाता है। इन तीनों की प्रसरूप कला-शक्ति व सहायता-शक्ति जिसमें एकत्र हुई हो, वह शूद्र माना गया है। कला में ज्ञान, क्रिया और अर्थ तीनों ही शक्तियों की आवश्यकता है, किन्तु तीनों ही शक्तियाँ मुख्य शक्तियों का प्रसर होने के कारण दुर्बल रहती हैं, उत्कृष्ट नहीं हो पाती। इसलिये ‘शु-शीघ्रम् द्रवित परणमति’ (शीघ्र परिवर्तित होने वाला, चंचलता वाला

तथा अस्थिर चित्त वाला) होने के कारण उसे 'शूद्र' कहा गया है। सब शक्तियों का उसमें संग्रह होने के कारण उसे तीनों वर्णों का सहायक भी माना गया है। शक्तियों की अल्पता के कारण वह स्वतन्त्र रूप से कला के अतिरिक्त किसी प्रधान कार्य का सम्पादन नहीं हो सकता, किन्तु तीनों शक्तियों का अंश रहने के कारण तीनों के कार्यों में सहायता दे सकता है। "पुरुषसूक्त" के वर्णविभाग-प्रतिपादक मन्त्र से भी यही सत्य प्रकट होता है। वह मन्त्र इस प्रकार है—

ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद्

बाहु राजन्यः कुतः ।

ऊरु तदस्य यद्वैश्यः

पद्भ्यां शूद्रोऽजायत॥

अर्थात्, सर्वशक्तिमान् पुरुष के मुख अर्थात् उसकी ज्ञान-शक्ति से ब्राह्मण की उत्पत्ति हुई। बाहु अर्थात् पराक्रम-शक्ति से क्षत्रिय की, ऊरु अर्थात् अर्थ-शक्ति से वैश्य की और पाद अर्थात् सहायक-शक्ति से शूद्र की उत्पत्ति हुई।

वर्ण-व्यवस्था की शक्ति रूप-प्रकृति में भी है। प्रकृति के तीन गुण हैं—सत्त्व, रज और तम। इनमें सत्त्व ज्ञान, सुख आदि रूपों में परिणत होता है, रज क्रियारूप में और तम दोनों शक्तियों का आवरण कर अर्थ (भूत, भौतिक) रूप में परिणत होता है। यह हिन्दुओं के सांख्य आदि दर्शनों में निरूपित है। रज क्रियारूप होने के कारण सत्त्व और तम दोनों का प्रवर्तक है अर्थात् दोनों से ही मिलता है; सत्त्व पर तो अपना प्रभाव नहीं डाल सकता, किन्तु तम पर प्रभाव डालकर उसे कुछ ऊपर उठा देता है। इस प्रकार यहाँ भी चार भेद बन जाते हैं—शुद्ध सत्त्व, शुद्ध रज, रजोमिश्रित तम और शुद्ध तम। ये ही प्रकृति में वर्ण-व्यवस्था के बीज हैं। सत्त्वप्रधान ब्राह्मण रजप्रधान क्षत्रिय, तमोमिश्रित रजप्रधान वैश्य और तमप्रधान शूद्र होता है। इन गुणों के द्वारा भी उक्त प्रकार की शक्तियाँ ही प्रकट होती हैं, जिनका वर्णन किया जा चुका है। सांख्य-दर्शन में इन गुणों के एक-एक कल्पित रूप माने गये हैं। स्वच्छ होने के कारण सत्त्व का श्वेत रूप, क्रियामय होने के कारण रज का लाल रूप आवरणमय होने के कारण तम का कृष्ण रूप और रजस्तम के मिश्रण का पीत रूप माना गया है। इसी आधार पर पुराणों में कई जगह 'शुक्ल ब्राह्मण', रक्त क्षत्रिय, पीत वैश्य और कृष्ण शूद्र' लिखा मिलता है। रूप का नाम वर्ण है, इसीलिये ब्राह्मणादि को वर्ण कहा गया है।

डॉ० रामवन्त भारद्वाज के अनुसार वर्ण-व्यवस्था जन्म और कर्म दोनों पर ही आधारित है। श्रीमद्भगवद्गीता में लिखा है, "चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्म-विभागशः" (4/13)। इस उद्धरण के अनुसार वर्ण-व्यवस्था गुण और कर्म के आधार पर है; किन्तु यह व्यवस्था किसके द्वारा हुई? मया' अर्थात् ईश्वर के द्वारा। 'सृष्टम्' शब्द द्रष्टव्य है। ऋग्वेद (10-99-12) और यजुर्वेद (31-11) के 'पुरुषसूक्त' में "ब्राह्मणोऽस्य मुखं... पद्भ्यां शूद्रोऽजायत"—इस मन्त्र में 'जन्' धातु से व्युत्पन्न 'अजायत' (अर्थात् उत्पन्न हुआ) शब्द विद्यमान है, जिससे स्पष्ट है कि वर्ण-व्यवस्था जन्म से भी है।

इसके विपरीत श्री बसन्त कुमार चट्टोपाध्याय के अनुसार वर्ण का आधार जन्म है, न कि कर्म या गुण। उनके अनुसार यदि किसी मनुष्य का वर्ण उसकी बुद्धि या कर्म पर निर्भर होता, तो द्रोणाचार्य क्षत्रिय कहलाते क्योंकि उनका व्यवसाय

युद्ध करना था, पर जन्म के कारण ही वे ब्राह्मण थे। अश्वत्थामा में ब्राह्मण के न तो कोई गुण थे, न कर्म ही। कर्म करते थे वे एक क्षत्रिय का; गुण में तो वे इतने क्रूर थे कि रात को पाण्डवों के शिविर में घुसकर सोये हुये द्रोपदी के बच्चों का उन्होंने वध कर डाला। उत्तरा के गर्भस्थ अर्मेक पर भी उन्होंने अति भयंकर बाण चलाया। फिर भी जब वे पकड़े गये, तब यही निश्चय किया गया कि अश्वत्थामा का वध नहीं किया जा सकता क्योंकि वह ब्राह्मण है। युधिष्ठिर का स्वभाव ऐसा था कि चाहे कोई कितना ही अपराध करे, युधिष्ठिर उसे क्षमा करने को तैयार रहते और भीम को देखिये तो छोटी-सी बात पर लड़ने को तैयार रहते ! यदि गुणों को वर्ण का निर्णायक माना जाय तो दोनों की जाति अलग-अलग होनी चाहिये। परन्तु दोनों ही थे क्षत्रिय, क्योंकि जन्म से ही क्षत्रिय थे। श्री चट्टोपाध्याय के अनुसार गुण-कर्म के अनुसार किसी मनुष्य का वर्ण निश्चित करने में एक और व्यवहारिक व बहुत बड़ी बाधा है। प्रायः ऐसा देखने में आता है कि किसी मनुष्य के गुण तो उसे एक वर्ण का बतलाते हैं, पर उसका कर्म किसी दूसरे ही वर्ण का होता है। ऐसी अवस्था में उसका वर्ण कैसे निश्चित किया जायेगा ? फिर किसी मनुष्य के असली गुणों की पहचान करने का काम भी तो बहुत कठिन है। सम्भव है कि बाहर से देखने में कोई मनुष्य बहुत उग्र और रूखा हो, पर हृदय उसका अत्यन्त कोमल हो। उसी प्रकार यह भी असम्भव नहीं है कि किसी की वाणी बहुत मधुर हो, पर हृदय उतना ही कठोर। यह मान भी लिया जाये कि हर किसी के गुणों का पता लगाने से लग सकता है; पर इस बात का क्या भरोसा कि उसके गुण वैसे ही बने रहेंगे और बदलेंगे नहीं ? बाल्मीकि अपने प्रारम्भिक जीवन में दस्यु थे, पर पीछे महर्षि हो गये। असाधु पुरुष साधु हो सकते हैं, वैसे ही साधु भी असाधु हो सकते हैं। इन सब बातों से यह अच्छी तरह स्पष्ट हो जाता है कि गुणकर्मनुसार वर्ण निश्चित करने की व्यवस्था अव्यावहारिक है।

कुरुक्षेत्र का महायुद्ध आरम्भ होने से पहले अर्जुन ने कहा था—“मैं युद्ध करूंगा, भिक्षा मांगकर जिऊंगा।” गुण और कर्म से ही वर्ण निश्चित करना होता तो उसको इस बात का खण्डन करने की कोई आवश्यकता नहीं थी। अर्जुन में शम, दम, तप, शुचिता, क्षमा, आर्जव, ज्ञान, विज्ञान, आस्तिकता आदि ब्राह्मणोचित सब गुण थे जिनका गीता में उल्लेख है, इसलिये क्षात्र-धर्म छोड़कर वह ब्राह्मण-धर्म ग्रहण करता है तो इससे उसे कोई पाप न लगना चाहिये। पर श्री कृष्ण ने उसे यह सब उल्टा समझाया है कि यदि तुम युद्ध न करोगे तो तुम्हें पाप लगेगा। यह कहना तो तभी उचित है जब जन्म के आधार पर ही वर्ण मानने की व्यवस्था हो। अर्जुन जन्म से क्षत्रिय है। क्षत्रिय का स्वधर्म है युद्ध करना। यदि अर्जुन युद्ध नहीं करता है तो वह अपने धर्म की अवहेलना करता है और पाप का भागी होता है। अतः वर्ण जन्म से ही निश्चित होता है। यह प्रश्न किया जा सकता है कि यदि जन्म से वर्ण निश्चित होता है तो विश्वामित्र ब्राह्मण कैसे हुये ? इसका उत्तर यह है कि तप का अलौकिक प्रभाव होता है, उससे शरीर के परमाणु तक बदल सकते हैं और वर्ण का सम्बन्ध है जन्म-जात शरीर से ही। यह प्रसिद्ध है कि विश्वामित्र ने महान् तप किया था। तप के प्रभाव से वर्ण बदल जाने के और भी कुछ उदाहरण हैं। इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि वर्ण का वास्तविक आधार जन्म ही है।

इस सम्बन्ध में महात्मा गांधी के विचारों का भी उल्लेख किया जा सकता है। आपके मतानुसार, 'वर्ण' का अर्थ है मनुष्य के पेशे के चुनाव का पूर्वनिर्धारण (predetermination)। वर्ण का नियम यह है कि एक व्यक्ति अपनी रोटी कमाने के लिये अपने पूर्वजों के पेशे को अपनायेगा। प्रत्येक बच्चा स्वभावतः ही अपने पिता का 'वर्ण' (colour) प्राप्त करता है और अपने पिता का ही पेशा चुनता है। इस प्रकार एक अर्थ में वर्ण वंशानुसंक्रमण का ही नियम है। 'वर्ण-व्यवस्था की उत्पत्ति तथा यथार्थ प्रकृति के सम्बन्ध में समझाते हुये गांधी जी ने लिखा है—“मेरा विश्वास है कि संसार में प्रत्येक व्यक्ति कुछ स्वाभाविक या जन्मजात प्रवृत्तियाँ (tendencies) लेकर उत्पन्न होता है। प्रत्येक व्यक्ति कुछ ऐसी निश्चित सीमाओं के साथ ही जन्म लेता है जिन्हें वह लांघ नहीं सकता। इन सीमाओं को ध्यान में रखते हुए ही 'वर्ण' के नियम को बनाया गया था। यह नियम कुछ निश्चित प्रवृत्तियों वाले मनुष्यों के लिये निश्चित कार्य-क्षेत्रों की स्थापना करता है। इससे सारी अवांछनीय प्रतिस्पर्धा (competition) का अन्त हो जाता है। सीमाओं को मानते हुये भी वर्ण का नियम छोटे और बड़े के बीच कोई भेद-भाव नहीं करता एक ओर तो यह नियम प्रत्येक को उसके श्रम का फल देने का आश्वासन देता है और दूसरी ओर, वह उसे अपने पड़ोसी को दवाने या उसके कार्य-क्षेत्र में हस्तक्षेप करने से रोकता है।” “वर्ण वह व्यवस्था नहीं है जो समाज को पृथक्-पृथक् खण्डों में विभाजित कर दे। मैं तो इसे एक वैज्ञानिक तथ्य (fact) के रूप में मानता हूँ, चाहे उस तथ्य को हम जानें अथवा न जानें।” गांधीजी के मतानुसार वर्ण-व्यवस्था का जाति-प्रथा से कोई सम्बन्ध नहीं है। जाति-प्रथा में समाज का खण्ड-विभाजन तथा ऊँच-नीच की भावना निहित है। वर्ण-व्यवस्था में इन दोनों का अभाव है। गांधी जी के शब्दों में, “वर्ण हमारे अधिकारों को नहीं, कर्तव्यों को बताता है। यह निश्चित उन पेशों से सम्बन्धित है जो कि मानव-कल्याण के लिये अनिवार्य हैं। इसका यह भी तात्पर्य है कि कोई भी पेशा बुरा-भला नहीं है।” गांधी जी के मतानुसार यह हिन्दू-धर्म के विरुद्ध है कि हम किसी को ऊँचा और किसी को नीचा या छोटा समझें। सभी मनुष्य ईश्वर की सन्तान होने के कारण मूलतः समान हैं और उनकी सेवा ही भगवान की सच्ची उपासना है। सेवा करने के लिये ही सबका जन्म हुआ है—यह सेवा-कार्य ब्राह्मण अपने ज्ञान से, क्षत्रिय अपने क्षात्र-धर्म से, वैश्य अपनी व्यापार वाणिज्य करने की योग्यता या क्षमता से और शूद्र अपने शारीरिक श्रम से करते हैं। इसमें ऊँच-नीच अधम-उत्तम या छोटे-बड़े का कोई प्रश्न नहीं है। गांधी जी के मतानुसार, वर्ण-व्यवस्था के सम्बन्ध में यह भी स्मरणीय है कि एक ब्राह्मण सेवा-कार्य अपने ज्ञान से करता है, इसका यह अर्थ कदापि नहीं है कि वह शारीरिक श्रम या दूसरों की रक्षा करने के कर्तव्य से बरी या मुक्त है। इसका अर्थ केवल इतना है कि ब्राह्मण में कुछ ऐसे जन्मजात गुण हैं जिनके कारण वह दूसरों की तुलना में शिक्षा देने के कार्य के लिये योग्यतम (fittest) है। उसी प्रकार शूद्र अपने शारीरिक श्रम से सेवा करने के कार्य में योग्य है। परन्तु साथ ही अपनी इच्छानुसार किसी प्रकार का भी ज्ञानार्जन का उसे अधिकार है। जो ब्राह्मण अपने ज्ञान के आधार पर उच्च-पद का दावा करता है, वह पतित होता है और जानी कहलाने के योग्य नहीं रहता। गांधी जी के अनुसार वर्णाश्रम धर्म का अर्थ है आत्मसंयम, स्थिरता तथा शक्ति की मित-व्ययिता (economy of energy)।

वर्ण व्यवस्था के सम्बन्ध में भूतपूर्व राष्ट्रपति डॉक्टर राधाकृष्णन के विचार भी उल्लेखनीय हैं। आपके मतानुसार, "..... वर्णों का विभाजन व्यक्तिगत स्वभाव पर आधारित है,¹ जो अपरिवर्तनीय नहीं है। प्रारम्भ में केवल एक ही वर्ण था। हम सबके सब ब्राह्मण थे या सबके सब शूद्र थे।² एक स्मृति के मूल पाठ में कहा गया है कि जब व्यक्ति जन्म लेता है, तब वह शूद्र होता है और फिर शुद्ध होकर वह ब्राह्मण बनता है।³ सामाजिक आवश्यकताओं और वैयक्तिक कर्मों के अनुसार लोगों को विभिन्न वर्णों में बांट दिया गया है। ब्राह्मण लोग पुरोहित हैं। उनके पास न सम्पत्ति होनी चाहिये और न कार्यकारी (शासन की) शक्ति। वे लोग दृष्टा (श्रुषि) हैं जो समाज के अन्तःकरणस्वरूप हैं। क्षत्रिय लोग प्रशासक हैं जिनका सिद्धांत है जीवन के प्रति सम्मान और श्रद्धा। वैश्य लोग व्यापारी; और कारीगर हैं शिल्प-कौशल वाले लोग जिनका उद्देश्य है कार्यपटुता। अकुशल कामगर, श्रमिक-वर्ग, शूद्र हैं। उनकी अपने कार्य में कोई विशेष रुचि नहीं होती, वे केवल अनुदेशों का पालन करते जाते हैं और कुल कार्य में उनका योग (देन) केवल अंशगान्न ही होता है। वे निर्दोष मनोवर्गों का जीवन बिताते हैं और परम्परागत रीतियों को अपनाते हैं।...

ऋग्वेद के काल में विभाजन आयों और दस्यु के रूप में था, और स्वयं आयों में कोई वर्ण विभाग नहीं थे। ब्राह्मण ग्रन्थों के काल में चारों वर्ण जन्म पर आधारित अनस्य (मुक्तोर) समूहों में विभक्त हो चुके थे। ज्यों-ज्यों कला-कौशल की संख्या और जटिलता बढ़ी, त्यों-त्यों धन्यों (पेशों) के आधार पर जातियों का विकास हुआ। स्मृतियों ने अनगिनत जातियों का कारण अनुलोम और प्रतिलोम विवाहों द्वारा चारों वर्णों के परस्पर मिश्रण को बताया है। जब वैदिक आयों ने देखा कि उनके यहाँ अनेक जातियों और रंगों के अनेक कबीलों और श्रेणियों वाली जनसंख्या विद्यमान है, ये कबीले और श्रेणियाँ विभिन्न देवताओं और भूत-प्रेतों की पूजा करती हैं, अपनी असह्य प्रथाओं और रहन-सहन की आदतों पर चलती हैं और अपने कबीलों की भावनाओं से भरी हुई हैं, तो उन्होंने चौहरे वर्गीकरण को अपनाकर उन सबको एक ही समष्टि में पूरा उतार देने का प्रयत्न किया। ये चार वर्ण मूल जातीय भेदों से ऊपर हैं। यह ऐसा वर्गीकरण है जो सामाजिक तथ्यों और मनो-विज्ञान पर आधारित है।⁴ वर्ण-व्यवस्था सम्पूर्ण मानव-जाति पर लागू करने के लिये है। 'महाभारत में कहा गया है कि यवन (यूनानी), किरात, दरद, चीनी, शक (सीथियन), पहलव (पाथियन), शबर (पूर्व-द्राविड) तथा अन्य कई अहिन्दू लोग इन्हीं चार वर्णों में से किसी-न-किसी में आते हैं।⁵ इस (वर्ण) प्रणाली को इस उद्देश्य से रचा गया था कि इसके द्वारा पहले भारत की विभिन्न जातीय जनता और उसके बाद समस्त संसार की जनता एक ही सांझी आर्थिक, सामाजिक, सांस्कृतिक

1. सत्वाधिको ब्राह्मणः स्यात् क्षत्रियस्तु रजोधिकः

तमोधिको भवेत् वैश्यः गुणासान्यात् शूद्रता ।

2. बृहदारण्यक उप०, 1—4—11—15, मनु०, 1—31, महाभारत से भी तुलना कीजिये, 12—188:

न विषेधोस्ति वर्णनां सर्वे ब्राह्ममिदं जगत् ।

ब्राह्मणा पूर्ववृष्टं हि कर्मभिर्वर्णतां गतम् ।

3. जन्मना जायते शूद्रः संस्कारैर्द्विज उच्यते ।

4. शान्तिपर्व, 55 । साय जी देखिये मनु०, 10—43—44 ।

और आध्यात्मिक शृंखला में बँध सके। प्रत्येक वर्ग के लिये सुनिश्चित व्यवसाय और कर्त्तव्य नियत करने, उन्हें अधिकार और विशेषाधिकार देने से यह आशा की जाती थी कि विभिन्न वर्ग सहयोगपूर्वक कार्य करेंगे और उनमें जातीय समन्वय हो सकेगा। यह एक ऐसा सांचा है, जिसमें सब मनुष्यों को उनकी व्यावसायिक योग्यता और स्वभाव के अनुसार ढाला जा सकता है। वर्ण-धर्म का आधार यह है कि प्रत्येक व्यक्ति को अपने विकास के विधान को पूर्ण करने का यत्न करना चाहिये। हमें अपनी योग्यता के अनुकूल ही अपने जीवन का अनुशासित करना चाहिये; जिसके योग्य हम नहीं हैं, उसके पीछे दौड़कर अपनी ऊर्जाओं का अपव्यय करने से कोई लाभ नहीं।”

डॉ० राधाकृष्णन का यह भी मत है कि “इस योजना का ध्येय अवश्य था कि आनुवंशिकता और शिक्षा की शक्तियों का प्रयोग करके विभिन्न वर्गों के सदस्यों में यथायोग्य भावना और परम्परा का विकास किया जाये, परन्तु इस विभाजन को सुकठोर नहीं समझा जाता था। कुछ उदाहरण ऐसे हैं जिनमें व्यक्तियों और समूहों ने अपना सामाजिक वर्ण बदल लिया था। विश्वामित्र, अजमीढ और पुरामीढ को ब्राह्मण-वर्ण में स्थान दिया गया था, और यहाँ तक कि उन्होंने वैदिक ग्रंथों की रचना भी की थी। यास्क ने अपने ‘निरुक्त’ में बताया है कि सन्तानु और देवापि दो भाई थे, उनमें से एक क्षत्रिय-राजा बना और दूसरा ब्राह्मण पुरोहित। दास-कन्या इलुषा के पुत्र कवष ने एक यज्ञ में ब्राह्मण पुरोहित का कार्य किया था। जनक ने, जो जन्म से क्षत्रिय था, अपनी परिपक्व बुद्धि और सन्त स्वभाव के कारण ब्राह्मण-पद प्राप्त कर लिया था। भागवत में बताया गया है कि घण्ट नामक क्षत्रिय जाति उन्नत होकर ब्राह्मण बन गई थी। जाति को उन्नत करने के लिये व्यवस्था रखी गई थी। भले ही आप शूद्र हों, पर यदि आप अच्छे काम करते हैं तो आप ब्राह्मण बन जाते हैं।”⁸ हम ब्राह्मण जन्म के कारण, संस्कारों के कारण, अध्ययन या कुटुम्ब के कारण नहीं होते, अपितु अपने आचरण के कारण होते हैं।⁹ भले ही हमने शूद्र के घर में जन्म क्यों न लिया हो, अच्छे आचरण द्वारा हम उच्चतम स्थिति (पद) तक पहुँच सकते हैं।¹⁰

आज जाति-प्रथा मृतप्राय है। परन्तु पहले वर्ण-व्यवस्था में “स्वस्थ सामाजिक गतिशीलता थी और बहुत समय तक वर्ण आनुवंशिक, सुनियत जातियाँ, नहीं बने। परन्तु कर्म के आधार पर विभाजन बहुत प्राचीन काल से ही काम नहीं करता रहा। मैगस्थनीज हमें वर्ण-व्यवस्था से विभिन्न विभाजन के विषय में बताता है। उसने राज-

5. एभिस्तु कर्मभिर्देवि शुभैराचरितैस्तथा ।
शूद्रो ब्राह्मणतां याति वैश्यः क्षत्रियतां ब्रजेत् ।
6. न योनिर्नापि संस्कारो न अर्थं न च सन्ततिः
कारणानि द्विजदस्य वृत्तमेव तु कारणम् ।
और साथ ही :
सर्वोप ब्राह्मणो लोके वृत्तेत च विधीयते ।
वृत्तस्थितस्तु शूद्रोपि ब्राह्मणत्वं नियच्छति ।
7. शूद्रयोनौ हि जातस्य सद्गुणानुपतिष्ठतः
वैश्यत्वं नभते बाह्यं क्षत्रियत्वं तथैव च
याज्ञवे वर्तमानस्य ब्राह्मण्यं अभिजायते ।

नीतिज्ञों और सरकारी कर्मचारियों को सबसे ऊँचा स्थान दिया है और शिकारियों तथा जंगली लोगों को छोटे विभाग में रखा है। पतंजलि ने ब्राह्मण राजाओं और मनु ने शूद्र शासकों का उल्लेख कि ॥ है। 'सिकन्दर के सम्य ब्राह्मण सैनिक होते थे, जैसा कि आज भी होते हैं।' संक्षेप में वर्ण-व्यवस्था वास्तव में स्वाभाविक योग्यताओं और कर्मों (धर्मों) पर आधारित एक गतिशील व व्यापक व्यवस्था थी, जिसने कि आगे चलकर लोगों में एक मिथ्या अभिमान की भावना भर दी और उसके फलस्वरूप जाति-प्रथा का जो कटु रूप विकसित हुआ वह आज हमारे सम्मुख है।

श्री के० एम० पणिक्कर के अनुसार वर्णचतुष्टय समाजशास्त्र सम्बन्धी एक कपोल-कल्पित कथा या केवल तत्त्व-चिन्तन की एक शैली है और वह सामाजिक व्यवस्था के तथ्यों पर किसी प्रकार आधारित नहीं। उनके अनुसार धर्म में शास्त्रोक्त पद्धतियों का विकास ज्यों-ज्यों होता गया, ब्राह्मण एक वर्ण के रूप में शेष लोगों से पृथक् हो गये। ब्राह्मण एक वर्ण है और अन्य वर्ण वाले बिना किसी हिचकिचाहट के उसके इस रूप की स्वीकार करते हैं। ब्राह्मणों के पास शास्त्रोक्त पद्धतियों या संस्कारों की एक अपनी सामान्य निधि है और प्रायः जीवन के प्रति उनका एक सामान्य दृष्टिकोण है। यह बात शेष तीन वर्णों के प्रति नहीं कही जा सकती है। उनके अस्तित्व के चातुर्वर्ण्य के भीतर पृथक् संगठित सत्ताओं के रूप में कल्पना करनी बिल्कुल निराधार सिद्ध होगी। उदाहरणार्थ क्षत्रियों को ही लीजिये। ऐतिहासिक काल में क्षत्रियों के नाम की कोई जाति न थी। कम-से-कम महापद्मनन्द (ईसापूर्व चौथी शताब्दी) के काल से इतिहास में जिन राजकीय परिवारों का उल्लेख मिलता है वे सब क्षत्रिय जातियों के थे। मौर्य वंश का शूद्र होना सभी को ज्ञात है। गुप्तवंशी सम्राट वैश्य होने का दावा करते थे। अर्वाचीन काल में क्षत्रिय होने का अभिमान करने वाले राजपूत लोग हैं। उनका यह दावा केवल उनके ध्वजसाय पर निर्भर है। पर उदयपुर के सिसोदियाओं का, जो आज क्षत्रियों में शिरोमणि माने जाते हैं, आविर्भाव वस्तुतः ब्राह्मणों से बताया जाता है। उसी प्रकार वर्ण की दृष्टि से वैश्यों की भी मनगढ़न्त परिभाषा है। जो लोग अपने पूर्वजों से व्यापार और वाणिज्य का व्यवसाय अपनाते आये हैं वे वैश्य होने का दावा करते हैं। अन्यथा एक सुसंगठित रूप में वैश्य नाम का कोई वर्ण देखने में नहीं आता है। शूद्रों के बारे में श्री पणिक्कर ने दो तथ्यों का उल्लेख किया है—(1) गोदावरी नदी के दक्षिण तटवर्ती क्षेत्र की विशाल और शक्तिशाली जातियाँ हिन्दू मत में पूरी तरह धुली-मिली नहीं थीं। वर्ण-क्रम के अनुसार उन्हें भले ही शूद्रों की श्रेणी में गिना जाने लगा था, किन्तु वे फिर भी समाज में सर्वोपरि प्रतिष्ठा का उपभोग करती रहीं। उदाहरण के लिये आन्ध्र प्रदेश में रेड्डी, तमिलनाडु के वेल्लाल और मलबार के नायर लोगों ने चातुर्वर्ण्य व्यवस्था कभी स्वीकार नहीं की; और यद्यपि ब्राह्मण वर्ण-भेद की दृष्टि से उन्हें शूद्र के नाम से पुकारते थे फिर भी जातियों के रूप में समाज में सदा उनका बोलबाला रहा और ऐ पौराणिक काल में उत्तर के क्षत्रियों की भाँति ही सामाजिक प्रतिष्ठा से विभूषित बने रहें। (2) अर्वाचीन काल में यह एक विशेष बात देखने को मिलती है कि शूद्रों ने अनेक राजवंशों का सूत्रपात किया। निःसंदेह बंगाल के पालवंशीय राजा लोग शूद्र थे। मराठों के विशाल राजघरानों के बारे में आज कुछ भी विचार व्यक्त किया जाये किन्तु वे सचमुच ही राजपूतों के वंशज होने के अपने दावे को प्रमाणित नहीं कर सके। अतः श्री पणिक्कर के अनुसार वर्णचतुष्टय समाज की एक काल्पनिक व्यवस्था है।

डॉक्टर धुरिये का कथन है कि प्रारम्भ में केवल 'आर्य' और 'दास' ये दो वर्ण ही थे। आर्य लोग जहाँ भी गये वहाँ उन लोगों ने वहाँ के आदिवासियों को पराजित किया और उन्हें 'दास' तथा इसी प्रकार के अन्य शब्दों से सम्बोधित किया। इससे स्पष्ट है कि आर्यों ने यहाँ के मूल निवासियों को भी 'दास' कहकर पुकारा और अपने तथा उनके बीच अन्तर स्पष्ट करने के लिये 'वर्ण' शब्द का प्रयोग किया। साथ ही यह भी निश्चित है कि इस वर्ण-व्यवस्था या विभाजन का आधार पेशा या कर्म था, न कि रंग या जन्म, क्योंकि उस काल में अन्य कारणों की अपेक्षा कर्म पर अधिक बल दिया जाता था जैसाकि पंतजलि के महाभाष्य तथा अन्य पौराणिक और धार्मिक ग्रन्थों से स्पष्ट होता है। यदि इस प्रकार न होता तो विश्वामित्र, जोकि क्षत्रिय थे, ब्राह्मण न बन पाते। इस सम्बन्ध में ऐसे उदाहरण भी पाये जाते हैं जब शूद्र भी ब्राह्मण हो गये हैं। राजपूताना के पौरवर-सेवक ब्राह्मण इसके एक अच्छे उदाहरण हैं। बौद्ध-काव्य के अनुसार व्यासि मुनि खुद भी एक मछुवे के लड़के थे।

उपर्युक्त मीमांसा से यह स्पष्ट है कि वर्ण-व्यवस्था के निर्णायक कारक या आधार के सम्बन्ध में विद्वानों में काफी मतभेद है। परन्तु इन मतभेदों का विश्लेषण करके हम इस निष्कर्ष पर पहुँच सकते हैं कि वर्ण-व्यवस्था केवल जन्म पर ही आधारित थी। यह कहना जितना गलत है उतना यह कहना भी अवैज्ञानिक है कि इस व्यवस्था का आधार केवल मात्र कर्म और गुण था और जन्म से इसका कोई भी सम्बन्ध न था। यह हो सकता है कि कर्म या गुण प्रधान हो, पर जन्म की पूर्णतया उपेक्षा की जाती थी ऐसी बात नहीं है। जन्म से ही व्यक्ति को जो स्वाभाविक गुण प्राप्त होते हैं वह भी उस व्यक्ति के वर्ण के निर्धारण में महत्वपूर्ण थे, यह बात स्वीकार करनी ही होगी। गुण-कर्म व जन्म को व्यावहारिक स्तर पर लाकर सामाजिक संरचना के अन्तर्गत विभिन्न समूहों के कर्त्तव्य, कार्य (roles) और स्थिति को निर्धारित करने और तत्प्रदिष्ट सामाजिक व्यवस्था व संगठन को बनाये रखने के लिये ही वर्ण-व्यवस्था को विकसित किया गया था।

वर्ण और जाति में भेद

(Distinction between Varna and Caste)

प्रायः लोग 'वर्ण' और 'जाति' इन दो अवधारणाओं को एक मान लेते हैं। पर वास्तव में ये दोनों एक ही अवधारणा के दो नाम नहीं हैं।

इस सम्बन्ध में एक मत यह है कि वर्ण-व्यवस्था कर्म पर आधारित है जबकि जाति-व्यवस्था पूर्णतया जन्म पर आधारित है। पर इस सम्बन्ध में यह उल्लेखनीय है कि यह कहना अवैज्ञानिक होगा कि 'वर्ण' का कोई भी सम्बन्ध जन्म से नहीं है अथवा न ही था। यह हो सकता है कि वर्ण-व्यवस्था के अन्तर्गत कर्म का अधिक प्रधानता दी जाती है, जबकि जाति-प्रथा में जन्म को।

इस विषय पर दूसरा मत यह है कि वर्ण-व्यवस्था के आधार पर ही भारत की प्रारम्भिक समाज-व्यवस्था की रूपरेखा बनी थी। डॉ० श्रीनिवास के अनुसार आज के भारतीय समाज में जातियाँ ही असली इकाइयाँ हैं, न कि वर्ण। इसके अलावा डॉ० श्रीनिवास ने अन्य चार महत्वपूर्ण बातों की ओर भी हम लोगों का ध्यान आकर्षित किया है—

- (1) वास्तविक सामाजिक स्थिति में वर्ण और जाति स्पष्टतः एक-दूसरे से सम्बन्धित हैं।

- (2) वर्ण सामाजिक स्थिति (Social Status) से सम्बन्धित है।
- (3) भारत के सभी हिस्सों में ब्राह्मणों और अछूतों की स्थितियों से वर्ण का सम्बन्ध सब लोग मानते हैं। ब्राह्मण सबसे ऊँचे और अछूत सबसे नीचे वर्ण में हैं।
- (4) ब्राह्मणों और अछूतों के बीच में जितनी भी जातियाँ हैं, वे वर्ण के दृष्टिकोण से अपने सामाजिक स्तर का दावा करती हैं, पर उनके इस दावे को सब लोग स्वीकार नहीं करते।

प्रारम्भिक हिन्दू समाज में वर्ण-व्यवस्था का कुछ भी महत्त्व रहा हो, पर आज वर्ण-व्यवस्था के आधार पर जातियों की वास्तविक सामाजिक स्थिति का पता नहीं लगाया जा सकता है। वर्ण-व्यवस्था ने समाज को मोटे तौर पर चार भागों में विभाजित कर दिया था, पर जाति-प्रथा के अन्तर्गत अब तक असंख्य जातियों व उपजातियों का उद्भव हो चुका है जिनकी स्थिति भारत के प्रत्येक क्षेत्र में एक-सी नहीं है। यह प्रथम तरीका (way) है जिसके आधार पर 'वर्ण' और 'जाति' में भेद किया जा सकता है।

इनमें भेद का दूसरा तरीका कर्म और जन्म को प्रधानता देना है। जन्म से सम्बन्धित होते हुए भी 'वर्ण' में कर्म प्रधान है, जबकि कर्म से सम्बन्धित होते हुए भी 'जाति' में जन्म प्रधान है।

तृतीयतः जाति-प्रथा में भोजन, विवाह, सामाजिक मेल-मिलाप आदि पर परम्परागत रूप में जितने कठोर प्रतिबन्ध हैं, उतने वर्ण-व्यवस्था में नहीं हैं।

वर्णों के कर्त्तव्य या 'वर्ण'—धर्म (Duties of Varnas or 'Varna' Dharma)

हिन्दू शास्त्रकारों ने विभिन्न वर्णों के कुछ निश्चित कर्त्तव्यों या 'धर्म' का भी निर्धारण किया है। स्मृतियों के अनुसार चारों वर्णों के कुछ सामान्य 'धर्म' या कर्त्तव्य भी हैं जैसे जीवित प्राणियों को हानि न पहुँचाना, सत्य को खोज करना, अनधिकारपूर्वक किसी दूसरे की वस्तु लेने से बचना, चरित्र एवं जीवन की पवित्रता को बनाए रखना, इन्द्रियों पर नियन्त्रण रखना, आत्मसंयम, क्षमा, ईमानदारी, दान आदि सद्गुणों का अभ्यास करना। फिर भी प्रत्येक वर्ण के कुछ अलग-अलग कर्त्तव्य या 'धर्म' भी हैं, इन्हीं को वर्ण-धर्म कहते हैं। मनु के अनुसार ये वर्ण-धर्म निम्न हैं—

द्विजों में श्रेष्ठ ब्राह्मण हैं। ब्राह्मण का आधार उसकी सात्विक वृत्ति तथा उसका निष्कल स्वभाव है। इसी दृष्टिकोण से मनुस्मृति में ब्राह्मणों के निम्नलिखित गुणकर्मों का उल्लेख किया गया है—ब्राह्मण को चाहिए कि वह अपने तिरस्कार को विष के समान समझता हुआ उससे सदा डरता रहे और आदर को अमृत समझता हुआ उसकी सदा कामना करता रहे। ब्राह्मण को चाहिए कि वह सदा वेद का अभ्यास करता रहे तथा ज्ञान का अर्जन करता रहे, यह उसका तप है। ब्राह्मण का काम पढ़ना और पढ़ाना, यज्ञ करना और कराना, दान देना और दान लेना है; परन्तु दान लेने का अवसर प्राप्त होने पर भरसक प्रयत्न यही करे कि दान न ले, क्योंकि दान ग्रहण करने से उसका ब्रह्म-तेज कम हो जाता है। मनु के अनुसार शत्रिय का प्रमुख कर्त्तव्य प्रजा की रक्षा करना, युद्ध करना, दान देना, यज्ञ करना आदि है। उसी प्रकार गाय-बैल आदि पशुओं की रक्षा करना, दान, अग्निहोत्र आदि करना, व्यापार करना, व्याज पर रुपया लेना-देना, और खेती करना—ये वैश्य के कर्त्तव्य

कर्म हैं। शूद्र का कार्य उपरोक्त तीन वर्णों की विना ईर्ष्या के सेवा-शुश्रूषा करना है।

भीष्म के अनुसार, पढ़ाना, आत्मनियन्त्रण तथा तप का अभ्यास करना ब्राह्मणों का मुख्य कर्त्तव्य या धर्म है। अध्ययन करना, लोगों की रक्षा करना, यज्ञ करना आदि क्षत्रियों के प्रमुख धर्म हैं। उसी प्रकार अध्ययन करना, यज्ञ करना तथा उचित साधनों द्वारा धन उपार्जन करना वैश्य के मुख्य कर्त्तव्य या धर्म है। शूद्र की सृष्टि अन्य तीनों वर्णों के सेवक के रूप में हुई है। शूद्रों को अपने लिए धन संग्रह नहीं करना चाहिए क्योंकि इस धन संग्रह के द्वारा वह अन्य तीन उच्च वर्णों के सदस्यों को अपना सेवक बना लेगा और इसके द्वारा वह अपने लिए पाप का संचय करेगा। उसे तो अन्य तीन वर्णों के अधीन ही रहना चाहिये। भीष्म कहते हैं कि वर्ण-धर्म की नैतिकता यह है कि सब वर्णों के सदस्यों को हमेशा तथा प्रत्येक सम्भावित साधन द्वारा यज्ञ को पूरा करना चाहिये। चूंकि तीनों लोकों में यज्ञ के समकक्ष कोई चीज नहीं है, इसलिये भीष्म का यह निर्देश है कि प्रत्येक व्यक्ति को पवित्र हृदय तथा पूर्ण विश्वास के साथ यज्ञों को पूरा करना चाहिये। -

मार्कण्डेय पुराण में यह उल्लेख है कि कैसे एक ब्राह्मण तपस्वी कौशिक को मिथिला के एक कर्त्तव्यपरायण व्याध या शिकारी ने वर्ण-धर्म के सिद्धान्त को पढ़ाया। इस व्यक्ति का पेशा शिकार करना तथा मांस बेचना था। ब्राह्मण कौशिक को यह जानकर आश्चर्य हुआ कि वह व्याध एक बहुत ही पवित्र व्यक्ति माना जाता है, भले ही वह इतना निम्न पेशा करता है। यह कैसे सम्भव है, ब्राह्मण की इस शंका के उत्तर में धर्मपरायण व्याध यह उत्तर देता है कि वह केवल उस धर्म का पालन कर रहा है जो कि उसके कर्मों के अनुसार उसके लिये निश्चित हुआ है। अपने उस पेशे से निवृत्त होने के बाद, जिसे कि ईश्वर ने उसके लिए निश्चित किया है, वह व्याध मनोयोगपूर्वक द्विजों की, अपने से ऊँचों की तथा अपने से बड़ों की सेवा करता है। इसके अतिरिक्त वह शिकारी सदैव सत्य बोलता, किसी से ईर्ष्या नहीं करता, अपने साधनों के अनुसार प्रायः दान देता तथा ईश्वर, अतिथि-सेवा और अपने आश्रितों की शुश्रूषा एवं सत्कार के बाद, जो शेष रहता है उसी से अपना जीवन निर्वाह करता है। वह किसी की बुराई नहीं करता है, न किसी से घृणा करता है। उस धर्म-व्याध के अनुसार "एक व्यक्ति निःसन्देह निम्न वंश में उत्पन्न हुआ हो, फिर भी वह एक अच्छे चरित्र का व्यक्ति हो सकता है। वह एक सच्चरित्र एवं धर्मपरायण व्यक्ति बन सकता है, भले ही वह जन्म अथवा पेशे की दृष्टि से पशुओं का वध करने वाला हो।" अतः सच्चरित्रता एवं सदाचार, जन्म अथवा व्यक्ति के व्यवसाय पर बिल्कुल निर्भर नहीं करते।

उस धर्म-व्याध के अनुसार, व्यक्ति एक ऐसे परिवार में क्यों जन्म लेता है जिसका कि पेशा निम्न है—इस प्रश्न का उत्तर 'कर्म' का सिद्धान्त दे सकता है। धर्म-व्याध कौशिक से कहता है कि भाग्य बड़ा शक्तिशाली है, अपने पूर्वकार्यों के परिणामों से बचना बड़ा कठिन है। यह पूर्वजन्म में किए गए बुरे कर्म ही हैं जो कि पाप को उत्पन्न करने वाले हैं। हममें से प्रत्येक अपने कार्यों से प्रभावित है और हम सबको यह प्रयत्न अवश्य करना चाहिये कि हम किस प्रकार अपने दुष्कर्मों का प्रायश्चित्त कर सकते हैं तथा बुरे कर्मों से मिलने वाले कठोर दण्ड से अपने को किस प्रकार मुक्त कर सकते हैं। बुरे कर्मों से निवृत्त होने एवं प्रायश्चित्त करने के अनेक मार्ग और विधियाँ हैं, जैसे—दान, सच्चाई, गुरु की सेवा, भक्तिपूर्वक वर्ण-धर्म का

पालन करना, घमण्डी न होना आदि-आदि । धर्म-व्याप के अनुसार कार्यों की अच्छाई-बुराई के बारे में बहुत-कुछ कहा जा सकता है, लेकिन वह व्यक्ति जो अपने वर्ण-धर्म पर दृढ़ रहता है, वह अत्यधिक यश एवं कीर्ति प्राप्त करता है ।

परन्तु जैसाकि पहले ही बताया जा चुका है, कुछ विद्वानों का मत है कि यह वर्ण-व्यवस्था प्रारम्भ में केवल एक सिद्धान्त के रूप में थी। क्योंकि व्यावहारिक जीवन में इस व्यवस्था को न तो अक्षरशः लागू किया जा सकता था, न ही किया गया । श्री एस० नटराजन (S. Natrajan) के अनुसार भारत में हिन्दुओं के हृदय में यह भावना रही है कि वर्ण-व्यवस्था होनी चाहिये, पर वास्तव में यह हुई कभी नहीं ।

त्यागमय भोग हिन्दु संस्कृति व सामाजिक जीवन की एक प्रमुख विशेषता है तथा साथ ही इस संस्कृति में इहलोक की अपेक्षा परलोक पर अधिक ध्यान दिया जाता है। जीवन का उद्देश्य केवल जीना ही नहीं बल्कि इस रूप में जीवनयापन है कि इस जीवन के पश्चात् जन्म और मृत्यु के चक्र से छुटकारा मिल जाये—परम ब्रह्म या मोक्ष की प्राप्ति सम्भव हो। परन्तु इस सम्भावना की प्राप्ति के लिये जीवन व मानव-प्रवृत्तियों की वास्तविकताओं को अस्वीकार नहीं किया जा सकता, क्योंकि उसका अभिप्राय: होगा जीवन को अव्यावहारिक स्तर पर ले आना। जीवन जड़ नहीं, गतिमान है, इसलिये यह आवश्यक है कि उस गति को उचित ढंग से इस भाँति नियमित व नियन्त्रित किया जाय कि जीवन का अन्तिम लक्ष्य अर्थात् परम ब्रह्म या मोक्ष की प्राप्ति सरल और सम्भव हो जाये। इसके लिये सुविचारित, क्रमबद्ध व व्यवस्थित जीवन-व्यवस्था की आवश्यकता है, जिससे कि मनुष्य का जीवन धीरे-धीरे सुनिश्चित रूप में तथा एक स्तर से दूसरे स्तर को पहुँचता हुआ अन्त में अपने 'परम प्राप्य और परम अधिगन्तव्य पद' पर पहुँच सके। यही आश्रम-व्यवस्था है, अर्थात् यह मनुष्य-जीवन का वह कार्यक्रम है जोकि उसके जीवन को कुछ (चार) भागों में इस प्रकार विभाजित करता है कि पहले वह ज्ञान की प्राप्ति करे, फिर संसार की वास्तविकताओं को भोगे तदनन्तर सांसारिक झंझटों से अपने को दूर रखकर ईश्वरीय ज्ञान प्राप्त करे तथा अन्त में उसी परम सत्य की खोज में अपना उत्सर्ग कर उसी में एकाकार होने के लिये प्रयत्नशील हो। यही मानव-जीवन का अन्तिम लक्ष्य है, यही परमपद की प्राप्ति है और यही मोक्ष है। अतः जीवन के अन्तिम लक्ष्य की प्राप्ति के लिये मनुष्य को धीरे-धीरे तैयार करने की सुविचारित योजना ही आश्रम-व्यवस्था है।

यह योजना आध्यात्मिकता और व्यावहारिकता का एक अनुठा संयोग है। संसार में कुछ भी असत्य नहीं है; परन्तु उस सांसारिक सत्य से ऊपर भी एक सत्य—परम सत्य है। जीवन का उद्देश्य उसी परम सत्य की प्राप्ति है। परन्तु उसे रातों-रात या एकाएक नहीं प्राप्त किया जा सकता। आज का भोगी दूसरे ही दिन त्यागी या संन्यासी नहीं हो सकता। इसके लिये आवश्यक अभ्यास की जरूरत है, धीरे-धीरे अपने को तैयार करने की आवश्यकता है। इस आवश्यकता की पूर्ति अर्थात् जीवन में परम सत्य की प्राप्ति के लिये आवश्यक प्रस्तुतीकरण कैसे किया जाए? इसी का समाधान आश्रम-व्यवस्था है जिसके अन्तर्गत मानव-जीवन को ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ तथा संन्यास—इन चार विभागों में बाँटकर जीवन के परम उद्देश्य की प्राप्ति का प्रयत्न किया गया है।

त्यागमय भोग का आदर्श इस आश्रम-व्यवस्था में मूर्त होता है। ब्रह्मचर्याश्रम ज्ञान-प्राप्ति का द्योतक है, गृहस्थाश्रम भोग का, वानप्रस्थ भोग से निर्लिप्तता का और

संन्यास पूर्ण वैराग्य का द्योतक है; ये मानव-जीवन के चार 'विश्राम-स्थल' हैं अर्थात् वे सरणियाँ हैं जिनमें से प्रत्येक पर मनुष्य कुछ समय (25 वर्ष) तक रुक कर अपने को अगली सरणी के लिये तैयार करता है और इस प्रकार वह अपनी सौ वर्षों की जीवन-यात्रा को पूरा करता हुआ परम लक्ष्य को प्राप्त करता है। मानव-जीवन के विषय में इस प्रकार की विचारधारा कुछ पाश्चात्य विद्वानों की कृतियों में भी देखने को मिलती है। उदाहरणार्थ, जॉन बन्यान (John Bunyan) ने अपनी प्रख्यात पुस्तक *Pilgrim's Progress* में मानव-जीवन को एक दीर्घ यात्रा के रूप में वर्णित कर उसके विविध विश्राम-स्थलों की ओर संकेत किया है। परन्तु भारतीय शास्त्रकारों ने इस सम्बन्ध में केवल संकेत नहीं बरन् स्पष्ट निर्देश दिया है। शतपथ ब्राह्मण में लिखा है—

ब्रह्मचर्याश्रमं समाप्य गृही भवेत्
गृही भूत्वा वनी भवेत् वनीभूत्वा प्रव्रजेत् ।

अर्थात् 'प्रत्येक व्यक्ति को पहले ब्रह्मचर्याश्रम में प्रवेश करना चाहिये, ब्रह्मचर्य के बाद उसे गृहस्थाश्रम में प्रवेश करना चाहिये, गृहस्थ के बाद उसे वानप्रस्थी हो जाना चाहिये और वानप्रस्थाश्रम के बाद उसे संन्यासी बन जाना चाहिये।' महर्षि दयानन्द ने भी लिखा है कि "सब मनुष्यों को अपनी आयु का प्रथम भाग विद्या पढ़ने में व्यतीत करना चाहिये और सम्पूर्ण विद्याओं का ज्ञान प्राप्त कर उसके द्वारा संसार की उन्नति करने के लिये गृहस्थाश्रम में भी अवश्य प्रवेश करना चाहिये। साथ ही, विद्या और संसार के उपकार के लिये एकान्त में बैठकर (वानप्रस्थ के अनुसार) समस्त जगत् में अधिष्ठाता ईश्वर का ज्ञान भली प्रकार प्राप्त करना चाहिये और मनुष्यों को समस्त व्यवहारों का उपदेश करना चाहिये। तदनन्तर समस्त सन्देशों के छेदन और सत्य के निर्धारण के हेतु संन्यास आश्रम भी अवश्य ग्रहण करना चाहिये, क्योंकि इसके बिना सम्पूर्ण पक्षपात से मुक्ति मिलना बहुत कठिन है।" परन्तु इस सम्बन्ध में और कुछ विवेचना करने से पूर्व 'आश्रम' शब्द के मूल अर्थ को स्पष्टतः समझ लेना आवश्यक है।

'आश्रम' का कार्य (Meaning of Ashrama)

'आश्रम' शब्द संस्कृत की 'श्रम्' धातु से बना है जिसका अर्थ है प्रयास (exert) करना या परिश्रम करना। श्री प्रभु (Prabhu) ने लिखा है कि इस व्युत्पत्ति के अनुसार आश्रम का अर्थ है—(क) एक स्थान जहाँ प्रयत्न या उद्योग किया जाता है, तथा (ख) इस प्रकार के प्रयत्न या उद्योग की क्रिया। डॉ० ब्रजनाथ सिंह यादव के अनुसार, "आश्रम का अर्थ जीवन का वह विभाग है जिसमें मनुष्य प्रयास करता है।" "साहित्यिक दृष्टिकोण से आश्रम शब्द विश्राम-स्थल या पड़ाव को सूचित करता है अर्थात् यह वह सरणी है जिस पर कि व्यक्ति कुछ समय के लिये रुक जाता है। उसका यह अवरोध जीवन-यात्रा की थकान को दूर करने के लिये, आराम करने के लिये; या यूँ कहिये कि वह रुक जाता है आगामी यात्रा के निमित्त अपने को तैयार करने

1. "The word *Ashrama* is originally derived from the Sanskrit root *srama*; 'to exert oneself'; therefore, it may mean, by derivation (i) a place where exertions are performed, and (ii) the action of performing such exertions."—P. N. Prabhu, *Hindu Social Organization*, Popular Book Depot, Bombay, Third Edition, 1958, p. 83.

के लिये। अतः श्री प्रमु के अनुसार, “आश्रमों को जीवन के अन्तिम लक्ष्य मोक्ष की प्राप्ति के लिये मानव द्वारा की जाने वाली जीवन-यात्रा के मध्य के विश्राम-स्थल मानना चाहिए।”²

महाभारत में व्यासजी ने कहा है कि जीवन के चार विश्राम-स्थलों या आश्रमों को चार सरणियों वाली एक सीढ़ी समझना चाहिये। यह सीढ़ी ‘ब्रह्म’ के पास पहुँचने के लिए है। व्यक्ति इस सीढ़ी के द्वारा ब्रह्म के साम्राज्य में पहुँच जाता है अर्थात् वह मुक्ति को प्राप्त करता है।

उपर्युक्त परिभाषाओं और कथनों के आधार पर कुछ निश्चित निष्कर्ष निकाले जा सकते हैं। श्री प्रमु के उपर्युक्त कथन से स्पष्ट है कि आश्रम-शब्द ‘स्थान’ तथा ‘प्रयास की क्रिया’ दोनों का द्योतक है। डॉ० यादव के अनुसार यह जीवन का वह विभाग है जिसमें मनुष्य प्रयास करता है। इस परिभाषा में भी दो शब्द महत्वपूर्ण हैं—पहला ‘विभाग’ और दूसरा ‘प्रयास’।

सर्वप्रथम श्री प्रमु के कथन का ही स्पष्टीकरण आवश्यक है। ‘आश्रम’ से स्थान का बोध इस कारण होता है क्योंकि प्रत्येक क्रिया का एक कार्य-स्थल या स्थान होना आवश्यक है। प्रत्येक सामाजिक प्राणी सामाजिक परिस्थिति में ही क्रिया करता है न कि शून्य में। उसी प्रकार आश्रम के अन्तर्गत प्रयास की क्रिया भी सम्मिलित है। यह प्रयास लक्ष्य की प्राप्ति के लिये किया जाता है और यह लक्ष्य जीवन का लक्ष्य है। हिन्दू-संस्कृति मानव-जीवन के कुछ उद्देश्यों को निश्चित करती है और साथ ही यह निर्देश भी करती है कि उन उद्देश्यों की प्राप्ति किस प्रकार सर्वोत्तम ढंग से हो सकती है और इस विधि के अन्तर्गत उस लक्ष्य की प्राप्ति का सर्वोत्तम साधन कौनसा है। उदाहरणार्थ, ब्रह्मचर्य-आश्रम का उद्देश्य ज्ञान की प्राप्ति है। बाल्यावस्था में ज्ञान की प्राप्ति जीवन के ऊर्ध्वमुखी विकास के लिये आवश्यक है। इस आवश्यकता की पूर्ति के लिये सर्वोत्तम स्थान गुरु का गृह या गुरुकुल है। इसी प्रकार सांसारिक सुखों को भोगने के लिये गृहस्थ सर्वोत्तम स्थान है। आश्रम-व्यवस्था के अन्तर्गत इसी उच्चतम व्यवस्था का बोध होता है। इस परमपद की प्राप्ति के लिये प्रयत्न की क्रिया आवश्यक है। उदाहरणार्थ, ज्ञान की प्राप्ति के लिये स्वाध्याय आवश्यक है। श्री प्रमु के कथन से आश्रम-व्यवस्था के इन्हीं दो पक्षों का स्पष्टीकरण होता है। डॉ० यादव आश्रम-व्यवस्था को जीवन के विभाग मानते हैं, जिसमें मनुष्य प्रयास करता है। विभाग इस अर्थ में है कि आश्रम-व्यवस्था के अन्तर्गत जीवन की अखण्ड रूप में कल्पना न करके सम्पूर्ण जीवन को, उसकी निरन्तरता को बनाये रखते हुये, कुछ स्तरों में बाँट दिया गया है। इस विभाजन का उद्देश्य यह है कि जीवन के लक्ष्यों की प्राप्ति के लिये मनुष्य को कुछ प्रयास करने पड़ते हैं। वह प्रयास तभी सफल होता है जबकि उसे क्रमबद्ध रूप से प्राथमिकता के अनुसार व्यवस्थित किया जाये। जीवन का परम उद्देश्य परम सत्य या ब्रह्म की प्राप्ति है, पर यह प्राप्ति तब तक सम्भव नहीं जब तक ज्ञान और भोग-पूर्ण न हों और सांसारिक सुखों के प्रति मनुष्य के हृदय में वैराग्य का उदय न हो। इन सबके लिये मनुष्य को प्रयास करना होता है और धीरे-धीरे अपने को इस भाँति तैयार करना होता है कि उस परम उद्देश्य की चरम उप-

2. “The Ashramas, then are to be regarded as resting places during one's journey on the way to final liberation which is the final aim of life.”—*Ibid.*—p. 83

लब्धि सरल व सम्भव हो सके। इसीलिये, डॉक्टर यादव के अनुसार आश्रम-जीवन वह जीवन है जिसमें मनुष्य सदा प्रयास करता रहता है। प्रत्येक आश्रम मानव-जीवन के एक मुख्य मोड़ का द्योतक है और एक उच्चतर अवस्था का बोध कराता है। अर्थात् आश्रम-व्यवस्था में यह मान लिया गया है कि मानव के जीवन की गति ऊपर की ओर है। चार मंजिल ऊपर अन्त में ब्रह्म का निवास है। एक मंजिल पार करके ही दूसरी मंजिल पर पहुँचा जा सकता है, पर दूसरी मंजिल पर पहुँचने के लिये उससे पहले की मंजिल में कुछ समय तक रुककर दूसरी मंजिल पर जाने की तैयारी करनी पड़ती है ताकि दूसरी मंजिल की यात्रा विफल न हो जाये। जो लोग ऊँचे पर्वत-शिखर पर विजय पाने वालों की गतिविधि से परिचित हैं वे जानते ही हैं कि किस प्रकार वे लोग कुछ-कुछ दूरी पर पड़ाव डालकर और वहाँ कुछ समय तक रुककर और आगे की यात्रा की पूर्ण तैयारी करके ही पर्वत-शिखर-विजयी बनने के लिये आगे बढ़ते हैं। तब कहीं अन्त में वे अपने लक्ष्य तक पहुँचने में सफल होते हैं, उनकी विजय-पताका पर्वत-शिखर पर लहराती है। यही बात आश्रम-व्यवस्था पर भी लागू होती है। इसीलिए, जैसा कि पहले ही उल्लेख किया जा चुका है कि श्री प्रभु (Prabhu) ने आश्रमों को जीवन के अन्तिम लक्ष्य मोक्ष की प्राप्ति के निमित्त जीवन यात्रा के मध्य पड़ने वाले विश्राम-स्थल माना है।

अतः अन्तिम रूप में हम यह कह सकते हैं कि आश्रम-व्यवस्था हिन्दू-जीवन का वह क्रमबद्ध इतिहास है जिसका कि उद्देश्य जीवन-यात्रा को विभिन्न स्तरों में बाँटकर प्रत्येक स्तर पर मनुष्य को कुछ समय तक रखकर उसे इस भांति तैयार करना है कि वह जगत् की वास्तविकताओं और प्रयासमय क्रियात्मक जीवन की अनिवार्यताओं में से गुजरता हुआ अन्तिम लक्ष्य पर ब्रह्म या मोक्ष को प्राप्त कर सके जो कि मानव-जीवन का परम व चरम लक्ष्य या उद्देश्य है।

इस प्रकार समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण से आश्रम-प्रणाली प्रयासमय जीवन के तरीकों (ways of life) को सूचित करती है। हिन्दू-जीवन के उस क्रमबद्ध व आयोजित कार्यक्रम की ओर संकेत करती है जिसका कि उद्देश्य जीवन के अन्तिम या परम लक्ष्य की प्राप्ति है। जीवन की यह योजना क्रमबद्ध है क्योंकि इसमें एक के बाद दूसरे आश्रम को एक निश्चित क्रम से रखा गया है। यह जीवन का तरीका है क्योंकि इसी के अनुसार आदर्श हिन्दू-जीवन बिताया जाना है; यह प्रयासमय है क्योंकि प्रत्येक आश्रम में जिस समय के लिए व्यक्ति रुकता या निवास करता है उस समय के दौरान में वह निरन्तर प्रयास करता रहता है, प्रयास करता है अपने को अगले आश्रम के लिए उपयुक्त बनाने के लिए; साथ ही यह व्यवस्था उद्देश्यमूलक है, क्योंकि स्तर-स्तर पर व्यक्ति को तैयार करने का उद्देश्य यह है कि वह जीवन के परम या अन्तिम लक्ष्य तक पहुँच सके, अर्थात् ब्रह्म को प्राप्त हो। परिणामतः यह व्यवस्था व्यावहारिक है क्योंकि इसके अन्तर्गत क्रियात्मक जीवन की व्यावहारिकताओं की अवहेलना नहीं की गई है। मानव-जीवन की समस्त स्वाभाविक प्रवृत्तियों (जिसमें काम सम्बन्धी प्रवृत्तियाँ भी सम्मिलित हैं) का पूरा-पूरा ध्यान रखा गया है। दोष और गुण दोनों के ही सम्मिश्रण से बने स्वाभाविक मानव को उसके जीवन के अन्तिमलक्ष्य तक पहुँचाना या दूसरे शब्दों में कह सकते हैं कि भोगी मानव को धीरे-धीरे योगी मानव में बदल देना ही इस आश्रम-व्यवस्था का उद्देश्य है। मनुस्मृति के अनुसार मनुष्य परमगति प्राप्त करने के लिए ही अपने जीवन को चार आश्रमों में बिताता है। अगर व्यक्ति इन आश्रमों का क्रमानुसार पालन करता है तो वह परमसुख प्राप्त कर सकता है।

आश्रम-व्यवस्था की उत्पत्ति

(Origin of Ashrama System)

भारतीय सामाजिक संस्थाओं का अध्ययन और विश्लेषण करने वाले विद्वान् अभी तक निश्चित रूप से यह बतला नहीं पाए हैं कि इस व्यवस्था को कितने कब जन्म दिया था। परन्तु इस सम्बन्ध में सभी विद्वान् एकमत हैं कि आश्रम-व्यवस्था वैदिक काल की सांस्कृतिक प्रतिभा का ही एक लक्षण या अंग था।

आश्रम-व्यवस्था की उत्पत्ति के कारण या परिस्थितियों के सम्बन्ध में डॉ॰ मातृवत्त त्रिवेदी के विचार उल्लेखनीय हैं। उनके अनुसार, “परमात्मा अथवा ब्रह्म ज्ञान-स्वरूप है या कर्मस्वरूप?—यह उस समय का बड़ा ही विवादग्रस्त विषय था। कुछ लोग निखिल ज्ञान की परिपूर्णता को ब्रह्म का स्वरूप मानते थे, तो कुछ लोग कर्म की परिपूर्णता को। अद्वैत-वेदान्तियों की भाँति कुछ लोग ब्रह्म को ज्ञानस्वरूप और ज्ञानाधिगम्य मानते थे, तो दूसरी ओर मीमांसक आदि उसे यज्ञाद्विरूप-कर्माधिगम्य मानते थे। यज्ञ उस समय का श्रेष्ठ कर्म था, जैसा कि ‘यज्ञो वे’ श्रेष्ठतम कर्म’ इत्यादि श्रुतिवचनों से स्पष्ट होता है। यह यज्ञादि कर्म ब्रह्म का वेदक था; क्योंकि ‘पुरुषार्थानुशासन सूत्र’ में धर्म अर्थात् यज्ञ (यागादिरेव धर्मः—लौगाक्षिभास्कर) और ब्रह्म को वेद का मुख्य विषय बता दोनों में परस्पर वेदक-वेद्यभाव संबंध स्थापित किया गया है—धर्मब्रह्मणी वेदकवेद्ये’। इसके अनुसार धर्म वेदक है और ब्रह्म उसका वेद। अतः मनुष्य इस जीवन में यज्ञादि को करता हुआ ब्रह्म को प्राप्त कर सकता है। इस प्रकार हम देखते हैं कि वैदिक काल में ज्ञान और कर्म की समान अपेक्षा ध्वनित की गई थी और परमात्मा को निखिल ज्ञान-कर्म की समष्टि मान मनुष्य के व्यक्तिगत जीवन में भी ज्ञान कर्म की परिपूर्णता लाने के लिए जोर दिया गया था। इसी का परिणाम था कि आश्रम-व्यवस्था, जिसमें ब्रह्मचर्य और संन्यास आश्रम ज्ञानार्जन-प्रधान और गृहस्थ तथा वानप्रस्थ कर्मार्जन-प्रधान थे। इस प्रकार मनुष्य अपने सौ वर्ष के जीवन में पचास वर्ष ज्ञानार्जन और पचास वर्ष कर्मार्जन द्वारा ज्ञान और कर्म की परिपूर्णता लाता था और अन्त में ज्ञानकर्म के समष्टिरूप परमात्मा के समक्ष या उसके तद्रूप होने का प्रयास करता था।” आश्रम-व्यवस्था का यही अन्तर्निहित भाव है और यही इसकी उत्पत्ति का कारण है।

आश्रमों का विभाजन

(Division of Ashramas)

सामाजिक संगठन और व्यवस्था के लिये वर्ण-व्यवस्था के अन्तर्गत जिस प्रकार चार वर्णों—ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य व शूद्र—में समाज को विभाजित किया गया था, उसी प्रकार व्यक्तिगत जीवन को समुन्नत करने के लिये जीवन-यात्रा के सम्पूर्ण काल को चार आश्रमों या स्तरों (stages) में विभाजित कर दिया गया था। वे आश्रम हैं—(1) ब्रह्मचर्य अर्थात् विद्याध्ययन तथा पवित्रता से जीवन व्यतीत करने का स्तर। (2) गृहस्थ अर्थात् विवाह करके परिवार तथा उससे सम्बन्धित समस्त कर्तव्यों को पूरा करने का स्तर। (3) वानप्रस्थ अर्थात् घर त्यागकर वन में जाकर तपस्या व ध्यान द्वारा सांसारिक इच्छाओं और बन्धनों से मुक्त होने के प्रयत्न करने का स्तर। दूसरे शब्दों में यह सांसारिक माया-जाल से अपने को पूरी तरह छुड़ाने के लिये आवश्यक प्राथमिक तैयारी का स्तर (preparatory stage)।

है। (4) संन्यास अर्थात् समस्त सांसारिक बन्धनों, सम्बन्धों व मोह को पूर्णतया त्याग देने का स्तर।

श्री प्रभु (Prabhu) ने लिखा है कि इस बात को सिद्ध करने के लिये अनेक प्रयत्न हुये हैं कि प्रारम्भ में केवल तीन आश्रम थे,³ न कि चार, जैसा कि ऊपर उल्लेख किया गया है। मूल रूप में वानप्रस्थ तथा संन्यास इन दो आश्रमों को एक साथ मिलाकर एक आश्रम माना जाता था क्योंकि संन्यासाश्रम में व्यक्ति को जो कुछ करना होता है उसी की तैयारी वह वानप्रस्थ में करता है और त्याग, तपस्या व ध्यान का जो जीवन बिताता है वह एक अर्थ में संन्यासी के जीवन के ही अनुरूप है। इसलिये शायद इन दोनों में कोई भेद करना उचित न समझा गया हो। इस प्रकार प्रारम्भ में केवल तीन आश्रम थे, चार आश्रमों का विकास बाद में हुआ है।⁴

छान्दोग्य उपनिषद् में भी धर्म के अनुसार जीवन के तीन स्तरों या क्रमों का उल्लेख मिलता है। वे हैं—(1) विद्यार्जन का स्तर जिसमें कि विद्यार्थी काफी समय तक या स्थायी रूप में गुरुकुल में बस जाता है अर्थात् आचार्य की छत्रछाया में कुलवासी होकर ज्ञानार्जन करता है; (2) गृहस्थ स्तर जिसमें एक व्यक्ति से यज्ञ, स्वाध्याय तथा दान करने की आशा की जाती है; तथा (3) संन्यास स्तर जिसमें एक व्यक्ति से तप करने की आशा की जाती है। डा० मोदी (Modi) मनुस्मृति से भी दो अंश प्रमाण रूप में उद्धृत करते हैं जिससे यह स्पष्ट होता है कि आश्रम-व्यवस्था के अन्तर्गत केवल तीन आश्रमों का ही समावेश है।

श्री कीथ (Keith) आदि विद्वानों का मत है कि आश्रम-व्यवस्था के अन्तर्गत केवल तीन आश्रम ही उचित हैं, इसे एक अन्य रूप से भी समझा जा सकता है। ऐसे अनेक कारण हैं जिनके आधार पर यह कहा जा सकता है कि संन्यास स्तर को आश्रम-व्यवस्था के अन्तर्गत सम्मिलित न करना ही उचित है। आश्रम-व्यवस्था एक सामाजिक व्यवस्था है और किसी भी प्रकार की सामाजिक व्यवस्था समाज व सामाजिक सम्बन्धों से सम्बन्धित होती है। परन्तु समाज व सामाजिक सम्बन्धों को पूर्णतया त्यागना या उनसे विरक्त रहना ही संन्यासी का प्रथम और अनिवार्य लक्षण है। संन्यासी के तो सारे सांसारिक या सामाजिक सम्बन्ध व बन्धन टूट जाते हैं या यूँ कहिये कि वह इन सब सम्बन्धों या बन्धनों से कहीं ऊपर रहता है। समाज से उसका कोई भी सम्बन्ध नहीं होता और न ही समाज की स्वाभाविक क्रियाओं में वह सम्मिलित होता है। अतः संन्यासी को सामाजिक प्राणी न मान कर समाजोपरि (supra-social) प्राणी मानना ही उचित होगा और इसीलिये संन्यासाश्रम को आश्रम-व्यवस्था के अन्तर्गत सम्मिलित न करना ही ठीक होगा। वास्तव में संन्यासी को समाज के सदस्य के रूप में न मानने की परम्परा है और उसके आत्मपरिजनों के लिये भी उसका अस्तित्व समाप्त हो जाता है; प्रायः यह माना जाता है कि संन्यासी के सामाजिक प्राणी होने से उसके आत्मपरिजनों के लिये एक सम्बन्धी (relative) के रूप में उसकी मृत्यु हो गयी है। इसीलिये उसके

3. Ibid., p. 84.

4. See *Proc. and Trans of the Seventh All India Ori. Conf.*, Baroda, Dec. 1935, pp 315-16 art. on *Development of the System of Ashramas* by Dr. P. M. Modi. See also *Vedic Index* by MacDonell and Keith, Vol. I. pp. 68-69 and C. V. Vaidya, *History of Sanskrit Literature*, Vol. 1, Sec. ii, Poona, 1938 pp. 80 ff.

आत्मपरिजनों के द्वारा उसकी अन्त्येष्टि क्रिया-क्रम कर दिया जाता है। सामाजिक प्राणी के रूप में मरा हुआ वह संन्यासी अपनी सामाजिक वस्तुओं, वेशभूषा, परिवार, स्त्री-पुत्र आदि को ही नहीं छोड़ जाता बल्कि अपना पूर्वनाम तक त्याग देता है। इसीलिये सामाजिक जीवन में जिनका नाम नरेन्द्र नाथ था वही संन्यास ग्रहण करने के पश्चात् स्वामी विवेकानन्द हो गये। इस प्रकार जो व्यक्ति अपने तथा अपने आत्मपरिजनों या समाज के लिये मर चुकता है उसे या उसके कार्य-कलापों को आश्रम-व्यवस्था जैसी सामाजिक व्यवस्था के अन्तर्गत सम्मिलित न करना ही उचित है।

यद्यपि छान्दोग्य उपनिषद् आदि हिन्दू-शास्त्रों में विद्यार्थी, गृहस्वामी तथा संन्यासी जीवन के इन तीनों परिस्थितियों का उल्लेख है, परन्तु इस सम्बन्ध में ऐसी कोई निश्चित व दृढ़ आज्ञा नहीं है कि जीवन के इन पहलुओं का एक ही क्रम से एक के बाद दूसरे का अनुसरण किया जाये। ऐसा प्रतीत होता है कि एक व्यक्ति अपने विद्यार्थी जीवन को समाप्त करने के बाद गृहस्वामी बन सकता है अथवा वह विद्यार्थी तथा गृहस्वामी दोनों प्रकार का जीवन साथ-साथ व्यतीत कर सकता है या वह विद्यार्थी-जीवन के बाद बिना विवाह किये हुये ही अर्थात् गृहस्थ जीवन में प्रवेश किये बिना ही संन्यास जीवन बिताने के लिये अग्रसर हो सकता है। इसका अर्थ यह है कि संन्यासी-स्तर के लिये यह कोई आवश्यक शर्त नहीं है कि वह गृह-स्थाश्रम के बाद ही आये। परन्तु बाद में उपनिषदों में इस सम्बन्ध में निर्देश दिये गये हैं कि चार आश्रमों को एक ही क्रम से एक के बाद दूसरा अपनाया जाये। कुछ विद्वानों के अनुसार यही उचित भी है क्योंकि, जैसा कि श्री तिलकसिंह परमार ने लिखा है, "सामान्यतः किसी भी आश्रम में व्यक्ति-क्रम उत्पन्न होने पर शेष आश्रम व्यवस्थित नहीं रह सकते। आश्रम व्यवस्थित नहीं रह सकते, तो जीवन व्यवस्थित नहीं रह सकता। जीवन-रूपी देवालय का आधार ब्रह्मचर्य है, मध्य में स्थित है गृहस्थ व वानप्रस्थ और अन्तिम शिखर संन्यास है। स्मरणीय है आधार के बिना देवालय खड़ा ही नहीं हो सकता और देवालय का शिखर उनके त्राण का कारण होता है जो देव-विग्रह का दर्शन नहीं करते; मध्य भाग की महत्ता तो सर्वस्वीकृत ही है क्योंकि उसी में तो देव-मूर्ति स्थापित रहती है, जिसके कारण देवालय का अस्तित्व होता है। कहने का अभिप्राय यह है कि यदि ब्रह्मचर्य का समुचित रीति से पालन नहीं हुआ, अर्थात् बल-वीर्य-ज्ञान का यथोचित अर्जन नहीं हुआ, तो न तो गृहस्थ-जीवन ही सुखी हो सकेगा और न वानप्रस्थ ही सन्तोष-जनक होगा, क्योंकि गृहस्थ-धर्म पालने के लिए बल-वीर्ययुक्त शरीर की आवश्यकता रहती है और वानप्रस्थ के लिए ज्ञान की; और जब तक यथेष्ट गृहस्थ-धर्म के पालन द्वारा इन्द्रियाँ सन्तुष्ट नहीं होतीं, विरक्ति की भावना का उदय नहीं होता—जो संन्यास का मूल कारण है—तब तक संन्यास-जीवन ढोंग मात्र ही रहेगा। यहाँ अपवादों की चर्चा करना अभीष्ट नहीं है। इस प्रकार, आश्रम-व्यवस्था से धर्म, अर्थ, काम व मोक्ष की समन्वित साधना सम्भव होती है। किन्तु यह सम्भव तभी है जबकि उनकी मृत्खला में बन्धन टूटने न दिए जायें।"

विभिन्न आश्रमों में प्रवेश की आयु

(Admission age to different Ashramas)

विभिन्न शास्त्रकारों तथा विद्वानों के विचारों में इस विषय में पर्याप्त मतभेद

है कि किस आयु में एक व्यक्ति को भिन्न-भिन्न आश्रमों में प्रवेश करना चाहिए और जीवन का कितना समय एक आश्रम में बिताना चाहिए। आश्रम-व्यवस्था के अन्तर्गत जीवन-यात्रा को इस देश के शास्त्रकारों ने सामान्यतः सौ वर्षों का माना है क्योंकि मनुष्य की जीवनावधि उस समय प्रायः सौ वर्षों की होती थी। इसकी पुष्टि 'शतायुर्वं पुरुषः' इत्यादि श्रुति-वाक्यों द्वारा की गई है। वैसे भी ऋग्वेद-काल से ही 'जीवेम शरदः शतम्' द्वारा सौ वर्षों के जीवन की कामना की जाती है। श्री के० एम० कपाडिया (K. M. Kapadia) ने लिखा है कि "ब्राह्मण-काल में पारलौकिक अमरत्व को जीवन का सार ध्येय माना गया है, तथापि मानव-जीवन का उद्देश्य अनन्त जीवन जैसे अमरत्व को ही प्राप्त करना नहीं है अपितु शतवर्षीय—पूर्णायु प्राप्त करना भी है।" इन सौ वर्षों के जीवन को समुन्नत बनाने के लिए ऋषियों ने उसे चार भागों में अर्थात् ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यास—इन चार आश्रमों में विभाजित किया था और प्रत्येक की अवधि 25 वर्ष मानी थी। इस प्रकार जीवन के प्रथम 25 वर्ष तक व्यक्ति को ब्रह्मचर्य अवस्था, स्तर या आश्रम में रहने का निर्देश था और इस अवधि में उससे कठोर संयम व नियम से रहने की आज्ञा की जाती थी। यह अवस्था अध्ययन तथा ज्ञान प्राप्त करने की मानी जाती थी क्योंकि इन दोनों कार्यों के लिए जीवन के प्रथम 25 वर्ष का समय सबसे उत्तम होता है क्योंकि इस आयु में बच्चों के स्वभाव, व्यक्तित्व तथा गुणों में अपूर्व लचीलापन, सीखने का अभूत-पूर्व उत्साह जोश तथा स्फूर्ति होती है जोकि उसके अध्ययन या विद्यार्जन की प्रक्रिया में अत्यधिक सहायक होता है। इस प्रकार 25 वर्ष तक बलवीर्य-ज्ञान का यथोचित अर्जन करते हुए प्रत्येक व्यक्ति अपने को शारीरिक तथा मानसिक रूप से गृहस्थाश्रम में प्रवेश करने की आज्ञा थी। 25 वर्ष से 50 वर्ष तक कामवासना से परितृप्त होने के साथ-साथ व्यक्ति अपनी सन्तानों का लालन-पालन तथा अन्य पारिवारिक कर्त्तव्यों को करता था। इसके बाद 50 से 75 वर्ष की आयु का समय वनों में स्थिर आश्रमों में व्यतीत होता था। जीवन के गूढ़तम रहस्यों को समझने का प्रयत्न तथा मोक्ष-प्राप्ति के उपायों पर विचार इसी वानप्रस्थाश्रम में ही होता था। 75 वर्ष पार करने के पश्चात् व्यक्ति के लिए संन्यास ग्रहण कर लेने तथा भौतिक संसार से पूर्णतया अपना मुख मोड़ लेने का निर्देश था।

कुछ विद्वानों का कथन है कि प्रत्येक आश्रम के लिए उपर्युक्त 25 वर्षों की अवधि वास्तव में एक सामान्य नियम या सैद्धान्तिक सीमा थी। व्यक्तिगत आवश्यकता के अनुसार यह अवधि कम-ज्यादा हो सकती थी और होती भी थी। उदाहरणार्थ, ब्रह्मचर्याश्रम में शिक्षा प्राप्त करने की एक न्यूनतम मात्रा (course) थी जिसे कि प्रत्येक विद्यार्थी को पूरा करना पड़ता था। सम्भव था कि उसे पूरा करने और यह प्रमाणित करने में कि वह अब विवाह करने तथा गृहस्थ-धर्म से सम्बन्धित कर्त्तव्यों को निभाने के योग्य है, एक व्यक्ति की आयु 25 वर्ष के स्थान पर 28 वर्ष बीत जाए, तो ~~अवस्था~~ अवस्था में अनिवार्यतः उसे 26 वर्ष की आयु में ही गृहस्थाश्रम में ढकेल दिया जाता ~~था~~—ऐसी बात नहीं थी। अगले आश्रम के लिए पूर्ण योग्यता (qualification) प्राप्त न होने तक उसे उसी आश्रम में रखा जाता था। इस प्रकार पहले जमाने के लोग लकीर के फकीर न थे; अपितु वे व्यावहारिकता के महत्त्व को समझते थे।

वात्स्यायन ने अपने 'क्रामसूत्र' में मानव-जीवन को सौ वर्षों का मानकर उसे

बाल्यावस्था, यौवनावस्था तथा स्थविर या वृद्धावस्था (old age) इन तीनों स्तरों में बाँटा है। बाल्यावस्था विद्यार्जन के हेतु है, यौवनावस्था भोग तथा काम से सम्बन्धित इच्छाओं व प्रवृत्तियों की सन्तुष्टि के हेतु और वृद्धावस्था धर्म तथा मोक्ष की प्राप्ति के लिए प्रयत्न करने के निमित्त है। लेकिन वास्तविकता के अनुसार, यह कोई अनिवार्य विभाजन नहीं है कि एक अवस्था के कार्यों को दूसरे से मिलाया ही नहीं जा सकता है। उदाहरणार्थ, ऐसा नहीं है कि यौवनावस्था में धर्म तथा मोक्ष से सम्बन्धित क्रियाओं या प्रयत्नों को किया ही नहीं जा सकता है। वास्तव में व्यक्ति को अपने जीवन में उपलब्ध अवसरों के अनुसार, विद्या, काम, धर्म तथा मोक्ष से सम्बन्धित कार्यों को करना चाहिए। उदाहरणार्थ, यदि यौवनावस्था में ही एक व्यक्ति को धर्म तथा मोक्ष से सम्बन्धित प्रयासों को करने का अवसर मिलता है तो उस अवसर से उसे लाभ उठाने में चूकना न चाहिए। वास्तव में व्यक्ति को जीवन के इन विभिन्न पक्षों व लक्ष्यों में उचित सामंजस्य बनाए रखते हुए इनकी प्राप्ति के लिए सदा प्रयत्नशील रहना चाहिए।

चार आश्रम

(Four Ashramas)

भारतीय संस्कृति में प्राचीनकाल से ही दीर्घ जीवन की कामना की जाती रही है और इस दीर्घ जीवन की कामना, जैसा कि डॉ० के० एम० कपाडिया (K. M. Kapadia) का कथन है, “मुक्ति प्राप्त करने की भावना से असम्बद्ध नहीं है और भारतीय मुनियों ने अपने पुरुषार्थ के सिद्धान्त में इन दोनों में सामंजस्य स्थापित किया है।” इस सिद्धान्त के अनुसार मानव-जीवन के चार प्रमुख उद्देश्य हैं—धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष। ‘मोक्ष’ या मुक्ति की प्राप्ति मानव-जीवन का परम और चरम लक्ष्य है; ‘अर्थ’ और ‘काम’ उस लक्ष्य तक पहुँचने का साधन हैं और उस पथ पर मानव को सही दिशा में परिचालित करने के लिए ‘धर्म’ एक सहारा है। संक्षेप में यही पुरुषार्थ का सिद्धान्त है जो कि हिन्दू आश्रम-व्यवस्था में प्रत्यक्ष रूप से अभिव्यक्त है। इस व्यवस्था के अन्तर्गत जीवन को चार आश्रमों—ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ एवं संन्यास—में बाँटा गया है। ब्रह्मचर्याश्रम में धर्म का ज्ञान होता है, गृहस्थाश्रम में अर्थ और काम सम्बन्धी उद्देश्यों की प्राप्ति होती है, वानप्रस्थ में अन्तिम लक्ष्य ‘मोक्ष’ की प्राप्ति के लिए आवश्यक तैयारी की जाती है और संन्यास में मोक्ष की प्राप्ति या परमगति को प्राप्त करना व्यक्ति के लिए सम्भव होता है। इस रूप में यह कहा जा सकता है कि आश्रम-व्यवस्था वह साधन या योजना है जिसके द्वारा पुरुषार्थ या जीवन के मुख्य उद्देश्यों की प्राप्ति सरल व सम्भव है। इन चार आश्रमों के विषय में अब हम अधिक विस्तारपूर्वक विवेचना करेंगे।

(1) ब्रह्मचर्याश्रम

(Brahmacharyashrama)

मनु के अनुसार ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र सभी मूलतः शूद्र के रूप में जन्म लेते हैं। उसके पश्चात् ‘संस्कारात् द्विज उच्यते’—अर्थात् धार्मिक संस्कारों द्वारा वह ‘द्विज’ बनता है, अर्थात् जब ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य कुछ संस्कारों को पूरा करते हैं तभी वे द्विज कहलाते हैं। इन संस्कारों में दीक्षा संस्कार सबसे महत्वपूर्ण है। इस दीक्षा के बाद व्यक्ति शिक्षा प्राप्त करने के योग्य बनता है। जिसकी शिक्षा-दीक्षा नहीं हो सकती वह शूद्र ही रह जाता है। जिस स्थिति में या अवस्था में व्यक्ति शिक्षा-दीक्षा

प्राप्त करता है उसी को ब्रह्मचर्याश्रम कहते हैं। 'ब्रह्मचर्य' शब्द दो शब्दों से मिलकर बना है—'ब्रह्म' तथा 'चर्य'। 'ब्रह्म' का अर्थ है महान् तथा 'चर्य' का अर्थ है विचरण करना; अर्थात् ब्रह्मचर्य का तात्पर्य है ऐसे मार्ग पर चलना जिससे मनुष्य शारीरिक, मानसिक तथा आध्यात्मिक दृष्टि से छोटे से महान् हो सकते हैं। कुछ लोग 'ब्रह्मचर्य' का अर्थ केवल लैंगिक संयम समझते हैं। परन्तु यह तो ब्रह्मचर्य का सिर्फ एक पहलू है; (शुद्ध अर्थों में ब्रह्मचर्य क्षुद्रता से महत्ता की ओर ऊर्ध्वगति या महान् होने की साधना है) डॉ० मातुदत्त त्रिवेदी ने लिखा है कि ब्रह्मचर्य का आशय केवल इन्द्रिय-निग्रह से नहीं था; अपितु इन्द्रिय-निग्रहपूर्वक वेदाध्ययन से था, क्योंकि ब्रह्म और वेद यह दोनों पर्यायवाचक शब्द हैं—'ब्रह्मवेद इति श्रुते'। एक अर्थ में ब्रह्मचारी का जीवन तपस्या का जीवन था। अथर्ववेद के 'ब्रह्मचर्यसूक्त' में ब्रह्मचारी का वर्णन आता है। इस सूक्त के 26 मन्त्रों में 15 बार 'तप' शब्द को दोहराया गया है—'स आचार्यं तपसा पिपर्षि', 'रक्षिति तपसा ब्रह्मचारी', 'ब्रह्मचर्येण तपसा देवा मृत्युमुपाघ्नत' आदि में इसी बात का संकेत मिलता है कि ब्रह्मचारी तप से अपने जीवन की साधना करता है।

उपनयन (जनेऊ) संस्कार के उपरांत बालक जीवन के प्रथम आश्रम—ब्रह्मचर्याश्रम में प्रवेश करता था। यह संस्कार व्यक्ति को अनुशासित जीवन व्यतीत करने के लिए आमन्त्रित करता है। उपनयन-संस्कार विभिन्न वर्णों में अलग-अलग आयु में करने का निर्देश है, जैसे ब्राह्मण का उपनयन संस्कार आठ से दस वर्ष की आयु में, क्षत्रिय का दस से चौदह वर्ष की आयु में और वैश्य का बारह से सोलह वर्ष की आयु में सम्पन्न होता है। विद्यार्जन एक प्रकार की साधना है और इसके लिये नैतिक वातावरण की आवश्यकता होती है। यही कारण है कि विद्यार्जन के हेतु बालक को घर पर न रखकर 'गुरुकुल' में भेज दिया जाता था। वहाँ ब्राह्मण को धर्मशास्त्र सम्बन्धी, क्षत्रिय को शस्त्र सम्बन्धी तथा वैश्य को व्यापार सम्बन्धी शिक्षा दी जाती थी। शूद्रों को गुरुकुल में जाने की आज्ञा न थी। दीक्षा-संस्कार गुरु के निवास-स्थान पर वैदिक साहित्य अध्ययन का प्रथम चरण था। यद्यपि दीक्षित व्यक्ति को वेदाध्ययन की आज्ञा तुरन्त नहीं दी जाती थी। शिष्य को पहले नाना प्रकार से गुरु की सेवा कर उन्हें प्रसन्न करना पड़ता था। इस उद्देश्य से शिष्य गुरु के पशुओं की देख-रेख करता था, इंधन एकत्र करता था, भिक्षा लाता था तथा यज्ञादि से सम्बन्धित कार्यों को करता था। इन कार्यों को अच्छी तरह निभाकर जब शिष्य अपने गुरु को प्रसन्न करता था और जब गुरु उसकी ज्ञानार्जन की वास्तविक इच्छा ज्ञात कर लेते थे, तब उसे वेदाध्ययन की आज्ञा मिलती थी। वेदाध्ययन तथा उनको याद रखना जीवन का एक प्रमुख कर्तव्य तथा जीवन-ऋण से उऋण होने का एक उपाय समझा जाता था। ऐसा विश्वास था कि एक व्यक्ति तीन प्रकार का ऋण लेकर शरीर धारण करता है—ऋषि-ऋण, पितृ-ऋण तथा देव-ऋण। ऋषि-ऋण पठन-पाठन विशेषतः वेदाध्ययन के द्वारा पूरा होता है और इसका उद्देश्य ऋषियों के प्रति श्रद्धा व्यक्त करना है। यह माना जाता है कि प्रत्येक व्यक्ति उन महान् ऋषियों का ऋणी है जिन्होंने अनेक महत्वपूर्ण शास्त्र लिखे हैं। इस ऋण को पूरा करने का ब्रह्मचर्याश्रम से ही प्रारम्भ होता है।

गुरुकुल में गुरु और शिष्य का पारस्परिक सम्बन्ध अत्यधिक घनिष्ठ, आंतरिक तथा प्रत्यक्ष या आमने-सामने (face-to-face) का होता था। गुरु के प्रति अगाध श्रद्धा-भक्ति रखना शिष्य का परम कर्तव्य होता था। गुरु की आज्ञा शिरोधार्य होती थी। गुरु के आचरणों की समालोचना करना, उनकी निन्दा करना या उन पर मिथ्या

दोषारोपण करना केवल अक्षम्य अपराध ही नहीं, महापाप समझा जाता था। इन सब नैतिक संहिताओं (moral codes) या नियमों का उद्देश्य गुरु-शिष्य के पारस्परिक सम्बन्ध को एक ऐसे स्तर पर लाकर सुदृढ़ बनाना था जहाँ पर कि इन दोनों के बीच अन्तःक्रियात्मक सम्बन्ध इस प्रकार का हो सके कि सांस्कृतिक परम्पराओं व तत्त्वों का एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी को हस्तांतरण सरल व सुनिश्चित ढंग से हो। उस समय, जैसा कि श्री कपाडिया ने लिखा है, “सांस्कृतिक परम्पराओं का हस्तांतरण मौखिक रूप से होता था। अतः समाज के एक वर्ग का कार्य इसे अध्ययन, सम्बर्द्धन और प्रसारण द्वारा जीवित रखना था, और परिणामतः ऐसे वर्ग को समाज में सर्वोच्च स्थान प्रदान किया जाता था। गुरु को परमात्मा के तुल्य माना गया था। गुरुओं की अटूट श्रृंखला से बंधे हुए उनके शिष्य तथा शिष्यों के शिष्य, सब सामूहिक रूप से एक ऐसे समाज का निर्माण करते थे जिसमें प्राचीन भारत के समन्वय के दृढ़ तत्व निहित थे। धर्मसूत्रों और स्मृतियों में प्रतिपादित धार्मिक भ्रातृत्व-भाव केवल नातेदारों को ही नहीं बताया है, अपितु सामाजिक और सम्पत्ति के अधिकार और नैतिक बन्धनों के संयोजन की भी चर्चा की गई है। इस प्रकार के व्यावहारिक प्रतिमान और सामाजिक आदर्श बिना साहित्यिक विरासत (heritage) के शताब्दियों तक विशुद्ध रूप में बनाये रखने शायद सम्भव नहीं होता।”⁵

गुरुकुल या ब्रह्मचर्याश्रम में रहते हुये ब्रह्मचारी के नित्यकर्म के सम्बन्ध में कुछ निश्चित नियम होते थे। धर्मसूत्र तथा मनुस्मृति में ऐसे अनेक नियमों का उल्लेख है। मनुस्मृति (अध्याय 2) में बताये गये कुछ नियम इस प्रकार हैं—“ब्रह्मचारी यज्ञोपवीत, अजिन, मेखला और दण्ड को नियमपूर्वक धारण करता रहे। वह भिक्षा माँगकर अपना आहार करे। मध्याह्न और रात्रि के भोजन के बीच कुछ न खाये। अधिक भोजन कभी न करे। सूर्योदय हो जाने पर भी यदि वह सोता रहे तो उसे प्रायश्चित्त करना चाहिये। इसी प्रकार सूर्यास्त के समय भी सोना अत्यन्त वर्जित है। वह मन-वचन-कर्म से आचार्य की अनन्य सेवा करे। गुरु की आलोचना करने वाले को दूसरे जन्म में गधा होना पड़ता है और गुरु की निन्दा करने वाले को कुत्ते का जन्म मिलता है। ब्रह्मचारी न तो गुरु के वस्त्रों से अच्छे वस्त्र पहने और न गुरु के भोजन से अधिक उत्तम भोजन करे। कभी गुरु की छाया का लंघन न करे। गुरु के समक्ष सर्वदा नीचे आसन पर बैठे। ब्रह्मतीर्थ से ययाविधि आचमन कर और ब्रह्मांजली बाँधकर गुरु से अध्ययन करे। दूर-दूर से तलाश कर समिधाएँ लाए और

5. “As the cultural tradition had to be transmitted orally, a section of community was entrusted with the task of preserving it by studying it, expending it and imparting it to others, and was consequently given the highest status in the community. The teacher was equated with God..... An unbroken succession of teachers, the pupils of the same teachers and their pupils together constituted one of the societies, *Vidyavamsa*, which had a strong element of cohesion in ancient India. In the Dharmasutras and Smritis the religious fraternity was not merely one of kinship, but had clustered round it significant social and property rights and obligations. But for this behaviour pattern and social ideal, the literary heritage could hardly have been preserved unadulterated for centuries.”—K. M. Kapadia, *Marriage and Family in India*, Oxford University Press, London, 1955, pp 28-29.

प्रातःसायं हवन करे। सात दिन तक हवन न करने वाला ब्रह्मचारी 'लुप्तव्रत' हो जाता है। स्नान कर देव, ऋषि और पितृगण का तर्पण, देवताओं का पूजन तथा सन्ध्योपासना नित्य करे। कपूर, कस्तूरी, केसर आदि सुगन्धित द्रव्यों का प्रयोग न करे। तेल मालिश न करे। काजल या मुरमा न लगाये। जूते और छत्ररी का उपयोग न करे। काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मत्सर से मुक्त रहे। गायन और नृत्य का पूर्ण परित्याग रखे। परछिद्रान्वेषण और निरर्थक वाक्-कलह के फेर में कभी न पड़े। स्त्रियों की ओर कभी कुदृष्टि न रखे। काम-वासना के अधीन होकर कभी वीर्यपात न होने दे। वासना से मुक्त रहते हुये भी यदि ब्रह्मचारी को कभी स्वप्न-दोष हो जाये तो उसे यथाविधि एक विशेष ऋचा का जप करना चाहिये।

ब्रह्मचारियों के मुख्य कर्तव्य हैं—ईश्वर के बारे में ज्ञान प्राप्त करना, दोषों, बुराइयों, अपवित्र व अनुचित कार्यों से बचना, पवित्र जीवन बिताना, शरीर एवं मस्तिष्क को अनुशासित करना, धर्म आदि से सम्बन्धित साहित्य पढ़ना या संक्षेप में वेदाध्ययन करना, दूसरों का आदर-सत्कार करना तथा सादा जीवन व उच्च विचार के आदर्श को अपनाना।

मनु के अनुसार ब्रह्मचारी का अर्थ है शारीरिक, मानसिक तथा आत्मिक दृष्टि से ऐसे मार्ग का अवलम्बन करना जिससे शरीर उन्नत हो, स्वस्थ हो; मन बुद्धि तथा विद्या से भरपूर हो और आत्मा पवित्र हो। इन गुणों के विकसित होने पर ही एक व्यक्ति शूद्र से महानु हो सकता है। इस दृष्टि से मनु के काल में ब्रह्मचारी के लिए साधन के तीन मार्ग निश्चित किए गए थे—प्रथम मार्ग शारीरिक दृष्टि से ब्रह्मचर्य का अर्थ था लैंगिक संयम और इसे वे वीर्य-रक्षा कहते थे। मनु ने ब्रह्मचारी को ऐसे सभी कार्यों या आचरणों के करने का निषेध किया जिनसे कि वीर्य-रक्षा के कार्य में बाधा पड़ने या पड़ने की सम्भावना हो। इसीलिये ब्रह्मचारी के लिये मद्य, मांस, गन्ध, पुष्प, माला, रस, स्त्री-संग, अंगों का मर्दन, अंजन, जूते, नाच, गाना आदि सब-कुछ वर्जित था। द्वितीय मार्ग मानसिक विकास का था। इसके लिये तैत्तिरीयोपनिषद् में लिखा है कि मानसिक विकास के लिये ब्रह्मचारी को यथार्थ आचरण करना सीखना चाहिये। साथ ही आचरणों के विषय में स्वाध्याय स्वयं करे और दूसरों को कराये, सत्य का प्रयोग करे तथा 'सत्य' की स्वयं खोज करे और दूसरों को भी ऐसा करने को प्रेरित करे। यही मानसिक विकास का मार्ग है। तृतीय मार्ग आध्यात्मिक विकास का था। आध्यात्मिक विकास के लिये मनु का कथन है कि ब्रह्मचारी को यम-नियमों का पालन करना चाहिये परन्तु इस बात का ध्यान रखना चाहिये कि केवल नियमों के पालन में ही न लगा रहे, यमों का पालन मुख्य समझे। योगदर्शन में लिखा है कि शौच (पवित्रता), सन्तोष, तप, स्वाध्याय, ईश्वर-पूजा—ये नियम हैं। नियमों का लक्ष्य तो मानसिक विकास है, आत्मिक विकास नहीं। आत्मिक या आध्यात्मिक विकास यमों के पालन से होता है। अहिंसा, सत्य, अस्तेय ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह—ये यम हैं और ये ही आत्मविकास के मार्ग हैं। ब्रह्मचारी को इन्हीं मार्गों पर चलना चाहिये।

इस सम्बन्ध में यह उल्लेखनीय है, जैसा कि डॉ० त्रिवेदी ने लिखा है, "जितेन्द्रिय होकर वेदाध्ययन केवल 25 वर्ष तक ही नहीं किया जाता था, अपितु आवश्यकतानुसार 36 या 48 वर्ष तक भी किया जा सकता था, जैसा कि मनु के इन श्लोकों से विदित हो जाता है—

षट्त्रिंशत्तद्विकं चर्यगुरोर्ब्रह्मिकं व्रतम् ।
तद्विकं पादिकं वा गृहस्थान्तिकमेव च ॥
तथा

वेदानधीत्य वेदो वा वेदं वापि वयाक्रमम् ।
अविलुप्त ब्रह्मचर्यो गृहस्थाश्रममावसेत् ॥

इस प्रकार उपर्युक्त अवधि तक माणवक (ब्रह्मचारी) 'अविलुप्त ब्रह्मचर्य' का पालन कर गृहस्थाश्रम में प्रवेश करता था। शास्त्रों में यद्यपि गृहस्थाश्रम की विशेष महिमा वर्णित की गई है, तथापि विचार करने पर इस ब्रह्मचर्य आश्रम का भी कुछ कम महत्व नहीं दिखाई पड़ता क्योंकि यही एक आश्रम है जो मनुष्य को दीर्घायु प्रदान करता है। शास्त्रों में कहा गया है कि जो व्यक्ति जितने वर्ष इस आश्रम में रहता था उसकी जीवनावधि उसकी चार गुनी होती थी। ब्रह्मचर्य मनुष्य को केवल दीर्घ जीवन ही नहीं, अपितु अमरता तक प्रदान करता था। देवताओं ने जो मृत्यु पर विजय प्राप्त की और इन्द्र जो देव-सम्राट्-पद पर सुशोभित है, वह इसी ब्रह्मचर्य की ही महिमा है। अथर्ववेद के ब्रह्मचारी सूक्त (11/5) के एक मन्त्र में इस भाव को इस प्रकार व्यक्त किया गया है—

ब्रह्मचर्येण तपसा देवा मृत्युमपाप्नुत ।
इन्द्रोहि ब्रह्मचर्येण देवेभ्यः स्वराभरत् ॥

ब्रह्मचर्य के द्वारा तो भीष्म पितामह ने मृत्यु तक पर भी विजय प्राप्त कर ली थी और उसी के बल से अपने प्राणों को तब तक निकलने नहीं दिया जब तक कि उन्होंने स्वयं नहीं चाहा।

जब गुरुकुल में ब्रह्मचारी के लिये धर्म व परम्परा के अनुसार निश्चित पठन-पाठन का कोर्स (course) समाप्त हो जाता था तो वह एक प्रतीकात्मक (symbolic) स्नान करता था, यह दिखलाने के लिये कि उसने उस आश्रम के कोर्स की पूर्ण सिद्धि एवं समाप्ति कर ली है; अतः अब 'स्नातक' (अर्थात् जिसने 'स्नान' कर लिया है) कहलाता है। अब वह दूसरे आश्रम अर्थात् गृहस्थाश्रम में प्रवेश पाने का अधिकारी एवं उसके योग्य है। विद्याध्ययन समाप्त होने पर अन्त में विद्यार्थी अपने गुरु जो दक्षिणा देकर घर वापस जाता है जोकि इस बात का द्योतक है कि व्यक्ति ने धर्म से सम्बन्धित अपने जीवन का प्रथम स्तर पार कर लिया है और अब वह द्वितीय स्तर में पदार्पण करने जा रहा है। गुरु से विदा लेकर घर वापस आने के संस्कार को 'समवर्तन' कहते हैं। इस प्रकार प्रत्येक आश्रम के आरम्भ और अन्त में एक विशेष कृत्य या संस्कार होता था।

(2) गृहस्थाश्रम ✓ (Grihasthashrama)

ब्रह्मचर्याश्रम में आवश्यक तैयारी करने के पश्चात् मनुष्य गृहस्थाश्रम में प्रवेश करता था जो शास्त्रकारों की दृष्टि में अन्य सभी आश्रमों से अधिक महत्वपूर्ण तथा अन्य सभी आश्रमों का आधार है। प्रो० हरिदत्त वेदालंकार ने लिखा है कि गौतम (3/1 तथा 3/5) तथा बौधायन धर्मसूत्र (2/6/29, 42-43) का यह मत है कि वास्तव में केवल एक ही आश्रम—गृहस्थाश्रम है; ब्रह्मचर्य इसकी तैयारी मात्र है, वानप्रस्थ और संन्यास गृहस्थ-धर्म की शिक्षा देने वाले एवं जीवन-पालन का निर्देश करने वाले हैं और अनेक वैदिक वचनों के विरोधी होने के कारण अमान्य हैं। बाद में धर्मशास्त्रकारों ने

यद्यपि पिछले दो आश्रमों को अस्वीकार नहीं किया किन्तु वे गृहस्थाश्रम की प्रशंसा के गीत गाते नहीं थे। गौतम (3/3) ने इसे अन्य सब आश्रमों का मूल कहा है। प्रायः सभी स्मृतिकार इसे अन्य आश्रमों का आधार बताते हैं। मनु ने कहा, जैसे सब जन्तु वायु के सहारे जीते हैं, वैसे ही सब प्राणी गृहस्थ-आश्रम से जीवन धारण करते हैं (3/77); जैसे सब नदी-नद समुद्र में जाकर स्थिर होते हैं वैसे तीनों आश्रम गृहस्थ में ही स्थिति प्राप्त करते हैं; उसी की सहायता से जीवित हैं (मनु०, 6/90), अन्य आश्रमों का भरण-पोषण करने के कारण यह आश्रम ज्येष्ठ एवं श्रेष्ठ है। व्यासस्मृति (4/2-4, 13-14) में गृहस्थ-आश्रम को सर्वश्रेष्ठ बताते हुए यह भी कहा गया है कि जितेन्द्रिय होकर गृहस्थ-धर्म का पालन करने वाले को घर में ही कुरुक्षेत्र, नैमिषारण्य, हरिद्वार और केदारतीर्थ मिल जाते हैं जिनकी यात्रा कर वह सब पापों से मुक्त हो जाता है।

प्रो० हरिदत्त ने इस सम्बन्ध में आगे लिखा है कि महाभारत में गृहस्थाश्रम-गौरवगान (12/270/6-7) अन्य शास्त्रों की अपेक्षा अधिक है। शांतिपर्व में कहा गया है कि जैसे माता के आधार से सब प्राणी जीते हैं, वैसे ही अन्य आश्रमों की स्थिति गृहस्थ के आधार पर है। गृहस्थ के लिए मोक्ष सम्भव न मानने वालों की महाभारत में निन्दा की गई है (270/10-11)। अन्यत्र अन्य तीन आश्रमों की तुलना में गृहस्थ का पलड़ा बराबर बताया गया है (शा० पा०, 12/12)। कुछ स्थानों में गृहस्थ-धर्म की उपेक्षा करके संन्यासी बनने वालों की खूब निन्दा की गई है। संन्यासी को पापिष्ठा वृत्ति कहा गया है (12/8/7)। अकेला आदमी पुत्र, पौत्रों, देवताओं, ऋषियों, अतिथियों का भ्रमण न करता हुआ जंगल में सुख से जी सकता है परन्तु वह न तो मृग-स्वर्ग, न सुवर-स्वर्ग न पक्षी-स्वर्ग को प्राप्त करता है। यदि संन्यास से किसी राजा को सिद्धि पाना सम्भव है तो पहाड़ और पेड़ तो तुरन्त ही सिद्धि पा लें, क्योंकि वे नित्य निरुपद्रवी संन्यासी और निरन्तर ब्रह्मचारी के समान होते हैं (12/10/22-25)।

डॉ० त्रिवेदी के अनुसार शास्त्रकारों द्वारा गृहस्थाश्रम का इतना अधिक गुणगान इसलिये किया गया है क्योंकि इसीमें प्रायः देव-ऋण, ऋषि-ऋण और पितृ-ऋण के चुकाने की व्यवस्था होती थी और ब्रह्मचर्य तथा संन्यास-आश्रम वालों का भ्रम्यजीवन भी इसी आश्रम पर बहुत-कुछ निर्भर था। सपत्नीक ही यज्ञादि कर तथा इस प्रकार देवताओं को प्रसन्न कर मनुष्य गृहस्थाश्रम में देव-ऋण से मुक्त होता था तथा सन्तानोत्पत्ति कर वंश-परम्परा को आगे बढ़ा तथा श्राद्ध के अवसर पर पितरों को पिण्ड व तर्पण देकर वह पितृ-ऋण से मुक्त होता था। ब्रह्मचर्य-आश्रम के अधीन पठनपाठन तथा ज्ञान की श्रीवृद्धि कर और पुनः उसका वातप्रस्थ तथा संन्यास-आश्रम में उपयोग कर मनुष्य ऋषि-ऋण से मुक्त माना जाता था। चूँकि अन्य तीन आश्रमों के व्यक्ति गृहस्थ द्वारा पुनीत ज्ञान एवं उत्तम भोजन प्राप्त करते थे, इसलिये गृहस्थाश्रम को सर्वोत्तम आश्रम तथा अन्य सभी आश्रमों का आधार-स्तम्भ माना गया था।

गृहस्थाश्रम में ही 'मर्यों मिथुना यजत्रः' इस वैदिक सिद्धान्त के आधार पर सपत्नीक मनुष्य पंच महायज्ञ तथा पाकयज्ञ, हविर्यज्ञ एवं सोमयज्ञ आदि करता था। पंच महायज्ञ (ब्रह्मयज्ञ, पितृयज्ञ, देवयज्ञ, भूतयज्ञ और नृयज्ञ) में से प्रथम तीन यज्ञ क्रमशः उपर्युक्त तीन ऋणों (ऋषि-ऋण, पितृ-ऋण तथा देव-ऋण) से उऋण होने के ही साधन हैं धार्मिक आधार पर निश्चित प्रत्येक पुरुष के अपने जीवन में इहलोक तथा परलोक से सम्बन्धित कुछ अनैतिक कर्तव्य होते हैं। मनु इन्हें 'यज्ञ' की संज्ञा देकर सामाजिक संहिता या नियमों के क्षेत्र के अन्तर्गत लाये हैं अर्थात् इन नैतिक कर्तव्यों

को ही मनु ने 'यज्ञ' कहा है। ये संख्या में पाँच हैं—ब्रह्मयज्ञ, पितृयज्ञ, देवयज्ञ, भूतयज्ञ और नृयज्ञ। मनुस्मृति के अनुसार ब्रह्मयज्ञ को पठन-पाठन या वेदाध्ययन व वेदमन्त्रों के उच्चारण द्वारा, पितृयज्ञ को पितरों के तर्पण या श्राद्ध द्वारा, देवयज्ञ को देवताओं को अग्नि-आहुति-बलि या अन्य प्रकार के पदार्थ समर्पित करके, भूतयज्ञ को प्रेतात्माओं को बलि तथा भोजन, जानवरों, कीड़े-मकोड़ों, अपाहिज मनुष्यों और अस्पृश्य जातियों को भोजन देकर तथा नृयज्ञ को आतिथ्य-सत्कार द्वारा सम्पन्न किया जा सकता है। इन सब यज्ञों को गृहस्थाश्रम में ही पत्नी, पुत्र आदि की सहायता से सुसम्पन्न किया जा सकता है। इसलिये भी यह आश्रम सर्वोत्तम है क्योंकि इन यज्ञों को विधिवत् सुसम्पन्न करने वाले व्यक्ति का केवल वर्तमान जीवन ही सुखी व समृद्धि-शाली नहीं होता बल्कि वह अपार पुण्य का भागीदार बनकर परमगति को प्राप्त होता है।

गृहस्थाश्रम के महत्व को और भी स्पष्टतः समझने के लिये उपर्युक्त पंच महा-यज्ञों के बारे में और अधिक विस्तारपूर्वक विवेचन आवश्यक है। सबसे पहला यज्ञ ब्रह्मयज्ञ है। इसका उद्देश्य उन ऋषियों के प्रति श्रद्धा व्यक्त करना है जिन्होंने महत्वपूर्ण शास्त्र लिखे हैं। यह यज्ञ पठन-पाठन, वेदाध्ययन या वेदमन्त्रों के उच्चारण के द्वारा पूरा किया जाता था। यह प्रत्येक व्यक्ति का कर्त्तव्य समझा जाता था कि वह केवल वेदों का अध्ययन ही न करे बल्कि उनको मौखिक याद रखने का भी प्रयत्न करे। वेदाध्ययन जीवन का ऋण समझा जाता था जिसका भुगतान प्रत्येक व्यक्ति को अपने जीवन में (जिसमें गृहस्थाश्रम भी सम्मिलित है) करना पड़ता था क्योंकि इसके द्वारा साहित्यिक धरोहर को एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी तक हस्तान्तरित करके उसे निरन्तर गतिशील बनाये रखना सम्भव होता था और साथ ही उससे भावी पीढ़ी को निरन्तर उत्साह और जीवन के उचित मार्ग के विषय में सतत ज्ञान प्राप्त होता रहता था।

दूसरा यज्ञ पितृयज्ञ कहलाता है। यह विश्वास किया जाता है कि प्रत्येक व्यक्ति पर उसके पितरों का भी ऋण होता है और इस ऋण को पितृयज्ञ द्वारा पूरा किया जाना चाहिए। यह यज्ञ श्राद्ध के अवसर पर पितरों को तर्पण, पिण्ड आदि देने के द्वारा किया जाता है। तर्पण करने या पिण्डदान करने का अधिकार मुख्य रूप से पुत्र का ही होता है और पुत्र प्राप्ति के लिए व्यक्ति का गृहस्थाश्रम में प्रवेश अथवा विवाह आवश्यक है। अतः पितृ-ऋण को चुकाने के लिये गृहस्थाश्रम का महत्व वास्तव में अत्यधिक है क्योंकि पितृ-ऋण से उच्छ्रित होने का और कोई दूसरा उपाय नहीं है। ब्रह्मयज्ञ द्वारा ऋषि-ऋण को पूरा करने का काम तो ब्रह्मचर्य-आश्रम में भी चलता है, पर पितृयज्ञ का काम गृहस्थाश्रम में प्रवेश किए बिना सम्पन्न नहीं किया जा सकता।

तीसरा यज्ञ देवयज्ञ कहलाता है, देवयज्ञ देवताओं को बलि और अग्नि की आहुति देकर पूरा किया जाता है। यह विश्वास किया जाता है कि मनुष्य के पास जो कुछ भी है वह देवताओं की कृपा से ही सम्भव हुआ है। इसीलिये इस विषय में वह उन देवताओं का आभारी या ऋणी है। अतः प्रत्येक व्यक्ति का यह कर्त्तव्य हो जाता है कि उसके पास जो कुछ भी है उसमें से कुछ चीजों को देवताओं को समर्पित करके अपनी कृतज्ञता को प्रकट करे। देवताओं को कोई वस्तु बलि के रूप में या अग्नि में आहुति देकर समर्पित की जा सकती है। आहुति जनकल्याण के दृष्टिकोण से भी महत्वपूर्ण है। कहा जाता है कि अग्नि में समर्पित आहुति सूर्य को प्राप्त होती है। इससे सूर्य का तेज या शक्ति बढ़ती है। उस तेज से समुद्र, नदी आदि का पानी वाष्प

बनकर बादल में परिणत होता है। बादलों से वर्षा होती है और वर्षा में अन्न तथा अन्य वनस्पति उगते हैं और इन अन्नादि से मानव-जीवन सम्भव होता है। इस प्रकार गृहस्थ द्वारा गृह-अग्नि में समर्पित बलि या आहुति देवताओं को प्राप्त होती है और उससे मानव का अस्तित्व बना रहता है। मनु ने अग्नि-होत्र या अग्नि में दी गई आहुतियों की उपर्युक्त महिमा को इस प्रकार प्रस्तुत किया है—अग्नि में दी गई आहुति सूर्य को सम्यक् प्रकार से प्राप्त होती है, इस का रस सूर्य से वर्षा के रूप में बरसता है, वृष्टि से अन्न तथा अन्न से प्रजा का पालन होता है। अतः देवकर्म या अग्निहोत्र में लगा गृहस्थी इस चराचर जगत् को धारण करता है (3/75-76)। इस दृष्टि से देव-यज्ञ का महत्व परिवार के लिये ही नहीं बल्कि सम्पूर्ण मानव-समाज के लिये अत्यधिक है। पर इस यज्ञ को करने के लिये पत्नी की भी आवश्यकता होती है और इसीलिये प्रत्येक पुरुष के लिए विवाह करना या गृहस्थाश्रम में प्रवेश करना अनिवार्य है क्योंकि इस आश्रम में निवास करते हुए पत्नी की सहायता से ही देवयज्ञ करना या देव-उद्धार होना सम्भव होता है।

चौथा यज्ञ भूतयज्ञ कहलाता है। उपर्युक्त धार्मिक व सामाजिक कर्तव्यों के अतिरिक्त मनु ने गृहस्थी के कल्याण के लिये व उसे हानिकारक प्रेतात्माओं के प्रकोप से बचने के लिए गृह के ऊपर भ्रमण करने वाली प्रेतात्माओं की तुष्टि के हेतु उन्हें भी भोज्य सामग्री या 'बलि' देने का निर्देश दिया है। पर इससे यह न समझना चाहिए कि केवल प्रेतात्माओं को 'बलि' देने से ही भूतयज्ञ पूरा हो जाता है। डॉ० शर्मा के अनुसार 'भूत' शब्द प्रेतात्माओं के अतिरिक्त अन्य सभी प्राणियों की ओर संकेत करता है। इसीलिये भूतयज्ञ प्रेतात्माओं, जानवरों, कीड़े-मकोड़ों, अपाहिज मनुष्यों और अस्पृश्य जातियों को भोजन देकर पूरा किया जाता था। मनु ने इस यज्ञ की विधि को इस प्रकार बताया है 'बलि' अग्नि में न डालकर विभिन्न दिशाओं में विभिन्न जीवों और प्रेतात्माओं की तुष्टि हेतु हाथ से साफ की हुई तथा पानी छिड़ककर पवित्र की हुई भूमि पर रख दी जाती है। इन्द्र, यम, वरुण आदि देवताओं के अतिरिक्त दिवाचर और निशाचारी भूतों और पितरों को यह बलि देने के बाद गृह-स्वामी एक कोने में कुत्ते, शूद्र, चाण्डाल व पूर्वजन्म के पापों द्वारा दण्डित अपाहिजों, कीवों तथा कीट-पतंग आदि के भक्षणार्थ बलि या भोज्य सामग्री रखता था। डॉ० कपाडिया (Kapa-dia) के अनुसार समस्त सूक्ष्मातिसूक्ष्म जीवधारी प्राणियों के प्रति हिन्दू आचारशास्त्र का यह दृष्टिकोण इस बात का उत्तम उदाहरण है कि मानवता का क्षेत्र वास्तव में अत्यधिक विस्तृत है।⁶ प्रो० हरिदत्त ने भी लिखा है कि इन बलियों का उद्देश्य सबके साथ मिलकर और सबको मिलाकर खाने की भावना है। ऋग्वेद के समय से भारतीय विचारधारा में स्वार्थपूर्वक अकेले भोजन करना पाप समझा गया है। गीता में अपने लिए अन्न पकाने वालों को पाप का भोगी कहा गया है। भूतयज्ञ त्यागपूर्वक भोग के आदर्श का प्रतीक है। गृहस्थ-धर्म का आदर्श अपने परिवार को ही खिलाना नहीं; किन्तु अपने भोजन में से सब प्राणियों तथा चाण्डालादि पतित और कोढ़ आदि भयंकर रोगों से ग्रस्त व्यक्तियों तक के लिये भी कुछ हिस्सा निकालकर ही खाना योग्य है। यह काम उच्चतर मानवता के दृष्टिकोण से तथा इहलोक व परलोक को समुन्नत बनाने के लिये आवश्यक है जिन्हें कि गृहस्थाश्रम में निवास करते हुए ही किया जा सकता है।

6. "This attitude towards all living creatures, however lowly they might be on the biological plane, exemplified a wider range of humanity that had come to be conceived in Hindu ethics."—*Ibid.*, p. 33.

पांचवाँ और अन्तिम यज्ञ नृयज्ञ या अतिथि-यज्ञ कहलाता था और इसके अन्तर्गत अतिथि-सत्कार आता था। अतिथि-सत्कार भी एक सामाजिक नैतिक व धार्मिक पवित्र कृत्य माना जाता था, क्योंकि अतिथि को भी माता-पिता एवं गुरु की भाँति ईश्वरतुल्य स्वीकार किया जाता था। अतिथि ऐसे व्यक्ति को कहते हैं जिसके आने की कोई भी तिथि निश्चित न हो या जो बिना किसी पूर्वसूचना के अचानक किसी गृहस्थी में पधारे। ऐसे व्यक्तियों का साधनानुसार आदर-सत्कार करना, उसे ठहरने के लिए जगह, भोजन आदि देना प्रत्येक गृहस्थी का अनिवार्य एवं परम कर्तव्य समझा जाता था। प्रो० हरिदत्त ने लिखा है कि वैदिक युग में प्रत्येक स्नातक को समावर्तन के समय यह उपदेश दिया जाता था कि 'अतिथिदेवो भव' (तैत्तिरीय उपनिषद्, 2/11/2/2)। अथर्ववेद में अतिथि-सेवा की महिमा का वर्णन करते हुए यह कहा गया है कि अतिथि गृहस्थ का अन्न नहीं खाता, बल्कि उसके पापों का भक्षण कर लेता है (9/6/25-26)। घर में अतिथि के एक रात रहने से पृथ्वी पर ही स्वर्ग-लोक, दो रात रहने से अन्तरिक्ष के पुण्य-लोक, तीन रात वास करने से द्युलोक और चार रात रहने से गृहस्थ अत्यन्त पुण्यवान् लोक प्राप्त करता है, और यदि अतिथि घर में अनेक रात रह जाये तो गृहस्थ को अपरिमित पुण्य वाले लोक मिलते हैं (अथर्ववेद, 15/1-3/110)। अतिथि-सेवा इतनी महत्वपूर्ण है कि यदि अग्निहोत्र के समय अतिथि उपस्थित हो तो उसकी आज्ञा लेकर ही यज्ञ करना चाहिये (अथर्ववेद, 15/12)। मनु ने अतिथि-सेवा को धन, आयु और स्वर्ग देने वाला कहा है (मनु०, 3/106)। विष्णु धर्मसूत्र के अनुसार जिस घर से अतिथि निराश होकर लौट जाता है, वह उसे अपने सब पाप दे देता है और उसके सब पुण्य ले लेता है (67/32)। पराशर स्मृति के अनुसार मित्र हो या शत्रु, मूर्ख हो या पण्डित, वैश्वदेव के समय आने वाला अतिथि स्वर्ग को लाने वाला होता है। महाभारत में घर आए अतिथि के सत्कार के लिये प्राण-दान तथा पत्नी-दान तक के अनेक आख्यान कहे गए हैं।

अतिथि-सत्कार के प्रति उपर्युक्त भावना का एक प्रदान कारण यह है कि हिंदुओं में यह विश्वास किया जाता है कि पूज्य योगी, सिद्ध-पुरुष, यहाँ तक कि स्वयं भगवान् तक भी अतिथि में रूप में घर पर पधार सकते हैं। इसलिये उनका यथाशक्ति आदर-सत्कार होना चाहिये। साथ ही इस भावना के कारण समाज के लिये उपयोगी व्यक्तियों जैसे ब्रह्मचारी, वेद के पंडित, संन्यासी आदि का भरण-पोषण सम्भव हो जाता था। परन्तु प्राणी सत्त्व के प्रति दया और अनुकम्पा की भावना ही अतिथि-सत्कार का सर्वप्रमुख कारण था। यह निःसन्देह मानवता के उच्चतर आदर्शों को प्रस्तुत करता है, फिर भी इसके अन्तर्गत यह व्यवस्था भी-सी लगती है कि अतिथि के प्रति किया गया सत्कार चारों वर्णों के लिये अलग-अलग था। मनु के अनुसार यदि एक ब्राह्मण के घर एक क्षत्रिय या वैश्य या शूद्र आता है तो वह उस ब्राह्मण-परिवार के लिये अतिथि नहीं है। उस ब्राह्मण-परिवार में एक क्षत्रिय के अतिथि रूप में आने से वह उसे अपनी रूचि के अनुसार ब्राह्मण-भोजन के उपरान्त भोजन दे सकता है, एक वैश्य या शूद्र के अतिथि के रूप में आने से वह (ब्राह्मण गृहस्थ) अपनी दया-भाव का प्रदर्शन करते हुए उसे अपने नौकरों के साथ भोजन करने की आज्ञा दे सकता है। श्री कपाडिया के अनुसार, "वर्ण-व्यवस्था के बढ़ते हुए संस्तरण के दबाव के कारण यह भेदभावपूर्ण व्यवहार अतिथियों के प्रति थोपा गया था। परन्तु इस भेदभाव का प्रभाव भिन्न-भिन्न वर्णों के आपसी सम्बन्ध पर अत्यन्त कष्टदायक सिद्ध हुआ।" सामाजिक

व्यवहार के ऐसे भेदभावपूर्ण नियम मानवीय महत्ता और मूल्यों को नीचे गिराते हैं। परिणामतः आतिथ्य-सत्कार के सम्पूर्ण विचार की, जिसे 'यज्ञ' कहकर सम्बोधित किया गया और जिसमें मानवीय व्यक्तित्व के प्रति सम्मान की भावना निहित है, समस्त विशिष्टता व आकर्षण नष्ट हो जाता है।”

प्रो० हरिदत्त वेदालंकार ने लिखा है कि पंच महायज्ञों का मूल उद्देश्य और वास्तविक प्रयोजन प्रतिदिन भगवान् के प्रति भक्ति और स्वाध्याय, वैदिक साहित्य का सुजन करने वाले ऋषियों के प्रति श्रद्धा, पितरों का स्मरण, सम्पूर्ण सृष्टि के लिये तथा मनुष्य मात्र के प्रति उदारता, दया और अनुकम्पा के भाव प्रदर्शित करना है। अग्नि-ष्येस आदि वैदिक यज्ञ बहुत व्यय-साध्य और आङ्गम्वरपूर्ण थे, वे पुरोहितों द्वारा कराए जाते थे, उनका उद्देश्य स्वर्ग-प्राप्ति था। परन्तु पंच महायज्ञ बहुत सरल और संक्षिप्त थे। उन्हें प्रत्येक गृहस्थ स्वयं करता था और इसका प्रयोजन ईश्वर, ऋषियों, पितरों तथा सभी सांसारिक प्राणियों के प्रति अपने कर्त्तव्यों से उद्धृष्ट होना था। हिंदू शास्त्रकारों ने इसलिये उपरोक्त सामाजिक नैतिक कर्त्तव्यों को बहुत महत्ता दी और यह कहा कि पंच महायज्ञों से मानव-शरीर स्वर्थादि मलिनताओं से मुक्त होकर बाह्य कार्यों के उपयुक्त हो जाता है (मनु०, १/२८)। कुछ धर्मशास्त्रों में पंच महायज्ञों का उद्देश्य नाना प्रकार की हिंसा से मुक्त होना बताया गया है। मनु के मत में गृहस्थ के निवासस्थल में चूल्हा-चक्की, झाड़ू, ऊखल-मसल और जल का घड़ा-ये पाँच वस्तुएँ कसाईखाने की भाँति हिंसा के स्थान हैं; इन पाँचों से होने वाले पापों के लिये ऋषियों ने प्रतिदिन महायज्ञों की व्यवस्था की है। अन्य शास्त्रकारों ने भी इसका समर्थन किया है।

गृहस्थाश्रम में रहते हुए एक गृहस्थ को अन्य भी अनेक प्रकार के कार्यों को करना पड़ता है और उनमें से सबसे प्रमुख कार्य गृहस्थ पर निर्भर रहने वाले व्यक्तियों का पालन-पोषण करना है। माता-पिता, गुरु, पत्नी, सन्तान, शरण में आये हुए असहाय व्यक्ति, अतिथि आदि का भरण-पोषण करना प्रत्येक गृहस्थ का पवित्र कर्त्तव्य है। इस कर्त्तव्य को न निभाने पर व्यक्ति को नरक में जाना पड़ता है।

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि व्यक्तिगत, सामाजिक, आर्थिक, नैतिक तथा धार्मिक सभी दृष्टिकोणों से गृहस्थाश्रम का महत्व वास्तव में अत्यधिक है। एक गृहस्थ पर पंच महायज्ञ तथा अन्य कर्त्तव्यों को इसलिये लादा गया है क्योंकि वह अपने परिवार के अन्य सदस्यों का भरण-पोषण करते हुये मनुष्य मात्र के प्रति अपने कर्त्तव्यों का पालन करता रहे और धीरे-धीरे पंच महायज्ञ तथा अन्य धार्मिक आचरणों के माध्यम से धर्म संग्रह करता रहे। ये धर्म ही इसे उसके इहलोक तथा परलोक के जीवन की उन्नति करने में सहायक सिद्ध होंगे। मनु ने लिखा है कि सहायता से ही दुस्तर नरक से भी निस्तार होता है, अतः परलोक में सहायता के लिये धर्म का सदैव धीरे-धीरे

1. "This discriminative behaviour towards guests was obviously imposed by the growing pressure of the stratification of the *varṇas*, but it was most painful in its repercussions on the social relations between the different groups. But such inhibiting rules of social intercourse minimize human dignity and worth, and consequently the whole concept of hospitality as a *yajna* with its implication of respect for human personality lose much for its significance and glamour."—*Ibid.*, p. 33.

संचय करना चाहिये। आदर्श यह है कि गृहस्थाश्रम केवल सुख, आनन्द और यौन-तृप्ति के लिये ही नहीं है; इसका तो लक्ष्य पंच महायज्ञ तथा अन्य आवश्यक कर्तव्यों के माध्यम से धीरे-धीरे धर्म का संग्रह करना है। गृहस्थाश्रम में ही व्यक्ति जीवन के तीनों ऋणों से उच्छ्रृण्व हो सकता है और उसे मोक्ष भी मिल सकता है; परन्तु इन ऋणों का भुगतान किये बिना ही मोक्ष के लिये संन्यासी होने वाला व्यक्ति नरकगामी होता है। गृहस्थाश्रम के साथ अनेक सामाजिक, नैतिक तथा धार्मिक कर्तव्य जुड़े हैं। इसलिये इस आश्रम का आधार धर्म और पवित्रता है; और इसीलिये जो इस आश्रम के कर्तव्यों को उचित ढंग से नहीं निभाता है वह मोक्ष का अधिकारी भी नहीं होता है। अतः मानव-जीवन के चरम उद्देश्य मोक्ष की प्राप्ति के लिये गृहस्थाश्रम के अन्तर्गत पंच महायज्ञों के सिद्धांतों को सम्मिलित करके तथा समूची सृष्टि के लिये व मनुष्य मात्र के प्रति दया, उदारता व कर्तव्य-बोध को सम्मिलित करके हिन्दू शास्त्रकारों ने सामाजिक-नैतिक कर्तव्य के क्षेत्र को विस्तृत कर दिया है। यह कहा गया है कि विवाह का प्रमुख उद्देश्य यौन-सुख नहीं बल्कि धर्म और प्रजा (सन्तति) की प्राप्ति है। ये शास्त्र मानव को यह स्मरण कराते हैं कि उसे स्वार्थ की अपेक्षा परमार्थ के लिये अधिक जागरूक रहना है। पारिवारिक धन या सम्पत्ति का उपभोग केवल वही न करे बल्कि यह समझे कि दूसरों का भी उस पर कुछ न कुछ अधिकार है। परिवार से असंबन्धित व्यक्तियों यहाँ तक कि जानवर, पशु-पक्षी, कीट-पतंग आदि का भी परिवार पर कितना अधिकार है इसको गृहस्थाश्रम से सम्बन्धित नियमों को प्रतिपादित करने वाले शास्त्रकारों ने स्पष्टतः उल्लेख कर दिया है जिससे कि व्यक्ति को यह स्पष्ट पता चल जाए कि परिवार में रहते हुए भी परिवार का कुछ भी उसका अपना नहीं है। इस निःस्वार्थ भाव से सामाजिक कर्तव्यों को निभाने का निर्देश इसीलिये दिया गया है क्योंकि इसके द्वारा व्यक्ति की आत्मशुद्धि सम्भव है और उस शुद्धिकरण से केवल उसका व्यक्तिगत जीवन ही नहीं बल्कि पारिवारिक तथा सम्पूर्ण सामाजिक जीवन भी पूर्णरूप से सुखी हो। गृहस्थाश्रम के इन नियमों का एक उद्देश्य यह भी था कि इस आश्रम में रहते हुए व्यक्ति का मन व मस्तिष्क वानप्रस्थ के लिये तैयार होता रहे। जब तक पर्याप्त रूप से पारिवारिक जीवन बिताते हुये इन्द्रियाँ सन्तुष्ट नहीं होतीं, विरक्ति की भावना का उदय नहीं होता, धर्म के प्रति मन और मस्तिष्क का झुकाव नहीं बढ़ता, तब तक वानप्रस्थाश्रम में सरलतापूर्वक प्रवेश व्यक्ति केलिये सम्भव न होगा। नैतिक, धार्मिक, सामाजिक और व्यावहारिक आधार पर गृहस्थाश्रम का यही महत्व है।

(3) वानप्रस्थाश्रम (Vanaprasthashrama)

एक व्यक्ति 25 वर्ष तक गृहस्थाश्रम में कर्मार्जन तथा धर्मार्जन कर वानप्रस्थाश्रम में प्रवेश करता था। इस आश्रम में पत्नी के साथ अथवा बिना पत्नी के प्रवेश किया जा सकता था। इस आश्रम में सपत्नीक प्रवेश करने का कारण स्पष्ट ही है। जो व्यक्ति इतने दिनों से परिवार में रह रहा था उसके लिये परिवार के प्रति समस्त मोह को एकदम त्यागना सम्भव नहीं हो सकता, अतः परिवार को पूर्ण रूप से त्यागने के लिये इस आश्रम में व्यक्ति धीरे-धीरे पूर्णतया परिवार को छोड़ने के लिये अपने को तैयार करता है। संसार या परिवार का पूर्ण रूप से परित्याग तो संन्यास-आश्रम में ही होता है; वानप्रस्थाश्रम तो केवल उस परित्याग की तैयारी है, इसलिये वान-

प्रस्थी इन्द्रियजन्य सुखों से दूर हो अपना पवित्र जीवन व्यतीत करता था। निम्न-लिखित विवेचना से यह और भी स्पष्ट हो जाएगा।

वानप्रस्थाश्रम में, जैसा कि इसके नाम से ही स्पष्ट है, व्यक्ति को केवल कुल एवं गृह का ही आश्रय नहीं छोड़ना पड़ता था बल्कि वह गाँव का भी आश्रय छोड़कर जंगल में अपनी कुटिया बनाकर रहता था। मनु का निर्देश यह है कि—

गृहस्थस्तु यदा पश्येद् बलिपलितं मात्मनः ।

अपत्यस्यैव चापत्यं तदारण्यं समाधयेत् ॥

अर्थात् गृहस्थ जब यह देख ले कि शरीर की त्वचा ढीली पड़ गई और सिर के बाल सफेद हो गए, सन्तान की सन्तान हो गई, तब वर-वार का मोह छोड़कर जंगल की राह ले। जंगल में रहते हुए भी वानप्रस्थी निष्कर्मण्य जीवन व्यतीत नहीं करता था। जैसे ब्राह्मण के लिये स्वेच्छापूर्वक निर्धन जीवन व्यतीत करना उसके जीवन का लक्ष्य कहा गया है, वैसे ही वानप्रस्थी के लिये स्वेच्छापूर्वक घर-बार का मोह त्यागकर सादा, सरल, सेवायुक्त तथा पवित्र जीवन व्यतीत करना उसके जीवन का लक्ष्य कहा गया है। अपने सगे-सम्बन्धियों के मोह को त्यागकर जन-साधारण को, समाज के प्रत्येक व्यक्ति को अपना सगा-सम्बन्धी बना लेना और उसी रूप में उनकी सेवा करना वानप्रस्थी के जीवन का लक्ष्य होना चाहिये। इसीलिये कहा गया है कि वानप्रस्थी का उद्देश्य कृति की, कर्म की साधना है। वह जंगल में कर्म छोड़कर नहीं बैठता परन्तु अब तक जो वह सकाम-कर्म करता था उसे छोड़कर अब वह निष्काम-कर्म करने लगता है। मनु के आदर्श के अनुसार वानप्रस्थियों के जंगलों में वन-आश्रम का नाम ही गुरुकुल होता था। इनमें समाज के ब्रह्मचारी या विद्यार्थी आकर निःशुल्क शिक्षा ग्रहण करते थे और उनके चरित्र के निर्माण का सम्पूर्ण उत्तरदायित्व वानप्रस्थी अपने ऊपर ही लेते थे।

वानप्रस्थी अपने परिवार का सदस्य न रहकर सम्पूर्ण समाज का सदस्य बन जाता था तथा अपने समस्त कर्मों के द्वारा समाज का कल्याण करने का प्रयत्न करता था। इन समस्त प्रयत्नों के बीच वानप्रस्थी सत्य की खोज तथा आध्यात्मिक ज्ञान की प्राप्ति में सतत, प्रयत्नशील रहता था। इसके लिये वह सांसारिक आनन्द एवं सुख प्राप्त करने वाली समस्त इन्द्रियों को नियन्त्रित करने का प्रयत्न करता था। वह अपनी क्षुधा की तृप्ति वन में उपलब्ध कन्द, मूल, फल आदि से करता था। वह मांस या अन्य मधुर एवं मीठी चीजों को कभी नहीं छूता था। वह चाहे कितना ही भूखा क्यों न हो, पर अपने गाँव में उगे हुए फल एवं कन्द-मूल को कदापि नहीं छूता था। उसी प्रकार अन्य शारीरिक सुखों को भी वह धीरे-धीरे छोड़ने का प्रयत्न करता था। वह हिरन की खाल या वृक्षों की छाल कपड़े के स्थान पर पहनता था। वह जमीन पर सोता था और घास-फूस से बनी कुटिया में रहता था और अपने लिये भी निवासस्थान का मोह नहीं रखता था। ग्रीष्म ऋतु में भी वह अग्नि के समने बैठकर तपस्या करता था। इस सबका उद्देश्य उसे अपने शरीर के प्रति उदासीन दिखाना था और भविष्य के प्रति जाग्रत रहना था। उन परिस्थितियों में रहते हुये भी उसे पंच महायज्ञों को करते रहना पड़ता था, जैसा कि वह गृहस्थाश्रम में रहते हुए करता था। उसे यज्ञ के लिये पर्याप्त और पूर्ण रूप से आहुति देनी पड़ती थी, वह अपने खाने के लिये जो कुछ भी खाद्य सामग्री एकत्र करता था उसमें से अतिथि-सत्कार के लिये भी उसे सदैव तैयार रहना

पड़ता था। साथ ही उसे अपने समय का सदुपयोग वेदाध्ययन द्वारा करना होता था। इस प्रकार उसे अपने अध्ययन, ध्यान व चिन्तन के द्वारा आत्मा व परमात्मा के तथा इहलोक या परलोक से सम्बन्धित गूढ़ बातों को जानने का प्रयास करना होता था। सत्य और ज्ञान की खोज ही उसके जीवन का उद्देश्य होता था और जन-सेवा उसके जीवन का व्रत। संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि आत्मनियन्त्रण, आत्मीयता, दान तथा समस्त प्राणियों के प्रति दयाभाव रखने के गुण व सदाचारों की आशा वानप्रस्थी से एक संन्यासी के रूप में ही की जाती थी जिससे कि संन्यास-जीवन के लिये वह अपने को पूर्णतया उपयुक्त बना सके। मानवता की यह विस्तृत कल्पना इस तथ्य को स्पष्ट करती है कि सांसारिक सुख आध्यात्मिक सुख से कहीं निम्न श्रेणी का है। जीवन का परम उद्देश्य परमसत्य या परमगति को प्राप्त करना ही है, लौकिक जीवन की अपेक्षा पारलौकिक जीवन अधिक वैशिष्ट्यपूर्ण तथा आकर्षक है।

(4) संन्यासाश्रम

(Sanyasashrama)

उपर्युक्त विधि से अपने को तैयार करने के पश्चात् व्यक्ति अपने जीवन के अन्तिम आश्रम—संन्यासाश्रम में प्रवेश करता था। ऐसी सभी चीजों को त्यागकर, जिनसे कि उसके आध्यात्मिक जीवन में या जीवन के परम लक्ष्य की प्राप्ति में बाधा उत्पन्न होने की सम्भावना हो, एक वानप्रस्थी संन्यास-जीवन को ग्रहण करता था। इस जीवन में उसे सब-कुछ त्याग देना पड़ता था जो अभी तक उसके पास था, यहाँ तक कि अपने सामाजिक नाम तक को भी एक संन्यासी त्याग देता था और संन्यासी के रूप में उसका दूसरा नामकरण होता था। इस अवस्था में उसके सारे सांसारिक बन्धन छूट जाते थे और वह परिव्राजक बन जाता था। अर्थात् संन्यासी वानप्रस्थी की भाँति एक जगह कुटिया बनाकर नहीं रहता था, बल्कि एक स्थान से दूसरे स्थान को घूमता-फिरता था। इसीलिये मनु ने लिखा है—

वनेषु च विहृत्येवं तृतीयं भागमायुषः ।

चतुर्थमायुषो भागं त्यक्त्वा संगान् परिव्रजेत् ॥

अर्थात् आयु के तीसरे भाग को वनों में रहकर साधना में व्यतीत कर चौथे भाग में स्थान तथा सम्बन्ध के सब प्रकार के संगों को तोड़कर परिव्राजक हो जाये। संन्यासी को संसारभर के कल्याण के लिये कार्य करना चाहिये, इसीलिये वह किसी एक जगह पर स्थायी रूप से नहीं रह सकता।

मनु व्यक्ति को गृहस्थाश्रम के बाद एकदम संन्यासाश्रम में प्रवेश करने की आज्ञा नहीं देते हैं। एक व्यक्ति को ब्रह्मचर्य समाप्त करके गृहस्थाश्रम में प्रवेश करना चाहिये। इसके बाद उसे वानप्रस्थाश्रम में और अन्त में संन्यासाश्रम में प्रवेश करना चाहिये; अथवा व्यक्ति ब्रह्मचर्याश्रम के बाद एकदम संन्यास ले सकता है, अथवा गृहस्थाश्रम की अवधि समाप्त होने के बाद संन्यास ले सकता है, परन्तु सर्वोत्तम ढंग तो यही है कि पिछले तीनों आश्रमों को पार करके ही संन्यासाश्रम में प्रवेश किया जाए।

वह व्यक्ति, जो संन्यासाश्रम में प्रवेश कर चुका है, उसे अपने पास कोई वस्तु नहीं रखनी चाहिये, न ही उसे किसी की सहायता पर निर्भर रहना चाहिये। वह एक दिन में केवल एक बार भिक्षा मांग सकता है, जब उसे भिक्षा न मिले तो उसे उदास नहीं होना चाहिये और यदि वह भिक्षा प्राप्त कर लेता है तब भी उसे खुशी-अनुभव

नहीं करनी चाहिये। वास्तव में उसे न जीवन की और न ही मृत्यु की परवाह करनी चाहिये। अपनी इन्द्रियों को नियन्त्रित कर, अपने अन्दर से समस्त प्रकार की घृणा और मोह को दूर फेंककर, समस्त जीवित प्राणियों के लिये हानिरहित रूप में जीवित रहकर संन्यासी अमरत्व अर्थात् मोक्ष प्राप्त करने के लिये योग्य हो जाता है। संन्यासी को कठोर वचन धैर्यपूर्वक सहन करने चाहियें, उसे किसी का अपमान नहीं करना चाहिये तथा उसे आत्म-सुख के लिये किसी से शत्रुता नहीं करनी चाहिये। साथ ही संन्यासी को क्रोधी और किसी दूसरे मनुष्य के प्रति क्रोध नहीं करना चाहिये, उसे वरदान देना चाहिये—चाहे उसे किसी ने कितने ही शाप क्यों न दिए हों। उसी प्रकार गृह-चिन्ता द्वारा उसे आत्मा और परमात्मा के गूढ़ रहस्यों को खोज निकालना चाहिये और प्रत्येक जीव में ईश्वर की उपस्थिति समझनी चाहिये। यही उसके लिये मुक्ति का पथ है।

आश्रम-व्यवस्था का महत्त्व

(Importance of Ashrama System)

आश्रम-व्यवस्था का महत्त्व उपर्युक्त विवेचना से स्वतः ही स्पष्ट हो जाता है। फिर भी श्री परमार ने इसे अपने शब्दों में इस प्रकार वक्त किया है कि व्यक्ति के जीवन में चार अवस्थायें क्रमशः आती हैं—बाल्यावस्था, युवावस्था, प्रौढ़ावस्था और बुद्धावस्था। बाल्यावस्था में व्यक्ति में अनन्त शक्ति होती है, किन्तु अनुभव का अभाव होता है; युवावस्था में सृजन की शक्ति होती है किन्तु अल्हड़पन रहता है; प्रौढ़ावस्था में अनुभव रहता है, किन्तु शक्ति का ह्रास प्रारम्भ हो जाता है। व्यक्ति स्वाभाविक रूप से अन्तर्मुखी हो उठता है। अतएव जीवन को समुचित रूप से व्यवस्थित करने के लिये इस बात की आवश्यकता रहती है कि बालक की अक्षत शक्ति को अनुभवी हाथों द्वारा यथोचित ज्ञान प्रदान करके उचित दिशा में मोड़ा जाए; युवा के अल्हड़पन को संयमित करके स्वस्थ सृजन की ओर प्रेरित किया जाए; प्रौढ़ के शक्ति-ह्रास को संयम के कठोर बन्धनों से रोककर उसके अनुभव का समाज को यथेष्ट लाभ दिलाया जाए; बुद्ध के जर्जर शरीर में आत्म-शक्ति का वह स्रोत प्रस्फुटित किया जाये जिसमें निमज्जित होकर समस्त मानव शान्ति का अनुभव कर सकें। भारतीय समाज-दृष्टियों ने जीवन की इन्हीं अनिवार्य आवश्यकता की वैज्ञानिक व्यवस्था को आश्रम-व्यवस्था के रूप में प्रस्तुत किया था। ब्रह्मचर्याश्रम के अन्तर्गत बालक समस्त सांसारिक आकर्षणों से दूर रहकर गुरु के आश्रम में, इन्द्रियों पर कठोर नियन्त्रण रखता हुआ ज्ञानार्जन करता है; गृहस्थाश्रम में देव-ऋण व ऋषि-ऋण के साथ-साथ पितृ-ऋण से उन्मूढ होने के लिये अर्थात् सृजन के लिये यानी कहने का अभिप्राय यह है कि स्त्री के गर्भ में पुत्र के रूप में व्यक्ति स्वयं उत्पन्न होने के लिये प्रेरित होता है; वानप्रस्थ में व्यक्ति पुनः, इन्द्रियों पर नियन्त्रण रखने का अभ्यास करते हुये एक ओर अपनी घटती हुई शक्ति को स्थिर रखने का अभ्यास करता है; और दूसरी ओर संचित अनुभव को उपदेश और अध्ययन द्वारा समाज को प्रदान करता है; और अन्त में संन्यासाश्रम में ऐन्द्रिय दृष्टि से पूर्ण संयमित व्यक्ति उस मोक्ष की साधना में लग जाता है जो कि उसके जीवन व आत्मा को समुन्नत बना उन्हें उसके परम प्राप्य और परम अधिगन्तव्य 'पद' पर पहुँचाने में सहायक होता है। आश्रम-व्यवस्था का यही व्यावहारिक महत्त्व है।

कुछ लोगों का कहना है कि भारतीय दृष्टिकोण संकीर्ण तथा स्वार्थपूर्ण है और वह इस अर्थ में कि यहाँ लोग अपनी मुक्ति या मोक्ष-प्राप्ति के लिये जंगल में चले जाते हैं और इस प्रकार सम्पूर्ण समाज उनकी सेवाओं से वंचित हो जाता है। परन्तु यह विचार गलत है और ऐसा वे लोग ही कहते हैं जोकि भारत और भारतवासियों के बारे में कुछ भी वास्तविक ज्ञान नहीं रखते। आश्रम-व्यवस्था परमार्थ की ही व्यवस्था है। ब्रह्मर्चाश्रम में बालक का दृष्टिकोण अपने ऊपर होता है। वह पढ़ता-लिखता, खाता-पीता, सोता और अपने आत्मा, मन व शरीर को बनाता है। पर इसके बाद ही वह गृहस्थाश्रम में प्रवेश करता है और उसी के साथ-साथ अपने लिये नहीं बल्कि दूसरों के लिये जीना सीखता है, दूसरों को खिलाकर तब कहीं खुद खाता है। उसके भोजन में केवल उसके परिवार के लोगों का ही हिस्सा नहीं है, बल्कि पतित, रोगी, पशु-पक्षी, कीट-पतंग तक का हिस्सा है। पंच महायज्ञ को प्रत्येक गृहस्थी का प्रधान एवं आवश्यक कर्त्तव्य समझा जाना इसी बात का द्योतक है। वानप्रस्थाश्रम परमार्थता की उच्चतर अवस्था है। इस आश्रम में निवास करते हुए व्यक्ति पंच महायज्ञों को तो करता ही है, साथ ही उपदेश और अध्यापन के माध्यम से अपने संचित अनुभव द्वारा समाज की सेवा करता है। उसकी कुटिया 'गुरुकुल' होती है जहाँ समाज की भावी पीढ़ी के व्यक्तित्व व चरित्र-निर्माण का सम्पूर्ण दायित्व वानप्रस्थी अपने ऊपर लेता है। सामाजिक दृष्टिकोण से इस सेवा का महत्व पृथक् रूप से समझाने की आवश्यकता नहीं है। गृहस्थाश्रम में रहते हुए भूतयज्ञ व अतिथियज्ञ के माध्यम से व्यक्ति रोगी, अपाहिज, पतित समाज के लिये उपयोगी कार्य करने वालों का भरण-पोषण कर पारिवारिक आधार पर सामाजिक सुरक्षा की जो व्यवस्था करता है और उसके द्वारा समाज की जो सेवा गृहस्थी करता है उसका महत्व भी जिस प्रकार अत्यधिक है, उसी प्रकार भावी पीढ़ी को बल-वीर्य-ज्ञान का यथोचित अर्जन करने में सहायता करके जो सेवा वानप्रस्थी करता है उसका भी महत्व वास्तव में कम नहीं है। साथ ही वानप्रस्थी गृहस्थी के लिये निर्देशक का काम करता है। वानप्रस्थी के परामर्श व अनुभव से लाभ उठाकर गृहस्थी लोग अपनी समस्याओं का हल कर सकते हैं। अन्त में वानप्रस्थी संन्यासी बनता था केवल अपने मोक्ष के लिये नहीं अपितु संसार के सभी लोगों को मोक्ष दिलाने के लिये। संन्यासी वास्तव में कौन होता है? संन्यासी वह है जो कोढ़ियों और अपाहिजों को देखकर अपने शरीर के कपड़े से उनकी मरहम पट्टी करता है, संन्यासी वह है, जो रोती-कांपती विधवाओं के साथ बैठकर उनके आँसुओं के साथ खुद भी आँसू बहाता है, संन्यासी वह जो लंगड़े-बूढ़ों को देखकर उन्हें अपने हाथ का सहारा देता है—संसार के बोझ को अपना बोझ, संसार के दुःख को अपना दुःख सनझकर चिन्ता करने वाला व्यक्ति ही संन्यासी कहलाने योग्य है। जो संन्यासी समाज कल्याण, समाज-सेवा व विश्व-प्रेम के आदर्शों से अनुप्रेरित नहीं है, वह संन्यासी भी नहीं है। 'मोक्ष' का अर्थ अपने लिये स्वर्ग की फिन्ता करना नहीं है बल्कि प्राणी मात्र के जीवन व आत्मा को समुन्नत करने के तरीकों की खोज में परमगति को प्राप्त करना है। आदर्श यही है यद्यपि आज उसका रूप विकृत हो गया है।

अतः स्पष्ट है कि प्रत्येक आश्रम का केवल एक व्यावहारिक पक्ष ही नहीं बल्कि सामाजिक उपयोगितामूलक पक्ष भी है। इन सामाजिक उपयोगिताओं को ध्यान में रखते हुए ही आश्रम-व्यवस्था का विकास नैतिक व धार्मिक आधारों पर सुदृढ़ बनाकर किया गया था।

आश्रम-व्यवस्था और पुरुषार्थ (Ashrama System and Purushartha)

आश्रम-व्यवस्था के सैद्धान्तिक तथा व्यावहारिक स्वरूप के उपर्युक्त विवेचन के आधार पर अब हम आश्रम की योजना में अन्तर्निहित पुरुषार्थ के महत्व एवं स्थान को बूझने का प्रयत्न करेंगे। यह सच है कि हिन्दू-संस्कृति के अन्तर्गत लौकिक जीवन की अपेक्षा पारलौकिक जीवन को अधिक महत्व प्रदान किया गया है, फिर भी हिन्दू-आदर्श यह नहीं है कि केवल 'भोग' या केवल 'त्याग' ही मानव-जीवन को पूर्णता प्रदान करता है। परलोक ही सब-कुछ है और इहलोक कुछ भी नहीं, यह विचार भारतीय दर्शन का नहीं है। हिन्दू-जीवन-दर्शन में तो भोग और त्याग का अपूर्व समन्वय तथा भौतिकवाद और अध्यात्मवाद का मधुर मेल देखने को मिलता है। यही व्यावहारिक भी है। भोगी ही त्याग का महत्व समझ सकता है और त्यागी बन सकता है क्योंकि भोग से इन्द्रियों की जो तुष्टि और उसके फलस्वरूप विरक्ति की जो भावना पनपती है वह त्याग का पथ-प्रशस्त करती है और त्याग मोक्ष के पथ का ध्रुवतारा बनता है। भोग के लिये 'अर्थ' और 'काम' की आवश्यकता स्पष्ट है; पर यह काम व अर्थ, अनर्थ की सृष्टि न करे इसलिये 'धर्म' या नैतिक नियमों का अनुशासन व निर्देश आवश्यक है। 'धर्म' द्वारा निर्देशित होकर व्यक्ति 'अर्थ' और 'काम' का उपयोग करता है और इस रूप में अपने को इस ढंग से तैयार करता है कि जीवन का अन्तिम लक्ष्य 'मोक्ष' की प्राप्ति सम्भव हो। ये ही—अर्थात् धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष—पुरुषार्थ-चतुष्टय ही मानव-जीवन के मुख्य उद्देश्य हैं। इनकी विवेचना हम अगले अध्याय में विस्तारपूर्वक करेंगे। यहाँ केवल इतना बता देना ही उचित होगा कि 'पुरुषार्थ' का सिद्धान्त हिन्दू-आश्रम-व्यवस्था से प्रत्यक्ष रूप से सम्बन्धित है। यह बात निम्नलिखित विवेचना से और भी स्पष्ट हो जाएगी।

ब्रह्मचर्याश्रम में 'धर्म' प्रभावशाली पुरुषार्थ है। इस आश्रम में 'धर्म' के समस्त पहलुओं एवं विभागों को सीखना और अभ्यास करना पड़ता है। इस अभ्यास के दौरान इस बात पर बल दिया जाता है कि ब्रह्मचारी काम तथा अर्थ से दूर रहे और साथ-ही-साथ मन, वचन और कर्म से गुरु के प्रति अनुरागी रहे और साथ ही उन्हें भगवान्-तुल्य मानकर उनकी सेवा करे। यह भी 'धर्म' के अभ्यास का एक अंग है क्योंकि गुरु के प्रति जिन नैतिक कर्तव्यों को ब्रह्मचारी को निभाना पड़ता है वह धर्म का ही एक रूप है। साथ-ही-साथ इस आश्रम में 'मोक्ष' के अन्तिम मूल्यों को भी सीखना पड़ता है और वह इस रूप में सम्भव होता है कि ब्रह्मचारी वेदाध्ययन करते तथा अन्य नियमों का पालन करते हुए यह सीखता है कि जीवन का अन्तिम लक्ष्य मोक्ष है और उसे सतत उस लक्ष्य की प्राप्ति के लिये आजीवन जागरूक रहना है।

गृहस्थाश्रम में 'धर्म' और 'काम' प्रधान है। व्यक्ति के जीवन में 'काम' की वासना स्वाभाविक मनोवैज्ञानिक है। इसे जबरदस्ती दवाना अनुचित तथा अहितकर है, इसलिये गृहस्थाश्रम में उसे काम-वासनाओं की तुष्टि करने का अवसर दिया जाता है। यद्यपि इसका कोई विशेष महत्व विवाह आदर्श के अन्तर्गत नहीं है, फिर भी स्वाभाविक मानकर विवाह के एक उद्देश्य के रूप में इसे सम्मिलित कर लिया गया है। इतना ही नहीं, परिवार तथा समाज के अस्तित्व के लिये कुछ भौतिक चीजों की भी आवश्यकता होती है। इन भौतिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये धन या 'अर्थ' की जरूरत होती है। इस सत्य को भी गृहस्थाश्रम के अन्तर्गत स्वीकार किया गया है।

गृहस्थ केवल दूसरों को खिलाने वाला ही नहीं बल्कि उनका पालन-पोषण करने वाला भी है। मनुष्य और प्राणी मात्र को भोज्य सामग्री प्रदान करने के अतिरिक्त ब्राह्मणों को भेंट, विद्यार्थियों को अध्ययन के हेतु आवश्यक चीजें, दीनों को दान, रोगियों को औषधि, गरीबों को भिक्षा, अतिथियों को आश्रय एवं भोजन तथा अन्य तीनों आश्रमों के व्यक्तियों को भोज्य सामग्री देने की आज्ञा की जाती है। उसी प्रकार पंच महायज्ञों को करना भी गृहस्थ का पवित्र कर्त्तव्य है। ये सभी कार्य 'अर्थ' के विना असम्भव हैं, इसलिये यह निर्देश है कि गृहस्थ इन कर्त्तव्यों के पालनार्थ धनोपार्जन के लिये कोई-न-कोई पेशा अपनाए; पर इस बात का भी स्पष्ट निर्देश है कि पेशा प्राणियों को काट न पहुंचाने वाला तथा निन्दनीय कर्मों से रहित होना चाहिए, अतः स्पष्ट है कि गृहस्थाश्रम में पुरुषार्थ के 'काम' तथा 'अर्थ' पक्ष पर विशेष बल दिया गया है। परन्तु यह मानी हुई बात है कि 'अर्थ' तथा 'काम' का दुरुपयोग बहुधा मनुष्य के द्वारा हुआ करता है और इनके दुरुपयोग से ही इतिहास के अनेक पृष्ठ कलंकित हो गये हैं। इसी-लिये आश्रम-व्यवस्था के अन्तर्गत यह स्पष्ट निर्देश है कि 'अर्थ' तथा 'काम' का उपयोग धर्म के निर्देशानुसार होना चाहिए। आदर्श यह है कि 'अर्थ' तथा 'काम' मनुष्य को भोग करने के हेतु जिन वस्तुओं को प्रदान करते हैं उन्हें भोगना अनुचित नहीं है, परन्तु भोगते-भोगते उसमें इतना लिप्त न हो जाना चाहिए कि उसी में पूर्णतया खो जाए या अपनी सुध-बुध को भुला दे। यह न भूल जाना चाहिए कि जीवन का अन्तिम उद्देश्य 'भोग' नहीं, 'मोक्ष' है और यह 'मोक्ष' तभी सम्भव है जबकि धर्म का संचय किया जाए। मनु के अनुसार, "परलोक में सहायता के लिये माता, पिता, पुत्र, पत्नी और अन्य सम्बन्धी कोई नहीं होता, प्राणी अकेला ही जन्म लेता है, अकेला ही मरता है, अकेला ही अपने पाप-पुण्य का फल भोगता है। काष्ठ और मिट्टी के ढेले के समान व्यक्ति के मृत शरीर को उसके प्रियजन भी भूमि पर छोड़कर चले जाते हैं, केवल 'धर्म' ही उसके साथ जाता है। 'धर्म' की ही सहायता से दुस्तर नरक से निस्तार होता है, अतः परलोक में सहायता के लिये 'धर्म' का सदैव धीरे-धीरे संचय करना चाहिये।" गृहस्थाश्रम मृगोपभोग में डूब जाने के लिये नहीं बल्कि 'धर्म' पालन के लिये है। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि धर्म से सम्बन्धित करके 'अर्थ' तथा 'काम' को आश्रम-व्यवस्था के अन्तर्गत इस प्रकार सम्मिलित किया गया है कि इन दोनों का इस प्रकार सदुपयोग हो कि उससे केवल परिवार का ही नहीं बल्कि समस्त समाज का कल्याण सम्भव हो और साथ ही प्रत्येक व्यक्ति के लिये आत्मनियन्त्रण तथा आत्मसंयम के नियमों का पालन भी सरल हो ताकि अपने जीवन के अन्तिम लक्ष्य 'मोक्ष' के लिये अपने को तैयार करना उसके लिये सहज हो सके।

वानप्रस्थाश्रम में पुरुषार्थ के लिये 'धर्म' तथा 'मोक्ष' पक्ष का प्राधान्य होता है। क्योंकि इस आश्रम में इन दोनों को लक्ष्य मानकर ही जीवन को निर्देशित एवं संचालित किया जाता है। वानप्रस्थी पंच महायज्ञ को सम्पन्न करता है, तपस्या व आराधना के द्वारा अपने व्यक्तित्व का शुद्धिकरण करता रहता है। समाज के बालकों के चरित्र व व्यक्तित्व-निर्माण के उत्तरदायित्व को अपने ऊपर लेकर एक महान् नैतिक कर्त्तव्य को पूरा करता है। पुरुषार्थ का धर्म-पक्ष अति स्पष्ट है। समस्त शारीरिक सुखों से वानप्रस्थी जिस रूप में धीरे-धीरे दूर हटता जाता है या दूर हट जाने के जो निर्देश हैं वह इस बात के द्योतक हैं कि वानप्रस्थाश्रम में व्यक्ति के व्यक्तित्व को जीवन के अन्तिम लक्ष्य मोक्ष की ओर संचालित करने का दृढ़ प्रयत्न किया जाना चाहिये। वानप्रस्थी

अर्थ' और 'काम' से दूर चला जाता है या उसे त्याग देता है। इस रूप में वानप्रस्था-श्रम पुरुषार्थ के 'अर्थ' तथा 'काम' पक्ष से परे है और धर्म तथा मोक्ष के अत्यधिक निकट है।

अन्तिम आश्रम संन्यास-आश्रम में 'मोक्ष' ही सब-कुछ है। संन्यासी सब-कुछ त्याग देता है और अपने जीवन को 'मोक्ष' प्राप्ति की ओर पूर्ण रूप से संचालित करता है। इस संचालन में 'धर्म' भी उसका सहायक होता है परन्तु 'मोक्ष' ही उसका अन्तिम उद्देश्य होता है।

इस प्रकार हम यह कह सकते हैं कि आश्रम-व्यवस्था के अन्तर्गत पुरुषार्थ के आदर्शों को प्रत्यक्ष रूप से अभिव्यक्त किया गया है और इस अर्थ में ये दोनों ही एक दूसरे से घनिष्ठ रूप से सम्बन्धित हैं। हिन्दू-जीवन-दर्शन को समझने के लिये इन दोनों का समुचित ज्ञान आवश्यक है। पुरुषार्थ के सिद्धान्तों में जिन आदर्शों को प्रस्तुत किया गया है वे आश्रम-व्यवस्था के अन्तर्गत और उसी को व्यावहारिक रूप देने का प्रयत्न मात्र हैं। आश्रम-व्यवस्था का एक महत्व यह भी है।

निष्कर्ष

(Conclusion)

उपरोक्त विवेचन के आधार पर हम यह कह सकते हैं कि आश्रम-व्यवस्था मानव-जीवन के विभिन्न स्तरों का एक वैज्ञानिक वर्णन है या यूँ भी कहा जा सकता है कि यह मानव-जीवन का एक ऐसा वर्गीकरण या विभाजन है जो कि किसी-न-किसी रूप में समस्त मानव-जाति पर लागू हो सकता है। कार्यों की यह आश्रम-व्यवस्था वास्तव में एक महान् मस्तिष्क की उपज थी। एक लेखक के अनुसार, "इस व्यवस्था के कारण ही आर्य-जीवन इतना पूत और गौरवपूर्ण था। इस व्यवस्था के अभाव में आज मानव-जाति पतन की राह पर चल पड़ी है।" हो सकता है कि यह कथन पूर्णतया सत्य न हो, फिर भी इसे स्वीकार करना ही पड़ेगा कि आर्य ऋषियों ने समाज-सुधार के लिये सर्वप्रथम मनुष्य के व्यक्तिगत जीवन को सुधारना अधिक उचित समझा था, और उसी के फलस्वरूप आश्रम-व्यवस्था का जन्म हुआ। इसका प्रमुख उद्देश्य जीवन को एक व्यवस्थित ढंग से निर्देशित व संचालित करना था जिससे कि व्यक्ति के लिये एक व्यवस्थित रूप से अपने जीवन के परम लक्ष्य को प्राप्त करना सम्भव हो जाए। अन्तिम लक्ष्य मोक्ष में धार्मिक भावना छिपी हो सकती है। इस धर्म या धार्मिक भावना को नैतिक नियम के रूप में भी परिभाषित किया जा सकता है और ऐसा करने पर मानव-जीवन का उद्देश्य मानवता या समस्त मानव का कल्याण हो जाता है। प्रत्येक व्यक्ति अपने को इसी कल्याण-कार्य के हेतु उत्सर्ग करे और इसी को जीवन का परम लक्ष्य मानकर इसकी प्राप्ति के लिये सतत् प्रयत्नशील रहे—यह आश्रम-व्यवस्था इसी बात की ओर संकेत करती है। इस महान् कार्य के लिये महान् तैयारी आवश्यक है और उस तैयारी की योजना को कुछ स्तरों में विभाजित करके आयोजित करना भी आवश्यक है। आश्रम-व्यवस्था के अन्तर्गत चार आश्रमों की शृंखला इसी बात की द्योतक है और यही इस व्यवस्था का वैज्ञानिक निरूपण भी है।

मनुष्य-जीव के वास्तविक स्वरूप, महत्त्व और अन्तिम लक्ष्य के सम्बन्ध में विश्व के इतिहास में सदैव ही स्थूलतः दो परस्पर विरोधी विचारधाराएँ देखने को मिलती हैं। उनमें से प्रथम विचारधारा यह है कि इस संसार का सब-कुछ क्षणमंगुर और नश्वर है, इस कारण यह असत्य है। अतः इस असत्य के पीछे भागना बिल्कुल व्यर्थ है; वास्तव में मनुष्य को इस संसार के इन कल्पनामण्डित सत्यों को त्यागकर परलोक की चिन्ता में या परम सत्य की खोज में ही अपना सम्पूर्ण जीवन व्यतीत कर देना चाहिए। इस प्रथम विचारधारा के विपरीत दूसरी विचारधारा, जिसका कि सर्वोत्तम उदाहरण आधुनिक पश्चिमी सभ्यता है, यह है कि जीवन की सफलता भोग की मात्रा पर निर्भर है। वही जीवन वास्तव में पूर्ण व सफल है जिसमें मनमाने भोग के लिए भौतिक वस्तुओं की प्रचुरता हो। इस विचारधारा के अनुसार परलोक के अस्तित्व या यथार्थता के बारे में मनुष्य कुछ भी नहीं जानता और जो कुछ भी अस्पष्ट, अज्ञात या अवास्तविक है उसके चक्कर में फँसना व्यर्थ है। वास्तविक सत्य तो वर्तमान जीवन है और अधिकाधिक सुख-भोग उस जीवन की सफलता व सार्थकता है।

हिन्दू विचारधारा या विस्तृत अर्थ में भारतीय संस्कृति में इन दोनों परस्पर विरोधी विचारधाराओं का अपूर्व समन्वय देखने को मिलता है। डॉ० गोपाल के अनुसार भारतीय संस्कृति यह नहीं मानती कि शारीरिक आवश्यकता की पूर्ति के लिए प्रयत्नशील मात्र-संसार व जीवन तथा संयम एवं आदर्श से पूर्ण आध्यात्मिक जीवन में कोई स्थायी विरोध नहीं है। भारतीय संस्कृति यह स्वीकार करती है कि भोग-सर्वस्व जीवन वास्तव में स्वार्थपूर्ण और इस कारण संकीर्ण है; यह उच्चतर आदर्श का प्रतिनिधित्व नहीं कर सकता। इसलिये इसी संसार और इसके सुखों को सब-कुछ मान लेना उचित नहीं है, क्योंकि सर्वोच्च ऐश्वर्य भी धीरे-धीरे नष्ट होते-होते एक दिन बिल्कुल ही मिट जाता है, नष्ट हो जाता है। मनुष्य जन्म लेता है, समस्त सुखों को अपने अधिकार में करने का प्रयत्न भी कर सकता है; पत्नी, पुत्र, कन्या तथा आत्म-परिजनों के बीच वह सर्वोच्च ऐश्वर्य और सुखों को भोग भी सकता है, पर एक दिन आता है जबकि उसकी मृत्यु होती है और उन सबको छोड़कर उसको चला जाना होता है या वे सब आत्मपरिजन, सुख व ऐश्वर्य उसका साथ छोड़ देते हैं। अतः सांसारिक सम्बन्ध, सुख, ऐश्वर्य सब-कुछ क्षणमंगुर और नश्वर है—इसे याद रखना चाहिये। किन्तु सांसारिक वस्तुओं, सुख व सम्बन्धों के नश्वर होते हुए भी उनकी अवहेलना नहीं की जा सकती। चूँकि वे शाश्वत नहीं हैं, इसलिये उनका कोई अस्तित्व ही नहीं है—ऐसा विचार करके मानव-जीवन को समझना, कार्य करना और जीवन के लक्ष्य को निर्धारित करना उचित न होगा। शाश्वत सत्ता-सांसारिक पदार्थों के रूप में व्यक्त होती है और इसीलिए उस तक अर्थात् शाश्वत सत्ता अथवा परम सत्य तक

पहुँचने का मार्ग संसार के ही माध्यम से है। वास्तव में दोनों परस्पर-अविच्छिन्न रूप से सम्बन्धित हैं और उन्हें पृथक् करना अनुचित और भ्रान्तिकारक होगा। इन दोनों को मिलाकर ही मानव-जीवन के वास्तविक स्वरूप, महत्त्व और लक्ष्य का निरूपण और निर्धारण करना चाहिये। इसी महत्त्वपूर्ण समन्वय की अभिव्यक्ति पुरुषार्थ का सिद्धान्त है।

‘पुरुषार्थ’ क्या है ?

(What is Purushartha ?)

दुवे ने लिखा है कि पुरुषार्थ उस सार्थक जीवन-शक्ति का द्योतक है जोकि व्यक्ति को सांसारिक सुख-भोग के बीच अपने धर्म-पालन के माध्यम से ईश्वर प्राप्ति या मोक्ष की राह दिखलाता है। पुरुषार्थ इसलोक को परलोक से मिलाता है—सीमित मानव-जीवन को असीम तथा पूर्ण परमात्मा से परिचित करवाता है और मनुष्य की भौतिक, बौद्धिक, शारीरिक तथा नैतिक उन्नति का पथ प्रशस्त करता है। इस अर्थ में पुरुषार्थ उन मानवीय गुणों का समन्वय है जोकि भौतिक सुख और आध्यात्मिक उन्नति के बीच एक सन्तुलन की सृष्टि करता है। पुरुषार्थ सृजनशीलता का वह मूल आधार है जिसकी सहायता से व्यक्ति भौतिक पदार्थों को ही नहीं, सन्तानों व सद्गुणों को भी जन्म देता है और अन्त में संसार की संकीर्ण परिधि से बाहर निकलकर अनन्त शक्ति में अपने महा-मिलन के लिए उद्योगी होता है। अतः स्पष्ट है कि पुरुषार्थ के चार आधार हैं जोकि मानव-जीवन के चार प्रमुख उद्देश्यों को भी व्यक्त करते हैं। वे हैं—धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष। मोक्ष मानव-जीवन का सर्वोच्च लक्ष्य है। पर इस लक्ष्य की प्राप्ति तब तक सम्भव नहीं है जब तक कि व्यक्ति का मन सांसारिक सुख-भोग से सम्पूर्ण भर न जाए। चरम तृप्ति के बाद ही विरक्ति (वैराग्य या उदासीनता) का जन्म हो सकता है। इस तृप्ति को प्राप्त करने के लिए ही अर्थ तथा काम की आवश्यकता भी जीवन के लिए कम नहीं है। पर जिससे मनुष्य ‘अर्थ’ तथा ‘काम’ में कहीं पूर्णतया डूब न जाए इस कारण उसके पथप्रदर्शन के लिए ‘धर्म’ की आवश्यकता होती है। धर्म वह नैतिक नियम वह आदर्श है जोकि व्यक्ति को भौतिक सुख तथा सांसारिक भोग-विलास के बीच भी जीवन के उच्चतर लक्ष्यों के प्रति जागरूक व सचेत रखता है और उसके व्यवहारों को नियन्त्रित तथा निर्देशित करता है। इस प्रकार ‘धर्म’ मानव-जीवन का आधार तथा मार्ग-दर्शक है, ‘अर्थ’ तथा ‘काम’ सांसारिक कर्मों तथा इच्छाओं की तृप्ति के साधन हैं और ‘मोक्ष’ जीवन का अन्तिम, चरम व परम लक्ष्य है। जिस मानव-जीवन में इन चारों का सन्तुलित समन्वय है, वही पुरुषार्थ का प्रतीक है।

पुरुषार्थ की अवधारणा में अन्तर्निहित उपरोक्त चारों तत्त्वों को डॉ० कपाडिया (Kapadia) ने इस प्रकार व्यक्त किया है—“‘मोक्ष’ मानव-जीवन के चरम उद्देश्य एवं मानव की आन्तरिक आध्यात्मिक अनुभूति का प्रतीक है। ‘अर्थ’ मनुष्य में वस्तुओं को प्राप्त करने व संग्रह करने की जो सहज प्रवृत्ति होती है उसकी ओर संकेत करता है तथा मानव की धन के संग्रह, उपभोग व अन्य तत्सम्बन्धी प्रवृत्तियों को बतलाता है। ‘काम’ मानव के सहज स्वभाव और भावुक जीवन को व्यक्त करता है तथा उसकी कामभावना और सौन्दर्यप्रियता की प्रवृत्ति की तुष्टि की ओर संकेत करता है। ‘अर्थ’ और ‘काम’ ये दोनों इस संसार में मनुष्य के सांसारिक लगाव, कार्य-कलाप एवं जीवन की सफलता का प्रतिनिधित्व करते हैं। ‘धर्म’ मानव का पार्श्विक और दैवीय

प्रकृति के बीच की शृंखला है।" अतः स्पष्ट है कि 'अर्थ' की सहज प्रवृत्ति में संचालित होकर मनुष्य सांसारिक वस्तुओं (जिसमें धन भी सम्मिलित है) का उत्पादन करता है जिससे कि उसकी भौतिक आवश्यकताओं की पूर्ति होती रहे। साथ ही, 'काम' की सहज प्रवृत्ति उसे इन्द्रियजनित सुख प्राप्ति के लिए प्रेरित करती है। इसी प्रवृत्ति के कारण विवाह, रति-क्रिया या शरीर-सम्भोग तथा सन्तानों को जन्म देना सम्भव होता है। यही 'काम' मनुष्य में सौन्दर्यप्रियता की प्रवृत्ति को भी जागृत करता है जिसके कारण मनुष्य केवल शारीरिक सौन्दर्य या मानवसुलभ सौन्दर्य का ही नहीं अपितु प्राकृतिक व ईश्वरीय सौन्दर्य का भी उपभोग कर सकता है। परन्तु 'अर्थ' और 'काम' के जाल में फँसकर कहीं मनुष्य गुमराह न हो जाए इस उद्देश्य से उसे जीवन के उच्चतर आदर्शों तथा नैतिक कर्तव्यों के प्रति जागरूक रखने की भी आवश्यकता होती है। इन्हीं उच्चतर आदर्शों तथा नैतिक कर्तव्यों के समन्वित रूप को ही 'धर्म' कहा गया है। अतः धर्म वह कड़ी है जोकि मानव जीवन के सांसारिक पक्ष को आध्यात्मिक पक्ष के साथ संयुक्त करती है जिसके फलस्वरूप एक स्तर पर मनुष्य सभी कर्मों से तृप्ति तथा इच्छाओं का नाश करके 'जीवन्मुक्त' की अवस्था में पहुँच जाता है और महाशक्ति से उसका महामिलन हो जाता है। यह स्थिति या अवस्था ही 'मोक्ष' है। यही 'पुरुषार्थ' की सर्वोच्च संक्षिप्त व सुस्पष्ट व्याख्या है।

डॉ० गोपाल ने पुरुषार्थ के इन चारों तत्त्वों को इस प्रकार समझाया है—धर्म के अर्थ कर्तव्य, सत्कार्य एवं गुण होते हैं। जिससे लौकिक उन्नति तथा पारलौकिक कल्याण की सिद्धि हो वही धर्म है। अर्थ शब्द धन, सम्पत्ति या मुद्रा का पर्यायवाची नहीं है; यह भौतिक सुखों की सभी आवश्यकताओं और साधनों का द्योतक है। 'अर्थ' मनुष्य की शक्ति और ऐश्वर्य प्राप्त करने की इच्छा के लिए प्रयुक्त हुआ है; काम इन्द्रियों के बाह्य विषयों के सम्पर्क से जनित सुख को कहते हैं। मोक्ष का सम्बन्ध आत्मा से है। आत्मा के सर्वोच्च विकास, अपने सच्चे स्वरूप की प्राप्ति को मोक्ष कहते हैं।

इस प्रकार पुरुषार्थ धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष—मनुष्य-जीवन के इन चार उद्देश्यों व आधारों के समन्वित स्वरूप को कहते हैं। इनमें जीवन के अन्तिम उद्देश्य के रूप में मोक्ष को मान्यता दी गई है, पर जीवन के अन्य वास्तविक पक्षों, अर्थ तथा काम की भी उपेक्षा नहीं की गई है, और साथ ही उन पर धर्म का नियन्त्रण भी रक्खा गया है। इस रूप में पुरुषार्थ मानव-जीवन के एक सम्पूर्ण व सार्यक स्वरूप का द्योतक है।

'पुरुषार्थ' की यह अवधारणा विश्व-कवि रविन्द्रनाथ ठाकुर द्वारा रचित 'गीतांजलि' की निम्नलिखित पंक्तियों में भी बड़े सुन्दर व स्पष्ट रूप में व्यक्त हुई है।

"वेराग्य-साधन से जिस मुक्ति की प्राप्ति होती है, वह हमारे लिये नहीं है अनुराग के हजारों बन्धनों में ही मुझे मुक्ति का आनन्द अनुभव होता है। मैं अपनी दुनिया के असंख्य दीपों को तेरी ज्वाला से जला लूंगा और तेरे मन्दिर को यज्ञवेदी पर रख दूंगा।

नहीं, मैं अपनी इन्द्रियों को घोर संयम के सीखचों में बन्द नहीं करूंगा। मेरे दर्शन, श्रवण और स्पर्श से तेरा आनन्द भरा होगा।

मेरे सब भ्रम आनन्द-यज्ञ की समिधा बनकर प्रकाशित होंगे और मेरी सब वासनायें प्रेम-फल के रूप में परिपक्व होंगी।"

उपरोक्त पंक्तियों में धर्म द्वारा नियन्त्रित अर्थ और काम के बीच मुक्ति की आकांक्षा को व्यक्त किया गया है। यही पुरुषार्थ का वास्तविक स्वरूप है। पुरुषार्थ क्री अवधारणा को और भी स्पष्ट रूप में समझने के लिये पुरुषार्थ में अन्तर्निहित चार तत्त्वों—धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष की अब हम कुछ विस्तारपूर्वक विवेचना करेंगे।

धर्म (Dharma)

हिन्दू-जीवन-दर्शन तथा सामाजिक व्यवस्था में धर्म अत्यन्त महत्वपूर्ण एवं अति प्रभावशाली अवधारणा है। पुरुषार्थ के एक पक्ष के रूप में 'धर्म' का जिस रूप में प्रयोग होता है उस रूप में इसका क्षेत्र वास्तव में अत्यधिक विस्तृत है और मानव के सम्पूर्ण नैतिक जीवन को यह ब्रह्म करता है। यह हम सभी जानते हैं कि मनुष्य की अनेक प्रकार की तथा भिन्न-भिन्न इच्छायें एवं संघर्षात्मक आवश्यकतायें होती हैं।

धर्म का उद्देश्य इन सब इच्छाओं तथा आवश्यकताओं को व्यवस्थित, नियमित एवं संयोजित करना है। इस दृष्टि से 'धर्म' वह अवधारणा है जो कि मानव-जीवन की विविधताओं एवं भिन्नताओं को, अभिलाषाओं तथा लालसाओं को, भोग तथा त्याग को, मानवीय आदर्शों एवं मूल्यों को नियमबद्ध कर एकता व नियमितता प्रदान करती है।

धर्म का अर्थ

(Meaning of Dharma)

'धर्म' कोई ईश्वरीय मत या विश्वास नहीं है और न ही किसी अलौकिक, उत्सामाजिक (supra-sócial) शक्ति से सम्बन्धित है। यह तो केवल मनुष्य के नैतिक कर्तव्यों की ओर संकेत करता है। 'धर्म' के इस अर्थ के सम्बन्ध में धर्मशास्त्र के रचयिताओं के विचार का स्पष्टीकरण करते हुए श्री पी० वी० काने (P. V. Kane) ने लिखा है कि धर्म से उनका अभिप्राय किसी विशेष ईश्वरीय मत से नहीं बल्कि जीवन के एक तरीके या आचरण की एक संहिता (code) से है जोकि स्वयं व्यक्ति के रूप में तथा समाज के एक सदस्य के रूप में एक व्यक्ति के कार्यों एवं क्रियाओं को नियमित या नियन्त्रित करती है और जिसका उद्देश्य व्यक्ति में क्रमबद्ध विकास करना तथा उसे इस योग्य बगाना है कि मानव-जीवन या अस्तित्व के अन्तिम-लक्ष्य तक पहुंच सके।¹

डॉ० गोपाल ने लिखा है कि धर्म के अर्थ कर्तव्य, सत्कार्य एवं गुण होते हैं। शाब्दिक दृष्टिकोण से धर्म शब्द 'धृ' धातु से बना है और इसका अर्थ है वह जो किसी वस्तु को धारण करे या उस वस्तु का अस्तित्व बनाए रखे। धर्मशास्त्र में स्पष्टतः उल्लेख है—“धारणाद्धर्ममित्याहुर्धर्मो धारयति प्रजाः।” अर्थात् धारण करने वाले को धर्म कहते हैं, धर्म प्रजा को धारण करता है। इसी आधार पर डॉ० शर्मा ने लिखा है कि “धर्म का सिद्धांत सभी प्राणियों की रक्षा का सिद्धांत है। चूंकि यह सिद्धान्त सब प्राणियों की धारणा या रक्षा करता है, इसीलिये इसे धर्म कहते हैं।”

1. “The writers on *Dharmashastra* meant by *Dharma* not a creed or religion but a mode of life or a code of conduct which regulated a man's work and activities as a member of society and as an individual and was intended to bring the gradual development of a man and to enable him to reach what was deemed to be the goal of human existence.”

-P. V. Kane

दूसरे शब्दों में हम कह सकते हैं कि जिन नैतिक नियमों को धर्म के अन्तर्गत माना जाता है, जिनका प्रभाव एक व्यक्ति के आचरणों पर ऐसा पड़े कि वह सभी प्राणियों की रक्षा करे और किसी का भी किसी प्रकार की हानि न पहुँचाये।

वैशेषिक दर्शन में कहा है कि “यतोऽभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिः स धर्मः” अर्थात् जिससे इस लोक में अभ्युदय (लौकिक उन्नति) और परलोक में परम कल्याण (पारलौकिक कल्याण) की प्राप्ति हो वह धर्म है। मीमांसकों के अनुसार ‘चोदना-लक्षणायां धर्मः’ अर्थात् भगवद् आज्ञा धर्म का लक्षण है अथवा शास्त्र से अनुशासित या स्वीकृत कर्म का आचरण पद्धति ही धर्म है। मनुस्मृति में तो धर्म की परिभाषा के स्थान पर धर्म के चार स्रोतों का उल्लेख किया गया है—श्रुति (वेद), स्मृति, सदाचार और जो अपनी आत्मा को प्रिय लगे।

अतः हम कह सकते हैं कि व्यक्ति के स्वयं तथा उसके सामाजिक जीवन को सुव्यवस्थित तथा समुन्नत करने के लिये कल्याणकारी व हितकारी नियमों या नैतिक कर्तव्यों को ही धर्म कहते हैं। और भी संक्षेप में, समष्टि और व्यक्ति के कल्याणार्थ शास्त्रों द्वारा निरूपित या निर्धारित नैतिक नियम ही धर्म है।

धर्म के दो पहलू

(Two Aspects of Dharma)

मुख्य रूप से धर्म के दो पहलू हैं—(अ) सार्वभौमिक पहलू तथा (ब) सामाजिक पहलू। धर्म का सार्वभौमिक पहलू मोटे तौर पर इस बात का द्योतक है कि ‘धर्म’ या नैतिक कर्तव्यों का क्षेत्र केवल किसी विशेष समूह, जाति, प्रान्त, देश या काल तक ही सीमित नहीं है। यह तो संपूर्ण विश्व को अपने में समेट लेता है और उस विश्व के प्रति अपने कर्तव्यों को निभाने पर बल देता है। धर्म का सामाजिक पहलू इस बात पर बल देता है कि सामाजिक दृष्टिकोण से कुछ ऐसे कार्य या कर्तव्य हैं जोकि समाज के लिये तथा स्वयं उस व्यक्ति के लिये कल्याणकारी हैं। इन कर्तव्यों को ईमानदारी से निभाना प्रत्येक सामाजिक प्राणी के आचरणों की कसौटी है। निर्मललिखित विवेचना से धर्म के इन दोनों पहलूओं का और भी स्पष्टीकरण हो जायेगा।

धर्म का सार्वभौमिक पहलू

(Universal Aspect of Dharma)

धर्म का सार्वभौमिक पहलू नैतिक कर्तव्यों के उस विस्तृत क्षेत्र के प्रति संकेत करता है जोकि जाति, प्रान्त, देश, काल आदि की सीमाओं के अन्दर बद्ध नहीं हैं, यदि और भी स्पष्ट रूप से कहना चाहें तो व्यक्ति के आचरणों के सम्बन्ध में कुछ ऐसे नियम भी हो सकते हैं जोकि प्रत्येक समूह, जाति, देश, काल में सामान्य हैं। ‘धर्म’ का सार्वभौमिक पहलू वास्तव में धर्म या नैतिक कर्तव्यों के स्रोतों पर बल देता है। उदाहरणार्थ, जैसा कि पहले ही उल्लेख किया जा चुका है, मनुस्मृति के अनुसार श्रुति (वेद), स्मृति, सदाचार और जो अपनी आत्मा को प्रिय लगे, धर्म के चार स्रोत हैं। इनमें से केवल एक स्रोत सदाचार का ही लीजिये। यह सर्वविदित है कि सदाचार के नियम सभी देश, समाज और काल में मान्य होते हैं। यह हो सकता है कि प्रत्येक समाज में या युग में सदाचार के नियमों के शब्दों में कुछ परिवर्तन हो, पर उन सबका अन्तर्निहित अर्थ व उद्देश्य एक समान ही होता है। महाभारत के अनुसार सत्यता, हितकर प्रथाएँ तथा आचरण धर्म के मुख्य स्रोत हैं। इस प्रकार

धर्म केवल परम्परा ही नहीं है बल्कि हितकर या कल्याणकारी प्रथा है। इस अर्थ में धर्म सत्यता, विचारशक्ति, तर्क एवं युक्ति को भी सूचित करता है क्योंकि यदि प्रथा या परम्परा का सार्वभौमिक सत्य या तर्क के साथ संघर्ष होगा तो वह फिर धर्म नहीं रह जाएगा। गौतम ने अपने धर्मसूत्रों में सामान्य या सार्वभौमिक धर्म को इस प्रकार कहा है—‘अथाष्टावात्मानुणाः । दया सर्वभूतेषु क्षान्तिरनसूया शौचमनायासो मंगलमकार्षणमस्पृहेति ॥’ अर्थात् सब प्राणियों पर दया, क्षमा, अनुसूया, शुचिता, अतिश्रमवर्जन, शुभ में प्रवृत्ति, और दानशीलता और निर्लोभता ये आठ आत्मगुण हैं। उपनिषद् के अनुसार धर्म समस्त विश्व का आधार, व नींव है, क्योंकि इसके द्वारा व्यक्ति के आचरण की वे समस्त बुराईयां दूर हो जाती हैं जोकि विश्व कल्याण के विपरीत हैं। धर्म हानि-रहित ही नहीं, रक्षक भी है इसीलिये प्रत्येक वस्तु इसी धर्म पर स्थित है जो वास्तव में उसके अस्तित्व के लिये परमावश्यक नियम ही है, कोई दूसरी वस्तु नहीं। यही कारण है कि धर्म उच्चतम आदर्श व अधिकतम अच्छाई की ओर संकेत करता है। इसीलिये कौटिल्य ने धर्म को वह शाश्वत सत्य कहा है जोकि सारे संसार पर शासन करता है। बौद्ध ग्रन्थों में भी यह कहा गया है कि यह धर्म ही है जो अच्छाई एवं बुराई, सत्य और असत्य में अन्तर स्पष्ट करता है; धर्म शासकों का भी शासक है, और यह विश्व में उच्चतम है।

मानव-धर्म—धर्म के सार्वभौमिक पहलू के अन्तर्गत मानव-धर्म मुख्य रूप से आता है। मानव-धर्म वह धर्म है जोकि समस्त मानव-जाति के लिये समान है। यह धर्म बिना किसी जाति, धर्म, सिद्धांत, रङ्ग, धन, सामाजिक स्थिति आदि के भेद-भाव के सब पर समान रूप से लागू होता है। धर्मशास्त्र के अनुसार मानव-धर्म के कुछ आवश्यक तत्व निम्नलिखित हैं—सन्तोष, क्षमा, आत्मसंयम, अनुचित तरीके से किसी वस्तु को लेने से बचना, शुद्धता, इन्द्रियों का नियन्त्रण, विवेक, ज्ञान, सत्यता तथा क्रोध से बचना। महाभारत में अहिंसा श्रेष्ठतम धर्म के रूप में वर्णित है। भगवद्-गीता के अनुसार सच्चाई धर्म का सार है और यह उच्चतम धर्म है। मानव-धर्म ही उच्चतम धर्म है। विद्यापति जी ने भी कहा था कि सर्वश्रेष्ठ मानव-धर्म है, उसके ऊपर और कुछ भी नहीं। संक्षेप में सच्चाई, अहिंसा, आत्मसंयम, प्रतिदिन के जीवन में सदाचार, समूची सृष्टि के लिये तथा मनुष्य मात्र के प्रति उदारता, दया और अनुकम्पा आदि सद्गुण, सत्कार्य तथा कर्तव्य मात्र-धर्म में निहित हैं। यह धर्म हमारे स्वभाव को पुनः ढालने एवं हमारी मूल-प्रवृत्तियों को बदलने व निर्मल करने और शोधने का साधन है।

गांधीजी के अनुसार मानव-धर्म—मानव-धर्म से सम्बन्धित किसी भी विवेचना में पूज्य गांधीजी के विचारों का उल्लेख भी आवश्यक हो जाता है क्योंकि आधुनिक युग में मानव-धर्म की अवधारणा को स्पष्टतः विकसित तथा लोकप्रिय करने में उनका अशदान वास्तव में अतुलनीय है। गांधीजी का धर्म आत्मबोध है, आत्मज्ञान है। गांधीजी के शब्दों में, “वह हिन्दू-धर्म नहीं है जिसे मैं निश्चित रूप से अन्य धर्मों की अपेक्षा श्रेष्ठ समझता हूँ। बल्कि मेरा धर्म तो वह धर्म है जोकि हिन्दू धर्म से भी श्रेष्ठ है, जोकि मनुष्य के स्वभाव को ही बदल देता है, जो मनुष्य को उसके आन्तरिक सत्य से अटूट सम्बन्ध में बांध देता है और जो सदैव हमें पाप करने से बचाता है। धर्म मनुष्य के अन्दर वह स्थायी तत्व है जोकि पूर्व-अभिव्यक्ति प्राप्त करने के लिये कोई भी बलिदान करने को सदा तत्पर रहता है” और जो आत्मा को एक-

दम बेचैन बना देता है जब तक कि वह अपने को प्राप्त न कर ले, अपने स्रष्टा को जान न ले और स्रोत तथा अपने बीच सम्बन्धों को समझ न ले।" अतः स्पष्ट है कि गांधीजी के अनुसार मानव-धर्म वह आधार है जोकि हमारा परमसत्य से एकाकार स्थापित करता है, जोकि हृदय को निर्मल, निःस्वार्थ तथा पवित्र बनाता है, जोकि सबसे प्रेम करना सिखाता है, जोकि न्याय तथा शान्ति की स्थापना में स्वयं को बलि चढ़ाने की प्रेरणा देता है, जोकि निर्बल का बल है, सबल का मार्गदर्शक है और जो सब में धैर्य, क्षमा, आज्ञाकारिता, अनुशासन, कष्ट सहन, साहस तथा सद्भावना के गुणों को विकसित करने वाली संजीवनी शक्ति है। यह धर्म आत्मबोध है, आत्मज्ञान है। इस धर्म का आगार मस्तिष्क नहीं, हृदय है; इसकी सिद्धि माला जपने या चार प्रहर मन्दिर, मस्जिद या गिरजाघर जाने से नहीं, प्रेम और सत्य के मार्ग में चलते हुए सेवामय जीवन व्यतीत करने से ही की जा सकती है। सबसे प्रेम करो, सबके लिये जीओ और मरो, सत्य की निष्काम खोज में सदा तत्पर रहो, अपने को पहचानो, आत्मबोध द्वारा अपनी शक्ति को जाग्रत करो और उस शक्ति को विश्व में न्याय, शान्ति और बन्धुत्व की स्थापना के हेतु नियोजित करो तथा अहिंसात्मक आदर्शों का पालन करो—गांधीजी के अनुसार मानव-धर्म के ये मूल तत्व हैं।

धर्म का सामाजिक पहलू (Social Aspect of Dharma)

धर्म का सामाजिक पहलू स्वयं व्यक्ति के अपने सामाजिक जीवन से सम्बन्धित नियमों तथा कर्तव्यों से सम्बन्धित है। इस पहलू को अभिव्यक्ति निम्न प्रकार हो सकती है—

1. वर्ण-धर्म—वर्ण-धर्म का तात्पर्य वर्ण द्वारा निर्धारित नियमों और कर्तव्यों का निष्ठापूर्वक पालन करना है। जैसाकि पहले ही कहा जा चुका है 'अहिंसा' सत्य, चोरी न करना तथा इन्द्रियों को वश में रखना—ये चारों वर्णों के लिए 'समान धर्म' मनु ने बताए हैं। इन सामान्य धर्मों के अतिरिक्त विशेष वर्ण-धर्म भी हैं अर्थात् प्रत्येक वर्ण के लिये अलग-अलग कार्यों व कर्तव्यों का भी निर्धारण किया गया है। उदाहरणार्थ, कौटिल्य अपने अर्थशास्त्र में चार वर्णों के कर्तव्यों को इस प्रकार प्रस्तुत करते हैं—(क) ब्राह्मण—अध्ययन, पढ़ाना, यज्ञ एवं बलि आदि का विधान करना, दूसरों के द्वारा आयोजित यज्ञ आदि को पूर्ण करना तथा दान लेना। (ख) क्षत्रिय—अध्ययन, यज्ञ, बलि आदि करना, दान, उपहार व भेंट देना, सैनिक के पेशे को अपनाना, तथा दूसरों के जीवन और सम्पत्ति की रक्षा करना। (ग) वैश्य—अध्ययन, यज्ञ एवं बलि आदि करना, दान एवं भेंट देना, कृषि, पशुपालन एवं व्यापार आदि करना (घ) शूद्र—द्विजों की सेवा करना। इस वर्ण-धर्म के बारे में विस्तृत विवेचना हम अध्याय 6 में 'वर्ण-व्यवस्था' के अन्तर्गत कर चुके हैं। यह वर्ण-धर्म सामाजिक कार्यों को सफलतापूर्वक करने के लिये जिस सहयोग की आवश्यकता है उसे प्रदान करता है और प्रत्येक वर्ण के लिये एक कर्तव्य के रूप में निश्चित कर देता है।

2. आश्रम-धर्म—इस धर्म के बारे में भी विस्तृत विवेचना हम अध्याय 7 में आश्रम-व्यवस्था के अन्तर्गत कर चुके हैं। यहाँ केवल इतना बता देना ही पर्याप्त होगा कि व्यक्ति के जीवन को एक व्यवस्थित व सुनियन्त्रित ढंग से उसके अंतिम लक्ष्य मंश तक पहुँचा देने के लिए ही आश्रम-व्यवस्था को विकसित किया गया था। इस अन्तिम लक्ष्य तक पहुँचना तभी सम्भव है जबकि व्यक्ति अपने जीवन के प्रत्येक आश्रम में अज-

स्थान करने की अवधि में उस आश्रम से सम्बन्धित नियमों या करणीय कर्तव्यों का उचित ढंग से पालन करे। यही आश्रम-धर्म है। यह आश्रम-धर्म प्रत्येक आश्रम में अलग-अलग है। उदाहरणार्थ, ब्रह्मचर्याश्रम-धर्म यह है कि ब्रह्मचारी सूर्योदय से पहले उठे, गायत्री मन्त्र का जप तथा ईश्वर-पूजा करे, सदा शाकाहारी भोजन करे, प्रत्येक प्रकार के प्रसाधन सम्बन्धी सामग्री से अपने को दूर रखे, स्त्री-स्पर्श, संसर्ग, संगीत, नृत्य आदि से दूर रहे, अपनी इन्द्रियों पर नियन्त्रण रखे, गुरु को देवता-तुल्य मानकर उनकी हर प्रकार से श्रद्धा-भक्ति व सेवा करे, इत्यादि। इसी प्रकार भगवान् के प्रति भक्ति, स्वाध्याय, ऋषियों तथा पितरों के प्रति श्रद्धा, समूची दृष्टि के लिए तथा मनुष्य मात्र के प्रति दया व उदारता प्रदर्शित करना अर्थात् संक्षेप में, पंच महायज्ञ करना गृहस्थाश्रम-धर्म है और इसी को प्रत्येक गृहस्थी का प्रधान एवं आवश्यक कर्तव्य समझा जाता था। जप, तप, ध्यान, सेवा और त्यागभाव दानप्रस्थाश्रम-धर्म है। उसी प्रकार परिव्राजक बनना, संसार के समस्त मोह-बन्धन को त्याग देना, सेवा-भाव को और विस्तृत करना तथा परम सत्य की खोज में अपनी समस्त शक्ति को नियोजित करना संन्यास-धर्म है। आश्रम-धर्म का उद्देश्य मानव जीवन के प्रत्येक स्तर—बाल्यावस्था, युवावस्था, प्रौढ़ावस्था और वृद्धावस्था में उस अवस्था के अनुसार कुछ कर्तव्यों को निर्धारित करना है जिससे कि व्यक्ति अपने को धीरे-धीरे इस भाँति तैयार कर सके कि उसके लिये जीवन के अन्तिम लक्ष्य की प्राप्ति सरल हो जाए।

3. कुल धर्म—यह धर्म परिवार में ही व्यक्ति के व्यवहार को नियमित करने के लिए उसके पालनार्थ कुछ नियमों व कर्तव्यों की ओर संकेत करता है। कुल धर्म को दो प्रमुख भागों में बाँटा जा सकता है—प्रथम तो परिवार के विभिन्न सदस्यों से सम्बन्धित और दूसरा परिवार से सम्बन्धित धार्मिक कृत्य या संस्कार। प्रथम श्रेणी के अन्तर्गत 'धर्म' यह निश्चित करता है कि परिवार के विभिन्न सदस्यों का एक-दूसरे के प्रति उचित व्यवहार एवं आचरण किस प्रकार का होना चाहिए तथा उनमें एक-दूसरे के प्रति श्रद्धा व सम्मान का क्या स्वरूप होना चाहिये। उदाहरणार्थ, माता-पिता के प्रति श्रद्धा-भाव रखना, उनकी सेवा करना तथा उनके प्रत्येक प्रकार के दुःख-कष्ट को दूर करना प्रत्येक सन्तान का पवित्र कर्तव्य या धर्म माना जाता है। माता-पिता और आचार्य का प्रिय कार्य सदा करना चाहिए, क्योंकि इन तीनों की सेवा को ही विद्वान् लोग परम तपस्या कहते हैं। इनकी सम्मति के बिना कोई धर्माचरण नहीं करना चाहिए। पिता गार्हपत्य अग्नि, माता दक्षिणाग्नि तथा गुरु आहवनीय अग्नि कहे गए हैं और यही तीनों अग्नियों पृथ्वी में श्रेष्ठ हैं। जो गृहस्थ इन तीनों के प्रति समादर-हित रहता है, वह तीनों लोक जीत लेता है। यह कुल धर्म का ही एक उदाहरण है। इसी प्रकार परिवार में कन्या का यह धर्म है कि वह अपने प्राणों का बलिदान करके भी कौमार्य को सुरक्षित रखे। गौतम, वशिष्ठ, मनु आदि सभी शास्त्रकार कन्या के इस कुल धर्म पर अत्यधिक बल देते हैं और कौमार्य नष्ट करने वालों के लिये कठोर दण्डों का विधान करते हैं। महाभारत में कन्याओं के कौमार्य का लोप राज्य के पतन का चिह्न माना गया है। उसी प्रकार सतीत्व व पातिव्रत्य-धर्म भी कुल-धर्म का रूप है। पातिव्रत्य-धर्म की मूल भावना यह है कि पति चाहे किसी भी प्रकार का क्यों न हो, चरित्रवान् हो या चरित्रहीन, गुणवान् हो या गुणविहीन, पण्डित हो या मूर्ख, राजा हो या भिखारी, पत्नी का यह धर्म है कि वह उसी पति को अपना सब-कुछ माने और उसके प्रति साधवी रहे। इसी प्रकार प्रत्येक पत्नी का यह धर्म है कि पर-पुरुष की

चिन्ता कभी न करे और उसके स्पर्श तक से अपने को बचाती रहे। ये सभी धर्म या नैतिक नियम कुल-धर्म की प्रथम श्रेणी के अन्तर्गत आते हैं और इसका प्रमुख उद्देश्य परिवार के विभिन्न सदस्यों के पारस्परिक सम्बन्धों को नियमित करना तथा कुल के गौरव को बढ़ाना है। दूसरी श्रेणी के अन्तर्गत कृत्यों या संस्कारों को सम्मिलित किया जाता है। उदाहरणार्थ, कुल की प्रतिष्ठा और रक्षा के लिये प्रत्येक गृहस्थ का यह एक प्रमुख कर्त्तव्य है कि वह पंच महायज्ञों को नियमित रूप से करे।

4. काल एवं देश-धर्म—धर्म काल और देश से भी सम्बन्धित है। धर्म कोई जड़ या स्थिर चीज नहीं है कि उसे आँख मूँदकर प्रत्येक युग और समाज पर लागू कर दिया जाए। नैतिक कर्त्तव्यों को ही धर्म कहते हैं और नैतिकता का घनिष्ठ सम्बन्ध सामाजिक आदर्श तथा मूल्यों से है। यह आवश्यक नहीं है कि प्रत्येक युग तथा समाज में ये आदर्श व मूल्य एक-से बने रहें। परिस्थितियों व स्थान-परिवर्तन के साथ-साथ इनमें भी परिवर्तन हो सकता है और होता भी है। काल एवं देश-धर्म इसी सत्य को, इसी स्वाभाविकता को स्वीकार करता है। इस प्रकार धर्म एक गतिशील (dynamic) धारणा या नियम है। इस नियम के अनुसार प्रत्येक देश में उसके सांस्कृतिक प्रतिमान व मूल्यों के अनुसार कर्त्तव्य के नियम अलग-अलग हो सकते हैं। इसी प्रकार एक समय-विशेष की अवधि में अथवा युग में व्यवहार या आचरण का एक प्रतिमान (pattern), नैतिक कर्त्तव्यों से सम्बन्धित मत, निर्णय और संहिताएँ होती हैं। इसी को 'युग-धर्म' भी कहते हैं। बीसवीं शताब्दी के युग-धर्म की चर्चा करते हुए स्वामी अभेदानन्द जी ने अपनी पुस्तक 'दि रिलीजन ऑफ दि ट्वेंटियथ सेंच्युरी' में लिखा है कि—“बीसवीं शताब्दी को एक ऐसे धर्म की आवश्यकता है, जिसका आधार मत या अन्धविश्वास न होकर वैज्ञानिक सत्य हो। बीसवीं शताब्दी का धर्म एक ऐसे परमात्मा की धारणा चाहता है जो न साकार हो, न निराकार हो और वह इन दोनों से परे हो, वह किसी नाम-विशेष के बन्धन में न हो। बीसवीं शताब्दी को एक ऐसे धर्म की आवश्यकता है जो सब देशों के सभी दार्शनिकों के द्वारा सिद्ध नैतिक और आध्यात्मिक सिद्धान्तों के निष्कर्षों का समन्वय कर सके। न केवल वह आज के वैज्ञानिक अनुसन्धानों को ग्रहण करने वाला हो, अपितु उसके आंचल में भविष्य में होने वाले अनुशासनों के लिये भी स्थान हो।” युग-धर्म का यह एक अति-उत्तम विश्लेषण तथा निरूपण है।

5. राज-धर्म—सामाजिक जीवन का एक महत्वपूर्ण पक्ष शासन-व्यवस्था से सम्बन्धित होता है। यह पक्ष अर्थात् राजनीतिक पक्ष शासन के स्वभाव व स्वरूप से बहुत-कुछ प्रभावित होता है। यह आवश्यक है कि शासन या राजा के आचरणों को भी नियमित और नियन्त्रित किया जाए जिससे कि सर्वसाधारण या प्रजा का अधिकतम कल्याण या श्रीवृद्धि सम्भव हो। धर्म इस पक्ष को भी अपने क्षेत्र में समाविष्ट कर लेता है और राजा के कर्त्तव्यों का निर्धारण करता है। यही राज-धर्म है। हिन्दू शास्त्रों में इस राज-धर्म के बारे में विस्तृत विवरण मिलता है। इसके अनुसार राजा या राज्य के अत्यन्त आवश्यक कर्त्तव्य दो हैं। पहला तो व्यक्तियों की रक्षा करना तथा दूसरा वर्ण एवं आश्रम-व्यवस्था की देख-रेख करना। विष्णुस्मृति के अनुसार राजा का प्रमुख कर्त्तव्य सज्जन व्यक्तियों का आदर करना तथा दुष्टजनों को दण्ड देना है। इसी कार्य को करने के लिये राजा दण्ड की शक्ति से शक्तिमान् होता है; परन्तु राजा का यह पवित्र कर्त्तव्य है कि वह कभी भी उस शक्ति का दुरुपयोग न करे तथा इस बात का ध्यान रखे कि किसी निरपराध व्यक्ति को दण्ड न मिले। दण्ड देते हुए राजा

को अपराध की प्रकृति का भी ध्यान रखना चाहिये। न्याय-प्रियता तथा प्रजा-वत्सलता राजा का प्रमुख गुण समझा जाता है। राजा को अपनी शासन-व्यवस्था को इस भाँति आयोजित करना चाहिए कि उसके राज्य में रहने वाली जनता को अधिकाधिक सुख, शान्ति और समृद्धि प्राप्त हो सके। प्रजा के धर्म की रक्षा करना और धर्म को उचित ढंग से निभाने के लिये आवश्यक सुविधाएँ जुटाना राज-धर्म का एक प्रमुख अंग है। इसके लिए यह आवश्यक है कि राजा स्वयं धार्मिक प्रकृति का हो, धर्म में उसका अटल विश्वास हो और शासन-व्यवस्था के संचालन में धर्म ही उसका आधार या दिग्दर्शक हो।

6. स्वधर्म—धर्म की विवेचना में स्वधर्म के बारे में भी कुछ कह देना आवश्यक है। धर्म मानवीय कर्तव्य तथा उत्तरदायित्व से सम्बन्धित आचरण है और यह आचरण समाज के सदस्यों की स्थिति (status) के अनुसार निर्धारित है। अर्थात् पिता की स्थिति में एक व्यक्ति का आचरण कैसा हो, वर्ण-व्यवस्था के एक सदस्य की स्थिति में एक व्यक्ति का कर्तव्य क्या है, गृहस्थ, संन्यासी या वानप्रस्थी की स्थिति में किन नियमों या नैतिक कर्तव्यों का पालन करना है। वही स्वधर्म है। श्री सद्गुरु ओंकार ने लिखा है कि “पूर्ण जीवन-दर्शन का नाम धर्म है। वैयक्तिक जीवन की पूर्णतः इसी में है कि व्यक्ति अन्तर्द्वन्द्व से मुक्त हो, आत्मगुणों का अनुभव करता हुआ अपने समस्त कार्य-कलापों का सु-सम्पादन कर सके। यही ‘स्वधर्म’ का सार है।” और भी स्पष्ट रूप में सामाजिक जीवन में या एक समाज के सदस्य के रूप में प्रत्येक व्यक्ति की विभिन्न स्थितियाँ (status) हैं, जैसे वह पिता, पुत्र, पति, राजा, एक वर्ण-विशेष का सदस्य या एक आश्रम-विशेष का सदस्य। इनमें से प्रत्येक स्थिति से सम्बन्धित कुछ कार्य या नैतिक कर्तव्य हैं। इन नैतिक कर्तव्यों से सम्बन्धित कार्य-कलापों को निष्ठा के साथ सु-सम्पन्न करना ही स्वधर्म है या यूँ कहिए कि व्यक्ति के स्वयं के जीवन की विभिन्न स्थितियों से सम्बन्धित कार्य या नैतिक कर्तव्य ही स्वधर्म है। स्वधर्म का पालन प्रत्येक व्यक्ति को करना चाहिये। परधर्म कितना ही आकर्षक क्यों न हो, पर उसकी ओर कभी आकृष्ट न होना ही उचित है। गीता में स्वधर्म के सम्बन्ध में निर्देश यह है कि—

श्रेयान्स्वधर्मो विगुणः परधर्मात्स्वनुष्ठितात् ।

स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः ॥ 3/35

अर्थात् ‘पराये धर्म का आचरण कितना ही सुखकर क्यों न हो, तो भी उसकी अपेक्षा अपना धर्म (स्वधर्म) ही अधिक श्रेयस्कर है, चाहे वह स्वधर्म विगुण अर्थात् सदोष भले ही हो। स्वधर्म पालन में यदि मृत्यु हो जाए तो वह भी श्रेयस्कर है, परन्तु दूसरों का धर्म भयावह या भयंकर होता है।’ स्वधर्म का अर्थ मोक्ष-धर्म नहीं है, यह तो व्यक्ति के जीवन की विभिन्न स्थितियों से सम्बन्धित कार्य या नैतिक कर्तव्य है। उदाहरणार्थ, वर्ण-व्यवस्था के अन्तर्गत स्वधर्म वह व्यवसाय है जोकि प्रत्येक मनुष्य के लिये शास्त्र द्वारा नियत कर दिया गया है। अतएव भगवान् कहते हैं कि ब्राह्मण, क्षत्रिय आदि ज्ञानी हो जाने पर भी अपना-अपना व्यवसाय करते रहें। इसी में उनका और समाज का कल्याण है। इस व्यवस्था में बार-बार व्यवधान डालना उचित व हितकर नहीं। ‘तेली’ का काम तम्बोली करे, दैव न मारे, आप मारे’ इस प्रचलित लोकोक्ति का भावार्थ भी यही है। जहाँ चातुर्वर्ण-व्यवस्था का प्रचलन नहीं है वहाँ भी सबके लिये यही श्रेयस्कर होगा कि जिसने सारी जिन्दगी फौज में बिताई हो, उसे यदि फिर काम

पड़े तो उसको सिपाही का पेशा ही सुभीते का होगा, न कि दर्जी का रोजगार। अतः-
एव जहाँ एक बार किसी उद्योग को स्वीकार किया तो उसी पर अटल रहना ही स्व-
धर्म है; फिर किसी विशेष अवसर पर उसमें मीनमेख निकालकर अपना कर्तव्य-कर्म
छोड़ बैठना अच्छा नहीं है। आवश्यकता होने पर उसी व्यवसाय में ही मर जाना
चाहिए। कोई भी उद्योग का कार्य हो, उसमें कुछ-न-कुछ दोष सहज ही निकाला जा
सकता है, परन्तु इस नुक्ताजीनी के कारण अपने नियत कर्तव्य को छोड़ देना धर्म नहीं
है। महाभारत के ब्राह्मण-व्याघ्र संवाद में और तुलाधार-जाजलि संवाद में भी यह
तत्त्व बतलाया गया है।

गीता के उपरोक्त श्लोक की उपर्युक्त व्याख्या लोकमान्य बालगंगाधर तिलक
जी की है। स्वधर्म के सम्बन्ध में गीता में उल्लिखित निर्देश का व्यापक अर्थ समझते
हुए आपने यह भी लिखा है कि गीताशास्त्र का व्यापक सिद्धान्त यही है कि यदि कहीं
चातुर्वर्ण-व्यवस्था प्रचलित न हो अथवा वह किसी गिरि दशा में हो, तो वहाँ भी
तत्कालीन प्रचलित समाज-व्यवस्था के अनुसार समाज के धारण-पोषण के जो काम
अपने हिस्से में आ पड़े उन्हें लोक-कल्याण के लिये धैर्य और उत्साह से तथा निष्काम
बुद्धि से कर्तव्य समझकर करते रहना चाहिये, क्योंकि मनुष्य का जन्म उसी काम के
लिये हुआ है, न कि केवल सुखोपभोग के लिये। कुछ लोग गीता के स्वधर्म को केवल
चातुर्वर्णमूलक समझते हैं, लेकिन उनका यह ज्ञान ठीक नहीं है। चाहे समाज हिन्दुओं
का हो या म्लेच्छों का, चाहे वह प्राचीन हो या अर्वाचीन, चाहे वह पूर्वोक्त हो या
पश्चिमीय, इसमें सन्देह नहीं कि यदि उस समाज में चातुर्वर्ण-व्यवस्था प्रचलित हो तो
उस व्यवस्था के अनुसार जो काम या कर्तव्य अपने हिस्से में आ पड़े अथवा जिसे हम
अपनी रुचि के अनुसार कर्तव्य समझकर एक बार स्वीकार कर लें, वही अपना स्व-
धर्म हो जाता है और गीता यह कहती है कि किसी भी कारण से इस धर्म को अवसर
आने पर छोड़ देना और दूसरे कर्मों में लग जाना धर्म की तथा सर्वभूतहित की दृष्टि
से निन्दनीय है। इसी न्याय के अनुसार माधवराव पेशवा को (जिन्होंने ब्राह्मण होकर
भी तत्कालीन देश-कालानुरूप क्षात्रधर्म को स्वीकार किया था) रामशास्त्री ने यह उप-
देश दिया था कि “स्तानसंघ्या और पूजापाठ में सारा समय व्यतीत न करके क्षात्रधर्म
के अनुसार प्रजा की रक्षा करने में अपना सब समय लगा देने से ही तुम्हारा दोनों
लोक में कल्याण होगा।” यह बात महाराष्ट्र के इतिहास में प्रसिद्ध है। गीता का मुख्य
उपदेश यह बतलाने का नहीं है कि समाज धारण के लिये कैसी व्यवस्था होनी चाहिए।
गीताशास्त्र का तात्पर्य यही है कि समाज-व्यवस्था चाहे कैसी भी हो, उसमें जो भी
यथाधिकार कर्म तुम्हारे हिस्से में पड़ जाएँ, उन्हें उत्साहपूर्वक करके सर्वभूतहितरूपी
आत्मश्रेय की सिद्धि करो। इस प्रकार से कर्तव्य मानकर गीता में वर्णित स्थितप्रज्ञ
पुरुष जो कर्म किया करते हैं वे स्वभाव से ही लोक-कल्याणकारक हुआ करते हैं।
इसीलिये यह धर्म है और इसी से यह स्पष्ट है कि सम्पूर्ण हिन्दू-विचारधारा में धर्म
की अवधारणा अत्यधिक आधारभूत है (The concept of *Dharma* is the basic
to the entire Hindu social thought.)।

धर्म का महत्त्व

(Importance of *Dharma*)

धर्म का उल्लेखनीय महत्त्व इस बात में है कि यह मनुष्य की विविध रुचियों,
इच्छाओं, संघर्षात्मक आवश्यकताओं तथा उत्तरदायित्व के बीच एक सामंजस्य उत्पन्न

करता, उन्हें व्यवस्थित एवं नियमित करता है। व्यक्ति या समाज के विभिन्न सदस्य जब धर्म के निर्देशानुसार अपने करणीय कर्तव्यों को निश्चित ढंग से तथा निष्ठापूर्वक करते हैं तो समाज में सुव्यवस्था, शान्ति व समृद्धि सरल हो जाती है। पारलौकिक दृष्टिकोण से 'धर्मस्तमनुगच्छति' अर्थात् धर्म ही साथी हैं जो मरने पर भी पीछे-पीछे चलता है। श्री के० एम० रामस्वामी शास्त्री के अनुसार, "अर्थ" और 'काम' का मूल धर्म है। केवल अर्थ अथवा केवल कामोपभोग जीवन का कोई उदात्त उद्देश्य नहीं है। इनका त्याग न करे, पर इनका ग्रहण भी वहीं उचित है जहाँ ये धर्म के विरुद्ध न हों—बल्कि धर्म से ही प्राप्त हों। धर्म के विपरीत जहाँ अर्थ और काम को स्वार्थमय आसुरी उपायों से प्राप्त करने में जीवन लगता है, वहाँ घृणा व द्वेष ही फैलते हैं। 'इसलिए वैयक्तिक तथा सामाजिक जीवन का आधार धर्म ही होना चाहिए और यही धर्म का एक और उल्लेखनीय महत्व है। मानव-जीवन में धर्म ही परम सत्य है। इसीलिए भगवान् श्री कृष्ण कहते हैं कि "मैं वही काम हूँ जो धर्म के अनुकूल है।" धर्म के बिना न तो वैयक्तिक जीवन और न ही सामाजिक जीवन सम्भव है। इसीलिए गांधी जी ने लिखा है, "समाज में से धर्म को निकाल फेंक देने का प्रयत्न वांछ के घर पुत्र पैदा करने के समान ही निष्फल है और अगर कहीं वह सफल हो जाए तो समाज का उसमें नाश ही है। इसके अतिरिक्त और कुछ नहीं। धर्म के रूपान्तर हो सकते हैं, उसमें रहे प्रत्यक्ष अन्धविश्वास, सड़न और अपूर्णताएँ दूर हो सकती हैं, हुई हैं और होती रहेंगी। परन्तु धर्म तो जब तक जगत् है तब तक चलता ही रहेगा क्योंकि जगत् का धर्म ही एक आधार है।"

अर्थ

(Artha)

पुरुषार्थ के अन्तर्गत जीवन का दूसरा मुख्य उद्देश्य 'अर्थ' अर्थात् मोटे तौर पर भौतिक सुखों व आवश्यकताओं की पूर्ति है। हिन्दू विचारकों ने जीवन को नैतिक कर्तव्यों या धर्म का गढ़तर मात्र नहीं माना है, अपितु उसके व्यावहारिक पक्ष अर्थात् भौतिक पक्ष को भी मान्यता प्रदान की है। वास्तव में धर्म के पालनार्थ 'अर्थ' की आवश्यकता या महत्व को भी शायद ही अस्वीकार किया जा सके। उदाहरणार्थ पंच महायज्ञ क्रो ही लीजिए। इसके अन्तर्गत पितरों का पिण्डदान करने, प्राणी मात्र को खिलाकर फिर स्वयं खाने, अतिथि-सत्कार करने के लिए 'अर्थ' का प्रयोजन होगा ही। इसी कारण 'अर्थ' को जीवन के मुख्य उद्देश्यों में से एक माना गया है। परन्तु इससे यह निष्कर्ष नहीं निकालना चाहिए कि 'अर्थ' से तात्पर्य केवल धन या सम्पत्ति से है। पुरुषार्थ के अन्तर्गत इस शब्द का प्रयोग और भी व्यापक अर्थ में किया गया है जैसा कि निम्नलिखित विवेचना से स्पष्ट होगा।

'अर्थ' क्या है ?

(What is Artha ?)

डॉ० गोपाल के शब्दों में, "अर्थ शब्द धन, सम्पत्ति या मुद्रा का पर्यायवाची नहीं है। यह भौतिक सुखों की सभी आवश्यकताओं और साधनों का द्योतक है। अर्थ मनुष्य की शक्ति एवं ऐश्वर्य प्राप्त करने की इच्छा के लिए प्रयुक्त हुआ है। डॉ० शर्मा के अनुसार 'अर्थ' से तात्पर्य उन साधनों से है, जो भौतिक उन्नति में सहायक होते हैं। डॉ० कपाडिया ने लिखा है कि "मानव में प्राप्त करने की प्रवृत्ति का तुष्टिकरण ही अर्थ है; हिन्दू विचारकों ने धन को भी पुरुषार्थ-जीवन में स्थान देकर इसे उचित

मानवीय आकांक्षा माना है।" कुछ विद्वानों का कथन है कि 'अर्थ' शब्द सफलता एवं सौभाग्य तथा समृद्धि की खोज को सूचित करता है। श्री जिम्मर (Zimmer) ने लिखा है कि "अर्थ की अवधारणा के अन्तर्गत वे समस्त स्पर्शीय या भौतिक वस्तुएँ आ जाती हैं जिन्हें हम अपने अधिकार में रख सकते हैं तथा जिनसे हम आनन्द ले सकते हैं और जो खो भी सकती हैं एवं परिवार के भरण-पोषण के लिए, परिवार की समृद्धि के लिए तथा धार्मिक कर्त्तव्यों को निभाने के लिए अर्थात् जीवन के कर्त्तव्यों का उचित ढंग से पालन करने के लिए जिनकी आवश्यकता होती है।"²

अर्थ का महत्व

(Importance of 'Artha')

हिन्दू शास्त्रकारों ने 'अर्थ' के महत्व को भी प्रमाणित करने का प्रयत्न किया है। यह सच है कि इन शास्त्रकारों ने अर्थ पर अत्यधिक या जरूरत से ज्यादा बल न देने का उपदेश दिया है, फिर भी जीवन की सम्पूर्ण योजना में इसे व्यर्थ समझना भी अनुचित माना है। महाभारत में लिखा हुआ है कि धर्म का पूर्ण रूप से पालन काफी सीमा तक अर्थ पर निर्भर है; जिसके जीवन में अर्थ का साधन नहीं है वह अपने कर्त्तव्यों का उचित ढंग से पालन नहीं कर सकता। इसीलिये अर्थहीनता को अभिशाप ही माना गया है। कौटिल्य के अनुसार मानव-जीवन के लिये अर्थ महत्वपूर्ण है क्योंकि दान एवं अभिलाषायें अपनी सिद्धि के लिये अर्थ पर ही निर्भर करती हैं।

जैसाकि पहले कहा जा चुका है कि अर्थ मानव के भौतिक वस्तुओं पर अधिकार करने के सहज स्वभाव की ओर संकेत करता है और इसके अन्तर्गत धन का संग्रह, उपभोग, अन्न और उससे सम्बन्धित प्रवृत्तियों का समावेश होता है। हिन्दू-धर्मशास्त्रों में इस बात का उल्लेख है कि धन का संग्रह तथा उपभोग किस प्रकार से किया जाना चाहिये। यह कहा गया है कि प्रत्येक व्यक्ति को इस प्रकार का धन अपनाना चाहिये कि उसके द्वारा किसी व्यक्ति को किसी प्रकार का कष्ट न पहुँचे वा बहुत कम कष्ट पहुँचे। आदर्श यह होना चाहिये कि व्यक्ति की वृत्ति निम्ननीय कर्मों से रहित हो क्योंकि मनुष्य जिस प्रकार से धन को कमाता है और उस धन को किस प्रकार से खर्च करता है उसी के अनुसार उसके इहलोक तथा परलोक का जीवन निर्धारित होता है। दूसरे शब्दों में यदि अन्यायपूर्ण ढंग से धन का संग्रह किया गया है या यदि उसका व्यय अनुचित ढंग से या धर्म-विरुद्ध कार्यों में किया जा रहा है तो उसका बुरा फल ही प्राप्त होता है। कहा जाता है कि पापपूर्ण साधनों से उपाजित धन व्यक्ति के लिये नरक जाने का मार्ग प्रशस्त करता है और सत्कर्मों पर व्यय किया हुआ धन स्वर्ग की सीढ़ी तैयार करता है। परन्तु यह याद रखना चाहिये कि उपाजित तथा व्यय के ढंगों में एक सामंजस्य अवश्य होना चाहिये। पापपूर्ण ढंग से उपाजित धन को सत्कर्मों में व्यय करने से व्यक्ति को उतना फल प्राप्त नहीं होता, जितना कि सत्उपायों से उपाजित धन को सत्कर्मों में व्यय करने से मिलता है। पाराशरस्मृति में न्यायोपाजित वित्त से आत्मरक्षण पर बल दिया गया है। हिन्दुओं के अन्य आदर्श के अनुसार धन को कमाने वाले प्रत्येक व्यक्ति को सदा यह याद रखना

2. "It includes the whole range of tangible objects that can be possessed, enjoyed and lost, and which are required in daily life for the upkeep of household, raising of a family and discharge of religious duties i. e. for the virtuous fulfilment of life's obligations."

—Zimmer

चाहिये कि जो कुछ भी धन वह कमा रहा है उस पर उसका अधिकार केवल उसी सीमा तक है जहाँ तक उसकी न्यायोचित आवश्यकताओं का सम्बन्ध है। इन आवश्यकताओं को पूरा करने के बाद जो भी धन उसके पास बचता है उसका वास्तविक स्वामी वह नहीं है। वह तो केवल समाज की ओर से उस धन का संरक्षक (trustee) है और उस रूप में उसे उस धन का व्यय जन-कल्याण के हेतु ही करना चाहिये। इस आदर्श के पालन पर समाज में धन का वितरण विभिन्न वर्गों में प्रायः समान हो जाएगा और ऐसा होने पर समाज की भौतिक समृद्धि सरल हो जाएगी। धर्मशास्त्रों के अनुसार व्यक्ति को अपने धन का व्यय विशेष रूप से पंच महायज्ञों को सुसम्पन्न करने के लिये करना चाहिये। ऐसा करने से अधिकतर धन का व्यय धर्मानुसार होगा और लोक-कल्याण के दृष्टिकोण से हितकर ही है। क्योंकि इन पंच महायज्ञों के द्वारा केवल पितरों तथा प्रेतात्माओं को ही शान्ति नहीं मिलेगी बल्कि ब्रह्मचारी, वानप्रस्थी, संन्यासी तथा समाज के लिये उपयोगी अन्य व्यक्तियों का, अतिथियों का, लंगड़े-लूले अनाथ तथा अपाहिजों का और पशु-पक्षी, यहाँ तक कि कीड़े-मकोड़े तक का भरण-पोषण होता रहेगा। आर्थिक न्याय तथा जन-कल्याण के दृष्टिकोण से यह व्यवस्था उत्तम ही नहीं, आदर्श भी है।

कुछ विद्वानों का मत है कि अर्थ का सम्बन्ध आर्थिक क्रियाओं तथा राजशास्त्र दोनों से है। पुरुषार्थ के अन्तर्गत अर्थ शब्द का प्रयोग आर्थिक क्रियाओं अर्थात् सम्पत्ति के उत्पादन, उपभोग, विनिमय और वितरण के लिये ही नहीं बल्कि उन नियमों के लिये भी किया जाता है। जिनके द्वारा उपरोक्त आर्थिक क्रियाओं में उत्पन्न होने वाली बाधाओं को भी दबाया जाता है। इनमें से प्रत्येक पक्ष से सम्बन्धित कुछ नियमों और आदर्शों को हिन्दू-शास्त्रकारों ने निर्धारित कर दिया है और उन्हें धर्म से सम्बन्धित नियमों के साथ इस भाँति जोड़ दिया जाता है कि समाज का प्रत्येक सदस्य उसे अपना नैतिक कर्तव्य समझकर अपनाने का प्रयत्न करता है।

काम

(Kama)

पुरुषार्थ के अन्तर्गत 'काम' मानव-जीवन का तृतीय प्रमुख उद्देश्य है। 'काम' शब्द का प्रयोग दो अर्थों में हो सकता है—एक तो संकुचित अर्थ जिसके अनुसार 'काम' केवल इन्द्रिय-सुख या यौन-प्रवृत्तियों की सन्तुष्टि मात्र है। दूसरा अर्थ विस्तृत है जिसके अनुसार 'काम' के अन्तर्गत सन्तुष्टियों की समस्त प्रवृत्तियों, इच्छाओं तथा कामनाओं का समावेश है। डॉक्टर गोपाल के अनुसार 'काम' इन्द्रियों के बाह्य विषयों के सम्पर्क से जनित सुख को कहते हैं। कभी-कभी 'काम' शब्द पाँचों ज्ञानेन्द्रियों की तुष्टि की इच्छा तथा मन और हृदय की कामनाओं के लिए भी प्रयुक्त होता है। लेकिन साधारणतया इसका प्रयोग संकुचित इन्द्रिय-सुख के अर्थ में ही किया जाता है।

'काम' शब्द का अर्थ

(Meaning of the word Kama)

उपरोक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि 'काम' शब्द का अर्थ संकुचित एवं विस्तृत रूप में प्रस्तुत किया जा सकता है। विस्तृत रूप में श्री कार्बे के अनुसार, 'काम' का अर्थ है इच्छा, आकांक्षा अर्थात् एक व्यक्ति जो कुछ भी चाहता है या चाहने की जो अभिलाषा उसके अन्दर होती है वही काम है। सीमित अर्थ में काम का तात्पर्य है यौन-सम्बन्धी इच्छा। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि काम व्यक्तियों की उन तमाम

इच्छाओं या कामनाओं और प्रवृत्तियों की ओर संकेत करता है जोकि एक प्राणि-शास्त्रीय (biological) प्राणी तथा सांस्कृतिक प्राणी के रूप में पाई जाती हैं। श्री कपाडिया के शब्दों में, “काम” मानव के सहज स्वभाव व भावुक जीवन को व्यक्त करता है तथा उसकी काम-भावना और सौन्दर्यप्रियता की वृत्ति की तुष्टि की ओर निर्दिष्ट करता है।” एक अन्य विद्वान् के अनुसार काम विषय-सुख की खोज है। काम मनुष्य के सांस्कृतिक पहलू को सूचित करता है और इसका अर्थ है जीवन का आनन्द। यह आनन्द दो प्रकार का हो सकता है—शारीरिक तथा मानसिक। शारीरिक स्तर पर काम के अन्तर्गत जीवन के वे समस्त आनन्द सम्मिलित हैं जोकि व्यक्ति को शरीर-सम्बन्ध या यौन-सम्बन्ध के द्वारा प्राप्त होते हैं। परन्तु यह आनन्द ही आनन्द नहीं है, अपितु शरीर के साथ-साथ मन या हृदय भी आनन्द का उपभोग करना चाहता है। यह ऊँचे स्तर का आनन्द है जोकि मानव के कलात्मक जीवन के माध्यम से अभिव्यक्त होता है।

‘काम’ के दो पहलू

(Two Aspects of Kama)

अब तक की विवेचना से यह स्पष्ट हो जाता है कि ‘काम’ के दो पहलू हैं—प्रथम पहलू मानव के मूल-प्रवृत्त्यात्मक या यौन-सम्बन्धी जीवन को व्यक्त करता है और दूसरा पहलू उसके भावुक तथा सौन्दर्यात्मक जीवन को।

यौन-सम्बन्धी जीवन ‘काम’ का साधारण या सामान्य पक्ष है क्योंकि साधारण-तया ‘काम’ शब्द का प्रयोग इन्द्रिय-सुख के अर्थ में ही किया जाता है। यह स्वीकार किया जाता है कि मानव के लिए यह स्वाभाविक है कि उसमें यौन-सम्बन्धी इच्छाएँ हों और वह उन इच्छाओं की संतुष्टि करना चाहता है। यौन-सम्बन्धी इच्छा मानव की मूल-प्रवृत्तियों में से ही एक है, इसलिए यह सहज और स्वाभाविक भी है। अतः इसे अनुचित रूप से दबाना ठीक नहीं है; यद्यपि इस इच्छा या प्रवृत्ति का स्वरूप बहुत-कुछ पशुवत् ही है। इसीलिए हिन्दू विचारकों ने विवाह के उद्देश्यों में धर्म और सन्तानोत्पत्ति के साथ ‘काम’ को भी एक उद्देश्य के रूप में अस्वीकार किया है। अतः हिन्दू-विवाह के उद्देश्य धर्म; प्रजा (सन्तान) तथा रति (यौन-सम्बन्धी आनन्द) बतलाए गए हैं। यद्यपि ‘काम’ अथवा यौन-सम्बन्ध विवाह का एक उद्देश्य है, फिर भी इसे तीसरा स्थान दिया गया है। इससे यह स्पष्ट है कि हिन्दू शास्त्रकार यह स्वीकार नहीं करते हैं कि गृहस्थजीवन का सर्वप्रमुख उद्देश्य यौन-सम्बन्धी सुख को प्राप्त करना है। यह सुख वांछनीय है, पर अन्य सुख या उद्देश्यों की तुलना में यह गौण है। हिन्दू-जीवन-दर्शन के इस दृष्टिकोण का स्पष्टीकरण इस बात से होता है कि शास्त्रों में यह स्पष्टतः उल्लेख है कि शूद्र का विवाह केवल यौन-सम्बन्ध के लिये होता है और इसलिये शूद्र पत्नी केवल भोग-विलास के लिये ही होती है। अतः स्पष्ट है कि हिन्दू शास्त्रकारों ने इस बात पर बल दिया है कि यौन-सम्बन्धी इच्छाओं की वृत्ति इसी जीवन का एक सहज, स्वाभाविक या मूल-प्रवृत्त्यात्मक अंग मानकर की जाये। पर इसी को सब-कुछ समझकर इसी में डूबे रहने की नीति को कदापि न अपनाया जाये। उदाहरणार्थ, यौन-सम्बन्ध केवल इसलिये न हो कि उससे शरीर-सुख प्राप्त होता है बल्कि इसलिये भी हो कि उससे उत्तम सन्तानों की प्राप्ति हो जिससे कि वंश की निरन्तरता बनी रहे और पितृ-ऋण से भी उन्मूक्त होना सम्भव हो। जीवन के अन्य

अनेक महत्तम उद्देश्य हैं, इसलिये केवल यौन-सुख की प्राप्ति के लिये ही लगे रहना उचित नहीं।

‘काम’ का दूसरा पहलू मानव के उद्देगात्मक तथा सौन्दर्यात्मक जीवन को व्यक्त करना है। इस पहलू की अभिव्यक्ति सुन्दर एवं उत्कृष्ट वस्तुओं के निर्माण तथा उनकी प्रशंसा द्वारा होती है। मानव आदिकाल से तथा स्वभाव से ही सौन्दर्य का भूखा है। यह सौन्दर्य को केवल आँखों से देखकर ही तृप्त नहीं होता है, वरन् उसे रचनात्मक कल्पना की सहायता से एक मूर्त रूप भी देना चाहता है। इसी के फलस्वरूप कला का जन्म होता है। कला का यह जन्म मानव-जीवन की एक महत्वपूर्ण घटना है क्योंकि इसके जन्म से मानव व पशु में जो विभाजक रेखा खिंच गई वह आज भी अमिट है। पशु कलाविहीन है, मनुष्य कलाकार है; पशु कला से दूर है, मनुष्य कला में ही अमर है। वास्तव में आदिकाल से ही मानव केवल प्रकृति के सौन्दर्य को देखकर ही सन्तुष्ट नहीं रह पाया; उस सौन्दर्य को और उन्नत स्तर पर लाकर उसे मूर्त रूप देने तथा नवीन सौंदर्य की परीक्षा करने की प्रवृत्ति सदा से ही उसकी प्रकृति का एक अंग बनी रही है। इसलिये मानव केवल भोजन, वस्त्र तथा निवास को उत्पन्न या निर्माण करके ही कभी भी सन्तुष्ट नहीं हुआ। जीवन के समस्त संघर्षों के बीच भी उसने इतना समय निकाल ही लिया कि उस समय में खेल-कूद सके, चित्र व मूर्ति बना सके या नृत्य व संगीत का आनन्द ग्रहण कर सके। चित्र को अंकित करते हुये, मूर्ति को राजीव रूप देते हुए संगीत के स्वर में या नृत्य की ताल में व्यक्ति आत्मविभोर हो जाता है, सब-कुछ भूल जाता है। मानव की सौंदर्य-वृद्धि और सौंदर्य-सृष्टि की यह शक्ति व प्रवृत्ति ही उसकी मानवता को बनाये रखती है और मानव फिर से पशु-स्तर पर नहीं लौट पाता। इसीलिये यह प्रवृत्ति मानव-जीवन के एक सांस्कृतिक पहलू को सूचित करती है। स्वस्थ व्यक्तित्व के विकास के लिये यह परभावश्यक है कि इन प्रवृत्ति को दबाया न जाये बल्कि उसको व्यक्त करने के लिये पर्याप्त अवसर दिये जायें। इन अवसरों के बीच ही व्यक्ति जीवन के श्रेष्ठ आनन्द का अनुभव करता है। डॉ० कपाडिया ने लिखा है कि “यदि मानव को उसकी सृजनात्मक प्रवृत्तियों को व्यक्त करने का अवसर न दिया जाए तो उसके व्यक्तित्व का सर्वोत्तम भाग कुण्ठित हो जाता है। जीवन का सर्वोपरि आनन्द सृजनात्मक प्रवृत्तियों में ही है। जो कुछ सुन्दर है उसकी प्रशंसा ही मानव जीवन को विकसित करती है और उसे समृद्धिशाली बनाती है। भावपूर्ण अभिव्यक्ति का दमन व्यक्ति की स्वस्थ और स्थिर-प्रज्ञा का अवरोधक है। व्यक्तित्व के स्वस्थ विकास हेतु भावनाओं की अभिव्यक्ति आवश्यक है वास्तव में इसके समन्वयात्मक विकास के लिये उचित मार्ग की आवश्यकता है जिसको कि पुरुषार्थ के सिद्धांत द्वारा प्रदर्शित किया गया है।

‘काम’ के सम्बन्ध में विभिन्न मत

(Different views regarding Kama)

उपरोक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि ‘काम’ शब्द का प्रयोग केवल यौन-सुख के लिए ही नहीं, पाँचों ज्ञानेन्द्रियों की तुष्टि की इच्छा तथा मन व हृदय की कामनाओं के लिये भी हो सकता है। इसी आधार पर ‘काम’ के सम्बन्ध में विभिन्न मतों को व्यक्त करना भी सम्भव हुआ। यौन-सुख पर अत्यधिक बल देना अनुचित है, पर उसे एक सीमा के बाद दबाना भी सामाजिक व वैयक्तिक जीवन के लिये अहितकर है—इसे भी स्वीकार किया गया है। इस स्वीकृति के फलस्वरूप ‘काम’ को भी जीवन के

आदर्श या मुख्य उद्देश्य के रूप में अर्थात् पुरुषार्थ के अन्तर्गत सम्मिलित कर लिया गया। पर इस उद्देश्य या आदर्श का वास्तविक रूप या स्वरूप क्या होगा—इस सम्बन्ध में विचारकों में एकमत नहीं है।

कुछ विचारकों के अनुसार 'काम' के पशु-रूप का अर्थात् केवल यौन-सुख पर आवश्यकता से अधिक बल देने की प्रवृत्ति का अन्त होना चाहिये क्योंकि इससे जीवन के उच्चतर आदर्शों की प्राप्ति सम्भव नहीं होती। गीता (3/62-63) में यह कहा गया है कि विषयों का चिन्तन करने वाले पुरुष का इन विषयों में संग बढ़ता जाता है; फिर इस विषय-संग से काम की वासना उत्पन्न होती है, और इस काम की तृप्ति होने में विघ्न होने से उस काम से ही क्रोध की उत्पत्ति होती है, क्रोध से मोह अर्थात् अविवेक का जन्म होता है, मोह से स्मृतिभ्रम, स्मृतिभ्रम से बुद्धिनाश और बुद्धिनाश से पुरुष का सर्वनाश हो जाता है। इसीलिये यह उचित समझा गया कि कामवासना को आध्यात्मिक या 'धर्म' के आधार पर नियमित किया जाए। इसीलिए स्त्री-पुरुष के शरीर-सम्बन्ध में आध्यात्मिक एकता और धर्म-भाव के विचार को जोड़ दिया गया और यह कहा गया कि विवाह का उद्देश्य केवल यौन-सुख ही नहीं, धर्म का समुचित पालन भी है। यह मत हिन्दुओं के परम्परागत दृष्टिकोण या आदर्श का प्रतिनिधित्व करता है।

इसके विपरीत दूसरा वर्ग 'काम' के अन्तर्गत विषय-सुख को प्रधान मानने वालों का है। इनके विचार को इस प्रकार प्रस्तुत किया जा सकता है—“जीवन तुम्हारा अपना है, आनन्दपूर्वक रहो। खोजती हुई मृत्यु की आँखों से कोई नहीं बच सकता; जब जीवन के निश्चित घण्टे समाप्त हो जाएंगे तो शरीर को जला दिया जाएगा; तो फिर वह पुनः कैसे वापस आ सकता है। इसलिये जीवन को भरपूर भोग लो, जीवन की सार्थकता यही है।” यह मत 'काम' के सम्बन्ध में साधारण-च संकुचित विचार का प्रतिनिधित्व करता है और इसमें 'काम' शब्द का प्रयोग इन्द्रिय-सुख के अर्थ में ही किया गया है।

कुछ विचारकों ने विषय-सुख के उपरोक्त संकुचित विचार को विस्तृत रूप देने का प्रयत्न किया है। उनके अनुसार विषय-सुख की अवधारणा में निम्नलिखित तत्त्वों को सम्मिलित समझना चाहिए—(अ) स्त्रियों की सुन्दरता तथा उनकी रहस्यात्मकता विषय-सुख की अवधारणा में महत्वपूर्ण स्थान रखती है। इसके अन्तर्गत जिस प्रकार वेश्याओं के प्रति आसक्ति-भाव का समावेश है, उसी प्रकार आदर्श पत्नी के प्रति अनुराग तथा दिव्य एवं स्वर्गीय प्रेम भी सम्मिलित है। (ब) अच्छा भोजन, अच्छा पेय, मदिरा, मनोहर एवं रमणीक संगीत, सुन्दर कपड़े, सुगन्ध, गहने, फूल-माला आदि सब विषय-सुख की खोज की प्रक्रिया के आवश्यक अंग हैं। (स) विषय-सुख की अवधारणा में सौन्दर्यशास्त्र और ललितकला (aesthetic and fine art) भी सम्मिलित हैं। नाटक, साहित्य, संगीत, नृत्य, कविता, चित्रकला, मूर्तिकला आदि सभी चीजें विषय-सुख के अन्तर्गत सम्मिलित हैं।

'काम' का महत्व

(Importance of Kama)

संकुचित तथा व्यापक दोनों ही अर्थों में 'काम' के महत्व को अस्वीकार नहीं किया जा सकता। संकुचित अर्थ में 'काम' यौन-सम्बन्धी सुख है। इस सुख की प्राप्ति

की इच्छा से ही पति-पत्नी का शरीर-सम्बन्ध स्थापित होता है जिससे कि सन्तानों की उत्पत्ति होती है और सन्तानों की उत्पत्ति वंश तथा समाज के अस्तित्व व निरन्तरता के लिये परमावश्यक है। व्यक्ति भले ही मर जाए, पर पति-पत्नी में यौन-सम्बन्ध के फलस्वरूप उत्पन्न होने वाली सन्तानों द्वारा मानव-जाति या समाज अमर हो गया है। मनुष्य की कितनी ही आकांक्षाएँ और अभिलाषाएँ सन्तान से पूर्ण होती हैं। सन्तान द्वारा उसकी वंश-रक्षा नहीं, बल्कि वंश की परम्परा या सांस्कृतिक प्रतिमान की भी रक्षा होती है। इतना ही नहीं, शरीर के स्वस्थ निर्वाह के लिए तथा मानसिक शान्ति के लिए भी यौन-सम्बन्धी इच्छाओं की पूर्ति आवश्यक है। संकुचित अर्थ में 'काम' का एक दीर्घकालीन महत्व भी उल्लेखनीय है। काम-वासनाओं की सन्तुष्टि से इन्द्रियाँ तुष्ट होती हैं और विरक्ति की भावना का उदय सम्भव होता है, और यह विरक्ति की भावना जीवन के परम उद्देश्य मोक्ष की प्राप्ति का पथ प्रशस्त करती है; भोग ही त्याग का कारण बन जाता है। इस प्रकार पुरुषार्थ की सम्पूर्ण अवधारणा में संकुचित अर्थ में भी 'काम' का महत्व कम नहीं है क्योंकि मोक्ष ही परम पुरुषार्थ है और उस मोक्ष की प्राप्ति में 'काम' सहायक सिद्ध हो सकता है।

अपने व्यापक रूप में, जैसा कि डॉ० गोपाल ने लिखा है, काम का अर्थ इच्छा है। इस रूप में काम सभी कार्यों की जड़ है, क्योंकि सभी कार्य किसी इच्छा से ही प्रेरित होते हैं। मनुस्मृति में तो स्वीकार किया गया है कि वेद का अध्ययन और वेदों में प्रतिपादित कर्तव्यों का पालन भी काम पर ही आधारित है (काम्यो हि वेदाधिगमः कर्मयोगश्च वैदिकः)। गीता में श्रीकृष्ण ने कहा है कि "मैं वही काम हूँ जो धर्म के विरुद्ध नहीं है" (धर्माविरुद्धो भूतेषु कामोऽस्मि भरतर्षभ)। इसी प्रकार किसी भी अर्थ में काम के महत्व को अस्वीकार नहीं किया जा सकता।

मोक्ष

(Moksha)

जीवन का अन्तिम लक्ष्य मोक्ष है। डॉक्टर कपाडिया ने लिखा है कि "इसका आशय यह है कि मानव की शाश्वत प्रकृति आध्यात्मिक है और जीवन का उद्देश्य इसको प्रकाशित करना तथा इसके द्वारा आनन्द और ज्ञान प्राप्त करना है।" यह कार्य कैसे सुसम्पन्न किया जाए, इसके विषय में गम्भीर चिन्तन भारत के मुनि-ऋषियों ने किया है। "उन्होंने यह अनुभव किया कि ऐहिक जीवन के सुख-साधन पूर्णतया व्यर्थ न होने पर भी चिरकाल तक सुख देने में समर्थ नहीं हैं, सुख वस्तुनिष्ठ नहीं, आत्मनिष्ठ है।" अर्थ और कामपूर्ति के समस्त साधन समीप होने पर भी मनुष्य दुःखी रह सकता है। फिर भी अर्थ, काम आदि को जीवन से निकाल फेंकना अनुचित होगा। अपने-अपने स्थान पर इनका भी अपना महत्व है। यह निश्चित है कि इनमें ही जकड़े रहना जीवन का कोई उच्च आदर्श नहीं है। इसीलिए ऐहिक सुख-लाम के साथ पारमार्थिक उन्नति भी आवश्यक है और यह आवश्यकता तभी पूरी हो सकती है जबकि आत्मा परमात्मा के साथ मिल जाए तथा उसको (आत्मा को) संसार के आवागमन अर्थात् जन्म और मृत्यु के चक्र से मुक्ति या छुटकारा मिल जाए। यही 'मोक्ष' की स्थिति है या दूसरे शब्दों में इसी को मोक्ष कहते हैं। मोक्ष की प्राप्ति धर्म द्वारा निर्देशित पथ पर चलने से ही हो सकती है क्योंकि धर्म ही उन उपायों का बोध कराता है जिनके द्वारा आत्मा और परमात्मा का एकात्म होना सम्भव होता है। हमारे प्राचीन ऋषि-मुनियों का निष्कर्ष यह है कि 'जीव' वस्तुतः ब्रह्म ही है क्योंकि सम्पूर्ण

विश्व को व्याप्त करता हुआ ब्रह्मा ही जीव का भी स्वरूप है। अन्तर केवल इतना ही है कि जीव मर्यादित (सीमित) और ब्रह्म अमर्यादित (असीमित) है। अतः जीव यदि अपनी मर्यादाओं को समाप्त कर दे, तो वह ब्रह्म ही है और परम सुख भी वही है। यही मोक्ष है।

‘मोक्ष’ का अर्थ

(Meaning of Moksha)

मोक्ष के अर्थ के सम्बन्ध में विभिन्न शास्त्रकारों का दृष्टिकोण बाह्यतः एक नहीं है, यद्यपि आन्तरिक रूप में उनमें कोई स्पष्ट विरोध देखने को नहीं मिलता।

सांख्यशास्त्र में मोक्ष के अर्थ को इस प्रकार समझाया गया है कि—“यथार्थ में पुरुष न तो कर्त्ता है और न बँधा ही है—वह तो स्वतन्त्र और निसर्गतः केवल या अकर्त्ता है। जो कुछ होता जाता है वह सब प्रकृति ही का खेल है। यहाँ तक कि मन और बुद्धि भी प्रकृति के ही विकार हैं। इसलिए बुद्धि को जो ज्ञान होता है, वह भी प्रकृति के कार्य का ही फल है। यह ज्ञान तीन प्रकार का होता है—सात्त्विक, राजसिक और तामसिक। जब बुद्धि को सात्त्विक ज्ञान प्राप्त होता है तब पुरुष को यह मालूम होने लगता है कि मैं प्रकृति से भिन्न हूँ। सत्त्व-रज-तमोगुण प्रकृति के ही घर्म हैं, पुरुष के नहीं। पुरुष निर्गुण है, और त्रिगुणात्मक प्रकृति उसका दर्पण है। जब वह दर्पण स्वच्छ या निर्मल हो जाता है, अर्थात् जब मनुष्य की यह बुद्धि—जो प्रकृति का विकार है—सात्त्विक हो जाती है, तब इस निर्मल दर्पण में पुरुष को अपना सात्त्विक स्वरूप देखने लगता है और उसे यह बोध हो जाता है कि मैं प्रकृति से भिन्न हूँ। उस स्थिति में यह प्रकृति लज्जित होकर उस पुरुष के सामने नाचना, खेलना या जाल फैलाना बन्द कर देती है। जब यह अवस्था प्राप्त हो जाती है, तब पुरुष सब पाशों या जालों से मुक्त होकर अपने स्वाभाविक कैवल्यपद को पहुँच जाता है। ‘कैवल्य’ शब्द का अर्थ है केवलता, अकेलापन या प्रकृति के साथ संयोग न होना। पुरुष की इस नैसर्गिक या स्वाभाविक स्थिति को ही सांख्यशास्त्र में मोक्ष (मुक्ति या छुटकारा) कहा गया है।”

इस सम्बन्ध में लोकमान्य बालगंगाधर तिलक ने यह लिखा है कि उपरोक्त व्यवस्था के विषय में सांख्यवादियों ने एक बहुत नाजुक प्रश्न का विचार उपस्थित किया है। उनका प्रश्न है कि पुरुष प्रकृति को छोड़ देता है या प्रकृति पुरुष को छोड़ देती है? कुछ लोगों की समझ में यह प्रश्न वैसा ही निरर्थक प्रतीत होगा, जैसा यह प्रश्न कि दुलहा के लिए दुलहिन ऊँची है या दुलहिन के लिए दुलहा ठिगना है। चूँकि जब दो वस्तुओं का एक-दूसरे से वियोग होता है तब हम देखते हैं कि दोनों एक-दूसरे को छोड़ देते हैं, इसलिए ऐसे प्रश्न का विचार करने से कुछ लाभ नहीं है कि किसने किसको छोड़ दिया। परन्तु कुछ अधिक सोचने पर मालूम हो जाएगा कि सांख्यवादियों का उक्त प्रश्न उनकी दृष्टि से अनुचित नहीं है। सांख्यशास्त्र के अनुसार ‘पुरुष’ निर्गुण, अकर्त्ता और उदासीन है। इसलिए सात्त्विक दृष्टि से ‘छोड़ना’ या ‘पकड़ना’ क्रियाओं का कर्त्ता पुरुष नहीं हो सकता (गीता, 13/31-32)। इसलिए सांख्यवादी कहते हैं कि प्रकृति ही पुरुष को छोड़ दिया करती है; अर्थात् वही ‘पुरुष’ से अपना छुटकारा या मुक्ति कर लेती है क्योंकि कर्तृत्वघर्म ‘प्रकृति’ का ही है (सांख्यकारिका, 62 और 13/24)। सारांश यह है कि मुक्ति या मोक्ष नाम की ऐसी कोई निराली अवस्था नहीं है जो ‘पुरुष’ को कहीं बाहर से प्राप्त हो जाती है अथवा यह कहिए कि वह ‘पुरुष’ की मूल और स्वाभाविक स्थिति से कोई भिन्न स्थिति भी नहीं है। प्रकृति

और पुरुष में वैसा ही सम्बन्ध है, जैसाकि घास के बाहरी छिलके और अन्दर के गूदे में रहता है, या जैसे पानी और उसमें रहने वाली मछली में। सामान्य पुरुष प्रकृति के गुणों से मोहित हो जाते हैं, और अपनी यह स्वाभाविक भिन्नता पहचान नहीं सकते। इसी कारण वे संसार-चक्र में फँसे रहते हैं। परन्तु जो पुरुष 'धर्म' के निर्देशानुसार ज्ञान प्राप्त कर लेते हैं या अपने को निर्मल बना लेते हैं और अपने में सात्विक गुणों को विकसित कर लेते हैं एवं जो अपने और प्रकृति के बीच की भिन्नता को पहचान लेते हैं, वे ही मुक्त हैं—वे संसार-चक्र से जन्म और मृत्यु के चक्र से या संसार के आवागमन से मुक्त हो जाते हैं। यही मोक्ष है। महाभारत (शान्ति०, 194/58; 248/11 और 303-308) में लिखा है कि ऐसे ही पुरुष को 'ज्ञाता' या 'बुद्ध' और 'कृतकृत्य' कहते हैं। गीता के इस वचन "एतद्बुद्ध्वा बुद्धिमान स्यात्।" (गीता, 15/20) में बुद्धिमान शब्द का भी यही अर्थ है। अध्यात्मशास्त्र की दृष्टि से मोक्ष का सच्चा स्वरूप भी यही है।

'ब्रह्मनिर्वाण' के सिद्धान्त के अनुसार मोक्ष का अर्थ कुछ भिन्न है : जब ब्रह्मात्मक्य का पूरा ज्ञान हो जाता है, तब आत्मा ब्रह्म में मिल जाती है, और ब्रह्मज्ञानी पुरुष आप ही ब्रह्मरूप हो जाता है। इस आध्यात्मिक अवस्था को ही 'ब्रह्मनिर्वाण' मोक्ष कहते हैं। यह मोक्ष किसी से किसी को दिया नहीं जाता। यह कहीं दूसरे स्थान से आता नहीं या इसकी प्राप्ति के लिए किसी अन्य लोक में जाने की भी आवश्यकता नहीं। पूर्ण आत्मज्ञान जब और जहाँ होगा उसी क्षण और उसी स्थान पर मोक्ष समझना चाहिए, क्योंकि मोक्ष तो आत्मा की ही मूल शुद्धावस्था है। वह कुछ निराली स्वतन्त्र वस्तु या स्थल नहीं। शिवगीता (13/32) में यह श्लोक है—

नोक्तस्य न हि वासोऽस्ति न ग्रामान्तरमेव वा ।

अज्ञानहृदयग्रन्थिनाशो मोक्ष इति स्मृतः ॥

अर्थात् "मोक्ष कोई ऐसी वस्तु नहीं कि जो किसी एक स्थान में रखी हो अथवा यह भी नहीं कि उसकी प्राप्ति के लिये किसी दूसरे गाँव या प्रदेश में जाना पड़े। वास्तव में हृदय की अज्ञान ग्रन्थि के नाश हो जाने अर्थात् पूर्ण ज्ञान की प्राप्ति को ही मोक्ष कहते हैं।" इसी प्रकार अध्यात्मशास्त्र से निष्पन्न होने वाला यही अर्थ भगवद्गीता के "अमृतो ब्रह्मनिर्वाण वर्तते विदितात्मनाम्" (गीता, 5/26)—अर्थात् जिन्हें पूर्ण आत्मज्ञान हुआ है, उन्हें ब्रह्मनिर्वाणरूपी मोक्ष आप-ही-आप मिल जाता है तथा "यः सदा मुक्त एव सः" (गीता, 5/28) इस श्लोक में वर्णित है, और "ब्रह्मविद् ब्रह्मैव भवति"—अर्थात् जिसने ब्रह्म को जाना, वह ब्रह्म ही हो जाता है (मुण्डकोपनिषद्, 3/2/9) इत्यादि उपनिषद् वाक्यों में भी वही अर्थ वर्णित है।

गीता (5/24—28) में यह कहा गया है कि बाह्य सुख-दुखों की अपेक्षा न कर जो अन्तःसुखी अर्थात् अन्तःकरण में ही सुखी हो जाए, जो अपने-आपमें ही आराम पाने लगे, और ऐसे ही जिसे यह अन्तःप्रकाश मिल जाए, वह योगी ब्रह्मरूप हो जाता है एवं उसे ही ब्रह्मनिर्वाण अर्थात् ब्रह्म में मिल जाने का मोक्ष प्राप्त हो जाता है। जिन ऋषियों की द्वन्द्वबुद्धि छूट गई है—अर्थात् जिन्होंने इस तत्त्व को ज्ञान लिया है कि सब स्थानों में एक ही परमेश्वर है, जिनके पाप नष्ट हो गए हैं और जो आत्मसंयम से सब प्राणियों का हित करने में रत हो गए हैं, उन्हें वह ब्रह्मनिर्वाणरूप मोक्ष मिलता है। कामक्रोध विरहित, आत्मसंयमी और आत्मज्ञान-सम्पन्न योगी को वैठे-

बिठाए ब्रह्मनिर्वाणरूप मोक्ष मिल जाता है। जिसने इन्द्रिय, मन और बुद्धि का संयम कर लिया है तथा जिसके भय, इच्छा और क्रोध छूट गये हैं, वह मोक्षपरायण मुनि सदा-सर्वदा मुक्त ही है। लोकमान्य तिलक के अनुसार, "इससे यह समझना चाहिये कि जैसे सांख्यवादी 'त्रिगुणातीत' पद से प्रकृति और पुरुष दोनों को स्वतन्त्र मानकर पुरुष के अकेलापन, केवलपन या कैवल्य को मोक्ष मानते हैं, वैसा ही मोक्ष गीता को भी मान्य है। गीता के अनुसार अध्यात्मशास्त्र में कहीं गई ब्राह्मी अवस्था 'अहं ब्रह्मास्मि मैं ही ब्रह्म हूँ' कभी तो भक्ति-मार्ग से, कभी चित्तनिरोधरूप पातंजल योग-मार्ग से और कभी गुणा-गुण विवेचनरूप सांख्य-मार्ग से भी प्राप्त होती है।" साधन कुछ भी हो, इतनी बात तो निर्विवाद है कि ब्रह्मात्मैक्य का अर्थात् सच्चे परमेश्वरस्वरूप का ज्ञान होना, सब प्राणियों में एक ही आत्म पहचानना और उसी भाव के अनुसार बर्ताव करना ही अध्यात्मज्ञान की परमावधि है, तथा यह अवस्था जिसे प्राप्त हो जाए, वही पुरुष धन्य तथा कृतकृत्य होता है।" वास्तव में यह अवस्था ही मोक्ष है या ऐसे पुरुष ही मोक्ष को प्राप्त करते हैं।

'मोक्ष' के अर्थ के सम्बन्ध में अद्वैत वेदान्तियों का विशेष कथन यह है कि आत्मा मूल ही में परब्रह्मस्वरूप है, और जब वह अपने मूलस्वरूप को अर्थात् परब्रह्म को पहचान लेती है, तब वही उसकी मुक्ति या मोक्ष है, "अपनी आत्मा के अमर, श्रेष्ठ, शुद्ध, त्रित्य तथा सर्वव्यापी स्वरूप की पहचान करके उसी में रम जाना ज्ञानवान् मनुष्य का इस संसार में पहला कर्तव्य है। जिसे सर्वभूतान्तर्गत आत्मैक्य की इस तरह से पहचान हो जाती है, तथा यह ज्ञान जिसकी देह तथा इन्द्रियों में समा जाता है, वह पुरुष इस बात के सोचने में पड़ा नहीं रहता कि संसार झूठ है या सच। किन्तु यह सर्वभूत के हित के लिए उद्योग करने में आप-ही-आप जुट जाता है और सत्य मार्ग पर आगे बढ़ता रहता है, क्योंकि उसे यह पूरी तौर से मालूम रहता है कि अविनाशी तथा त्रिकाल अबाधित सत्य कौनसा है। मनुष्य की वही आध्यात्मिक पूर्णवस्था सब नीति-नियमों का मूल उद्गम-स्थान है, और इसे ही वेदान्त में 'मोक्ष' कहा गया है।"

'मोक्ष' के सम्बन्ध में अद्वैत वेदान्तियों के विचारों का स्पष्टीकरण करते हुए सर्वश्री चटर्जी तथा देत्ता ने लिखा है कि उनके अनुसार "पारमाथिक दृष्टि से मुक्ति न तो उत्पन्न होती है, न पहले से अप्राप्त है। यह तो प्राप्ति ही की प्राप्ति है। मुक्ति शाश्वत सत्य का अनुभव है। जो सदा-सर्वदा से है (बन्धन की अवस्था में भी सत्य अज्ञात रूप में विद्यमान रहता है) उसका साक्षात् अनुभव ही मुक्ति या मोक्ष है। मोक्ष-प्राप्ति की उपमा वेदान्ती यों देते हैं कि जैसे किसी के गले में पहले ही से हार है, परन्तु वह इस बात को भूलकर इधर-उधर दूँढ़ता फिरता है; अन्त में जब अपनी ओर देखता है तो हार मिल जाता है—हार का साक्षात् अनुभव उसे होता है, उसी तरह मनुष्य को मोक्ष प्राप्ति के लिये कहीं इधर-उधर भटकने की आवश्यकता नहीं, केवल अपने को समझने की जरूरत है। बन्धन अज्ञानकृत होता है, अतः इस अज्ञान का आवरण दूर कर देना ही मोक्ष है। जीव और ब्रह्म की भेद-बुद्धि से उत्पन्न हुए समस्त क्लेशों की निवृत्ति मात्र ही मुक्ति नहीं है। अद्वैतवादी उपनिषद् मोक्षावस्था को 'आनन्द' मानते हैं। मोक्ष का अर्थ है ब्रह्मानुभूति। मनुष्य की यही आध्यात्मिक पूर्णवस्था सब नीति-नियमों का मूल उद्गम-स्थान है, और इसे ही वेदान्त में 'मोक्ष' कहते हैं।

संक्षेप में, डॉ० गोपाल के शब्दों में, हम कह सकते हैं कि मोक्ष का सम्बन्ध आत्मा से है। आत्मा के सर्वोच्च विकास, अपने सच्चे स्वरूप की प्राप्ति को मोक्ष कहते हैं।

उपरोक्त विवेचना के आधार पर हम कह सकते हैं कि मोक्षपूर्ण ज्ञान व सत्य और अनन्त आनन्द की वह स्थिति है जिसमें कि आत्मा अपने चरम व परम लक्ष्य परमात्मा को प्राप्त कर लेती है। अति संक्षेप में, सत्य, शिव तथा सुन्दर की प्राप्ति ही मोक्ष है।

मोक्ष के विभिन्न मार्ग तथा उनमें अन्तर

(Different Paths of Moksha and their distinction)

मोक्ष-प्राप्ति के तीन प्रमुख मार्गों का उल्लेख किया जाता है। वे हैं—कर्म-मार्ग, ज्ञान-मार्ग तथा भक्ति-मार्ग। हम यहाँ तीनों मार्गों के स्वरूप को स्पष्ट करते हुए उनमें पाए जाने वाले भेद या अन्तर का स्पष्टीकरण करेंगे।

1. कर्म-मार्ग—मोक्ष-प्राप्ति के लिये कर्म-मार्ग वह मार्ग है जिसमें कि इस बात पर बल दिया जाता है कि मोक्ष की प्राप्ति तब तक सम्भव नहीं है जब तक कि मनुष्य उसके लिये निर्धारित कर्मों का निष्ठापूर्वक पालन नहीं करता है। मनुष्य-जीवन श्रेष्ठ है, और वह एक अर्थ में श्रेष्ठ इस कारण है कि उसे इस संसार में पशुओं से श्रेष्ठतम कार्यों या कर्मों को सम्पादित करने के लिये पैदा किया गया है। इन कर्मों में सामाजिक, धार्मिक, नैतिक, पारिवारिक आदि सभी प्रकार के कर्मों का समावेश है और व्यक्ति को जीवन की उच्चतर अवस्था को प्राप्त करने के लिये इन कर्मों को करना पड़ता है। यह उसका कर्त्तव्य है और कर्त्तव्यों का पालन ही धर्म का पालन है और जो अपने धर्म का पालन सही अर्थ में करता है वही अपनी गति या मोक्ष को प्राप्त होता है। कर्म-मार्ग के अनुसार लोगों की यह धारणा गलत है कि वैराग्य लेकर सांसारिक कृत्य-कर्मों से जान छुड़ा लेने से ही मोक्ष की प्राप्ति हो सकती है। वास्तविक सत्य इसका उल्टा है। सामाजिक और धार्मिक कर्त्तव्य-कर्मों को संसार में रहते हुए ही निष्ठापूर्वक करने से मोक्ष की प्राप्ति सम्भव होती है। इन कर्मों का उल्लेख वर्ण-धर्म, आश्रम-धर्म, कुल-धर्म, काल व देश-धर्म, राज-धर्म तथा स्वधर्म में देखने को मिलता है। इनमें उल्लिखित कर्त्तव्यों के पालन से ही मोक्ष की प्राप्ति सम्भव है। संक्षेप में यही कर्म-मार्ग है।

कुरुक्षेत्र के युद्ध में अर्जुन युद्ध कार्यों को करने से हिचकिचा रहे थे। उनको शका थी कि लड़ाई जैसे कर्म से, जिसमें कि उन्हें अनेक लोगों की जान लेनी पड़ेगी, आत्मा का कल्याण कैसे हो सकता है। इस पर भगवान् श्रीकृष्ण अर्जुन को उपदेश देते हैं कि आत्मज्ञानी पुरुषों के लिये कर्म-मार्ग श्रेष्ठ है आत्मा का न कभी जन्म होता है और न वह कभी मरती ही है। यह तो सदैव थी और सदैव रहेगी। यह अजय, नित्य, शाश्वत और पुरातन है, एवं शरीर नष्ट हो जाने पर भी यह मरती नहीं है। जिस प्रकार कोई मनुष्य पुराने वस्त्रों को छोड़कर नए वस्त्रों को धारण करता है, उसी प्रकार देही शरीर का स्वामी आत्मा पुराने शरीर को त्यागकर दूसरा नया शरीर धारण करती है। यही जन्म और मृत्यु का रहस्य है। पर इनमें से किसी भी अवस्था में आत्मा का नाश नहीं होता है और न ही कोई कर सकता है। अतः जन्म और मृत्यु के विषय में व्यर्थ का शोक न करके मनुष्य को अपना कर्म करते जाना चाहिये।

धर्मानुसार कर्म ही श्रेष्ठ है क्योंकि इस कर्म-योग में एक बार आरम्भ किये हुये कर्म का फल कभी-न-कभी अवश्य ही मिलता है। पर इस सम्बन्ध में मनुष्य को यह याद रखना चाहिये कि उसे कर्म-फल की आशा किये बिना ही अपना कर्म करते जाना चाहिये। कर्म करना उसका काम है, पर कर्म का फल देना यह ईश्वर के हाथों में है। जो लोग कर्म करने से पहले ही फल पाने की आशा लगा लेते हैं उनका कर्म व्यर्थ का होता है। पर जो लोग फल देने या न देने का सब भार भगवान् पर छोड़कर निःस्वार्थ रूप में धर्मानुसार कर्म करते रहते हैं उन्हें अन्त में मोक्ष-प्राप्ति ही होती है। 'धर्मानुसार कर्म' का अर्थ है कर्म करते हुये भी कर्म की आसक्ति में न फँसना। उदाहरणार्थ, पिता या पति के रूप में सन्तान या पत्नी के प्रति अपने कर्त्तव्य-कर्मों का पालन करना उचित है, पर उनको ही सब-कुछ मान लेना, उनके माया-मोह में पूर्णतया फँस जाना या उनके प्रति घोर आसक्ति रखना अनुचित है। इस सम्बन्ध में 'गीता' में भगवान् का स्पष्ट निर्देश यह है कि "आसक्ति छोड़कर और कर्म की सिद्धि हो या असिद्धि दोनों को समान ही मानकर, योगस्थ होकर कर्म करना चाहिये। कर्म की सिद्धि होने पर न तो खुश होना चाहिये और न कर्म की असिद्धि पर दुखी होना चाहिये। अर्थात् दोनों ही अवस्थाओं को समान मानने की मनोवृत्ति को ही कर्मयोग कहते हैं और इसके द्वारा ही मोक्ष की प्राप्ति सम्भव है।"

2. ज्ञान मार्ग — जब बुद्धिमान पुरुष अपनी बुद्धि से परम-ब्रह्म के स्वरूप का निश्चय कर उसके अव्यक्त स्वरूप में केवल अपने विचारों के बल से अपने मन को स्थिर कर लेते हैं तो उसे ज्ञान-मार्ग कहते हैं। इस मार्ग में बुद्धि या ज्ञान ही प्रमुख बल होता है और उसी की सहायता से ब्रह्म के वास्तविक स्वरूप को जानने, उनसे सम्बन्धित रहस्य को जानने का प्रयत्न किया जाता है। ब्रह्म के सम्बन्ध में पूर्ण ज्ञान को प्राप्त कर लेना ही मोक्ष की स्थिति है। गीता में श्रीकृष्ण ने कहा है कि "जो व्यक्ति ब्रह्म की उपासना सब इन्द्रियों को नियन्त्रण में रखते हुए और सर्वत्र समबुद्धि रखते हुए करते हैं, वे सब भूतों के हित में निमग्न लोग मुझे ही पाते हैं।" यही मोक्ष-प्राप्ति का ज्ञान-मार्ग है। इस मार्ग की दो प्रमुख विशेषतायें हैं—एक तो यह है कि इसमें ब्रह्म या परमेश्वर को अव्यक्त या निराकार माना जाता है और दूसरा यह कि इसमें बुद्धि ही प्रमुख सहायक है और इसी बुद्धि के बल पर परमेश्वर को या परम सत्य को जानने या उसके सम्बन्ध में ज्ञान प्राप्त करने का प्रयत्न किया जाता है। यह परम ज्ञान ही मोक्ष है। परन्तु इस मार्ग के विषय में भगवान् ने स्वयं ही आगे भी कहा है कि अव्यक्त या निराकार ब्रह्म में चित्त या मन की एकाग्रता करने वाले को बहुत कष्ट होता है क्योंकि व्यक्त देहधारी—(अर्थात् साकार) मनुष्यों के लिये अव्यक्त उपासना का मार्ग स्वभावतः ही कष्टदायक होता है।

उपरोक्त विवेचना से यह स्पष्ट है कि कर्म-मार्ग और ज्ञान-मार्ग में कुछ आधार-भूत अन्तर हैं—प्रथम कर्म-मार्ग में कर्म की पूजा है, कर्म ही आराधना है। फल की आशा न रखकर धर्मानुसार कर्म करने से मोक्ष की प्राप्ति होती है। इस कर्म-मार्ग में इस प्रकार कर्म पर ही अत्यधिक बल दिया गया है। इसके विपरीत ज्ञान-मार्ग में बल ज्ञान पर या बुद्धि पर है। ब्रह्म के सम्बन्ध में पूर्ण ज्ञान ही मोक्ष है। ब्रह्म की एक निराकार शक्ति के रूप में कल्पना की गई है और उस शक्ति के रहस्य को बुद्धि के बल से समझने पर बल दिया गया है।

दूसरा अन्तर यह है कि कर्म-मार्ग में मनुष्य को संसार त्याग करके जाने की

आवश्यकता नहीं है, पर ज्ञान-मार्ग में मन की एकाग्रता को बनाए रखने के लिए सांसारिक संघटों से दूर रहने की आवश्यकता होती है।

3. भक्ति-मार्ग—भक्ति-मार्ग मोक्ष-प्राप्ति का वह मार्ग है जोकि ईश्वर को प्रेम और भक्ति के द्वारा जानने और उन पर विजय पाने पर वल देता है। ईश्वर महान् है। उस महान् ईश्वर की सबसे बड़ी मान्यता यह है कि वे प्रेम और भक्ति के सामने झुक जाते हैं। भक्ति-मार्ग की सबसे बड़ी मान्यता यह है कि “भक्त के भगवान्”। गीता में श्रीकृष्ण भगवान् ने स्पष्ट ही कहा है कि सच्ची भक्ति रखने वाले भक्त ही उन्हें सर्वाधिक प्रिय हैं। इसीलिये भगवान् को पाने के लिये या मोक्ष-प्राप्ति के हेतु भक्ति-मार्ग ही उत्तम है। यह उत्तम इसलिये भी है कि भक्ति और प्रेमभाव अपने में जागृत करने का समान अधिकार प्रत्येक प्राणी को है, चाहे वह किसी भी जाति, धर्म तथा सम्प्रदाय का सदस्य क्यों न हो। भगवान् के लिये सभी भक्त समान हैं, चाहे वह ब्राह्मण हो या शूद्र। साथ ही भक्ति एक आन्तरिक भावना है, इसका कोई भी सम्बन्ध बाहरी दिखावे या आडम्बर से नहीं है। इसीलिये भक्ति-मार्ग पर चले वालों को भगवान्-भजन, भगवान्-ज्ञान और भगवान्-दर्शन के लिए बाहरी आडम्बर करो की कोई आवश्यकता नहीं होती है और न ही इसके लिये संसार को छोड़कर वन में जाकर तपस्या करने की आवश्यकता होती है। वास्तविक भक्ति की सहजता से भगवान् का दर्शन या भगवान्-ज्ञान कहीं भी रहकर हो सकता है। भक्ति-मार्ग में भगवान् सत्ता के रूप में, पिता के समान रक्षक के रूप में, माता के समान स्नेह करने वाले के रूप में, मित्र के समान सुख-दुख में समान रूप से भागीदार के रूप में तथा सर्वशक्तिमान जगदात्मा बनकर सत्-मार्ग सुझाने तथा आत्मा की सद्गति करके अपने में विलीन कर लेने के रूप में सदा सच्चे भक्त के साथ रहते हैं और उसकी समस्त मनोकामनायें पूरी करते हैं।

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि ज्ञान-मार्ग और भक्ति-मार्ग में कुछ आधारभूत, अन्तर हैं—(1) सबसे पहला अन्तर तो यही है कि ज्ञान-मार्ग में ब्रह्म या परमेश्वर को अव्यक्त या निराकार माना जाता है जबकि भक्ति-मार्ग में उन्हें साकार विशेषतः मनुष्य-देहवारी मानकर उपासना की जाती है। (2) इसके अतिरिक्त ज्ञान-मार्ग में परमेश्वर की एक रहस्यमय अव्यक्त, शक्ति के रूप में कल्पना की जाती है और इसीलिये यह विश्वास किया जाता है कि इस शक्ति के विषय में केवल ज्ञान या बुद्धि के आधार पर ही कुछ जाना जा सकता है। इसके विपरीत भक्ति-मार्ग में तो यह विश्वास किया जाता है कि भगवान् हर पल भक्त के साथ है—उसके सुख-दुख का भागीदार है, उसकी हर शिकायत को सुनने वाला है और उसके हर अरमान को पूरा करने वाला है। वह कोई रहस्यमय शक्ति नहीं है जिसे जानने-बुझने के लिये बुद्धि की आवश्यकता होती है। वह तो बुद्धिमान और मूढ़ दोनों का ही समान रक्षक, पालक व सन्धी है। वह हर गरीब व अमीर की सुनता है, वह हर इन्सान का है। (3) इतना ही नहीं, ज्ञान-मार्ग में निराकार ब्रह्म केवल बुद्धिगम्य होने और इन्द्रियों के स्थिते अगोचर होने के कारण उपासना के लिये अत्यन्त कष्टदायक है, जबकि भक्ति-मार्ग में भगवान् सत्ता और पिता दोनों ही होने के कारण बिल्कुल ‘अपने’ हैं और इसीलिये सच्चा प्रेम और भक्ति-भाव ही उनकी उपासना करने और उन्हें ‘जीतने’ के लिये पर्याप्त है। इस रूप में ज्ञान-मार्ग जटिल और भक्ति-मार्ग सरल है, ज्ञान-मार्ग

का सम्बन्ध बुद्धिवादी होने के कारण भस्तिष्क से है, जबकि भक्ति-मार्ग का सम्बन्ध प्रेम और भक्ति से सम्बन्धित होने के कारण हृदय से है।

मोक्ष-प्राप्ति के लिये कौनसा मार्ग सर्वोत्तम है ?

(Which Path is most suitable for Moksha ?)

व्यक्ति के लिये मोक्ष-प्राप्ति का सबसे अच्छा मार्ग कौनसा है यह एक विवादास्पद प्रश्न है, क्योंकि इसके विषय में विभिन्न व्यक्ति अपने ढंग से अपना मत व्यक्त कर सकते हैं। इस विवाद में अधिक भाग न लेकर हम सामान्य विचारों को ही अपने दृष्टि-कोण से प्रस्तुत कर सकते हैं। इतना निश्चित रूप से हम कह सकते हैं कि ज्ञान-मार्ग से भक्ति-मार्ग कहीं उत्तम है। गीता में स्वयं भगवान् ने यह मत व्यक्त किया है कि सामान्य जनता के लिये मोक्ष का ज्ञान-मार्ग निश्चय ही कठिन है। उनके लिये तो भक्ति मार्ग ही सहज और सुगम है। गीता में भक्ति-मार्ग की श्रेष्ठता को बतलाते हुये यह उल्लेख किया गया है कि जो व्यक्ति सच्चे हृदय से और प्रेम व भक्तिभाव से भगवान् का ध्यान करता और भजता है, भगवान् इस मृत्युमय संसार-सागर से बिना विलम्ब किये उसका उद्धार कर देता है। परन्तु भक्ति-मार्ग से मोक्ष की प्राप्ति तभी सम्भव होती है, जबकि भक्त फल की आशा न करते हुये धर्मानुसार अपने कर्तव्य-कर्मों को निष्ठापूर्वक करता जाये। इसका तात्पर्य यही हुआ कि केवल भगवान् का ध्यान, भजन, पूजा-पाठ आदि प्रेमभाव व भक्तिभाव से करने से ही भगवान् का दर्शन या मोक्ष-प्राप्ति नहीं हो सकती जब तक कि व्यक्ति फल की आशा त्यागकर अपना कर्म ठीक-ठीक न करता जाए। इस प्रकार भक्ति-मार्ग में भी कर्म करते हुए कर्मों के फलों को भगवान् को अर्पण करके प्रेम व भक्तिभाव से भगवान् में चित्त लगाना पड़ता है। इस दृष्टिकोण से कर्म-मार्ग ही मोक्ष-प्राप्ति का सदैवश्रेष्ठ मार्ग है। इसीलिये अर्जुन को श्रीकृष्ण का उपदेश है कि “अपने धर्म के अनुसार नियत या नियमित कर्म को तू कर। क्योंकि कर्म न करने की अपेक्षा कर्म करना कहीं अधिक अच्छा है।... तू फल की आसक्ति छोड़कर अपना कर्तव्य-कर्म सदैव किया कर, क्योंकि फलासक्ति छोड़कर काम करने वाले मनुष्य को परमगति प्राप्ति होती है।”

इस प्रकार भक्ति-मार्ग की श्रेष्ठता और सुलभता बतलाकर श्रीकृष्ण ने गीता (12/9—12) में यह भी कहा है कि “यदि मुझमें भाँति-भाँति चित्त को स्थिर करने में समर्थ न हो सको तो हे धनंजय ! अभ्यास की सहायता से अर्थात् बारम्बार प्रयास या प्रयत्न करके मेरी प्राप्ति कर लेने की आशा रख। यदि अभ्यास करने में भी तू असमर्थ हो, तो मदर्थ अर्थात् मेरी प्राप्ति के अर्थ (शास्त्रों में बतलाए हुए ज्ञान-ध्यान-भजन-पूजा-पाठ आदि) कर्म करता जा। मदर्थ कर्म करने से तू सिद्धि पाएगा। परन्तु यदि इनके करने में भी तू असमर्थ हो तो मद्योग—मदर्पणपूर्वक योग अर्थात् कर्मयोग—का आश्रय करके यथात्मा होकर अर्थात् धीरे-धीरे चित्त को रोकता हुआ अन्त में सब कर्मों के फलों का त्याग कर दे। क्योंकि अभ्यास की अपेक्षा ज्ञान अधिक अच्छा है; ज्ञान की अपेक्षा ध्यान की योग्यता अधिक है; ध्यान की अपेक्षा कर्मफल का त्याग श्रेष्ठ है और कर्मफल के त्याग से तुरन्त ही शान्ति और अन्त में मोक्ष-प्राप्ति होती है।”

मोक्ष का महत्व

(Importance of Moksha)

हिन्दू-आदर्श के अनुसार ‘मोक्ष’ मानव-जीवन के चरम उद्देश्य और परम

प्राप्ति का प्रतीक है। यह सच है कि जीवन में 'अर्थ' और 'काम' का भी अपना-अपना महत्व है, फिर भी मोक्ष अर्थात् आत्मा का ब्रह्म से साक्षात्कार ही अन्तिम और स्थायी सुख व शान्ति की प्राप्ति है। मोक्ष-प्राप्ति का अर्थ है अन्ततः आनन्द की प्राप्ति तथा संसार के समस्त झंझटों से छुटकारा। दूसरे अर्थ में 'निष्कामता ही वास्तव में मोक्ष है' और यदि ऐसा है तो इसके लिये प्रयत्नशील व्यक्ति के व्यक्तित्व में 'मैं' और 'मेरा' का पूर्णतया नाश हो जाता है। इन दोनों संकुचित दीवारों के टूटने का अर्थ है महान् व्यक्तित्व का विकास और तद्वारा जनकल्याण व समाज की प्रगति। अन्तिम रूप में परम सत्य का ज्ञान ही मोक्ष है। यह ज्ञान जिसे प्राप्त है वही वास्तव में ज्ञानी है। ज्ञान प्रकाश है और प्रकाश समस्त अन्धकार को वैयक्तिक तथा सामाजिक जीवन के इर्द-गिर्द में छिपे भयंकर अन्धकार को दूर करता है, जीवन प्रकाशमय होता है। यही जीवन की चरम प्राप्ति और परम काम्य अवस्था है। इसके बाद न किसी की अभिलाषा रहती है और न ही कुछ काम्य रह जाता है।

निष्कर्ष : पुरुषार्थ का समाजशास्त्रीय महत्व

(Conclusion : Sociological Significance of *Purushartha*)

उपरोक्त विवेचना से स्पष्ट है कि पुरुषार्थ—धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष—अपनी सन्तुलित अवस्था में आदर्श व्यक्तित्व या जीवन का प्रतीक है। इस आदर्श के अनुसार मानव-जीवन केवल अधिकारों को ही नहीं, बल्कि कर्तव्यों को भी सूचित करता है और त्यागमय भोग कर्तव्यमय तथा अनुशासित जीवन का ही प्रतिनिधि है। इन संकेत महत्वपूर्ण समन्वय से जीवन की परम प्राप्ति सरल होती है। अनुशासन और कर्तव्य मानव-जीवन का 'धर्म' है, भोग उसका ही 'अर्थ' और 'काम' पक्ष है तथा परम प्राप्ति को ही 'मोक्ष' कहा गया है। इसी रूप में मानव-जीवन के सर्वांगीण व सन्तुलित विकास को ही 'पुरुषार्थ' कहते हैं।

इन चारों पुरुषार्थों में काम और अर्थ साधन मात्र हैं, साध्य नहीं जबकि धर्म का काम निर्देशन है। धर्म इस बात का निर्देश देता है कि काम और अर्थ को किस भाँति नियमित और सीमित करके जीवन के उच्चतम आदर्शों की प्राप्ति की जा सकती है। धर्मरहित काम, जो रावण रूप में मूर्तिमान है, कितना अनर्थकारी है, इसकी शिक्षा रामायण ने और धर्मरहित अर्थ, जो दुर्योधन रूप में मूर्तिमान है, कितना नाशकारी है, इसकी शिक्षा महाभारत ने दी है। भागवत ने यह बतलाया है कि अर्थ और काम पशु-जीवन है, मनुष्यों को धर्म या सदाचार के द्वारा इन दोनों का नियन्त्रण कर पशु-कोटि से ऊपर उठना चाहिये। इससे भी ऊपर देव-कोटि में मनुष्य तब पहुँच सकता है जब जीवन का परम लक्ष्य अर्थात् मोक्ष, ईश्वर-भक्ति और परमानन्द की प्राप्ति सतत उसके सामने रहे। इस लक्ष्य के सम्मुख होने से धर्म, अर्थ व काम का परस्पर सम्बन्ध और फिर मोक्ष के माथ उनका सम्बन्ध जान पड़ता है।

उपरोक्त विवेचना से यह स्पष्ट है कि हिन्दू-जीवन-दर्शन में जीवन का अन्तिम और सर्वोच्च लक्ष्य मोक्ष माना गया है। मोक्ष मनुष्य का अन्तिम पुरुषार्थ है और उसी को ध्यान में रखकर हिन्दू शास्त्रकारों ने अन्य सभी कार्यों का निर्धारण और मूल्यांकन किया है। इस अर्थ में हिन्दू विचारक लौकिक जीवन की अपेक्षा पारलौकिक जीवन को अधिक महत्व प्रदान करते हैं। किन्तु जैसाकि डॉक्टर गोपाल ने लिखा है कि पारलौकिक आनन्द की खोज के उत्साह में भारतीय संस्कृति में दूसरी प्रवृत्तियों

और दूसरे कार्यों का विस्मरण नहीं किया गया। भारत ने यह समझा है कि दूसरे तीन पुरुषार्थों का पूर्ण परित्याग नहीं करना चाहिये अपितु सर्वोच्च लक्ष्य के अनुकूल ही उसका पालन होना चाहिये। इसी विचार के कारण कभी-कभी पुरुषार्थों को दो वर्गों में विभाजित किया जाता है। परमार्थ या निवृत्ति के नाम के पहले वर्ग में केवल मोक्ष को ही रखा जाता है और व्यवहार या प्रवृत्ति के दूसरे वर्ग के अन्तर्गत धर्म, अर्थ और काम को सम्मिलित किया जाता है। इस विभाजन से यह स्पष्ट है कि यद्यपि मोक्ष को जीवन का अन्तिम ध्येय या उद्देश्य माना जाता है फिर भी यह स्वीकार किया जाता है कि मनुष्य को अपने धार्मिक और सामाजिक कर्तव्यों की तथा अर्थ एवं काम सम्बन्धी विभिन्न आवश्यकताओं की उचित पूर्ति करनी चाहिये। भारतीय संस्कृति में आश्रमों की कल्पना इसी सिद्धांत पर आधारित है और उसे इस रूप से आयोजित किया गया है कि इन आश्रमों के द्वारा मनुष्य अपने जीवन में चारों पुरुषार्थों को पूर्ण रूप से प्राप्त करने का समुचित अवकाश पा सके।

डाक्टर राधाकमल मुखर्जी के अनुसार जीवन के प्रति भारतीय दृष्टिकोण अन्य समाजों या संस्कृतियों में पाए जाने वाले दृष्टिकोणों से भिन्न है। स्वतन्त्रता की पूर्ण आकांक्षा भारतवासी को है, परन्तु इस बात पर उनकी पूर्ण निष्ठा है कि यह स्वतन्त्रता जीवन के चारों पुरुषार्थों को सम्यक् रूप से अंगीकृत करने से अर्थ तथा ऐश्वर्य की प्राप्ति, उसका समुचित उपभोग (काम), कर्तव्य-पालन (धर्म) और आत्म-साक्षात्कार (मोक्ष) से प्राप्त हो सकती है। जन्म से ही जो उत्तरदायित्व और कर्तव्य हमारे ऊपर आ पड़े हैं उनका समुचित निर्वाह करने के बाद ही सच्ची स्वतन्त्रता प्राप्त हो सकती है। धर्म, अर्थ और काम तीनों का समुचित निर्वाह होना चाहिये और जो व्यक्ति इनमें से एक ही के पीछे पड़ जाता है उसका आचरण निन्दनीय होता है—यह एक प्राचीन श्लोक का भावार्थ है। काम को कभी तिरस्कृत नहीं किया गया। धर्म से संसार और समाज की धारणा होती है और धर्म का अस्थायी भाव ही मनुष्य में पाई जाने वाली प्रकृति-प्रदत्त अस्थिर वासनाओं और मूल प्रवृत्तियों को शाश्वत मूल्य और महत्व प्रदान करता है। भगवद्गीता का कथन है कि धर्म और कर्तव्य में बाधक न होने वाला विवाह, परिवार, धन और सुख-प्राप्ति की इच्छायें वास्तविक और दिव्य होती हैं। इस प्रकार भारतीय जीवन-दर्शन में आराध्य और धर्म, कर्तव्य का रूप लिये हुये और विविध विधि-विधान के रूप में अर्थ तथा काम सम्बन्धी क्रियाओं को नियमित तथा नियन्त्रित करता है। भारत में प्रत्येक व्यक्ति इस जन्म के साथ इन उत्तरदायित्वों को भी प्राप्त करता है। धर्म के अन्तर्गत व्यावहारिक और अध्यात्मिक दृष्टिकोण से इन्हीं को पंच महायज्ञ के रूप में मानव-जीवन के पाथ जोड़कर उसे कर्तव्यमय बनाने का प्रयत्न किया गया है। पुरुषार्थ के अन्तर्गत धर्म का यही महत्व है कि इसके द्वारा अखिल ब्रह्माण्ड के साथ सृष्टि के सारे पदार्थों के साथ एकात्मकता अनुभव कराने का प्रयत्न किया गया है। इस प्रकार का एकत्व अनुभव या साक्षात्कार ही मोक्ष है और यही व्यक्ति और समाज के जीवन का चरम ध्येय है।

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि व्यवहार या प्रवृत्ति वर्ग के अन्तर्गत धर्म, अर्थ और काम में धर्म निश्चय ही सर्वोच्च है। मत्स्य पुराण में कहा गया है कि धर्माविहीन मनुष्य की अर्थ और काम सम्बन्धी क्रियायें बाँझ स्त्री के पुत्र-प्राप्ति के प्रयत्नों के समान हैं; अर्थ और काम को धर्म के द्वारा शासित होना चाहिये और तभी वह आदर्श स्थिति पर पहुँच सकता है जिस प्रकार पति के अधीन रहने वाली पत्नी ही प्रियाचरण

करने वाली और सुपुत्रवती होती है। जिस कर्म में तीनों पुरुषार्थ सम्मिलित नहीं हैं और उस कर्म के करने से धर्म का पालन होता है तो वही कर्म करना चाहिये। धर्म से चित्त-शुद्धि होती है। चित्त-शुद्धि के बिना मोक्ष या जीवन के परम लक्ष्य की ओर से चलने वाले कर्मयोग, ध्यान योग, भक्तियोग और ज्ञानयोग के मार्ग पर कोई नहीं चल सकता। महाभारत के अन्त में व्यासजी कहते हैं कि उन्होंने सदैव ही भुजायें ऊपर उठाकर संसार को शिक्षा दी है कि अर्थ और काम धर्म से ही सम्भव है और इसलिये धर्म का पालन प्रत्येक को करना चाहिये, किन्तु खेद है कि इस शिक्षा की ओर कोई ध्यान नहीं देता।

धर्म के अनुसार आचरण सामाजिक जीवन के लिए बड़े महत्त्व का है क्योंकि कर्त्तव्य-कर्मों का उचित ढंग से करना ही जन-कल्याण के हेतु कार्य करना है। 'खाओ-पीओ, मोज उड़ाओ'—ये बातें किसी को सिखलानी नहीं पड़तीं, क्योंकि ये इन्द्रियों के स्वाभाविक धर्म ही हैं। मनुजी ने कहा है कि, "न मांसभक्षणे दोषो न मद्ये न च मैथुने" (मनुस्मृति, 5/56)—अर्थात् मांस खाना अथवा शराब पीना या मैथुन करना कोई सृष्टिकर्म-विरुद्ध दोष नहीं है—उसका तात्पर्य भी यही है। फिर भी मनुष्य के लिए यही सब-कुछ नहीं है; इससे भी कुछ ऊँचे स्तर की चीजों के प्रति उसका अनुराग होना चाहिए और उनमें से सबसे महत्त्वपूर्ण है कर्त्तव्य-कर्म द्वारा सबका कल्याण समाज-धारण के लिए, अर्थात् सब लोगों के सुख के लिए इस स्वाभाविक आचरण का उचित प्रतिबन्ध करना ही धर्म है और यही मानव की विशिष्टता या विलक्षणता भी है। महाभारत (शान्ति०, 294/29) में भी कहा गया है—

आहारानिद्राभयमैथुनं च सामान्यमेतत्पशुभिर्नराणाम् ।

धर्मो हि तेषामधिको विशेषो धर्मेण हीनाः पशुभिः समानाः ॥

अर्थात् आहार, निद्रा, भय और मैथुन मनुष्यों और पशुओं के लिए एक ही समान स्वाभाविक हैं। यदि मनुष्यों और पशुओं में कुछ भेद है तो वह केवल धर्म का। जिस मनुष्य में यह धर्म नहीं है, वह पशु के समान ही है।

धर्म का व्यावहारिक महत्त्व यह है कि वह अर्थ और काम का पथ-प्रदर्शन करे ताकि जीवन के ये दोनों अंग उस सीमा से बाहर न जा सकें जिसमें कि व्यक्ति तथा समाज के कल्याण में बाधा प्राप्त हो और उच्चतर आदर्शों की प्राप्ति सम्भव न हो। इस अर्थ में धर्म, अर्थ और काम तथा जीवन के उच्च आदर्शों के बीच सामंजस्य स्थापित करने का महत्त्वपूर्ण योगदान करता है। वास्तव में ये तीनों ही पुरुषार्थ समान रूप से महत्त्वपूर्ण और एक-दूसरे पर आधारित हैं।

पुरुषार्थ के अन्तर्गत धर्म के महत्त्व को स्वीकार करने का यह अर्थ कदापि नहीं है कि अर्थ या काम मानव-जीवन में अवांछनीय तथा तुच्छ है। काम के महत्त्व को इसी रूप में स्वीकार किया गया है कि इसके द्वारा पुत्र की प्राप्ति और तद्द्वारा पितृ ऋण से उच्छ्रान्त और वंश की निरन्तरता या कुल-रक्षा सम्भव होती है। महाभारत में अर्थ के महत्त्व को अर्जुन ने यह कहकर स्वीकार किया है कि दरिद्रता एक पाप-पूर्ण दंडा है, पर्याप्त धन का अधिकारी होने से सभी प्रकार के पुण्य कार्य साध्य होते हैं, क्योंकि सभी धार्मिक कार्य, सभी सुख, यहाँ तक कि स्वर्ग भी अर्थ से प्राप्त है। अर्थहीन व्यक्ति न तो इहलोक को और न परलोक को ही पा सकता है। जिसके पास कुछ भी अर्थ नहीं वह धार्मिक कृत्य करने में सफलता नहीं पा सकता है, क्योंकि धार्मिक कृत्य अर्थ से उसी प्रकार के प्रवाहित होते हैं जैसे तटस्थता से ।

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि पुरुषार्थ की अवधारणा जीवन के उच्चतर आदर्शों की प्राप्ति की एक परियोजना है। इस परियोजना के अन्तर्गत न तो जीवन का व्यावहारिक पक्ष तुच्छ है और न ही आध्यात्मिक पक्ष महत्वहीन माना गया है। स्मरण रहे कि यह वह परियोजना है जोकि सन्यासी और वैरागी को भी यह निर्देश देती है कि जीवन के समस्त पक्षों का सन्तुलित विकास ही आदर्श स्थिति या लक्ष्य तक पहुँचने का आदर्श विधान है। जो व्यक्ति मानव-जीवन की व्यावहारिकताओं को अस्वीकार करता है या उनसे दूर भागता है, वह सन्यास ग्रहण कर सकता है, परन्तु उसका वह सन्यासी-जीवन वास्तव में पूर्ण और सफल नहीं है, क्योंकि उसने जीवन की वास्तविकताओं से मुँह मोड़ा है और डटकर उसका सामना करने और उनको वश में करने के बजाय उनके दूर से भागकर सन्यासी बनने का मिथ्या अहंकार किया है। जीवन की वास्तविकताओं का, अर्थ और काम का, डटकर सामना करो, कर्त्तव्य का समुचित पालन करो, परन्तु जीवन के उच्चतम आदर्शों को मत भूलो, कर्त्तव्यमय और कर्ममय जीवन के बीच परम सत्य की प्राप्ति को जीवन का ध्येय बनाओ—यही पुरुषार्थ का अन्तर्निहित भाव या आदर्श है। पुरुषार्थ के अन्तर्निहित भाव के अनुसार जीवन या जगत् में कुछ भी तुच्छ नहीं है—तुच्छता में ही महान् का दर्शन मानव-जीवन की सार्थकता है, पंक में ही पंकज को विकसित करना मानव की महानता है। उदाहरणार्थ, काम को साधारणतया तुच्छ और हेय कहा गया है, परन्तु पुरुषार्थ के आदर्श के अनुसार ऐसा नहीं है क्योंकि काम के बिना ईश्वर की कामना भला कैसे सम्भव होगी? अतः आदर्श यही है कि 'काम' को 'प्रेम' करो, दोनों में 'म' ठीक ही है, केवल 'का' को 'प्रे' करो; 'हम' को 'तुम' करो, दोनों में 'म' ठीक ही है, केवल 'ह' को 'तु' में बदलो; 'जीव' को 'शिव' करो, 'व' दोनों में ही समान है, केवल 'जी' को 'शि' में बदलो—अर्थात् आधार ठीक ही है, उस आधार पर ही उच्चतर आदर्श को प्रतिष्ठित करो। यही जीवन का अर्थ है; यही पुरुषार्थ है।

भारतीय विचारधारा पर जितना अधिक प्रभाव अकेले कर्म के सिद्धान्त का है, उतना किसी भी दूसरी अवधारणा या सिद्धान्त का नहीं है। जब से उपनिषदों में इस सिद्धान्त का प्रतिपादन हुआ है, तब से ही इसका भारतीय जीवन-दर्शन और विचार-परम्परा पर गहरा प्रभाव है और उस रूप में इसका प्रवेश भारतीय संस्कृति के सभी अंगों—दर्शन, साहित्य और कला में हुआ है। सभी वर्ग और सभी स्तर के भारतीय किसी-न-किसी रूप में कर्म के सिद्धान्त को स्वीकार करते तथा उसे अपनाते हैं। बौद्ध धर्म एवं जैन धर्म ने भले ही वैदिक परम्परा के अनेक विषयों का विरोध किया तथा ब्राह्मणों की प्रभुता की उपेक्षा की, लेकिन फिर भी इन दोनों धर्मों ने कर्म के सिद्धान्त को स्वीकार किया। यह कर्म का ही सिद्धान्त है जो तीन धर्मों—हिन्दू, बौद्ध तथा जैन धर्म—को कुछ विषयों में विचारों की एकता प्रदान करता है। मोक्ष को अन्तिम पुरुषार्थ अर्थात् मानव-जीवन का चरम ध्येय माना गया है, उस मोक्ष का भी सम्बन्ध इस कर्म के सिद्धान्त से अति घनिष्ठ है। कहने का तात्पर्य यह है कि कर्म सिद्धान्त का विस्तार व प्रभाव भारतीय जीवन के प्रत्येक पक्ष पर स्पष्ट है और प्रत्येक भारतीय इसके विषय में सचेत है। साधारण भारतीय जनता वेदान्त की रहस्य-पूर्ण बातों से भले ही परिचित न हो, लेकिन वे निश्चित रूप से कर्म के सिद्धान्त के इस आधारभूत तत्त्व से परिचित हैं कि अच्छे कर्म का फल अच्छा और बुरे कर्म का फल बुरा होता है और कर्म के फल को टाला नहीं जा सकता। भारतवासियों को गोस्वामी जी का यह वचन कंठस्थ है कि “कर्म प्रधान विस्व करि राखा। जो जस करइ सो तस फलु चाखा।” यदि ‘धर्म’ इस बात को सूचित करता है कि ‘क्या होना चाहिए’, तो ‘कर्म’ ‘क्या है’ की व्याख्या करता है और उसी आधार पर इस बात की भी घोषणा करता है कि अगले जीवन में ‘क्या होगा’। ये दोनों ही तत्त्व विज्ञान की विशेषता हैं, इसलिए कुछ विद्वान् कर्म के सिद्धान्त को ‘कर्म-विज्ञान’ कहते हैं। केवल इतना ही नहीं, कर्म की महिमा, सर्वव्यापकता, दुर्लभनीय शक्ति तथा प्रत्येक मनुष्य व प्रत्येक जाति पर कर्म के प्रभाव को देखकर कोई-कोई कर्ममीमांसक कर्म को ही ईश्वर-रूप मानते हैं। परन्तु इस सम्बन्ध में और कुछ विवेचना करने से पूर्व यह जान लेना उचित होगा कि ‘कर्म’ का वास्तविक अर्थ क्या है।

‘कर्म’ का अर्थ

(Meaning of Karma)

‘कर्म’ शब्द ‘कृ’ धातु से बना है। उसका अर्थ करना, व्यापार या हलचल होता है। इसी सामान्य अर्थ में गीता में इसका प्रयोग हुआ है। मनुष्य जो कुछ करता है जैसे खाना, पीना, खेलना, रहना, उठना, बैठना, हँसना, रोना, सूँघना, देखना, बोलना, सुनना, चलना, देना, लेना, सोना, जागना, मारना, लड़ना, मनन और ध्यान

करना, आज्ञा और निषेध करना, दान देना, यज्ञ करना, खेती और व्यापार करना, इच्छा करना, निश्चय करना, चुप रहना इत्यादि—ये सब गीता के अनुसार, कर्म ही हैं, चाहे वह कर्म कायिक हो, वाचिक हो अथवा मानसिक हो (गीता, 5/8, 9)। गीता के अनुसार जीना-मरना भी कर्म ही है। अवसर आने पर यह भी विचार करना पड़ता है कि जीना या मरना इन दो कर्मों में से किसको चुना जाए और कौनसा किया जाए। इस विचार के उपस्थित होने पर कर्म शब्द का अर्थ 'कर्तव्य-कर्म' अथवा 'विहित-कर्म' हो जाता है (गीता, 4/16)। केवल इतना ही नहीं, सब चर-अचर सृष्टि के अचेतन वस्तु के व्यापार में भी कर्म शब्द का ही उपयोग होता है। यह कर्म का व्यापक और सही अर्थ है।

जहाँ तक कि मनुष्य द्वारा किए गए कर्मों का सम्बन्ध है, इस विषय में यह स्मरणीय है कि कर्म के अर्थ के अन्तर्गत तीन तत्वों का समावेश है। ये तत्व हैं—कर्त्ता, परिस्थिति तथा प्रेरणा। कर्म किसी-न-किसी व्यक्ति द्वारा सम्पादित होता है और उस कार्य को करने वाला वह व्यक्ति कर्त्ता कहलाता है। कर्त्ता कर्म को शून्य या आसमान में नहीं करता। कर्म के सम्पादन के लिए एक परिस्थिति की आवश्यकता होती है। इतना ही नहीं, प्रत्येक कर्म का कोई-न-कोई कारण अवश्य ही होता है। स्वाभाविक अर्थ में कर्म कोई चमत्कार या जादुई अवधारणा नहीं है जोकि बिना किसी कारण के ही घटित होती हो। यह कारण ही उस कर्म की प्रेरणा है या प्रेरक शक्ति है। यदि मनुष्य साँस भी ले रहा है तो उसका भी एक कारण है। उसी प्रकार चुप रहने का भी कारण होता है। अतः स्पष्ट है कि कर्म के अन्तर्गत कर्त्ता, परिस्थिति तथा प्रेरणा तीनों महत्वपूर्ण हैं और इन तीनों के सम्मिलन से ही कर्म घटित होता है। कर्म की अवधारणा में इस तथ्य को नहीं भूलना चाहिए।

कर्म का सिद्धान्त—मनुष्य अपने भाग्य का निर्माता है
(*Doctrine of Karma—Man is the creator of his fate*)

कर्म के सिद्धान्त को एक वैज्ञानिक सिद्धान्त माना गया है और वह इस रूप में कि यह सिद्धान्त वैज्ञानिक कार्य-कारण के नियम (Law of cause and effect) पर आधारित है। इस नियम के अनुसार प्रत्येक घटना का एक कारण होता है और उस कारण से जो कुछ भी कार्य घटित होता है उसका अपना एक प्रभाव होता है। उदाहरणार्थ, यदि एक व्यक्ति अध्ययन-कार्य कर रहा है तो उसका कोई-न-कोई कारण होगा, चाहे वह माता-पिता का दबाव हो या अपने-आपमें ज्ञान प्राप्त करने की अभिलाषा हो। किसी भी अवस्था में अध्ययन-कार्य का एक कारण है और उस कारण के कारण सम्पादित कर्म का अपना एक प्रभाव या परिणाम होता है, जैसे अध्ययन-कार्य से मस्तिष्क का विकास या ज्ञान का विस्तार होता है। संक्षेप में, कार्य-कारण का यही नियम है जोकि सर्वत्र समान रूप में क्रियाशील होता है। कर्म का सिद्धान्त इसी नियम पर आधारित है। इसके अनुसार प्रत्येक कर्म का एक कारण होता है और उस कारण के कारण होने वाले कर्म का अपना परिणाम या एक फल होता है। यही कर्म-फल की अवधारणा है अर्थात् ऐसा कोई भी कर्म नहीं हो सकता है जिसका कोई फल न हो। इसका तात्पर्य यह हुआ कि प्रत्येक कर्म में, चाहे वह कायिक हो, वाचिक हो या मानसिक हो, अपनी एक शक्ति होती है; और वह शक्ति कुछ परिणामों को उत्पन्न करती है। इसीलिए प्रत्येक कर्म का एक फल होता है अर्थात् व्यक्ति जिस प्रकार का कर्म करता है उसी प्रकार का फल उसे प्राप्त होता है।

इसीलिये यदि एक व्यक्ति अच्छे फल की आशा करता है तो उसे कर्म भी अच्छे करने चाहियें। अतः मनुष्य अपने भाग्य का स्वयं निर्माता है और वह इस अर्थ में कि अगर वह अच्छा कर्म करता है तो उसका भाग्य भी उसे अच्छे फल देगा और यदि उसने बुरे कर्म किये हैं तो वह उन बुरे कर्मों के फलस्वरूप अपने लिये केवल दुर्भाग्य को ही आमन्त्रित करेगा। इस सम्बन्ध में यह स्मरणीय है कि कर्म के सिद्धान्त के अनुसार एक बार आरम्भ किये हुये कर्म का नाश नहीं होता है और आगे भी कोई बाधा उत्पन्न नहीं होती; अर्थात् एक जन्म में व्यक्ति जो कुछ भी कर्म करता है वह कर्म उसके मृत्यु अर्थात् एक जीवन के अन्त हो जाने के साथ ही नष्ट हो जाता है अपितु उस कर्म की प्रतिक्रिया उसके अगले जीवन में भी बनी रहती है। इस प्रकार व्यक्ति का वर्तमान भाग्य उन कर्मों का संचयी फल है जोकि उसने भूतकाल में या पिछले जन्म में किये थे। इस रूप में भी हम कह सकते हैं कि मनुष्य अपने भाग्य का स्वयं ही निर्माता है। 'श्रमेति' में कहा गया है कि कर्म-योग-मार्ग में यदि एक जन्म सिद्धि न मिले तो किया हुआ कर्म व्यर्थ न जाकर अगले जन्म में उपयोगी होता है और प्रत्येक जन्म में इसकी वृद्धि होती है एवं अन्त में कभी-न-कभी सच्ची सद्गति मिलती ही है। ✓

कर्म-फल या कर्म के सिद्धान्त के सम्बन्ध में एक बात और उल्लेखनीय है और वह यह है कि कर्म का फल दो प्रकार का होता है—एक तो स्थूल-फल और दूसरा भाव व विचार का फल या सूक्ष्म-फल। ✓ इन दोनों प्रकार के कर्म-फलों को साधारण उदाहरण की सहायता से सहज ही समझाया जा सकता है। एक व्यक्ति किसी दूसरे व्यक्ति के घर से धन चोरी कर लाता है। चोरी से प्राप्त यह धन उसके कर्म का स्थूल-फल है। पर चूंकि यह कर्म धर्मानुकूल या समाज द्वारा मान्य नहीं है और चूंकि उस कार्य से दूसरे को हानि पहुंची है, इस कारण चोर के मन में इस प्रकार के कर्म-विरोधी व नीति-विरोधी कार्य करते समय जो अस्वस्थ भाव और विचार उत्पन्न होंगे उनकी प्रतिक्रिया भी अस्वस्थ और अनुभूति ही होगी और उस व्यक्ति को अपने उस कार्य से आन्तरिक आनन्द, शान्ति और चारित्रिक उन्नति या आध्यात्मिक दृष्टिकोण से पूर्य की प्राप्ति नहीं होगी। अतः स्पष्ट है कि व्यक्ति के कर्मों का फल स्थूल रूप में कुछ भी हो, पर सूक्ष्म रूप में वह अपने कर्मों के द्वारा ही अपने भाग्य को बना या बिगाड़ सकता है। कर्म-फल को स्थूल रूप में देखने से हो सकता है कि वह सुखकर या दुःखकर प्रतीत हो, पर सूक्ष्म रूप में विवेचना करते पर वह कर्म-फल बिल्कुल विपरीत हो सकता है। ✓

इस सम्बन्ध में यह स्मरण रखना है कि जब हम यह कहते हैं कि मनुष्य अपने भाग्य का स्वयं निर्माता है तब हम नियतिवाद या भाग्यवाद का समर्थन नहीं करते हैं। कर्मवाद या कर्म का सिद्धान्त और नियतिवाद या भाग्यवाद एक नहीं है। एक अर्थ में तो कर्मवाद भाग्यवाद का उल्टा रूप है। भाग्यवाद में इस बात पर बल दिया जाता है कि भाग्य या नियति ही सब-कुछ है और मनुष्य जो कुछ है या होने की आशा करता है वह सब-कुछ उसके भाग्य या नियति पर निर्भर करता है। उसके जीवन में वही होगा जो कुछ उसके भाग्य में लिखा है। वह कुछ भी करे अपने उस भाग्य को या विधि के विधान को बदल नहीं सकता। इस नियतिवाद या भाग्यवाद के कारण ही लोगों में यह गलत धारणा प्रनप्त जाती है—चूंकि उसके जीवन में सब-कुछ भाग्य के द्वारा ही निर्धारित होना है इस कारण उसके अपने कर्मों का कोई

महत्व नहीं है। इसके फलस्वरूप व्यक्ति अपनी अवस्था को उन्नत करने के लिए आवश्यक प्रयत्न या परिश्रम करने के प्रति उदासीन हो जाता है और वह आलसी और निठल्ला बन जाता है। परन्तु कर्म का सिद्धान्त या कर्मवाद उसे ऐसा बनने नहीं देता है। वह लोगों को यह नहीं सिखाता है कि भाग्य ही सब-कुछ है और भग्य के भरोसे ही सबको बैठे रहना चाहिए। इसके विपरीत कर्मवाद का उपदेश है कि मनुष्य ही भाग्य का वास्तविक निर्माता है और इस निर्माण-कार्य के लिए उसे निरन्तर प्रयत्नशील रहना चाहिए और आवश्यक कर्मों को करते रहना चाहिए। भाग्य के भरोसे बैठे रहना मूर्खता है, कर्मों का पुरस्कार प्राप्त करने के लिए कोशिश करना ही मानव का धर्म है। (कर्म के सिद्धांत की मान्यता यह है कि 'जो जैसा बोएगा वह वैसा ही काटेगा। इसका तात्पर्य यह हुआ कि वर्तमान समय में व्यक्ति जिस प्रकार का कर्म करता है या कर रहा है, उसी के अनुसार वह भविष्य के सम्बन्ध में निश्चित हो सकता है क्योंकि प्रत्येक कर्म का फल उसे कर्म की प्रकृति के अनुरूप ही मिलेगा। अच्छे कर्मों के लिए पुरस्कार और बुरे कर्मों के लिए दण्ड मिलकर ही रहेगा। इसलिए अपने अच्छे कर्मों द्वारा वह अपने बुरे भाग्य को अच्छा और बुरे कर्मों को करके वह अपने अच्छे भाग्य को भी बुरा बना सकता है। भाग्य दैवीय शक्ति का द्योतक है, इस कारण कर्मों के द्वारा हम उस शक्ति को भी बदल सकते हैं। इस रूप में मनुष्य स्वयं अपने भाग्य विधाता है। उदाहरणार्थ, यदि पिछले बुरे कर्मों के फलस्वरूप एक व्यक्ति का भाग्य बहुत ही बुरा बन गया है तो उस बुरे भाग्य को भी सत्कर्मों द्वारा अच्छा बनाया जा सकता है, क्योंकि सत्कर्मों को करने से व्यक्ति में जिस उत्तम शक्ति का उदय होगा वह पिछले बुरे कर्मों के बुरे फल या प्रभावों को रोकने या घटाने में सहायक सिद्ध होगी, फलतः बुरा भाग्य भी कर्म-बल के आधार पर एक अच्छा भाग्य बन सकता है।)

कर्म-फल की अवधारणा

(Concept of Karma-fal)

उपरोक्त आधार पर यदि हम गम्भीरतापूर्वक विचार करें तो यह स्पष्ट होगा कि 'कर्म' शब्द के दो अर्थ हैं। एक अर्थ में कर्म के अन्तर्गत होने वाले कार्य या क्रिया का बोध होता है। दूसरे अर्थ में कर्म से जो शक्ति उत्पन्न होती है उसका बोध होता है। इसी शक्ति के द्वारा कर्म-फल उत्पन्न होता है। वस्तुतः कर्म का सिद्धांत इसी कर्म-फल से सम्बन्धित है। यह कर्म-फल कैसे उत्पन्न होता है या कर्म के सिद्धांत की क्रियाशीलता का क्या रूप है—उसे वैज्ञानिक आधार पर समझने का प्रयत्न विद्वानों ने किया है। यह वैज्ञानिक आधार कार्य-कारण नियम है। कार्य-कारण का नियम भौतिक जगत् का आधारभूत नियम है। कोई कार्य ऐसा नहीं हो सकता जिसका कि कारण न हो, न कोई कारण ही ऐसा हो सकता है जिसका कोई कार्य न हो। एक विद्वान् के अनुसार, "प्रकृति में, कारण और कार्य का नियम सब लोकों में व्याप्त है। प्रत्येक कारण का परिणाम कोई-न-कोई (कार्य) अवश्य होगा। विज्ञान का नियम है कि क्रिया और उसकी प्रतिक्रिया समान बल से किन्तु विपरीत दिशा में होती है। यह नियम सर्वत्र एक-सा होता है। हमारे प्रत्येक कार्य में स्थूल कार्य के अतिरिक्त भाव तथा विचार की भी क्रिया होती है। प्रथम हम किसी कार्य के सम्बन्ध में सोचते हैं, तब वह विचार सोची वस्तु पर पहुंचकर वहाँ क्रिया करता है। उस विचार के आते ही हमारे मन में वासना-देह में उसी प्रकार के भाव—क्रोध, लोभ,

स्नेह आदि उत्पन्न होते हैं और बाहर निकलकर दूसरों पर वैसा ही प्रभाव डालते हैं। इतनी क्रिया सूक्ष्म रूप से हो चुकी पर स्थूल कर्म अपना कार्य स्थूल जगत् में करता है। इस प्रकार प्रत्येक कर्म की प्रतिक्रिया हमारी स्थूल देह में, वासना-देह में तथा मनोमय कोष में होती है। यदि उछलने वाली रबर की गेंद हम जोर से सीधे धरती पर मारें तो वह उतने ही वेग से उछलकर हमारे हाथ में उतनी ही शक्ति से लगेगी। यह साधारण क्रिया का स्थूल फल हुआ। इसके साथ-साथ भाव और विचार का फल भी होता है। कल्पना कीजिये कि दो व्यक्तियों ने दो उद्यान (पाक) जनता के हितार्थ नगरपालिका को भेंट कर दिए। उनमें से एक के मन में केवल परोपकार का भाव था और दूसरे के मन में यह बात थी कि इस सेवा के कारण सरकार से मुझे अधिक पुरस्कार या उपाधि मिलेगी। ऐसी दशा में स्थूल कार्य का फल तो दोनों को समान मिलेगा। परन्तु दोनों के भाव और विचार भिन्न होने के कारण उनके भावों और विचारों की प्रतिक्रिया दोनों के फलों में भेद कर देगी। जिसकी नियत स्वार्थपूर्ण है उसे उस दान से चित्त में आनन्द, शान्ति और चारित्रिक उन्नति या आध्यात्मिक दृष्टिकोण से पुण्य की प्राप्ति नहीं होगी, परन्तु दूसरे को अवश्य प्राप्त होगी। यही कर्म का सिद्धान्त या कर्म-फल की अवधारणा है, जिसके अनुसार प्रत्येक कर्म का कुछ-न-कुछ फल अवश्य ही होता है और उसके फल व परिणाम को ढाला नहीं जा सकता। पत्थर से टक्कर हो और चोट न लगे, आग में हाथ पड़े और हाथ न जले, पानी में कपड़ा गिरे और वह गीला न हो, या अच्छे कर्मों का फल बुरा और बुरे कर्मों का फल अच्छा हो—यह नहीं हो सकता; क्योंकि कार्य-कारण का निर्मम और निष्पक्ष नियम विश्व का संचालन कर रहा है। प्रत्येक कर्म का फल अवश्य-म्भावी है और साथ ही प्रत्येक फल नये कर्म का कारण भी। बीज वृक्ष को उत्पन्न करता है, वही वृक्ष फिर बीज को उत्पन्न करता है और वह बीज अगले वृक्ष को जन्म देता है—कर्म और फल का यह चक्र निरन्तर चलता रहता है।

कर्म के सिद्धान्त के अन्तर्निहित तत्त्व

(Elements of the Doctrine of Karma)

कर्म का सिद्धान्त कुछ विश्वासों और विचारों पर आधारित है जिन्हें कि इस सिद्धान्त के अन्तर्निहित तत्व भी कहा जा सकता है। ये तत्व निम्नलिखित हैं, जिनकी अलग-अलग विवेचना कर्म के सिद्धान्त को समझने के लिये परमावश्यक है—

(1) कर्म केवल भौतिक क्रिया ही नहीं है बल्कि इसके अन्तर्गत मानसिक, आध्यात्मिक और भावात्मक सभी प्रकार की क्रियायें आती हैं। यह भी कहा जा सकता है कि कर्म का सम्बन्ध स्थूल-देह, वासना-देह और मनोमय कोष से होता है और इस कर्म का प्रतिफल हमें या तो इहलोक में या परलोक में मिलता है।

(2) कर्मवाद के अनुसार, जैसा कि सर्वश्री चटर्जी तथा दत्ता ने लिखा है, नैतिक उत्कर्ष, अर्थात् कर्मों के धर्म तथा अधर्म सर्वथा सुरक्षित रहते हैं, इसके अनुसार नहीं होता और बिना किये हुये कर्म का फल नहीं मिलता। हमारे कर्मों के फल का ही नाश नहीं होता और हमारे जीवन की घटनायें हमारे अतीत के कर्मों के अनुसार ही घटित होती हैं।

(3) कर्म के सिद्धान्त के अनुसार कर्म का चक्र अनन्त है तथा मनुष्य को कर्मों के फल भोगने पड़ते हैं। इसी को 'कर्मविपाक' कहते हैं। इस कर्मविपाक का पहला

नियम यह है कि "जहाँ एक बार कर्म का आरम्भ हुआ कि फिर उसका चक्र या व्यापार आगे बराबर अखण्ड रूप से निरन्तर चलता रहता है, और जब ब्रह्मा का दिन समाप्त होने पर सृष्टि का संहार होता है, तब भी यह कर्म बीज रूप से बना रहता है एवं फिर जब सृष्टि का आरम्भ होने लगता है तब उसी कर्म-बीज से फिर पूर्ववत् अंकुर फूटने लगते हैं। महाभारत का कथन है कि—

येषां ये यानि कर्माणि प्राक्सृष्ट्यां प्रतिपेदिरे ।

तान्येव प्रतिपद्यन्ते सृज्यमानाः पुनः पुनः ॥

अर्थात् पूर्व की सृष्टि में प्रत्येक प्राणी ने जो-जो कर्म किये होंगे, ठीक वे ही कर्म (चाहे उसकी इच्छा ही या न हो) यथापूर्व प्राप्त होते रहते हैं।"

(4) इस प्रकार कर्म के फल का कभी नाश नहीं होता और "कर्म का परिणाम कर्त्ता के चरित्र, प्रवृत्ति, विचार, भावनाओं आदि पर प्रभाव डालता है और उसके व्यक्तित्व का एक अंग बन जाता है ; जीवनपर्यन्त उसके साथ रहता है और मरने के बाद भी दूसरे जीवन में उसके साथ जाता है।" आज का कर्म कल भोगना पड़ता है, और कल का परसों। इस प्रकार कर्म-फल का चक्र सदैव चलता रहता है। मनुस्मृति (4/173) तथा महाभारत (आ० 80/3) में तो कहा गया है कि इन कर्म-फलों को न केवल हमें बल्कि कभी-कभी हमारे नामरूपात्मक देह से उत्पन्न हुए हमारे लड़कों और नातियों तक को भोगना पड़ता है। शान्तिपर्व में भीष्म युधिष्ठिर से कहते हैं—

पापं कर्म कृतं किञ्चिदपि तस्मिन् दृश्यते ।

नृपते तस्य पुत्रेषु पौत्रेष्वपि च नप्तृषु ॥

अर्थात् "हे राजा ! यदि किसी आदमी को उसके पापकर्मों का फल उस समय मिलता हुआ न दीख पड़े; तथापि वह उसे ही नहीं, किन्तु उसके पुत्रों, पौत्रों और प्रपौत्रों तक को भोगना पड़ता है" (129/21)। व्यावहारिक जीवन में भी प्रायः हम लोग यह देखते हैं कि भ्रष्टाचारी और कुकर्मों में रत पिता का एक मात्र पुत्र मर जाता है, या उसके घर में पुत्र जिन्दा ही नहीं रहते। इसी प्रकार कुछ सन्तानें रोगों का पिटारा साथ लेकर ही पैदा होती हैं, और कुछ ऐसी होती हैं कि उनके जन्म लेते ही उस परिवार का सुख और ऐश्वर्य दिन-दूनी और रात-चौगुनी गति से बढ़ता जाता है। इन सबकी व्याख्या केवल कर्मवाद के आधार पर ही सम्भव है और बहुतों का मत है कि यही कर्मवाद की सच्चाई का प्रमाण भी है। यह कहा जाता है कि मनुष्य को उसके कर्म का क्या फल मिलेगा यह भगवान् के द्वारा ही निश्चित किया जाता है, तथापि वेदान्तशास्त्र का सिद्धान्त यह है कि वह फल प्रत्येक व्यक्ति के कर्म की अच्छाई-बुराई के अनुसार ही निश्चित होता है। यह हो नहीं सकता कि बुरे कर्म का फल अच्छा हो और अच्छे कर्म का फल बुरा मिले, इसलिए परमेश्वर इस सम्बन्ध में तटस्थ ही रहते हैं। उनका तो निष्पक्ष न्याय होता है। गीता में स्पष्ट ही कहा गया है कि "समोऽहं सर्वभूतेषु न मे द्वेष्योऽस्ति न प्रियः।" अर्थात् ईश्वर सबके लिए समान या एक-सा है, उन्हें न कोई अप्रिय है और न कोई प्यारा (गीता, 9/29)। साथ ही "नादत्ते कस्यचित् पापं न चैव सुकृतं विमुः।" अर्थात् परमेश्वर न तो किसी के पाप को लेता है, न पुण्य को। पाप या पुण्य को तो व्यक्ति-विशेष के स्वयं ही ग्रहण करना पड़ता है और तदनुसार फल भी भोगने पड़ते हैं। कर्म के स्वभाव का चक्र चल रहा है, जिससे प्राणी मात्र को अपने-अपने कर्मानुसार सुख-दुःख भोगने पड़ते हैं।

इस सम्बन्ध में कर्म के फलस्वरूप प्राप्त होने वाले पाप और पुण्य का विचार अति प्राचीन है। और वह इस अर्थ में कि कर्म-फल के प्राचीन सिद्धान्त में यह बतलाया गया था कि इस जीवन में जो कुछ भी हम अच्छा या बुरा कर्म करते हैं उसका प्रति-फल हमें परलोक में मिलता है। ब्राह्मण ग्रन्थों में यह भी कहा गया है कि मृत्यु के पश्चात् मनुष्य के अच्छे और बुरे कर्म तराजू के पलड़ों पर रखे जाते हैं। उनमें से जो नीचे झुक जाता है उसी के अनुसार व्यक्ति को स्वर्ग या नरक मिलता है। यह विचार हम ऋग्वेद में भी पाते हैं। स्वर्ग पुण्यात्माओं का संसार है जहाँ पर कि उन्हीं लोगों का प्रवेश सम्भव है जोकि अच्छे कर्म करते हैं। अन्य लोग अपने-अपने बुरे कर्म या पापों के अनुसार थोड़े या अधिक समय तक पितृलोक से दूर जाते हैं। स्वर्ग का मार्ग सरल नहीं है और उस मार्ग पर केवल वही चल सकते हैं जिनके कर्म अच्छे हैं। "अदित्यगण स्वर्ग को लक्ष्य बनाने वालों को पीछे ढकेलते हैं। मृतक इस संसार को छोड़कर दो अग्नियों के बीच में से गुजरते हैं ये अग्नियाँ बुरे कर्म करने वाले दुष्टों को जला देती हैं, परन्तु श्रुतकर्म करने वाले भले लोगों को जाने देती हैं।"

(5) कर्म के सिद्धान्त का एक और अन्तर्निहित तत्व यह है कि आत्मा अमर है और पुनर्जन्म वास्तव में होता है। ये दोनों ही विचार कर्म के फल से सम्बन्धित हैं। इस जन्म में हम जो कुछ भी हैं हमारे पिछले जन्म के कर्मों का ही प्रत्यक्ष फल है। यह विचार इस ओर संकेत करता है कि मनुष्य के वर्तमान जन्म से भी पूर्व आत्मा की स्थिति थी। इसी प्रकार जो कुछ हम इस जन्म में कर रहे हैं उसी के अनुसार हमारा भविष्य का जीवन निर्धारित होगा यह विचार हमें बाध्य करता है कि हम वर्तमान जीवन से भी आगे आत्मा की स्थिति को स्वीकार करें। इतना ही नहीं, हमारे कर्मों के फल का भी नाश नहीं होता, इस सिद्धान्त के आधार पर यह भी कहा जा सकता है कि कुछ कर्म ऐसे भी हो सकते हैं जिनके फल एक ही जन्म में समाप्त नहीं हो पाते, इसलिए उनकी पूर्ति के लिए एक से अधिक जन्मों की आवश्यकता होती है। यही पुनर्जन्म की अवधारणा है। जातक-ग्रन्थों में कहा गया है कि कर्म के अनुसार मृत्यु-घड़ी में ही अगले जन्म की जन्म-कुण्डली तैयार होती है। इस प्रकार जीव का पुनर्जन्म मोक्ष-प्राप्ति न होने पर अवश्यम्भावी है और उसका हेतु है कर्म।

(6) कर्म के सिद्धान्त का एक अन्तर्निहित तत्व यह भी है कि यह जीवन की वर्तमान परिस्थितियों से सम्बन्धित समस्त विषयों को कर्म के आधार पर समझाने का प्रयत्न करता है। जीवन की परिस्थितियाँ प्रत्येक व्यक्ति के लिए समान इसलिए नहीं हैं कि प्रत्येक के कर्म भी समान नहीं हैं कर्म के सिद्धान्त के अन्तर्गत यह विश्वास किया जाता है कि मनुष्य के वर्तमान जन्म में वह जिस परिस्थिति में है, कर्म की कसौटी पर कसकर उसे उसी योग्य पाया गया है। वर्ण-व्यवस्था के अन्तर्गत विभिन्न व्यक्तियों की जीवन-परिस्थिति (life-situation) या पद का निर्धारण जिस आधार पर किया गया, उसका भी प्रत्यक्ष सम्बन्ध इसी कर्म के सिद्धान्त से ही था; और कुछ विद्वानों का कथन है कि वर्ण-व्यवस्था को स्थिर रखने में कर्म की धारणा का महत्वपूर्ण योगदान इस अर्थ में रहा है कि व्यक्ति अपने जीवन की निम्नतम परिस्थिति व पद को भी अपने ही अतीत कर्मों का स्वाभाविक फल मानकर सहर्ष स्वीकार कर लेता है।

(7) कर्म के सिद्धान्त का एक अन्य अन्तर्निहित तत्व यह है कि इस सिद्धान्त के अन्तर्गत, जैसा कि डॉ० गोपाल ने लिखा है, यह विश्वास किया जाता है कि "मनुष्य को अपने कर्मों का दो प्रकार से परिणाम भोगना पड़ता है। मृत्यु के बाद कर्मों की

अच्छाई और बुराई के अनुसार उसे कुछ समय के लिए स्वर्ग के सुख या नरक की यन्त्रणाएँ भोगनी पड़ती हैं। इस अवधि की समाप्ति के बाद कर्मों के अनुसार ही उसे देहान्तर प्राप्ति होती है। पुनर्जन्म में सुख और दुःख, समृद्धि और दारिद्र्य सभी पूर्व-जन्म के कर्मों के अनुसार होते हैं..... इसी प्रकार से मनुष्यों में अच्छे और बुरे कार्यों के प्रति जन्मजात प्रवृत्तियाँ होती हैं। उनमें जन्म से ही विशेष गुण, क्षमता और रुचि होती है। ये अन्तर या असमानताएँ पूर्वजन्म के कर्मों के कारण हैं जिनके फल कर्त्ता के साथ जुड़ जाते हैं और पुनर्जन्म होने पर प्रकट होते हैं।" इस प्रकार यह स्पष्ट है कि कर्म की धारणा मनुष्य के कम-से-कम तीनों जन्मों को एक शृंखला में आवद्ध करती है। पूर्वजन्म के कर्मानुसार वर्तमान जीवन और वर्तमान जीवन के कर्मानुसार भविष्य के जीवन का निर्धारण—यह चक्र कर्म के सिद्धान्त का एक आवश्यक तत्व है।

परन्तु इस सम्बन्ध में यह उल्लेखनीय है कि कर्म का सिद्धान्त या कर्मवाद नियतिवाद या भाग्यवाद नहीं है। कुछ लोगों का कथन है कि कर्म का सिद्धान्त इस बात पर बल देता है कि मानव-जीवन का सब-कुछ कर्म पर ही निर्भर करता है। इसका प्रभाव यह पड़ता है कि व्यक्ति भाग्य को ही सब-कुछ मान बैठता है और नए प्रकार के प्रयोग या प्रयत्न करने का उत्साह व लगन उसमें पनप नहीं पाती हैं क्योंकि वह यह विश्वास कर बैठता है कि किसी भी प्रकार के प्रयत्न करने पर भी उसके वर्तमान जीवन की परिस्थितियों में किसी भी भाँति सुधार होना सम्भव नहीं, क्योंकि उसका यह वर्तमान जीवन पूर्वजन्म के कर्मरूपी निर्देशों, निर्भर नियम का फल है। परन्तु यह धारणा गलत है। कर्मवाद व्यक्ति को भाग्यवादी होना नहीं सिखाता बल्कि उसे यह पाठ पढ़ाता है कि वही भाग्य का वास्तविक निर्माता है। अपने कर्मों के द्वारा वह अपने भाग्य को भी बदल सकता है, भविष्य के सम्बन्ध में निश्चिन्त हो सकता है। कर्म का सिद्धान्त इस बात की घोषणा करता है कि प्रत्येक को उसके प्रयत्नों का उचित पुरस्कार अवश्य ही मिलेगा। यह प्रयत्न (कर्म) अगर सद्भावना और सदुद्देश्य से किया गया है तो पुरस्कार भी अच्छा ही होगा, इसके विपरीत दशा में पुरस्कार का रूप भी विपरीत होगा। यह अनुचित नहीं है कि बुरे कर्म करने वाले अपराधी को दण्ड न दिया जाए, और यह भी उचित नहीं है कि अच्छे कर्मों का बुरा फल हो। यही आदर्श कर्मवाद है। साथ ही कर्म के सिद्धान्त में यह स्पष्टतः उल्लेख है कि व्यक्ति को भाग्यवादी नहीं, बल्कि सतत प्रयत्नशील या उद्योगशील होना चाहिये और यदि यह प्रयत्न उत्तम प्रकार का है तो उसके द्वारा अर्थात् उन सत्कर्मों से जो शक्ति उत्पन्न होगी वह पिछले बुरे कर्मों के बुरे फल या प्रभावों को रोकने या घटाने में सहायक ही सिद्ध होगी। डॉ० गोपाल के शब्दों में, "कर्मों के परिणाम या फल को अनिवार्य केवल इस अर्थ में कहा जा सकता है कि उनका होना टाला नहीं जा सकता, परन्तु फल के स्वरूप को अनिवार्य नहीं बताया जा सकता, क्योंकि अपने प्रयत्नों से मनुष्य उसमें परिवर्तन ला सकता है। सत्कर्मों के द्वारा पूर्व-कर्मों के प्रभाव को रोका या घटाया जा सकता है। मानव-जीवन इहलोक से ऊपर उठने के लिये अवसर प्रदान करता है। पुनर्जन्म इस दृष्टि से शुभ है कि इससे पिछली मूलों को सुधारने की सम्भावना होती है। पृथ्वी ही वह स्थल मानी गई है जहाँ मनुष्य अपने पूर्व-कर्मों के फल को सुधारने और उनमें परिवर्तन लाने के लिये प्रयत्न कर सकता है। पृथ्वी कर्मभूमि है। देवताओं का देश तो

केवल सुख भोगने के लिये है—भोग भोगने के लिये भूमि मात्र है। देवता अनन्त काल तक तो सुख नहीं भोग सकते, संचित पुण्य के समाप्त होते ही वह नीचे पृथ्वी पर पुनर्जन्म लेने के लिये भेज दिये जाते हैं।" यह बात मनुष्य पर तो और भी पूर्ण रूप से लागू होती है। माग्य पर भरोसा करके मनुष्य चुप बैठ नहीं सकता। कर्म उसे करना ही है, क्योंकि यही प्रकृति का नियम है (गीता, 3/5)। पृथ्वी को कर्मभूमि ही मनुष्य का वास्तविक क्षेत्र है और कर्म ही उसका जन्म-मरण का सच्चा साथी है। "वेद और स्मृति ग्रंथों में यज्ञयाग आदि पारलौकिक कल्याण के अनेक साधनों का वर्णन है, परन्तु मोक्षशास्त्र की दृष्टि से ये सब निम्न श्रेणी के हैं, क्योंकि यज्ञयाग आदि पुण्यकर्मों के द्वारा स्वर्ग प्राप्ति हो जाती है, परन्तु जब उन पुण्यकर्मों के फलों का अन्त हो जाता है तब, चाहे वह दीर्घकाल में ही क्यों न हो, कभी-न-कभी मनुष्य को इस कर्मभूमि में फिर लौटकर आना ही पड़ता है" (महाभारत वन०, 259 और 260; गीता, 8/25 और 9/20)।

(8) अतः जहाँ कर्म के सिद्धान्त की सामान्य मान्यता यह है कि कर्म चाहे वह अच्छा हो या बुरा उसके परिणाम या फल से कोई छुटकारा नहीं पा सकता, उसका परिणाम भोगने के सिवाय और कोई उपाय नहीं है क्योंकि कर्म कभी नष्ट नहीं होता, वहाँ इस सिद्धान्त के अन्तर्गत बुरे कर्मों के परिणामों को सत्कर्मों द्वारा प्रतिबन्धित करने या सुधारने का विचार भी स्पष्टतः निहित है। सुधारने के उपायों के सम्बंध में अलग-अलग शास्त्रकारों ने विभिन्न दृष्टियों से विचार किया है। गौतम कहते हैं कि वेदों का अध्ययन, आत्मसंयम, बलि, उपवास तथा दान आदि देना पापों से निवृत्त होने के साधन हैं। वशिष्ठ के अनुसार अपने शरीर को कष्ट देने, वेद-मंत्रों का जप करने, धर्मानुसार यज्ञों का अनुष्ठान करने, दान देने तथा प्राणायाम आदि करने से पापी व्यक्ति बुरे कर्मों के परिणाम को रोक सकता है। मनु ने भी सुझाव दिया है कि अपने पापों को स्वीकार कर पश्चात्ताप करने, आत्मसंयम करने, वैदिक ग्रन्थों का पवित्र चित्त से पाठ करने तथा दान-ध्यान व यज्ञ करने से एक पापी व्यक्ति पापों के परिणाम से छुटकारा पा सकता है। पर यदि कोई व्यक्ति आत्मसंयम का पालन नहीं कर सकता या वैदिक ग्रंथों का पाठ नहीं कर सकता तो वह दानशीलता के द्वारा अपने पाप-कर्मों से मुक्त हो सकता है।

कर्म के भेद

(Kinds of Karma)

कर्म के सिद्धान्त में कर्मों का जो विभाजन किया जाता है, वह मनुष्य द्वारा किए गए कर्मों का ही होता है। मनुष्य द्वारा किए जाने वाले अशुभ कर्मों के मनु ने—कायिक, वाचिक और मानसिक—तीन भेद किए हैं। व्यभिचार, हिंसा और चोरी इन तीनों को कायिक; कटु व मिथ्या भाषण, ताना मारना या चुगली करना और असंगत वचन, इन चारों को वाचिक; तथा परायी चीजों को पाने की इच्छा दूसरों का अहितचिन्तन और परलोक में कुछ भी नहीं है—ऐसा विश्वास, इन तीनों के मानसिक पाप को कर्म कहते हैं। इस प्रकार सब मिलाकर मनु ने दस प्रकार के पापकर्मों का उल्लेख किया है। आपने समस्त कर्मों के तीन प्रमुख भेदों का उल्लेख किया है और वे हैं—सात्विक, राजसिक और तामसिक (मनुस्मृति, 12/6, 31—34)।

गीता में भी कर्म के तीन भेद—सात्विक, राजसिक और तामसिक किये गये हैं। जो कर्म फल की आशा त्यागकर बिना आसक्ति के स्वधर्मानुसार किये जाते हैं

उन्हें सात्विक कहते हैं। फलाशा की इच्छा रखते हुए अहंकारपूर्ण मनोभावों से किया गया कर्म राजसिक है तथा तामसिक कर्म वह है जो मोह से, बिना वर्तमान तथा भविष्य सोचे बिना किया जाता है (गीता, 18/23—25)। मनुस्मृति तथा गीता में उल्लिखित इन कर्मों के सम्बन्ध में हम आगे विस्तार-पूर्वक विवेचना करेंगे।

परन्तु 'कर्मविपाक' (अर्थात् कर्म का चक्र अनन्त है और मनुष्य को अपने कर्मों का फल भोगना पड़ता है) के सन्दर्भ में कर्म का जो भेद सामान्यतः किया जाता है, वह उपरोक्त दोनों भेदों से भिन्न है। कर्मविपाक प्रकरण में कर्म के तीन भेद माने गये हैं—(1) संचित कर्म, (2) प्रारब्ध कर्म तथा (3) संचयीमान अथवा क्रियमाण। इन तीनों प्रकार के कर्मों को लोकमान्य तिलक ने इस प्रकार समझाया है : किसी मनुष्य के द्वारा इस क्षण तक किया गया जो कर्म है—चाहे वह इस जन्म में किया गया हो या पूर्वजन्म में वह सब 'संचित' अर्थात् एकत्रित कर्म कहा जाता है। इसी 'संचित' का दूसरा नाम 'अदृष्ट' और मीमांसकों की परिभाषा में 'अपूर्व' भी है। इन नामों के पड़ने का कारण यह भी है कि जिस समय कर्म या क्रिया की जाती है, उसी समय के लिए वह दृश्य रहती है। उस समय के बीत जाने पर वह क्रिया स्वरूपतः शेष नहीं रहती। किन्तु उसके सूक्ष्म अंतएव अदृश्य अर्थात् अपूर्व और विलक्षण परिणाम ही बाकी रह जाते हैं (वेदान्तसूत्र—शांकर-भाष्य 3, 2, 39, 40)। कुछ भी हो, परन्तु इसमें सन्देह नहीं कि इस क्षण तक जो कर्म किए होंगे, उन सबके परिणामों के संग्रह को ही 'संचित', 'अदृष्ट' या 'अपूर्व' कहते हैं। उन संचित कर्मों को एकसाथ भोगना असम्भव है, क्योंकि इनके परिणामों के साथ परस्पर विरोधी अर्थात् भले और बुरे दोनों प्रकार के कर्म जुड़े रहते हैं। उदाहरणार्थ, कोई संचित कर्म स्वर्गप्रद तो कोई कर्म नरकप्रद हो सकता है। इसलिए इन दोनों के फलों को एक ही समय भोगना सम्भव नहीं है—इन्हें एक के बाद एक क्रमशः भोगना पड़ता है। अतएव 'संचित' में से जितने कर्मों के फलों का भोगना पहले शुरू होगा उतने ही अंश को 'प्रारब्ध' कहते हैं। प्रारब्ध और संचित के अतिरिक्त कर्म का 'क्रियमाण' नामक एक और तीसरा भेद है। 'क्रियमाण' वर्तमान कालवाचक घातुसाधित शब्द है और उसका अर्थ है 'जो कर्म अभी हो रहा है अथवा जो कर्म अभी किया जा रहा है'।

सर्वश्री चटर्जी तथा दत्ता ने उपरोक्त तीन कर्मों की विवेचना करते हुए लिखा है कि 'कर्म' शब्द के दो अर्थ हैं। एक अर्थ में कर्म के नियम का बोध होता है और दूसरे अर्थ में कर्म से जो शक्ति उत्पन्न होती है उसका बोध होता है। इसी शक्ति के द्वारा कर्म-फल उत्पन्न होते हैं। दूसरे अर्थ के अनुसार कर्म के तीन भेद हैं—(1) संचित कर्म, (2) प्रारब्ध कर्म, तथा (3) संचयीमान या क्रियमाण कर्म। संचित कर्म उस कर्म-शक्ति को कहते हैं जो अतीत कर्मों से उत्पन्न होते हैं किन्तु जिसके फलों का प्रारम्भ नहीं होता। प्रारब्ध कर्म भी पूर्वजीवन में ही उत्पन्न होता है किन्तु उसके फलों का प्रारम्भ इस जीवन में हो चुका रहता है, यथा वर्तमान शरीर तथा धन-सम्पत्ति। क्रियमाण कर्म उसे कहते हैं जिसका संचय वर्तमान जीवन में होता है।

कर्म के विभिन्न सिद्धान्त

(Various Theories of Karma)

'कर्म' के सम्बन्ध में विभिन्न शास्त्रकारों ने अपने-अपने विचारों को प्रस्तुत किया है। इनके सिद्धान्तों को हम निम्न प्रकार से प्रस्तुत कर सकते हैं—

1 मनु का सिद्धान्त—मनु के अनुसार समस्त कर्म मन, वाणी तथा शरीर की

ही उपज है और ये कर्म अच्छे अथवा बुरे प्रभाव उत्पन्न करते हैं जिसके फलस्वरूप मनुष्यों की उत्तम, मध्यम या अधमगति (जन्मान्तर की प्राप्ति) होती है। इन्हीं मन, वाणी तथा शरीर के द्वारा मनुष्य विभिन्न प्रकार के पाप-कर्मों को कर सकता है। उदाहरणार्थ, पहले मन को लीजिये। मनु के अनुसार अन्याय से परायी चीजों को लेने की इच्छा और मन से दूसरों का बुरा चाहना तथा 'परलोक में कुछ नहीं है' ऐसा विश्वास मन में पनपाना—यह तीन प्रकार का मन से सम्बन्धित या मानस पाप-कर्म है। कठोर और असत्य भाषण तथा सब प्रकार की चुगली और अनावश्यक बकवाद, यह चार प्रकार का वाणी से उत्पन्न या वाङ्मय पाप-कर्म हैं। उसी प्रकार अन्याय से दूसरे का धन लेना और शास्त्र के विधान से अतिरिक्त हिंसा तथा दूसरे की स्त्री से यौन-सम्बन्ध स्थापित करना, यह तीन प्रकार का शारीरिक पाप-कर्म है। मन, वाणी तथा शरीर से किए हुए शुभ-अशुभ कर्म-फल को मनुष्य क्रमशः अपने मन, वाणी तथा शरीर से ही भोगता है। मनु के अनुसार शरीर के कर्म-दोषों या पाप-कर्मों से मनुष्य वृक्षादि योनि, वाणी के कर्म-दोष से पक्षी और मृग की योनि तथा मन के कर्म-दोषों से चाण्डालादि कुल में जन्म लेता है। एक व्यक्ति शुभ कर्मों से देवभाव, शुभ-अशुभ मिश्रित कर्मों से मनुष्यभाव को प्राप्त करता है तथा केवल अशुभ कर्मों से नीच योनियों में जन्म लेता है। मनु ने यह भी लिखा है कि मनुष्य की सत्वगुण वाले कर्मों को सर्वोच्च, रजोगुण वाले कर्मों को उससे कम तथा तमोगुण वाले कर्मों को सबसे कम करना चाहिए। मनु के अनुसार वेद का अभ्यास, तप, ज्ञान, शौच, इन्द्रियों का निग्रह, धर्म-क्रिया और आत्मा मनन, ये सत्वगुण के लक्षण हैं। आरम्भ में रुचि होना फिर अर्धव्य, निषिद्ध कर्म को पकड़ना और निरन्तर विषय-भोग, ये रजोगुण के लक्षण हैं। लोभ, नींद, अधीरता, क्रूरता, नास्तिकता, अनाचारीपन, याचना, स्वभाव और प्रमाद, ये तमोगुण के लक्षण हैं। कर्म से सम्बन्धित इन तीनों के लक्षण इस प्रकार हैं—जिस कर्म को करके और करते हुए तथा आगे करने का विचार करते हुए (अर्थात् तीनों काल में) लज्जा का अनुभव होता है, उन सबको तमोगुण का लक्षण मानना चाहिये। जिस कर्म से व्यक्ति इस लोक में बहुत असिद्धि चाहता है और असिद्धि में शोक नहीं करता, वह राजस है और जिस कर्म को सर्वथा जानने के लिये इच्छा करता है और जिस कर्म को करता हुआ (तीनों काल में) लज्जित नहीं होता, तथा जिस कर्म से व्यक्ति के मन को आनन्द हो, वह सत्वगुण का लक्षण है। तम का प्रधान लक्षण 'काम' है, रज का प्रधान लक्षण 'अर्थ' कहलाता है तथा सत्व का प्रधान लक्षण 'धर्म' है। इनमें सत्व या धर्म सबसे श्रेष्ठ है, उसके बाद क्रमशः रज (अर्थ) तथा तम (काम) का स्थान है। इसलिये मनुष्य को अधिकाधिक उन कर्मों को करना चाहिये जो कि धर्म के अनुकूल हैं या जो सत्वगुण वाले हैं। क्योंकि, मनु के अनुसार, सात्त्विक कर्म करने वाले को देवत्व गति प्राप्त होती है जबकि राजस तथा तामस कर्म करने वाले को क्रमशः मनुष्यत्व गति और निकृष्ट गति या तिर्यक्- (वृक्ष, पशु, पक्षी आदि की) योनि प्राप्त होती है।

मनु ने विभिन्न प्रकार के अधम या बुरे कर्मों के फल या परिणामों का भी विस्तार उल्लेख किया है। कुत्ता, सूअर, गधा, ऊँट, बैल, बकरा, भेड़, मृग, पक्षी, चाण्डाल और पुकस योनि को ब्रह्महत्या द्वारा प्राप्त होता है। मद्य पीने वाला ब्राह्मण कीड़े-मकड़ी, पतंगा, मैला खाने वाले पक्षियों और हिंसा करने वाले पशुओं की योनि को प्राप्त होता है। चोरी करने वाला ब्राह्मण मकड़ी, सर्प, गिरगिट तथा हिंसा करने वाले पिशाचों की योनि को हजारों बार प्राप्त होता है। गुरु-पत्नी से यौन-सम्बन्ध स्थापित

कर्म का सिद्धान्त

करने वाला घ्रास, गुल्म, लता, कच्चे मांस को खाने वाले तथा क्रूरकर्म करने वाले का जन्म सैकड़ों बार होता है। चाण्डाल की स्त्री से यौन-सम्बन्ध स्थापित करने वाले कच्चे मांस के खाने वाले होते हैं। पतितों के साथ रहने और पराई स्त्री से मैथुन करने तथा ब्राह्मण का घन चुराने से व्यक्ति बहिराक्षस होता है। मणि, मोती, मृगा आदि रत्नों को चुराने से हेमकार पक्षी, धान्य को चुराने से चूहा, कांसे को चुराने से हंस, पीने के पानी को चुराने से चातक पक्षी और घृत को चुराने से व्यक्ति नेवला होता है। चारों वर्ण बिना आपत्ति अपने नित्य कर्म को न करने से कुत्सित योनि को प्राप्त हो कर फिर शत्रुओं के दासत्व को प्राप्त होते हैं। अपने कर्म से अष्ट ब्राह्मण मरकर वमन तथा शव को भोजन करने वाला होता है, स्वकर्म अष्ट क्षत्रिय पुरीष और शव का भोजन करने वाला, स्वकर्म अष्ट वैश्य पीप का भक्षण करने वाला तथा स्वकर्म अष्ट शूद्र कपड़े की जूँ आदि खाने वाला होता है।

शुभ या उत्तम कर्म कौन-कौन से हैं तथा उनको करने से क्या फल मिलता है। इसका भी उल्लेख मनु ने किया है। उनके अनुसार वेद का अभ्यास, तप, ज्ञान, इन्द्रियों को रोकना तथा हिंसा न करना और गुरु की सेवा करना, ये परम कल्याणकारी कर्म हैं। इन सबमें आत्मज्ञान सबसे श्रेष्ठ है, क्योंकि उससे मोक्ष प्राप्त होता है। इस लोक तथा परलोक में भोगार्थ जो कामना से कर्म किया जाता है उसको, मनु के अनुसार, 'प्रवृत्त' कहते हैं और जो निष्काम तथा ज्ञानपूर्वक किया जाता है उसको 'निवृत्त' कहते हैं। प्रवृत्त कर्म करने से देवताओं के साम्य को प्राप्त होता है। सब भूतों में निवृत्त कर्म करने से पंचभूतों को लाँघकर मोक्ष को प्राप्त होता है। सब भूतों में आत्मा को और आत्मा से सब भूतों को बराबर देखने वाला व्यक्ति मोक्ष को प्राप्त होता है। बिना पढ़ने वालों से ग्रन्थ को पढ़ने वाले श्रेष्ठ हैं, उनसे भी ग्रन्थ को कंठस्थ करने वाले तथा उनसे भी उसके अर्थ को जानने वाले (अर्थज्ञानी) और अर्थज्ञानियों से अनुष्ठान करने वाले क्रमशः अधिक श्रेष्ठ हैं। तप और विद्या ब्राह्मण का परम कल्याणप्रद कर्म है। तप से पाप दूर होता है और विद्या से मोक्ष प्राप्त होता है।

2. याज्ञवल्क्य का सिद्धान्त—याज्ञवल्क्य मनु द्वारा प्रस्तुत कर्म तथा उसके फल के सम्बन्ध में उपरोक्त विचारों से सहमत हैं। याज्ञवल्क्य स्मृति के टीकाकार श्री बालम भट्ट के अनुसार धर्म एवं अधर्म कर्म के संचय के परिणाम या फल है। दूसरे शब्दों में कर्म के संचय के फलस्वरूप ही हमें धर्म या अधर्म, उत्तम या अधम गति, अवस्था या स्थिति प्राप्त होती है। कर्म के इस संचय से जो परिणाम उत्पन्न होते हैं या जो फल व्यक्ति को प्राप्त होता है, उन्हें निम्नलिखित तीन श्रेणियों में विभाजित किया जा सकता है—(अ) जाति अर्थात् उच्च या निम्न जाति में जन्म यानि उत्तम या अधम योनि को प्राप्त होना; (ब) आयु अर्थात् जीवन का दीर्घ या अल्प विस्तार यानि ज्यादा या कम आयु को प्राप्त होना; तथा (स) भोग अर्थात् आनन्द (सुख) अथवा कष्ट उठाना। मनुष्य को अपने जीवन में ऐसे कर्मों का संचय करना चाहिए जिससे कि उत्तम योनि, दीर्घायु तथा आनन्द की प्राप्ति उसके लिये सम्भव हो।

याज्ञवल्क्य के अनुसार, उचित कर्मों या सत्कर्मों का पालन ही मनुष्य का 'धर्म' है। यह 'धर्म' विभिन्न वर्णों तथा आश्रमों में अवस्थान करने वालों के लिये अलग-अलग है। उदाहरणार्थ, ब्राह्मण का प्रमुख कर्म ज्ञान का संचय तथा उसका वितरण (ज्ञानदान या विद्यादान) करना है; जबकि क्षत्रिय का उचित कर्म जनरक्षा है। वैश्य का धर्म 'अर्थ' से सम्बन्धित है तथा शूद्र का 'सेवा' से। याज्ञवल्क्य के अनुसार राजा का यह

कर्तव्य है कि यदि कोई भी वर्ण, परिवार, वंश, सम्प्रदाय आदि अपने उचित धर्म अर्थात् कर्तव्य-कर्म से हट गया है तो उसे दण्ड दे एवं फिर उचित रास्ते पर लाये। इस प्रकार ब्रह्मचर्याश्रम की अवस्था में बल-वीर्य-ज्ञान का संचय करना, गुरु-सेवा तथा गुरु की आज्ञा का पालन करना ही व्यक्ति का सबसे उचित कर्म या धर्म है। गृहस्थी के लिये गृहस्थ धर्म का पालन ही उचित कर्म तथा शुभ फलदायक धर्म है।

याज्ञवल्क्य ने सामान्य (general) तौर पर कुछ उचित कर्मों का उल्लेख किया है, जैसे—बलि, धार्मिक कृत्य व संस्कार, अनुशासन, किसी को हानि न पहुँचाना, दान-शीलता तथा वेदों का अध्ययन।

3. शुक्रनीतिसार का सिद्धान्त—शुक्रनीतिसार के अनुसार, एक व्यक्ति का वर्तमान जीवन उसके पूर्वजन्म के कर्मों के द्वारा घटित होता है। दूसरे शब्दों में पूर्वजन्म के कर्मों के प्रतिफलन के रूप में ही मनुष्य का वर्तमान जीवन होता है, यद्यपि इसमें दैव का भी बहुत-कुछ हाथ हुआ करता है। इस अर्थ में जीवन में प्रत्येक वस्तु दैव एवं कर्म पर आधारित है। कर्म दो भागों में विभाजित है—एक तो वे कर्म जो पूर्वजन्म या जन्मों में किए गये हैं और दूसरे वे कर्म जो कि इस जन्म में व्यक्ति ने किये हैं। इन दोनों प्रकार के कर्मों का प्रभाव व्यक्ति के जीवन पर पड़ता है। शुक्रनीतिसार ग्रन्थ में यह स्वीकार किया गया है कि जीवन की परिस्थितियों को निर्धारित करने में दैव भी एक कर्ता है जोकि मनुष्य के भाग्य को निश्चित करता है, लेकिन उसका यह तात्पर्य नहीं है कि भाग्य ही पूर्ण रूप से यह निश्चित करता है कि व्यक्ति क्या है या क्या होगा। इसका यह भी अर्थ नहीं है कि व्यक्ति को किसी वस्तु के लिये प्रयत्न या परिश्रम नहीं करना चाहिए अथवा उसे अकर्मण्य जीवन बिताना चाहिये। वास्तव में प्रयत्न-शीलता जीवन की गति है और उस गति को किसी भी व्यक्ति को नहीं रोकना चाहिए; दूसरे शब्दों में व्यक्ति को इस बात का यथाशक्ति प्रयत्न करना चाहिए कि वह ऐसे कर्मों को करे जिससे कि उसका जीवन उन्नत हो सके अथवा उसके भविष्य के भाग्य में आवश्यक परिवर्तन हो सके।

कुछ विद्वानों का कहना है कि शुक्रनीतिसार में दैव एवं कर्म की अवधारणा अस्पष्ट और अनिश्चित है। मानव-जीवन को इन दो अनिश्चितताओं के बीच रख देना उचित नहीं है। कर्म और भाग्य ये दोनों विरोधी तत्व हैं और एक ही सिद्धान्त के अन्तर्गत इनको सम्मिलित करना ठीक नहीं है, क्योंकि ऐसा करने से न तो कर्म का सिद्धान्त पूरा होता है और न ही भाग्य का। इस शंका का समाधान याज्ञवल्क्य स्मृति में मिलता है जिसमें यह लिखा हुआ है कि रथ दो पहियों से, न कि एक पहिये से चल सकता है। उसी प्रकार प्रयत्न या कर्म एवं भाग्य रूपी दो पहियों से मानव-जीवन रूपी रथ चलता है।

4. पातञ्जलयोगसूत्र का सिद्धान्त—पातञ्जल के अनुसार मनुष्य के कष्टों का मूल कारण अविद्या है। इसके साथ ही जन्म एवं मृत्यु भी मानव-क्लेश के कारण ही है। ज्ञान की अनुपस्थिति अविद्या नहीं है, बल्कि अविद्या का अर्थ है असत्य एवं मिथ्या ज्ञान, जोकि उचित एवं वास्तविक ज्ञान के एकदम विपरीत है। अविद्या के चार भेद हैं जोकि निम्न प्रकार हैं—(क) अस्मितः अर्थात् अपने के सम्बन्ध में अनावश्यक रूप से उच्च धारणा को बनाए रखना यानी स्वयं को अत्यधिक महत्व देना। (ख) राग अर्थात् उन वस्तुओं के प्रति श्रद्धाव होना एवं उन वस्तुओं को खोजना जो सांसारिक आनन्द देती हैं। (ग) द्वेष अर्थात् उन वस्तुओं का घृणापूर्वक त्याग करना जो दुःख देती हैं। (घ)

अभिनिवेश जीवन के प्रति अत्यधिक मोह एवं मृत्यु का भय है। ये चार प्रकार की अविद्यायें हैं जोकि नाना प्रकार के क्लेशों को जन्म देती हैं। ये सारे क्लेश दूर किए जा सकते हैं यदि अविद्या को दूर किया जाए तथा उचित ज्ञान एवं योग की सहायता द्वारा अविद्या को दूर किया जा सकता है। इस सम्बन्ध में यह उल्लेखनीय है कि योग का अर्थ है प्रयत्न अथवा तरीका या पद्धति या प्रयत्न की व्यवस्था जिसकी सहायता से ईश्वर एवं मनुष्य के बीच संयोजक चिन्ह स्थापित किया जाता है।

पतंजलि के अनुसार अन्तहीन कर्म एवं जन्म के चक्र को समाप्त करने का साधन केवल ज्ञान ही है। ज्ञान-प्राप्ति से कर्म समाप्त नहीं हो जाते लेकिन कार्य करने वालों के लिए उन कर्मों का प्रभाव समाप्त हो जाता है या घट जाता है। ज्ञान-प्राप्ति से योगी 'धर्म मेघ' बन जाता है। यहाँ 'योगी' शब्द उन व्यक्तियों के प्रति संकेत करता है जो कर्मों के प्रतिफल की आशा त्याग देते हैं अर्थात् जो किसी फल की प्राप्ति के लिए ही कर्म नहीं करता। वह कर्म-सन्त्यासी या कर्म-योगी है जिसने कर्म करना तो छोड़ा नहीं परन्तु अपने कर्मों के फलों पर अपने अधिकार का त्याग कर दिया है। दूसरे शब्दों में हम यह कह सकते हैं कि कर्म-योगी कर्म को त्यागना नहीं है, न ही कर्म करना छोड़ देता है, वह तो केवल अपनी इच्छाओं अर्थात् अपने कर्मों के फल की इच्छाओं का त्याग कर देता है। कर्म-योगी बिना किसी प्रतिफल की आशा के कर्म करता है। पतंजलि के अनुसार जब तक कर्म के प्रतिफलों की आशा की जाती है तब तक आवागमन का चक्र चलता रहता है। प्रतिफल की आशा त्यागते ही परम शांति या मोक्ष की प्राप्ति सम्भव होती है।

5. जन दर्शन का सिद्धान्त—इसके अनुसार जीव की अन्तर्निहित प्रवृत्तियों के द्वारा ही शरीर का निर्माण होता है अर्थात् जीव अपने कर्मों या संस्कारों के वश ही शरीर धारण करता है। पूर्वजन्म के कर्मों के कारण अर्थात् पूर्वजन्म के विचार, वचन तथा कर्म के कारण जीव में वासनाओं की उत्पत्ति होती है। वासनाएँ तृप्त होना चाहती हैं, फल यह होता है कि इनकी क्रियाशीलता के कारण एक विशेष प्रकार का शरीर बनता है। इस प्रकार हम देखते हैं कि जैनों के अनुसार जीव अपने कर्मों के अनुसार शरीर धारण करता है। शरीर से केवल स्थूल शरीर नहीं समझना चाहिए, बल्कि शरीर से इन्द्रिय, मन तथा प्राण का भी बोध होता है जिसके कारण जीव के स्वाभाविक गुण अभिभूत हो जाते हैं।

जैन-दर्शन के अनुसार माता-पिता से व्यक्ति को जो शरीर मिलता है उसे आकस्मिक नहीं समझना चाहिए। कर्म से ही यह निश्चित होता है कि एक व्यक्ति का जन्म किस वंश या परिवार में होगा। कर्मों से ही शरीर का रूप, रंग, आकार, आयु, ज्ञानेन्द्रिय तथा कर्मेन्द्रिय की संख्या, उसके विशेष धर्म निर्धारित होते हैं। शरीर के कारण-रूप कर्मों एवं उनके सभी धर्मों को हम समष्टि और व्यष्टि से विचार कर सकते हैं। समष्टि-दृष्टि से कर्म समस्त वासनाओं का एक समूह है, जिसका फल समस्त-धर्म-विशिष्ट शरीर है। किन्तु व्यष्टि-दृष्टि से शरीर का विशेष-विशेष धर्म विशेष-विशेष कर्म का फल है। जैन-दर्शन के अनुसार कर्मों की संख्या अनेक है। उसने प्रत्येक कर्म का नामकरण उसके फल के अनुसार किया है। जो कर्म यह निश्चित करता है कि व्यक्ति का जन्म किस गोत्र में होगा, उसे गोत्र-कर्म कहते हैं। जो कर्म आयु निश्चित करता है उसे आयु-कर्म कहते हैं। जो ज्ञान को नष्ट करता है उसे ज्ञानावरणीय-कर्म कहते हैं, जो विश्वास को नष्ट करता है उसे दर्शनावरणीय-कर्म कहते हैं, जो मोह

उत्पन्न करता है उसे मोहनीय-कर्म तथा जो दुःख की वेदना उत्पन्न करता है उसे वेदनीय-कर्म कहते हैं। कर्मानुसार ही व्यक्ति के लिए बन्धन या मुक्ति का निर्धारण होता है। अतः सत्कर्म और ज्ञान ही मानव-जीवन का ध्येय होना चाहिए।

6. बौद्ध-दर्शन का सिद्धान्त—इसके अनुसार वर्तमान जीवन पूर्ववर्ती जीवन के कर्मों का ही फल है। साथ ही, वर्तमान जीवन के कर्मों का भविष्य-जीवन के साथ भी वही सम्बन्ध है जो पूर्ववर्ती जीवन के कर्मों का वर्तमान जीवन से है। वर्तमान जीवन के कर्मों के कारण ही भविष्य-जीवन की उत्पत्ति होती है, साथ ही वर्तमान जीवन के कर्मों का फल भविष्य में मिलता है। महात्मा बुद्ध का उपदेश है कि कर्म दो तरह के होते हैं। एक तरह का कर्म राग, द्वेष तथा मोह के कारण होता है। दूसरे तरह का कर्म बिना राग, द्वेष तथा मोह के होता है। प्रथम प्रकार का कर्म हमारी विषयानुरक्ति अर्थात् विषय के प्रति आकर्षण की वृद्धि करता है तथा ऐसे संस्कारों को पैदा करता है जिनके कारण जन्म ग्रहण करना ही पड़ता है। दूसरे प्रकार का कर्म अनासक्त भाव से तथा संसार को अनित्य समझकर किया जाता है, जिससे पुनर्जन्म की सम्भावना नहीं रह जाती है। साधारण ढंग से यदि बीज को बोया जाए तो पौधे की उत्पत्ति होती है, किन्तु यदि बीज को अग्नि में तपा लिया जाए तो उसको बोने से पौधे की उत्पत्ति की सम्भावना नहीं रहती। उसी तरह राग, द्वेष तथा मोह से प्रेरित होकर कर्म करने से पुनर्जन्म हो जाता है, किन्तु अनासक्त भाव से कर्म करने से जन्म-ग्रहण का चक्र छूट जाता है। अनासक्त कर्म से ही निर्वाण प्राप्त होता है और निर्वाण से पुनर्जन्म और दुःखों का अन्त तथा जीवन-काल में ही शान्ति प्राप्त होती है। निर्वाण का ध्येय कर्म का त्याग नहीं बल्कि उच्चतर कर्मों को ग्रहण करना है। अपने सम्बन्ध में महात्मा बुद्ध ने कहा था कि निर्वाण-प्राप्ति के बाद बिल्कुल निष्क्रिय रहने की उनकी इच्छा हुई थी। यहाँ तक कि दूसरों को निर्माण-प्राप्ति का मार्ग बतलाने की भी उनकी इच्छा नहीं थी। किन्तु दुःख से पीड़ित मानव के लिए उनके हृदय में दया का संचार हुआ और वे लोक-कल्याण के कर्म में लग गए। जिस नौका के द्वारा उन्होंने स्वयं दुःख-समुद्र को पार किया था उसको नष्ट कर देना उन्होंने उचित नहीं समझा, बल्कि उसे उन्होंने जनसाधारण के कल्याणार्थ लगा दिया।

7. वेदान्त-दर्शन का सिद्धान्त—इसके अनुसार मनुष्य-जीवन में कर्म के महत्व को अस्वीकार नहीं किया जा सकता। मोक्ष प्राप्त हो जाने पर भी शरीर रह सकता है क्योंकि वह प्रारब्ध कर्मों का फल है। कर्म तीन प्रकार के होते हैं—(क) संचित कर्म अर्थात् पूर्वकाल के वे कर्म जो जमा हैं; (ख) प्रारब्ध कर्म अर्थात् पूर्वकाल के वे कर्म जिनका फल भोग रहा है; और (ग) क्रियमाण या संचयीमान कर्म अर्थात् वे नए कर्म जो इस जीवन में जमा हो रहे हैं। तत्त्वज्ञान से संचित कर्म का क्षय तथा क्रियमाण कर्म का निवारण होता है और इस तरह पुनर्जन्म के बन्धन से छुटकारा मिल जाता है। किन्तु प्रारब्ध कर्म का निवारण नहीं किया जा सकता। उसका फल भोगने के लिये यह शरीर (जो प्रारब्ध कर्म का ही फल है) जारी रहता है और जब प्रारब्ध की शक्ति समाप्त हो जाती है तब शरीर का भी अन्त हो जाता है। जिस तरह कुम्हार का चाक दण्ड उठा लेने पर भी कुछ देर तक घूमता रहता है और फिर घूमते-घूमते, वेग शान्त होने पर, आप-से-आप रुक जाता है, ठीक उसी प्रकार प्रारब्ध कर्म का वेग या शक्ति जब तक रहती है तक तक शरीर की भी निरन्तरता बनी रहती है; पर जब वह वेग समाप्त हो जाता है, तो शरीर का भी अन्त हो जाता है। जब स्थूल

और सूक्ष्म शरीर का अन्त हो जाता है, तब जीवन्मुक्त की उस अवस्था (अर्थात् जीवित अवस्था में ही मुक्ति पा जाना) को 'विदेह मुक्ति' कहते हैं। अतः स्पष्ट है कि वेदान्त दर्शन के अनुसार पूर्वकाल के कर्मों का फल मनुष्य को अनिवार्यतः भोगना पड़ता है और इस भोग के बाद ही मुक्ति सम्भव है। फिर भी ज्ञान के द्वारा इसके प्रभाव को कम या समाप्त किया जा सकता है। साथ ही आसक्तिपूर्वक किया हुआ कर्म ही बन्धन का हेतु है। परन्तु पूर्ण ज्ञान और पूर्णानन्द प्राप्त कर लेने पर व्यक्ति अनासक्त होकर कर्म कर सकता है। शंकराचार्य इस निष्काम कर्म को बहुत अधिक महत्त्व देते हैं। जिसे पूर्ण ज्ञान की प्राप्ति नहीं हुई है उसे आत्मशुद्धि के लिए ऐसा कर्म करना आवश्यक है। अहंकार और स्वार्थ के बन्धन से कमशः मुक्त होने के लिए निष्काम कर्म आवश्यक है, न कि निष्क्रियता। जो तत्त्वज्ञान या मुक्ति पा चुका है उसे भी दूसरे बन्धन-प्राप्त जीवों के कल्याण के लिए निःस्वार्थ कर्म करना चाहिए। मुक्तात्मा पुरुष का आचरण या कर्म समाज के लिए आदर्श होना चाहिए जिसका और लोग भी अनुसरण कर सकें। उसे निष्क्रियता या कुकर्म का अवलम्बन कदापि न करना चाहिए। शंकराचार्य लोक-सेवा के कर्म को मुक्ति के पथ में बाधक नहीं, अपितु साधक समझते हैं। उन्होंने स्वयं अपने जीवन में इस आदर्श का पालन कर दिखाया। स्वामी विवेकानन्द और लोकमान्य तिलक आदि नवीन वेदान्ती भी इसी आदर्श का अनुमोदन करते हैं। स्वामी विवेकानन्द के अनुसार सेवामय कर्म ही ईश्वर की आराधना है; मरना तो एक दिन है ही, पर सेवामय कर्म करते हुए मरना मुक्ति का सर्वोत्तम उपाय है।

गीता में कर्म का सिद्धान्त—कर्मयोग

(Doctrine of Karma in Gita—Karmayoga)

श्रीमद्भगवद्गीता में प्रतिपादित 'कर्म' की व्याख्या को प्रस्तुत किए बिना कर्म के सिद्धान्त से सम्बन्धित कोई भी विवेचन अधूरा ही है। श्री अरविन्द के शब्दों में, "प्रत्यक्ष अनुभव से यह स्पष्ट दिखाई देता है कि श्रीमद्भगवद्गीता वर्तमान युग में भी उतनी ही पथ प्रदर्शिका एवं स्फूर्तिदात्री है जितनी कि महाभारत के युद्ध में समाविष्ट होते समय थी। गीता के संदेश का प्रभाव केवल दार्शनिक अथवा विद्वच्चर्चा का विषय नहीं है, अपितु आचार-विचारों के क्षेत्र में भी विद्यमान होकर मार्ग बतलाने वाला है।"

कुरुक्षेत्र के युद्ध में अर्जुन युद्ध में रत होने से हिचकिचा रहे थे। उनकी शंका थी कि लड़ाई जैसे कर्म से आत्मा का कल्याण कैसे हो सकता है। इसी से जिन उदार पुरुषों ने परब्रह्म का ज्ञान प्राप्त कर अपनी आत्मा का पूर्ण कल्याण कर लिया है वे इस संसार में कैसे बर्तव्य करते हैं, यहीं से गीता के उपदेश का आरम्भ हुआ है। भगवान् कहते हैं कि संसार की चाल-ढाल के परखने से दिखाई पड़ता है कि आत्मज्ञानी पुरुषों के जीवन बिताने के अनादिकाल से दो मार्ग चले आ रहे हैं (गीता, 3/3)। पूर्ण आत्मज्ञान प्राप्त करने पर जहाँ शुक सरीखे पुरुष संसार छोड़कर आनन्द से भिक्षा माँगने फिरते हैं, वहाँ जनक सरीखे दूसरे आत्मज्ञानी ज्ञान के पश्चात् भी स्वधर्मानुसार लोगों के कल्याणार्थ संसार के सैकड़ों कर्मों में अपना समय लगाया करते हैं। पहले मार्ग को सांख्य या सांख्यनिष्ठा कहते हैं और दूसरे को कर्मयोग कहते हैं। यद्यपि दोनों निष्ठाएँ प्रचलित हैं, तथापि इनमें कर्मयोग ही अधिक श्रेष्ठ है। आत्मा का न तो कभी

जन्म होता है और न वह मरती ही है। ऐसा भी नहीं है कि यह एक बार होकर फिर होने की नहीं। यह आज, नित्य, शाश्वत और पुरातन है, एवं शरीर का वध हो जाए तो भी यह मारी नहीं जाती। जिस प्रकार कोई मनुष्य पुराने वस्त्रों को छोड़कर नए वस्त्रों को धारण करता है, उसी प्रकार देही शरीर का स्वामी आत्मा पुराने शरीर को त्यागकर दूसरा नया शरीर धारण करती है (गीता, 2/20-22)। अतः जन्म और मृत्यु के विषय में व्यर्थ का शोक न करके मनुष्य को अपना कर्म करते जाना चाहिए। धर्मानुसार कर्म ही श्रेष्ठ है क्योंकि इस कर्मयोग में एक बार आरम्भ किए हुए कर्म का नाश नहीं होता और आगे भी कोई बाधा उत्पन्न नहीं होती, अर्थात् कर्मयोग-मार्ग में यदि एक जन्म में सिद्धि न मिले तो किया हुआ कर्म व्यर्थ न जाकर अगले जन्म में उपयोगी होता है और प्रत्येक जन्म में इसकी वृद्धि होती है, एवं अन्त में कभी-न-कभी सच्ची सद्गति मिलती ही है (गीता, 2/40)। 'अनेक प्रकार के कर्मों (यज्ञयाग आदि) से ही जन्मरूप फल और जन्मजन्मान्तर में भोग तथा ऐश्वर्य मिलता है'—ऐसा सोचने वाले लोगों का ध्यान भोग और ऐश्वर्य पर ही लगा रहता है और वे कार्य-अकार्य का उचित निर्धारण नहीं कर पाते हैं और उन्हें सच्ची सिद्धि नहीं मिल पाती है। इसका प्रमुख कारण यह है कि कर्म करने से पहले ही वे फल पाने की आशा लगा लेते हैं जिस कारण उनका ध्यान व मन कर्म पर नहीं, अपितु फल पर लगा रहता है। यह अनुचित है—

कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन ।

मा कर्मफलहेतुर्भूर्मा ते संगोऽस्त्वकर्मणि ॥

अर्थात् मनुष्य को तो केवल कर्म करने का ही अधिकार है, फल मिलना या न मिलना कभी भी उसके अधिकार में नहीं। इसलिए न तो मेरे कर्म का अमुक फल मिले, यह ध्येय मन में रखकर कभी कर्म न करना चाहिए और न ही कर्म न करने का आग्रह होना चाहिए (गीता, 2/47)। लोकमान्य तिलक के अनुसार गीता के इसी उपदेश में कर्म के सिद्धान्त या कर्मयोग का सारा रहस्य थोड़े से शब्दों में उत्तम रीति से बतला दिया गया है। पहले यह कहा गया है कि "कर्म करने मात्र का तेरा अधिकार है।" परन्तु इस पर यह शंका होती है कि कर्म से ही संयुक्त होने के कारण जिसका पेड़ उसी का फल' इस न्याय से जो कर्म करने का अधिकारी है, वही फल का भी अधिकारी होगा। अतः इस शंका को दूर करने के लिए दूसरे चरण में यह स्पष्ट कह दिया है कि "फल में तेरा अधिकार नहीं है।" फिर इससे निष्पन्न होने वाला तीसरा सिद्धान्त बतलाया है कि "मन में फलाशा रखकर कर्म करने वाला मत हो।" परन्तु कर्म और उसका फल एक-दूसरे से सम्बन्धित हैं। इस कारण यदि कोई ऐसा सिद्धान्त प्रतिपादन करने लगा कि फलाशा के साथ-ही-साथ फल को भी छोड़ देना चाहिए, तो इसे भी सच न मानने के लिए अन्त में स्पष्ट उपदेश किया है कि "फलाशा को तो छोड़ दे, पर इसके साथ ही कर्म न करने अर्थात् कर्म को छोड़ने का आग्रह न कर।" अतएव इस श्लोक का यह अर्थ है कि फलाशा छोड़कर मनुष्य को कर्तव्य-कर्म अवश्य करना चाहिए, किन्तु न तो कर्म की आशक्ति में फंसे और न कर्म ही छोड़े—'त्यागो न युक्त इह कर्मसु नापि रागः' (योगवासिष्ठ, 5/5/54)। इस सम्बन्ध में गीता में भगवान् का स्पष्ट निर्देश यह है कि "आसक्ति छोड़कर और कर्म की सिद्धि हो या असिद्धि दोनों को समान ही मानकर, योगस्थ होकर कर्म करना चाहिए। कर्म की सिद्धि होने या निष्फल होने की दोनों ही अवस्था को समान मानने की मनोवृत्ति को

ही कर्मयोग कहते हैं। कर्म एक ही क्यों न हो, पर करने वाले की अच्छी या बुरी बुद्धि के अनुसार वह शुभ अथवा अशुभ हुआ करता है। अतः कर्म की अपेक्षा बुद्धि ही श्रेष्ठ है। इसलिए मनुष्य को साम्य-बुद्धि की शरण लेनी चाहिए। फल की दृष्टि रखकर काम करने वाले लोग कृपण अर्थात् दीन या निचले दर्जे के हैं।" (गीता, 2/48 और 49)।

जब अर्जुन ने श्री कृष्ण से यह पूछा कि "यदि तुम्हारा यही मत है कि कर्म की अपेक्षा बुद्धि ही श्रेष्ठ है, तो हे केशव ! मुझे (युद्ध के) घोर कर्म में क्यों लगाते हो ?" तो इसके उत्तर में भगवान् ने कहा कि कर्मों का प्रारम्भ न करने से ही पुरुष को नैपकर्म्य (अर्थात् कर्म करने के पहले ऐसा उपाय करना जिससे कर्म के बन्धन या दोष मिट जायें) की प्राप्ति नहीं हो जाती, और कर्मों का प्रारम्भ त्याग न करने से ही सिद्धि नहीं मिल जाती क्योंकि कोई मनुष्य कुछ-न-कुछ कर्म किये बिना क्षण भर भी नहीं रह सकता। प्रकृति के गुण प्रत्येक परतन्त्र मनुष्य को सदा कुछ न कुछ कर्म करने में लगाया ही करते हैं (गीता, 3/4 व 5)। केवल कर्मों का त्याग कर देने से ही मोक्ष नहीं मिल सकता; यदि ऐसा होता तो फिर पत्थरों को भी मुक्ति मिलनी चाहिये। इससे लोकमान्य तिलक के अनुसार, तीन बातें सिद्ध होती हैं—(अ) नैपकर्म्य कुछ कर्मशून्यता नहीं है; (ब) कर्मों को बिल्कुल त्याग देने का कोई कितना भी प्रयत्न क्यों न करे, परन्तु वे छूट नहीं सकते; और (स) कर्मों का त्याग देना सिद्धि प्राप्त करने का उपाय नहीं है। इसलिये कर्मों के बन्धन को नष्ट करने के लिये आसक्ति छोड़कर काम करना ही उचित है। जो मूढ़ हाथ, पैर आदि कर्मेन्द्रियों को रोककर मन से इन्द्रियों के विषयों का चिन्तन किया करते हैं, उन्हें मिथ्याचारी अर्थात् दम्भी कहते हैं अर्थात् जिस मनुष्य का मन तो शुद्ध नहीं है, पर केवल दूसरों के भय से या इस अभिलाषा से कि दूसरे मुझे भला कहें केवल बाह्येन्द्रियों के व्यापार या कर्म को रोकता है, वह सच्चा सदाचारी नहीं, बल्कि ढोंगी है। परन्तु उस मनुष्य को विशेष योग्यता वाला कहा जायेगा जो मन से इन्द्रियों का संयमन करके केवल कर्मेन्द्रियों द्वारा अनासक्तबुद्धि से 'कर्मयोग' का प्रारम्भ करता है (गीता 3/7)। इस प्रकार स्पष्ट है कि निष्काम बुद्धि से कर्म करने के योग या कौशल को ही गीता में 'कर्मयोग' कहा गया है। इसलिये अर्जुन को श्रीकृष्ण का उपदेश है कि—"अपने धर्म के अनुसार नियत या नियमित कर्म को तू कर। क्योंकि कर्म न करने की अपेक्षा कर्म करना कहीं अधिक अच्छा है। इसके अतिरिक्त यह समझ ले कि यदि तू कर्म नहीं करेगा, तो भोजन भी न मिलने से तेरा शरीर-निर्वाह भी न हो सकेगा।... जगत् के धारणार्थ चलाये हुए कर्म या यज्ञ के चक्र को जो इस जगत् में आगे नहीं चलता, उसकी आयु पापरूप है इसलिये तू भी फल की आसक्ति छोड़कर अपना कर्तव्य-कर्म सदैव किया कर, क्योंकि फलासक्ति छोड़कर काम करने वाले मनुष्य को परमगति प्राप्त होती है" (गीता, 3/8, 16 तथा 19)। भगवान् ने आगे यह भी कहा है कि आत्मज्ञानी पुरुष की स्वार्थ बुद्धि छूट जाने पर भी लोक कल्याण के कर्म उससे छूट नहीं जाते। "हे पार्थ ! त्रिभुवन में न तो तेरा (श्रीकृष्ण का) कुछ कर्तव्य शेष रहा है और न कोई अप्राप्त वस्तु प्राप्त करने को रह गई है, तो भी मैं कर्म करता ही रहता हूँ क्योंकि यदि मैं स्वयं ही हर प्रकार से आलस्य को त्याग कर कर्मों को न करूँगा तो मनुष्य भी सब प्रकार से मेरे ही पथ का अनुकरण करेंगे; यदि मैं कर्म न करूँ तो ये सारे लोक नष्ट हो जायेंगे" (गीता, 3/22 - 24)।

अतः उचित यही है कि प्रत्येक मनुष्य निष्कामबुद्धि से कर्म करता जाये। यह कर्म उसके अपने धर्म (स्वधर्म) के अनुरूप होना चाहिये। स्वधर्म का अर्थ मोक्ष धर्म नहीं, अपितु शास्त्र द्वारा निर्धारित चातुर्वर्ण्य-व्यवस्था के अन्तर्गत अलग-अलग वर्णों का कर्त्तव्य-कर्म है। इन कर्त्तव्य-कर्मों को भी न छोड़ना चाहिये। “पराये धर्म का आचरण सुखदायक हो, तो भी उसकी अपेक्षा अपना धर्म अर्थात् चातुर्वर्ण्यनिहित कर्म ही अधिक श्रेयस्कर है, चाहे वह स्वधर्म सदोष भले ही हो। स्वधर्म का पालन करने में यदि मृत्यु हो जाये तो भी उसमें कल्याण है, परन्तु परधर्म भयंकर होता है” (गीता, 3/35)।

गीता में यह भी कहा गया है कि मोक्ष और कर्म का कोई विरोध नहीं है। कर्म-फल त्यागकर कर्म करने से मोक्ष प्राप्त हो सकता है। यहाँ तक कि भगवान् को जो व्यक्ति जिस प्रकार से भजता है, उसे भगवान् उसी प्रकार के फल देते हैं। किसी भी ओर से हो, मनुष्य भगवान् के ही मार्ग में आ मिलते हैं। (गीता, 4/11)।

श्रीकृष्ण का कथन है कि इस विषय में बड़े-बड़े विद्वानों को भी भ्रम हो जाता है कि ‘कर्म’, ‘अकर्म’ और, ‘विकर्म’ क्या है। इसलिये इनको स्पष्टतः समझ लेना चाहिये। “अक्षर परब्रह्म से पंचमहाभूतादि (चर-अचर) तक विविध पदार्थों की उत्पत्ति करने वाली जो क्रिया अर्थात् सृष्टि-व्यापार है वही कर्म” है (गीता, 8/3)। अतः स्पष्ट है कि गीता में कर्म का अर्थ अत्यधिक व्यापक है। वास्तव में मनुष्य जो कुछ करता है वह सब भगवद्गीता के अनुसार ‘कर्म’ ही है, चाहे वह कर्म कायिक हो; वाचिक हो अथवा मानसिक ही क्यों न हो (गीता, 5/8-9)। संन्यास मार्ग वालों का कथन है कि “कर्म का स्वरूपतः त्याग ही ‘कर्म’ है” और “कर्म को छोड़ने से अर्थात् अकर्म से ही मोक्ष मिलता है।” परन्तु गीता के अनुसार अकर्म कर्मत्याग नहीं है, निष्काम कर्म को ही अकर्म कहना चाहिये। इसका कारण यह है ‘कर्मशून्यता’ की स्थिति किसी के लिये भी सम्भव नहीं है। श्रीकृष्ण ने स्वयं कहा है कि प्रकृति का यह नियम ही है कि वह प्रत्येक मनुष्य को सदा कुछ न कुछ कर्म करने में लगाये रहती है, कोई भी व्यक्ति कर्म किये बिना क्षण भर भी नहीं रह सकता (गीता, 3/5), अतः जो देहधारी हैं उसके कर्मों का निःशेष त्याग होना सम्भव नहीं है (गीता, 18/11)। मनुष्य की बात तो दूर रही, स्वयं भगवान् को भी सदा कर्म करने में जुटा रहना पड़ता है (गीता, 3/22)। यदि सृष्टि ही कर्म है, तो मनुष्य जब तक सृष्टि में है तब तक कर्म उससे छूट नहीं सकता। लोकमान्य तिलक के अनुसार, “करने पर भी जो कर्म हमें बद्ध नहीं करता, उसके विषय में कहना चाहिये कि उसका कर्मत्व अर्थात् बन्धकत्व (बन्धन) नष्ट हो गया, और यदि किसी भी कर्म का बन्धकत्व अर्थात् कर्मत्व इस प्रकार नष्ट हो जाये तो फिर वह कर्म ‘अकर्म’ ही हुआ। कर्म के फल का बन्धन न लगने के लिये गीताशास्त्र का यही सच्चा साधन है कि निःसंगबुद्धि से अर्थात् फलाशा छोड़कर निष्कामबुद्धि से कर्म किया जाये। इस साधन का उपयोग करके जो कर्म किया जाए, वही गीता के अनुसार प्रशस्त—सात्त्विक—कर्म है (गीता, 18/9); और गीता के मत में वही सच्चा ‘अकर्म’ है क्योंकि उसका कर्मत्व (अर्थात् कर्मविपाक की क्रिया के अनुसार बन्धकत्व) निकल जाता है। मनुष्य जो कर्म करते हैं, उनमें से उक्त प्रकार के अर्थात् ‘सात्त्विक कर्म’ (अथवा गीता के अनुसार अकर्म) घटा देने से बाकी जो कर्म रह जाते हैं, उसके दो भाग हो सकते हैं—एक राजस और दूसरा तामस। इनमें तामस कर्म मोह और

अज्ञान से हुआ करते हैं। इसलिये उन्हें 'विकर्म' कहते हैं। फिर यदि कोई कर्म मोह से छोड़ दिया जाए तो भी वह विकर्म ही है, अकर्म नहीं (गीता, 18/7)। ... यदि कोई चाहे तो राजस कर्मों को केवल 'कर्म' भी कह सकता है।" इन तीनों प्रकार के कर्मों (सात्विक, राजस व तामस कर्मों) के गुणगुण के सम्बन्ध में गीता में जो कुछ उल्लेख किया गया है, उसके विषय में हम आगे विवेचना करेंगे।

श्रीकृष्ण का उपदेश है कि यज्ञ, दान, तप और कर्म का त्याग न करना चाहिये। इन कर्मों को करते रहना चाहिये। यज्ञ, दान और तप बुद्धिमानों के लिये भी पवित्र अर्थात् चित्तशुद्धिकारक हैं। अतएव इन (यज्ञ, दान और तप) कर्मों को भी बिना आसक्ति रखे, फलों का त्याग करके करते रहना चाहिये (गीता, 18/5 और 6)। अर्थात् कर्म के अनुसार जैसे दूसरे निष्काम कर्म किये जाते हैं, वैसे ही यज्ञ, दान आदि कर्मों को भी फलाशा और आसक्ति त्यागकर करना चाहिये। जो कर्म स्वधर्म के अनुसार स्थिर कर दिये गये हैं उनका त्याग करना किसी को भी उचित नहीं है। इनका मोह से किया त्याग तामस कहलाता है। शरीर को कष्ट होने के डर से अर्थात् दुःखकारक होने के कारण ही यदि कोई कर्म छोड़ दे तो वह त्याग राजस हो जाता है तथा त्याग का फल उसे नहीं मिलता। स्वधर्मानुसार नियत-कर्म जब कार्य अथवा कर्तव्य समझकर और आसक्ति एवं फल को छोड़कर किया जाता है तब वह सात्विक त्याग समझा जाता है (गीता, 18/7—9)।

कोई भी कर्म पांच कारणों या हेतुओं का फल होता है और वे हैं—अधिष्ठान (स्थान), कर्त्ता, मित्र-भिन्न कारण अथवा साधन, कर्त्ता की अनेक प्रकार की पृथक्-पृथक् चेष्टायें अर्थात् व्यापार और उनके साथ-ही-साथ पाँचवाँ कारण दैव है। शरीर से, वाणी से अथवा मन से मनुष्य जो-जो कर्म करता है फिर चाहे वह न्याय हो या अन्याय, उसके उक्त पांच कारण होते हैं (गीता, 18/13—15)। इससे यह स्पष्ट है कि कोई कर्म शून्य में नहीं हुआ करता, उसका कोई-न-कोई आधार व स्थान होना ही चाहिये। साथ-ही-साथ उस कर्म को करने के लिये किसी कर्त्ता की भी आवश्यकता होती है। ज्ञान के लिये ज्ञाता और कर्म के लिये कर्त्ता की आवश्यकता सभी स्वीकार करते हैं। फिर भी गीता के उपरोक्त श्लोक में यह स्पष्ट कह दिया गया है कि "कर्म का फल होने के लिये मनुष्य ही अकेला कारण नहीं है।" लोकमान्य तिलक के अनुसार इसका अर्थ यह है कि "मनुष्य इस जगत में हो या न हो, प्रकृति के स्वभावानुसार जगत् का अखण्डित व्यापार या कर्म चलता ही रहता है और जिस कर्म को मनुष्य अपनी करतूत समझता है, वह केवल उसी के यत्न का फल नहीं है, वरन् उसके यत्न और संसार की अन्य चेष्टाओं की सहायता का परिणाम है। उदाहरणार्थ, खेती केवल मनुष्य के यत्न पर ही निर्भर नहीं है, उसकी सफलता के लिये धरती, बीज, पानी, खाद और बैल आदि के गुण, धर्म अथवा चेष्टाओं की सहायता आवश्यक होती है। इसी प्रकार, मनुष्य के प्रयत्न की सिद्धि होने के लिये जगत् की जिन विविध चेष्टाओं की सहायता आवश्यक है, उनमें से कुछ चेष्टाओं को जानकर तथा उनसे अनुकूलन करके ही मनुष्य यत्न किया करता है। परन्तु हमारे प्रयत्नों के लिये अनुकूल अथवा प्रतिकूल सृष्टि के और भी कई कारक हैं जिनका हमें ज्ञान नहीं है। इसी को दैव (भाग्य) कहते हैं और कर्म की घटना का यह पाँचवाँ कारण कहा गया है। मनुष्य का यत्न सफल होने के लिये जब इतनी सब बातों की आवश्यकता है तथा जब उनमें से कई या तो हमारे बस की नहीं या उनके बारे में हमें कुछ

ज्ञान नहीं, तब यह बात स्पष्टतया सिद्ध होती है कि मनुष्य का ऐसा अभिमान करना केवल उसकी मूर्खता है कि मैं अमुक काम करूँगा अथवा फल की ऐसी आशा रखना भी मूर्खता का लक्षण है कि मेरे कर्म का फल अमुक ही होना चाहिये।

भिन्न-भिन्न गुणों के आधार पर, गीता के अनुसार, कर्मों को तीन भागों में विभाजित किया जा सकता है—सात्त्विक, राजस और तामस। फल प्राप्ति की इच्छा न रखने वाला वह मनुष्य, जो कि मन में न तो प्रेम और न द्वेष रखकर बिना आसक्ति के स्वधर्मानुसार निर्धारित कर्म करता है, उसके उस कर्म को सात्त्विक कहते हैं। परन्तु काम अथवा फल की आशा की इच्छा रखने वाला अथवा अहंकार-बुद्धि का पुरुष बड़े परिश्रम से जो कर्म करता है, उसे राजस कहते हैं। तामस कर्म वह है जो कि मोह से बिना इन बातों का विचार किये आरम्भ किया जाता है कि आगे क्या होगा, अपना सामर्थ्य कितना है और उस कर्म से किसी के प्रति हिंसा करनी होगी या नहीं (गीता, 18/22—25)।

गीता में विभिन्न वर्णों के कर्तव्य-कर्मों का भी निरूपण किया गया है। ब्राह्मण का स्वभाव जन्मतः शम, दम, तप, पवित्रता, शान्ति, सरलता अध्यात्म ज्ञान, विविध ज्ञान और आस्तिक बुद्धि है। शूरा, तेजस्विता, धैर्य, दक्षता, युद्ध से न भागना, दान देना और प्रजा पर शासन करना क्षत्रियों का स्वाभाविक कर्म है। कृषि, पशुओं को पालना और व्यापार-वाणिज्य करना वैश्यों का स्वभावजन्य कर्म है। और इसी प्रकार सेवा करना शूद्रों का स्वाभाविक कर्म है (गीता, 18/41—44)। प्रत्येक वर्ण को इसी व्यवस्था के अनुसार कर्म करना चाहिये और यदि निष्काम बुद्धि से इन कर्मों को वह करेगा तो उसे मुक्ति मिल जायेगी। मनुष्य के आचरण से ही उसे सिद्धि प्राप्त हो सकती है। सिद्धि पाने के लिये और कोई दूसरा अनुष्ठान करने की आवश्यकता नहीं है।

कर्म के सिद्धान्त का महत्त्व

(Importance of the Doctrine of Karma)

वैयक्तिक तथा सामाजिक जीवन में कर्म के सिद्धांत का अत्यधिक महत्त्व है। यह व्यक्ति के लिये परम सन्तोष का सन्देश लाता है और उसे असत्य के पीछे दौड़कर व्यर्थ ही अपनी शक्ति को नष्ट करने का निषेध करता है। बाहरी तौर पर प्रायः यह देखा जाता है कि समाज में अच्छे लोग दुःख भोगते हैं जबकि नाना प्रकार के भ्रष्टाचार में रत व्यक्ति ऐश-आराम का जीवन व्यतीत करते हैं। ऐसी परिस्थिति में व्यक्ति के मन में नैतिकता तथा कर्तव्य कर्मों के विरुद्ध विद्रोह का होना स्वाभाविक है और वह, यह सोचकर कि दुष्कर्म करके ही लोग जब सुख ऐश्वर्य प्राप्त करते हैं तो वह भी क्यों न वैसा ही करे, नैतिक कर्तव्यों को छोड़कर अनैतिक पथ का पथिक हो सकता है। ऐसी दशा में कर्म का सिद्धान्त उसे ऐसा करने से रोकता है, क्योंकि इसके अनुसार अपने कर्म का फल भोगने के लिये मनुष्य को एक-न-एक जन्म लेकर हमेशा तैयार रहना पड़ता है अर्थात् यदि वह बुरा कर्म करता है तो उसका बुरा फल कभी-न-कभी अवश्य ही मिलेगा। कर्म अनादि है और इसके अखण्ड व्यापार में परमेस्वर भी हस्तक्षेप नहीं करते। गीता में कहा गया है कि “गहना कर्मणो गतिः” अर्थात् कर्म की गति कठिन है। “इतना ही नहीं अपितु कर्म का बन्धन भी बड़ा कठिन है। कर्म किसी से भी नहीं छूट सकता। वायु कर्म से ही चलती है; सूर्य-चन्द्रादि कर्म से ही प्रकाश करते हैं, और अग्नि, विष्णु, महेश आदि सगुण देवता भी

कर्मों में ही बँधे हुए हैं।" यह विश्वास व्यक्ति के व्यवहारों पर एक प्रभावशाली नियन्त्रक के रूप में कार्य करता है और उसके दुराचरणों पर रोक लगाता है और साथ ही उसे सन्तोष भी प्रदान करता है।

वास्तव में कर्म का सिद्धान्त व्यक्ति के नैतिक उत्तरदायित्व पर अत्यधिक बल देता है और उसे इस बात का निर्देश देता है कि नैतिक कर्तव्य का पालन ही उसके जीवन का धर्म है और उस स्वधर्म को उचित ढंग से निभाने में ही उसका तथा समाज का वास्तविक कल्याण निहित है। यह सिद्धान्त अकर्मण्यता अथवा आलस्य की भावना को त्यागकर अपने सत्कर्मों द्वारा अपने भविष्य-भाग्य को बदलने या उसमें सुधार करने के लिये व्यक्ति को प्रोत्साहित करता है। इसके अनुसार हमारे चरित्र में जो बुराई हो, उसे हमें अभी से त्यागना चाहिये। उसे सत्कर्मों द्वारा जीत लेना चाहिये, नहीं तो हमारे दुर्गुण अनेक जन्मों तक बने रहेंगे और हमें उनका बुरा फल भोगना पड़ेगा। महर्षि पतंजलि ने योगदर्शन में कहा है कि—“वितर्कबाधने प्रतिपक्षभावनम् (2/33)। अर्थात् दुर्गुणों को मिटाने के लिये उनके विपरीत गुणों का मनन और अनुशीलन करना चाहिए। यह कर्मवाद का भी निर्देश या उपदेश है, अर्थात् दुष्कर्मों के बुरे फल के प्रभाव से अपनी रक्षा करने के लिये अपने को सत्कर्मों में लगाना चाहिए। यह वैयक्तिक तथा सामाजिक जीवन के लिये परम कल्याणकारी है।

कर्म का सिद्धान्त व्यक्ति को परहित के कार्यों को करने के लिए प्रेरित करता है। परहित के कार्य पुण्य-कर्म हैं, इसलिये यह कर्तव्य-कर्म भी हैं। पुण्य के संचय से पार-लौकिक जीवन समुन्नत होता है क्योंकि परहित के कार्य करने वाले के लिये इन कर्मों के फल का ही संचय होता जाता है।

कर्म का सिद्धान्त सामाजिक जीवन में सुव्यवस्था व संगठन स्थापित करने में सहायक सिद्ध होता है। कर्म-फल पर विश्वास के कारण ही समाज के सब कार्य, शिक्षा से लेकर सफाई तक, गृहस्थी के कार्य से लेकर सहकारी कार्य तक सुचारु रूप से चलते रहते हैं। प्रत्येक जाति या समूह के सदस्यों में यह दृढ़ विश्वास होता है कि पूर्वजन्म के कर्मों के अनुसार ही उन्हें इस जन्म में विशिष्ट प्रकार का कार्य करने को मिला है और इस कारण उसको करना प्रत्येक व्यक्ति का कर्तव्य है। इसीलिये गन्दे-से-गन्दे कार्य को भी या हीन-से-हीन नियोग्यता वाले कर्म को भी बिना किसी संकोच या शिंकायत के स्वीकार कर लिया जाता है। परन्तु सामाजिक दृष्टिकोण से इससे भी महत्वपूर्ण बात यह है कि इसी कर्म की धारणा के आधार पर प्रत्येक व्यक्ति दूसरे जन्म से अधिक अच्छे कुल, स्थिति व सुख को प्राप्त करने की अभिलाषा में इस जन्म में समाज द्वारा मान्य समस्त सत्कर्मों व कर्तव्यों को करने का प्रयत्न करता है। यह सामाजिक संगठन व सुव्यवस्था के लिये वरदान बन जाता है।

निष्कर्ष

(Conclusion)

कुछ विदेशी विद्वानों ने कर्म के सिद्धान्त को सन्देह की दृष्टि से देखा है और अनेक विषयों में भारतवर्ष के पिछड़ेपन का कारण यहाँ के लोगों का इस सिद्धान्त पर आधारित अन्धविश्वास माना है। श्री मैकडोनेल (MacDonell) के अनुसार पुनर्जन्म और कर्म का संयुक्त सिद्धान्त व्यक्ति को अपनी वर्तमान अवस्था से सन्तुष्ट रहना सिखाता है। इसका परिणाम यह होता है कि व्यक्ति के प्रयत्नों में 'शक्ति' की कमी हो जाती है अर्थात् सम्पूर्ण उत्साह और क्षमता से व्यक्ति किसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए

कार्य नहीं कर पाता क्योंकि उसके मन में यह धारणा बनी होती है कि मनुष्य को अपने समस्त पूर्वकर्मों के फल भोगने पड़ते हैं और वर्तमान जीवन में उसकी सफलता या विफलता उन पूर्वकर्मों से ही निर्धारित होती है। साथ ही कर्म का सिद्धान्त निष्काम कर्म करके व्यक्ति को मोक्ष प्राप्त कराने का लोभ दिखाता है। इससे व्यक्ति के लिये पारलौकिक जीवन का महत्व स्वतः ही बढ़ जाता है और उसका ऐहिक जीवन गौण स्थान प्राप्त करता है। यह स्थिति सामाजिक प्रगति के लिये आवश्यक प्रयत्नों के क्षेत्र को संकुचित कर देती है और व्यक्ति अपने को निरन्तर भाग्य या दैव की लीला देखने के लिये प्रस्तुत करता रहता है। इसीलिये कीथ (Sir B. Keith) ने कर्म के सिद्धान्त को 'आवश्यक रूप से भाग्यवादी' (essentially fatalistic) कहा है। श्री जॉन मैकेन्जी (John Mckenzie) का कथन है कि कर्म की अवधारणा मानवीय आचरण की भाग्यवादी व्याख्या प्रस्तुत करती है और समाज के सदस्यों के जीवन के विभिन्न क्षेत्रों में जो आपसी असमानता देखने को मिलती है उसे दूर करने के सम्बन्ध में भी कुछ नहीं कहती है। इस प्रकार कर्म का सिद्धान्त वैयक्तिक व सामूहिक जीवन के प्रति किए गए सामाजिक अन्याय को उचित ठहराता है। साथ ही, इस सिद्धान्त में मनुष्य के लिये इतनी भी छूट नहीं है कि यदि उसने गलती से कुछ अन्याय कर्म या पाप किए हैं तो उसे क्षमा कर दिया जाए। 'एक बार का अपराधी सदा के लिये अपराधी' यह नियम कर्म के सिद्धान्त का है जोकि आधुनिक सुधारवादी नीति व दृष्टिकोण के विपरीत है तथा वैज्ञानिक दृष्टि से असंगत है।

कर्म के सिद्धान्त के सम्बन्ध में एक और आपत्ति यह है कि यह जाति या वर्ण-गत भेद को उचित ठहराता है। इस सिद्धान्त में भाग्य का तत्त्व अधिक प्रबल होने के कारण विभिन्न वर्णों विशेषकर निम्न वर्णों में एक प्रकार की कायरता उत्पन्न हो गई और अपनी अवस्था में सुधार करने के सम्बन्ध में उनकी रुचि समाप्त हो गई। ऐसी स्थिति में इस सिद्धान्त का प्रयोग निम्न वर्णों की आर्थिक हीनता एवं सामाजिक अन्याय व निम्न स्थिति को उचित ठहराने के लिये किया गया।

परन्तु वास्तव में कर्म के सिद्धान्त के सम्बन्ध में उपरोक्त आलोचनाएँ अनुचित तथा निराधार हैं। ये आलोचनाएँ कर्म के सिद्धान्त के सम्बन्ध में अधूरे एवं एकपक्षीय अध्ययन व ज्ञान पर आधारित हैं। यह बात गीता के प्रस्तुत कर्मयोग के गहन अध्ययन से ही स्पष्ट हो जाती है। गीता का केन्द्रीय विचार यह है कि अपने कर्त्तव्य-कर्म या स्वधर्म का पालन करो और कभी भी अकर्मण्य न बनो। गीता क्रियात्मक जीवन का पक्ष लेती है तथा अकर्मण्यता की निन्दा करती है। गीता में यह आदर्श प्रस्तुत किया गया है कि स्वयं भगवान् भी कर्म से अपना पीछा नहीं छोड़ा सकते क्योंकि प्रत्येक प्राणी के लिये कर्म ही प्रकृति का नियम है। यह भाग्यवादी आदर्श कदापि नहीं हो सकता बल्कि यह तो समाज के लिये परम कल्याणकारी है। गीता का निर्देश है कि सिद्धि की प्राप्ति के पश्चात् भी जो मनुष्य फल की आशा त्यागकर शुद्ध चित्त से अपना कर्त्तव्य-कर्म करता जाता है वही वास्तव में संन्यासी है। 'यस्तु कर्मफल त्यागी स त्यागीत्यभिधीयते'—अर्थात् जिसने कर्म न छोड़कर केवल कर्मफलों का त्याग किया हो, वही सन्ना त्यागी है (गीता 18/11)। साथ ही, कर्मफलों को त्याग देने का अर्थ यह कदापि नहीं है कि अगला-पिछला या सरासर विचार किए बिना ही मनुष्य को चाहे जो कर्म मनमाने ढंग से करने की छूट है। इस सम्बन्ध में गीता में यह स्पष्ट निर्देश है कि अनुबन्धक अर्थात् आगे क्या होगा और फल का विचार किए बिना जो कर्म

किया जाता है। वह तामस या निकृष्ट है (गीता, 18/25)। साथ ही गीता में यह भी उल्लेख है कि ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्रों के कर्म उनके स्वभाव या प्रकृतिसिद्ध गुणों के अनुसार पृथक्-पृथक् बंटे हुए हैं (गीता 18/41)। इस विभाजन में ऊँच-नीच या उत्तम-अधम का कोई भी भाव नहीं है। यह सामाजिक अन्याय नहीं, प्रकृति के अनिवार्य नियम का पालन है। अतः कर्म का सिद्धान्त न तो व्यक्ति को कर्म या प्रयत्न छोड़ने को कहता है, न मनमाने ढंग से काम करने की छूट देता है और न ही जीवन को निराशाओं और अन्याय में डुबो देता है। ऐसा तो वे लोग ही कह सकते हैं जो कि इस सिद्धान्त की वास्तविकताओं को नहीं समझते।

अन्त में यह कहा जा सकता है कि धर्म का सिद्धान्त भाग्यवादी नहीं है, वह वास्तव में सुधारवादी है। इस सिद्धान्त में यह बार-बार कहा गया है कि जो व्यक्ति इस सत्य को मानकर कर्म या आचरण करता है कि सब प्राणियों में एक ही आत्मा है, उसी के आचरण को सदाचरण या मोक्षानुकूल आचरण कहते हैं। ऐसे आचरण या कर्म से दुराचारी मनुष्य का अन्तःकरण भी सदाचरण ही की तरफ़ दारी किया करता है जिससे उसे अपने किए हुए दुष्कर्मों का पश्चात्ताप होता है और उसके चित्त की शुद्धि तथा चरित्र का सुधार होता है। यह भाग्यवादी दृष्टिकोण नहीं बल्कि स्वयं को जानने-पहचानने का आह्वान है। स्वामी विवेकानन्द ने लिखा है कि यह विश्वास गलत है कि जो ईश्वर पर विश्वास नहीं रखता वह नास्तिक है; वास्तव में नास्तिक वह है जिसे स्वयं अपने पर भरोसा नहीं है। इसी उपदेश का समर्थन अन्य रूप में भी मिलता है। बौद्धधर्मी लोग आत्मा का या परब्रह्म का अस्तित्व नहीं मानते। यद्यपि उनको ब्रह्मज्ञान तथा आत्मज्ञान मान्य नहीं है, तथापि उन्हें कर्म का सिद्धान्त मान्य है और उनके धर्मग्रन्थों में यही उपदेश दिया गया है कि “अत्तना (आत्मना) चोदयःत्तानं” अर्थात् अपने-आपको स्वयं अपने ही प्रयत्न से राह पर लगाना चाहिए; तथा “अत्ता हि अत्तनो नाथो अत्ता ही अत्तनो गति। तस्मा सज्जमयऽत्ताणं अस्सं भदं व वाणिज्जो ॥” अर्थात् हम ही खुद अपने स्वामी या मालिक हैं; और अपनी आत्मा के सिवा हमें तारने वाला दूसरा कोई नहीं है। इसलिए जिस प्रकार कोई व्यापारी अपने उत्तम घोड़े का संयमन करता है, उसी प्रकार हमें अपना संयमन आप ही भलीभाँति करना चाहिए (धम्मपद, 380)। उसी प्रकार गीता में भी भगवान् ने अर्जुन को स्वावलम्बन के तत्त्व का उपदेश किया कि—

उद्धरेदत्मनाऽऽत्मानं नात्मानमवसादयेत् ।

आत्मेव ह्यात्मनो बन्धुरात्मनः ॥

अर्थात् “मनुष्य को चाहिये कि वह अपना उद्धार आप ही करे। वह अपनी अवगति आप ही न करे। क्योंकि प्रत्येक मनुष्य स्वयं अपना बन्धु है और स्वयं अपना शत्रु भी।” अतः मानव के लिये कर्मवाद का संदेश यह है कि जो कुछ तुम हो वह तुम्हारे ही पिछले कर्मों का फल है, और जो कुछ तुम्हें होना है वह तुम्हारे ही वर्तमान कर्मों का परिणाम होगा। इसलिये आराम हराम है—कर्म और वह भी निःस्वार्थ सत्कर्म ही तुम्हारी पूजा है। अतः अकर्मण्य मत बनो, चुप न बैठो, व्यर्थ समय नष्ट न करो; उठो, जागो, कर्तव्य-कर्मों का सहर्ष स्वागत करो; फल की आशा त्यागकर निष्काम होकर सत्कर्मों में अपने को तन-मन से लगाओ—यही तुम्हारा कर्तव्य है, यही तुम्हारा धर्म है, यही तुम्हारे मानव-जीवन का सर्वोत्तम निखार है और यही तुम्हारी मुक्ति भी !

हिन्दुओं ने अपने व्यक्तिगत तथा सामाजिक जीवन को सुव्यवस्थित करके पूर्णता की ओर ले जाने के लिए जिन पद्धतियों या संस्थागत व्यवस्थाओं (institutional arrangements) को अपनाया है, संस्कार उन्हीं में एक है। यह तो सभी जानते हैं कि हिन्दू के जीवन में धर्म का अत्यधिक महत्व होता है और धर्म का एक आवश्यक अंग है परिशुद्धता और पवित्रता। इसलिए हिन्दू ने भी धार्मिक आधार पर व्यक्ति के जीवन को परिशुद्ध तथा पवित्र बनाने के उद्देश्य से ही संस्कारों को जन्म दिया है। दूसरे शब्दों में, संस्कार धर्म पर आधारित वे पद्धतियाँ हैं जिनके द्वारा व्यक्ति के जीवन को परिशुद्ध व पवित्र बनाने का प्रयत्न किया जाता है जिससे कि वह मुक्ति या मोक्ष की दिशा में अधिक अग्रसर हो सके। पर इस सम्बन्ध में और कुछ विवेचना करने से पूर्ण संस्कार के अर्थ को समझ लेना आवश्यक होगा।

‘संस्कार’ का अर्थ (Meaning of Sanskar)

संस्कार शब्द का प्रयोग अनेक अर्थों में किया जाता है। संस्कार का शाब्दिक अर्थ शुद्धि, सुवार या सफाई है। अतः हम कह सकते हैं कि जीवन को परिशुद्ध करने के लिए समुचित ढंग से किए गए कार्य-पद्धति को ही संस्कार कहते हैं। इसी शाब्दिक अर्थ के आधार पर ही हिन्दू संस्कार से आत्मा का परिशुद्धन समझते हैं। संस्कार वे कृत्य हैं जो परम्परागत रूप में जन्म से लेकर मृत्यु तक हिन्दुओं में आवश्यक होते हैं क्योंकि इनके बिना जीवन की परिशुद्धि तथा आत्मा की उन्नति सम्भव नहीं है।

डॉ० राजबली पाण्डेय ने लिखा है, “संस्कार का अभिप्राय शुद्धि की धार्मिक क्रियाओं तथा व्यक्ति के शारीरिक, मानसिक तथा बौद्धिक परिष्कार के लिए किए जाने वाले अनुष्ठानों-से है, जिससे वह (व्यक्ति) समाज का पूर्ण विकसित सदस्य हो सके।” और भी संक्षेप में हम यह कह सकते हैं कि संस्कार का अर्थ उन “पवित्र अनुष्ठानों से है जो शारीरिक, बौद्धिक, सामाजिक एवं आध्यात्मिक परिष्कार के लिए किए जाते हैं।” इस अर्थ में संस्कार जन्म से मृत्यु तक जीवन के विभिन्न पक्षों से सम्बन्धित कृत्यों की एक जटिल प्रक्रिया होती है। जैसा कि डॉ० पाण्डेय ने लिखा है, “हिन्दू संस्कारों में अनेक आरम्भिक विचार, धार्मिक विधि-विधान, उनके सहवर्ती नियम तथा अनुष्ठान भी सम्मिलित हैं जिनका उद्देश्य केवल औपचारिक दैहिक संस्कार ही न होकर, व्यक्ति के सम्पूर्ण व्यक्तित्व का परिष्कार, शुद्धि, एवं पूर्णता भी है।”

हिन्दुओं का सम्पूर्ण जीवन इन्हीं संस्कारों से घिरा हुआ होता है जोकि व्यक्ति के जन्म से पहले ही आरम्भ हो जाता है और वह इस अर्थ में कि बच्चा उत्पन्न होने से पहले ही गर्भवती माँ को अनेक प्रकार के संस्कारों को करना पड़ता है। संस्कारों को इतना महत्व दिया जाता है कि यह विश्वास किया जाता है कि संस्कारों को किए

बिना व्यक्ति का जीवन कदापि पूर्ण नहीं होता। आत्मा की परिशुद्धि एवं जीवन को बाधामुक्त करना ही संस्कार का प्रमुख उद्देश्य होता है। अनेक संस्कारों में यज्ञ या हवन आदि का विधान है। उसी प्रकार संस्कार में उपकरण के रूप में अग्नि, जल एवं मन्त्र आदि को काम में लाया जाता है जिससे कि अशुभ का नाश और शुभ का शुभागमन सम्भव हो। मन्त्रों का उच्चारण, दण्ड का धारण, पुरोहित द्वारा देवरूप में आशीर्वाद देना—इन सभी का उद्देश्य अशुभ का नाश है। दूसरी ओर, पुरोहित द्वारा शुभ घड़ी में अनुष्ठान, देवी-देवता व पितरों को आमन्त्रण, मन्त्रों का उच्चारण, पाठ आदि के माध्यम से शुभ शक्तियों का आवाहन भी किया जाता है जिससे कि व्यक्ति का जीवन न केवल परिशुद्ध हो अपितु बाधा-विघ्न से भी विमुक्त हो। अतः स्पष्ट है कि आत्मा को परिशुद्ध करने एवं जीवन को विघ्न-बाधाओं से विमुक्त करके उसे अधिक उन्नतशील बनाने के धार्मिक-सामाजिक कृत्यों को संस्कार कहते हैं।

संस्कारों के भेद (Kinds of Sanskar)

संस्कारों का वर्णन विशेष रूप से गृहसूत्रों में देखने को मिलता है। धर्मसूत्रों तथा स्मृतियों में भी इनका वर्णन है। फिर भी हिन्दू जीवन में कितने संस्कार होते हैं, एवं होने चाहिए, इस सम्बन्ध में मतभेद है। गौतम धर्मसूत्र में संस्कारों की सबसे अधिक संख्या चालीस का उल्लेख मिलता है। वैखानस गृहसूत्र अट्ठारह संस्कारों का वर्णन करता है जबकि पारस्कर, बौद्धायन तथा वाराह गृहसूत्र एवं मनुस्मृति तेरह संस्कारों का उल्लेख करते हैं। वेदों में, विशेष रूप से ऋग्वेद में, केवल तीन संस्कारों का उल्लेख है और वे हैं—गर्भाधान, विवाह एवं मृत्यु। इसके अलावा आयुर्वेद में उपनयन तथा मुण्डन संस्कारों का भी उल्लेख मिलता है। ब्राह्मण ग्रन्थों एवं उपनिषदों में संस्कारों का कोई व्यवस्थित रूप नहीं है। पर इसके बाद इनकी व्यवस्थित संख्या निश्चित की जाने लगी थी। बाद में धर्मसूत्रों में तो संस्कारों की संख्या बढ़ाने की होड़-सी लग गई प्रतीत होती है क्योंकि अश्वालयन ने ग्यारह, पारस्कर, बौद्धायन व मनुस्मृति ने तेरह जबकि गौतम धर्मसूत्र ने चालीस संस्कारों का उल्लेख किया है। ऋषि दयानन्द ने सबकुछ समन्वित कर सोलह संस्कार निर्धारित किए हैं। अतः संख्या के विवाद में न पड़कर हम यहाँ केवल कुछ प्रमुख संस्कारों का ही उल्लेख करेंगे।

1. गर्भाधान—मनुस्मृति के अनुसार इस संस्कार के द्वारा गर्भ की शुद्ध की जाती है। हिन्दू विवाह का उद्देश्य केवल यौन-सन्तुष्टि (रति) नहीं अपितु सन्तानोत्पत्ति भी है। गर्भाधान संस्कार का उद्देश्य सन्तान, विशेषकर पुत्र-सन्तान को जन्म देना है। हिन्दू धर्म के अनुसार पुत्र को जन्म देना एक पवित्र धार्मिक कृत्य माना गया है। विवाह की चौथी रात्रि में गर्भाधान करने का विधान है। यदि कोई पुरुष अपने शुक्र को विष्वक् पत्नी के गर्भ में नहीं रखता है तो पराशर के अनुसार वह ब्रह्महत्या का भागी होता है। इसका उद्देश्य निर्बल, कुरूप, विकलांग अथवा मरी हुई सन्तान होने से बचना हो सकता है। विष्णुपुराण के अनुसार जिस स्त्री ने स्नान न किया हो, रोग-ग्रस्त हो, आर्तविस्था में हो, क्रुद्ध हो, जो अन्य पुरुष से प्रेम करती हो, उसके साथ गर्भाधान नहीं करना चाहिए। इसके विपरीत अपनी सुशील पत्नी के साथ उसके ऋतु-मार्ग होने के चौथे या पाँचवें दिन स्नान करने के उपरान्त रात्रि में यथाविधि गर्भाधान करे। इस संस्कार का आधुनिक समाज में कोई विशेष महत्व नहीं है और न ही इसका पालन किया जाता है।

2. पुंसवन—जिस अनुष्ठान के द्वारा पुत्र-सन्तान के जन्म की कामना की जाती है उसे पुंसवन संस्कार कहते हैं। मनुस्मृति के अनुसार इस संस्कार को गर्भ-धारण के चौथे मास में सम्पन्न करना चाहिये। वैसे सामान्य नियम यह है कि यदि स्त्री पहली बार गर्भवती हो तो इसे तीसरे मास किया जाए, अन्यथा गर्भधारण के दो मास से आठ मास तक कभी भी किया जा सकता है। इसमें स्त्री व्रत रखती है और नए वस्त्र धारण करती है। रात में बरगद की छाल का रस स्त्री की नाक के दाहिने छिद्र में डाला जाता है जिससे कि गर्भपात न हो। इस संस्कार में पत्नी के अंक में जलपूरित घट रखकर पति गर्भ का स्पर्श करके वीर पुत्र-सन्तान की कामना करता है।

3. सीमन्तोन्नयन—दुष्ट शक्तियों से रक्षा के लिए इस संस्कार द्वारा गर्भवती स्त्री के केशों को ऊपर उठाकर संवारने का विधान है। यह काम पति गर्भ-धारण के चौथे मास करता है। इस संस्कार के प्रारम्भ में मातृपूजन, नान्दि श्राद्ध आदि होते हैं। कुछ विशेष पदार्थों के साथ पति अपनी पत्नी के बालों को संवारता है।

4. जातकर्म—यह संस्कार सन्तान के जन्म के समय किया जाता है; और भी स्पष्ट रूप से बच्चे के नाभि छेदन के पूर्व जातकर्म संस्कार होता है। जब बालक का जन्म होता है तो उस समय अनेक अनिष्टकारी प्रभावों का भय होता है। उन्हीं से बचने के लिए यह संस्कार किया जाता है। पिता अपने नवजात शिशु को छूता है, देखता है, सूँघता है और आशीर्वाचन वाले मन्त्रों का उच्चारण करता है। इसके बाद सोने की शलाका से बच्चे को सहृद एवं घी (अथवा मक्खन) चटाया जाता है। इसी समय बच्चे की नाभि काटकर माँ तथा बच्चे को स्नान कराया जाता है। जातकर्म संस्कार की अन्य अनेक रीतियाँ हिन्दू समाज में पाई जाती हैं। जैसे बच्चा, (विशेषकर लड़का) पैदा होने पर अग्नि प्रज्वलित कर दी जाती है जोकि कई दिनों तक जलती रहती है। यह क्रिया सम्भवतः भूत-बाधाओं से बचने के लिए की जाती है। उसी प्रकार संश्रान्त हिन्दू परिवारों में बच्चे के पैदा होते ही उसकी जीभ पर सोने की बाला या सलाई से ओम् लिखने की प्रथा है।

5. नामकरण—मनुस्मृति में लिखा है कि दसवें अथवा बारहवें दिन में शुभ तिथि, नक्षत्र एवं मूहूर्त देखकर बच्चे का नामकरण संस्कार किया जाना चाहिए। वर्ष के अन्त पर भी नाम रखना जा सकता है। नाम प्रायः नक्षत्रों, देवताओं, कुल-देवता, ग्राम-देवता आदि के नाम के आधार पर रख दिए जाते हैं। जब किसी दम्पति के बच्चे जीते नहीं हैं तो वे किसी विशेष देवी-देवता की मिन्नत करते हैं और उन्हीं के नाम के आधार पर बच्चे का नाम रख लेते हैं जैसे बंकटेश, तपेश्वरी, रामप्रसाद आदि। नामकरण संस्कार में पूजा, हवन आदि करने के बाद पुरोहित महाराज बच्चे की राशि को विचार-कर निकालते हैं और उसी राशि से सम्बन्धित प्रथम अक्षर के आधार पर बच्चे का नाम रख दिया जाता है। उदाहरणार्थ, यदि बच्चा कन्या राशि का है तो इस राशि का एक निश्चित अक्षर 'प' के आधार पर बच्चे का नाम पवन-कुमार, पवित्र मोहन, पार्श्वसारथी आदि रखे जा सकते हैं। पहले इस नाम के चुनाव में जाति का भी प्रभाव स्पष्टतः देखने को मिलता था। उदाहरणार्थ, ब्राह्मण जाति के बच्चे के आगे 'सिंह' नहीं होगा, परन्तु क्षत्रिय जाति के बच्चों के नाम के आगे 'सिंह' अवश्य जोड़ा जाता था जैसे भगतसिंह, बहादुरसिंह, मानसिंह इत्यादि। उसी प्रकार शूद्रों के नाम के आगे दास या चरण लिखने की प्रथा थी जैसे भगवानदास,

रामदास, कालीचरण आदि । पर आज इन नियमों को बहुधा माना नहीं जाता है । लड़कियों के नाम रखने के सम्बन्ध में कोई विशेष नियम नहीं है ।

6. निष्क्रमण—बच्चे के जन्म के बाद उसे एकदम घर से बाहर नहीं निकाला जाता है । निष्क्रमण संस्कार के बाद ही उसे बाहर निकाला जाता है । मनुस्मृति के अनुसार यह संस्कार जन्म के चतुर्थ मास में होना चाहिए । वैसे जन्म के बाहरवें दिन से चौथे मास तक कभी भी इस संस्कार को किया जाता है । बच्चे को माँ की गोद में देकर सबसे पहले सूर्य-दर्शन पिता कराता है और पिता की अनुपस्थिति में यह काम देवर भी करवा सकता है ।

7. अन्नप्राशन—छः मास की आयु तक बच्चा अन्न खाने के योग्य हो जाता है तो इस संस्कार को किया जाता है । अन्नप्राशन संस्कार बच्चे के द्वारा सर्वप्रथम अन्न-ग्रहण करने का सूचक है । इस अवसर पर बच्चे को अन्न के साथ घृत एवं मधु, खीर आदि खिलाया जाता है । कहीं-कहीं चाँदी के कटोरे में दूध-भात खिलाने का रिवाज भी है ।

8. चूड़ाकरण या चूड़ाकर्म—इसे मुण्डन या केशोच्छेदन संस्कार भी कहते हैं । इस संस्कार में बच्चे के बाल पहली बार मूँडे जाते हैं । ऐसा विश्वास किया जाता है कि चूड़ाकर्म से दीर्घायु प्राप्त होती है । मनुस्मृति के अनुसार चूड़ाकर्म जन्म के प्रथम वर्ष अथवा तीसरे वर्ष किया जाना चाहिए । पाराशर गृह्यसूत्र का मत है कि जन्म के प्रथम वर्ष के अन्त में अथवा तीसरे, पाँचवें या सातवें वर्ष में इस संस्कार को किया जाए । सामान्यतः यह तीसरे वर्ष ही किया जाता है । इस संस्कार में गर्म के समय के बालों को नाई काटता है, पर इन बालों को कहीं उड़ने नहीं दिया जाता । एक आटे की लोई में, अथवा कहीं-कहीं बरगद के पत्ते पर, ये सब बाल ऊपर ही ऊपर ले लिए जाते हैं तथा आटे की लोई में बन्द कर इनको गंगाजी में या अन्य किसी नदी या तालाब में बहा दिया जाता है अथवा जमीन में गाड़ दिया जाता है । इस अवसर पर नाई विशेष नेग-निछावर लेता है । बालों के कट जाने के बाद सिर पर मक्खन या दही मलकर बच्चे को स्नान करा दिया जाता है । हवन-पूजा, भोज आदि का भी आयोजन किया जाता है । अपनी-अपनी मिन्नत के अनुसार बहुत से लोग देवी के मन्दिर में जाकर या किसी तीर्थस्थान पर गंगाजी या अन्य किसी पवित्र नदी के किनारे जाकर ही मुण्डन करवाते हैं ।

9. कर्णछेदन—इस संस्कार के द्वारा बच्चे का कान छेद जाता है । पर इस संस्कार का प्रचलन सभी हिन्दू परिवारों में नहीं है फिर भी ऋषि दयानन्द ने इसको एक महत्वपूर्ण संस्कार माना है । यह संस्कार तीसरे या पाँचवें वर्ष में होता है । इस समय स्वर्णकार या नाई को बुलाकर कर्णछेदन कराया जाता है और कानों में सोने की बाली पहना दी जाती है, जिससे कि कान का छेद बन्द न हो जाये । इस अवसर पर हवन, पूजा आदि के साथ बच्चे को आशीर्वाद दिया जाता है और उसे मिठाई खिलाई जाती है ।

10. विद्यारम्भ या पढ़ी-पूजन—इस संस्कार के द्वारा विधिवत् पढ़ी को पूजा जाता है और बच्चे का हाथ पकड़कर उसी पढ़ी पर परिवार का कोई मान्य सदस्य अथवा शिक्षक या पुरोहित 'ओम्' या अन्य कोई देवी-देवता का नाम और उसके बाद वर्णमाला के कुछ अक्षर लिखवाता है । उसी शुभ दिन से बच्चा विद्यार्जन का काम आरम्भ करता है । यह संस्कार बालक के तीसरे, पाँचवें अथवा सातवें वर्ष में किया

जाता है। पिछले युग में गुरुगृह में जाने का रिवाज कम-से-कम आठ वर्ष का था जबकि बच्चा गायत्री समझने योग्य हो जाता था। कुछ भी हो शिक्षा का यह सबसे पहला संस्कार है।

11. उपनयन—उपनयन संस्कार का हिन्दू वर्ण-व्यवस्था या जाति-प्रथा में बहुत महत्व है। वर्ण-व्यवस्था के अन्तर्गत प्रथम तीन वर्ण—ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य 'द्विज', अर्थात् दो बार जन्म लेने वाले (the twice-born) कहलाते हैं। यह विश्वास किया जाता है कि इनका जन्म एक बार माता-पिता के शरीर-संयोग के फल-स्वरूप होता है और दूसरा जन्म गायत्री माता और गुरु पिता से तब होता है जबकि उपनयन संस्कार किया जाता है। इस संस्कार से पहले व्यक्ति, चाहे वह किसी भी वर्ण या वंश का क्यों न हो, शूद्र ही होता है। उपनयन संस्कार ही उनकी स्थिति को उन्नत करता है। इस प्रकार उपनयन या यज्ञोपवीत संस्कार ही प्रतीकात्मक रूप में उनका दूसरा जन्म है। श्री शर्मा शास्त्री के अनुसार यज्ञोपवीत का सम्बन्ध यज्ञ-सं है और यज्ञ का सम्बन्ध वेद से है। वेद का सम्बन्ध वेदाधिकारी द्विजों से है। बिना यज्ञोपवीत हुये द्विज वंश में जन्म लेने पर भी व्यक्ति वेदों के अध्ययन का अधिकारी नहीं हो सकता। मनुस्मृति के अनुसार गर्भ के आठवें वर्ष ब्राह्मण, ग्यारहवें वर्ष क्षत्रिय तथा बारहवें वर्ष वैश्य का यज्ञोपवीत या उपनयन संस्कार होना चाहिये। शूद्रों के लिये उपनयन का विधान नहीं है। इस संस्कार के समय बालक को गुरु संस्कारगत रूप में या प्रतीकात्मक (symbolic) रूप में तीन दिन अपने 'गर्भ' में रखता है और उसके पश्चात् उसका दूसरा जन्म होता है। उसी समय उसे जनेऊ पहनाया जाता है और उसके बाद से बालक को अनेक नियमों का पालन करना पड़ता है। इस समय बालक ब्रह्मचर्य आश्रम में प्रवेश करता है। अतः वह बाल घुटाकर चोटी रखता है एवं भिक्षा भी माँगता है। यह भिक्षा वह सर्वप्रथम माता या पिता से दण्ड हाथ में ले, पीले वस्त्र धारण कर, मूँज का जनेऊ पहनकर माँगता है। पहले जमाने में इस संस्कार के बाद बालक गुरुगृह चला जाता था जहाँ कि वह वेदों का अध्ययन आरम्भ करता था।

12. विवाह—हिन्दुओं के लिये विवाह एक धार्मिक संस्कार है क्योंकि हिन्दू विवाह को एक पवित्र एवं ईश्वर द्वारा निश्चित बन्धन माना जाता है। अतः इस विवाह पद्धति के अन्तर्गत कुछ ऐसे धार्मिक नियम, तरीके या धार्मिक कृत्य होते हैं जिनका सम्पादित किया जाना विवाह की पूर्णता के लिये आवश्यक है। इन धार्मिक कृत्यों में होम, पाणिग्रहण और सप्तपदी प्रमुख हैं। अग्नि में मन्त्र पाठ के साथ लाई का होम किया जाता है। उसी प्रकार पाणिग्रहण कृत्य के अन्तर्गत कन्या का पिता या अन्य संरक्षक हाथ में जल लेकर वेद मन्त्र उच्चारण करते हुए अपनी कन्या का दान करता है और वर भी अग्नि तथा भगवान् को साक्षी मानकर कन्या के हाथ को अपने हाथ में लेकर पाणिग्रहण करता है। इसके पश्चात् वर-वधू दोनों गाँठ बाँधकर अग्नि के पास उत्तर-पूर्व की दिशा में सात कदम एकसाथ चलते हैं जिसे 'सप्तपदी' कहते हैं। मनु के अनुसार पूर्ण मनुष्य वही है जो पत्नी एवं बच्चों के साथ गृहस्थ जीवन व्यतीत करता है। पत्नी पुरुषार्थ की मूल है। केवल धर्म, अर्थ एवं काम ही नहीं अपितु मोक्ष भी उसके सहयोग से प्राप्त होता है। विवाहित पुरुष ही अपने कृत्यों को समुचित रूप से इस संसार में पूर्ण कर सकते हैं अतः हिन्दुओं के जीवन में विवाह संस्कार एक अत्यन्त महत्वपूर्ण व आवश्यक संस्कार है।

13. अन्त्येष्टि—यह मनुष्य के जीवन का अन्तिम संस्कार है जिसे कि एक व्यक्ति की मृत्यु के बाद उसके पुत्र आदि करते हैं। इसका उद्देश्य मृत व्यक्ति की आत्मा को परलोक में शान्ति प्रदान करना है। बौद्धायन के अनुसार, “जन्म के बाद के संस्कारों द्वारा मनुष्य इस लोक को जीतता है जबकि मृत्यु के बाद के संस्कारों द्वारा परलोक को जीतता है। अन्त्येष्टि संस्कार में मृत व्यक्ति के शव को इम्बान घाट को ले जाकर उसका दाह-संस्कार विधिवत् किया जाता है। अस्थियों को गंगा या अन्य नदी के जल में विसर्जित कर दिया जाता है। तेरह दिन तक अशौच मनाया जाता है। इसके बाद श्राद्ध, हवन आदि किया जाता है। श्राद्ध एवं तर्पण आदि प्रति वर्ष करते रहने का विधान है जिससे कि पूर्वजों की आत्मा को कष्ट न मिले। इस प्रकार यह संस्कार इस लोक को परलोक से जोड़ता है।

संस्कारों के उद्देश्य या महत्व (Aims or Importance of Sanskar)

संस्कारों के अनेक उद्देश्य तथा महत्व हैं। उनमें से कुछ प्रमुख उद्देश्यों के बारे में हम यहाँ विवेचना कर सकते हैं। वे उद्देश्य या महत्व इस प्रकार हैं—

1. प्रतीकात्मक (symbolic) उद्देश्य या महत्व—मनुष्य के जीवन में अनेक प्रकार की घृणा, भय, आनन्द तथा अनुराग की स्थितियाँ आती हैं। साथ ही प्रत्येक व्यक्ति उन्हें किसी-न-किसी तरीके से अभिव्यक्त करना चाहता है। संस्कार इन्हीं घृणा, भय, आनन्द आदि को अभिव्यक्त करने का प्रतीकात्मक साधन है। उदाहरणार्थ, बच्चे का जन्म होने पर माता-पिता को आनन्द का अनुभव होता है क्योंकि उनकी सृजनात्मक शक्ति का साकार रूप उनके सामने होता है। अतः जन्म से सम्बन्धित संस्कार उन्हें यह अवसर देता है कि वे अपने उस आनन्द को नाना प्रकार से अभिव्यक्त करें। उसी प्रकार आत्मपरिजन की मृत्यु होने पर व्यक्ति को दुःख होता है। साथ ही वह मृत व्यक्ति के प्रति अपनी श्रद्धा को भी अभिव्यक्त करना चाहता है। अन्त्येष्टि संस्कार में तेरह दिन का अशौच शोक का प्रतीक है जबकि श्राद्ध आदि मृत व्यक्ति के प्रति श्रद्धा का प्रतीक बन जाता है। अतः हम कह सकते हैं कि संस्कारों का प्रतीकात्मक उद्देश्य या महत्व भी कम नहीं है।

2. विपत्ति से रक्षा—संस्कारों का दूसरा उद्देश्य या महत्व यह है कि इसके माध्यम से व्यक्ति अपनी तथा अपने आत्मपरिजनों की अनेक सम्भावित विपत्तियों से रक्षा करने का प्रयत्न करता है। इसीलिये संस्कार में उपकरण के रूप में अग्नि, जल एवं मन्त्र आदि ऐसे उपादानों का प्रयोग किया जाता है जो अशुभनाशक हैं। उसी प्रकार पुरोहित संस्कार सम्बन्धी अनुष्ठान शुभ षड्डी में देवता तथा पितरों को आमन्त्रित करके करता है। इन सबका उद्देश्य भूत, प्रेत, चुड़ैल तथा बुरी आत्माओं से अपनी तथा अपने परिवार की रक्षा करना है। गर्भाधान संस्कार में पुरुष अपने शुरु को विधिवत् एवं उचित समय पर स्त्री के गर्भ में रखता है जिसका कि उद्देश्य निर्बल, कुरूप, विकलांग अथवा मरी हुई सन्तान होने से बचना है। उसी प्रकार पुंसवन संस्कार में स्त्री के दाहिने नासिका पुट में बट वृक्ष का दूध डाला जाता है जिससे कि गर्भपात न हो। जातकर्म संस्कार बच्चे के जन्म के तत्काल बाद बच्चे को अनेक अनिष्टकारी प्रभावों से बचाने के लिये किया जाता है। उसी प्रकार दाह-संस्कार के बाद राख को गंगा या अन्य किसी पवित्र नदी में प्रवाहित कर दिया जाता है। इसके पीछे स्वास्थ्य के दृष्टिकोण के साथ-साथ अशुभ प्रभावों से रक्षा की भी बात है।

3. सामाजिक स्थिति की प्राप्ति—संस्कार व्यक्ति का समाजीकरण (socialization) करके उसे निश्चित सामाजिक स्थिति प्राप्त करने में मदद करता है। उदाहरणार्थ, हिन्दू-मान्यता के अनुसार जब व्यक्ति प्राणिशास्त्रीय जन्म लेता है तब वह, चाहे वह किसी भी वर्ण या वंश का क्यों न हो, शूद्र ही होता है। और फिर सामाजिक संस्कार द्वारा शुद्ध होकर 'द्विज' कहलाता है। यह संस्कार यज्ञोपवीत का है। यज्ञोपवीत से पूर्व सभी शूद्र हैं। उसी प्रकार नामकरण संस्कार के बाद ही व्यक्ति का एक सामाजिक परिचय नाम के माध्यम से स्पष्ट होता है, उपनयन संस्कार के बाद ही उसे गुरुकुल में जाकर वेदारम्भ करने का अधिकार प्राप्त होता है और विवाह संस्कार के बाद ही न केवल पति या पत्नी की स्थिति (status) प्राप्त होती है अपितु उन्हें गृहस्थ जीवन में प्रवेश करने, यौन-सम्बन्ध स्थापित करने तथा सन्तानों को जन्म देने का भी अधिकार प्राप्त होता है। गर्भाधान संस्कार के बाद ही कोई व्यक्ति पिता बन सकता है। श्री दुवे ने लिखा है कि संस्कारों के द्वारा इस प्रकार की स्वीकृति जहाँ व्यक्ति के लिये एक अनुष्ठान एवं नैतिक उत्तरदायित्व के रूप में थी वहाँ समाज की दृष्टि से उसे एक भिन्न स्थिति या पद (status) प्राप्त होता था।

4. समाजीकरण—संस्कार व्यक्ति के समाजीकरण की प्रक्रिया में एक अत्यन्त महत्वपूर्ण साधन है। श्री दीक्षित ने लिखा है कि संस्कार व्यक्तियों को अनुशासित एवं दीक्षित करने के सफल एवं सशक्त माध्यम हैं। संस्कारों के माध्यम से व्यक्ति को संस्कृति के मूलभूत सिद्धान्तों को समझाना सरल हो जाता है। संस्कृति के प्रतिमानों को जानना मात्र ही कुछ नहीं यदि उनका दिन-प्रतिदिन के जीवन में उपयोग नहीं किया गया। संस्कारों के माध्यम से इन मूल्यों एवं प्रतिमानों (patterns) का अभ्यास कराया जाता है। अभ्यास के द्वारा व्यक्ति बिना किसी कठिनाई के अपने को सामाजिक मूल्यों एवं मान्यताओं के अनुकूल बना लेता है। इस प्रकार संस्कार व्यक्ति के समाजीकरण में सहायक होता है।

5. सांसारिक सुख-समृद्धि—संस्कारों का एक अन्य उद्देश्य सांसारिक सुख-समृद्धि प्राप्त करना है। प्रायः प्रत्येक संस्कार में ही ईश्वर की पूजा, हवन आदि करने का विधान है। संस्कार का एक लक्ष्य ईश्वर को प्रसन्न करना है। और ईश्वर प्रसन्न होने पर हमारे परिवार का कल्याण होगा, हमारे बच्चे स्वस्थ एवं सुखी रहेंगे, आर्थिक दृष्टि से सफलता प्राप्त होगी और हमारी मनोकामनायें पूर्ण होंगी। इस प्रकार संस्कारों के माध्यम से जहाँ हम एक ओर अपने परलोक को सुरक्षित करते हैं वहाँ इस लोक में अधिकतम सुख-समृद्धि की भी याचना करते हैं, चाहे वह अपने लिये बचवा अपने आत्मपरिजनों के लिए ही हो।

6. आध्यात्मिक उन्नति—संस्कारों का एक उद्देश्य आध्यात्मिक उन्नति करना भी होता है। संस्कारों के माध्यम से वह अपने शारीरिक, बौद्धिक व सामाजिक जीवन को परिष्कृत, परिशुद्ध एवं पवित्र बनाने का प्रयत्न करता है। इससे उसकी आध्यात्मिक उन्नति स्वतः ही होती है। आध्यात्मिक उन्नति हमारे कर्मों पर आधारित होती है। संस्कार पवित्र एवं सद् कर्मों पर बल देकर आध्यात्मिक उन्नति का प्रथम प्रयास करता है। इस प्रकार संस्कार के द्वारा जीवन का चरम व परम लक्ष्य मोक्ष की प्राप्ति सम्भव होती है। डॉ० राजबली पाण्डेय ने उचित ही लिखा है कि 'संस्कार एक प्रकार से आध्यात्मिक शिक्षा के लिये क्रमिक सीढ़ियों का कार्य करते हैं। उनके द्वारा संस्कृत व्यक्ति यह अनुभव करता है कि सम्पूर्ण जीवन वस्तुतः संस्कार-

मय है और सम्पूर्ण दैहिक क्रियायें आध्यात्मिक ध्येय से अनुप्राणित हैं। यही वह मार्ग था जिसके द्वारा क्रियाशील सांसारिक जीवन का समन्वय आध्यात्मिक तथ्यों के साथ स्थापित किया जाता था।”

आधुनिक समय में पाश्चात्य संस्कृति व सभ्यता के उत्तरोत्तर प्रभाव के साथ-ही-साथ औद्योगीकरण व नगरीकरण के फलस्वरूप धर्म का महत्व व्यक्ति के जीवन में कम होता जा रहा है। इसका स्वाभाविक परिणाम संस्कारों का महत्व घटना है। आज का हिन्दू संस्कारों को न तो अधिक महत्व देता है और न ही उसे विधिवत् मूल रूप में अनुष्ठित करता है। आधुनिक समय में अनेक संस्कारों को या तो त्याग दिया गया है अथवा उन्हें आवश्यकतानुसार संशोधित करके स्वीकार किया जाता है। उदाहरणार्थ, गर्भाधान संस्कार को शायद ही अब कोई मानता है। उसी प्रकार सीमन्तोन्नयन संस्कार का प्रचलन भी आज 'ना' के समान है। निष्क्रमण संस्कार को भी आज व्यर्थ का माना जाता है। उसी प्रकार अन्नप्राशन, पट्टी-पूजन, विवाह आदि संस्कारों को भी समय एवं परिस्थिति के अनुसार संशोधित व संक्षिप्त करने की प्रवृत्ति आज देखने को मिलती है। यह प्रवृत्ति अच्छी है अथवा बुरी, यह दूसरा प्रश्न है, पर परिवर्तित परिस्थितियों में इस झुकाव को रोका नहीं जा सकता। किसी भी गतिशील समाज का शायद यही नियम है।

‘कल्पना’ मानव की आदि-सहचर है। कल्पना की सहायता से आदिकाल से ही मानव धरती को छोड़कर स्वर्ग या नरक तक घूम आता है, आकाश की सैर करता है। कल्पना की लम्बी उड़ान उसे कहीं भी ले जा सकती है और एक वैचित्र्यपूर्ण नव-लोक की सृष्टि कर सकती है। सौन्दर्य-वृद्धि और सौन्दर्य-सृष्टि दोनों के लिये ही कुछ-न-कुछ कल्पना की आवश्यकता होती है और ये दोनों प्रवृत्तियाँ मानव में नैसर्गिक रूप से विद्यमान होती हैं और उसकी बाह्य अभिव्यक्ति चित्रकला, मूर्तिकला, संगीत, नृत्य, पौराणिक कथा तथा प्रतीक के रूप में होती है। पौराणिक कथाओं में कल्पना की सहायता सर्वाधिक ली जाती है और उससे एक कथा, गाथा या कहानी खड़ी की जाती है जिसे कि दूसरों को सुनाकर अपनी कल्पना को सार्थक किया जाता है। डॉ० दुबे ने लिखा है कि “मानवीय कलाओं में कहानी कहने की कला अत्यन्त प्राचीन है। लेखन के आविष्कार के सहस्रों वर्ष पूर्व से ही मानवीय मस्तिष्क ने अपनी वैचित्र्य-पूर्ण अनुभूतियों को कथा का रूप देना प्रारम्भ कर दिया था, और इन कहानियों के माध्यम से उसके अपरिपक्व, अस्पष्ट जीवनदर्शन की सर्वप्रथम अभिव्यक्ति हुई थी।”

पौराणिक कथाओं तथा लोक-गाथाओं में अन्तर (Distinction between Myths and Folk-tales)

श्री बोआस (Boas) का मत है कि पौराणिक कथाओं तथा लोक-गाथाओं के बीच कोई स्पष्ट विभाजक-रेखा खींचना प्रायः असम्भव है। इसका कारण यह है कि एक ही कहानी पौराणिक कथा और लोक-गाथा दोनों ही रूपों में प्रस्तुत की जा सकती है। अगर हम पौराणिक कथाओं को प्राकृतिक घटनाओं (natural phenomena) से सम्बन्धित मानें तो भी कठिनाई यह है कि लोक-गाथाओं का सम्बन्ध भी प्राकृतिक घटनाओं से हो या नहीं हो सकता है। धार्मिक आधारों पर भी इन दोनों को पृथक् नहीं किया जा सकता क्योंकि दोनों में ही धर्म के तत्व मौजूद हो सकते हैं। फिर भी अध्ययन की सुविधा के लिये हम इन दोनों में निम्नलिखित भेद को आधार मान सकते हैं—

पहला अन्तर तो यह है कि पौराणिक कथा प्राचीनकाल से ही अधिकतर सम्बन्धित होती है जबकि लोक-गाथायें अधिक-से-अधिक ‘बहुत दिन पहले’ की बात, होती हैं। दूसरा अन्तर यह है कि पौराणिक कथाओं की विषय-वस्तु में सृष्टि की उत्पत्ति, देवी-देवताओं का वर्णन, प्राकृतिक घटनाओं (natural phenomena) जैसे

1. Franz Boas, ‘Mythology and Folklore’. *General Anthropology*, D. C. Heath and Co., New York. 1938. p. 609.

जल, पृथ्वी, आकाश, वायु आदि के रहस्यों का विश्लेषण तथा निरूपण होता है। इसके विपरीत लोक-गाथाओं की विषय-वस्तु मानव स्वयं—या तो सुख-दुःख का साधारण मानव या राजा, रानी, राजकुमार और राजकुमारी के रूप में मानव—होता है। बहुधा मानव को छोड़कर लोक-गाथायें अपने अन्दर भूत, प्रेत, चुड़ैल, दानव आदि को भी समेट लेती हैं। तीसरा अन्तर यह है कि पौराणिक कथाओं का उद्देश्य सृष्टि या प्रकृति या देवी-देवताओं से सम्बन्धित गहन तत्त्वों की गहराई में जाने का प्रयत्न करना और उनके रहस्यों को उद्घाटित करके प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष रूप में ज्ञान-वर्धन करना होता है। पौराणिक कथाओं में धार्मिक हितोपदेश के तत्व भी कभी-कभी छिपे होते हैं। इसके विपरीत लोकगाथाओं का उद्देश्य मुख्यतः मन-बहलाना या मनोरंजन करना ही होता है, यद्यपि इनके माध्यम से भी किसी-न-किसी प्रकार के उपदेश, आदर्श या सामाजिक मूल्य को प्रस्तुत करने का प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से प्रयत्न किया जाता है।

पौराणिक कथा (Myths)

पौराणिक कथा का अर्थ (Meaning of Myths)

उपरोक्त विवेचना से ही पौराणिक कथा की प्रकृति तथा अर्थ बहुत-कुछ स्पष्ट हो गया है। यहाँ पर संक्षेप में इतना कहना ही पर्याप्त होगा कि पौराणिक युग से सम्बन्धित वह कथायें जिनमें सृष्टि या संसार की उत्पत्ति, देवी-देवताओं का वर्णन और प्राकृतिक घटनाओं के तत्त्वों का निरूपण हो, उन्हें पौराणिक कथायें कहते हैं। एक विद्वान् ने पौराणिक कथा को 'बालक-सुलभ दर्शन' कहकर परिभाषित किया है। कुछ लोगों का मत है कि केवल उन कथाओं को ही पौराणिक कथाओं के अन्तर्गत सम्मिलित करना चाहिये जिनके माध्यम से सृष्टि की उत्पत्ति तथा रचना का वर्णन किया जाए। परन्तु पौराणिक कथाओं का यह एक संकुचित अर्थ होगा। इन कथाओं में केवल सृष्टि की उत्पत्ति तथा रचना का ही वर्णन नहीं होता, वरन् अन्य अनेक दैवीय घटनाओं का वर्णन भी होता है। उदाहरणार्थ, भारत के वृद्धजन अपने पूर्वजों के भूत-प्रेतों के साथ युद्ध, जादूगरनियों और डायनों के साथ उनकी मुठभेड़ आदि के सम्बन्ध में भी अनेक दैवीय घटनाओं का उल्लेख पौराणिक कथाओं में करते हैं। उसी प्रकार कोरयक (Koryak) जनजाति के पुजारी की दुष्ट प्रेतात्मा के साथ हाथापाई या ईसाइयों के सन्त-महन्तों का शैतान के साथ युद्ध का जो वर्णन मिलता है, वे सभी पौराणिक कथायें हैं। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि वे कथायें जोकि मानव तथा विश्व की उत्पत्ति, प्राकृतिक जगत्, मानव-शरीर, जीवन तथा संस्थाओं से सम्बन्धित हैं, उन्हें पौराणिक कथा कहते हैं।

पौराणिक कथाओं की उत्पत्ति (Origin of Myths)

अज्ञात के विषय में जानने की इच्छा मानव की एक चिरन्तर इच्छा है जोकि शायद उतनी ही पुरानी है जितना कि स्वयं मानव और उसका समाज। मानव अपने को देखता है, अपने आस-पास के 'जगत्' को देखता है, प्रकृति की अनेक घटनायें—जल, पृथ्वी, वायु, आकाश, नदी, समुद्र, पहाड़, आँधी वर्षा आदि को देखता

और चकित होता है। ये सब कब बने, कैसे बने और किसने बनाया—ऐसे ही अनेक प्रश्न मानव के मन और मस्तिष्क के द्वार पर बार-बार आघात कर जाते हैं और उसे इन विषयों पर सोचने-विचारने के लिये बाध्य करते हैं। आदिमानव सोचता है और सोचकर अपनी योग्यता व अनुभव के अनुसार वह एक सम्भावित उत्तर ढूँढ़ भी निकालता है और उसे दूसरों को कहकर सुनता है। यहीं से पौराणिक कथा का बीजारोपण होता है। चूँकि मानव को हर चीज की व्याख्या के लिये किसी-न-किसी आधार की आवश्यकता होती है, इसलिये वह कभी देव-देवी को, तो कभी साधु-सन्त को, तो कभी सूर्य-चन्द्र या पशु-पक्षी को व्यक्ति के रूप में मानकर अपनी कथा को विश्वासयोग्य बनाने का प्रयत्न करता है। इसी रूप में मानव अपनी जिज्ञासा को शान्त करने के लिये ही नहीं, बल्कि अपनी आशा, आकांक्षा, आदर्श तथा इच्छाओं को अभिव्यक्त करने का भी एक साधन ढूँढ़ लेता है। यहीं से पौराणिक कथाओं का इतिहास प्रारम्भ होता है।

कुछ लोगों का कथन है कि पौराणिक कथा केवल कल्पना की लघु उड़ान मात्र (light play of imagination) है। परन्तु ऐसा नहीं है। श्री बोआस (Boas) का कथन है कि “पौराणिक कथाओं की विषय-वस्तु का महत्व तथा जिस गम्भीरता से इस विषय-वस्तु को प्रस्तुत किया जाता है उसे देखते हुए यह कहना अधिक उचित होगा कि पौराणिक कथायें संसार की उत्पत्ति के सम्बन्ध में, सांस्कृतिक कृतियों तथा पवित्र संस्कारों के सम्बन्ध में मानव के सुचिन्तन का ही परिणाम हैं।”²

श्री हैडले के अनुसार, “वस्तुओं की उत्पत्ति की समस्या के सम्बन्ध में मनुष्य की कल्पना-शक्ति ने समय-समय पर जो उत्तर दिया है, पौराणिक कथायें उनका प्रतिनिधित्व करती हैं।”³ लार्ड रेगलेन ने इस विचार का विरोध करते हुए लिखा है कि श्री हैडले का यह कहना गलत है कि पौराणिक कथाओं की उत्पत्ति केवल कल्पना व कौतुहल के फलस्वरूप हुई है। वास्तव में पौराणिक कथायें वस्तु-स्थिति का यथार्थ चित्र हैं क्योंकि आदिमानव को ऐसी वस्तु में रुचि नहीं होती है जो उसकी चेतना को प्रत्यक्ष रूप से प्रभावित न करती हो। इस कारण, लार्ड रेगलेन के अनुसार, पौराणिक कथाओं की उत्पत्ति में कौतुहल को आधार मानना अनुचित है क्योंकि कौतुहल का न केवल आदि-कालीन समाज में सर्वथा अभाव है, वरन् वह अपेक्षाकृत सम्यक् समाजों में भी बहुत कम पाया जाता है। लार्ड रेगलेन के इस मत से वे सभी विद्वान् असहमत हैं जिन्हें मानव समाजों और आदिवासियों को अधिक निकट से देखने तथा जानने का अवसर प्राप्त हुआ है। श्री वैरियर एलविन (Verrier Elwin) ने लार्ड रेगलेन के उपरोक्त मत की आलोचना करते हुए कहा है, “मैं केवल यही कल्पना कर सकता हूँ कि आदिवासियों के सम्बन्ध में लार्ड रेगलेन का ज्ञान उतना ही है जितना कि किसी अज्ञात कुत्ते का पशुओं के एक झुण्ड के विषय में होता है। व्यक्तिगत अनुभव से मैं कह सकता हूँ कि आदिवासी भी प्रायः कभी भी उतने जड़

2. “The importance of the subject-matter and the seriousness with which they are treated suggest that they are the result of thought about the origin of the world and of wonder about cultural achievements and the meaning of sacred rites”—*Ibid.*, p. 616.

नहीं होते जैसे कि वे प्रथम दृष्टि में प्रतीत होते हैं। कौतुहल-शून्य होना तो दूर रहा, उनमें से अनेक अपना बहुत-सा समय अतिशय असाधारण विचारों और कल्पनाओं में व्यतीत करते हैं।”

अतः स्पष्ट है कि सृष्टि की उत्पत्ति, प्राकृतिक जगत् की अनेक आश्चर्यजनक घटनाओं तथा मानव-शरीर व जीवन से सम्बन्धित घटनाओं के सम्बन्ध में जिज्ञासा आदिकाल से मानव के मन में है जिसके फलस्वरूप वह उन विषयों के सम्बन्ध में सोचता-विचारता या कल्पना करता है और अपने अनुभव या पूर्वज्ञान के आधार पर उसे व्यक्त करने का प्रयत्न करता है। पौराणिक कथाओं की उत्पत्ति का यही आधार है।

पौराणिक कथाओं की विशेषतायें (Characteristics of Myths)

1. **व्यक्तिकरण (Personification)**—पौराणिक कथाओं की सर्वप्रमुख विशेषता यह होती है कि इसमें पशु, पक्षी, पृथ्वी, सूर्य, चन्द्रमा यहाँ तक कि पेड़-पौधे तक को व्यक्ति का रूप दे दिया जाता है और इसीलिये पौराणिक कथाओं में पेड़-पौधे से लेकर पशु-पक्षी, सूर्य-चन्द्र तक सभी व्यक्ति की भाँति व्यवहार करते हैं। बोल सकते हैं, यहाँ तक कि मानव-वृत्ते को भी जन्म दे सकते हैं। कुछ विद्वान् इसका कारण यह बताते हैं कि आदिकाल से ही सूर्य, चन्द्रमा, वायु, पेड़ आदि की शक्ति से मानव बहुत ज्यादा प्रभावित था। इन्हें व्यक्ति के रूप में मान लेने से कथा कहने में भी सरलता होती थी।

2. **कल्पना और दर्शन का मिश्रण**—पौराणिक कथाओं के अध्ययन से यह पता चलता है कि इनमें कल्पना और दर्शन का एक अपूर्व मिश्रण होता है। मानव किसी विषय में गम्भीरतापूर्वक सोचता है। परन्तु इस सोचने की प्रक्रिया का कोई वैज्ञानिक आधार न होने के कारण उसे कल्पना की सहायता लेनी ही पड़ती है। परन्तु इसका तात्पर्य यह नहीं है कि पौराणिक कथाओं को कोरी कल्पना की उड़ान मान लिया जाए। वास्तव में, सृष्टि की उत्पत्ति तथा उसकी प्रकृति, गुण आदि गम्भीर विषय हैं। इनके विषय में मानव को सन्तोषप्रद उत्तर तब तक नहीं मिल सकता जब तक वह उनके विषय में गम्भीर चिन्तन न करे। इसीलिये यह कहा जा सकता है कि मानव दार्शनिक के रूप में, कल्पना की सहायता लेते हुये, सृष्टि की उत्पत्ति आदि विषयों के सम्बन्ध में जिस निष्कर्ष पर आया है वही पौराणिक कथाओं के रूप में विकसित हुआ है।

3. **प्राचीनता**—पौराणिक कथा वर्तमान युग की कथा नहीं होती है। इसका सम्बन्ध तो पौराणिक काल से ही होता है। प्रायः पौराणिक कथा एक ऐसे युग से सम्बन्धित होती है जिसके सम्बन्ध में कुछ भी निश्चित रूप से कहा नहीं जा सकता। यह विशेषता पौराणिक कथाओं को प्रभावपूर्ण कहने में सहायक सिद्ध होती है। चूँकि पौराणिक कथा में जो कुछ कहा गया है वह सच है या झूठ, यह प्रमाणित नहीं किया जा सकता; इस कारण उसके प्रति लोगों का विश्वास बना रहता है और मानव-मस्तिष्क पर उसका गहरा प्रभाव पड़ता है।

4. **कोई सामान्य रूप नहीं**—पौराणिक कथाओं में कोई एक सामान्य शैली व रूप नहीं होता। किन्हीं-किन्हीं कथाओं में अलंकार का आधिक्य होता है, और कुछ

कथाओं में आश्चर्यजनक सरलता। पौराणिक कथाओं को कहानी के रूप में ही अधिकतर प्रस्तुत किया जाता है, परन्तु कविता, गीत या नाटक के रूप में भी उसे प्रस्तुत किया जा सकता है। किसी-किसी पौराणिक कथा में साहित्यिकता का नाम तक नहीं होता और किसी-किसी में यह तत्व कूट-कूटकर भरा होता है। उसी प्रकार कुछ पौराणिक कथाएँ अति सरल ढंग से प्रस्तुत की जाती हैं और कुछ कथाएँ बोझिल तथा पाण्डित्यपूर्ण होती हैं। कुछ कथाओं को कुछ मिनटों में सुनकर समाप्त किया जा सकता है और कुछ को सुनकर समाप्त करने में कई सप्ताह और मास तक लग जाते हैं।

पौराणिक कथाओं का महत्व (Importance of Myths)

मानव-जीवन में पौराणिक कथाओं का अत्यधिक महत्व है। संक्षेप में, इसकी विवेचना हम इस प्रकार कर सकते हैं—

(क) श्री अनातोले फ्रांस (Anatole France) के शब्दों में, “राष्ट्र अपनी पौराणिक कथाओं पर जीवित रहता है; अपनी लोक-गाथाओं से वे जीवन के लिए आवश्यक विचार ग्रहण करते हैं। उन्हें अधिक आवश्यकता नहीं होती; थोड़ी-सी उप-देशात्मक कथाएँ ही लाखों प्राणों को प्रेरणा देने के लिए पर्याप्त होती हैं।”³ इस अर्थ में पौराणिक कथाएँ मानव-जीवन के लिए आवश्यक प्रेरणा का मूल स्रोत हैं। पौराणिक कथाओं के माध्यम से मानव को अनेक नवीन बातों का पता चलता है, अनेक नवीन सामाजिक आदर्शों तथा मूल्यों (values) से उसका परिचय होता है जिससे वह अपने जीवन के भावी कार्यक्रम को निश्चित करता है और जीवित रहने की प्रेरणा पाता है। इस प्रकार पौराणिक कथाएँ वह नींव प्रदान करती हैं जिस पर कि समाज के आचार-विचार आश्रित होते हैं।

(ख) डॉ० दुवे के अनुसार, पौराणिक कथाओं में “लोक-जीवन की भौतिक एवं धार्मिक चेतना का मूल स्रोत निहित रहता है। अन्ततः ये मानव-समुदायों के सांस्कृतिक दृष्टिकोण एवं जीवन-मूल्यों को निश्चित कर लोक-जीवन को स्थिरता और स्थायित्व देती हैं।” इस अर्थ में सामाजिक निरन्तरता को बनाए रखने के लिए आवश्यक सामाजिक अन्तःक्रियाओं में जो-जो चीजें महत्वपूर्ण पार्ट अदा करती हैं, उनमें पौराणिक कथाएँ भी एक हैं। पौराणिक कथाओं के माध्यम से मानव अपने समाज के अतीत (past) की झाँकी देखता है और उस ‘आदर्श रूप’ को फिर से लौटा लाने का प्रयत्न करता है।

(ग) व्यक्तिगत दृष्टिकोण से भी पौराणिक कथाओं का महत्व कम नहीं है। यद्यपि इन कथाओं को मनोरंजन का साधन मात्र ही मानना उचित न होगा, फिर भी इन कथाओं को सुनते समय इन पर विश्वास करने वाले सांसारिक कष्ट को भूल जाते हैं और सब भूलकर एक आनन्द का अनुभव करते हैं। कभी-कभी हँसते हैं तो कभी भक्ति और आनन्द में विभोर होकर रो पड़ते हैं। जीवन के संघर्ष में रत मानव इन कथाओं में बहुत-कुछ देखता और पाता है। मानव-जीवन में इनका अपना एक महत्व है।

3. “Nations live on mythology, From legends they draw all the ideas necessary to their existence. They do not need many, and a few simple fables will suffice to build millions of lives.”—Anatole France, quoted from M. J. Herskovits, *Man and His Works*, Alfred A. Knopf, New York, 1956. p. 414.

विपदाओं के समय में मनुष्य कोई सहारा चाहता है। पौराणिक कथाएँ युगों से उसे सहारा देती आई हैं, और मानव को मानसिक सन्तोष प्राप्त हो सका है।

(घ) सामाजिक दृष्टि से पौराणिक कथाओं का एक महत्वपूर्ण कार्य मानव के व्यवहार को नियमित व निर्देशित करके सामाजिक नियन्त्रण में योगदान करना है। अनेक पौराणिक कथाओं को लोग सामान्य कहानी-किस्सा कदापि नहीं मानते, बल्कि उनका दृढ़ विश्वास होता है कि वे कथाएँ बीते हुए युगों की वास्तविक व सत्य घटनाएँ हैं। इसका परिणाम यह होता है कि मानव-मस्तिष्क पर उन कथाओं का गहरा तथा निश्चित प्रभाव पड़ता है। यह प्रभाव मानव को स्वाभाविक ढंग से अपने बश में कर लेता है। फलतः ये कथाएँ बहुत सीमा तक मानव-व्यवहार की दिशा को निर्धारित करती हैं और मानव अपने जीवन को पौराणिक कथाओं में प्रस्तुत आदर्शों के अनुरूप निश्चित करता है। सामाजिक नियन्त्रण का काम पौराणिक कथाएँ बहुत सरलता से इस कारण भी कर सकती हैं क्योंकि इन कथाओं में लोक-समुदाय का धार्मिक विश्वास तथा जादू-टोने का तत्व भी बहुत स्पष्ट रूप से सम्मिलित होता है। धार्मिक क्रियाओं से प्रत्यक्ष रूप से सम्बन्धित होने के कारण इन कथाओं का प्रभाव व्यक्ति पर और भी गहरा तथा वास्तविक होता है। सामाजिक नियन्त्रण में या व्यक्ति के व्यवहार को नियमित तथा नियन्त्रित करने में इन सब तत्वों का अत्यधिक महत्व होता है।

(ङ) समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण से भी ये पौराणिक कथाएँ महत्वपूर्ण हैं। इनका अध्ययन करके हम एक समाज की परम्परा, आदर्श व सामाजिक मूल्यों के सम्बन्ध में बहुत-कुछ अनुमान कर सकते हैं। लोक-मस्तिष्क की दृष्टि से सृष्टि की उत्पत्ति तथा उसकी प्रकृति व गुण के विषय में भी स्पष्ट ज्ञान हमें पौराणिक कथाओं के माध्यम से हो सकता है। पौराणिक कथाओं के अध्ययन से आदि-मस्तिष्क की साहसपूर्ण कल्पना का भी आभास हमें हो सकता है। इसीलिए श्री ड्यूरकेम ने लिखा है कि 'पौराणिक कथाएँ रूपकमय शिक्षा की वह निधि हैं जिसे व्यक्ति को उसके समूह के अनुकूल बनाने के लिए (समूह द्वारा) प्रयोग किया जाता है।' श्री कुमारस्वामी ने भी लिखा है कि "पौराणिक कथाएँ वह परम्परागत साधन हैं जिनमें मनुष्य की गहनतम दार्शनिक अन्तर्दृष्टि देखने को मिलती है। ये सभी कथन पौराणिक कथाओं के महत्व को स्पष्ट करते हैं।

पौराणिक कथाओं का वर्गीकरण

(Classification of Myths)

पौराणिक कथाएँ अनेक प्रकार की हो सकती हैं। भारतीय समाज में तो अगणित पौराणिक कथाओं का प्रचलन है। इनके विविध रूप हैं एवं ये प्रायः सभी विषयों से सम्बन्धित हैं। अतः इनका वर्गीकरण करना कठिन है, फिर भी इन्हें मोटे तौर पर निम्नलिखित श्रेणियों के अन्तर्गत रक्खा जा सकता है—(1) मानव तथा विश्व-सृजन के क्रम का वर्णन करने वाली पौराणिक कथाएँ, (2) भगवान् की भक्तवत्सलता को दर्शाने वाली पौराणिक कथाएँ, (3) दुष्ट असुरों, दानव आदि के काले कारनामों से सम्बन्धित पौराणिक कथाएँ, (4) दुष्टों का संहार सम्बन्धी पौराणिक कथाएँ, (5) सर्वशक्तिमान ईश्वर के विभिन्न महिमाओं व स्वरूपों का वर्णन करने वाली पौराणिक कथाएँ, (6) वे कथाएँ जिनमें सत् और असत् शक्तियों के संघर्ष और अन्ततः सत् शक्तियों की विजय दिखाई गई है, एवं (7) अवतारों तथा महापुरुषों के जीवन से सम्बन्धित पौराणिक कथाएँ।

डॉ० श्यामाचरण दुबे ने पौराणिक कथाओं को चार प्रमुख भागों में बाँटा है—

(1) मानव तथा विश्व की उत्पत्ति से सम्बन्धित पौराणिक कथाएँ, (2) प्राकृतिक जगत् से सम्बन्धित, (3) मानव-शरीर तथा जीवन से सम्बन्धित और (4) मानवीय संस्थाओं से सम्बन्धित पौराणिक कथाएँ ।

पौराणिक कथाओं के कुछ उदाहरण

(Some Examples of Myths)

जिन विविध प्रकार की पौराणिक कथाओं का उल्लेख हमने ऊपर किया है उनमें से कुछ उदाहरण हम यहाँ प्रस्तुत कर रहे हैं ।

मनुस्मृति में सृष्टि की रचना के सम्बन्ध में जो कथा उल्लेखित है, वह इस प्रकार है—यह विश्व महाप्रलयकाल में अन्धकारयुक्त, हर प्रकार के लक्षणों से रहित, संकेत के अयोग्य तथा तर्क द्वारा व स्वरूप से जानने के अयोग्य सब ओर से निद्रा की-सी स्थिति (दशा) में था । फिर अव्यक्त भगवान् जो स्वयं अपने को रचते हैं, पंचतत्त्वों सहित अव्यक्त से व्यक्त हुए, निराकार से साकार हुए । उन्होंने जल उत्पन्न करके उसमें बीज उत्पन्न किया । वह बीज परम प्रकाशमान सुवर्णमय अण्ड की भाँति था । इसी स्वर्ण अण्ड से सब लोगों को उत्पन्न करने वाले विराट् पुरुष (ब्रह्मा) की उत्पत्ति हुई । फिर प्रजा की वृद्धि के लिए इसी विराट् पुरुष ने अपने मुख से ब्राह्मण, बाहू से क्षत्रिय, जाँघ से वैश्य और पैर से शूद्र को उत्पन्न किया । साथ ही उस प्रभु ने अपने जगत् रूपी शरीर के दो भाग किए, अर्द्धभाग पुरुष और अर्द्धभाग स्त्री था । इसी कारण मनुष्य, पशु, पक्षी, वृक्ष आदि सृष्टि के सभी जीवित प्राणियों में स्त्री-भाव और पुरुष-भाव दोनों ही पाए जाते हैं ।

मानव की उत्पत्ति कैसे हुई—इस सम्बन्ध में एक प्रसिद्ध पौराणिक कथा बाइबल की है और वह यह कि मानव की सृष्टि करने के उद्देश्य से सर्वप्रथम परमात्मा ने मिट्टी का एक पुतला बनाया और उसमें फूँक मार दी तो जिन्दा इन्सान पैदा हो गया । फिर परमात्मा ने उसकी पसली की एक हड्डी को लेकर स्त्री को बनाया । उसी प्रकार कैथोलिक धर्म में प्रचलित एक कथा इस प्रकार है कि आदम तथा ईव ने स्वर्ग में ज्ञान के वृक्ष के फलों को खा लिया था । इस अपराध के दण्डस्वरूप ईश्वर ने उन दोनों का स्वर्ग से बहिष्कार कर दिया और उन्हें पृथ्वी पर आना पड़ा । उनको बहिष्कृत करते समय ईश्वर ने उन्हें यह दण्ड दिया कि अब से ईव और उनकी कन्याएँ कष्ट से बच्चे को जन्म देंगी और आदम व उसके पुत्रों को एड़ी-चोटी का पसीना एक करके रोटी कमाना होगी ।

विभिन्न मानव-प्रजातियों का जन्म कैसे हुआ—इस सम्बन्ध में एक अति रोचक पौराणिक कथा ग्रेट स्मोकी पहाड़ के चैरोकी इण्डियनों में प्रचलित है । इस कथा के अनुसार सृष्टि के निर्माता ने एक तन्दूर गर्म किया, आटा साना और इस सने आटे की तीन मूर्तियाँ बनाईं । इन्हें पकाकर मनुष्य बनाने के लिए उस सृष्टिकर्त्ता ने इन तीनों मूर्तियों को तन्दूर की आग में रख दिया । उसे यह जानने की बड़ी उत्सुकता थी कि उसका बनाया हुआ मनुष्य कैसा होगा । उसी उत्सुकता के कारण सृष्टिकर्त्ता ने झट से एक मूर्ति को बाहर निकाल लिया । मनुष्य की यह मूर्ति अधपकी थी । इस कारण इसका रंग सफेद था । परन्तु अब उसे फिर आग में रखना भी नहीं जा सकता था क्योंकि तन्दूर में से निकालते ही वह जीवित हो गई थी । इससे स्वेत प्रजाति की उत्पत्ति हुई । परन्तु सृष्टिकर्त्ता इससे सन्तुष्ट न हुआ । इसके कुछ देर बाद उसने

दूसरी मूर्ति को निकाला। यह पक चुकी थी, इस कारण इसका रंग लाल था। इस मूर्ति से रेड इण्डियन (Red Indian) लोगों की उत्पत्ति हुई। अपनी इस अति सुन्दर सृष्टि को देखकर सृष्टिकर्ता आनन्द में इतना विभ्रित हो गया कि वह यह भूल गया कि तन्दूर में अभी एक मूर्ति पड़ी है। पर जब वह मूर्ति जलने लगी और उससे धुआँ निकलने लगा तो सृष्टिकर्ता का ध्यान उस पर गया। उसने झट उस मूर्ति को तन्दूर में से निकाला। पर तब तक वह मूर्ति जलकर काली हो चुकी थी। इससे नीची प्रजाति का जन्म हुआ।

कमार जनजाति में पृथ्वी की उत्पत्ति व निर्माण के सम्बन्ध में एक रोचक पौराणिक कथा प्रचलित है। वह कथा इस प्रकार है—एक बार महादेव जी ने इस संसार को नए तौर पर बनाने के लिये सब-कुछ का विनाश करने का निश्चय किया। एक वृद्धा को इस बात का पता चला। वह भागकर पति के पास गई और उससे सब-कुछ कहा। पति भागकर जंगल गया और एक विशाल नौका बनाई। इस नाव में उसने खाने-पीने का सामान भर दिया और फिर उरने अपने लड़के और लड़की को उस नाव के एक कमरे में बन्द कर दिया। इसके बाद बिजली, वर्षा और तूफान ने पृथ्वी को नष्ट-भ्रष्ट कर दिया। जब महादेव जी का यह विनाशकारी रूप शान्त हुआ, तब पृथ्वी का रूप भी बदल चुका था। एक भी प्राणी जीवित न बचा था। चारों तरफ पानी-ही-पानी भरा हुआ था। उसके बीच केवल वह भाई-बहन की नाव तैर रही थी। इसके बाद महादेव जी ने अपने विश्वस्त-सहचर बलिया को फिर से सृष्टि-निर्माण के लिये पृथ्वी और मनुष्य का बीज डूँढ़ने के लिये भेजा। उन्हें किसी में ये भाई-बहन मिले। बलिया ने यह संवाद महादेव जी को आकर दिया। फिर महादेव जी ने केकड़े को आज्ञा दी कि वह शीघ्र ही घरती का बीज खोजकर लाये। समुद्रतल से वह एक केंचुआ लाया, जिसकी दाढ़ को दुहकर घरती का बीज निकाला गया। इससे महादेव जी ने पृथ्वी का निर्माण किया। पृथ्वी तो बन गई, पर अभी तक आकाश नहीं बना था। महादेव जी ने चार कोनों में चार विशाल खम्भों का निर्माण किया और उस पर काली सुरही गाय का चमड़ा इस तरह लगाया कि वह पूरी तरह पृथ्वी को छा ले। यह चमड़ा फिर भी कुछ ढीला-ढाला-सा लग रहा था। इसे कसा हुआ और स्थायी बनाने के लिये महादेव जी ने उसे विभिन्न प्रकार की कीलों से जड़ दिया। आकाश उसी काली गाय का चर्म है और तारे हैं वही कीलें। इस प्रकार पृथ्वी, आकाश, तारों आदि का निर्माण हुआ। इसके पश्चात् मनुष्य को बनाने के लिये उस नाव पर के भाई-बहन को लाया गया। महादेव जी ने इन भाई-बहनों में यौन-सम्बन्ध स्थापित करवाने के लिये कई चालें चलीं, अन्त में वे इनका यौन-सम्बन्ध कराने में सफल हुए। प्रातःकाल उस कन्या ने अपने-आपको गर्भवती पाया। गर्भ में बच्चा बनने की जिस क्रिया में सामान्यतः नौ माह का समय लगना है, वह नौ कदम चलने से ही पूरा हो गया। कन्या थोड़े समय में महत्तम पुत्र-पुत्रियों को जन्म देकर मर गई। महादेव और पार्वती के आश्रम में शिशु पलने लगे। इसके बाद महादेव जी ने नाना प्रकार के अस्त्र-शस्त्र, यन्त्र-उपकरण आदि वनाये, फिर उन्हें नदी में बहा दिया। जिन्हें हल मिला वे खेती करने वाले गोंड या दूसरी जनजाति हो गये। करघा पाने वाला कोष्टी हुआ। नाई को उस्तरा मिला। इस प्रकार प्रत्येक जनजाति को जीवन-धारण के लिये आवश्यक उपकरण मिल गये। एक व्यक्ति को केवल बाँस की एक टोकरी मिली। वह भूल में पड़ा रो रहा था। महादेव जी ने

उसे धनुष-बाण देकर कहा, "तुम जंगल में शिकार करो, तुम्हारी स्त्रियाँ बाँस के बतों बना सकती हैं।" इसी से कमार जनजाति की उत्पत्ति हुई।

प्राकृतिक जगत की विभिन्न चीजों के सम्बन्ध में भी भिन्न-भिन्न जनजातीय समाजों में अनेक पौराणिक कथायें प्रचलित हैं। आकाश के सम्बन्ध में कुछ गोडों में निम्न कथा प्रचलित है। : "पहले आकाश बहुत नीचा था। एक बुढ़िया रोज सवेरे के समय अपने घर का आँगन झाड़ती थी। एक दिन जब वह आँगन साफ कर रही थी उसकी पीठ आकाश से टकराई। बुढ़िया ने नाराज होकर उसी झाड़ू से आकाश को ठेलना शुरू किया। आकाश बुढ़िया से डरकर भागा और भागकर वहाँ तक गया जहाँ आज वह है।"

सम्पूर्ण सृष्टि भगवान की माया है, इस सत्य को दर्शाने के लिये अनेक पौराणिक कथायें प्रचलित हैं। उनमें से एक इस प्रकार है—जब नारद जी ने विष्णु भगवान् से उनकी माया का रहस्य जानना चाहा तो विष्णु भगवान् ने कहा, "अच्छा मेरे साथ आओ।" दोनों आश्रम से चलकर एक सूखे मैदान में पहुँचे। धूप बहुत तेज थी। दोनों के होंठ प्यास से सूखने लगे। थोड़ी दूर पर कुछ झोंपड़ियाँ दिखाई दे रही थीं। विष्णु भगवान् एक शिला की छाया में बैठ गये और नारद जी को पानी लाने भेजा। गाँव पहुँचकर नारद जी ने एक झोंपड़ी का दरवाजा खटखटाया। एक परम सुन्दरी युवती ने दरवाजा खोला। उसका रूप यौवन देखकर नारद जी सब-कुछ भूल गये, उसी के घर बस गये। युवती से विवाह करके परम सुख से एक कृषक का जीवन व्यतीत करने लगे। श्वसुर का देहान्त होते ही वे स्वयं गृहस्वामी बन गये। उनके तीन बच्चे भी थे। एकाएक घनघोर वर्षा और फिर भीषण बाढ़ आई। घर का सारा सामान बह गया। नारद जी एक हाथ से अपनी स्त्री का हाथ पकड़े हुए और दूसरे हाथ से दो बच्चों का हाथ पकड़कर, सबसे छोटे बच्चे को कंधे पर बिठाकर अँधेरे में चलने लगे। कभी कीचड़ पड़ता, कभी भँवर। पानी की धार अलग जोर मार रही थी। एक बार वे जैसे ही डगमगाये, कंधे पर बैठा बच्चा पानी में जा गिरा। उनके मुँह से चीख निकल गई क्योंकि छोटे बच्चे से विशेष मोह था। उसे उठाने के लिये ज्यों ही दूसरे बच्चे को जिस हाथ से पकड़े हुए थे वह हाथ छुड़ाया कि छोटा बच्चा डूब चुका था, इतने में ही अन्य दो बच्चे भी बह गए। इस विपत्ति से संभल भी न पाये कि पत्नी भी धार में बह गई। नारद जी भी बेहोश होकर गिर गये। तभी आवाज आई, "वत्स! आधा घण्टा हो गया, मैं प्यास से दुःखी हो रहा हूँ। कहाँ है पानी जिसके लिये मैंने तुम्हें भेजा था?" नारद ने पीछे मुड़कर देखा तो कहीं भी वर्षा या बाढ़ का नाम तक नहीं था। बड़ी तेज धूप पड़ रही थी। पास खड़े हुए कुटिल भाव से भगवान् मुस्करा रहे थे। उनकी दृष्टि में प्रश्न था, "कुछ समझ में आ रही है मेरी माया?" नारद लज्जा से गड़े जा रहे थे।

प्रतीक

(Symbols).

मानव-व्यवहार को उचित ढंग से समझने के लिये प्रतीकों का ज्ञान परमावश्यक है। मानव चिन्तन तथा विचारों में इनका महत्त्व इतना अधिक है कि कुछ विद्वानों ने इन्हें मानव-जीवन का आधार तक माना है। प्रतीकों की सहायता से ही हम अपने विचारों, स्वरों और संस्कारों को स्थायित्व प्रदान करते हैं। इस रूप में प्रतीक संस्कृति

का एक महत्वपूर्ण अंग बन जाता है और एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी को हस्तान्तरित होता रहता है। पर, इस सम्बन्ध में और कुछ विवेचना करने से पहले प्रतीक का वैज्ञानिक अर्थ समझ लेना आवश्यक होगा, क्योंकि इसके बिना हमारे लिये प्रतीक की वास्तविक प्रकृति को समझ सकना सम्भव न होगा।

प्रतीक की परिभाषा

(Definition of Symbol)

श्री किम्बल यंग (Kimball Young) के अनुसार, “प्रतीक एक उत्तेजना है जोकि मौखिक, चित्रमय या भौतिक हो सकती है, तथा किसी वस्तु, परिस्थिति या सम्बन्ध का स्थान ग्रहण करती, संकेत देती या प्रतिनिधित्व करती है।”⁴ श्री यंग ने लिखा है कि प्रतीक किसी वस्तु, परिस्थिति आदि का प्रतिनिधित्व इस कारण कर पाता है कि उन दोनों के बीच कोई-न-कोई सम्बन्ध मानव-अनुभव में होता है। प्रतीक वास्तव में किसी चीज का एक संक्षिप्त प्रतिनिधि (an abbreviated substitute) होता है।⁵ दूसरे शब्दों में, “प्रतीक वह आईना है, जिसमें हम किसी दूसरी चीज की छवि देखते हैं, उसके वास्तविक स्वरूप को पहचानते हैं। उदाहरणार्थ, राष्ट्रीय झण्डा हमारे राष्ट्रीय जीवन का प्रतीक है, और उस प्रतीक के माध्यम से ही हम अपने सम्पूर्ण राष्ट्रीय जीवन के मूलभूत आदर्शों का दर्शन कर सकते हैं। भारतीय राष्ट्रीय झण्डे में अशोक-चक्र अंकित है। अशोक-चक्र अहिंसा, सत्य और मानव-धर्म व न्याय का प्रतीक है। उसको अपने राष्ट्रीय झण्डे में देखकर कोई भी व्यक्ति यह समझ सकता है कि हमारा यह महान् राष्ट्र सत्य, अहिंसा और न्याय के सिद्धान्तों पर आधारित है। इसी प्रकार भगवान् को हम साक्षात् रूप में नहीं देख सकते, पर उनका चित्र उनकी महिमाओं का ही संक्षिप्त सार होता है। उसी चित्र में हम अपने भगवान् का दर्शन करते, उनके आगे शीश झुकाते तथा बरदान माँगते या अपने दुःख-दर्द से छुटकारे का आवेदन प्रस्तुत करते हैं। अतः स्पष्ट है कि प्रतीक किसी वस्तु, परिस्थिति आदि का स्थान ग्रहण करता, और उसका प्रतिनिधित्व करता है। उस पर भी प्रतिनिधित्व का कार्य वह इतने सच्चे ढंग से करता है कि वास्तविक वस्तु या परिस्थिति से वही हमारे लिये अधिक वास्तविक हो उठता है। इसीलिये श्री डीवी (Dewey) ने लिखा है, ‘हम इसकी परवाह कतई नहीं करते हैं कि मूल वस्तु क्या है, हमारे लिये यही सब-कुछ होता है कि प्रतीक क्या दर्शाते, क्या सूचित करते, या किसका प्रतिनिधित्व करते हैं।’⁶

प्रो० लेस्ली व्हाइट (Leslie White) ने प्रतीक की परिभाषा प्रस्तुत करते हुए लिखा है—“प्रतीक को एक ऐसी वस्तु के रूप में परिभाषित किया जा सकता है, जिसे मूल्य या अर्थ वे लोग प्रदान करते हैं जो उसका प्रयोग करते हैं। ‘वस्तु’ शब्द का प्रयोग जान-बूझकर किया गया है, क्योंकि प्रतीक का भौतिक स्वरूप कोई भी हो सकता

4. “.....a symbol is a stimulus—largely verbal, pictorial, or material—which stands in place of, or suggests, or represents, some object, situation, or relationship, by reason of some association of the two in experience.”—Kimball Young, *op. cit.*, p. 92.

5. “The symbol is actually an abbreviated substitute for something else.”—Kimball Young, *Ibid.*, p. 92.

6. “We care nothing for what they are in themselves, but everything for what they signify and represent.”—John Dewey, *How we Think*, (F. C. and Co., Boston), 1910, p. 171.

है, और वह किसी भी भौतिक पदार्थ, रंग, ध्वनि, गन्ध, मति या स्वाद का रूप ग्रहण कर सकता है।" इस प्रकार श्री ह्वाइट के अनुसार, प्रतीक भौतिक पदार्थ, रंग, ध्वनि, गन्ध, स्वाद आदि के रूप में किसी दूसरी चीज का बोध कराता या उसका प्रतिनिधित्व करता है।" वैसे इस पदार्थ, रंग, गन्ध आदि का स्वयं कोई अर्थ या मूल्य नहीं होता, उसे एक विशिष्ट अर्थ या मूल्य देने का श्रेय तो उन्हीं को होता है जोकि इन उपादानों को प्रयोग में लाते हैं। पुस्तक के रूप में 'गीता' या 'बाइबल' का कोई मूल्य या अर्थ नहीं है, पर एक समुदाय के धार्मिक जीवन के प्रतीक के रूप में इन ग्रन्थों की तुलना किसी भी सामान्य पुस्तक के साथ नहीं की जा सकती, चाहे वह पुस्तक आर्थिक दृष्टिकोण से कितनी ही कीमती क्यों न हो। 'गीता' 'बाइबल' या 'कुरान' का अपना एक धार्मिक-सामाजिक अर्थ व मूल्य है जो इनका प्रयोग करने वाले इन्हें प्रदान करते हैं। 'गीता' का मूल्य व अर्थ हिन्दुओं के दृष्टिकोण से है और 'कुरान' का मुसलमानों की दृष्टि से। इसी प्रकार इत्र नहीं घुप की गन्ध हिन्दुओं के लिये धार्मिक पवित्रता का प्रतीक है, जबकि विजली की बत्ती नहीं, मोमबत्ती की प्रज्ज्वलित शिखा ईसाइयों के लिये आध्यात्मिक ज्ञान या प्रकाश का प्रतीक है। चमगादड़ (bat) हमारे लिये एक निम्न कोटि का पक्षी हो सकता है, पर हंटर नदी (नयी दक्षिणी वेल्स) के किनारे रहने वाली जनजातियों के सदस्यों के लिये वही पक्षी जनजातीय जीवन का प्रतीक या गोत्र-चिन्ह है। उसी प्रकार क्रॉस (Cross) का चिन्ह ईसाइयों के धार्मिक जीवन का प्रतीक है और इस एक प्रतीक से ही ईसामसीह के जीवन से सम्बद्ध अनेक घटनायें स्पष्टतः व्यक्त हो जाती हैं। राष्ट्रीय झण्डा राष्ट्र के राजनीतिक जीवन का प्रतीक होता है और उसके पीछे अनेक शहीदों के बलिदान की कहानी छिपी होती है। यहाँ तक कि रेल लाइनों के किनारे सिगनल-पोस्ट की हरी बत्ती 'लाइन क्लियर' का प्रतीक है, जबकि लाल बत्ती रेलगाड़ी के लिये रुक जाने का संकेत है। रेड इण्डियनों में नीला रंग पुरुष का और पीला रंग स्त्री का प्रतीक माना जाता है। इसी प्रकार गणित सम्बन्धी या 'शॉर्टहेण्ड' (shorthand) लिखने सम्बन्धी चिन्हों को प्रतीक माना जा सकता है। साधारण या अनभिज्ञ व्यक्तियों के लिये इन चिन्हों का कोई अर्थ न होते हुए भी उन लोगों के लिये ये चिन्ह अर्थ से भरपूर हैं जोकि उन चिन्हों को समझते हैं। उसी प्रकार बहु देव-देवियों पर विश्वास करने वाले हिन्दू अपने जीवन के विभिन्न पक्षों के प्रतीक के रूप में विभिन्न देवी या देवताओं को मानते हैं। देवी सरस्वती विद्या की प्रतीक हैं, दुर्गा माता शक्ति की प्रतीक है, ब्रह्मा सृष्टि के प्रतीक हैं, लक्ष्मी धन की प्रतीक हैं और गणेश जी सिद्धि तथा कल्याण के प्रतीक हैं। अतः स्पष्ट है कि सामाजिक जीवन में हमें कितने ही रूपों में प्रतीकों का दर्शन होता है। इन प्रतीकों का सम्बन्ध एक विशिष्ट संस्कृति के लोगों से होता है जो प्रतीकों को विकसित करते तथा उन्हें एक निश्चित अर्थ प्रदान करते हैं।

प्रतीकों के भेद

(Kinds of Symbols)

विद्वानों ने प्रतीकों के दो भेद किये हैं जोकि इस प्रकार हैं—प्रथम प्रकार के

7. "A symbol may be defined as a thing, the value or meaning of which is bestowed upon it by those who use it. I say 'thing' because a symbol may have any kind of physical form; it may have the form of a material object, a colour, a sound, an odour, a motion of an object, or a taste. —Leslie White

प्रतीकों को हम परिचयात्मक प्रतीक (Referential Symbol) कह सकते हैं। इसमें टेलीग्राफ, कोड, राष्ट्रीय झण्डा, रेलगाड़ी के गाड़ों द्वारा प्रयोग की जाने वाली लाल-हरी झण्डियाँ और अन्य इसी प्रकार के वे प्रतीक आते हैं जिनसे किसी वस्तु की सूचना या परिचय में सुगमता हो जाती है। दूसरे प्रकार के प्रतीक अत्यन्त सरल प्रकार के होते हैं और उनको संक्षिप्त प्रतीक (Condensed Symbol) कहा जाता है। उदाहरणार्थ, टेलीग्राम भेजने के लिये एक विशेष प्रकार का टिक-टिक शब्द एक विशेष अक्षर का प्रतीक बन जाता है। इसी प्रकार यात्रा के समय काने को देख लेना अशुभ घटनाओं का प्रतीक माना जाता है। एक उँगली की एक विशेष स्थिति (मुद्रा) एक विशेष भाव का प्रतीक बन सकती है। उदाहरणार्थ, 'चुप रहिए' यह कहने के लिये एक उँगली को होठों पर सीधे तौर पर रखना ही पर्याप्त होगा क्योंकि उँगली की यह स्थिति बातें न करने का ही प्रतीक है या मान लिया गया है। उसी प्रकार नृत्य में शरीर या उसके किसी अंग की एक विशेष मुद्रा, भय, क्रोध, उत्साह, अनुराग काम आदि भावों का प्रतीक बन जाती है।

प्रतीक में जिन अलग-अलग चिन्हों का प्रयोग होता है उसके आधार पर प्रतीकों को दो भागों में विभाजित करने का सुझाव कुछ विद्वान् देते हैं और वे हैं—प्राकृतिक व परम्परागत। श्री रॉस (Ross) ने लिखा है—“प्रतीक की सरलतम परिभाषा यह है कि वह एक परम्परागत चिन्ह है।”⁸ यह चिन्ह किसी चीज का प्रतिनिधित्व करता है, उसका महत्व प्रदर्शित करता है और उसके विशिष्ट अर्थ को उजागर करता है। चिन्ह प्राकृतिक भी हो सकते हैं, और परम्परागत भी। प्राकृतिक चिन्हों को भी मनुष्य अपने ज्ञान, अनुभव आदि के आधार पर एक विशिष्ट अर्थ देता है। उदाहरणार्थ, काले बादलों का घिर जाना वर्षा का प्रतीक है और मुर्गी या कौवे का बोलना सुबह के आगमन का। पर, इन प्राकृतिक प्रतीकों में कार्य-कारण का स्पष्ट सम्बन्ध होता है। इसके विपरीत परम्परागत प्रतीकों में कार्य-कारण सम्बन्ध को स्पष्टतः ढूँढ़ा नहीं जा सकता। उदाहरणार्थ जब हम धार्मिक पुस्तक को धार्मिक जीवन का प्रतीक मानते, कबूतर को शान्ति का प्रतीक मानते, और राष्ट्रीय झण्डे को अपने राष्ट्रीय जीवन का प्रतीक मानते हैं तब हम इन वस्तुओं और उनका प्रतिनिधित्व करने वाले प्रतीकों के बीच कोई कार्य-कारण सम्बन्ध ढूँढ़ नहीं सकते।

सामाजिक जीवन में प्रतीकों के कार्य (Functions of Symbols in Social Life)

सामाजिक जीवन में प्रतीकों का वास्तव में अत्यधिक महत्व है। मानव-समाज का आज रूप वह न होता, जो है—यदि मनुष्य प्रतीकों को विकसित करने में सफल न होता। यदि हम यह कहें कि प्रतीकों के कारण ही मनुष्य पशु-स्तर से ऊँचे उठकर मानव-स्तर पर पहुँच सका है, तो भी अतिशयोक्ति न होगी। हम प्रतीकों के द्वारा अनेक सामाजिक भावों, संवेगों आदि को प्रकट करते हैं सामाजिक आदान-प्रदान में भाग लेते हैं, संगीत व नृत्य में भावों को व्यक्त करते हैं, साहित्य की सृष्टि करते हैं तथा जीवन के उच्चतम आदर्शों को सार-रूप में व्यक्त करने में सफल होते हैं।

स्मरण रहे कि सम्पूर्ण भाषा की रचना प्रतीकों पर ही आधारित है श्री स्टर्टवैण्ट (Sturtevant) के अनुसार, “भाषा मुँह से उच्चारण किये जाने वाले

8. “In its simplest definition, a symbol is a conventional sign”—Ross.

प्रतीकों की वह व्यवस्था है, जिसके द्वारा एक निश्चित सामाजिक समूह के सदस्य सह-योग तथा अन्तःक्रिया करते हैं। संक्षेप में भाषा-संकेतों, यानी अक्षरों या शब्दों की अपनी एक व्यवस्था होती है। इनमें से प्रत्येक संकेत का अर्थात् अक्षर या शब्द का एक अर्थ होता है जो प्रयोग में लाने वाले अपने-अपने ढंग से लगाते हैं। हिन्दी भाषा बोलने वालों के लिये 'क' या 'माँ' का एक विशेष अर्थ है। इसी अर्थ अर्थात् प्रतीक को जब हम सीख जाते हैं तो हम भाषा भी सीख जाते हैं। भाषा के ये प्रतीक मानव की सबसे बड़ी शक्ति और मानवता के लिये सबसे बड़े वरदान हैं।

प्रतीक कला का भी एक आवश्यक अंग है। बहुधा कलाकार को जो कुछ व्यक्त करना होता है, उसका सम्पूर्ण वह अपनी कला में स्पष्टतः व्यक्त नहीं करता, वरन् विभिन्न अभिव्यक्तियों के लिये कुछ ऐसे चिन्हों या प्रतीकों को व्यवहार में लाता है जिसके माध्यम से वह अपने वास्तविक भावों की ओर देखने या सुनने वालों को संकेत करता है। देखने या सुनने वाला इन चिन्हों, प्रतीकों या संकेतों से ही यथार्थ की कल्पना कर लेता है। उदाहरणार्थ, साँप को एक टेढ़ी-मेढ़ी रेखा के प्रतीक के सहारे अभिव्यक्त किया जाता है। इसी प्रकार संगीत में भी प्रतीकों का स्पष्ट भहत्त्व है। स्वर-विशेष भाव-विशेष के प्रतीक होते हैं। उदाहरणार्थ, वियोग-व्यथा को व्यक्त करने के लिये एक विशेष स्वर का प्रतीक के रूप में प्रयोग किया जाता है, जबकि उल्लास का प्रतीक कोई दूसरा ही स्वर होता है। इसके अतिरिक्त नृत्य में विशेष प्रतीकों 'मुद्राओं' की सहायता से क्रोध, भय, अनुराग, उल्लास आदि को अभिव्यक्त किया जाता है। नर्तकी अपने मुख से यह नहीं कहती कि वह डर गई है, परे उसकी एक विशेष मुद्रा से उसके मन का वह भाव दर्शक के सामने स्पष्ट हो उठता है। इन प्रतीकों के बिना कला, संगीत, नृत्य सभी कुछ अर्थविहीन हो जाता है। इनका विकास प्रतीक के बिना सम्भव ही नहीं था। इसी प्रकार क्रॉस (Cross) का चिन्ह ईसाइयों का एक धार्मिक प्रतीक है; और इस एक प्रतीक से ही ईसामसीह के जीवन की कई घटनाएँ एकदम व्यक्त हो उठती हैं। अतः स्पष्ट है कि प्रतीक संक्षिप्त या छोटा होने पर भी अपने-आपमें एक ऐसा साधन होता है। जिसके द्वारा मानव के अनेकानेक विचार एवं मनो-भाव दूसरों तक सहज ही पहुँच जाते हैं।

श्री लेस्ली ह्वाइट (Leslie White) के अनुसार शब्द से ही मनुष्य और संस्कृति का श्री गणेश हुआ। सारा मानव-व्यवहार प्रतीकों के प्रयोग से ही रूप लेता है। प्रतीकों ने ही हमारे पूर्वज पशुओं को मानव बनाया है; प्रतीकों की सहायता से ही गूँगे-बहरे, व्यक्तिओं में भी व्यक्तित्व का उत्तम विकास सफलता से किया जा सकता है, और प्रतीक ही सामाजिक व्यवहारों में और, इस कारण, सामाजिक जीवन में एकरूपता व संगठन ले आते हैं। श्री रॉस (Ross) का कथन है कि सामाजिक प्रतीक समाज के सदस्यों को एक सूत्र में बाँधते हैं, और उन्हें उन धारणाओं, संवेगों तथा मूल्यों में भाग लेने का अवसर प्रदान करते हैं जो सामूहिक जीवन को इढ़ता प्रदान करते हैं। अगर प्रतीक के रूप में राष्ट्रीय झण्डा हमारे अन्दर राष्ट्रीयता या देश-प्रेम की भावना को कूट-कूट भर सकता है, तो क्रॉस हमारे अन्तर को धार्मिक भावों से परिपूर्ण कर सकता है। इसी प्रकार 'महाशय' कहकर हम अपने क्षादर-भाव को प्रकट करते हैं, दो बलों की जोड़ी देखकर सम्पूर्ण कांग्रेस-पार्टी को याद करते हैं और एक विशेष ढंग से हाथ हिलाकर अपने प्रियजन को बिदा देते हैं। इस प्रकार अधिकांश मानव-व्यवहार प्रतीकों के प्रयोग से ही बना है और उसी पर आधारित है।

प्रतीकों का एक और महत्व यह है कि इनके माध्यम से सामाजिक तथा वैयक्तिक व्यवहारों को संगठित व नियन्त्रित करने में मदद मिलती है। इसका कारण यह है कि, जैसाकि श्री डुर्खीम (Durkheim) ने लिखा है, प्रतीक सामूहिक चेतना का सामूहिक प्रतिनिधित्व करता है। राष्ट्रीय जीवन के प्रतीक के रूप में राष्ट्रीय झण्डा राजनीतिक एकता तथा आत्मत्याग की भावना को जागृत करता है और इसी कारण राष्ट्रीय विपदा या संकट के समय समस्त भेद-भावों को भुलाकर राष्ट्र के सभी नागरिक एक ही झण्डे के नीचे एकत्रित व संगठित हो जाते हैं और उसी रूप में संकट का सामना करते हैं। चुनाव के समय विभिन्न राजनीतिक दल विभिन्न प्रतीकों का प्रयोग करते हैं और उसी के आधार पर वोट मांगते हैं। उदाहरणार्थ, पिछले आम चुनाव में जनता पार्टी का चुनाव-चिन्ह 'हलधर किसान' था। इस पार्टी के नेता यह कहकर वोट मांग रहे थे कि यह चिन्ह कृषि-प्रधान देश भारत की आत्मा (किसान वर्ग) व कृषि के उपकरण (हल) का प्रतीक है। प्रतीक कायर को भी वीर बना सकता है—महान् आदर्शों से उसके व्यक्तित्व को ओत-प्रोत भी कर सकता है और उसे सत्य की खोज में मर मिटने की गिष्ठा प्रधान कर सकता है श्री कैसिरेर (Cassirer) के शब्दों में प्रतीक विश्व तथा आत्मा व एक समन्वय है (It is a synthesis of world and spirit.) ।

हिन्दुओं के कुछ परम्परागत प्रतीक (Some Traditional Symbols of Hindus)

हिन्दुओं के कुछ परम्परागत प्रतीकों, जिनका कि सम्बन्ध उनके धार्मिक या संस्कारात्मक जीवन से है, का उल्लेख यहाँ किया जा सकता है। उनमें जल, पशु, नटराज, नाग, त्रिशूल, दीप शंख आदि विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। यदि दीप प्रकाश, ज्योति या ज्ञान का प्रतीक है तो त्रिशूल अत्याचारियों के दमन हेतु प्रयोग में लाए जाने वाले उपकरण का प्रतीक है। कुछ प्रतीकों का प्रो० विश्वनाथ शुक्ल ने इस प्रकार विस्तारपूर्वक विवेचन किया है—

(अ) जल—जल को सृष्टि-शक्ति का प्रतीक माना गया है। जल जीवन का आधार है। जल के बिना फसल, वृक्ष यहाँ तक कि कीड़े-मकोड़ों का भी उत्पन्न होना सम्भव नहीं है। कहा जाता है आरम्भ में कुछ भी नहीं था, केवल जल था। भगवान् नारायण अपने द्वारा उत्पन्न किए अथवा सदैव से उनके साथ रहने वाले जल में ही निवास करते हैं। इसीलिए उन्हें 'नारायण' कहते हैं। 'नारा' का अर्थ है जल और 'अयन' का अर्थ है निवास। इस प्रकार नारायण का अर्थ है 'वह जो जल में निवास करता हो' (मनु, 1/10; वनपर्व, 273/42)। जब सृष्टि का प्रलय होता है तो जल ही उसमें कारण बनता है। यज्ञ, संस्कार, पर्व आदि का अनुष्ठान करते समय ईश्वर की जल-भरे कलश के रूप में स्थापना की जाती है। पितरों का जल से दर्पण किया जाता है जोकि हृदय से उनका स्मरण कर उनके प्रति कृतज्ञता प्रकाशन का प्रतीक बन जाता है। हिन्दुओं के ब्रह्म विवाह में कन्यादान एक प्रमुख संस्कार है जिसमें कन्या का पिता या अन्य संरक्षक हाथ में जल लेकर लड़के को दान देने का संकल्प करता है और अपनी कन्या का दान करते हैं।

(ब) पशु—पशु भारतीय संस्कृति में प्राचीनकाल से ही ऐश्वर्य, समृद्धि व आशा का प्रतीक है। लक्ष्मी धन और सौभाग्य की देवी हैं और उनका आसन पशु ही है। उसी प्रकार भगवान् 'पद्मपाणि' और पद्ममाली ही नहीं हैं, अपितु उनके हाथ बर्ण, कोमलता और सुडील आकार की दृष्टि से कमल जैसे कहे जाते हैं, और हाथ से भी

अधिक उनके चरणकमलों की भहिमा वर्णन की गई है। ब्रह्मा विष्णु-नागि से निकले। यह कमल पर विराजमान रहते हैं। बौद्ध परम्परा में कमल को न केवल सृष्टि-पदार्थों का आदि रूप वरन् सम्पूर्ण सृष्टि का ही सूचक या प्रतीक मान लिया गया है। बोधिसत्व अवलोकितेश्वर का पद्म धारण करना उनका सृष्टि-जगत् दो धारण करने के ही समान है। प्रथम उत्पन्न वस्तु कमल तथा प्रकाश के आदि स्रोत सूर्य में बहुत घनिष्ठ सम्बन्ध माना जाता है। पद्म और प्रकाश सहोदर हैं। पद्म अपने सहोदर सूर्य के प्रकाश को देखकर प्रसन्न होता है, खिल उठता है। कमल यदि पृथ्वी या सृष्टि का प्रतीक है तो सूर्य तेज और ज्ञान का। इस ज्ञान और तेज के आश्रय से ही सृष्टि का विकास होता है। जैसे अन्धकार में कमल सिकुड़ जाता है, वैसे ही अन्धकार रूप अज्ञान से जगत् रूपी कमल अवसाद को प्राप्त होता है।

(स) नटराज—नटराज या शंकर भगवान् नृत्यकला के प्रतीक हैं। अनेक अन्य कलाओं की भांति नृत्यकला के भी प्रथम गुरु और आदि प्रवर्तक रुद्र या शंकर ही हैं। भारतवर्ष में विशेषकर दक्षिण में 10वीं और 12वीं शताब्दी के बीच की शिवजी की नृत्य-मुद्रा में कई मूर्तियाँ मिली हैं। प्रो० कुमारस्वामी ने शिवजी के तीन प्रकार के नृत्यों का उल्लेख किया है—(अ) सायंकालीन नृत्य जिसमें 'शूलपाणि' कैलाश के शिखरों पर नृत्य करते हैं और जोकि आनन्द व उल्लास का प्रतीक है। (ब) ताण्डव नृत्य जोकि शिवजी की संहारशील प्रकृति का प्रतीक है जोकि क्षमशान-स्थल में सम्पन्न होता है। (स) नादान्त नृत्य जोकि चिदम्बरम नामक स्थान पर सम्पन्न होता है। दक्षिण के शैव चिदम्बरम को विश्व का केन्द्र माना जाता है। यह नृत्य दुष्ट जनों पर विजय का प्रतीक है। मुख्य बात यह है कि नटराज या शंकर भयंकर-रूप 'रुद्र' भी हैं और कल्याण-रूप 'शिव' भी। संहार या प्रलय में भय अवश्य है, पर भयंकर दिखाई देने वाले 'रुद्र' अपने मंगलमय शिव-रूप में भक्तों को सुख और शान्ति भी प्रदान करते हैं। नटराज इन दोनों ही परिणामों के प्रतीक माने जाते हैं।

भारतीय जाति-प्रथा अपनी तरह की एक विचित्र और रोचक संस्था है। घम की सीमा के बाहर हिन्दुओं का जो कुछ भी अपनापन है उसकी अनोखी अभिव्यक्ति यह जाति-प्रथा है। वास्तव में यह संस्था हिन्दू जीवन को दूसरों से इतना पृथक् कर देती है कि सैकड़ों भारतीय और विदेशी विद्वानों का ध्यान इस संस्था की ओर आकर्षित हुआ है।

निश्चित अर्थ में भारत जाति-प्रथा का आगार है और यहाँ शायद ही कोई सामाजिक समूह ऐसा हो जो इसके प्रभाव से अपने को मुक्त रख सका हो। मुसलमान और ईसाई तक भी इसके पंजे में फँस चुके हैं, चाहे उसका स्वरूप ठीक वैसा न हो जैसा हिन्दुओं में है। दूसरी बात यह है कि प्रारम्भ में जाति-प्रथा इतनी जटिल न थी जितनी कि बाद में हुई। समय के परिवर्तन के साथ इसका स्वरूप भी परिवर्तित होता गया और अन्त में यह न केवल जटिल बल्कि विचित्र भी हो गई। आज भारतवर्ष में लगभग 3000 जातियाँ और उपजातियाँ हैं और उनके अध्ययन के लिये, जैसा कि श्री हट्टन (Hutton) का कथन है, विशेषज्ञों की एक सेना (an army of specialists) की आवश्यकता होगी। यही कारण है कि असंख्य विद्वानों ने इस जाति-प्रथा के सम्बन्ध में अनेक गम्भीर विश्लेषण प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया है। इन विद्वानों में इतिहासकारों का उल्लेख सर्वप्रथम किया जा सकता है, जिन्होंने जाति-प्रथा को ऐतिहासिक घटनाओं के साथ जोड़कर विभिन्न युगों में इसमें होने वाले परिवर्तनों पर प्रकाश डाला है। इसके बाद भारतशास्त्रियों (Indologists) ने व्याख्यात्मक रूप में जाति-प्रथा को प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया है। इतना ही नहीं, भारतीय जनगणना आयुक्त, अंग्रेज मिशनरियों तक ने भारतीय जाति-प्रथा को अच्छता नहीं रखा और अपने-अपने दृष्टिकोण से जाति-प्रथा की विचित्रता और महत्ता को स्पष्ट करने का प्रयत्न किया है। इसके अध्ययन व विश्लेषण तथा निरूपण में अनेक त्रुटियाँ हैं और इन त्रुटियों को दूर करने का उत्तरदायित्व स्वाभावतः ही सामाजिक वैज्ञानिकों पर आ पड़ा है। फलतः अनेक समाजशास्त्रियों और मानवशास्त्रियों ने वैज्ञानिक आधार पर भारतीय जाति-प्रथा को समझने और समझाने का प्रयास किया है।

समाजशास्त्रियों और मानवशास्त्रियों ने इस जाति-प्रथा का विभिन्न दृष्टिकोणों से अध्ययन करने का प्रयत्न किया है। कुछ विद्वानों ने जाति-प्रथा की उत्पत्ति को समझाया है, तो कुछ ने जाति-प्रथा की गतिशीलता की ओर हमारा ध्यान आकर्षित करते हुये आधुनिक समय में जाति-प्रथा में होने वाले परिवर्तनों का विश्लेषण किया है। ऐसे भी अनेक विद्वान हैं जिन्होंने हिन्दू सामाजिक व्यवस्था में जाति-प्रथा के महत्व या कार्यों का निरूपण किया है, फिर भी समग्र भारतीय

जाति-प्रथा का पूर्ण विश्लेषण व निरूपण पूर्ण रूप से आज भी प्रस्तुत किया जा रहा है या नहीं इस विषय में अब भी सन्देह है। अतः इस अध्याय में हम जाति-प्रथा के सम्बन्ध में अधिक-से-अधिक एक विनम्र रूपरेखा (humble outline) ही प्रस्तुत कर सकेंगे।

जाति की परिभाषा

(Definition of Caste)

अंग्रेजी का 'Caste' शब्द पुर्तगाली शब्द *casta* से बना है जिसका अर्थ प्रजाति, जन्म या भेद होता है। इस अर्थ में जाति-प्रथा प्रजातीय या जन्मगत भेद के आधार पर एक व्यवस्था है। परन्तु जैसाकि आगे चलकर स्पष्ट होगा, भारतीय जाति-प्रथा इस आधार पर नहीं समझी जा सकती।

रॉबर्ट बीरस्टेड (Robert Bierstedt) ने जाति-प्रथा की एक सामान्य परिभाषा देते हुए लिखा है कि जब वर्ग-प्रथा का ढाँचा एक या अधिक विषयों पर पूर्णतया बन्द होता है तो उसे जाति-प्रथा कहते हैं। आपने 'पूर्णतया बन्द' वाक्यांश (phrase) को स्पष्ट करते हुए आगे लिखा है कि पूर्णतया खुली वर्ग-प्रथा या पूर्णतया बन्द जाति-प्रथा, ये दो सम्पूर्ण विपरीत किनारे हैं और यह सन्देहयुक्त है कि किसी भी समाज में इस प्रकार के उग्र रूप पाये जाते हैं। समस्त वास्तविक समाजों में सामाजिक गतिशीलता के सम्बन्ध में कुछ प्रतिबन्ध अवश्य ही होते हैं, चाहे वे कितने ही उदार क्यों न हों। इसी प्रकार प्रत्येक वास्तविक समाज में कुछ सामाजिक गतिशीलता भी होती है, चाहे उसे प्रोत्साहित न किया जाये।¹

सर हर्बर्ट रिजले (Sir Herbert Risley) के अनुसार, "जाति परिवारों या परिवारों के समूह का एक संकलन है जिनका कि एक सामान्य नाम है, जो एक काल्पनिक पूर्वज, मानव या देवता, से एक सामान्य वंश-परम्परा या उत्पत्ति का दावा करते हैं, एक ही परम्परात्मक व्यवसाय को करने पर बल देते हैं और एक सजातीय समुदाय के रूप में उनके द्वारा मान्य होते हैं जो अपना ऐसा मत व्यक्त करने के योग्य हैं।"²

आलोचना—(1) श्री हट्टन (Hutton) के अनुसार श्री रिजले की उपरोक्त परिभाषा में सबसे बड़ा दोष यह है कि इसमें जाति और गोत्र की धारणाओं को

1. "When class structure is completely closed at one or more points we have a caste structure.....A completely open class system and a completely closed caste system, of course, are limiting cases polar opposites as it were, and it is doubtful if these extremes are represented by any society. In all actual societies there are some barriers to vertical social mobility, no matter how tenuous they may be, and in all actual societies too there is some vertical mobility, even though it may not be encouraged."—Robert Bierstedt, *The Social Order*, McGraw-Hill Book Co., New York, 1957, p. 407.

2. "Caste is a collection of families or group of families bearing a common name claiming a common descent from a mythical ancestor, human or divine; professing to follow the same hereditary calling; and regarded by those who are competent to give an opinion as forming a single homogeneous community." Sir Herbert Risley, *The People of India*, London, 1915, p. 5.

मिलाकर भ्रम पदा कर दिया है। काल्पनिक पूर्वज से वंश-परम्परा या उत्पत्ति का दावा गोत्र के लोग मानते हैं, न कि जाति के लोग। जाति का कोई काल्पनिक सामान्य पूर्वज नहीं होता, यहाँ तक कि विभिन्न भाषा-भाषी प्रदेशों में ब्राह्मण एक-दूसरे से अलग हैं। जहाँ तक ब्रह्मा से उत्पत्ति की बात है यह माना जाता है कि विभिन्न जातियों की उत्पत्ति ब्रह्मा के विभिन्न अंगों से हुई है। इस दृष्टिकोण से भी जातियाँ विभिन्न काल्पनिक पुरुषों या देवताओं को अपना पूर्वज नहीं मानतीं। इस सम्बन्ध में इतना तो अवश्य कहा जा सकता है कि कायस्थ तथा अन्य कुछ जातियाँ विभिन्न काल्पनिक पूर्वजों से अपनी उत्पत्ति का दावा अवश्य ही करती हैं। परन्तु इन इनी-गिनी जातियों के इस दावे को सभी जातियों पर सामान्य रूप से लागू करके एक सामान्य निष्कर्ष निकालना उचित न होगा।

(2) यह परिभाषा भारतीय जाति-प्रथा की एक अधूरी परिभाषा है क्योंकि इसमें जाति के अनेक आवश्यक पक्षों की अवहेलना की गई है। इस परिभाषा को देखने से ऐसा लगता है कि जाति-प्रथा के दो आवश्यक अंग हैं। प्रथम तो यह कि जाति परिवारों का एक संकलन है जोकि एक काल्पनिक पुरुष या देवता से उत्पत्ति का दावा करते हैं और दूसरा यह कि प्रत्येक जाति का एक वंश-परम्परागत पेशा होता है। यह कहना अनावश्यक है कि केवल दो तत्त्वों या विशेषताओं के आधार पर जाति-प्रथा का सम्पूर्ण विश्लेषण सम्भव नहीं है। इन दो तत्त्वों से अधिक-से-अधिक जाति-प्रथा के संरचनात्मक (structural) पक्ष का ही ज्ञान होता है और संस्थात्मक (institutional) या प्रकार्यात्मक (functional) पहलुओं पर भी प्रकाश नहीं पड़ता है। इस दृष्टिकोण से यह परिभाषा अधूरी व त्रुटिपूर्ण है क्योंकि जाति-प्रथा का संस्थात्मक या प्रकार्यात्मक पक्ष उसके संरचनात्मक पक्ष से कहीं अधिक महत्वपूर्ण है।

(3) श्री रिजले की परिभाषा का तीसरा दोष यह है कि उन्होंने एक जाति को केवल उन व्यक्तियों की राय में एक सजातीय समुदाय माना है जोकि अपना ऐसा मत व्यक्त करने के योग्य हैं। रिजले का यह कथन अस्पष्ट और अवैज्ञानिक है। जाति को मान्यता देने वाले कुछ विशिष्ट व्यक्तियों की कल्पना वास्तव में काल्पनिक ही है क्योंकि इस प्रकार के किसी विशिष्ट समूह का अस्तित्व न तो है और न ही हो सकता है! साथ-ही-साथ श्री रिजले की परिभाषा से यह भी पता नहीं चलता है कि मत या राय व्यक्त करने के योग्य कौन से व्यक्ति हैं और उनकी राय व्यक्त करने की योग्यता किन बातों पर निर्भर करती है। इसीलिए वैज्ञानिक परिभाषा के रूप में रिजले की परिभाषा को स्वीकार नहीं किया जा सकता।

(4) श्री रिजले ने जाति की एक समुदाय के रूप में कल्पना की है परन्तु समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण से यह त्रुटिपूर्ण है। समुदाय सामान्य मानवीय आवश्यकता की पूर्ति के लिए एक निश्चित भू-भाग में व्यक्तियों का वह समूह है जो सामुदायिक भावना और कुछ सामान्य नियमों पर आधारित या संगठित हो; अतः स्पष्ट है कि समुदाय का एक प्रमुख आधार निश्चित भू-भाग है, परन्तु जाति इस शर्त को पूरा नहीं करती है। एक ही जाति के लोग देश या दुनिया के विभिन्न भागों में बिखरे रहते हैं। उनका कोई निश्चित भू-भाग नहीं होता। इसके अतिरिक्त, जाति के लोगों में उस सामुदायिक भावना का भी अभाव होता है जोकि एक समुदाय के निर्माण के लिए बहुत आवश्यक है। जाति-प्रथा का आधार ही ऊँच-नीच की भावना है जिसके कारण एक ही जाति में अनेक विभाजन और उप-विभाजन देखने को मिलते हैं।

श्री ब्लण्ट (Blunt) के अनुसार, "एक जाति एक अन्तर्विवाही समूह या अन्तर्विवाही समूहों का संकलन है, जिसका एक सामान्य नाम है, जिसकी सदस्यता वंशानुगत है, जो अपने सदस्यों पर सामाजिक सहवास के सम्बन्ध में कुछ प्रतिबन्ध लगाती है; एक सामान्य परम्परागत पेशे को करती है या एक सामान्य उत्पत्ति का दावा करती है और सामान्यतया एक समरूप समुदाय को बनाने वाली समझी जाती है।"¹³

समालोचना—(अ) श्री ब्लण्ट की परिभाषा में बहुत-कुछ वही दोष हैं जिनका उल्लेख श्री रिज्जले की परिभाषा में किया गया है। श्री ब्लण्ट ने भी यह गलती की है; उनके अनुसार जाति एक सामान्य उत्पत्ति का दावा करती है। अधिकतर जातियाँ सामान्य उत्पत्ति का दावा नहीं करतीं। यह दावा केवल गोत्र ही करते हैं। (ब) श्री रिज्जले की भाँति श्री ब्लण्ट ने भी जाति को एक समरूप समुदाय के रूप में कल्पित करने की गलती की है। यह कल्पना, जैसाकि हम ऊपर एक चुके हैं, अवैज्ञानिक तथा त्रुटिपूर्ण है।

इन त्रुटियों के होते हुए भी श्री ब्लण्ट की परिभाषा से जाति-प्रथा के न केवल संरचनात्मक पक्ष का स्पष्टीकरण होता है बल्कि संस्थात्मक पक्ष के सम्बन्ध में भी कुछ ज्ञान सम्भव होता है। उदाहरणार्थ, श्री ब्लण्ट ने अपनी परिभाषा में यह उल्लेख किया है कि जाति एक अन्तर्विवाही समूह है। वास्तव में अन्तर्विवाह का नियम जाति-प्रथा की एक प्रमुख विशेषता है। साथ-ही-साथ उपरोक्त परिभाषा से यह भी स्पष्ट है कि जाति अपने सदस्यों पर सामाजिक सहवास के सम्बन्ध में कुछ प्रतिबन्ध लगाती है। इस प्रकार के प्रतिबन्धों में, जैसाकि हम आगे चलकर देखेंगे, खान-पान से सम्बन्धित प्रतिबन्ध विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। साथ-ही-साथ, श्री ब्लण्ट की परिभाषा से यह भी स्पष्ट है कि जाति की सदस्यता वंशानुगत या जन्म पर आधारित है। वास्तव में यह भी जाति-व्यवस्था की एक उल्लेखनीय विशेषता है।

श्री केतकर (Ketkar) के अनुसार, "जाति एक सामाजिक समूह है जिसकी दो विशेषतायें हैं—(1) जाति की सदस्यता उन व्यक्तियों तक ही सीमित है जोकि उस जाति-विशेष के सदस्यों से ही पैदा हुए हैं और इस प्रकार उत्पन्न होने वाले सभी व्यक्ति जाति में आते हैं; (2) जिसके सदस्य एक अविच्छिन्न सामाजिक नियम के द्वारा अपने समूह के बाहर विवाह करने से रोक दिए गए हैं।"¹⁴

समालोचना—(क) यह परिभाषा वास्तव में जाति-व्यवस्था की एक अति-

3. "A caste is an endogamous group, or collection of endogamous groups, bearing a common name, membership of which is hereditary; imposing on its members certain restrictions in the matter of social intercourse; either following a common traditional occupation or claiming a common origin; and generally regarded as forming a single homogeneous community."
—E. Blunt, *Social Service in India*, His Majesty's Stationary Office, London, 1946, p. 50. (It is an expansion of Sir Edward Gait's definition in *Hastings' Encyclopaedia of Religion and Ethics*.)

4. "Caste is a social group having two characteristics—(i) Membership is confined to those who are born of members, and includes all persons so born; (ii) The members are forbidden by an inexorable social law to marry outside the group."—S. V. Ketkar, *History of Casts in India*, Ithaca, New York, 1909, p. 15.

सीमित परिभाषा है क्योंकि इससे केवल जाति-प्रथा की दो विशेषताओं का ही स्पष्टीकरण होता है। श्री केतकर की परिभाषा से यह पता चलता है कि जाति के सदस्यों से पैदा हुये व्यक्ति ही उस जाति के सदस्य हैं। परन्तु व्यावहारिक रूप से ऐसा होगा ही इसका निश्चितता नहीं है। जैसा कि डॉ० शर्मा ने लिखा है ऐसे अनेक व्यक्ति हैं जिनकी अपनी जाति की सदस्यता इस आधार पर ठीक नहीं मानी जायगी। श्री केतकर की परिभाषा जाति के आदर्शात्मक पहलु पर जोर देती है, न कि व्यावहारिक पक्ष पर। (ख) जाति-प्रथा में एक ऊँच-नीच का संस्तरण होता है। साथ ही जाति-प्रथा हिन्दू-समाज को विभिन्न खण्डों तथा उपखण्डों में विभाजित करती है। श्री केतकर की उपरोक्त परिभाषा में इनमें से किसी भी विशेषता का आभास नहीं होता है। फलतः जाति-प्रथा के सम्बन्ध में हमें अधिक-से-अधिक एक धुँधला ज्ञान प्राप्त होता है। (ग) श्री केतकर की परिभाषा में जाति-व्यवस्था के अन्तर्गत पाए जाने वाले खान-पान सम्बन्धी प्रतिबन्धों का कुछ भी उल्लेख नहीं मिलता और न ही जाति के सांस्कृतिक पहलुओं का कोई स्पष्ट आभास हो पाता है। यह श्री केतकर की परिभाषा की एक प्रमुख दुर्बलता है।

श्री दोल (Bougle) के जाति-प्रणाली के विश्लेषण के आधार पर सर्वन्धी ड्यूमों (Dumont) और पोकाक (Pocock) ने जाति-प्रणाली की परिभाषा इस प्रकार की है—“एक समाज जाति-प्रणाली से प्रभावित है, यदि वह समाज परस्पर विरोधी अनेक समूहों में बँटा हुआ है, जो वंशानुगत रूप से विशेषीकृत हैं और संस्तरण के आधार पर श्रेणीबद्ध हैं—यदि, सिद्धान्ततः, यह प्रणाली न नए सदस्यों को स्वीकार करती है और न ही रक्त-सम्मिश्रण तथा पेशों में परिवर्तन को ही।”⁵

उपरोक्त परिभाषा में जाति-प्रथा के तीन प्रमुख तत्त्वों की ओर संकेत किया गया है—प्रथम तो यह है कि जाति-प्रथा के अन्तर्गत प्रत्येक जाति एक-दूसरे की विरोधी होती है और उसी आधार पर पृथक्-पृथक् समूह में बँट जाती है। द्वितीय, सम्पूर्ण जाति-व्यवस्था जन्म पर आधारित है और उसी आधार पर प्रत्येक जाति में पेशा, रक्त विवाह आदि में विशेषीकरण देखने को मिलता है और इसी विशेषीकरण के आधार पर प्रत्येक जाति और भी स्पष्टतः एक-दूसरे से पृथक् हो जाती है। तृतीय, प्रत्येक जाति को कुछ विशेष अधिकार मिले हुए हैं जिनके आधार पर विभिन्न जातियों में एक ऊँच-नीच का संस्तरण होता है। चूँकि ब्राह्मणों को सबसे अधिक विशेषाधिकार मिले हुए हैं इस कारण जातीय संस्तरण में उनका स्थान सबसे ऊपर है। इसके बाद क्रमशः अधिकार के आधार पर क्षत्रिय, वैश्य और शूद्रों की स्थिति है।

उपरोक्त विवेचना के आधार पर अन्तिम रूप में हम कह सकते हैं कि जाति मुख्यतः जन्म के आधार पर सामाजिक संस्तरण और खण्ड-विभाजन की वह गतिशील व्यवस्था है जो खाने-पीने, विवाह, पेशा और सामाजिक सहवासों के सम्बन्ध में अनेक या कुछ प्रतिबन्धों को अपने सदस्यों पर लागू करती है।⁶ इस सम्बन्ध में यह स्मरणीय

5. “A Society is subject to this system, if it is divided into a large number of mutually opposed groups which are hereditarily specialized and hierarchically arranged—if, on principle, it tolerates neither parvenu, nor miccegenation, nor a change of profession.”—L. Dumont and D. Pocock, *Contributions to Indian Sociology*, No. 2, Mouton & Co., Paris, 1948, p. 9.

6. “Based primarily on birth, caste is dynamic system of social hierarchy and segmental division which enforces on its members more or less rigid restrictions in regards to eating and drinking, marriage, occupation and social intercourses.”

—The Author

है कि जाति-व्यवस्था गतिशील है और इसके प्रतिबन्ध भी अन्तिम नहीं हैं; जैसे धन या प्रतिष्ठा या सत्ता (authority) के आधार पर एक व्यक्ति अपनी जाति को भी बदल सकता है और बदलता भी है। ग़रीबी कारण है कि जाति की कोई अन्तिम परिभाषा प्रस्तुत करना वास्तव में कठिन है और सर्वश्री हूटन, दत्ता, घुरिये अदि विद्वानों ने जाति की परिभाषा न देकर केवल उसकी प्रमुख विशेषताओं का ही उल्लेख करना अधिक उचित समझा है।

जाति-प्रथा की प्रमुख विशेषतायें (Main features of Caste System)

श्री दत्ता के अनुसार—श्री एन० के० दत्ता (N. K. Dutta) ने जाति-प्रथा की निम्नलिखित छः विशेषताओं का उल्लेख किया है—“(1) एक जाति के सदस्य जाति के बाहर विवाह नहीं कर सकते; (2) प्रत्येक जाति में दूसरी जातियों के साथ खाने पीने के सम्बन्ध में कुछ-न-कुछ प्रतिबन्ध होते हैं; (3) अधिकतर जातियों के पेशे निश्चित हैं; (4) जातियों में एक ऊँच-नीच का संस्तरण है, जिसमें ब्राह्मण जाति की स्थिति सर्वोच्च रूप से सबसे ऊपर है; (5) जन्म ही एक व्यक्ति की जाति को जीवन-पर्यन्त निश्चित करता है, केवल जाति के नियमों को तोड़ने पर उसे जाति से बहिष्कृत किया जा सकता है, नहीं तो एक जाति से दूसरी जाति में जाना सम्भव नहीं है; (6) सम्पूर्ण व्यवस्था ब्राह्मणों की प्रतिष्ठा पर निर्भर है।”

श्री दत्ता का उपरोक्त वर्णन भारतीय जाति-प्रथा की सामान्य विशेषताओं को प्रस्तुत करता है और ये काफी सत्य भी हैं। परन्तु श्री दत्ता का यह कथन पूर्णतया सच नहीं है कि केवल जन्म ही एक व्यक्ति की जाति को आजन्म काल के लिये निश्चित करता है। वर्तमान समय में एक व्यक्ति को अपनी जाति को बदलने में विशेष कठिनाई नहीं होती। उदाहरणार्थ, एक जाति से दूसरी जाति में धन, प्रतिष्ठा, सत्ता या अपरिचितता के आधार पर प्रवेश किया जा सकता है। ऐसे उदाहरण भी हैं कि कभी-कभी राजाओं ने भी कुछ व्यक्तियों को ऊँची जाति में रखा। उत्तर प्रदेश के उन्नाव जिले में एक राजा ने एक शूद्र परिवार को ब्राह्मण बना दिया। उसी प्रकार नगरों में जनसंख्या की बहुलता व विविधता होती है और ऐसे सन्तुहायों में अधिकतर व्यक्ति एक-दूसरे को व्यक्तिगत रूप में नहीं जानते-पहचानते हैं। इस अवस्था से पूरा लाभ उठाकर कुछ लोग अपने को अपनी मूल जाति से उच्च जाति का सदस्य कहने लगते हैं। इसलिये वर्तमान परिस्थितियों में यह कहना उचित न होगा कि व्यक्ति अपनी जाति को बदल ही नहीं सकता। पर हाँ, इतना अवश्य है कि इस प्रकार का परिवर्तन साधारणतया नहीं होता है और श्री दत्ता भी यही कहना चाहते हैं।

डॉ० घुरिये के अनुसार—डॉ० घुरिये (Dr. Ghurje) ने जाति-प्रथा के

7. “Members of a caste cannot marry outside it; there are similar but less rigid restrictions on eating, drinking with a member of another caste; there are fixed occupations for many castes, there is some hierarchical gradation of castes, the best recognized positions being that of the Brahmins at the top, birth determines a man's caste for life unless he be expelled for violation of its rules, otherwise, transition from one caste to another is not possible, the whole system turns on the prestige of Brahmins.” N. K. Dutta, *Origin and Growth of Caste in India*, Vol. I. The Book Co; Calcutta. 1931. p. 3.

संरचनात्मक और संस्थात्मक दोनों पक्षों को स्पष्ट करते हुए निम्नलिखित विशेषताओं का उल्लेख किया है⁷⁸—

1. समाज का खण्डात्मक विभाजन (Segmental division of Society)— भारतीय जाति-प्रथा ने हिन्दू समाज को विभिन्न खण्डों में विभाजित कर दिया है और खण्ड के सदस्यों की स्थिति, पद, स्थान और कार्य भी सुनिश्चित हैं। इस प्रकार खण्ड-विभाजन का तात्पर्य, डॉ० घुरिये के अनुसार, यह है कि जाति-प्रथा द्वारा आबद्ध समाज में सामुदायिक भावना सीमित होती है और समग्र समुदाय के प्रति न होकर एक जाति के सदस्यों का पहले अपनी जाति के प्रति नैतिक कर्तव्य-बोध होता है।⁷⁹ वे इन नैतिक नियमों या कर्तव्य-बोध के द्वारा अपने पद और कार्य पर दृढ़ रहते हैं और यदि कोई इसको तोड़ता है तो उस पर जुर्माना होता है और कभी-कभी उसे जाति से निकास दिया जाता है। इसी अर्थ में एक जाति के सदस्यों में सामुदायिक भावना सीमित होती है।

2. संस्तरण (Hierarchy)—जाति-प्रथा द्वारा निर्धारित विभिन्न खण्डों में ऊँच-नीच का एक संस्तरण या चढ़ाव-उतार होता है और इसमें, परम्पराओं के अनुसार, प्रत्येक जाति का स्थान जन्म पर आधारित होता है। इस संस्तरण में सबसे श्रेष्ठ ब्राह्मणों की स्थिति होती है, इसके बाद क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र का स्थान क्रमशः निम्न होता गया है। यह संस्तरण मुख्यतः जन्म पर आधारित होने के कारण बहुत-कुछ स्थिर बड़ है और इसी कारण साधारणतया इस संस्तरण में ऊँचे स्तर पर उठना असम्भव तो नहीं, पर कठिन अवश्य ही है। जैसा कि पहले ही कहा जा चुका है, धन, प्रतिष्ठा, सत्ता व अपरिचितता के आधार पर नीचे की जाति के सदस्य ऊपर की जाति में जा सकते हैं। वास्तव में सबसे ऊपर की स्थिति वाले ब्राह्मण तथा सबसे नीचे की स्थिति वाली अछूत जाति के बीच में जा अनेक जातियाँ हैं, जातीय संस्तरण में उनकी वास्तविक स्थिति को निश्चित करने की समस्या गम्भीर है। प्रायः ये जातियाँ किसी न-किसी ऊँची जाति से अपना सम्बन्ध जोड़कर अपनी सामाजिक स्थिति को बतलाती हैं। सामाजिक दृष्टिकोण से ऐसा करना उनके लिए लाभदायक भी है, क्योंकि अपने से ऊँची जाति से सम्बन्ध जोड़कर अपनी स्थिति को ऊँचा उठाने में सफल होने पर उनकी सामाजिक प्रतिष्ठा भी उसी अनुपात से बढ़ जाती है। सामाजिक मर्यादा या प्रतिष्ठा को ऊँचा उठाने के लिये मनुष्य जो-जो प्रयत्न करता है, उनमें से उपरोक्त प्रयत्न भी एक है। अतः जातीय संस्तरण में विभिन्न जातियों की स्थिति वास्तव में अस्थिर कही जा सकती है। पर इस सम्बन्ध में यह स्मरणीय है कि ब्राह्मणों और अछूतों की स्थिति जातीय संस्तरण में बहुत-कुछ स्थिर है क्योंकि ब्राह्मणों का, जोकि सबसे ऊँचे स्तर पर हैं, और ऊपर जाना या अछूतों का, जोकि सबसे नीचे की स्थिति पर हैं, और नीचे जाना सम्भव नहीं है। परन्तु जैसा कि पहले ही बताया जा चुका है, इन दो छोरों के

8. G. S. Ghurye, *Caste, Class and Occupation*, Popular Book Depot, Bombay, 1961, pp. 2-27.

9. "This means that in this caste-bound society the amount of community feeling must have been restricted, and that the citizens owed moral allegiance to their caste first, rather than to the community as a whole. By segmental division I wish to connote this aspect of the system."—G. S. Ghurye, *Ibid.*, p. 4.

बीच में जो असंख्य जातियाँ हैं वे अपने को अपनी पास वाली जातियों से अधिक श्रेष्ठ समझने लगती हैं।”¹⁰

3. भोजन और सामाजिक सहवास पर प्रतिबन्ध (Restrictions on feeding and social intercourse)—जाति-प्रथा के निषेधात्मक नियमों में भोजन सम्बन्धी प्रतिबन्ध उल्लेखनीय हैं। प्रत्येक जाति को दूसरी जाति के हाथ का बना भोजन खाने की आज्ञा नहीं है। जातीय नियमों से यह स्पष्ट होता है कि एक जाति के सदस्य किन जातियों के सदस्यों के हाथ का बना हुआ भोजन खा सकते हैं और किन जातियों के सदस्यों के साथ बैठकर खा सकते हैं। ब्राह्मणों के हाथ का बना भोजन दूसरी सभी जातियों के सदस्य खा लेते हैं। सबसे अधिक प्रतिबन्ध अछूतों के हाथ के बने भोजन पर है। भोजन सम्बन्धी प्रतिबन्ध भोजन के प्रकारों पर भी निर्भर है। इस दृष्टिकोण से भोजन को तीन श्रेणियों में बाँटा जाता है—फलाहारी, पक्का और कच्चा। फलाहारी भोजन में फल, दूध तथा दूध से बनी चीजें, पक्के भोजन में तेल या घी में तली चीजें जैसी पूड़ी, कचौड़ी आदि तथा कच्चे भोजन में पानी में उबाले हुए चावल, दाल तथा रोटियाँ आती हैं। प्रत्येक जाति में इस प्रकार के नियम हैं कि एक व्यक्ति ये तीन प्रकार के भोजन किनके हाथों का बना खा सकता है। बंगाल, गुजरात और दक्षिणी भारत में कच्चे और पक्के भोजन का कोई भी भेद नहीं माना जाता है। माँसाहारी भोजन शाकाहारी भोजन से नीचे समझा जाता है। माँसाहारी भोजन में भी ऊँच-नीच का भेदभाव है, जैसे कि सुअर का गोشت बकरे के गोشت से नीचा माना जाता है, क्योंकि सुअर गन्दा खाना खाता है। माँसाहारी भोजन और निकृष्ट श्रेणी का माँसाहारी भोजन करने वाले व्यक्तियों की स्थिति भारतीय जाति-संस्तरण में नीची समझी जाती है। इसी प्रकार पानी पीने के सम्बन्ध में भी अनेक प्रकार के प्रतिबन्ध माने गये हैं।

4. विभिन्न जातियों की सामाजिक और धार्मिक नियोग्यतायें तथा विशेषाधिकार (Civil and Religious disabilities and privileges of the different sections)—जाति-प्रथा की एक अन्य विशेषता छुआछूत के आधार पर विभिन्न जातियों को सामाजिक और धार्मिक नियोग्यता या विशेषाधिकार प्रदान करना है। इस सम्बन्ध में सबसे अधिक विशेषाधिकार ब्राह्मणों को प्राप्त है और सबसे अधिक नियोग्यतायें अछूतों के लिये हैं। दक्षिण भारत में अछूतों की अवस्था वास्तव में दयनीय थी। वे उच्च जाति के लोगों को छूना तो दूर रहा। उनको अपनी शक्ल भी नहीं दिखा सकते थे। द्रावणकोर, पूना आदि स्थानों में अनेक सड़कों पर अछूतों को चलाने की आज्ञा न थी। उसी प्रकार उनको न तो मन्दिरों में प्रवेश का अधिकार था, न स्कूलों में पढ़ने का, और न ही उन कुओं और तालाबों से पानी भरने का जिनको कि उच्च जाति के लोग व्यवहार में लाते थे। गाँवों में तो इस प्रकार के प्रतिबन्ध और भी कठोर होते थे और अछूतों को किसी भी प्रकार का सामाजिक तथा धार्मिक अधिकार प्राप्त नहीं होता था। गाँवों में अछूतों को बस्ती के बाहर रहना पड़ता था।

10. “Excepting the Brahmin at one end and the admitted degraded castes like the Holeyas at the other, the members of a large proportion of the intermediate classes think or profess to think that their caste is better than their neighbours, and should be ranked accordingly.”—*Mysore Census*, 1901, p. 400. (Quoted by G. S. Ghurye, *Ibid.*, p. 6)

5. पेशों के अप्रतिबन्धित चुनाव का अभाव (Lack of unrestricted choice of occupations)—प्रायः प्रत्येक जाति कुछ पेशों को अपना परम्परागत पेशा मानती है और उसे छोड़ना उचित नहीं समझा जाता है। इस प्रकार ब्राह्मण पुरोहित के काम को और चमार जूते बनाने के काम को ही करना ठीक समझते हैं। साधारणतया ऐसा ही होता है और जाति-प्रथा का नियम भी यही है। साथ-ही-साथ केवल जातियों का ही नहीं बल्कि उनके द्वारा किए जाने वाले पेशों में भी ऊँचाई और निचाई होती है। जिन पेशों में एक व्यक्ति को अपवित्र वस्तुओं के सम्पर्क में आना होता है, उन पेशों को नीचा माना जाता है। अपवित्र वस्तुओं में भी एक ऊँच-नीच का संस्तरण है। मल-मूत्र सबसे अधिक अपवित्र है। इसी प्रकार चमड़े का काम और गन्दे कपड़े धोने का काम दो पृथक् श्रेणी के व्यक्तियों का होता है। इनके विपरीत धर्म से सम्बन्धित समस्त कार्य परम पवित्र माने जाते हैं और यही कारण है कि इन कार्यों को करने वाले ब्राह्मणों की स्थिति जातीय संस्तरण में 'सर्वमान्य रूप में' सबसे ऊपर है। इस प्रकार पेशों की उच्चता और निम्नता तथा उनके चुनाव के सम्बन्ध में जाति के कुछ निश्चित नियम होते हैं। फिर भी कुछ ऐसे पेशे हैं जिनमें प्रत्येक जाति के सदस्य चुन सकते हैं, जैसे खेती, व्यापार, सेना की नौकरी आदि।¹¹ न केवल जाति के व्यक्ति ही अपनी जाति के व्यक्तियों को अन्य पेशों को चुनने से रोकते हैं, अपितु अन्य जाति के व्यक्ति भी अनेक प्रकार से रोकने का प्रयत्न करते हैं।¹² परन्तु मुगल साम्राज्य की स्थापना के पश्चात् पेशा सम्बन्धी प्रतिबन्ध दिन-प्रतिदिन दुर्बल ही होता गया और जैसाकि श्री बेन्स (Baines) का कथन है, 'जाति का पेशा परम्परागत होता है, परन्तु यह किसी भी अर्थ में आवश्यक नहीं है कि उसी के द्वारा सब या अधिकतर जातियाँ आज अपनी जीविका निर्वाह करती हैं।'¹³ यही कारण है कि मुगल काल से यह देखा गया कि ब्राह्मणों ने अपने परम्परागत पेशों के अतिरिक्त अन्य पेशों को भी चुनना शुरू कर दिया था। उत्तर प्रदेश के कान्यकुब्ज ब्राह्मणों ने सेना में नौकरी और खेती का काम प्रारम्भ कर दिया था। पर इस सम्बन्ध में यह उल्लेखनीय है कि कारीगर जातियों ने अपनी जाति के पेशों की रक्षा अधिक दृढ़ता से की है।

6. विवाह सम्बन्धी प्रतिबन्ध (Restrictions on marriage)—प्रत्येक जाति में विवाह सम्बन्धी अनेक प्रतिबन्ध होते हैं। उनमें अन्तर्विवाह (endogamy) का नियम सबसे प्रमुख है। वास्तविकता तो यह है कि प्रत्येक जाति अनेक उपजातियों में विभाजित है और प्रत्येक जाति अन्तर्विवाही (endogamous) समूह है, अर्थात् अपनी उपजाति से बाहर विवाह-सम्बन्ध स्थापित करने की आज्ञा नहीं है। श्री वेस्टरमार्क (Westermarck) जाति-प्रथा की इस विशेषता से इतने अधिक प्रभावित हुए हैं कि आपने अन्तर्विवाह को 'जाति-प्रथा का सार तत्त्व' (the essence of the caste system) माना है।¹⁴ इस सम्बन्ध में यह उल्लेखनीय है कि व्यावहारिक रूप में 'एक ही वर्ण की दो उपजातियों की भौगोलिक सीमा पर रहने वाले व्यक्ति आपस में विवाह कर लेते हैं। उत्तर प्रदेश में ब्राह्मणों की चार मुख्य उपजातियाँ हैं—सरयूपारी, कान्य-कुब्ज, सनाढ्य और गौड़। पर्वतों में रहने वाले रड़वाली और कूर्माचली ब्राह्मण,

11. R. Rickwards; *India*; Vol. I; p. 29 (cf. G. S. Ghurye; *Ibid*; p. 15).

12. *Ibid.*, p. 15.

13. *Ibid.*, p. 15.

14. E. A. Westermarck, *Histroy of Human Marriage*; 1921, 5th Edition;

सारस्वत, त्यागी आदि इस प्रदेश के ब्राह्मणों की अन्य उपजातियाँ हैं जिनकी संख्या अधिक नहीं है। इटावा जिला गन्नाड़्यों और कान्यकुब्जों की भौगोलिक सीमा पर है। यहाँ इन दोनों उपजातियों में विवाह होते हैं। कान्यकुब्ज सनाढ़्यों की लड़कियाँ ले लेते हैं, परन्तु उन्हें अपनी लड़की नहीं देते। अलीगढ़ और बुलन्दशहर के जिले सनाढ़्यों और गौड़ों की सीमा पर स्थित हैं। यहाँ सनाढ़्यों और गौड़ों में समानता के आधार पर विवाह होते हैं। इसी प्रकार क्षत्रिय तथा वैश्य वर्णों की विभिन्न जातियों और उपजातियों में भी विवाह पाए जाते हैं। पर ये विवाह एक ही भौगोलिक आर भाषा सम्बन्धी क्षेत्र में पाए जाते हैं।¹⁵ भौगोलिक और भाषा सम्बन्धी क्षेत्र में भिन्नता के साथ-साथ अन्तर्विवाह के नियम भी कठोर हो जाते हैं। दूसरे शब्दों में, विभिन्न भाषा-भाषी प्रदेशों में भी अन्तर्विवाह के नियमों के अनुसार ही विवाह किया जाता है, यद्यपि ये एक ही जाति के होते हैं। उदाहरणार्थ एक बंगाली ब्राह्मण और उत्तर प्रदेश के ब्राह्मण में वैवाहिक सम्बन्ध नहीं होता है।

इस सम्बन्ध में यह उल्लेखनीय है कि आधुनिक युग में, जैसा कि हम आगे चलकर देखेंगे, शिक्षा के विस्तार, पाश्चात्य सभ्यता के प्रभाव, यातायात के साधनों में उन्नति, हरिजन, आन्दोलन और सारकारी प्रयत्नों के फलस्वरूप उपर्युक्त सभी प्रतिबन्ध दिन-प्रतिदिन दुर्बल होते जा रहे हैं। यहाँ तक कि इस झुकाव को देखते हुए कुछ लोग तो जाति-प्रथा के भविष्य के सम्बन्ध में निराश हो चुके हैं। यद्यपि इस प्रकार का दृष्टिकोण अवैज्ञानिक है, फिर भी वर्तमान परिस्थितियों के दबाव या प्रभावों से जाति-प्रथा में होने वाले परिवर्तनों को भी अस्वीकार नहीं किया जा सकता।

जातियों का वर्गीकरण

(Classification of Castes)

सर हरबर्ट रिजले (Sir Herbert Risley) ने सम्पूर्ण जातियों को सात भागों में विभाजित किया है जोकि इस प्रकार हैं—

1. जनजातीय प्रारूप—आधुनिक समय में अनेक भारतीय जनजातियाँ सभ्य समाज के सम्पर्क में आई हैं। इस सम्पर्क में हिन्दुओं का सम्पर्क भी एक है और हिन्दू संस्कृति के विभिन्न तत्त्वों द्वारा वे प्रभावित भी हुई हैं। इस प्रभाव का एक स्वाभाविक परिणाम यह हुआ है कि आदिम जनजातियों ने जाति-प्रथा को भी अपना लिया है। श्री रिजले का कथन है कि यह स्वीकार करना अवैज्ञानिक न होगा कि हिन्दुओं का शूद्र वर्ण मूल रूप से आदिम द्राविड़ लोगों का था। सांस्कृतिक तथा प्रजातीय दृष्टिकोण से ये लोग आर्य लोगों से कहीं अधिक पिछड़े हुये थे। फलतः आर्यों ने इन्हें सामाजिक संस्तरण में सबसे नीचा स्थान प्रदान किया। आसाम की घाटी के डोम लोग इस प्रकार के जाति-परिवर्तन के अच्छे उदाहरण हैं।

2. व्यवसायात्मक प्रारूप—वर्ण-व्यवस्था में कर्म या व्यवसाय का अत्यधिक महत्व है और यह कहा जाता है कि वर्ण-व्यवस्था का आधारभूत सिद्धांत यह है कि जो जिसे काम के लिये सबसे योग्य है, उसे वही काम करने को दिया जाये। फलस्वरूप हिन्दुओं में कर्म या पेश के आधार पर तेली, बढ़ई, लोहार, कुम्हार, मोची, धोबी आदि जातियाँ बन गई हैं।

3. साम्प्रदायिक प्रारूप—इस प्रकार की जातियों का उद्भव तब होता है जबकि एक सम्प्रदाय के सभी लोग एक देवता पर विश्वास करने लगते हैं और उसी

सामान्य विश्वास के आधार पर अपने को एक जाति के रूप में धीरे-धीरे संगठित कर लेते हैं। उदाहरणार्थ, बम्बई की लिंगराज जाति को ही लीजिये। 12वीं शताब्दी में यह एक सम्प्रदाय था जो मनुष्यों की समानता में विश्वास करता था। परन्तु धीरे-धीरे उनका सम्प्रदाय अब एक अन्तर्विवाहित जातीय समूह बन गया है जिसकी सदस्य-संख्या लगभग ढाई लाख है।

4. व्यत्यसन द्वारा बनी जातियाँ—ये जातियाँ वर्णसंकरों द्वारा उत्पन्न हैं। जब दो जातियों के बीच इस प्रकार से विवाह-सम्बन्ध स्थापित हो जाते थे जोकि समाज द्वारा मान्य नहीं होते थे, तो ऐसी सन्तानों को माता या पिता में से किसी का भी वर्ण नहीं मिल सका और उन्हें अलग रखा गया जोकि आगे चलकर नई जाति और उपजातियों के रूप में विकसित हुये। मिश्रित या वर्णसंकर जाति का एक अति उत्तम उदाहरण देहरादून जिले में 'खस' लोग हैं जो बहुत प्राचीनकाल में राजपूत या ब्राह्मणों तथा मंगोलियन लड़कियों के अन्तर्विवाह के फलस्वरूप उत्पन्न हुए थे।

5. राष्ट्रीय प्रारूप की जातियाँ—जब सर रिजले ने राष्ट्रीय आधार पर जाति के निर्माण की कल्पना की, तब उनके मस्तिष्क में निश्चित रूप से मरहूठा जाति की धारणा थी। राष्ट्रीयता कुछ समानताओं के आधार पर संगठित समुदाय के सदस्यों की वह आन्तरिक व प्रभावशाली भावना है जोकि उन्हें एक स्वतन्त्र राज्य की स्थापना करने व उसे उसी रूप में बनाये रखने की प्रेरणा व शक्ति प्रदान करती है। यही बात मरहूठा लोगों के सम्बन्ध में भी लागू होती है। मरहूठों पर अधिकारी विद्वान् श्री रामकृष्ण गोपाल भण्डारकार के अनुसार रट्ठा एक जनजाति थी जिसका प्राचीनकाल में दक्षिण में राजनीतिक एकाधिपत्य था। कालांतर में वे लोग महा + रट्ठा कहलाने लगे और जिस भू-भाग पर वे रहते थे, वह महारट्ठा कहलाया। इसे ही आजकल महाराष्ट्र कहते हैं।

6. देशान्तरगमन से बनी जातियाँ—कभी-कभी जीवन धारण सम्बन्धी आवश्यकताओं को पूरा करने या अन्य किसी कारण से लोगों को अपना प्रदेश छोड़ कर दूसरे प्रदेश में जाकर बस जाना होता है। उस अवस्था में उन लोगों पर सामाजिक अनुकूलन (social adjustment) की प्रक्रिया क्रियाशील होती है अर्थात् उस नये प्रदेश के विशिष्ट सामाजिक पर्यावरण (social environment) में सफलतापूर्वक रहने के लिये उन्हें अपने व्यवहार, विचार और आदतों को दूसरों के अनुरूप कर लेना पड़ता है, यहाँ तक कि दूसरों की प्रथा, परम्परा, संस्था आदि को भी स्वीकार करना पड़ता है। इस काम में उन्हें पर्याप्त कठिनाई का अनुभव हो सकता है, पर सबसे अधिक कठिनाई विवाह के लिये अपनी ही जाति में जीवन-साथी ढूँढ़ने के सम्बन्ध में होती है। प्रारम्भ में इस कठिनाई का हल श्री रिजले के अनुसार, उस नये प्रदेश में उपलब्ध स्त्रियों से विवाह-सम्बन्ध स्थापित करके किया जाता है। परन्तु स्त्रियों की आवश्यकता पूरी हो जाने पर वे केवल अपने लोगों में ही विवाह करने लगते हैं और इस प्रकार वे एक उपजाति बना लेते हैं और प्रायः अपने मूल क्षेत्रीय नाम से पुकारे जाते हैं। इस प्रकार के मूल निवास के परिवर्तन से कभी तो देशान्तरगमन करने वाले लोगों की जातीय स्थिति गिर जाती है और कभी ऊँची उठ जाती है।

7. रीति-रिवाजों से बनी जातियाँ—कुछ जातियाँ रीति-रिवाजों की भिन्नता के आधार पर बन जाती हैं। इस प्रकार की जातियों का सबसे उज्ज्वल उदाहरण

जाट और राजपूतों का है। दोनों जातियाँ एक ही प्रजाति (Race) से बनी हैं। परन्तु अब ये दोनों पृथक् जातियाँ हैं और आपस में विरोध भी करती हैं।

जाति एक धार्मिक कृत्य और वैचारिकी दोनों ही है
(Caste is both a ritual and an ideology)

जैसा कि पहले ही कहा जा चुका है भारतीय जाति-प्रथा अपने ढंग की एक अनोखी संस्था है। सांस्कृतिक दृष्टिकोण से इसका एक धार्मिक आवार है तथा सामान्य दृष्टिकोण से यह कतिपय विचारधाराओं पर आधारित है। प्रो० लीच के अनुसार संरचनात्मक दृष्टिकोण से भारत की जाति-प्रथा के आदर्श रूप से अन्य स्थानों की जाति-प्रथाएँ कुछ-न-कुछ मामलों में मिलती-जुलती हो सकती हैं, पर सांस्कृतिक दृष्टिकोण से भारतीय जाति-प्रथा की अन्य जाति-प्रथाओं से तुलना नहीं की जा सकती। भारतीय जाति-प्रथा में धर्म-निरपेक्ष (secular) और धार्मिक दोनों प्रकार की स्थितियाँ (statuses) पाई जाती हैं। धर्म-निरपेक्ष स्थिति शिक्षा, पेशा, आय आदि पर निर्भर करती है और धार्मिक स्थिति (ritual status) का आधार पवित्रता और अपवित्रता की धारणायें हैं। पवित्रता-अपवित्रता की धारणाओं के आधार पर यह निश्चित होता है कि कौन से पेशे, भोजन आदि उच्च श्रेणी के हैं और कौन से निम्न श्रेणी के। निम्न श्रेणी के पेशे, भोजन आदि करने वालों की स्थिति जातीय संस्तरण में नीची होती है, क्योंकि उनका पेशा, भोजन आदि भी धार्मिक दृष्टिकोण से निम्न स्तर का है। इससे विपरीत धार्मिक दृष्टिकोण से जो पेशे, भोजन आदि पवित्र और ऊँचे हैं इसलिये उनसे सम्बन्धित व्यक्तियों की स्थिति भी ऊँची मानी जाती है। जातीय संस्तरण में ब्राह्मणों की स्थिति सबसे ऊपर और हरिजनों का सबसे नीचे होने का एक महत्वपूर्ण कारण यही धार्मिक दृष्टिकोण से पवित्र और अपवित्र की धारणायें हैं। हिन्दू धर्म के कुछ इस प्रकार के सिद्धांत हैं जिनके आधार पर पवित्रता-अपवित्रता तथा छुआछूत के नियमों का विकसित होना बहुत स्वाभाविक था। जाति-प्रथा के अन्तर्गत पेशों के चुनाव के सम्बन्ध में तथा भोजन सम्बन्धी जो प्रतिबन्ध देखने को मिलता है या कुछ जातियों को धार्मिक विशेषाधिकार देने और कुछ को धार्मिक नियोग्यताओं का शिकार बना रखने का जो सिद्धान्त हमें देखने को मिलता है वे सब उक्त नियमों पर ही आधारित हैं। उदाहरणार्थ, जिन पेशों में धार्मिक दृष्टिकोण से अपवित्र वस्तुओं से सम्पर्क होता है, उन पेशों को नीचा माना जाना है, इसलिये मैला साफ करने वाले हरिजनों की स्थिति भी नीची मानी गई है। ब्राह्मण का पेशा पूजा-पाठ से सम्बन्धित है जोकि धार्मिक दृष्टिकोण से पवित्रतम कार्य है, अतः ब्राह्मणों को सर्वोच्च स्थान दिया गया। उसी प्रकार भोजन सम्बन्धी जातीय प्रतिबन्धों को लीजिये। धार्मिक दृष्टिकोण से माँसाहारी भोजन शाकाहारी भोजन से नीचे समझे जाते हैं। इसीलिये ब्राह्मणों के लिये माँसाहारी भोजन खाने पर जातीय प्रतिबन्ध है क्योंकि ब्राह्मणों को अपनी पवित्र स्थिति को बनाये रखने के लिये यह आवश्यक था कि वे निकृष्ट भोजनों से बचते रहें। उसी प्रकार ब्राह्मणों को अनेक धार्मिक विशेषाधिकार प्राप्त हैं, जबकि हरिजनों को एकाधिक धार्मिक नियोग्यताओं का शिकार बनना पड़ा।

श्री हट्टन (Hutton) का कथन है कि जाति-प्रथा की उत्पत्ति में टोटम, टैबू और माना सम्बन्धी आदिम (primitive) विचार, धार्मिक संस्कार एवं यज्ञ जिनसे पवित्रता तथा अस्पृश्यता की भावना को जन्म मिला तथा अवतार व कर्म का सिद्धान्त महत्वपूर्ण हैं। श्री मैक्स वेबर (Max Weber) के अनुसार, जाति-प्रथा का एक मुख्य

भारतीय जाति-प्रथा

आधार धार्मिक है और वह इस रूप में कि देवी निर्देशों द्वारा जाति-प्रथा व्यवस्थित है। ये निर्देश इस प्रकार के हैं कि प्रत्येक व्यक्ति को अपनी जाति में ही रहना चाहिये तथा सावधानीपूर्वक जाति के आवश्यक कृत्यों व कर्तव्यों को पूरा करना चाहिये। यदि वह अपने निर्धारित कृत्यों को पूरा नहीं करेगा तो उसे निम्न जाति में पुनर्जन्म लेने का दण्ड मिलेगा। इसके विपरीत धार्मिक कृत्यों को पूरा करने पर या वर्ण-धर्म का पालन करने पर ऊँची जाति में जन्म होता है। धार्मिक कृत्यों को पूरा करने में असावधानी बरतने पर व्यक्ति को जाति से बहिष्कृत किया जा सकता है। अतः स्पष्ट है कि जाति एक धार्मिक कृत्य है।

पर जाति एक धार्मिक कृत्य के साथ-साथ एक वैचारिकी भी है। जाति अपने सदस्यों के सम्मुख कुछ विचारकों को भी प्रस्तुत करती है। जाति सामाजिक श्रम-विभाजन व संगठन के प्रतिमान (pattern) को प्रस्तुत करती है। जाति-प्रथा का दावा है कि इसके द्वारा समाज का जो श्रम-विभाजन और कर्तव्यों का बँटवारा होता है उससे सामाजिक व्यवस्था व संगठन की एक आदर्श स्थिति को प्राप्त किया जा सकता है। इतना ही नहीं, जाति-प्रथा के अन्तर्गत जो भेद ब्राह्मण और हरिजनों के बीच रखा गया है उसका उद्देश्य धार्मिक आदर्शों और पवित्रता की रक्षा करना है। साथ ही, जाति-प्रथा के अन्तर्गत जो विवाह सम्बन्धी निषेध हैं, उनका भी उद्देश्य एक आदर्श की प्राप्ति है और वह प्रत्येक जाति के रक्त की शुद्धता को बनाये रखना। जाति-प्रथा अपने सदस्यों के सम्मुख इस विचार को प्रस्तुत करती है कि इस जन्म में एक व्यक्ति की जो कुछ भी जातीय स्थिति है वह उसके पूर्वजन्म के कर्मों का ही परिणाम है और मगर अगले जन्म में उस स्थिति को ऊँचा उठाना है तो उसका सबसे सरल उपाय अपने-अपने वर्ण-धर्म का पालन करते हुए इस जन्म में अच्छे कर्मों को करना है। इस विचारधारा के कारण ही पवित्र-से-पवित्र और गन्दे-से-गन्दे काम को भी लोग सहर्ष करते हैं जिससे सामाजिक व्यवस्था कायम रहती है।

जाति और उपजाति

(Caste and sub-Caste)

जाति और उपजाति में कोई अन्तर या भेद करना उचित है या नहीं, इस विषय पर विद्वानों में काफी मतभेद है। इस मतभेद के दो प्रमुख आधार हैं—एक तो सैद्धान्तिक और दूसरा व्यावहारिक।¹⁶ सैद्धान्तिक दृष्टिकोण से जिस समूह में जाति की विशेषतायें पाई जाती हैं उसे जाति कहना ही वैज्ञानिक आधार पर उचित होगा, चाहे उस समूह को लोग रोज की बोलचाल में जाति कहते हों या उपजाति। इस विचारधारा के अनुसार जाति और उपजाति में किसी भी प्रकार का भेद करना निरर्थक है। व्यावहारिक दृष्टिकोण से जो विद्वान् जाति-प्रथा का अध्ययन व विश्लेषण करते हैं उनका कथन है कि भारतीय समाज में जाति और उपजाति दोनों का अलग-अलग अस्तित्व है और इन्हें एक में मिला देने का अर्थ होगा जाति-प्रथा के एक अत्यन्त व्यावहारिक पक्ष की उपेक्षा। यह सच है कि एक जाति की सभी उपजातियों में कुछ सामान्य विशेषतायें पाई जाती हैं जैसे सामान्य पेक्षे, सामाजिक सहवास के सम्बन्ध में सामान्य प्रतिबन्ध इत्यादि। फिर भी जाति और उपजाति में जो सबसे प्रमुख अन्तर है वह यह है कि व्यावहारिक रूप में जाति नहीं, बल्कि प्रत्येक उपजाति का एक अन्तर्विवाही

16. Dr. K. N. Sharma, *Ibid.*, p. 243.

(endogamous) समूह होता है, अतः अन्तर्विवाह के आधार पर वे एक-दूसरे से भिन्न हैं।

सैद्धान्तिक दृष्टिकोण से, जैसा कि पहले ही उल्लेख किया जा चुका है, जाति बहुत-कुछ जन्म के आधार पर सामाजिक संस्तरण और खण्ड-विभाजन की वह गतिशील व्यवस्था है जो खाने-पीने, विवाह, पेशा और सामाजिक सहवासों के सम्बन्ध में कुछ न-कुछ प्रतिबन्धों को अपने सदस्यों पर लागू करती हैं। इन प्रतिबन्धों में अन्तर्विवाह का नियम विशेष रूप से उल्लेखनीय है, और यदि यह सच है तो, जैसा कि श्री गेट (Gait) का मत है, उपजातियाँ ही वास्तविक रूप में जातियाँ हैं क्योंकि उपजातियाँ ही अन्तर्विवाह के नियमों का पालन अधिक-बढ़ता से करती हैं। यह सब सच होते हुए भी उपजातियों को पूर्ण रूप से जाति मान लेना उचित न होगा क्योंकि उपजातियों के अन्तर्गत जाति-व्यवस्था के समस्त संरचनात्मक तथा सांस्कृतिक पहलुओं का समावेश नहीं होता। इसके अतिरिक्त प्रत्येक उपजाति को एक जाति मान लेने से जातियों की संख्या इतनी अधिक बढ़ जायेगी कि वह स्वयं एक समस्या बन जायेगी।

डॉ० घुरिये (Ghurye) श्री गेट के विचारों से सहमत नहीं हैं। उनका कहना है कि प्रत्येक उपजाति को एक जाति मान लेने से जातियों की संख्या जो अत्यधिक बढ़ जायेगी, वह समस्या शासन-सम्बन्धी समस्या है, न कि समाजशास्त्रीय। साथ ही उपजातियों में जाति-प्रथा की समस्त विशेषतायें नहीं हैं, यह विचार भी दोषपूर्ण है। डॉ० घुरिये के मतानुसार जाति-प्रथा का ठीक-ठीक समाजशास्त्रीय ज्ञान पाने के लिये उपजातियों को ही वास्तविक जाति मानना चाहिये। जाति-प्रथा की सबसे उल्लेखनीय व महत्वपूर्ण विशेषतायें या तत्त्व वास्तव में तीन हैं—खान-पान सम्बन्धी प्रतिबन्धी सामाजिक सहवास पर प्रतिबन्ध तथा अन्तर्विवाह के नियम। इन तीनों नियमों की वास्तविक अभिव्यक्ति उपजातियों में ही देखने को मिलती है। आन्तरिक भावनाओं के आधार पर 'जाति' का एक और तत्त्व यह है कि इसमें सामुदायिक भावना सीमित होती है और वह इस अर्थ में कि यह भावना समग्र समुदाय के प्रति न होकर, एक जाति के सदस्यों का पहले अपनी जाति के प्रति नैतिक कर्तव्य-बोध होता है। इस कर्तव्य-बोध की भी स्पष्ट अभिव्यक्ति हमें उपजातियों में ही देखने को मिलती है। यही कारण है कि केवल अन्तर्विवाह तथा खान-पान सम्बन्धी नियमों का पालन करने में ही नहीं वरन् सामाजिक सहवास के सम्बन्ध में भी प्रत्येक उपजाति के सदस्य अपनी ही जाति की अन्य उपजातियों के सदस्यों की अपेक्षा अपनी उपजाति के सदस्यों को अधिक निकट पाते हैं और उन्हें उसी रूप में मानते हैं तथा उनके प्रति सम्पूर्ण जाति की अपेक्षा अधिक नैतिक कर्तव्यों का अनुभव करते हैं। इसलिये उपजातियों को ही समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण से जाति मानना चाहिये।

श्री केतकर (Ketkar) के मतानुसार जाति और उपजाति ये दो सापेक्ष (relative) शब्द हैं, न कि निरपेक्ष (absolute), और इसीलिये इन शब्दों का प्रयोग तुलनात्मक ढंग से होना चाहिए। वास्तव में, जाति और उपजाति एक-दूसरे से घनिष्ठ रूप से सम्बन्धित हैं और जाति को समझे बिना उपजाति का तथा उपजाति को समझे बिना जाति का वास्तविक ज्ञान सम्भव नहीं। जाति एक बड़ा समूह है जबकि उपजाति एक छोटा समूह।

श्री हट्टन जाति और उपजाति में कोई अन्तर नहीं मानते। उनके अनुसार, "जब एक जाति का एक समूह पेशे, भाषा या स्थान-परिवर्तन के आधार पर मुख्य समूह

से अलग हो जाता है तो ऐसे समूह को स्वतन्त्र जाति या उपजाति के रूप में माना जाता है।"

उपरोक्त विवेचना से यह स्पष्ट है कि उपजाति की धारणा के सम्बन्ध में विद्वानों में पर्याप्त मतभेद है। इसका प्रमुख कारण यह है कि प्रत्येक विद्वान् जाति की विभिन्न विशेषताओं को एकसमान महत्वपूर्ण नहीं मानते। यह सच है कि जाति और उपजाति में पर्याप्त समानता है, यह भी सच है कि उपजाति में जाति-प्रथा के एक या कुछ तत्वों की अभिव्यक्ति अधिक स्पष्ट रूप में देखने को मिलती है, फिर भी जाति और उपजाति को सर्वरूप से एक मान लेना उचित न होगा। उदाहरण के लिये अन्तर्विवाह के नियम को ही लीजिये। एक ही जाति की दो उपजातियों में विवाह करना बहुत बड़ा अपराध नहीं है, अर्थात् अपनी उपजाति से बाहर विवाह करना सामाजिक तौर पर उतना बड़ा अपराध नहीं है जितना कि अपनी जाति से बाहर विवाह करना। इस दृष्टिकोण से अन्तर्विवाह का नियम जितना स्पष्टतः जाति पर लागू होता है, उतना उपजातियों पर नहीं। इसी प्रकार भोजन तथा सामाजिक सहवास से सम्बन्धित प्रतिबन्ध अपनी जाति से बाहर के लोगों के सम्बन्ध में जितनी कठोरता से लागू किया जाता है उतनी ही कठोरता से अपनी ही जाति की विभिन्न उपजातियों के सम्बन्ध में नहीं। अतः हम कह सकते हैं कि जाति तथा उपजाति में कुछ-न-कुछ अन्तर अवश्य ही है और इन अन्तरो को वैज्ञानिक दृष्टिकोण से स्वीकार कर लेना ही उचित होगा।

जाति और वर्ग

(Caste and Class)

सर्वश्री मैकाइवर तथा पेज (MacIver and Page) के शब्दों में, "सामाजिक वर्ग एक समुदाय का कोई एक भाग है जो सामाजिक स्थिति के आधार पर दोष भाग से पृथक् दीखता है।"¹⁷ सर्वश्री ऑगबर्न तथा निमकोफ (Ogburn and Nimkoff) के मतानुसार, "एक सामाजिक वर्ग उन व्यक्तियों का योग है जिनकी कि आवश्यक रूप से एक समाज-विशेष में एक-सी सामाजिक स्थिति हो।"¹⁸

सामाजिक वर्ग के सम्बन्ध में एक बात यह स्मरणीय है कि सामाजिक चेतनता (consciousness) के बिना वर्ग का निर्माण असम्भव है। जब किसी एक समुदाय के किसी एक भाग के सदस्य सामाजिक भेदों (चाहे वह भेद सम्पत्ति-भेद, शिक्षा भेद, व्यवसाय-भेद या अन्य योग्यताओं व प्रवृत्तियों पर आधारित भेद क्यों न हों) के सम्बन्ध में जागरूक या चेतन हो जाते हैं और उसी चेतनता के आधार पर अपने को दूसरों से पृथक् समझने लगते हैं, तभी वर्ग का जन्म होता है। इसलिये श्री हॉबेल (Hoebel) ने लिखा है कि "एक सामाजिक वर्ग एक समाज के अन्तर्गत वह समूह है, जिसके सदस्यों की कतिपय सामाजिक स्थितियाँ (status) सामान्य (common) होती हैं और जो इन स्थितियों से सम्बन्धित कार्यों को करते हुए अपने कुछ ऐसे समान (like) हितों के सम्बन्ध में एक जागरूकता विकसित कर लेते हैं जोकि दूसरे समूहों

17. "A social class is any portion of a community marked off from the rest by social status."—MacIver and Page, *Society*, Macmillan & Co., London, 1950, p. 348.

18. "A Social class is the aggregate of persons having essentially the same social status in a given society."—Ogburn and Nimkoff, *A Handbook of Sociology*, Routledge and Kegan Paul, London, 1956, p. 210.

के हितों और लक्षणों से भिन्न होती है।¹⁹ संक्षेप में, सामाजिक वर्ग समाज का वह भाग है जिसके सदस्यों की कुछ विशेषता और सामान्य सामाजिक स्थितियाँ तथा कार्य होते हैं, जिसके आधार पर उनमें यह जागृकता विकसित हो जाती है कि वे समाज के अन्य समूहों से भिन्न हैं।

उपयुक्त विवेचना से यह स्पष्ट है कि सामाजिक वर्ग की तीन प्रमुख विशेषतायें होती हैं—(1) स्थिति समूहों का उतार और चढ़ाव (hierarchy of status groups), (2) ऊँच-नीच की भावना (feeling of superiority or inferiority), (3) वर्ग-चेतनता (class consciousness)। प्रथम विशेषता से हमारा तात्पर्य यह है कि प्रत्येक समाज में वर्गों की एक श्रेणी होती है जिसमें सबसे ऊपर उच्चतम वर्ग और उससे नीचे क्रम से निम्नतर और निम्नतम वर्ग होते हैं। जिन समाजों में सामाजिक वर्ग पाये जाते हैं उनका सामाजिक ढाँचा (structure) एक तरासे हुए पिरामिड (truncated pyramid) की भाँति होता है जिसके सबसे नीचे के भाग में निम्नतम (lowest) सामाजिक वर्ग के सदस्यों की संख्या सबसे अधिक होती है और सबसे उच्च वर्ग के सदस्यों की संख्या सबसे कम। इस विशेषता का एक दूसरा तात्पर्य यह होता है कि एक समाज में यदि एक वर्ग है तो दूसरे वर्ग भी उसमें होंगे। किसी भी एक वर्ग की स्थिति दूसरे वर्ग या वर्गों के सन्दर्भ में ही होती है। यदि समाज में केवल एक ही वर्ग है तो वह तो वर्गहीन (classless) समाज होगा। दूसरी विशेषता से हमारा तात्पर्य यह है कि एक वर्ग के सदस्य दूसरे वर्गों के सदस्यों के प्रति श्रेष्ठता अथवा हीनता की भावना रखते हैं और उसे प्रदर्शित करते हैं। परन्तु इससे भी कहीं महत्वपूर्ण बात वर्ग की उपयुक्त तीसरी विशेषता से मालूम होती है जिसका कि तात्पर्य यह है कि वर्ग इस बात में सचेत रहता है कि उसका सामाजिक पद या प्रतिष्ठा व आदर दूसरे वर्गों की अपेक्षा कम या अधिक है। यही चेतनता एक वर्ग के सदस्यों के व्यवहारों को निश्चित करती है। यदि यह वर्ग-चेतनता ही न हो तो वर्ग क्रिया की गतिशीलता (dynamics of class action) भी समाप्त हो जाये और किसी भी वर्ग के कार्यों में कोई उल्लेखनीय विशेषता ही न रहे।

जाति और वर्ग में अन्तर

(Distinction between Caste and Class)

उपरोक्त विवेचना के आधार पर हम जाति और वर्ग में निम्नलिखित अन्तरों का उल्लेख कर सकते हैं—

1. जाति अन्तर्विवाही है, पर, वर्ग नहीं—प्रत्येक जाति में यह निश्चित नियम होता है कि अपनी ही जाति या उपजाति में विवाह होगा; अर्थात् जाति-प्रथा अन्तः-जातीय विवाह की आज्ञा नहीं देती, परन्तु वर्ग-व्यवस्था के अन्तर्गत विवाह सम्बन्धी इस प्रकार का कोई निश्चित नियम नहीं होता कि एक वर्ग का सदस्य दूसरे वर्ग के सदस्य के साथ विवाह-सम्बन्ध स्थापित नहीं कर सकता।

2. जाति में खान-पान का प्रतिबन्ध है, वर्ग में नहीं—जाति-प्रथा में इस प्रकार

19. "A social class is a group within a society, whose members hold a number of distinctive statuses in common and who, through the operation of the roles associated with these statuses, develop an awareness of their like interests as against the unlike traits and interests of other groups."—E. A. Hoebel, *Man in the Primitive World*, New York, 1958, p. 715.

के कुछ निश्चित नियम होते हैं कि एक जाति के सदस्य किन-किन जातियों के हाथ का बना भोजन खा सकते हैं या नहीं। इसी प्रकार पानी पीने के सम्बन्ध में भी अनेक प्रकार के प्रतिबन्ध होते हैं, पर वर्ग-व्यवस्था में इस प्रकार के कोई स्पष्ट नियम नहीं होते। एक वर्ग का सदस्य अपनी इच्छानुसार दूसरे वर्ग के सदस्य के साथ खा-पी सकता है।

3. जाति में पेशे निश्चित हैं, वर्ग में नहीं—जाति-प्रथा में ब्राह्मण को पूजा-पाठ, अध्यापन का काम, अश्वीय को शासन-प्रबन्ध, वैश्य को व्यापार वाणिज्य तथा शूद्र को सेवा करने का निर्देश है; परन्तु वर्ग-प्रथा में किसी भी वर्ग का कोई निश्चित पेशा नहीं है। सब लोग अपनी योग्यतानुसार किसी भी पेशे को अपनाने के सम्बन्ध में स्वतन्त्र हैं।

4. जाति जन्म पर आधारित है, वर्ग नहीं—जाति-प्रथा में प्रत्येक जाति का सदस्य नहीं हो सकता है जिसका कि जन्म उसी जाति के किसी परिवार में हुआ हो, परन्तु वर्ग-व्यवस्था में जन्म को आधार नहीं माना जाता है, बल्कि शिक्षा, धन, पेशा, धर्म आदि के आधार पर वर्ग का निर्धारण होता है।

5. जाति बहुत-कुछ स्थिर है, वर्ग नहीं—जाति-प्रथा जन्म पर आधारित होने के कारण बहुत-कुछ स्थिर है, क्योंकि हम और सब-कुछ कर सकते हैं, माता-पिता को बदल नहीं सकते। इस कारण जो एक बार ब्राह्मण-परिवार में जन्म ले लेता है, वह जिन्दगी-भर ही ब्राह्मण बना रहता है। गरीबी, अज्ञानता, अपराध या और कुछ भी उसकी जाति को बदल नहीं सकते। इसी कारण जाति-प्रथा बहुत-कुछ स्थिर है। इसके विपरीत, वर्ग-व्यवस्था के समस्त आधार जैसे धन, पूँजी या आय, धर्म, शिक्षा, पेशा आदि अस्थिर हैं और इन्हें व्यक्ति किसी भी समय बदल सकता है। इसलिये, वर्ग-व्यवस्था अस्थिर है।

6. जाति बन्द व्यवस्था है जबकि वर्ग में खुलापन है—जाति को अपनी इच्छानुसार एक व्यक्ति बदल नहीं सकता। केवल जाति के नियमों को तोड़ने पर उसे जाति से निकाला जा सकता है; नहीं तो एक जाति से दूसरी जाति में जाना सम्भव नहीं है। परन्तु वर्ग-व्यवस्था में एक व्यक्ति अपनी शिक्षा, धन, पेशा, जीवन की सफलताओं और असफलताओं के आधार पर किसी भी समय ऊँचे वर्ग से नीचे में या नीचे वर्ग से ऊँचे वर्ग में आ-जा सकता है।

निष्कर्ष

(Conclusion)

उपर्युक्त विवेचना से यह स्पष्ट है कि भारतीय जाति-प्रथा एक बहुत-कुछ स्थिर तथा रूढ़िवादी संस्था है और वह इस अर्थ में, कि यह प्रथा अपने सदस्यों पर एकाधिक नियमों व निषेधों को लादती है, और उन पर यह दबाव भी डालती है कि वे इनका पालन करें। व्यावहारिक रूप में इन समस्त नियमों का अक्षरशः पालन न दभी हुआ है और न ही तो सकता है, फिर भी सैद्धान्तिक रूप में जाति के नियम व निषेध कठोर अवश्य ही हैं। वर्तमान समय में इस कठोरता का सामना कठोरता से ही किया जा रहा है, जिसके फलस्वरूप जाति के प्रभाव व निषेधात्मक शक्ति का ह्रास हो गया है और हो भी रहा है। वास्तव में, आज जाति-प्रथा को प्रजातन्त्रीय आधार पर प्रतिष्ठित करने के उल्लेखनीय प्रयत्न हो रहे हैं। इन प्रयत्नों के फलस्वरूप जाति-प्रथा का परम्परागत स्वरूप बदल रहा है, या यों कहिए कि जाति-प्रथा की परिवर्तित परिस्थितियों के अनुरूप बदलना ही है, क्योंकि परिवर्तन ही प्रकृति व सामाजिक व्यवस्था का नियम है।

भारतीय जाति-प्रथा एक अत्यन्त जटिल संस्था है; और प्रायः एक शताब्दी के परिश्रम और सावधानीपूर्वक अनुसन्धान के पश्चात् भी हम निश्चित रूप से यह नहीं कह सकते कि यह अनोखी सामाजिक संस्था अपने निर्माण और विकास में किन-किन अवस्थाओं की देन रही है।¹ परन्तु इतना अवश्य कहा जा सकता है कि इस संस्था के सम्बन्ध में विभिन्न दृष्टिकोणों से अध्ययन भी सबसे अधिक हुआ है।² वेद, महाकाव्य, पुराण आदि के लेखकों से लेकर अनेक यूरोपीय और भारतीय विद्वानों तक ने इसके बारे में अध्ययन किए हैं और प्रत्येक ने अपना एक सिद्धान्त इसकी उत्पत्ति के सम्बन्ध में बताया है। अतः जितने लेखक, उतने ही सिद्धान्त भी हैं। हम उनमें से केवल प्रमुख सिद्धान्तों की रूपरेखा यहाँ प्रस्तुत करेंगे।

(1) परम्परात्मक सिद्धान्तः

(Traditional Theory)

इस सिद्धान्त की विस्तृत विवेचना हम अध्याय 6 में वर्ण-व्यवस्था की उत्पत्ति के अन्तर्गत कर चुके हैं। यहाँ हम उनमें से केवल उन अंशों को ही दोहराएँगे जो कि जाति-प्रथा की उत्पत्ति के परम्परात्मक दृष्टिकोण का प्रतिनिधित्व करते हैं। परम्परात्मक सिद्धान्त की व्याख्या थोड़े-बहुत अन्तर के साथ वेदों, उपनिषदों, महाकाव्यों, धर्मशास्त्रों और स्मृतियों में मिलती है। इन पाँचों में वर्ण-व्यवस्था या जाति-प्रथा की उत्पत्ति के सम्बन्ध में जो विभिन्न सिद्धान्त देखने को मिलता है वह निम्नवत् है—

(क) जैसा कि पहले ही उल्लेख किया जा चुका है कि जाति-प्रथा की उत्पत्ति के सम्बन्ध में वैदिक साहित्य में सबसे पुरानी व्याख्या ऋग्वेद (10-99-12) और यजुर्वेद (31-11) के 'पुरुषसूक्त' में 'ब्राह्मणोऽस्य मुखं.....पद्भ्यां शूद्रोऽजायत' इस मन्त्र में है। इसके अनुसार ब्राह्मण ब्रह्मा के मुख से, क्षत्रिय बाहु से, वैश्य जाँघ से और शूद्र पैर से पैदा हुए। इसी आधार पर प्रत्येक जाति का कार्य या पेशा भी निश्चित है। क्योंकि ब्राह्मण की उत्पत्ति मुख से हुई और मुख बोलने का माध्यम है, इस कारण ब्राह्मणों का कार्य अध्ययन करना, शिक्षा देना आदि है, जिससे वेदों की रक्षा हो सके। बाहु शक्ति का द्योतक है, इसलिये क्षत्रियों का कार्य शक्ति से सम्बन्धित कार्य है; जैसे अस्त्र-शस्त्रों का प्रयोग करना, उनकी शिक्षा देना, सेना में कार्य करना,

1. "The complex nature of the caste structure is evident from the fact that, after a century of painstaking and meticulous research in the history and function of the social system, we do not possess yet a valid explanation of the circumstances that might have contributed to the formation and development of this unique system."—D N. Majumdar, *Races and Cultures of India*, Asia Publishing House, Bombay, 1958; p. 284.

2. *Ibid.*, p. 284.

जीवन और धन की रक्षा करना, जिससे कि समुचित राज्य-व्यवस्था स्थापित हो सके। उसी प्रकार वैश्यों का कार्य कृषि करना, व्यापार करना आदि है और पैरों से उत्पत्ति होने के कारण शूद्रों का कार्य ऊपर के तीन वर्णों की सेवा करना है।

महामहोपाध्याय गिरधर शर्मा चतुर्वेदी के अनुसार इस सिद्धान्त के बारे में ऊपर जितना कहा गया है केवल उतना ही कहना उसकी वास्तविक व्याख्या नहीं है; इससे कहीं अधिक वैज्ञानिक ढंग से समझाया जा सकता है। यह बात शरीर के उप-गुप्त चार अंगों की विस्तृत विवेचना से ही स्पष्ट हो जाएगी। शिर ज्ञानशक्ति का केन्द्र है, मुख आदि उसके अभिव्यंजक हैं। वक्षस्थल क्रियाशक्ति, बलशक्ति व पराक्रमशक्ति का केन्द्र है; बाहु आदि उसके अभिव्यंजक हैं। उदर अर्थशक्ति व संग्रहशक्ति का केन्द्र है, यकृत-प्लीहा आदि उसके अभिव्यंजक हैं और नाभि सहायताशक्ति का केन्द्र है, पाद आदि उसके अभिव्यंजक हैं। चारों अंगों में एक-एक केन्द्र स्थान का छिद्र और सात-सात उसके सहायक प्राणों के छिद्र रखे गये हैं। प्राण सात रूपों में विभक्त होकर बैठता है। शिर का मुख्य केन्द्र ब्रह्मरन्ध्र नानक छिद्र है; दो कान, दो आँख, दो नासिकाएँ और एक मुख—ये सात उसके सहायक प्राणों के अधिष्ठान छिद्र हैं। सात में तीन जोड़े से रहते हैं—इसलिये वे छः हो जाते हैं और सातवाँ अकेला रहता है। इसी प्रकार क्रियाशक्ति का मुख्य केन्द्र कण्ठकूप (गले का छिद्र) है और दो हाथ, दो फुफुस, दो स्तन और सातवाँ अकेला हृदय—उसके सहायक प्राणों के अधिष्ठान हैं। इन सबमें कहीं गुप्त और कहीं प्रकट छिद्र हैं। शिर को छोड़कर धन में पूर्व का सप्तम भाग और उत्तर का केन्द्र मिले हुये परस्पर सम्बद्ध रहते हैं। इसीलिये अर्थशक्ति का मुख्य केन्द्र पूर्व के सप्तम से सम्बद्ध हृदय-छिद्र ही है, जहाँ बराबर धड़कन रहती है। इसके सहायक हैं प्राणों के स्थान दोनों अन्न, दो यकृत-प्लीहा, दो आमाशय-पक्वाशय और सातवाँ नाभि। आगे बताये गये नियम के अनुसार प्रखेवभूत सहायक शक्ति का मुख्य केन्द्र नाभि, आगे सहायक केन्द्रों के आयतन दो पैर, दो लगुशंका और वीर्य के निस्सरण छिद्र और सातवाँ अकेली गुदा है। पाठक देखेंगे कि सात प्राणों के आयतनों में प्रथम दो आयतन आरम्भ में प्राणशक्ति के प्रबल होने के कारण बाहर निकल गये हैं। प्रथम स्थान में कान, द्वितीय स्थान में हाथ और चतुर्थ स्थान में पैर बाहर निकल आये हैं। तृतीय स्थान में आँतें बाहर न निकल सकीं, किन्तु वहीं मुड़कर दोहरी हो गईं। इसका भी वैज्ञानिक कारण है, किन्तु अप्रकृत होने के कारण उस विस्तार में यहाँ नहीं पड़ना है। अतः 'पुरुषसूक्त' के वर्ण-विभाग-प्रतिपादक मन्त्र में गूढ़ होने के कारण मुख्य केन्द्र का नाम न लेकर प्रस्फुट दीखने वाले सहायक प्राणों के आयतनों का ही नाम लिया गया है, पर उसका आशय मुख्य केन्द्र को बतलाने में ही है। इसलिये मन्त्र में कहा गया है कि सर्वशक्तिमान पुरुष के मुख, अर्थात् उसकी ज्ञानशक्ति, से ब्राह्मण की उत्पत्ति हुई। बाहु अर्थात् पराक्रमशक्ति से क्षत्रिय की, ऊरु अर्थात् अर्थशक्ति से वैश्य की और पाद अर्थात् सहायकशक्ति से शूद्र की उत्पत्ति हुई। बैठते समय जो हमारा आधाररूप प्रतिष्ठान बनता है, वह जंघा से लेकर नाभि तक का भाग 'ऊरु' पद से लिया जाता है। मन्त्र में इस पद से नाभि का ही ग्रहण अभिप्रेत है। अर्थशक्ति अन्य शक्तियों की प्रतिष्ठा है। इसी के आधार पर अन्य शक्तियाँ स्थिर रहती हैं, इस तत्त्व को अभिव्यंजित करने के लिये शरीर के प्रतिष्ठापक ऊरु का नाम मन्त्र में लिया गया है। साथ ही मन्त्र में इस बात का भी निर्देश है कि किस वर्ण का स्थान कितना ऊँचा या नीचा

होगा। यह भी शरीर-रचना के आधार पर वैज्ञानिक ढंग से किया गया है। शक्तियों की प्रधानता और अप्रधानता के कारण ही शरीर-रचना में अंगों की स्थिति ऊँचे या नीचे स्तर पर है। यह स्थिति प्रकृति-कृत है। ज्ञानशक्ति सबसे उच्च शक्ति है, इसलिये उसका केन्द्र शिर, अंगों में सबसे उच्च स्थान पर रखा गया है और उसका अपनी शक्ति के कारण ऐसा अभ्यास हो गया है कि सब शरीर को आप एक सीध में लेटाना चाहें तो भी वह ऊँचा ही रहना चाहेगा। बिना तकिये (उपधान) के शिर शरीर में चैन ही नहीं होने देता। क्रियाशक्ति उस ज्ञानशक्ति से गौण किन्तु अन्य शक्तियों से प्रबल है, इसलिये उसे दूसरा स्थान, शिर से नीचे किन्तु और अंगों से ऊपर, दिया गया है। तीसरा अर्थशक्ति और चौथा सहायकशक्ति का स्थान भी उसी के अनुसार एक के बाद दूसरा है। अंगों के अनुसार ही भारतीय संस्कृति में वर्णों के स्थान नियत किये गये हैं। 'पुरुषसूक्त' के मन्त्र को इसी रूप में समझना वैज्ञानिक होगा।

(ख) बृहदारण्यकोपनिषद् के अनुसार ब्रह्मा ने पहले देवताओं में चार वर्ण बनाए और उनके अनुसार फिर मनुष्यों में वर्ण बना। वर्णों की सृष्टि सामाजिक कल्याण के हेतु की गई थी। इस सिद्धान्त से यह नहीं पता चलता कि विभिन्न वर्णों की सामाजिक स्थिति समान है या उनमें ऊँच-नीच का संस्तरण भी है। इससे केवल इतना ही पता चलता है कि वर्ण-व्यवस्था का निर्माता स्वयं ब्रह्मा या ईश्वर थे।

(ग) धर्मशास्त्रों और महाकाव्यों में भी जाति-प्रथा की उत्पत्ति के सम्बन्ध में अनेक सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया गया है। महाभारत में एक स्थान पर मृगु कहते हैं कि ब्रह्मा ने सबसे पहले ब्राह्मण को रचा और उसके पश्चात् क्रमशः क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र वर्णों की उत्पत्ति हुई। इन वर्णों को रंग के आधार पर एक-दूसरे से पृथक् किया जा सकता है, क्योंकि ब्राह्मण का रंग सफेद, क्षत्रिय का लाल, वैश्य का पीला और शूद्र का काला होता है। परन्तु जैसाकि हम पहले एक अध्याय में उल्लेख कर चुके हैं, कुछ विद्वानों का मत है कि ये रंग वास्तव में विभिन्न 'गुणों' के कल्पित रूप हैं और त्वचा के रंग से इनका कोई वास्तविक सम्बन्ध नहीं है। उनके अनुसार प्रकृति में तीन गुण हैं—सत्त्व, रज और तम। इनमें सत्त्व का किसी से मिश्रण नहीं होता। पर रज और तम मिलकर एक चौथा भेद रजोमिश्रित तम उत्पन्न होता है। सांख्य-दर्शन में स्वच्छ होने के कारण सत्त्व का श्वेत रूप, क्रियात्मक होने के कारण रज का लाल रूप, आद्वरक होने के कारण तम का कृष्ण रूप और रजस्तम के मिश्रण का पीत रूप माना गया है। इसी आधार पर पुराणों में भी कई जगह 'शुक्ल ब्राह्मण, रक्त क्षत्रिय, पीत वैश्य और कृष्ण शूद्र' लिखा मिलता है।

(घ) महाभारत में इन चार वर्णों से विभिन्न जातियों और उपजातियों की सृष्टि कैसे हुई, यह भी बताया गया है। अनुलोम विवाह (उच्च वर्ण के लड़के का नीचे वर्ण की लड़की से विवाह) समाज द्वारा मान्य था, पर चूँकि प्रतिलोम विवाह (उच्च वर्ण की लड़की का नीचे वर्ण के लड़के से विवाह) मान्य नहीं था, इस कारण ऐसे विवाहों से उत्पन्न सन्तानों को माता-पिता में से किसी का भी वर्ण नहीं मिल सका और उन्हें अलग रखा गया जोकि आगे चलकर नई जाति और उपजाति के रूप में विकसित हुए।

महाभारत में कुछ ऐसे वचनों का भी उल्लेख मिलता है जो गुण देखकर वर्ण निर्धारण करने की बात का समर्थन करते-से मालूम होते हैं। वन-पर्व के 179वें अध्याय

में सर्प ने प्रश्न किया है, “ब्राह्मण कौन है ?” युधिष्ठिर उत्तर देते हैं—“ब्राह्मण वह है जिसमें सत्य, दानशीलता, क्षमा, सदाचार, मृदुता और तप—ये गुण हों।” युधिष्ठिर आगे यह भी कहते हैं कि “ये गुण यदि किसी शूद्र में हों, तो उसे ब्राह्मण कहना चाहिये और यदि ये गुण किसी ब्राह्मण में न हों तो वह ब्राह्मण नहीं है।” इन वचनों से ऐसा प्रतीत होता है कि वर्णों की उत्पत्ति गुणों के आधार पर ही हुई थी। परन्तु विद्वानों का मत है कि उक्त वचन का उद्देश्य विभिन्न वर्णों की उत्पत्ति को बताना नहीं, बल्कि सत्य, सदाचार आदि गुणों की श्रेष्ठता बतलाना है। साथ ही उपर्युक्त वचन में केवल दो ही वर्णों—ब्राह्मण और शूद्र के नाम आये हैं। क्षत्रिय और वैश्य का कोई नाम नहीं है। फिर जिनमें ये गुण हैं, वे यदि ब्राह्मण हैं और जिनमें ये गुण नहीं हैं, तो वे शूद्र हैं, तो अखिल मानव-जाति के ब्राह्मण और शूद्र ये ही दो वर्ण-विभाग हुए, चातुर्वर्ण्य नहीं रहा।

(ड) मनुस्मृति में यह निर्देश है कि “सब वर्णों में समान वर्ण वाली, अक्षत-यौनि (अन्य पुरुष द्वारा न भोगी हुई) पत्नी में अनुलोम-क्रम से उत्पन्न होने वाली सन्तति उसी जाति (वर्ण) की समझनी चाहिये जिस जाति (वर्ण) के उसके माता-पिता हों।”¹³ जो इन नियमों को न मानते हुये विवाह करते हैं, उनकी सन्तानों को निम्न जाति का समझना चाहिये। वास्तव में मनु ने अनुलोम की दो श्रेणियों का उल्लेख किया है। प्रथम श्रेणी के अन्तर्गत वह विवाह आता है जिसमें कि एक पुरुष अपने से नीचे वर्ण की लड़की से विवाह करता है, जैसे ब्राह्मण लड़के का क्षत्रिय लड़की से विवाह। इस प्रकार के अनुलोम विवाहों का मनु ने पूर्णतया समर्थन किया है और इन विवाहों से उत्पन्न सन्तानों को उनके माता-पिता की जाति (वर्ण) का ही समझा है। परन्तु दूसरी श्रेणी के अन्तर्गत वह अनुलोम विवाह है जिसमें कि एक उच्च वर्ण का लड़का अपने से बहुत नीचे वर्ण की लड़की से विवाह करता है, जैसे ब्राह्मण लड़के का वैश्य या शूद्र लड़की से विवाह। ऐसे विवाहों का वास्तविक समर्थन मनु ने नहीं किया है, इसीलिये इस प्रकार के अनुलोम विवाहों से उत्पन्न सन्तानों को उसने नई जातियों में रखा है और इन वर्णसंकर जातियों के आपस में विवाह-सम्बन्ध आदि होने के फलस्वरूप नई जातियों की श्रेणियाँ बन गईं।

समालोचना (Criticism)—(1) उपर्युक्त सिद्धान्तों को वैज्ञानिक आधारों पर स्वीकार करना असम्भव है। ब्रह्मा के विभिन्न अंगों से विभिन्न वर्णों की उत्पत्ति के विषय में यह सरलता से कहा जा सकता है कि आज के वैज्ञानिक युग में मनुष्यों की उत्पत्ति के सम्बन्ध में ऐसी अलौकिक कल्पना पर हम विश्वास नहीं कर सकते।

(2) प्रतिलोम विवाह से नई जाति व उपजातियों की उत्पत्ति की कल्पना भी पूर्ण सत्य नहीं है, क्योंकि नई जातियों की उत्पत्ति में अनेक कारणों का योग मगना जाता है। विशेषतः इन सिद्धान्तों के आधार पर एक ही वर्ण में पाई जाने वाली विभिन्न जातियों, सम्प्रदायों तथा अन्य कारणों से उत्पन्न जातियों की उत्पत्ति के सम्बन्ध में कुछ भी जानकारी प्राप्त नहीं होती है।

(3) इन सिद्धान्तों का एक और उल्लेखनीय दोष यह है कि इनके अध्ययन से ‘वर्ण’ और ‘जाति’ में अनावश्यक भ्रम उत्पन्न होता है, जबकि ये दोनों ही अवधारणायें एक-दूसरे से पृथक् हैं। हो सकता है इन सिद्धान्तों से वर्ण-व्यवस्था की

3. सर्ववर्णेषु तुल्यासु पत्नीष्वक्षतयौनिषु ।

अनुलोमेन सम्भता जात्या ज्ञेयास्त एव ते ॥ (मनु०, 10/5)

उत्पत्ति के सम्बन्ध में हमें कुछ जानकारी प्राप्त हो, परन्तु उसके आधार पर जाति-प्रथा की उत्पत्ति को कैसे समझा जा सकता है, इस वैज्ञानिक प्रश्न का उत्तर देने में ये सिद्धान्त सर्वथा असफल हैं।

(2) राजनीतिक सिद्धान्त

(Political Theory)

प्रारम्भिक यूरोपियन विद्वानों ने जाति-प्रथा को ब्राह्मणों द्वारा आयोजित एक चतुर राजनीतिक योजना का रूप बताया है। इन विद्वानों में श्री अबे डुबॉयस (Abbe Dubois) का नाम विशेष उल्लेखनीय है। आपके मतानुसार जाति-प्रथा ब्राह्मणों के लिए और ब्राह्मणों के द्वारा बनाई हुई एक चतुर राजनीतिक योजना है जोकि ब्राह्मणों ने अपनी सत्ता को चिरस्थायी बनाए रखने के लिये रची थी। जाति मूलतः धर्म पर आधारित है और धार्मिक कृत्यों को करने का अधिकार केवल ब्राह्मणों को है, इस कारण ब्राह्मणों ने अपनी प्रभुता को बनाये रखने के लिये धर्म का सहारा लिया और एक ऐसी योजना बनाई जिसमें अपना स्थान सबसे ऊपर रखा और उन लोगों को द्वितीय स्थान दिया जोकि अपने बाहुबल से ब्राह्मणों के स्वार्थ की रक्षा कर सकें। इस प्रकार क्षत्रियों को दूसरा स्थान मिला। श्री डुबॉयस के अनुसार इज्राइल, मिस्र और ग्रीस आदि देशों में भी जाति-प्रथा के आधार पर समाज को विभिन्न भागों में बांटने की व्यवस्था है। मिस्र में वंशानुगत आधार पर पेशों का विभाजन होता था और एक पेशा पिता से पुत्र को मूल रूप में हस्तान्तरित होता रहता था। वंशानुगत पेशों को छोड़कर अन्य प्रकार के पेशों को चुनने का अधिकार या स्वतन्त्रता बिल्कुल न थी। चूँकि भारतीय संस्कृति भी इन प्राचीन संस्कृतियों में से एक है, इसलिये यहाँ भी सामाजिक व्यवस्था को बनाये रखने के लिये उसी प्रकार के प्रयत्नों का होना अस्वाभाविक बात नहीं है। अन्य प्राचीन संस्कृतियों की भाँति भारतवर्ष में भी प्राचीन समय में धर्म का महत्व अत्यधिक था और धर्म से सम्बन्धित व्यक्तियों, अर्थात् ब्राह्मणों की सामाजिक स्थिति सर्वमान्य रूप से सबसे ऊँची रही होगी। अपनी इस ऊँची स्थिति से फायदा उठाने के लिये ब्राह्मणों ने चतुराई से काम लिया और सामाजिक विभाजन व संस्तरण की एक ऐसी योजना बनाई, जिसके अन्तर्गत उनका अपना स्थान सबसे ऊपर रहा और उनके समर्थकों को दूसरा स्थान मिला। अपनी स्थिति से ही लाभ उठाकर ब्राह्मणों ने यह भी प्रमाणित कर दिया कि उनके समर्थकों का पेशा अन्य लोगों से श्रेष्ठ है। जाति-प्रथा की उत्पत्ति इसी के फलस्वरूप हुई। श्री इबेटसन (Ibetsen) और डॉ॰ घुरिये (Ghurye) ने भी आंशिक रूप में इस सिद्धान्त को स्वीकार किया है, विशेषकर इस अर्थ में कि इन विद्वानों ने यह भी माना है कि जाति-प्रथा की उत्पत्ति में ब्राह्मणों का एक अति सक्रिय योगदान रहा है। डॉ॰ घुरिये ने स्पष्ट ही लिखा है कि “जाति-प्रथा इण्डो-आर्यन संस्कृति के ब्राह्मणों का बच्चा है जोकि गंगा और यमुना के मैदान में पला है और वहाँ से देश के दूसरे भागों में ले जाया गया है।”⁴

समालोचना (Criticism)—जाति-प्रथा के अन्तर्गत प्रत्येक विषय में ब्राह्मणों

4 “I may conclude that caste in India is a Brahmanic child of the Indo-Aryan culture, cradled in the land of the Ganga and Yamuna and thence transferred to other parts of the country”—G. S. Ghurye, *Caste, Class and Occupation*, Popular Book Depot, Bombay, 1961, p. 172.

को जो सुविधायें और विशेषाधिकार प्राप्त होते हैं उन्हें देखकर स्वभावतः यह संदेह उत्पन्न होता है कि यह व्यवस्था ब्राह्मणों के द्वारा बनाई गई है। अतः श्री डुबॉयस के अनुसार जाति-प्रथा एक कृत्रिम संगठन है। परन्तु समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण से यह विचार भ्रमपूर्ण प्रतीत होता है, क्योंकि जाति-प्रथा एक सामाजिक संस्था है और किसी भी संस्था की कृत्रिम रचना नहीं, बल्कि स्वाभाविक विकास हुआ करता है। इसलिये जाति-प्रथा की कृत्रिम रचना की कल्पना दोषपूर्ण है। इस सम्बन्ध में यह भी स्मरणीय है कि जाति-प्रथा भारतीय समाज की एक अति प्राचीन और मौलिक संस्था है। इस दृष्टिकोण से भी इसकी कृत्रिम रचना सम्भव नहीं। कृत्रिमता स्थिरता को प्राप्त नहीं होती और न ही यह विश्वास किया जा सकता है कि हजारों वर्ष पहले से अब तक ब्राह्मणों की इस 'चतुर योजना' को कोई समझ न सका और ब्राह्मण सबको बेवकूफ बनाते रहे। वास्तव में किसी भी सामाजिक प्रथा या प्रणाली या व्यवस्था को इस प्रकार चतुराई या कृत्रिम रूप में समाज के लोगों पर लादा नहीं जा सकता। हाँ, इतना अवश्य है कि इस प्रथा की उत्पत्ति और निरन्तरता को बनाये रखने में ब्राह्मणों का बड़ा हाथ रहा है।

(3) धार्मिक सिद्धान्त

(Religious Theory)

इस सिद्धान्त के प्रवर्तकों में सर्वश्री होकार्ट (Hocart) और सेनाट (Senart) इन दो विद्वानों के नाम उल्लेखनीय हैं। इनके सिद्धान्तों की विवेचना हम पृथक्-पृथक् प्रस्तुत करेंगे।

(अ) होकार्ट का सिद्धान्त (Theory of Hocart)—श्री होकार्ट के मतानुसार समाज का विभाजन धार्मिक सिद्धान्तों और प्रथाओं के कारण हुआ है। उनके अनुसार जाति-प्रणाली देवताओं को भेंट चढ़ाने का संगठन (sacrificial organization) है। प्राचीन भारत में धर्म का महत्व अत्यधिक था और उसकी एक सामान्य अभिव्यक्ति देवताओं को बलि चढ़ाने की प्रथा थी। पशुओं को बलि देने का काम प्रत्येक व्यक्ति करने को राजी नहीं हो सकता, क्योंकि इस प्रकार पशुओं की हत्या, धर्म से सम्बन्धित होने पर भी कुछ निकृष्ट या अपवित्र स्तर का कार्य है। अतः ऐसे कार्यों को करने के लिये कुछ ऐसे लोगों की आवश्यकता हुई जिनकी स्थिति समाज में नीची थी या जो दास आदि होते थे और जिनको इस प्रकार के कार्यों को करने के लिये बाध्य भी किया जा सकता था। इतना ही नहीं, धर्म के अन्तर्गत अन्य अनेक कृत्य भी सम्मिलित होते हैं और इन कृत्यों को करने के लिये विभिन्न श्रेणी के व्यक्तियों की सेवाओं की आवश्यकता होती है। उदाहरणार्थ, पूजा-पाठ के लिये फूल-माला आदि की आवश्यकता होती है और इस आवश्यकता को पूरा करने के लिये ऐसे लोगों की सेवाओं की जरूरत होती है जोकि विशेष रूप से इसी काम को करें। कालान्तर में धार्मिक कृत्य से सम्बन्धित इस विशिष्ट सेवा को करने वालों का एक पृथक् समूह (या जाति) बन गया जो आज माली कहलाते हैं। आज भी नाई, माली, कहार, घोषी आदि गाँवों में केवल आर्थिक सेवाएँ ही नहीं करते, बल्कि उनकी सेवाएँ संस्कारों तथा अन्य धार्मिक कृत्यों के अवसरों पर भी आवश्यक होती हैं। अतः श्री होकार्ट के मतानुसार यह सच होते हुए भी कि प्रत्येक जाति का एक निश्चित पेशा परम्परा के अनुसार निर्धारित है, इस सत्य को भी अस्वीकार नहीं किया जा सकता कि इन पेशों का आधार आर्थिक उतना नहीं है जितना कि धार्मिक,

और यह इस अर्थ में कि यह सभी पेशों के धार्मिक कृत्यों से सम्बन्धित सेवाओं के रूप में अधिक सरलता से समझा जा सकता है। हिन्दुओं के प्राचीन ग्रन्थों के आधार पर इस सत्य को सरलता से प्रमाणित किया जा सकता है। प्राचीन भारत के राजा शासन-व्यवस्था के ही नहीं, बल्कि धार्मिक कार्यों के भी अध्यक्ष होते थे और उन्हीं की अध्यक्षता में देवताओं को बलि चढ़ाई जाती थी। पुरोहित राजाओं का उल्लेख भी हिन्दुओं के पुराने साहित्य में मिलता है। अतः धार्मिक कृत्यों से सम्बन्धित सेवाओं या पेशों को करने के आधार पर ही समाज का विभाजन हुआ। और भी स्पष्ट रूप में यह कहा जा सकता है कि धर्म के निर्देश के अनुसार पेशों की पवित्रता या अपवित्रता की मात्रा के आधार पर विभिन्न कार्यों को करने वाले विभिन्न समूहों को अलग-अलग स्थिति, पद या प्रतिष्ठा सामाजिक व्यवस्था के अन्तर्गत प्रदान की गई। धार्मिक सिद्धान्तों या कृत्यों के आधार पर बने ये विभिन्न समूह ही आगे चलकर जाति के रूप में विकसित हुए। संक्षेप में, यही श्री होकार्ट का धार्मिक सिद्धान्त है।

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि जाति-प्रथा की उत्पत्ति को धार्मिक आधार पर समझने के लिये श्री होकार्ट ने चार प्रमुख बातों की ओर हमारा ध्यान आकर्षित किया है—(अ) जाति-प्रथा की उत्पत्ति को आर्थिक आधार पर उतनी सरलता से नहीं समझा जा सकता है जितना कि धार्मिक आधार पर। (ब) यद्यपि जाति-प्रथा में पेशों का स्पष्ट विभाजन देखने को मिलता है और प्रत्येक पेशे के साथ कुछ-न-कुछ आर्थिक तत्व अवश्य ही जुड़ा होता है, फिर भी विभिन्न जातियों के पेशों का वास्तविक और मुख्य आधार धार्मिक ही है। (स) जाति-प्रथा के अन्तर्गत प्रत्येक जाति की स्थिति एक स्तर पर नहीं है और प्रत्येक जाति के जातीय संस्तरण में ऊँची या नीची स्थिति इस बात पर निर्भर करती है कि वह जिस पेशे को करता है वह धार्मिक आधारों पर कितना पवित्र या अपवित्र है। (द) धार्मिक कृत्यों में पवित्रता और अपवित्रता की धारणा देवताओं को बलि या भेंट चढ़ाने से सम्बन्धित है। अतः अन्तिम रूप में, जाति-प्रथा की उत्पत्ति देवताओं को भेंट या बलि चढ़ाने के धार्मिक कृत्यों से सम्बन्धित सेवाओं से हुई है।

समालोचना—अधिकतर समाजशास्त्री श्री होकार्ट के उपर्युक्त सिद्धान्त से सहमत नहीं हैं, क्योंकि उनके अनुसार श्री होकार्ट के उपर्युक्त सिद्धांत में निम्नलिखित कमियाँ हैं—

(1) श्री होकार्ट के सिद्धान्त में सबसे बड़ी कमी यह है कि वे यह भूल जाते हैं कि जाति-प्रथा एक सामाजिक संस्था है, पूर्णतया एक धार्मिक संस्था नहीं। इस सामाजिक संस्था में धार्मिक तत्व हो सकते हैं, पर केवल धर्म ही सब-कुछ नहीं है। इस कारण जाति-प्रथा की उत्पत्ति में धर्म को अधिक-से-अधिक एक सहायता कारण माना जा सकता है, मुख्य कारण नहीं।

(2) श्री होकार्ट ने अपने सिद्धान्त में देवताओं को बलि चढ़ाने के धार्मिक कृत्य पर अत्यधिक बल दिया है। यह समझना वास्तव में कठिन है कि समूची जाति-प्रथा की उत्पत्ति हिन्दू धर्म के केवल एक अंग—बलि के आधार पर, कैसे सम्भव हो सकती है। जाति-प्रथा की उत्पत्ति में धर्म के महत्व को यदि स्वीकार भी कर लिया जाये, तो भी यह कहना गलत होगा कि बलि के प्रभाव के कारण ही जाति-प्रथा की उत्पत्ति हुई है या हो भी सकती है।

(3) यह सच है कि प्राचीनकाल में हिन्दुओं में बलि का महत्व था, परन्तु इस बात का कोई भी प्रमाण हमें प्राप्त नहीं है कि यह महत्व समाज के सभी लोगों के लिये समान था और उसे समान रूप से ही सब पर लागू किया गया था। वास्तव में यह प्रमाणित करना ही कठिन है कि सारा हिन्दू धर्म बलि पर आधारित है, तो फिर इसके आधार पर जाति-प्रथा की उत्पत्ति के सम्बन्ध में किसी भी वैज्ञानिक सिद्धान्त को कैसे प्रतिपादित किया जा सकता है ?

(4) जातियों की ऊँचाई और निचाई पेशों की पवित्रता और अपवित्रता की मात्रा पर निर्भर है, यह विचार भी वैज्ञानिक कसौटी पर खरा नहीं उतरता। समस्त पेशों का संस्तरण धार्मिक आधार पर नहीं किया जा सकता, यद्यपि आर्थिक जीवन में धार्मिक तत्वों का थोड़ा-बहुत विद्यमान होना सम्भव है। दो-एक अपवादों को छोड़कर विभिन्न जातियों की सेवाएँ मुख्यतः आर्थिक, कम-से-कम इस अर्थ में अवश्य ही हैं कि उनका सम्बन्ध जीवन-निर्वाह या जीवन के भौतिक अस्तित्व को बनाये रखने की किसी-न-किसी समस्या से है। अतः केवल धर्म के आधार पर जाति-प्रथा की उत्पत्ति को न समझाया जा सकता है और न ही समझा जा सकता है।

(5) यह सिद्धान्त इस बात को भी रक्षित नहीं करता कि विभिन्न जातियों में खान-पान और विवाह-सम्बन्धी निषेध क्यों हैं।

जाति-प्रथा के उपर्युक्त व्यावहारिक पक्ष श्री होकार्ट के सिद्धान्त से इस कारण निकल गए कि उन्होंने यहाँ स्पष्ट आकर भारतीय जाति-प्रथा का अध्ययन कभी नहीं किया था। उन्होंने केवल लंका और फिजी द्वीपों के भारतीयों से साक्षात्कार के आधार पर ही अपने सिद्धान्त को प्रतिपादित किया। इस कारण इसमें अनेक त्रुटियाँ होना स्वभाविक है।

(ब) सेनार्ट का सिद्धान्त (Theory of Senart) — श्री सेनार्ट ने भी जाति-प्रथा की उत्पत्ति में धार्मिक कारण को अत्यधिक महत्वपूर्ण माना है। आपने अपने सिद्धान्त में श्री होकार्ट के सिद्धान्त की एक कमी (भोजन-सम्बन्धी प्रतिबन्धों के कारण) को पूरा करने का प्रयत्न किया। आपने भोजन-सम्बन्धी निषेधों के आधार पर जाति-प्रथा की उत्पत्ति को समझाने का प्रयत्न किया है। आपका कथन है कि भोजन-सम्बन्धी प्रतिबन्ध पारिवारिक पूजा और कुल-देवता में भिन्नता के कारण उत्पन्न हुआ, क्योंकि एक देवता पर विश्वास करने वाले अपने को एक ही वंश के तथा एक अलौकिक बन्धन द्वारा बँधे हुए समझते थे और अपने देवता को एक विशेष प्रकार का भोजन (भोग) चढ़ाते थे। इन्हीं भिन्नताओं के आधार पर एक प्रकार के देवता को मानने वालों ने दूसरे प्रकार के देवता को मानने वालों से अपना विभेद रच लिया। इस सम्बन्ध में दूसरी बात यह थी कि आर्यों के आने से भारत में मिश्रित प्रजातीय समूह बने। इससे आर्यों की ओर से प्रजातीय शुद्धता, धार्मिक पवित्रता इत्यादि की भावना और भी कटु हो गई। इन विचारों ने नये समूहों को बनाया और शुद्धता, पवित्रता आदि की धारणाओं ने एक समूह को दूसरे समूहों से पृथक् कर दिया। उन लोगों ने (अर्थात् पुजारियों के वर्ग ने, जोकि जप-तप और पूजा का कार्य करते थे) अपनी पवित्रता को बनाये रखने तथा अपने को सुप्रतिष्ठित करने के लिये अपने नैतिक बल के प्रयोग के द्वारा धर्म के आधार पर अपनी स्थिति को सबसे ऊपर रखते हुये जाति-प्रथा का निर्माण किया।

श्री सेनार्ट का मत है कि धर्म या उससे सम्बन्धित पवित्रता की धारणा के

आधार पर समाज को विभिन्न भागों में बाँटने या उनमें आपस में पृथक्ता की नीति को अपनाने का तरीका केवल भारतवर्ष में ही है, यह सोचना गलत है। यह भारतीय तरीका कोई अनोखा नहीं है और ग्रीस, रोम आदि समाजों में भी देखने को मिलता था। इन सभी समाजों में प्राचीनकाल में परिवार एक धार्मिक इकाई के रूप में कार्य करता था और एक ही प्रकार की पूजा-विधियों और धार्मिक कृत्यों पर विश्वास करने वाले सभी परिवार कुछ अलौकिक विश्वासों व नैतिक आधारों पर एक साथ गुँथे होते थे। ये परिवार धार्मिक पवित्रता को बनाये रखने के लिये खाने-पीने के सम्बन्ध में छुआछूत को अपनाते थे और मृतक संस्कारों व अन्य प्रकार के धार्मिक संस्कारों के अवसरों पर उन व्यक्तियों को सम्मिलित नहीं होने देते थे जिन्हें कि वे जानते-पहचानते नहीं हैं। उसी प्रकार उनमें यह भी विश्वास था कि धार्मिक पवित्रता को बनाये रखने के लिये जीवन में प्रत्येक प्रकार की शुद्धता होनी चाहिये और उनमें रक्त की शुद्धता प्रमुख है। जाति-प्रथा की उत्पत्ति आर्यों के इन्हीं विचारों से हुई है और इसी शुद्धता व पवित्रता की धारणा के आधार पर खाने-पीने के सम्बन्ध में निषेध तथा अन्त-विवाह के नियमों का विकास हुआ है। संक्षेप में यह श्री सेनार्ट का धार्मिक सिद्धान्त है।

उपर्युक्त विवेचना से स्पष्ट है कि जाति-प्रथा की उत्पत्ति को समझाने के लिये श्री सेनार्ट ने हमारा ध्यान निम्नलिखित पाँच बातों की ओर आकर्षित किया है—

- (i) जाति परिवार या परिवार के समूहों का एक संकलन है। (ii) इन परिवारों में धार्मिक कृत्यों या पूजा-विधियों से सम्बन्धित पवित्रता की धारणा सामान्य रूप से पाई जाती है और ये परिवार इस पवित्रता को बनाये रखने के सम्बन्ध में सचेत व प्रयत्नशील भी होते हैं। (iii) इसी सचेतनता या प्रयत्नशीलता के फलस्वरूप खाने-पीने के सम्बन्ध में निषेध पनपे, क्योंकि यह विश्वास किया जाता था कि अपने समूह से बाहर के व्यक्तियों, विशेषकर अजनवियों के साथ खाने-पीने से उस पवित्रता की रक्षा सम्भव नहीं है। (iv) धार्मिक कारणों से भी परिवार के रक्त को शुद्ध बनाये रखने पर ध्यान दिया जाता था और इसके लिये जो सबसे प्रत्यक्ष तरीका अपनाया गया वह अन्तर्विवाह के नियमों को विकसित व लागू करना तथा पालन करना था। (v) परिवार का उपर्युक्त ढाँचा व धार्मिक पवित्रता तथा रक्त की शुद्धता से सम्बन्धित विभिन्न विचार आर्य प्रजाति में पाये जाते हैं। जाति-प्रथा आर्य-परिवार से सम्बन्धित विभिन्न विचारों का ही परिणाम है।

समालोचना—(1) इस सिद्धान्त की आलोचना करते हुये श्री डालमैन (Dhalmann) ने लिखा है कि श्री सेनार्ट ने जाति-प्रथा की उत्पत्ति को इतना सरल बना दिया कि वह वैज्ञानिक नहीं रह गई है। (2) श्री सेनार्ट का केवल धार्मिक तत्वों के आधार पर जाति-प्रथा की उत्पत्ति को समझाने का प्रयत्न अनुचित है, क्योंकि जाति-प्रथा जैसी सामाजिक संस्था की उत्पत्ति एक कारक से कदापि सम्भव नहीं। जाति-प्रथा की उत्पत्ति में प्रजातीय, आर्थिक आदि कारकों की अवहेलना करना वास्तविकता को टालना है। (3) श्री सेनार्ट का यह कथन भी गलत है कि एक जाति के सदस्य एक ही वंश के होते हैं! वास्तव में प्रत्येक जाति में अनेक वंश पाये जाते हैं। ऐसा लगता है कि श्री सेनार्ट अन्य कुछ विद्वानों की भाँति, जाति और गोत्र, दोनों को एक समझने की गल्ती कर बैठे हैं। (4) श्री सेनार्ट के इस कथन के समर्थन में कोई वैज्ञानिक प्रमाण नहीं है कि पूजा-विधियों की पवित्रता और रक्त की शुद्धता

को बनाए रखने की धारणा केवल आर्य परिवारों की अनोखी विशेषता है। मानव-शास्त्रीय अध्ययनों (Anthropological studies) से यह स्पष्ट पता चलता है कि अनेक आदिम समाजों के परिवारों में भी ये विशेषताएँ पाई जाती हैं और वे लोग भी परिवार की पूजा-विधियों को बनाए रखने, अनजाने व्यक्तियों को परिवार के धार्मिक कार्यों से दूर रखने तथा उनके साथ बैठकर खाने-पीने में परहेज करने के सम्बन्ध में पर्याप्त सचेत रहते हैं।

(4) व्यावसायिक सिद्धान्त (Occupational Theory)

पेशों के आधार पर जाति-प्रथा की उत्पत्ति की व्याख्या श्री नेसफील्ड (Nesfield) ने प्रस्तुत की। आपके सिद्धान्त का केन्द्रीय भाव यह है कि "पेशा और केवल पेशा ही, जाति-प्रथा की उत्पत्ति के लिए उत्तरदायी है।"⁵ अपने इस कथन को स्पष्ट करते हुए श्री नेसफील्ड ने लिखा है कि विभिन्न जातियों में जो भेद हमें देखने को मिलता है उसका एकमात्र कारण उनके पेशों या कर्मों में भी भिन्नता का होना है। पेशों की ऊँच-नीच या अच्छाई-बुराई के अनुसार ही जाति-प्रथा में ऊँच-नीच का संस्तरण हुआ है। ऐसा संस्तरण स्वाभाविक है और सभी समाजों में मिलता है, इसी स्वाभाविक आधार पर ही जाति-प्रथा की उत्पत्ति को समझने का प्रयत्न करना चाहिए। इस सम्बन्ध में श्री नेसफील्ड ने यह भी उल्लेख किया है कि जाति-प्रथा कि उत्पत्ति या विकास में धर्म का कोई भी महत्व नहीं, और न ही प्रजातीय सम्मिश्रण या शारीरिक लक्षणों के आधार पर जातियों को एक-दूसरे से पृथक् किया गया था। शारीरिक लक्षणों के आधार पर ब्राह्मण और मंगियों में कुछ भी भेद नहीं है, क्योंकि व्यावहारिक रूप से भारत में एक ही प्रजाति है। अतः प्रजातीय आधार पर जाति-प्रथा की उत्पत्ति कदापि नहीं हो सकती। उसी प्रकार धर्म भी वह दृढ़ आधार प्रदान नहीं कर सकता जोकि जाति-प्रथा जैसी संस्था के विकास के लिए आवश्यक है। पेशों का सम्बन्ध लोगों की जीविका से है, इसलिए मनुष्य के जीवन में यह सबसे महत्वपूर्ण आधार है। परन्तु इस आधार में भी ऊँच-नीच का भेद होता है, अर्थात् सामाजिक तौर पर कुछ पेशों को ऊँचा स्थान मिलता है और कुछ को नीचा। इस प्रकार सामाजिक मूल्यों तथा आदर्शों के अनुसार पेशों का एक संस्तरण हो जाता है और फिर उन विभिन्न पेशों को करने वाले व्यक्ति भी आपस में उसी के अनुसार बँट जाते हैं और उन में भी ऊँच-नीच का एक संस्तरण पनप जाता है। जाति-प्रथा में भी यही हुआ और इसके अन्तर्गत जो कुछ भी भिन्नता या भेदभाव है वह सभी पेशों की ऊँच-नीच पर आधारित है।

समालोचना—श्री नेसफील्ड के उपर्युक्त सिद्धान्त से अनेक समाजशास्त्री आज सहमत नहीं हैं। उनका कहना है कि इस सिद्धान्त में अनेक कमियाँ हैं। उनमें से कुछ निम्नवत् हैं—

(1) श्री हट्टन (Hutton) का कथन है कि अगर पेशों के आधार पर ही ऊँच-नीच का भेदभाव है, तो क्या कारण है कि देश के विभिन्न भागों में रहने वाले और एक ही तरह के पेशे करने वाले व्यक्तियों के सामाजिक स्तरों में इतना अन्तर पाया जाता है? उदाहरणार्थ, दक्षिणी भारत में खेती करने वाली जातियों का स्थान

5. "Function and function alone is responsible for the origin of caste system."—Nesfield *Brief View of the Caste System.*, p. 7.

काफी नीचा है, परन्तु उत्तरी भारत में अगर ऊँचा नहीं तो भी सम्माननीय अवश्य है।⁶ क्या भारतवर्ष में जितने भी लोग खेती करते हैं सब एक ही जाति के हैं ? ऐसा कदापि नहीं है। उदाहरणार्थ, सन् 1971 की जनगणना के अनुसार भारत की प्रायः 71 प्रतिशत जनसंख्या (अर्थात् प्रायः 39 करोड़ 5 लाख व्यक्ति) खेती पर निर्भर है। अतः इनका पेशा एक-सा है। यदि श्री नेसफील्ड के सिद्धान्त को स्वीकार किया जाए तो इन समस्त व्यक्तियों की एक ही जाति होनी चाहिए। पर वास्तव में ऐसा नहीं है। समान पेशे के आधार पर इन सबको एक आर्थिक समूह का सदस्य माना जा सकता है, पर एक ही जाति के सदस्यों के रूप में उनकी कल्पना कदापि नहीं की जा सकती। श्री नेसफील्ड इस सामान्य सत्य को भी भूल गये हैं।

श्री हट्टन का कथन है कि इस सिद्धान्त की अपर्याप्तता को एक दूसरे रूप में भी प्रमाणित किया जा सकता है। डलिया बनाने का पेशा बहुत नीची जाति का होता है और लोहे का काम करने वाले लुहारों का पेशा ठठेरों व सुनारों से पहले उत्पन्न हुआ, फिर भी लुहार की सामाजिक स्थिति सुनार या ठठेरे से नीची मानी जाती है। अगर पेशों के आधार पर सामाजिक स्थिति निर्धारित होती, तो ऐसा तो नहीं होना चाहिए था।

(2) श्री नेसफील्ड का यह कथन भी सही नहीं प्रतीत होता है कि जाति-प्रथा के विकास में धर्म का कोई भी योग नहीं है। सामाजिक संस्था होने पर भी जाति-प्रथा में धार्मिक तत्व पाए जाते हैं। उदाहरणार्थ, जाति-प्रथा में धार्मिक पवित्रता व अपवित्रता की धारणा के आधार पर ही ब्राह्मणों को धार्मिक विषयों के विशेषाधिकार प्राप्ते हैं और हरिजनों पर अनेक धार्मिक अयोग्यताएँ लाद दी गई हैं। यह सच है कि केवल धर्म या धार्मिक कारकों के आधार पर ही जाति-प्रथा का विश्लेषण सम्भव नहीं, फिर भी इस प्रथा में धार्मिक तत्वों के महत्व की पूर्णतया अवहेलना भी नहीं की जा सकती।

(3) डॉ० मजूमदार (Majumdar) का कथन है कि इस सिद्धान्त की एक बड़ी कमी यह है कि इसमें प्रजातीय दृष्टिकोण की भी अवहेलना की गई है।⁷ जाति-प्रथा की उत्पत्ति में प्रजातीय भिन्नताओं की उपेक्षा उचित न होगी। आपके शब्दों में, "हो सकता है कि ऊँची जातियों में अधिक प्रजातीय अन्तर न हो, यह भी हो सकता है कि एक विशिष्ट भौगोलिक प्रदेश या उसके किसी हिस्से में रहने वाले समूहों में शारीरिक विशेषताओं का अत्यधिक अन्तर न हो, फिर भी कुछ प्रजातीय अन्तर 'ऊँचे' और 'नीचे' सामाजिक समूहों में अवश्य ही हैं, और यह बात उनके लिए स्पष्ट है जो इस देश को और उसकी जनता को जानते हैं।"⁸

(4) श्री नेसफील्ड ने अपने सिद्धान्त में यह तो कहा है कि पेशों की ऊँच-नीच या अच्छाई-बुराई के अनुसार ही जाति-प्रथा कि ऊँच-नीच का संस्तरण हुआ है, पर

6. See J. H. Hutton, *Caste in India*, Oxford University Press, London, 1961, p. 170.

7. D. N. Majumdar. *op. cit.*, p. 285

8. "There may not be much racial differences between the higher castes as such, there may not be a great variation of physical features in groups occupying a particular geographical region or parts of it, but some racial difference between 'high' and 'low' social groups does exist and is apparent to one who knows the country and its people." *ibid.*, pp. 283-286.

इस सिद्धान्त से इस बात का स्पष्टीकरण नहीं होता कि पेशों की ऊँचाई-निचाई का निर्धारण किस आधार पर किया गया। वास्तव में, पेशों की ऊँचाई-निचाई या अच्छाई-बुराई के सम्बन्ध में कुछ-न-कुछ धारणा किसी-न-किसी रूप में सभी समाजों में देखने को मिलती है। तो फिर भारतवर्ष में वह कौनसी शक्ति या कारक क्रिया-शील था जिसके कारण इस देश में ही जाति-प्रथा जैसी एक संस्था का विकास सम्भव हुआ ? इस प्रश्न का उत्तर या इस शंका का समाधान श्री नेसफील्ड के सिद्धान्त से नहीं होता ;

(5) यदि यह मान भी लिया जाए कि श्री नेसफील्ड ने पेशों की उपयोगिता और कठिनाई के आधार पर ही उनकी (पेशों की) ऊँचाई-निचाई का निर्धारण किया है, तो भी इस आधार पर यह समझना कठिन होगा कि जातीय संस्तरण में ब्राह्मणों को। सबसे ऊँची स्थिति कैसे मिली। सामाजिक तौर पर यह सिद्ध नहीं किया जा सकता कि उनका पेशा सबसे अधिक उपयोगी और कठिन है। अगर धार्मिक दृष्टिकोण से विवेचना की जाए तो यह कहा जा सकता है कि धार्मिक क्षेत्र में ब्राह्मण विशेषज्ञ (specialist) थे, पर धर्म सम्पूर्ण सामाजिक-सांस्कृतिक जीवन का एक अंग मात्र है और उसके विशेषज्ञों को सम्पूर्ण सामाजिक व्यवस्था या संगठन में सर्वोच्च स्थान कैसे मिल जाता है या मिल सकता है, यह विषय स्पष्टतः श्री नेसफील्ड के सिद्धान्त से समझ में नहीं आता है। निष्पक्ष रूप में विवेचना करने पर यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि सम्पूर्ण सामाजिक आर्थिक जीवन के कल्याण के लिए ब्राह्मणों के पेशे से अन्य पेशे अधिक महत्वपूर्ण हैं और प्राचीनकाल में भी थे। हाँ, प्राचीन परम्परा के दृष्टिकोण से पेशों की ऊँचाई-निचाई धर्म से सम्बन्धित पवित्रता व अपवित्रता की धारणा के आधार पर अधिक अच्छी तरह समझी जा सकती है ; पर यह आधार मूलतः धार्मिक है और श्री नेसफील्ड इस धार्मिक आधार को अपने सिद्धान्त में कदापि स्वीकार नहीं करते। उनके अनुसार जाति-प्रथा के विकास में धर्म या धार्मिक तत्व का कोई भी महत्व नहीं है। श्री नेसफील्ड के सिद्धान्त में उनका यह एक-तरफा दृष्टिकोण ही उनके सिद्धान्त की एक प्रमुख दुर्बलता बनकर प्रकट होता है।

(5) उद्विकासीय सिद्धान्त

(Evolutionary Theory)

यह सिद्धान्त श्री नेसफील्ड के व्यावसायिक सिद्धान्त का ही एक दूसरा रूप है। इस सिद्धान्त के मूल प्रवर्तक श्री डेनिजल इबेटसन (Denzil Ebbetson) हैं। आपका मत है कि जाति-प्रथा की उत्पत्ति चार वर्णों के आधार पर नहीं, बल्कि धार्मिक संघों (guilds) से हुई है। आर्थिक वर्ग से आर्थिक संघ और संघ से जाति का विकास हुआ है।

प्रारम्भ में मानव खानाबदोशी स्तर पर था और प्रायः रक्त-सम्बन्धी समूह के सदस्य के रूप में एक स्थान पर रहता था। इस कारण इस स्तर में जाति-प्रथा का कोई भी प्रश्न नहीं उठता था, क्योंकि एक स्थान पर रहने वाले सभी लोग एक-दूसरे के रक्त सम्बन्धी होते थे और इसीलिये उनमें ऊँच-नीच की भावना नहीं बल्कि 'हम' की भावना प्रबल होती थी। इसके बाद आर्थिक जीवन के उद्विकास के एक स्तर पर आकर लोगों ने खेती को अपनाया और धीरे-धीरे उद्योग और व्यापार भी पनपता गया; जिससे आर्थिक जीवन की जटिलता भी दिन-प्रतिदिन बढ़ती गई। आर्थिक व्यवस्था जटिल होने के साथ-साथ श्रम-विभाजन की आवश्यकता हुई और राजा का यह कर्तव्य

हो गया कि वह अपनी आर्थिक नीति को श्रम-विभाजन और पेशे की भिन्नता के आधार पर निर्धारित करे। इससे सामाजिक जीवन में आर्थिक वर्गों का जन्म हुआ। इसी के आधार पर एक तरह के पेशे करने वाले आपस में एक दृढ़ सामुदायिक भावना में बंध गये और एक-दूसरे की सहायता और रक्षा करने लगे; साथ ही अपने-अपने हितों की रक्षा करने के लिये प्रत्येक वर्ग ने पृथक्-पृथक् संघों (guilds), का निर्माण किया। पेशों के आधार पर बने ऐसे प्रत्येक संघ ने सामुदायिक भावना के कारण और अपने संघ की महत्ता बढ़ाने व बनाये रखने के लिये और साथ ही व्यवसाय सम्बन्धी भेदों (Trade secrets) को छिपाये रखने के उद्देश्य से न केवल दूसरे संघों से विवाह आदि के संबंध में पृथक्ता की नीति को अपनाया⁹ बल्कि अपनी प्रतिष्ठा के लिये बराबर संघर्ष भी करते रहे। इस संघर्ष में पुरोहितों की श्रेणी या संघ की विजय हुई और उन लोगों ने अपनी महत्ता को बिरस्थाई करने के लिये अपने पेशे का दृढ़ता से पालन किया और अन्त-विवाह करना प्रारम्भ किया। इसकी नकल दूसरे संघों ने भी की और दिन-प्रतिदिन अन्त-विवाही संघों (endogamous guilds) की संख्या बढ़ने लगी और एक संस्तरणात्मक संगठन (hierachical organization) की स्थापना हुई,¹⁰ यही जाति-प्रथा का प्रारंभिक रूप था।

समालोचना (Criticism)—(1) श्री हट्टन (Hutton) के अनुसार श्री इवेटसन का यह सिद्धान्त सही इसलिये नहीं है क्योंकि व्यावसायिक संघ दुनिया के प्रायः सभी समाजों में पाये जाते हैं। फिर क्या कारण है कि जाति-प्रथा की उत्पत्ति केवल भारत में ही हुई। पेशा जाति-प्रथा के विकास में मदद करने वाला एक अंग है, न कि उसे जन्म देने वाली धात्री।

(2) डॉ० मजूमदार उपर्युक्त आलोचना को उचित नहीं मानते हैं। उनका कहना है कि एक संस्था के सब तत्व सब देशों में एक ही तरह के नहीं मिलते। व्यावसायिक संघ दुनिया के अन्य समाजों में पाये जाने पर भी वहाँ जाति-प्रथा की उत्पत्ति सम्भव इसलिये नहीं हुई कि अन्य देशों में जाति-प्रथा की उत्पत्ति के लिये आवश्यक अन्य तत्वों का अभाव था। वास्तव में श्री इवेटसन के सिद्धान्त की सबसे बड़ी कमी यह है कि इसमें सामाजिक समूहों के प्रजातीय भेदों की उपेक्षा की गई है। यह अस्वीकार नहीं किया जा सकता है कि जाति-प्रथा की उत्पत्ति में प्रजातीय तत्व महत्वपूर्ण था। "इसके अतिरिक्त, यह विश्वास करना भी कठिन है कि भारतीय जाति-प्रथा जैसे जटिल सामाजिक संस्तरण या भेदाभेद का जन्म केवल पुरोहितों के द्वारा सासाजिक विभाजन और उनके अपने प्रभुत्व को बनाये रखने की इच्छा के कारण हुआ है।"¹¹

9. "These features—tribes, guilds and religious monopolies—have no doubt contributed to the growth and extension of the caste system and done much to consolidate and perpetuate it, but they cannot be regarded as causes. They are the features which are not unique but common to many societies in many countries, whereas caste is found in India and nowhere else."—J. H. Hutton *op. cit.*, p. 176.

10. "The Brahmins set the ball rolling and the various other guilds followed suit and a hierachical organization established itself."—D. N. Majumdar, *op. cit.*, p. 286.

11. "Besides it is difficult to believe that a social stratification of such complexity as the caste system of India owes its origin to a priestly division of society, and to the desire of levitical supremacy."—*Ibid.*, p. 287.

(6) प्रजातीय सिद्धान्त

(Racial Theory)

जाति-प्रथा की प्रजातीय व्याख्या का एक रूप महाभारत में देखने को मिलता है। परम्परात्मक सिद्धान्त की विवेचना करते हुए इस पक्ष पर हम पहले ही प्रकाश डाल चुके हैं और यह भी उल्लेख कर चुके हैं कि उस सिद्धान्त का कोई वैज्ञानिक आधार नहीं था। सर हर्बर्ट रिजले (Sir Herbert Risley) ने ही सर्वप्रथम इस सिद्धान्त को एक वैज्ञानिक आधार पर प्रस्तुत किया था।¹² ऐसे तो अन्य अनेक विद्वानों ने जाति-प्रथा के निर्माण में प्रजातीय तत्वों के महत्व को स्वीकार किया है, पर उनमें विदेशी लेखकों में सर्वश्री मैकाइवर (MacIver), मैक्स वेबर (Max Weber), क्रॉबर (Kroeber) आदि का नाम और स्वदेश में सर्वश्री एस० सी० राय (S. C. Roy), एन० क० दत्ता (N. K. Datta), घुरिये (Ghurye), मजूमदार (Majumdar) आदि का नाम उल्लेखनीय है। हम यहाँ श्री रिजले, डॉ० घुरिये तथा डा० मजूमदार के सिद्धान्तों पर प्रकाश डालेंगे—

(अ) रिजले का सिद्धान्त (Theory of Risley) — श्री रिजले के सिद्धान्त का मूलधार (क) प्रजातीय भिन्नता और (ख) अनुलोम विवाह-प्रथा है। आपके अनुसार जाति-प्रथा की उत्पत्ति इण्डो-आर्यन प्रजाति के फारस (Persia) से भारत में आने के बाद हुई है। फारस में उनका समाज चार भागों में विभाजित था। विभाजन के इस सिद्धान्त को आर्यों ने भारतीय समाज पर भी लागू किया। इसके अतिरिक्त यहाँ के मूल निवासियों (जिनको कि आर्यों ने हराया था) और आर्यों में अनेक सांस्कृतिक व प्रजातीय या सार्वरिक भिन्नताएँ थीं, जिनके कारण वे दोनों पूर्ण रूप से घुल-मिल नहीं पाए और उनमें पृथक्ता बनी रही।

दूसरी ओर, चूँकि आर्य लोग आक्रमणकारी के रूप में भारत आए थे, इस कारण उनके पास स्त्रियों की नितान्त कमी थी। इस कमी को पूरा करने के लिए उन्होंने एक 'योजना' बनाई जिसके अनुसार आर्यों ने यहाँ के मूल निवासियों की लड़कियों से अपने लड़कों के विवाहों को स्वीकार किया और इस प्रकार 'अनुलोम' (Anuloma) विवाह-प्रथा को जन्म दिया। परन्तु साथ ही आर्यों ने अपनी लड़कियों का विवाह मूल-निवासियों के लड़कों के साथ करना स्वीकार नहीं किया और इस प्रकार 'प्रतिलोम' (Pratiloma) विवाह पर प्रतिबन्ध लगाया। अनुलोम विवाह तब तक चलता रहा जब तक स्त्रियों की आवश्यकता पूरी न हो गई। आवश्यकता पूरी होते ही आर्यों द्वारा ऐसे विवाहों को बन्द कर दिया गया और विभिन्न आक्रमणकारी समूह जातियों के रूप में बढ़ा गए। दूसरे शब्दों में, अनुलोम विवाह के द्वारा प्रजातीय मिश्रण के फलस्वरूप ही विभिन्न जातियाँ उत्पन्न हुईं और उस उत्पत्ति में मूल निवासियों तथा आर्यों में पाई जाने वाली अनेक सांस्कृतिक और प्रजातीय भिन्नताएँ सहायक सिद्ध हुईं, क्योंकि इन भिन्नताओं के कारण ही उन दोनों के लिये एक-दूसरे के साथ पूर्ण रूप से घुल-मिल जाना सम्भव न हुआ। संक्षेप में जाति-प्रथा का आधार प्रजातीय ही है।

(ब) घुरिये का सिद्धान्त (Theory of Ghurye) — आपका सिद्धान्त इसी निष्कर्ष को लेकर प्रारम्भ होता है कि जाति-प्रथा के कुछ पहलुओं का जन्म गंगा के मैदान में हुआ था, क्योंकि यहीं पर ब्राह्मणों से सम्बन्धित इण्डो-आर्यन सभ्यता का

विकास हुआ था। इण्डो-आर्यन प्रजाति भारत में ईसा के 2500 वर्ष पूर्व आई और यहाँ के आदिवासियों को हराकर उन्हें 'दास', ईरानी भाषा में जिसका अर्थ 'शत्रु' (enemy) है, कहकर सम्बोधित किया।¹⁴ धार्मिक पवित्रता की भावना और अपनी विजय पर गर्व होने के कारण इन लोगों ने यहाँ के आदिवासियों को सदैव ही अपने से दूर रखा।

इण्डो-आर्यन जब भारत में आए तो उनमें कम-से-कम तीन स्पष्ट वर्ग थे, जिनमें आपस में विवाह प्रायः होता था, यद्यपि ऐसे विवाह बिल्कुल निषिद्ध न थे।¹⁵ भारत में आने पर उन्होंने सबसे पहले यहाँ के आदिवासियों से बने शूद्रों को अपनी धार्मिक पूजा आदि से अलग कर दिया और उनके साथ विवाह करने पर कठोर प्रतिबन्ध लगाया। इस प्रकार डॉ० घुरिये के मतानुसार जाति-प्रथा के विविध तत्त्व पहले-पहल आयों के इन प्रयत्नों के फल हैं जोकि उन्होंने भारत के आदिवासियों और शूद्रों को ब्राह्मण सम्यता के धर्म और सामाजिक संसर्ग से अलग रखने के लिए किए।¹⁶

डॉ० घुरिये के अनुसार अन्तर्विवाह की उत्पत्ति भी सर्वप्रथम गंगा के मैदान में रहने वाले ब्राह्मणों में हुई थी; वहीं से अन्तर्विवाह की धारणा और जाति-प्रथा के अन्य तत्त्व ब्राह्मणों के अनुयायियों ने देश के दूसरे भागों में फैलाए।¹⁷ शारीरिक शुद्धता और सांस्कृतिक दृढ़ता को बनाए रखने के लिये ब्राह्मणों के द्वारा किए गए प्रयत्नों के फलस्वरूप ही विभिन्न वर्ग एक-दूसरे से अलग रहे और जाति-प्रथा की संरचना का निर्माण किया। इस प्रकार जाति-प्रथा को जन्म देने वाले ब्राह्मण थे। दूसरे शब्दों में, डॉक्टर घुरिये के अनुसार, "जाति-प्रथा इण्डो-आर्यन संस्कृति के ब्राह्मण का वच्चा है।"¹⁸

(स) मजूमदार का सिद्धान्त (Theory of Majumdar)—डॉक्टर मजूमदार भी जाति-प्रथा की उत्पत्ति में प्रजातीय आधार को मान्यता देते हैं। श्री काडरिंगटन (K. de B. Codrington) के सुझाव से सहमत होते हुए आपका मत है कि हमें जाति-प्रथा की उत्पत्ति का पता लगाने के लिये संस्कृत के शब्दों का सहारा लेना चाहिये।¹⁹ ऐसा ही एक शब्द 'वर्ण' है। संस्कृत में जाति-प्रणाली के लिये प्रारम्भ में 'वर्ण' शब्द का प्रयोग किया जाता था, जिसका अर्थ 'रंग' और 'वर्ग' दोनों होता है। प्रारम्भ में तीन ऊँचे वर्ण एक-दूसरे से रंग के आधार पर भिन्न थे, जो इण्डो-आर्यन प्रजाति तथा भारत के आदिवासी प्राग-द्राविड (pre-Dravidian) और आदि-भूमध्यसागरीय (proto-Mediterranean) प्रजातियों के मिश्रण से बने थे। ऐसे प्रजातीय सम्मिश्रण के अनेक कारण थे—(अ) आक्रमणकारी समूह में स्त्रियों की कमी, (ब) इनके घुमन्तू जीवन में भारत के आदिवासियों का स्थायी जीवन का आकर्षण,

13. The Brahmanic variety of the Indo-Aryan civilization.....was developed in the Gangetic plain. I, therefore, conclude that some of the important aspects of caste originated in this region."—G. S. Ghurye, *op. cit.*, pp. 159-60.

14. *Ibid*; p. 160.

15. *Ibid* p. 169.

16. "The various factors that characterise caste-society were the result, in the first instance, of the attempts on the part of the upholders of the Brahmanic civilization to exclude the aborigines and the sudras from religious and social communion with themselves."—*Ibid.*, p. 169.

17. *Ibid*; p. 172.

18. D. N. Majumdar, *Races and Cultures of India*, *op. cit.*, p. 291.

(स) द्रविड़ संस्कृति की अति उन्नत अवस्था, मातृसत्तात्मक प्रणाली, देवियों की पूजा, संस्कार, मन्दिर, शिक्षा आदि अनेक कारणों से प्रजातीय सम्मिश्रण हुए।¹⁹

दूसरी ओर, इन प्रजातियों के बीच, संस्कृतियों के संघर्ष और प्रजातियों के सम्पर्क ने भारत में विभिन्न सामाजिक समूहों को पुष्ट किया और अन्तर्विवाही समूहों (endogamous groups) का निर्माण हुआ, जिन्होंने अपनी प्रजातीय शुद्धता और सांस्कृतिक एकता को पूर्ण सम्मिश्रण से रक्षा करने के प्रयत्न किए।²⁰ इसी प्रयत्न में ऊपर के तीन वर्णों या जातियों ने महत्त्वपूर्ण पेशों पर अपने को दृढ़ रखकर अपनी ऊँची स्थिति को स्थायी बनाए रखा और दूसरों को इन पेशों को चुनने की स्वतन्त्रता न दी। इस वर्ण-परम्परा को समाज पर लादने के लिये ब्राह्मणों के प्रभावों को काम में लाया गया।²¹

यद्यपि ऊँचे तीनों वर्णों—ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य—ने अपना स्थान सबसे ऊँचा रखा, फिर भी महत्वाकांक्षी सामाजिक समूह को सामाजिक संरचना में स्थान और अधिकार देना ही पड़ा; जिसके फलस्वरूप एक संस्तरणात्मक संगठन (hierarchical organization) का विकास हुआ। श्री नेमपील्ड का कथन था कि पेशों के ऊँच-नीच या अच्छाई-बुराई के अनुसार ही जाति-प्रथा के ऊँच-नीच का संस्तरण हुआ है। परन्तु डॉक्टर मजूमदार के अनुसार जाति की स्थिति या पद इस बात पर निर्भर है कि उसमें किस परिमाण तक रक्त की शुद्धता है और कहीं तक वह दूसरे सामाजिक समूह से पृथक् रह पाया है।²² ब्राह्मणों और जनजातीय समूह ने अपनी प्रजातीय शुद्धता को सबसे अधिक बनाए रखा है। इन दोनों समूहों के बीच में अगणित सामाजिक समूह हैं, जिनमें रक्त की शुद्धता और सांस्कृतिक सम्बन्धों में भेद पाये जाते हैं। इस सारी प्रणाली को गलती से हिन्दू जाति-प्रथा कहा जाता है।²³

समालोचना²⁴ (Criticism)—(1) प्रजातीय सिद्धान्तों की आलोचना जिन

19. *Ibid.*, p. 291.

20. "The clash of culture and contacts of races crystallized social grouping in India, and endogamous groups were formed who jealously guarded their racial purity and cultural integrity against wholesale admixture and miscegenation,"—*Ibid.*, p. 291.

21. *Ibid.*, pp. 291-292.

22. "Nesfield said that the superiority or inferiority of occupation is represented in the hierarchy of the castes. We should think that the status of the castes depends upon the degree of purity of blood and the extent of isolation maintained by the social groups"—*Ibid.*, p. 292.

23. *Ibid.*, p. 292.

24. "The position of Negroes in the southern states of the U. S. A. has been cited as offering a parallel case, and the view is supported by Westermarck; it finds a certain measure of confirmation perhaps in the law passed in the Union of South Africa against the inter-marriage of white and coloured races; but it fails to offer any satisfactory explanation of the taboo on commensality. It is no doubt true that separate railway carriages, separate restaurants, even separate townships, are provided for Negroes, but no pollution takes place as a result of employing Negro servants, and there is no hard and fast line which is really analogous to a caste division between, say

Contd. page 216.

विद्वानों ने की है उनमें श्री हट्टन (Hutton) का स्थान सर्वप्रमुख है। उनका कहना है कि प्रजातीय सिद्धान्त जाति-प्रथा के अन्तर्गत पाए जाने वाले खाने-पीने के सम्बन्ध में निषेधों पर कोई प्रकाश नहीं डालता। अमेरिका और दक्षिणी अफ्रीका में नीग्रो प्रजाति के लिये अलग-होटल, जलपान-गृह आदि हैं, पर उनके झूने से किसी प्रकार की अपवित्रता नहीं होती। परन्तु भारत में अछूतों के झू लेने से भोजन आदि ऊँची जातियों के लिये अपवित्र क्यों हो जाता है, इसकी कोई भी व्याख्या प्रजातीय सिद्धान्त में नहीं मिलती है। (2) श्री हट्टन ने दूसरी आलोचना यह की है कि अगर प्रजातीय और सांस्कृतिक भिन्नताएँ व सम्पर्क ही जाति-प्रथा की उत्पत्ति का कारण हैं तो भारत में बाहर से आये हुए मुसलमान और ईसाई भी, जिनमें ये दोनों प्रकार की भिन्नताएँ पाई जाती थीं, क्यों नहीं एक जाति बन सके? इसकी व्याख्या देने में यह सिद्धान्त पूर्णतया असफल रहा है। (3) श्री हट्टन ने प्रजातीय सिद्धान्त की आलोचना करते हुए आगे लिखा है कि प्रजातीय भेद और पक्षपात के आधार पर अनुलोम विवाह को समझाया जा सकता है, पर इससे जाति-प्रथा की उत्पत्ति कैसे हुई, यह समझ में नहीं आता। प्रजातीय भेद और पक्षपात संसार के अन्य देशों में भी पाए जाते हैं पर वहाँ कहीं भी जाति-प्रथा का विकास नहीं हुआ है। इसका क्या कारण है, यह प्रजातीय सिद्धान्त नहीं बतलाता। (4) यह कहना भी गलत है कि वर्ण-व्यवस्था को समाज पर लादने के लिये ब्राह्मणों के प्रभाव को काम में लाया गया क्योंकि श्री हट्टन के मतानुसार जाति-प्रथा की अनेक विशेषतायें ऐसे भागों में देखने को मिलती हैं, जहाँ ब्राह्मणों का कोई प्रभाव नहीं है। (5) अन्त में इस सिद्धान्त में एक बहुत बड़ी कमी यह है कि यह केवल प्रजातीय आधार पर ही जाति-प्रथा की उत्पत्ति की व्याख्या करता है। जाति-प्रथा के विकास में एक कारण का नहीं, बल्कि अनेक कारणों का योग रहा है।

(7) आदिम संस्कृति का सिद्धान्त

(Theory of Primitive Culture)

अपनी 1931 की जनगणना की रिपोर्ट में श्री हट्टन (Hutton) ने प्रजातीय सिद्धान्त की समालोचना करते हुए इस सिद्धान्त को प्रस्तुत किया है।²⁵ उनका कहना यह है कि जाति-प्रथा भारत की एक अनोखी संस्था है और इस रूप में इसका विकास भारत को छोड़कर और कहीं भी नहीं हुआ है, इसलिये जाति-प्रथा की उत्पत्ति के कारणों को भारत में ही ढूँढना चाहिये। भारत में ही कुछ ऐसे विशिष्ट कारक अवश्य ही क्रियाशील रहे होंगे जिससे जाति-प्रथा का विकास भारत में ही हुआ है और अन्यत्र कहीं भी नहीं। इस विशाल देश के दुर्गम कोनों में आज भी अनेक ऐसे स्थान हैं जो कि हिन्दू, बौद्ध या इस्लाम के प्रभाव से विल्कुल मुक्त हैं और जहाँ की जाति-प्रथा को उस रूप में नहीं लिया जाता है जिस रूप में उसे हिन्दू लोग लेते हैं, फिर भी वहाँ कुछ ऐसी प्रथाएँ व विशेषताएँ देखने को मिलती हैं जो कि जाति-प्रणाली के विभिन्न पहलुओं से मिलती-जुलती हैं। इन स्थानों में प्रत्येक गाँव एक

quadroons and octoroons, nor have the social factors which might have tended to produce similar result in India ever succeeded in making Muslims, Ang'o-Indians or Eurasians into caste in the Hindu sense....."—J. H. Hutton, *op. cit.*, p. 174.

25. Also see—J. H. Hutton, *Caste in India*, 3rd Edition, Oxford University Press, London, 1961, pp. 183-189.

स्वतन्त्र राजनीतिक इकाई है और प्रत्येक गाँव के व्यक्ति अधिकतर एक ही पेशे को करते हैं अर्थात् पेशा और अन्य आधारों पर वहाँ भी कुछ-न-कुछ सामाजिक विभाजन है। इससे स्पष्ट है कि जाति-प्रथा के कुछ तत्व आर्यों के आने से पहले ही भारत-वर्ष में मौजूद थे। आर्यों ने यहाँ आकर इस अस्पष्ट विभाजन की ओर भी स्पष्ट बनाया और अपनी स्थिति को सबसे ऊपर रखा। यही जाति-प्रथा की प्रारम्भिक अवस्था है।

जहाँ तक खाने-पीने और विवाह-सम्बन्धी प्रतिबन्धों का प्रश्न है, उनको समझाने के लिए श्री हट्टन ने 'माना' का सहारा लिया। 'माना' एक अवैयक्तिक, अलौकिक तथा अदृश्य शक्ति है जो प्रत्येक चीज में एक विशिष्ट रूप और मात्रा में पाई जाती है, जो स्पर्श द्वारा एक व्यक्ति से दूसरे व्यक्ति या एक वस्तु से दूसरी में आ-जा सकती है और जो अच्छे-बुरे दोनों तरह के फल दे सकती है, अर्थात् उससे हमें हानि और लाभ दोनों ही हो सकता है। इसलिये 'माना' की शक्ति पर विश्वास रखने वाले लोग अपरिचित व्यक्तियों के स्पर्श से डरते हैं। भारत की नागा जनजाति में ऐसे ही डर के आधार पर खाने-पीने और विवाह के सम्बन्ध में अनेक निषेध पाये जाते हैं, क्योंकि उनका यह विश्वास है कि अपरिचित व्यक्तियों की 'माना' से हो सकता है कि उन्हें नुकसान पहुँचे। अतः अपरिचितों का संस्पर्श खतरे में खाली नहीं होता इसलिये उससे वचना ही उचित है। 'माना' की शक्ति में विश्वास पारसियों, बौद्धों, मुसलमानों और हिन्दुओं में भी किसी-न-किसी रूप में पाया जाता है। आक्रमणकारी के रूप में जब आर्य लोग भारतवर्ष में आए तो उनके सामाजिक और राजनीतिक प्रभाव ने भारतीय समाज में ऊँच-नीच के भेद-भाव को पनपाया। यह भेद-भाव सरलता से पनप भी सका, क्योंकि एक ओर आर्यों में भी सामाजिक वर्गों की निश्चित श्रेणियाँ थीं और दूसरी ओर भारत के मूल निवासियों में भी 'माना' की शक्ति में विश्वास के आधार पर अनेक निषेध और उसी के अनुसार विभिन्न समूहों का विभाजन था। परन्तु भारत के मूल निवासियों के विभिन्न समूहों में ऊँच-नीच की भावना नहीं थी। यह आर्यों के सामाजिक प्रभाव के कारण आरम्भ हुई।

उपरोक्त आधार पर श्री हट्टन सोचते हैं कि (अ) निषेधों के प्रति जनजातीय मनोभाव, (ब) पेशों के आधार पर समाज का विभाजन, जैसा कि आसाम की नागा जनजातियों में पाया जाता है, (स) समस्त विचित्र और अपरिचित वस्तुओं एवं व्यक्तियों के प्रति कुसंस्कार और (द) इण्डो-आर्यों की वर्ण-प्रणाली तथा जनजातियों की सामाजिक प्रणाली की अन्तःक्रिया ने ही भारतीय समाज के ढाँचे का आकार बनाया है। इन्हीं आधारों पर भेदाभेद जब कठोर हो गए तो जाति-प्रथा की उत्पत्ति हुई। श्री हट्टन के सिद्धान्त की यही मुख्य धारणा है, परन्तु इसके अतिरिक्त उन्होंने उन 14 कारणों की एक सूची भी दी है जिन्होंने जाति-प्रणाली के विकास में सहायता की है। इस अर्थ में यह कहा जा सकता है कि श्री हट्टन यह स्वीकार करते हैं कि जाति-प्रथा की उत्पत्ति में एक नहीं बल्कि अनेक कारणों का योग रहा है।

समालोचना (Criticism)—(1) श्री शरत्चन्द्र राय 'मन्त्रा' के सिद्धान्त के एक विस्तृत अध्ययन के पश्चात् इस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि 'माना' की धारणा दुनिया की सभी जगह, सभी जनजातियों में पाई जा सकती है। पर कहीं भी इसके आधार पर सामाजिक समूह नहीं बने हैं और न ही आर्यों के आने से पहले इस प्रकार

के सामाजिक विभाजन की कल्पना की जाती है।²⁶ यह सच है कि भारतीय जन-जातीय समाजों में सामाजिक संस्तरण को 'माना' की शक्ति पर विश्वास के आधार पर समझाया जा सकता है, पर यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता कि इसी विश्वास के आधार पर ही जाति-प्रथा की उत्पत्ति हुई है। (2) जाति-प्रणाली की उत्पत्ति के सम्बन्ध में 'माना' के सिद्धान्त को प्रस्तुत करने के साथ-ही-साथ श्री हट्टन ने अन्य 15 कारणों का उल्लेख किया है।²⁷ इन कारणों में उसने धर्म, जाति, जादू, पुनर्जन्म, आर्थिक कारण, प्रजातीय घृणा, सांस्कृतिक संघर्ष, राजनीतिक विजय आदि पर प्रकाश डाला है। इससे यह पता चलता है कि किसी निश्चित कारण के कारण जाति-प्रथा की उत्पत्ति नहीं हुई है। इस सम्बन्ध में श्री हट्टन को स्वयं ही सन्देह है और आप भी एक अर्थ में जाति-प्रथा की जटिलता को स्वीकार करते हैं, अतः श्री हट्टन के सिद्धान्त को किसी एक निश्चित दायरे के अन्तर्गत नहीं लाया जा सकता।

(8) सांस्कृतिक एकीभाव का सिद्धान्त

(Theory of Cultural Integration)

इस सिद्धान्त के प्रवर्तक राय बहादुर शस्तचन्द्र राय (R. B., Sarat

26. "There would, therefore, not seem to be any reason for looking beyond the Aryan outlook in the world and mankind for Mana-like principle which Hutton's explanation of caste pre-supposes."—S. C. Roy, quoted by D. N. Majumdar, *op. cit.*, p. 289.

27. "By way of conclusion an attempt may be made to recapitulate a number of the more obvious factors which have been indicated as probably contributing to the emergence and development of the caste system—

The geographical isolation of the Indian peninsula as a whole and of individual areas within it.

Primitive ideas about the power of food to transmit qualities.

Similar ideas of totemism, taboo, *mana*, and soul-stuff, or life matter.

Ideas of pollution, ablution, purification, and ceremonial purity with associations of ritual sacrifice.

Idea of the exclusive family, ancestor worship, and the sacramental meal.

Beliefs in reincarnation and in the doctrine of *Karma*.

Belief in magic associated with crafts and functions.

Hereditary occupations, and trade and craft secrets,

Guilds and associations of that character and various factors in the development of economic life.

Clash of antagonistic cultures, particularly between cultures with matrilineal and patrilineal modes of descent.

Clash of races, colour prejudice, and conquest.

The development of classes with the exclusive religious and social privileges.

Individual isolation of tribes and politics, and their inclusion without absorption in larger administrative units.

Deliberate economic and administrative policies.

Exploitation by a highly intelligent but by no means entirely altruistic hierarchy which had evolved a religious philosophy too subtle for the mass of people."—J. H. Hutton, *op. cit.*, pp. 190-191.

Chandra Roy) हैं। आपके अनुसार भारत की जाति-प्रथा भारत की विभिन्न प्रजातियों की सांस्कृतिक विशेषताओं के मिलन और अन्तःक्रिया का फल है। विभिन्न प्रजातियों की सांस्कृतिक विशेषताएँ इस प्रकार थीं—(अ) इण्डो-आर्यन की वर्ण-व्यवस्था, कर्म की धारणा और शक्ति पर विश्वास। उनका विश्वास था कि सब वर्णों में कर्म के आधार पर अलग-अलग शक्तियाँ या गुण हैं, जोकि अलग-अलग सदगुणों और सत-कर्मों के कारण उत्पन्न होते हैं। (ब) द्राविड़ लोगों में पेशों के आधार पर वर्ण-व्यवस्था थी और साथ ही यह विश्वास था कि पुजारी-जादूगरों में कुछ विशिष्ट अलौकिक शक्ति है। (स) उसी प्रकार प्राग-द्राविड़ों में जनजातीय सामाजिक व्यवस्था थी और साथ ही उनकी संस्कृति में आत्मतत्त्व की धारणा (concept of soul substance) बहुत महत्वपूर्ण थी।

ऊपर के विवरण से स्पष्ट है कि प्राग-द्राविड़ और द्राविड़ संस्कृति की विशेषताएँ इण्डो-आर्यों की संस्कृति से काफी मिलती-जुलती थीं। इस कारण द्राविड़ और प्राग-द्राविड़ लोगों को आर्यों की वर्ण-व्यवस्था को स्वीकार करने में कोई आपत्ति या कठिनाई नहीं हुई। इन तीनों संस्कृतियों में पाई जाने वाली विभिन्न धारणाओं और विशेषताओं ने एक-दूसरे को प्रभावित किया और सबने मिलकर जाति-प्रथा के विकास में योग दिया, क्योंकि इन तीनों संस्कृतियों के एकीभाव से विभिन्न पेशों, प्रजातियों तथा अन्य अन्तर्गत्तों के आधार पर बनी हुई जातियों को प्रारम्भिक चार वर्णों के अनुसार रखने के प्रयत्न में सफलता मिली।

समालोचना (Criticism) — इस सिद्धान्त की सबसे उल्लेखनीय कमी यह है कि इसके अन्तर्गत भारत की विभिन्न प्रजातियों की संस्कृतियों के एकीभाव की जो कल्पना की गई है उसका कोई निर्भरयोग्य ऐतिहासिक प्रमाण नहीं मिलता जिसके कारण इस सिद्धांत को वैज्ञानिक आधार पर स्वीकार करना कठिन होता है। साथ ही इस सिद्धांत से यह भी समझ में नहीं आता है कि जब जाति-प्रथा की उत्पत्ति सांस्कृतिक एकीभाव के कारण हुई तो जाति की सदस्यता जन्म के आधार पर क्यों निर्धारित की जाती है। फिर भी सामान्य रूप से यह कहा जा सकता है कि श्री राय ने जाति-प्रथा के संदर्भ में विभिन्न सांस्कृतिक तत्त्वों में समानता ढूँढ़ने का प्रशंसनीय प्रयास किया है।

निष्कर्ष

(Conclusion)

अपर्युक्त विवेचना से यह स्पष्ट है कि विभिन्न विद्वानों ने जाति-प्रथा की उत्पत्ति के विषय में अलग-अलग सिद्धांतों को प्रस्तुत किया है। इनमें से किसी को भी न तो नाशत ही कहा जा सकता है और न अन्तिम सत्य ही। इसका कारण यह है कि प्रत्येक विद्वान् ने अपने सिद्धांत को प्रमाणित करने के प्रयत्न में प्रायः एक विशेष कारण पर आवश्यकता से अधिक बल दिया है जोकि उनके सिद्धांत की कमजोरी बनकर ही प्रगट हुई है। भारतीय जाति-प्रथा केवल एक सामाजिक संस्था ही नहीं बरन् एक जटिल संस्था भी है और इस जटिल संस्था की उत्पत्ति या विकास में एक कारण ही कल्पना दिव्य ही उचित नहीं है। अनेक विद्वानों ने अपने सिद्धांत को प्रस्तुत करते हुए इस सत्य को स्वीकार किया है। श्री हट्टन (Hutton) ने स्पष्ट ही लिखा है, "यह और भी बुरा कहा जा सकता है कि भारतीय जाति-प्रथा अन्य कहीं की इस प्रकार संयुक्त रूप में न पाए जाने वाले अनेक भौगोलिक, सामाजिक,

राजनीतिक, धार्मिक एवं आर्थिक कारकों की अन्तःक्रियाओं का स्वाभाविक परिणाम है।”²⁸

इस सम्बन्ध में यह भी स्मरणीय है कि किसी एक निश्चित काल या समय में जाति-प्रथा की ‘उत्पत्ति’ हुई है, यह भी कल्पना करना उचित न होगा। जाति-प्रथा सामाजिक संस्था है और यह सर्वमान्य सत्य है कि संस्था की उत्पत्ति नहीं, बल्कि विकास होता है। इसी कारण जाति-प्रथा की भी उत्पत्ति नहीं, विकास ही हुआ है और इस विकास में अनेक कारकों का योग रहा है।

जैसा कि प्रमाण मिलता है, प्रारम्भ में हिन्दू समाज में वर्ण-व्यवस्था थी। यह वर्ण-व्यवस्था जन्म पर आधारित थी या कर्म और गुण पर, इस विषय के सम्बन्ध में विद्वानों में मतभेद है। चातुर्वर्ण्य मया सृष्टं गुणकर्मविभागशः—गीता के इस आगे श्लोक को उद्धृत करके कुछ विद्वान् यह प्रमाणित करने का प्रयत्न करते हैं कि पूर्व काल में गुण और कर्म-भेद से ही वर्ण-भेद था, जन्मगत भेद से नहीं। निष्पक्ष रूप में यह निर्णय एक-तरफा ही है। भारत के समस्त शास्त्र एवं इतिहास आदि का अवलोकन करने पर ऐसा एक भी उदाहरण नहीं मिलेगा, जहाँ किसी एक ही व्यक्ति का पुत्र अथवा कन्या इसी जन्म-देह के गुण-कर्मानुसार ब्राह्मण, शूद्र, वैश्य अथवा क्षत्रिय हुआ हो। गुण और कर्म की परीक्षा के ऊपर जाति स्थिर करेगे कौन? सर्वज्ञ और सर्व-ज्ञात्मान हुए बिना ऐसा करना असम्भव है। गीता में श्रीकृष्ण बतलाते हैं कि कर्त्तव्याकर्त्तव्य के विषय में शास्त्र ही प्रमाण है—तस्मान्छास्त्रं प्रमाणं ते कार्याकार्य-व्यवस्थितौ (गीता, 16/24)। इस आधार पर कुछ शास्त्रों के ही प्रमाण यहाँ प्रस्तुत किये जा सकते हैं। छान्दोग्योपनिषद् के 5/10/7 में यह वर्णन है कि जो लोग पुण्यकर्म करते हैं वे दूसरे जन्म में ब्राह्मण अथवा क्षत्रिय अथवा वैश्य के कुल में जन्म लेते हैं और जो पापकर्म करते हैं वे चाण्डालादि योनियों को प्राप्त होते हैं। इसमें भी जन्मना जाति का ही उल्लेख मिलता है। इसे हंसकर टाला नहीं जा सकता, क्योंकि शास्त्रों में सबसे पहले हैं वेद, और उपनिषद् वेदों के ही भाग हैं। अतः वेदों के समान ही उनका प्रामाण्य है। मनुस्मृति सुविख्यात धर्मशास्त्र है। मनु कहते हैं कि एक ही जाति के माता-पिता से उत्पन्न सन्तान भी उसी जाति की होगी (मनु०, 10/3)। हारीतसंहिता में उल्लेख है ब्राह्मण्या ब्राह्मणेनैवमुत्पन्नी ब्राह्मणः स्मृतः (1/15), अर्थात् ब्राह्मणी में ब्राह्मण से उत्पन्न सन्तान को ब्राह्मण ही कहा गया है। उसी प्रकार अत्रिसंहिता में स्पष्ट उल्लेख है कि जन्मना ब्राह्मणो ज्ञेयः संस्काराद् द्विज उच्यते (1/40), अर्थात् जन्म से ब्राह्मण जाना जाता है, संस्कार होने पर उसकी द्विज संज्ञा होती है। निश्चय ही श्रीकृष्ण की उक्ति इन शास्त्रग्रन्थों के वचनों के विरुद्ध नहीं हो सकती। पर यह प्रश्न किया जा सकता है कि यदि श्रीकृष्ण का अभिप्राय यही है कि जन्म से वर्ण निश्चित होते हैं, तो उन्होंने गीता के अध्याय 4, श्लोक 13 में गुणकर्मविभागशः क्यों कहा है। श्री बसन्त कुमार चट्टोपाध्याय के अनुसार ‘यहाँ कर्म का अभिप्राय वृत्ति से नहीं है। कर्म का यहाँ अर्थ है कर्त्तव्य। कर्म-विभाग का अर्थ विभिन्न वर्णों के वे कर्त्तव्य हैं जिनका उल्लेख गीता के अध्याय 18, श्लोक 42—44 में हुआ है। गुण का अभिप्राय त्रिगुण अर्थात् सत्व, रज, तम—इन तीनों गुणों से है। गुण-विभाग का अर्थ

28. “It is urged emphatically that the Indian caste system is the natural result of the interaction of a number of geographical, political, religious and economic factors elsewhere found in conjunction.”—J. H. Hutton, *op. cit.*, p. 138.

है, जन्म के साथ ही लगे हुए इन गुणों के अनुसार मनुष्यों का वर्गीकरण। गीता के अध्याय 18, श्लोक 41 में भगवान् स्वयं यह 'गुण-कर्म विभाग क्या है' स्पष्ट करके बतलाते हैं—कर्माणि प्रविभक्तानि स्वभाव-प्रभवेण गुणैः। अर्थात् स्वभाव से उत्पन्न गुणों के अनुसार कर्मों का विभाग हुआ है। 'स्वभाव-प्रभव' शब्दों से ही यह प्रकट है कि जन्मजात गुणों द्वारा ही वर्ण निश्चित होता है। छन्दोग्योपनिषद् का जो वचन (5/10/7) हम पहले उद्धृत कर आये हैं, उसके साथ ही इसकी ठीक संगति बैठती है। जो लोग पुण्यकर्म करते हैं, उनमें मृत्यु के पश्चात् सत्वगुण का प्रभूत संचय होता है। अतः वे ब्राह्मण होकर जन्म लेते हैं।

उपरोक्त तथ्यों में कुछ भी सत्यता नहीं है, यह कहना गलत होगा। हाँ, इतना कहा जा सकता है कि जाति-प्रथा अपने चरम स्तर पर जिस भाँति पूर्णतया जन्म पर आधारित थी और इसके नियम व निषेध जितने कठोर थे, वह रूप वर्ण-व्यवस्था के अन्तर्गत उतना कटु न था। जन्म के साथ-साथ कर्म और गुण का भी ध्यान रखा जाता था। कुछ विद्वान् वर्ण-व्यवस्था के अन्तर्गत पाए जाने वाले अन्तर्जातीय विवाह, जाति-परिवर्तन आदि के दो-चार उदाहरण प्रस्तुत करके यह प्रमाणित करने का प्रयत्न करते हैं कि वर्ण-व्यवस्था वर्ग-व्यवस्था के ही समान थी और उसमें पूर्ण खुलापन (openness) भी था। दस-पन्द्रह उदाहरण जो इस मत के पक्ष में प्रस्तुत किये जाते हैं, वे अपवाद (exceptions) भी हो सकते हैं और अपवाद सामान्य नियम कदापि नहीं हो सकता। स्मरण रहे कि अन्तर्जातीय विवाह या जाति-परिवर्तन के दस, पन्द्रह या बीस उदाहरण जाति-प्रथा के इतिहास के किसी भी युग में ढूँढे जा सकते हैं, चाहे वह भगवान् श्रीकृष्ण का युग हो या राष्ट्रपति डॉ० सधाकृष्णन का युग। इसका कारण भी स्पष्ट है। कोई भी सामाजिक व्यवस्था चाहे वह जाति-प्रथा हो या वर्ग-व्यवस्था (class system), पूर्णतया बन्द या पूर्णतया खुली हो ही नहीं सकती है। पूर्णतया बन्द जाति-प्रथा भी भारत में कभी थी, इसकी केवल कल्पना ही की जा सकती है। उसी प्रकार पूर्णतया खुली वर्ग-व्यवस्था दुनिया के किसी समाज में है यह सोचा भी नहीं जा सकता। अतः यदि यह मान भी लिया जाए कि वर्ण-व्यवस्था कर्म और गुण पर आधारित थी तो हम कह सकते हैं कि कर्म और गुण पर आधारित वर्ण-व्यवस्था का जन्म से कोई भी सम्बन्ध नहीं था। यह सोचना अवैज्ञानिक होगा और साथ ही जन्म पर आधारित जाति-प्रथा में आज गुण और कर्म का कोई भी महत्व नहीं है यह निष्कर्ष भी अनुचित और सत्यता से परे है।

कुछ भी हो, इतना तो स्वीकार करना ही होगा कि वर्ण-व्यवस्था ने समाज को विभिन्न समूहों में बाँट दिया था और इन समूहों में ऊँच-नीच का एक संस्तरण भी था। इस दृष्टिकोण से वर्ण-व्यवस्था जाति-प्रथा का एक प्रारम्भिक या प्राथमिक रूप था। इसी वर्ण-व्यवस्था के तत्त्वों के साथ जब विभिन्न प्रजातियों और संस्कृतियों का एक ओर मिलन और दूसरी ओर संघर्ष हुआ और रक्त की शुद्धता, धार्मिक पवित्रता व अपवित्रता आदि के विचारों को सामाजिक विभाजन में दृढ़तापूर्वक लागू किया गया तो उसी वर्ण-व्यवस्था का स्वरूप दिन-प्रतिदिन बदलता रहा और काफी समय के पश्चात् ही भारतीय जाति-प्रथा के सभी लक्षण स्पष्ट हो सके। इस अर्थ में भारतीय जाति-प्रथा का विकास हुआ है, जन्म या उत्पत्ति नहीं।

जाति-प्रथा के दोषों का विश्लेषण करते हुए इसे एक गली-सड़ी, निरर्थक और हानिप्रद संस्था कह देना आज फैशन-सा हो गया है। विशेषकर राजनीतिक नेताओं में यह संक्रामक रोग अधिक फैल चुका है, जिससे जाति-प्रथा के प्रति अनादर और घृणा का भाव आम जनता में पनप रहा है। ऐसे मनोभावों को शत-प्रतिशत अनुचित या सत्यता से परे कहना ठीक न होगा, फिर भी वैज्ञानिक दृष्टिकोण से जाति-प्रथा के पक्ष में भी कुछ कहना बाकी रह जाता है। हजारों वर्ष के विकास के दौरान जाति-प्रथा में गन्दगी इकट्ठी हो गई है, अर्थात् इसका एक विकृत रूप आज हमारे सामने है। परन्तु यही सब-कुछ नहीं है। इसकी आड़ में जाति-प्रथा की संरक्षक शक्ति भी छिपी हुई है। दूसरे शब्दों में हिन्दू समाज के विकास और संरक्षा (preservation) में जाति-प्रथा की देन को भी अस्वीकार नहीं किया जा सकता। अनेक दोषों के होने पर भी जाति-प्रथा ने हिन्दू समाज को ही नहीं बल्कि समस्त भारतीय समाज को दृढ़ता और सम्पूर्णता प्रदान करने में अपना योगदान अवश्य ही किया है। अनेक विदेशी विद्वानों ने भी इस सत्य को स्वीकार किया है। इसका वास्तविक मूल्यांकन निम्न विवेचना से स्पष्ट होगा।

जाति के कार्य या लाभ

(Functions or Roles or Merits of Caste)

श्री हट्टन (Hutton) ने जाति के जिन कार्यों या लाभों का उल्लेख किया है, उनके आधार पर इन्हें तीन भागों में बांटा जा सकता है।¹

(1) सदस्यों के व्यक्तिगत जीवन में लाभ या कार्य

(Roles or Merits in the Life of Individual Members)

श्री विलसन (Wilson) ने व्यक्ति के जन्म के प्रथम दिन से लेकर मृत्यु तक उसके समस्त कार्यों पर जाति-प्रथा के नियन्त्रण को उत्तम ढंग से समझाया है। आपने लिखा है कि जाति का प्रभाव व्यक्ति के जीवन के समस्त सम्बन्धों और घटनाओं पर होता है। इसका प्रतिबन्ध जीवन के भूत और भविष्य दोनों पर होता है। जाति-प्रथा ही यह निश्चय करती है कि वह किस प्रकार का खाना, खाएगा, किसके साथ बैठकर खाएगा, किसके हाथ का पानी पीएगा, किस प्रकार का रुपड़ा पहनेगा, किस तरह के आभूषणों का प्रयोग करेगा और किसके साथ सामाजिक सहवास के विभिन्न पहलुओं

1. See—J. H. Hutton, *Caste in India*, Oxford University Press, London, 1961, pp. 111-132.

में भागीदार बनेगा।¹² अपने सदस्यों के व्यक्तिगत जीवन से सम्बन्धित जाति के कार्य निम्नलिखित हैं—

1. सामाजिक स्थिति को निश्चित करना (To determine the social status)—जाति जन्म से ही अपने सदस्य की सामाजिक स्थिति को निश्चित करती है जिसे न सम्पत्ति, न दरिद्रता, न सफलता और न किसी प्रकार की विपदा ही हटा सकती है, जब तक कि वह जाति के किसी नियम को स्वयं नहीं तोड़ता है।¹³ संक्षेप में, एक बार ब्राह्मण या शूद्र के परिवार में जन्म लेने पर ही वह व्यक्ति आजीवन ब्राह्मण या शूद्र ही कहलाएगा। इसका प्रमुख कारण यह है कि जाति की सदस्यता मुख्यतः जन्म पर आधारित है और जन्म के आधार को बदला नहीं जा सकता। एक व्यक्ति जिस परिवार में जन्म लेता है उसी के अनुसार उसकी सामाजिक स्थिति स्वतः ही जाति के द्वारा निर्धारित हो जाती है। यह सच है कि आधुनिक समय में सामाजिक स्थिति को निश्चित करने का यह कार्य जाति के हाथ से निकल चुका है और शिक्षा, धन, सत्ता आदि व्यक्ति की सामाजिक स्थिति को निश्चित करते हैं। परन्तु ग्रामीण समुदायों में आज भी जाति का यह कार्य उल्लेखनीय है, क्योंकि इन समुदायों में जाति का महत्व आज भी कायम है, यद्यपि कुछ परिवर्तन होने लगे हैं।

2. मानसिक सुरक्षा प्रदान करना (To provide psychic security)—जाति प्रत्येक व्यक्ति का पद और उसके कार्य को जन्म से ही निश्चित करके अपने सदस्यों को सामाजिक सुरक्षा प्रदान करती है। प्रत्येक व्यक्ति पहले से ही यह जानता है कि किस समूह में उसे विवाह करना है, उसे किस प्रकार के सामाजिक, धार्मिक तथा राजनीतिक कार्यों में भाग लेना है, इत्यादि। इन सब मामलों में उसे अपना मार्ग निश्चित करने के मानसिक झंझट में नहीं पड़ना पड़ता। इस दृष्टिकोण से व्यक्ति को मानसिक सुरक्षा प्रदान करना जाति-प्रथा का एक प्रमुख कार्य है।

2 "Caste gives its directions for recognition, acceptance, consecration and sacramental dedication, and *vice versa*, of a human being on his appearance in the world. It has for infancy, pupilage and manhood, its ordained methods of sucking, sipping, drinking, eating and voiding; of washing, rinsing, anointing, and smearing; of clothing, dressing, and ornamenting; of sitting, rising, and reclining; of moving, visiting, and travelling; of speaking, reading, listening, and reciting; and of meditating, singing, working, playing and fighting. It has its laws for social and religious rights, privileges, and occupations; for instructing, training, and education; for obligation, duty, and practice; for divine recognition, duty, and ceremony; for errors, sins, and transgressions; for intercommunion, avoidance, and excommunication; for defilement, ablution, and purification; for fines, chastisements, imprisonments, mutilations, banishments and capital executions.....It deals with death, burial, and burning; and with commemoration, assistance, and injury after death. It interferes, in short, with all the relations and events of life, and with what precedes and follows.....life."—J Wilson, *Indian Caste*, Vol. 1, p. 13.

3. "Form the point of view of the individual member of caste, the System provides him from birth with a fixed social milieu from which neither wealth nor poverty, success nor disaster can remove him, unless of course he so violates the standards of behaviour laid down by his caste. —J. H. Hutton, *op. cit.*, p. 111.

3. पेशों का निर्णय (Fixation of occupations) — प्रत्येक जाति का पेशा जन्म से ही निश्चित हो जाता है और बचपन से ही उस पेशे के पर्यावरण में पलने के कारण उसके विषय में व्यक्ति को स्वतः ही सामान्य ज्ञान प्राप्त हो जाता है। इस प्रकार पेशे के सम्बन्ध में व्यक्ति का जीवन एक निश्चित दिशा की ओर आगे बढ़ता है और बिना किसी विशेष प्रयत्न के ही वह अपने परम्परात्मक पेशों में निपुण हो जाता है।

4. जीवन-साथी का चुनाव (Choosing of mates) — जाति का विवाह सम्बन्धी कार्य भी अत्यन्त महत्वपूर्ण है। जाति इस बात का निर्णय करती है कि एक व्यक्ति को किस समूह में विवाह करना है, विवाह के सम्बन्ध में किन-किन प्रतिबन्धों का उसे पालन करना है, किसके साथ वह विवाह कर सकता है और किसके साथ नहीं। इन विषयों में जाति का निर्णय अन्तिम है और इसमें व्यक्तिगत इच्छा या अनिच्छा का प्रश्न नहीं उत्पन्न होता, यद्यपि अब अन्तर्जातीय विवाह की समस्त वैधानिक अड़चनें दूर हो चुकी हैं, फिर भी इस प्रकार के विवाहों की संख्या को उंगलियों पर गिना जा सकता है। आज भी जीवन-साथी के चुनाव के सम्बन्ध में जाति महत्वपूर्ण योगदान करती है।

5. सामाजिक सुरक्षा प्रदान करना (To provide social security) — जाति-प्रथा अपने सदस्यों के लिये सामाजिक सुरक्षा प्रदान करती है। पहले सदस्यों के जीवन में किसी प्रकार की विपत्ति आने पर जाति अपने जातीय संगठन या जाति-पंचायत द्वारा उसकी सहायता करती थी। यहाँ तक कि वह दाह-क्रिया तक का प्रबन्ध कर देती थी। परन्तु आधुनिक समय में राज्य द्वारा आयोजित व नियन्त्रित सामाजिक सुरक्षा की विभिन्न योजनाओं के बन जाने के फलस्वरूप जाति का वह कार्य अब बहुत-कुछ समाप्त हो गया है। आधुनिक समय की इन सामाजिक सुरक्षा योजनाओं की एक विशेषता यह है कि इन्हें किसी भी विशेष जाति के लाभ के लिये नहीं बनाया जाता, बल्कि समाज के सभी सदस्यों को इन योजनाओं से लाभ मिलता है। इस कारण सामाजिक सुरक्षा प्रदान करने का जातीय कार्य अब उतना महत्वपूर्ण नहीं रह गया है।

6. व्यवहारों पर नियन्त्रण (To control behaviours) — प्रत्येक जाति के अपने नियम और प्रतिबन्ध होते हैं। इन नियमों और प्रतिबन्धों के द्वारा जाति अपने सदस्यों के व्यवहारों पर नियन्त्रण करती है। जाति उसे यह बताती है कि उसे किन-किन संस्कारों को मानना है, किनके साथ सामाजिक दूरी बरतनी है, किन लोगों के साथ बैठकर वह खा-पी सकता है और किन लोगों के साथ सामाजिक सम्बन्ध स्थापित किया जा सकता है। इस रूप में जाति का नियन्त्रण व्यक्ति के जीवन से सम्बन्धित प्रायः सभी क्षेत्रों में होता है।

✓ संक्षेप में (सर्वश्री मजूमदार और मदान (Majumdar and Madan) के शब्दों में "एक स्थायी वातावरण या अवस्था के अन्तर्गत सामाजिक-आर्थिक सुरक्षा प्रदान करने के लिये जाति व्यक्ति की प्रतिरक्षा की प्रमुख व्यवस्था है जोकि उसकी परिवर्तनशील क्षमताओं पर आधारित नहीं है।"⁴

4. "In sum, caste is one's main line of defence, in so far as it provides socio-economic security within a permanent milieu which is not based on changing individual caprices."—Majumdar and Madan, *Social Anthropology*, 1957, p. 237.

(2) जातीय समुदाय से सम्बन्धित कार्य व लाभ

(Roles or Merits relating to Caste Community)

जाति न केवल व्यक्तिगत जीवन से सम्बन्धित कार्यों को ही करती है बल्कि जातीय समुदाय से सम्बन्धित अनेक कार्यों को भी करती है। इन कार्यों को हम निम्नलिखित भागों में बांट सकते हैं—

(क) धार्मिक भावनाओं की रक्षा (Maintenance of religious ideas)—व्यक्ति के धार्मिक जीवन पर जाति का प्रभाव स्पष्ट रूप से दिखाई देता है। प्रत्येक जाति की अपनी धार्मिक विधियाँ होती हैं जिनकी वह जाति रक्षा करती है। कुछ विद्वानों ने यह भी दिखाने का प्रयत्न किया है कि अलग-अलग जाति के कुछ अलग-अलग देवी-देवता भी होते हैं। श्री देसाई (Desai) के शब्दों में “यह जाति ही है जो जनता के धार्मिक जीवन में अपने सदस्य की स्थिति को निश्चित करती है।”⁵ श्री हट्टन (Hutton) के अनुसार “धार्मिक क्षेत्र में बदलते हुए नैतिक आदर्शों या जनमत के झुकाव के अनुसार जाति सामाजिक व धार्मिक व्यवहार-विधानों को परिवर्तित कर सकती है या सुधार सकती है।”⁶

(ख) रक्त की शुद्धता को बनाये रखना (To maintain the purity of blood)—जाति विवाह सम्बन्धी विविध निषेधों द्वारा जाति के रक्त की शुद्धता को बनाए रखने में सहायक होती है। यद्यपि रक्त की शुद्धता की धारणा का आज कोई वैज्ञानिक आधार नहीं है, फिर भी जाति के अपने दृष्टिकोण से अपने से भिन्न जातियों, विशेषकर नीचे की जातियों के साथ सम्मिश्रण से बचने के लिये जाति-प्रथा एक उत्तम व्यवस्था है।

(ग) संस्कृति की रक्षा (To safeguard the culture)—श्री हट्टन का कथन है कि प्रत्येक जाति की अपनी एक निजी शिक्षा-पद्धति, ज्ञान, कुशलता, व्यवहार करने की विधि आदि, जिसे हम संस्कृति कहते हैं, होती है। प्रत्येक जाति में यह सब एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी को हस्तान्तरित होता रहता है, क्योंकि एक जाति के वयस्क सदस्य अपने नये सदस्यों को ये सब सिखा देते हैं, इस प्रकार प्रत्येक जाति अपनी संस्कृति को स्थिर बनाये रखती है।

(घ) सामाजिक स्थिति प्रदान करना (To impart social status)—प्रत्येक जाति अपने समुदाय के लिये एक निश्चित सामाजिक स्थिति को निर्धारित करती है, जिसके अनुसार जातीय संस्तरण (caste hierarchy) में प्रत्येक की स्थिति निश्चित होती है। साथ ही सामुदायिक प्रयत्न और आंदोलन के एक सामान्य संगठन के निर्माण के द्वारा जाति अपने सदस्यों की स्थिति को उन्नत करने में भी सहायक होती है। इस प्रकार कायस्थ, जिन्हें अब उत्तरी भारत में ब्राह्मणों के बाद ही समझा जाता है, 18वीं शताब्दी में कदापि इतने उन्नत स्थिति में नहीं थे।”⁷

5. “It is the caste that rigidly determines the place of its member in the religious life of the people.”—A. R. Desai, *Rural Sociology in India*, Bombay, 1959, p. 44.

6. “In the religious sphere the caste system so operates that the caste can change or modify its social and religious observances in accordance with changing ethical standards or the trend of the public opinion.”—J. H. Hutton, *op. cit.*, p. 114.

7. Majumdar and Madan, *op. cit.*, p. 237.

(3) सामाजिक कार्य या लाभ

(Social Roles or Merits)

जाति व्यक्ति के लिये या अपने जातीय समुदाय के लिये ही कार्य नहीं करती, बल्कि समस्त हिन्दू समाज के लिये भी अनेक कार्यों को करती है। ये कार्य निम्नवत् हैं—

(अ) समाज के विकास और संरक्षा में सहायता करना (To help in the development and preservation of society)—जाति-प्रथा ने हिन्दू समाज के विकास और संरक्षण में अत्यन्त महत्वपूर्ण योग दिया है। सामाजिक दृष्टिकोण से हिन्दू समाज के अन्तर्गत विभिन्न समुदायों को एक सूत्र में बाँधने का यह कार्य जाति-प्रथा का सबसे महत्वपूर्ण कार्य है। श्री फर्नीवाल (Furnivall) ने भारत को एक ऐसे देश का असाधारण दृष्टान्त माना है जहाँ 'एक बहु समाज' (a plural society) स्थिर रह सका है। आपके अनुसार, "जाति-प्रथा ने समाज को ऐसी अवस्था प्रदान की है जिसमें कोई भी समुदाय, चाहे वह प्रजातीय हो या सामाजिक या व्यावसायिक या धार्मिक, अपनी विशिष्ट प्रकृति और अपनी पृथक् सत्ता को बनाये रखने हुए अपने को समग्र समाज के एक सहयोगी अंग के रूप में उपयुक्त बना सकता है।"⁸

इतिहास उपरोक्त कथन की पुष्टि करता है। अत्यन्त प्राचीनकाल से भारत में अनेक प्रजातियाँ, जैसे शक, हूण, मंगोल आदि आक्रमणकारी के रूप में आती रहीं—भारत इन विभिन्न प्रजातियों की संस्कृतियों में समन्वय करता रहा और वे हिन्दू समाज का एक अंग बन गईं। अनेक जनजातियाँ, जैसे थारू, गोंड, भील, संथाल आदि, भी क्रमशः हिन्दू समाज के निकट आ रही हैं और आश्चर्य नहीं कि वे भी एक दिन पूर्ण रूप से हिन्दू समाज का अंग बन जायें। इसी प्रकार विभिन्न धार्मिक सम्प्रदायों को भी लीजिये—जैसे जैन, सिक्ख, कबीरपन्थी आदि भी हिन्दू समाज के अंग ही प्रतीत होते हैं। इन विभिन्न भिन्नताओं के बीच में भी हिन्दू समाज जाति-प्रथा के कारण ही 'एक समाज' के रूप में सुदृढ़ है। श्री जोड (Joad) के शब्दों में, "जाति-प्रथा अपने सर्वोत्कृष्ट रूप में इस विशाल देश में निवास करने वाले विभिन्न विचार, विभिन्न धार्मिक विश्वास, रीति-नीति और परम्परायें रखने वाले विविध वर्गों को एक सूत्र में पिरोने का सफलतम प्रयास था।" इस सत्य को श्री हट्टन ने भी स्वीकार किया है। आपने लिखा है कि जाति-प्रथा का सबसे महत्वपूर्ण कार्य, जोकि उसे एक अद्वितीय संस्था बना देता है, यह है या रहा है कि यह भारतीय समाज को अखण्ड बनाती है और विभिन्न प्रतिद्वन्द्वी समूहों को एक समुदाय में जोड़ती है।⁹ इस प्रकार स्पष्ट है कि जाति-प्रथा ने हिन्दू समाज के विकास और संरक्षा में अत्यधिक योगदान किया है।

8. "The caste system has afforded a place in society into which any community, be it racial, social, occupational or religious, can be fitted as a co-operating part of the social whole, while retaining its own distinctive character and its separate individual life."—J. S. Furnival, *Netherlands India: A Study of Plural Economy*, Cambridge, 1939, p. 464.

9. "It will be understood then that one important function of caste, perhaps the most important of all its functions, and the one which above all others makes caste in India an unique institution, is or has been, to integrate Indian society, to weld into one community the various competing, if not incompatible groups composing it."—J. H. Hutton, *op. cit.*, p. 119.

(ब) राजनीतिक स्थिरता को बनाये रखना (To act as a political stabilizer)—सामाजिक दृष्टिकोण से जाति-प्रथा का एक दूसरा प्रमुख कार्य देश की राजनीतिक स्थिरता को बनाये रखना है। भारत पर विभिन्न समयों में विदेशियों ने आक्रमण किये। मुसलमान और अंग्रेज आधुनिक समय में इसके उत्तम उदाहरण हैं, लेकिन जाति-प्रथा ने भारतीय समाज और राजनीतिक संगठन को ही नहीं, अपितु इसकी संस्कृति को भी नष्ट होने से बचाया। मिस्र, ईरान आदि देशों में भी इस्लाम ने पूर्ण विजय पाई और उनकी संस्कृति आदि को नष्ट करके उन्हें अपने साँचे में ढाला। पर भारत में ऐसी परिस्थिति केवल जाति-प्रथा के कारण ही नहीं आई। इसने एक प्रबल ढाल का काम किया और हिन्दू समाज के सामाजिक, राजनीतिक और सांस्कृतिक जीवन को नष्ट-भ्रष्ट होने से बचाया। श्री अबे डुबॉयस (Abbe Dubois) ने लिखा है, "मैं हिन्दुओं की जाति-प्रथा को उनके अधिनियम का सबसे अधिक सुखमय प्रयास (the happiest effort of their legislation) समझता हूँ। मुझे इस बात का पूरा विश्वास है कि यदि भारत की जनता उस समय की बर्बरता के पंक्त में नहीं डूबी, जबकि सारा यूरोप उसमें डूबा हुआ था और यदि भारत ने सदा अपना सिर ऊँचा रखा, विविध विज्ञानों, कलाओं तथा सभ्यता का संरक्षण और विकास किया तो इसका पूर्ण श्रेय उसकी उस जाति-प्रथा को है जिसके लिये वह बहुत प्रसिद्ध है।"¹⁰ श्री हिल (Hill) ने भी स्वीकार किया है कि जाति-प्रथा ही एक ऐसी सामाजिक प्रथा है जिसका आधार दैवीय शक्ति से भी दृढ़ है।"¹¹

आज भी ग्रामीण समुदायों में जाति राजनीतिक जीवन को अत्यधिक प्रभावित करती है। चूँकि गाँव में जाति-अहम्भाव (ego) अधिक प्रबल होता है इस कारण वहाँ के लोगों का राजनीतिक व्यवहार भी जाति द्वारा प्रभावित होता है।"¹²

(घ) समाज में सरल श्रम-विभाजन की व्यवस्था (To implement simple division of labour)—श्री हट्टन ने जाति-प्रथा की एक उपयोगिता यह भी लिखी है कि जाति-प्रथा के कारण ही समाज के सब कार्य, शिक्षा से लेकर सफाई तक, गृहस्थी के कार्य से लेकर सरकारी कार्य तक सुचारु रूप से चलते हैं और यह सभी कार्य धार्मिक विश्वास या 'कर्म' की धारणा के आधार पर किये जाते हैं।"¹³ प्रत्येक जाति के सदस्यों में यह दृढ़ विश्वास होता है कि पूर्वजन्म के कार्यों के अनुसार ही

10. Abbe Dubois, *Hindu Manners and Customs*, p. 14

11. "It is the only Social System ever proposed upon a basis stronger than Force."—S. C. Hill, *Origin of Caste System in India*, Bombay, 1930, p. X

12. A. R. Desai, *op. cit.*

13. "Again, the caste system does provide for the various functions necessary to social life, functions ranging from education to scavenging, from government to domestic service of the most menial kind; and it makes this provision under the sanction of a religious dogma, the belief in *Karma*, which renders the superficially inequitable distribution of functions acceptable as being part of the divine order of the universe and a transient episode in the prolonged existence of the individual soul, which by acquiring merit in one existence may rise in the scale in the next, or which may be suffering from a degradation in caste merely by reason of its transgressions in a previous life."—J. H. Hutton, *op. cit.*, pp. 121--122.

उन्हें इस जन्म में एक विशिष्ट प्रकार का परिवार और कार्य मिला है, इस कारण उस कार्य को करना उनका कर्तव्य है। इसलिये गन्दे-से-गन्दे कार्य को या नीच-से-नीच नियोग्यता को भी बिना किसी संकोच या दुःख के स्वीकार कर लिया जाता है। केवल इतना ही नहीं, सामाजिक दृष्टिकोण से इससे भी महत्वपूर्ण बात यह है कि इसी 'कर्म' की धारणा के आधार पर प्रत्येक व्यक्ति दूसरे जन्म में अधिक अच्छे कुल या स्थिति को प्राप्त करने की अभिलाषा से इस जन्म में समाज द्वारा मान्य समस्त कार्यों को करने का प्रयत्न करता है।¹⁴ इससे, एक ओर, व्यक्ति को मानसिक दृढ़ता, नैराश्य आदि से छुटकारा मिल जाता है और दूसरी ओर, सामाजिक एकता और संगठन विभिन्न सामाजिक समूहों में बिना किसी लड़ाई-झगड़े के निरन्तर बना रहता है।

(ब) सुप्रजनन की शुद्धता को बनाये रखना (To maintain pure line of genetics) — श्री सेजविक (Sedgwick) के मतानुसार जाति-प्रथा के आधार पर अन्तर्विवाह प्रथा से सुप्रजनन की शुद्धता बनी रहती है, क्योंकि इससे बाहर के समूह के वंशानुसंक्रमणीय दोष नहीं आ पाते हैं।¹⁵ परन्तु हमारे लिये श्री सेजविक के कथन से सहमत होना कठिन होगा क्योंकि विभिन्न जातियों के बीच विवाह होने से वंशानुसंक्रमणीय दोष उत्पन्न होता है—इसका आज कोई वैज्ञानिक आधार व तर्क नहीं मिलता।

इस सम्बन्ध में सर्वश्री मजुमदार और मदान ने जाति-प्रथा के अन्य 'मौन कार्य' (Silent Function) का उल्लेख किया है।¹⁶ हिन्दू परिवार के लड़के का महत्व अत्यधिक है क्योंकि उसके बिना परिवार की निरन्तरता और पूर्वजों की शांति (तर्पण, पिण्डदान आदि के रूप में) सम्भव नहीं। यह देखा गया है कि अन्तर्विवाह से लड़कियों की अपेक्षा लड़कों का जन्म अधिक होता है। इस प्रकार जाति-प्रथा ने हिन्दुओं की हजारों पीढ़ियों को मानसिक शांति प्रदान की है।¹⁷

(ग) समाजवादी ढाँचे का आधार (Base of socialistic structure) — डॉ॰ भगवानदास जाति-प्रथा को प्राचीनकाल का सुपरीक्षित वैज्ञानिक समाजवाद (Scientific Socialism) मानते हैं। श्री सिडनी लो ने स्पष्ट लिखा है कि जाति-प्रथा प्रत्येक व्यक्ति को समाज में उसका स्थान, कार्य, पेशा तथा मित्र-मण्डली प्रदान करती है। यह प्रारम्भ से ही उसे एक सामुदायिक संस्था का सदस्य बनाती है, जीवन-भर सामाजिक ईर्ष्या तथा अपूर्ण आकांक्षाओं की व्याधि से उसकी रक्षा करती है। हिन्दुओं के लिये जातीय संगठन उसका क्लब, उसकी ट्रेड यूनियन, उसे लाभ पहुंचाने वाली तथा उसका उपकार करने वाली संस्था है।¹⁸

14. ".....but what is socially more significant, the caste system has also provided an excellent motive for the peaceful acceptance of the present conditions along with the incentive for efforts to perform what are socially regarded as good actions, in order to ensure a better future."—Majumdar and Madan, *op. cit.*, p. 238.

15. "It has been found that inbreeding leads to a preponderance of males; any by prescribing endogamy the caste system has soothed the minds of thousands of generations of Hindus."—Majumdar and Madan, *Ibid.*, p. 238.

16. "Vision of India, pp. 262-263.

(र) शिक्षा दान (To impart Education)—जाति व्यक्ति की, विशेषकर ग्रामीण व्यक्ति की शिक्षा के प्रति मनोवृत्ति (attitude) को निश्चित करती है और उसे किस प्रकार की शिक्षा मिलेगी यह भी स्थिर करती है। इस प्रकार ब्राह्मण की शिक्षा का आधार धर्म, और बनियों की सन्तान का व्यापार होता है। इस सम्बन्ध में जाति-प्रथा का एक व्यावहारिक लाभ यह है कि इसमें विभिन्न शिल्पकला और दस्तकारियाँ प्रत्येक जातीय परिवार में सुरक्षित रहती हैं और अपने परिवार में ही एक व्यक्ति इनको बहुत ही सरलता से सीख लेता है।

जाति के उपरोक्त कार्यों या लाभों की विवेचना से स्पष्ट है कि जाति-प्रथा ने हिन्दू समाज के विकास और संरक्षा में अत्यधिक योगदान दिया है। सामाजिक व्यवस्था को सुसंगठित करने के लिये और विभिन्न समुदायों को एकता के सूत्र में बाँधने में जाति के दान की अस्वीकार नहीं किया जा सकता। वास्तव में वर्ण-व्यवस्था को, जोकि जाति-प्रथा का ही प्रारम्भिक रूप है, सामाजिक संगठन व सुव्यवस्था बनाए रखने के उद्देश्य से ही चालू किया गया था। इस व्यवस्था का प्रमुख लक्ष्य भारत के विभिन्न सांस्कृतिक व प्रजातीय समूहों को एक सामान्य संगठन के अन्तर्गत लाना था ताकि उनमें पारस्परिक प्रतिस्पर्द्धा तथा शक्ति के लिये संघर्ष न्यूनतम हो और समाज में संगठन व सुव्यवस्था को स्थिर रखना सम्भव हो। धार्मिक धारणाओं को आधार मानकर समाज में सरल श्रम-विभाजन की व्यवस्था करना तथा विभिन्न जातियों के अधिकार व कर्तव्यों को निश्चित करके संस्कृति की रक्षा करना भी इसका एक उद्देश्य था। इस उद्देश्य की पूर्ति अनेक दिनों तक होती रही और उसी के फलस्वरूप भारत का स्थान उस समय भी श्रेष्ठतम देशों में था जबकि सारा यूरोप बर्बरता के स्तर पर निवास कर रहा था। परन्तु कालान्तर में इन सद्उद्देश्यों से बनाई गई जाति या वर्ण-व्यवस्था में अनेक दोष उत्पन्न हो गए और उसका एक कटु रूप आज हमारे सामने है। यही कारण है कि आज लोग खुले तौर पर इस प्रथा की निन्दा करते हैं और इससे छुटकारा पाने का प्रयास सचेत रूप में ही करते हैं। इसका प्रमुख कारण यही है कि आज जाति-व्यवस्था हमें उन लाभों को देने में असफल है, जिनके लिये कि इनका विकास हुआ था। निम्नलिखित विवेचना से जाति-प्रथा के दोष या हानियाँ स्पष्ट हो जायेंगी।

जाति-प्रथा से हानियाँ (Demerits of Caste System)

अनेक लाभों के होते हुए भी जाति-प्रथा दोषों से मुक्त नहीं है। श्री रिजले (Risley) का मत है कि जाति-प्रथा एक निम्न स्तर का संगठन है; यह विभक्त होकर उत्पन्न होती है और विकास के प्रत्येक पग पर उन्नति की शक्ति को या उसी कार्य-शैली को, जिसे वह मानने को कहती है, घटाती है।¹⁷ डॉ॰ राधाकृष्णन ने भी लिखा है कि दुर्भाग्यवश वही जाति-प्रथा जिसे सामाजिक संगठन को नष्ट होने से रक्षा करने के साधन के रूप में विकसित किया गया था, आज उसी की उन्नति में बाधक बन रही है।¹⁸ उपरोक्त कथन की यथार्थता जाति-प्रथा के निम्नलिखित दोषों से स्पष्ट हो जाती है—

17. "Caste is an organization of a lower type, it grows by fission and each step in its growth detracts from its power to advance or even to preserve the art which it professes to practise."
H. H. Risley

18. "Unfortunately this device to prevent the social organization from decay ultimately prevented it from growing."
—Dr. Radha Krishnan

(1) आर्थिक दृष्टिकोण से (From Economic Point of View)

1. श्रमिक की गतिशीलता में बाधक (Hindrane to the mobility of labour) — जाति-प्रथा के अन्तर्गत हर व्यक्ति के लिये एक विशिष्ट प्रकार का पेशा निश्चित होता है, इसलिये उसे प्रायः उसके बाहर पेशों को चुनने में कठिनाई होती है चाहे अन्य किसी पेशे के लिए वह कितना ही योग्य क्यों न हो। सच यह है कि आज जाति के आधार पर पेशे का चुनाव कोई नहीं करता या बहुत कम लोग करते हैं, फिर भी यह जातीय प्रतिबन्ध एक व्यक्ति को पूर्ण रूप से स्वतन्त्र नहीं करता और वह स्वतन्त्रतापूर्वक एक स्थान से दूसरे स्थान को जाकर पेशे को चुन नहीं पाता है। इससे श्रमिक की स्वतन्त्र गतिशीलता रुक जाती है।

2. श्रमिक की कुशलता में बाधक (Hindrane to the efficiency of labour) — जाति-प्रथा के अनुसार ऊँची जातियों के लिये मांस, मछली, अण्डा आदि खाना निषिद्ध है और साथ ही इस देश में निर्धनता के कारण दूध, घी, फल, साग, सब्जी तथा ऐसे ही अन्य पौष्टिक भोजन श्रमिक को नहीं मिल पाते। इससे प्रायः श्रमिकों का स्वास्थ्य गिर जाता है और वे कोई भी जटिल मानसिक कार्य करने की कुशलता प्राप्त नहीं कर पाते। साथ ही जाति-प्रथा के नियमानुसार एक छोटे समूह के अन्दर निरन्तर अन्तर्विवाह करने से वंशानुसंक्रमण के अनेक दोष उत्पन्न हो जाते हैं, जिससे जनता के स्वास्थ्य और कुशलता पर बुरा प्रभाव पड़ता है।

3. आर्थिक विकास में बाधक (Hindrane to economic development) — जाति-प्रथा ने हिन्दू समाज को अनेक छोटे-छोटे भागों में विभाजित कर दिया है और इनमें आपस में न तो मेल-जोल है और न ही सामुदायिक भावना। इससे सब एकसाथ मिलकर देश के आर्थिक विकास के लिये प्रयत्न करने की बात नहीं सोचते और न ही जातिवाद उन्हें सोचने देता है। एक जाति के सदस्य अपनी जातीय भावना से प्रेरित होकर अपनी ही जाति के लोगों के साथ पक्षपातपूर्ण व्यवहार करते हैं और बहुत-से उद्योगों तथा आर्थिक संस्थानों में जाति के आधार पर नियुक्ति होने के उदाहरण भी कम नहीं हैं। इससे भी आर्थिक प्रगति, विशेषकर उत्पादन की मात्रा कम हो जाती है। इतना ही नहीं, जाति-पाँति के आधार पर ही समाज के एक बड़े भाग को अछूत कहकर आर्थिक क्रियाओं में प्रत्यक्ष व सक्रिय भाग लेने से रोक दिया गया है, जिससे समाज को भारी आर्थिक हानि हुई है।

4. कृषि की उन्नति में बाधक (Hindrane to agricultural progress) — जाति-प्रथा कृषि की उन्नति में भी बाधक है, क्योंकि मांस, हड्डियों आदि से वैज्ञानिक तरीकों से बनी खाद का प्रयोग जाति-प्रथा के प्रतिबन्धों के कारण गाँव वाले नहीं करते या करने में हिचकिचाते हैं।

(2) राजनीतिक दृष्टिकोण से (From Political Point of View)

(क) राजनीतिक एकता में बाधा (Hindrane to Political Unity) — जाति-प्रथा ने समाज को इतने बुरे तरीके से विभाजित कर दिया है कि राजनीतिक एकता बिल्कुल टूट गई है। इसी विभाजन से लाभ उठाकर विदेशियों ने देश को गुलाम बनाया और सैकड़ों साल तक हम पर शासन करते रहे। भारत में लोक-सभा, विधान-सभा, पंचायत आदि के अनेक उम्मीदवारों को उनकी कुशलता के आधार पर नहीं, बल्कि जाति के आधार पर वोट दिया जाता है।

(ख) राष्ट्रीयता में बाधक (Hindrance to Nationality)—जाति-प्रथा का आधार ऊँच-नीच की भावना है जिसने कि हिन्दुओं को विभिन्न श्रेणियों में बाँट दिया है। जाति-प्रथा के अन्तर्गत ऊँच-नीच का संस्तरण एक हिन्दू को दूसरे से पृथक् करता है, ऐसी स्थिति में मुसलमान, ईसाई, पारसी आदि से मेल-मिलाप की सम्भावना तो और भी कम हो जाती है। इस प्रकार समस्त देश खण्डों और उप-खण्डों में विभाजित हो जाता है और जाति-प्राप्ति व छुआछूत के कारण उनमें एकता, समानता या 'हम' की भावना नहीं पनप पाती। इसका परिणाम यह होता है कि देश एक सुदृढ़ राष्ट्र के रूप में अपने को सुसंगठित करने में असफल होता है।

(3) सांस्कृतिक दृष्टिकोण से

(From Cultural Point of View)

सांस्कृतिक उन्नति में बाधक (Hindrance to Cultural Progress)—जाति-प्रथा के अन्तर्गत अनेक विभाजन और ऊँच-नीच का भाव होने के कारण सांस्कृतिक एकीभाव सम्भव नहीं हो पाता है। अनेक विद्वान यह कहते हैं कि भारत में अनेक भिन्नताओं के बीच भी एक सांस्कृतिक एकता है। परन्तु इसके पक्ष में अनेक तर्क प्रस्तुत करने पर भी यह प्रमाणित करना कठिन है कि जाति-प्रथा के भेदभाव को भुलाकर सभी जाति के लोग एक साथ मिलकर सांस्कृतिक उन्नति के सम्बन्ध में प्रयत्नशील रहे हैं। वास्तव में जातीय भेदभाव के कारण प्रत्येक समूह एक-दूसरे से दूर हो जाता है और सब मिलकर सांस्कृतिक उन्नति में हाथ नहीं बँटा पाते। किन्हीं-किन्हीं जातियों में पारस्परिक द्वेष तथा घृणा के भाव इतने स्पष्ट हैं कि वे एक-दूसरे की संस्कृति को नष्ट करने का प्रयत्न करते हैं।

(4) सामाजिक दृष्टिकोण से

(From Social Point of View)

(अ) उच्च जाति की तानाशाही (Despotism of Upper Caste)—जाति-प्रथा के अन्तर्गत ऊँची जातियों को अनेक विशेषाधिकार मिले हुए हैं और उन विशेषाधिकारों से लाभ उठाकर उच्च जाति के सदस्य अनेक प्रकार के अन्यायपूर्ण कार्य भी करते हैं। इस सम्बन्ध में सबसे अधिक विशेषाधिकार ब्राह्मणों को प्राप्त है जोकि प्रायः इनका दुरुपयोग ही करते हैं। ये धर्म के ठेकेदार हैं और उस रूप में उनका प्रत्येक कार्य क्षम्य है। धर्म की आड़ में ब्राह्मणों के अनेक कुकर्मों का विवरण मिलता है। देवदासी प्रथा उनमें से ही एक है। इस प्रथा के अन्तर्गत लड़कियों को देवता की सेवा करने के लिए मन्दिरों को दान कर दिया जाता है और उन्हें उन मन्दिरों के ब्राह्मण, पुरोहित तथा धर्म की छत्रछाया में वेश्याओं का जीवन व्यतीत करना पड़ता है।

(ब) धर्म-परिवर्तन (Religious conversion)—उच्च जाति की तानाशाही के कारण निम्न जाति, विशेषकर तथाकथित सन्नत जाति, की अवस्था अत्यन्त ही दयनीय हो गई और उन्हें अनेक प्रकार की सामाजिक, आर्थिक व धार्मिक निर्वि-ग्यताओं का शिकार बनना पड़ा। इस कारण हजारों हिन्दुओं ने अपने धर्म को त्याग कर ईसाई या मुसलमान धर्म को स्वीकार कर लिया। इससे, एक ओर स्वस्थ राष्ट्रीयता के विकास में बाधा पहुँची और, दूसरी ओर हिन्दू समाज के जातीय संगठन को काफी धक्का लगा।

(ब) अस्पृश्यता (Untouchability)—मनुष्य दूसरे मनुष्य को कितना हीन

समझ सकता है, इसका एक नग्न रूप जाति-प्रथा के अन्तर्गत अछूतपन या अपृथ्यता की धारणा है। उन लोगों को, जिन्हें जातीय संस्तरण में निम्नतम स्थान प्राप्त है, छूना ही नहीं बल्कि देखना भी पाप समझा जाता था। साथ ही, उन्हें स्वाभाविक सामाजिक जीवन से बहुत दूर रखा जाता था। उन पर कितनी ही सामाजिक, आर्थिक व धार्मिक नियोग्यताएँ लाद दी गई थीं। समाज में उनकी दशा वास्तव में बहुत दयनीय थी और ग्रामीण समुदायों में अब भी है। मनुष्य के हृदय में मनुष्य के लिए ही इतनी घृणा संचित रह सकती है, यह सोचना भी शायद पाप है, पर जाति-प्रथा का यही आदर्श है। असृश्यता हिन्दू समाज का एक कलंक है।

(ब) स्त्रियों की गिरी हुई दशा (Lower status of women)—जाति-प्रथा हिन्दू स्त्रियों की गिरी हुई दशा का एक प्रमुख कारण है। इतिहास यह बताता है कि जाति-रक्षा के नाम पर ही दिन-प्रतिदिन स्त्रियों के अधिकारों को एक-एक करके छीन लिया गया। उन्हें शिक्षा प्राप्त करने का अधिकार नहीं दिया गया, उनकी गतिशीलता पर रोक लगाई गई, विवाह का अर्थ समझने से पहले ही उनका विवाह कर दिया गया और विधवा हो जाने पर पुनर्विवाह का अधिकार तक न दिया गया। प्रतिवर्ष बच्चा पैदा करना ही उनका काम और दासी बनकर सबकी, विशेषकर पति की, सेवा करना ही उनका एक मात्र कर्तव्य रह गया।

(य) अनेक सामाजिक समस्याओं का कारण (Responsible for many social evils)—जाति-प्रथा के अन्तर्गत जो अन्तर्विवाह सम्बन्धि कठोर नियम हैं उसके कारण कुलीन विवाह, वरमूल्य-प्रथा, बाल-विवाह, विधवा-विवाह पर रोक आदि अनेक समस्याएँ उत्पन्न हो गई हैं। कुलीन विवाह का एक प्रमुख कारण यह बताया गया है कि लोग अपनी लड़की का विवाह अपने से उच्च कुल में करके अपनी जातीय प्रतिष्ठा को बढ़ाने का प्रयत्न करते हैं। इस प्रवृत्ति का परिणाम यह होता है कि उच्च कुलों में निम्न कुलों के सभी माता-पिता अपनी लड़कियों का विवाह करने का प्रयत्न करते हैं। फलतः उच्च कुलों में लड़कों की कमी होती है और उनकी माँग अधिक। इसीलिए वरमूल्य-प्रथा या अधिकाधिक दहेज देकर लड़का प्राप्त करने की प्रवृत्ति पनपती है। इससे बचने के लिए जल्दी-से-जल्दी विवाह कर देने की प्रवृत्ति विशेषतः लड़कियों के माता-पिता में पनपती है। इसी से बाल-विवाह प्रथा का जन्म होता है। बाल-विवाह का एक परिणाम यह होता है कि समाज में बाल-विधवाओं की संख्या बढ़ती है जोकि स्वयं एक कटु समस्या बन जाती है। जाति-पाति का नियम अगर न हो, अगर अन्तर्जातीय विवाहों पर प्रतिबन्ध न हो तो उपरोक्त कोई भी समस्या समाज में न पनपे। उसी प्रकार श्री वेस्टरमार्क (Westermarck) का कथन है कि अन्तर्विवाह के कारण समाज में लड़कियों की संख्या लड़कों से अधिक होती है। जनसंख्यात्मक दृष्टिकोण से यह भी समाज के लिए हितकर सिद्ध नहीं होता और अनेक सामाजिक बुराइयों को जन्म देता है।

(र) प्रगति में बाधक (Hindrane to progress)—जाति-प्रथा सामाजिक प्रगति में भी बाधक है। जाति से निकाल दिये जाने के डर से लोग अपने परम्परा-त्मक ढंग से ही कार्य करते हैं और नई दिशा में पग नहीं रखते। अर्थात् जाति-पाति के नियम और प्रतिबन्धों के फलस्वरूप सामाजिक जीवन में नये प्रयोग नहीं हो पाते हैं या उनको करने में बाधा उत्पन्न होती है। इससे, एक ओर, नए आविष्कार नहीं हो पाते और दूसरी ओर, पृथक्ता की नीति व रुढ़िवादिता के कारण दूसरों के आविष्कारों से लाभ उठाना भी सम्भव नहीं हो पाता है।

उपरोक्त विवेचना से यह स्पष्ट है कि अपने कटु या विकृत रूप में जाति-प्रथा से समाज को पर्याप्त हानि हुई है और अब भी हो रही है। अतः इन हानियों से समाज की रक्षा करने के हेतु लोग आज जाति-प्रथा को समाप्त करने के पक्ष में अपनी राय देते हैं और यह कहते हैं कि सामाजिक व्यवस्था व विभाजन का आधार वही 'गुणकर्म-विभागशः' होना चाहिये जैसा कि श्रीमद्भगवद्गीता में भगवान् का निर्देश है (वास्तव में ऐसा निर्देश है भी या नहीं इस विषय में विद्वानों का मतभेद है)। अतः गुण-कर्म पर बल देने वाले विद्वानों का कथन है कि "जन्मना जाति मानने वाली वर्तमान पद्धति को उठा देना चाहिए और कोई नई व्यवस्था तो क्या, वही प्राचीन व्यवस्था जिसका निर्देश भगवान् ने किया है अर्थात् मनुष्य के गुण और कर्म देखकर तदनुसार उसका वर्ण निश्चित करने वाली व्यवस्था ने फिर से स्थापित की जानी चाहिए। तभी हमारे समाज के अन्दर सच्चे और अच्छे लोग ब्राह्मण कहलाएंगे और ऐसी वर्ण-व्यवस्था से समाज का कल्याण होगा। वर्तमान व्यवस्था में केवल ब्राह्मण-कुल में जन्म हो जाने से ही ऐसे-ऐसे लोग ब्राह्मण कहलाते हैं जिनमें कोई भी योग्यता नहीं है। इससे बहुत बड़ी हानि हुई है। हम लोगों का राजनीतिक दासत्व इसी का परिणाम है और इसी से वे सब बुराईयाँ उत्पन्न हुई हैं जिनसे आज हिन्दू समाज श्रस्त है।"

कुछ लोग तो यहाँ तक कहते हैं कि "ब्राह्मणों के लाख कहने के बावजूद भी जाति केवल एक विशृंखलित सामाजिक संस्था है, जो अपनी सेवाओं के पश्चात् अब भारतवर्ष के वातावरण को दुर्गन्ध से भर रही है।" इस प्रतिशयोक्ति से अधिकतर समाजशास्त्री सहमत न हो सकेंगे क्योंकि जाति-प्रथा से देश या समाज को कुछ भी लाभ नहीं है, यह मानना सत्यता को अस्वीकार करना होगा। इसमें सन्देह नहीं कि जाति-प्रथा में आज अनेक दोष या अवगुण प्रवेश कर चुके हैं, परन्तु कोई भी राजनीतिक, सामाजिक या धार्मिक संस्था सर्वथा दोषरहित है या हो सकती है, ऐसा सोचना मन-ही-मन स्वर्ण-लंका या रामराज्य का निर्माण करना है। उसी प्रकार जाति-प्रथा न कभी पूर्णतया दोषरहित थी और न कभी होगी। परन्तु स्मरण रहे कि यह सब कहने का तात्पर्य यह नहीं है कि हम वर्तमान रूप में जाति-प्रथा की वकालत कर रहे हैं या जाति-प्रथा को उसके समस्त दोषों और कमियों के साथ स्वीकार कर लेने के लिए अपना तर्क प्रस्तुत कर रहे हैं। ऐसा कदापि नहीं है, और न ही कोई सामाजिक वैज्ञानिक ऐसा सोच सकता है या लिख सकता है या दूसरों को मानने के लिए कह सकता है। जाति-प्रथा से अनेक हानियाँ आज समाज को हैं, यह हम भी स्वीकार करते हैं, फिर भी आज अगर जाति-प्रथा से समाज को हानियाँ अधिक हो रही हैं तो जाति-प्रथा को त्याग देने से ही उन हानियों से छुटकारा पाया जा सकता है, यह भी हम स्वीकार नहीं करते हैं। जिससे भी समाज को हानि हो रही है, उसी को त्याग देने या समाप्त या नष्ट कर देने की नीति आज बहुत पुरानी (out-of-date) हो चुकी है। अगर ऐसा न होता तो व्यक्ति और समाज दोनों को ही घोर हानि पहुँचाने वाले असंख्य अपराधियों (criminals) को नष्ट कर डालने के लिए ही आज जनता व सरकार को जुट जना चाहिये था। तो फिर क्यों दण्ड में सुधारात्मक (reformatory) सिद्धान्त को आज अपनाया जा रहा है, तो फिर क्यों इस सिद्धान्त को व्यावहारिक रूप देने के लिए नित्य नए प्रयोग किए जा रहे हैं और उनमें जनता की गाँधी कमाई के लाखों रुपये व्यय हो रहे हैं? इसका उत्तर भी सरल है और वह यह कि एक व्यक्ति या संस्था या संगठन को बिगाड़ना या नष्ट करना सरल है, पर

उसे बनाना या सुधारना कठिन कार्य है। नष्ट करने की सरल बात वे ही सोचते हैं जो कि सुधारों की क्षमता नहीं रखते या सुधारने के कठिन कार्य के उत्तरदायित्व से बचना चाहते हैं या जी चुराते हैं। कठिन कार्य को कठिन कहकर उससे दूर भागना मानवीय प्रयत्नों, ज्ञान-विज्ञान, कुशलता, संस्कृति व सम्यता का अपमान करना ही है। सम्य समाज की महानता किसी को भी नष्ट करने में नहीं, बल्कि उसे सुधारने में है। इसी आवार पर जाति-प्रथा के दोषों का उल्लेख मात्र करके केवल इतना कहकर ही अपने कर्तव्यों से हमें छुटकारा नहीं मिल सकता कि आज जाति-प्रथा 'भारतवर्ष के वातावरण को दुर्गन्ध से भर रही है'। उन दोषों को दूर करके इस पवित्र देश के वातावरण को पवित्रतर बनाने का और उसे फिर से सुगन्ध से आमोदित करने का उत्तरदायित्व भी हम लोगों को ही लेना होगा।

15

जाति-प्रथा में समकालीन परिवर्तन

[Contemporary Changes in Caste System]

सामाजिक परिवर्तन एक स्वाभाविक नियम है। सामाजिक परिवर्तन का तात्पर्य यही है कि सामाजिक ढाँचे में, समिति और संस्थाओं में भी परिवर्तन हो रहा है या हो गया है। जाति-प्रथा भी भारतीय सामाजिक जीवन की एक प्रमुख संस्था है और इसमें भी समयानुसार परिवर्तन होते रहे हैं। यह कहना, जैसा कि अन्धविश्वासियों का मत है, सर्वथा गलत होगा कि जाति-प्रथा में कोई परिवर्तन हुआ ही नहीं है। यह सच है कि जाति-प्रथा में परिवर्तन की गति इतनी धीमी रही है कि उल्लेखनीय परिवर्तनों को ढूँढ़ निकालना वास्तव में कठिन है, पर यह स्वीकार करना ही पड़ेगा कि परिवर्तन निरन्तर होता रहा है।

जाति-प्रथा की परिवर्तनशीलता का अध्ययन करने के लिये हम अपनी सुविधानुसार इसे निम्नलिखित पाँच युगों में बाँट सकते हैं—(1) वैदिक युग (ईसा से 600 वर्ष पूर्व); (2) उत्तर-वैदिक काल (तीसरी शताब्दी तक); (3) धर्मशास्त्र युग (11वीं शताब्दी तक); (4) मध्यकालीन युग (11वीं से 17वीं शताब्दी तक); (5) वर्तमान युग (18वीं शताब्दी के बाद)।

वैदिक युग (Vedic Age)

इस युग के सम्बन्ध में हमें बहुत कुछ जानकारी ऋग्वेद से होती है। ऋग्वेद में तीन वर्णों—ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य—का उल्लेख प्रमुख रूप से किया गया है। केवल एक-दो स्थानों पर शूद्रों का वर्णन आया है। ऋग्वेद से स्पष्ट पता चलता है कि इस युग में वर्ण-व्यवस्था के आधार पर कठोरता बिल्कुल न थी और न ही ऊँच-नीच की भावना, इतनी गम्भीर थी। पेशों के सम्बन्ध में कोई प्रतिबन्ध न था और न ही खाने-पीने के सम्बन्ध में। जन्म पर भी अधिक बल नहीं दिया जाता था जैसा कि सत्य-काम की कथा से विदित होता है। ब्राह्मणों का काम पूजा-पाठ करना तथा शिक्षा देना था, पर वे भी क्षत्रियों का काम करते थे, जैसा कि परशुराम की जीवनी से पता चलता है। उसी प्रकार विश्वामित्र एक क्षत्रीय होते हुए भी पुजारी का काम करते थे। इतना ही नहीं, खान-पान के सम्बन्ध में भी कोई प्रतिबन्ध न था। ब्राह्मण, क्षत्रीय और वैश्य एक-दूसरे के हाथ का पकाया हुआ अन्न खा सकते थे। मनु का कथन है कि द्विज को शूद्र के हाथ का पका भोजन नहीं करना चाहिये, परन्तु जो भोजन दास ने या परिवार के मित्र ने, या खेती के लाभ में साझीदार ने पकाया हो, वह खाया जा सकता है।

चूँकि विभिन्न वर्णों में, विशेषकर ऊपर के तीन वर्णों में, ऊँच-नीच की भावना कटू नहीं थी और न ही उनकी भाषा, धर्म और संस्कृति में कोई अन्तर था, इस कारण अन्तर्विवाह के नियम नहीं थे। क्षत्रियों की शादी ब्राह्मणों से हो जाती थी अर्थात् अनुलोम विवाह प्रथा प्रचलित थी। प्रतिभोग विवाह समाज द्वारा मान्य नहीं था। अतः

यह कहा जा सकता है कि वैदिक काल में विभिन्न वर्ण पाश्चात्य देशों के मुक्त वर्गों की भाँति थे। विशेषकर इस अर्थ में कि वर्णों का विभाजन प्रत्येक के कर्मों से सम्बन्धित था। इस काल में शूद्र वर्ण अधिक स्पष्ट न था। शूद्र अनार्य; दास या दस्यु थे, जिनकी खाल का रंग काला था, नाक चपटी थी, जो यज्ञ नहीं करते थे, ईश्वर को नहीं मानते थे और जिनकी भाषा समझ में नहीं आती थी। इस प्रकार इस युग में वर्ण-व्यवस्था के अन्तर्गत प्रमुख रूप से ब्राह्मण, क्षत्रिय व वैश्य ही सम्मिलित थे, जोकि एक ही प्रजाति (Race) के थे तथा सांस्कृतिक दृष्टिकोण से भी समान थे, इसीलिये इनमें पारस्परिक भेद-भाव न तो अधिक थे और न ही उसकी कोई आवश्यकता थी।

इस सम्बन्ध में एक बात यह स्पष्ट कर देती है कि वैदिक काल में वर्ण-भेद था। डॉक्टर कीथ (Dr. Keith) ने लिखा है कि "विज्ञानों (म्यूर, जिम्मर और वेवर आदि) के मतानुसार ऋग्वेदीय युग में किसी प्रकार का भी जाति-भेद नहीं था, किन्तु आधुनिक काल में (जिल्मर, न्यूबर्ग के मतानुसार) बड़े जोरों से यह कहा जा रहा है कि उस युग में भी जाति-भेद था। एक दृष्टि से देखने पर सत्य ही ऋग्वेद में जाति-प्रथा का अस्तित्व स्वीकार नहीं किया जा सकता।ऋग्वेद में कोई भी वास्तविक प्रमाण नहीं है कि उस काल में (पुरोहित) ब्राह्मण एक वंशानुगत बन्द जाति नहीं थे। ब्राह्मण (ब्रह्मा के पुत्र) शब्द से ही यह स्पष्ट है कि पौरोहित्य साधारणतया वंशानुगत था।ऋग्वेद में एक शासक क्षत्रिय जाति की कथा है; यह निःसन्देह है एवं वैदिक काल में राजपद वंशानुगत था। इसके अतिरिक्त ब्राह्मण, क्षत्रिय एवं विश्-- इन तीनों जातियों में समाज विभक्त था, इसका उल्लेख मिलता है।इस पर विश्वास करने के पर्याप्त कारण हैं कि ऋग्वेदीय युग में पौरोहित्य (ब्राह्मण) एवं अभिजात्य (क्षत्रिय) वंशानुगत था। सगोत्र और निकट सम्बन्धी (पितृ-मातृ वंश के) लोगों में विवाह नहीं होता था। प्रथानुसार पुरुष को निज जाति में ही विवाह करना पड़ता था और जाति के बाहर विवाह तो निरन्तर जाति में ही हो सकता था।जाति का परिवर्तन करना सम्भव था कि नहीं यह कठिन प्रश्न है। परिवर्तन के बहुत ही कम प्रमाण मिलते हैं।सम्भवतः शूद्रों में भी अपनी जाति में ही विवाह-प्रथा प्रचलित थी। वैदिक आर्य एवं अनार्य दोनों ही अपनी-अपनी जाति में विवाह करते हैं।"

L. "The existence of caste system in any form in the age of the Rigveda has been denied by high authority (Muir, Zimmer, Weber), though it has been asserted of late with increasing insistence (Gelmer, Niubarg). In one sense indeed its presence in the Rigveda cannot be disputed.....there is no actual proof in the Rigveda that the Priesthood was not than a closed hereditary class. The term 'Brahmana' (son of Brahma) seems, on the contrary, to show that the Priesthood was normally hereditary.....The Rigveda certainly knows of ruling class, the Kshattria, and the Vedic Kingship was normally hereditary. There are traces, moreover, of the divisions of the society into the holy poor (Brahman), the kingly poor (Kshattria) and the commonality (Vis).....There is good reason to believe that in the period of the Rigveda the Priesthood and the Nobility were hereditary.....There shall be no marriage with agnates or cognates and they require that a man must either marry in his own caste, or if he marries out of the caste, it must be into a lower caste.....The questions of how far change of caste was possible raises difficult problems. The evidence of any change is scanty in the extreme.....It is probable enough that among the

उस समय खाने-पीने के सम्बन्ध में भी कुछ निश्चित निषेध थे। भगवान् ने गीता में कहा है—‘उच्छिष्टमपि चामेध्यं भोजनं तामसप्रियम् ॥’ महाभारत में भी जगह-जगह आहार के सम्बन्ध में कठोर नियमों का उल्लेख है—

शूद्रस्य तु कुलं हन्ति वैश्यस्य पशुबान्धवान् ।
क्षत्रियस्य भ्रियं हन्ति ब्राह्मणस्य सुवर्चसम् ॥
तथोच्छिष्टमयान्योन्थं संप्राप्तेस्त्रात्र संशयः ।

(महा० अनु०, 136/13—26)

अर्थात् शूद्र के शूद्र के साथ एक पात्र में भोजन करने से उसका कुलक्षय, वैश्य के वैश्य के साथ एक पात्र में भोजन करने से उसके पशु और बान्धव का, क्षत्रिय के क्षत्रिय के साथ एक पात्र में भोजन करने से श्री का नाश एवं ब्राह्मण के ब्राह्मण के साथ एक पात्र में भोजन करने से उनके तेज का नाश होता है। अतएव एक-दूसरे का छूटा खाना यानी कई लोगों का एक पात्र में भोजन करना अत्यन्त अवांछनीय है।

अतः स्पष्ट है कि जाति-प्रथा की कुछ विशेषतायें स्पष्टतः वैदिक युग में भी विद्यमान थीं। हाँ, यह हो सकता है कि उसका रूप आज की जाति-प्रथा की भाँति भले ही न रहा हो।

उत्तर-वैदिक काल (Post-Vedic Age)

इस युग में उपरोक्त तीनों वर्ण धीरे-धीरे एक-दूसरे से अलग होने लगे। उनमें पृथक्ता की भावना जाग्रत होने लगी। एक चौथा वर्ण ‘शूद्र’ बिलकुल स्पष्ट हो गया। इस युग में ऊपर के तीन वर्णों के लिये भिन्न प्रकार के सम्बोधनों, पूजा की विधियों तथा पिण्डों का विधान प्रारम्भ हो गया। ब्राह्मणों की शक्ति दिन-प्रतिदिन बढ़ रही थी और साथ ही उनकी कठोरता की नीति के कारण शक्ति का दुरुपयोग होने लगा। इसी युग में जैन और बौद्ध धर्म का विकास हुआ जिनके पृष्ठपोषक (supporters) क्षत्रिय थे। ये धर्म समानता की नीति पर आधारित थे और ब्राह्मणों के विरुद्ध थे। इससे इस युग में क्षत्रियों की सामाजिक स्थिति ऊँची उठी और ब्राह्मणों की उसी अनुपात में नीचे गिरी। बौद्ध-ग्रन्थों में क्षत्रियों के बाद ही ब्राह्मणों के स्थान का उल्लेख किया गया है। उनमें जन्म से कर्म को अधिक महत्त्व दिया गया है। बुद्ध ने स्पष्ट ही स्वीकार किया है कि मनुष्य अपने जन्म से नहीं बल्कि कर्म से ब्राह्मण होता है।

जैन और बौद्ध धर्म के पतन के बाद ब्राह्मणों ने अपनी खोई हुई शक्ति को पुनः प्राप्त करने के लिये जाति के नियमों को और भी कठोर बनाया। चारों वर्णों का संस्तरण हो गया और प्रत्येक वर्ण ने अपने को दृढ़ बनाया। जाति-प्रथा के नियमों का उल्लंघन करने वालों का जाति से बहिष्कार किया जाता था। ब्राह्मणों की स्थिति व मर्यादा और बढ़ी। ब्राह्मण और क्षत्रिय कर (tax) से मुक्त थे।

जातक ग्रन्थ से पता चलता है कि इस काल में प्रत्येक जाति के पेशों को जन्म के आधार पर निश्चित कर दिया गया था और उनके अलग-अलग कर्तव्यों पर भी प्रकाश डाला गया था।

Sudras themselves there were rules of endogamy.....The Vedic Aryans and the aborigines alike married within the castes.”—Dr. Keith, *Cambridge History*, pp. 92-129.

इस युग में अन्तर्विवाह प्रथा आदर्श विवाह था। अन्तर्जातीय विवाह (inter-caste marriage) पर कड़ा प्रतिबन्ध लग गया। यद्यपि अनुलोम विवाह की आज्ञा थी, तथापि इस प्रकार के विवाहों से उत्पन्न सन्तानों को सम्पत्ति पर पूर्ण अधिकार प्राप्त न थे।

इसी युग में छुआछूत के विचारों का स्पष्टीकरण हुआ। भोजन के सम्बन्ध में नियम बने जिनमें विशेष रूप से शूद्रों के बने भोजन वर्जित थे। शूद्रों को ऊपर के वर्णों के साथ रहने, खाने-पीने, विवाह करने तथा उनको छूने की आज्ञा न थी। निम्न-स्तर के शूद्र (चाण्डाल आदि) गाँव के बाहर रहते थे।

इस सम्बन्ध में मेगास्थनीज द्वारा प्रस्तुत विवरण का उल्लेख अनावश्यक न होगा। वे ईसा के पूर्व चतुर्थ शताब्दी के शेष भाग में मौर्य सम्राट् चन्द्रगुप्त की राजधानी में आये थे। उन्होंने तत्कालीन भारत का एक सुन्दर और विशद् विवरण लिखा था। भारत के सम्बन्ध में उनके पूर्व किसी भी विदेशी का विश्वासयोग्य लेख कम मिलता है। इस कारण उनके द्वारा प्रस्तुत जाति-प्रथा के विवरण का उल्लेख यहाँ किया जा सकता है। मेगास्थनीज के लेख में भारत में 7 जातियाँ थीं—दार्शनिक, योद्धा, शिल्पी, कृषक, पशुपालक, सदस्य और परिदर्शक। इस वर्णन में अवश्य ही भूल है, फिर भी जाति के सम्बन्ध में उनके वर्णन को बिल्कुल हँसकर ढाला नहीं जा सकता। मेगास्थनीज ने स्पष्ट ही लिखा है कि उस समय किसी को न तो अपनी जाति से बाहर विवाह करने की और न अपने पेशे को छोड़कर अन्य पेशे को अपनाने की अनुमति थी। उदाहरणार्थ योद्धा कृषक नहीं बन सकता था और शिल्पी दार्शनिक नहीं बन सकता था। एक अन्य स्थान पर मेगास्थनीज लिखते हैं कि “अपनी जाति के बाहर किसी के भी विवाह का अनुमोदन नहीं किया जाता अथवा किसी को भी अपना पेशा या व्यवसाय का परिवर्तन नहीं करने दिया जाता, अथवा कोई एकाधिक पेशे को अपना नहीं सकता। केवल दार्शनिकों के लिये ही इसका व्यतिक्रम होता है जिन्हें कि अपने गुणों के कारण कुछ विशेष सुविधा दी जाती है। इस देश की रीति के अनुसार अन्तर्जातीय विवाह निषिद्ध है। उदाहरणार्थ कृषक, शिल्पी जाति की किसी स्त्री से विवाह नहीं कर सकते। प्रथानुसार किसी मनुष्य को दो प्रकार का पेशा क्रूरना मना है। कोई एक जाति से दूसरी जाति में प्रवेश नहीं कर सकता। जैसे यदि कोई पशुपालक है तो वह कृषक नहीं बन सकता। सभी जातियों के लोग त्यागी बन सकते हैं क्योंकि त्यागी का जीवन सहज नहीं अपितु सबसे अधिक कठोर भी है।”

उपरोक्त लेख से यह प्रमाणित होता है कि आज से 2200-2300 वर्ष पूर्व

2. “No one is allowed to marry out of his own caste, or to exchange one profession or trade for another, or to follow more than one business. An exception is made in favour of the Philosopher, who for his virtue is allowed this privilege.....The custom of the country prohibits inter-marriages between the castes, for instance, the husbandman cannot take a wife from the artisan caste, nor the artisan from the husbandman caste. Custom also prohibits any one from exercising two trades, or from changing from one caste to another. One cannot, for instance, become a husbandman if he is a herdman, or become a herdman if he is an artisan. It is permitted that the sophist only be from any caste, for the life of the sophist is not an easy one, but the hardes of all.”—Mc Crindle, *Megasthenes*, pp. 41-218.

भारतवर्ष में वर्ण अथवा जाति जन्मगत थी और कर्म भी जन्मानुसार ही था। कुछ विद्वानों के मतानुसार यह निर्विवाद है कि उस काल में समाज मनु के विधान से शासित होता था। यह एक भव्य वैदेशिक का लिखा हुआ निरपेक्ष प्राचीनतम ऐतिहासिक प्रमाण है—इसको किसी भी प्रकार से उड़ा देना सम्भव नहीं है।

धर्मशास्त्र युग

(Dharmashastra Age)

जाति-प्रथा के नियमों की कठोरता, जिसका कि बीजारोपण उत्तर-वैदिक काल में हुआ था, इस युग में चरम सीमा तक पहुँच गई। ब्राह्मणों का स्थान समाज में बहुत ऊँचा हो गया। वे ईश्वर और मनुष्य के बीच के योग (link) के रूप में माने जाने लगे। इस युग में ब्राह्मणों को दान देने की महिमा बड़ी और जाति के नियमों का उल्लंघन करने वालों के लिए अनेक प्रकार के नरकों की कल्पना की गई। अब न केवल शूद्रों का ही बल्कि अन्य सभी वर्णों का भी यह प्रमुख कर्तव्य हो गया कि वे ब्राह्मणों की सेवा करें। राजा भी ब्राह्मणों का सम्मान करने लगे।

वैश्यों को शूद्रों के समान माना जाने लगा और उनके पेशे में भी कोई अन्तर न रह गया। पेशों के परम्परात्मक विभाजन को धर्मशास्त्रों में दृढ़तापूर्वक स्वीकार किया गया, परन्तु प्रायः लोग अपने परम्परात्मक या वंशानुगत पेशों के अतिरिक्त कुछ और भी कार्य करते थे।

अन्तर्विवाह के नियमों को और कठोरता से लागू किया गया और अन्तर्जातीय विवाहों के बन्धन दृढ़ हो गए। फिर भी अनुलोम विवाह मान्य था और इस प्रकार के विवाह से उत्पन्न द्विज वर्णों की सन्तानों को द्विज ही माना गया, परन्तु उनको समस्त धार्मिक अधिकार आदि नहीं दिए गए।

यद्यपि अन्तर्जातीय विवाह को इस युग में कठोरता से रोका गया, फिर भी राज्य परिवारों में ऐसे विवाह के उदाहरण मिलते हैं। जैसे, एक वैश्य राजा की लड़की का विवाह दक्षिण के एक ब्राह्मण से हुआ था। वैश्य राजा हर्षवर्धन ने अपनी बहन राज्यश्री का विवाह एक क्षत्रिय से किया था।

इस युग में शूद्रों की स्थिति और भी गिर गई। उनको निकृष्ट कोटि का समझा जाने लगा और कुछ शूद्रों को छोड़कर अन्य सभी शूद्रों के हाथ का बनाया हुआ भोजन अपवित्र माना गया। साथ ही, उनके समस्त अधिकार छीन लिये गए।

मध्यकालीन युग

(Medieval Age)

इस युग में मुसलमानों के आने से फिर जाति-प्रथा को घोर धक्का लगा। मुसलमानों में जाति-पाँति के आधार पर भेद-भाव का अभाव था और वे समानता के सिद्धान्त को आदर्श मानते थे। अतः स्वाभाविक रूप में ही मुसलमान राजाओं ने जाति-प्रथा को व्यर्थ समझा। कुछ राजाओं ने भारत में इस्लाम धर्म को भी फैलाने का प्रयत्न किया और हिन्दुओं पर जजिया नामक कर (tax) लगाया तथा जबरदस्ती की नीति भी अपनायी। ऐसे शासकों में फिरोज तुगलक, सिकन्दर लोदी और औरंगजेब का नाम उल्लेखनीय है। परन्तु ऐसे भी अनेक मुसलमान शासक हुए जिन्होंने हिन्दु और मुसलमान को भाई-भाई के स्तर पर लाने का भरसक प्रयत्न किया और जाति-पाँति के भेद-भाव को दूर करने पर बल दिया। दोनों प्रकार के ही शासकों का अपना-

अपना प्रभाव जाति-प्रथा पर पड़ा। इस दशा में इस्लाम धर्म का प्रभाव भी उल्लेखनीय है। इस्लाम धर्म की समानता की नीति से प्रभावित होकर अनेक हिन्दू संत जाति-पाँति के भेद-भाव को दूर करने के लिये प्रयत्नशील हुए। आगे की विवेचना से यह बात और भी स्पष्ट होगी।

क्षत्रिय राजा होने के नाते मुसलमानों के राजनीतिक प्रभाव से दब गए। कायस्थों और क्षत्रियों पर मुसलमानों का प्रभाव सबसे अधिक पड़ा, क्योंकि क्षत्रिय राजा होने के नाते और कायस्थ राजकीय कार्यों से संलग्न होने के कारण मुसलमानों के सम्पर्क में सबसे अधिक और सबसे पहले आए। एक ओर अकबर ने भारत के इतिहास में सबसे पहले सरकारी स्कूल खोले जिनमें हिन्दू और मुसलमान बच्चों को एक-साथ फारसी भाषा के माध्यम से शिक्षा दी जाती थी। इसका प्रभाव जाति-प्रथा की कट्टरता पर पड़ा और विशेषकर उन्हें अधिक प्रभावित किया जो ब्राह्मणों की कठोरता से पीड़ित थे। दूसरी ओर कबीर, नानक, चैतन्य महाप्रभु आदि ने ब्राह्मणों की छुआछूत, दिखावा और कठोरता की नीति की कटु आलोचना की और जाति-पाँति के आधार पर ऊँच-नीच की भावना को कम करने का प्रयत्न किया। इस काल में शूद्रों के धार्मिक अधिकार बढ़े। उन्हें अनेक धार्मिक संस्कारों और पूजाओं को करने की स्वतन्त्रता दी गई। तेरहवीं शताब्दी के प्रारम्भ में महाराष्ट्र में अनेक शूद्र-संत जैसे नामदेव, तुकाराम आदि का प्रादुर्भाव हुआ। इनके प्रयत्नों से शूद्रों को कुछ अधिकार प्राप्त हुए। उनके लिये ज़प करने का मार्ग बतलाया गया।

संक्षेप में इस युग में दो धारा-प्रवाह प्रभावित हो रहे थे। एक ओर तो मुसलमान शासक और धार्मिक संत-साधु कबीर, नानक, चैतन्य, नामदेव आदि थे जो जाति-प्रथा की कट्टरता और ऊँच-नीच को समाप्त करना चाहते थे, और दूसरी ओर ब्राह्मण और उनकी कठोरता की नीति थी। चूँकि इस युग में जाति-प्रथा पर उपरोक्त प्रथम श्रेणी के द्वारा काफी आक्रमण हुए, इस कारण ब्राह्मण भी अपनी ओर से अधिक कठोर हो गए। अस्पृश्यता का विचार और भी बढ़ हुआ और अछूतों को बिल्कुल अलग कर दिया गया। हिन्दू स्त्रियों का मुसलमानों के साथ विवाह होने पर रोक लगाने के लिये तथा रक्त की शुद्धता व स्त्रियों के सतीत्व को बनाए रखने के लिये एक ओर तो बाल-विवाह प्रथा तथा सती-प्रथा को अत्यधिक व्यापक रूप से प्रचलित किया गया और दूसरी ओर पर्दा-प्रथा को अपनाकर स्त्रियों की गतिशीलता पर रोक लगाई गई। विधवाओं के पुनर्विवाह को बिल्कुल रोक दिया गया। अन्तर्जातीय विवाह की अनुमति न थी। वैसे तो ग्यारहवीं शताब्दी से प्रारम्भ होने वाले काल में ही अनुलोम विवाहों का पूरी तरह निषेध कर दिया गया था, इस कारण इस युग में इस प्रकार के विवाहों का भी प्रश्न नहीं उठता था।

वर्तमान युग (Modern Age)

अंग्रेजी राज्यकाल में पाश्चात्य शिक्षा और सभ्यता के प्रभाव से और साथ ही नई आर्थिक व्यवस्था, यातायात और संचार के साधनों में उन्नति, नगरों का प्रभाव तथा राजनीतिक व धार्मिक आन्दोलनों के फलस्वरूप जाति-प्रथा में क्रान्तिकारी परिवर्तन हुए। प्रारम्भ में अंग्रेजों ने जाति-पाँति के मामलों में हस्तक्षेप नहीं किया, परन्तु श्री बारेन हेस्टिंग्स पहला गवर्नर-जनरल था जिसने इस विषय को भी नहीं छोड़ा। सन्

1850 में 'जाति निर्योग्यता उन्मूलन अधिनियम' (Caste Disabilities Removal Act, 1850) जाति-प्रथा के प्रभावों को रोकने के लिये सरकार का पहला कदम था। सन् 1872 में 'विशेष विवाह अधिनियम' (Special Marriage Act, 1872) के द्वारा अन्तर्जातीय विवाह की अनुमति दे दी गई। सन् 1955 में 'हिन्दू विवाह अधिनियम' (The Hindu Marriage Act, 1955) पास हुआ जिसके अनुसार जाति-प्रथा द्वारा लागू किए गए अनेक प्रतिबन्ध समाप्त कर दिए गए।

स्वतन्त्र भारत के संविधान ने जाति-पाँति के भेद और छुआछूत को बिल्कुल ही समाप्त कर दिया। इसे कानूनी मान्यता देने के लिये 'अस्पृश्यता अपराध अधिनियम, 1955' (The Untouchability Offences Act, 1955) पास किया गया है तथा 'नागरिक अधिकार संरक्षण कानून, 1976' (Protection of Civil Rights Act, 1976) के द्वारा अछूत जातियों की समस्त निर्योग्यताओं को समाप्त कर दिया गया है और अस्पृश्यता को मानने वाले या उसे बढ़ावा देने वालों को कड़े दण्ड देने की व्यवस्था की गई है। इन सबके फलस्वरूप जाति-प्रथा के परम्परात्मक स्वरूप में क्रान्तिकारी परिवर्तन हो रहे हैं।

उपरोक्त विवेचना से यह स्पष्ट है कि प्रारम्भ से लेकर अब तक जाति-प्रथा का रूप या स्वरूप एक-सा नहीं रहा है, बल्कि उसमें समय-समय पर कुछ-न-कुछ परिवर्तन अवश्य ही होते रहे हैं। उपरोक्त विश्लेषण में जाति-प्रथा के जिस परिवर्तन का उल्लेख जिस समय किया गया है, हो सकता है वह ठीक उसी रूप में या उसी समय घटित न हुआ हो, पर किसी भी अवस्था में जाति-प्रथा की परिवर्तनशीलता को अस्वीकार नहीं किया जा सकता। साथ ही उपरोक्त विश्लेषण से जाति-प्रथा का इतिहास कितना स्पष्ट होता है यह सन्देहयुक्त है और न ही उपरोक्त विश्लेषण का उद्देश्य जाति-प्रथा के इतिहास को बताना है। इसका तो उद्देश्य वर्तमान जाति-प्रथा को समझना है और उसके लिये ऐतिहासिक पृष्ठभूमि का ज्ञान आवश्यक है जिस पर कि आज की परिवर्तित जाति-प्रथा आधारित है।

जाति-प्रथा में आधुनिक परिवर्तन के कारक

अथवा

जाति-प्रथा को निर्बल या विघटित करने वाले तत्त्व

1. आधुनिक या पाश्चात्य शिक्षा (Modern or western education)—
अंग्रेजों के आने के पहले भारतवर्ष में प्रचलित शिक्षा की दो प्रमुख विशेषतायें थीं—
प्रथम तो यह कि शिक्षा का आधार मूल रूप से धार्मिक था या कम-से-कम शिक्षा में धार्मिक तत्त्व स्पष्ट रूप से प्रयुक्त था। द्वितीयतः शिक्षा का संगठन परम्परागत रूप में ब्राह्मणों के हाथ में था। इन विशेषताओं का एक स्पष्ट परिणाम यह हुआ कि धार्मिक अधिकारों की कसौटी पर ही शिक्षा प्राप्त करने के अधिकार को कसा जाता था। फलतः धार्मिक अधिकारों से वंचित अछूत वर्ग शिक्षा से अछूता ही रह गया था। वास्तव में, ब्राह्मणों, क्षत्रियों और कायस्थों को छोड़कर सोलहवीं शताब्दी तक अन्त जातियाँ विद्यालयों में शिक्षा ग्रहण भी नहीं करती थीं। अन्य जातियों के लिये शिक्षा का तात्पर्य पेशे से सम्बन्धित शिक्षा ही था जोकि उन्हें अपने परिवार में भी मिल जाया करती थी और उसके लिये किसी भी शिक्षा संस्था में जाने की न तो वे आवश्यकता अनुभव करते थे और न ही समाज द्वारा इस सम्बन्ध में उन्हें कोई विशेष सुविधा ही

उपलब्ध थी। साथ ही, धर्म-प्रधान शिक्षा रुढ़िवादी भी थी जोकि प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष दोनों ही रूप में जाति-प्रथा का समर्थन ही करती रही। इससे जाति-प्रथा को बल मिलता रहा। परन्तु अंग्रेजी शासन स्थापित हो जाने के पश्चात् सम्पूर्ण व्यवस्था में क्रान्तिकारी परिवर्तन हुए। अंग्रेजों ने भारत में ऐसी शिक्षा का प्रचलन किया जो पूर्ण रूप से धर्म-निरपेक्ष (secular) थी और जिसके माध्यम से हमारा सम्पर्क दुनिया से बढ़ता गया। परिणामस्वरूप जाति-पंथ से सम्बन्धित समस्त संकीर्णता धीरे-धीरे दूर होने लगी और समानता, मित्रता व स्वतन्त्रता की विचारधारायें पनपीं और जातीय प्रतिबन्ध दिन-प्रतिदिन दुर्बल होते गए।

आधुनिक समाज की एक प्रमुख विशेषता यह है कि आज व्यक्तिगत योग्यता का अधिक महत्त्व है। एक व्यक्ति की सामाजिक स्थिति या प्रतिष्ठा आज इस बात पर निर्भर नहीं है कि उसके पिता या पूर्वज क्या थे; पर इस बात पर निर्भर है कि वह स्वयं क्या है। व्यक्तिगत योग्यता को बढ़ाने के लिये आज शिक्षा परमावश्यक है। प्रत्येक विद्यार्थी यह जानता है कि समाज में ऊँचा पद या स्थान प्राप्त करने के लिये जातीय नियमों का पालन उतना आवश्यक नहीं है जितना कि शिक्षा के आधार पर व्यक्तिगत योग्यता को बढ़ाना। शिक्षित वर्ग के इस मनोभाव के कारण भी जाति का महत्त्व घटा और इस मनोभाव को पनपाने का श्रेय आधुनिक या पाश्चात्य शिक्षा को ही है।

आधुनिक शिक्षा की एक और उल्लेखनीय विशेषता यह है कि यह हमारे वैज्ञानिक ज्ञान-भण्डार को विस्तृत करती है। यह वैज्ञानिक ज्ञान जाति-प्रथा में कुछ आचारों को मिथ्या प्रमाणित करने में सहायक सिद्ध हुआ है। उदाहरणार्थ, विभिन्न प्रजाति, समूह आदि के सम्बन्ध में वैज्ञानिक ज्ञान के आधार पर आज हमें यह विश्वास होता जा रहा है कि विभिन्न समूहों में ऊँच-नीच का भेदभाव, रक्त की शुद्धता-अशुद्धता की धारणा, जन्म-जात गुणों के उत्तम-अधम की कल्पना मनुष्य का अपना मन-गढ़न्त विचार है जिसका कि कोई भी वैज्ञानिक आधार नहीं है। उसी प्रकार आधुनिक वैज्ञानिक ज्ञान यह बताता है कि अगर पर्यावरण और सामाजिक सुविधायें एक-सी हैं तो विभिन्न समूह, प्रजाति या जाति के बुद्धि-स्तर में कोई विशेष अन्तर नहीं होता। प्रत्येक समूह में बुद्धिमान व्यक्ति पाये जाते हैं। इस ज्ञान ने भी जाति-प्रथा को निर्बल बनाने तथा उसमें एकाधिक परिवर्तन लाने में काफी योग दिया है।

आधुनिक शिक्षा के आधार पर ही आज प्रजातन्त्रीय व समानता के सिद्धान्तों की लोकप्रियता दिन-प्रतिदिन बढ़ती जा रही है। ये सिद्धान्त इस बात पर बल देते हैं कि जन्म और परिवार के आधार पर ऊँच-नीच का विभाजन उचित नहीं है। इस प्रकार के विभाजन से सामाजिक एकता व प्रगति रुक जाती है। फलतः इन सिद्धान्तों से जाति-प्रथा में पाई जाने वाली असमानता और शोषण नीति को भारी धक्का पहुँचा है और साथ ही जाति-प्रथा में आधुनिक परिवर्तन लाने में सहायता मिली है।

2. प्रौद्योगिक उन्नति (Technological progress)—भारतीय परम्परा-त्मक अर्थ-व्यवस्था वास्तव में ग्रामीण अर्थ-व्यवस्था थी। यह व्यवस्था सादा और सरल थी और इसमें परिवार या कुछ परिवारों का समूह एक आर्थिक इकाई के रूप में कार्य करता था। इसमें आर्थिक क्रियाओं का क्षेत्र सीमित था और जाति-प्रथा द्वारा निर्धारित परम्परागत पेशों का विभाजन भी सम्भव था। परन्तु अंग्रेजी राज्य काल में उक्त व्यवस्था में क्रान्तिकारी परिवर्तन हो गए। उत्पादन कार्य गाँव के कुटीर

उद्योग से निकलकर शहर के बड़े-बड़े मिल-कारखानों आदि में चले गए। इस का फल यह हुआ कि गाँव की आर्थिक आत्मनिर्भरता समाप्त हो गई और कुटीर उद्योगों में लगे हुए अनेक कारीगर बेकार हो गए। उधर शहरों में बड़े-बड़े मिल-कारखानों में काफ़ी संख्या में श्रमिकों की आवश्यकता हुई। इस आवश्यकता की पूर्ति जाति-पाँति के आधार पर सम्भव न थी। इसलिये सभी जातियों के लोगों ने मिल और कारखानों में नौकरी कर ली। सभी जाति के लोगों के एकसाथ काम करने से उनमें जातीय आधार पर पाई जाने वाली सामाजिक दूरी आप-से-आप कम हो गई और वे एक-दूसरे के निकट आ गये तथा उनमें भ्रातृ-भाव भी पनपा। साथ-ही-साथ मिल, कारखानों आदि में जाति-प्रथा के अनुसार न तो श्रम-विभाजन या पेशों का विभाजन होता है और न ही ऐसा होना सम्भव है। इससे एक ओर छुआछूत की भावना और दूसरी ओर पेशा सम्बन्धी प्रतिबन्ध दिन-प्रतिदिन दूर हटते जा रहे हैं। वास्तव में, प्रौद्योगिक उन्नति के फलस्वरूप जिस नवीन अर्थ-व्यवस्था का विकास हुआ उसमें प्रत्येक जाति के सदस्यों के लिए प्रत्येक प्रकार के आर्थिक कार्य को करने की समान स्वतन्त्रता उपलब्ध है जोकि स्वयं जाति-प्रथा में परिवर्तन लाने का एक प्रमुख कारण बन जाता है।

3. पेशों की बहुलता (Multiplicity of occupations)—अंग्रेजी शासन-काल में प्रौद्योगिक उन्नति के फलस्वरूप न केवल परम्परागत अर्थ-व्यवस्था में परिवर्तन हुआ बल्कि अनेक नए पेशों का भी जन्म हुआ। ये नये पेशे व्यापार और वाणिज्य से ही सम्बन्धित नहीं हैं बल्कि शासन-सम्बन्धी कार्यों से भी सम्बन्धित हैं। केवल इतना ही नहीं कि नए पेशों का जन्म हुआ बल्कि इन पेशों को चुनने के आधार में भी परिवर्तन हुआ और वह इस रूप में कि अब किसी भी जाति का कोई भी सदस्य किसी भी पेशे को अपनी शिक्षा, अनुभव व योग्यता के अनुसार चुनने में पूर्णतया स्वतन्त्र है। डॉक्टर, इंजीनियर, वकील, एकाउण्टेंट या अध्यापक होने के लिए किसी जातीय योग्यता की नहीं अपितु व्यक्तिगत योग्यता की आवश्यकता होती है। इससे भी जातीय आधार पर निर्धारित पेशों में आवश्यक परिवर्तन होना अनिवार्य हो गया। साथ ही, पेशों की संख्या इतनी अधिक हो गई कि जाति-प्रथा के आधार पर उनका विभाजन असम्भव हो गया। वास्तव में इन नवीन पेशों को परम्पराओं के अनुसार किसी जाति-विशेष के साथ जोड़ा ही नहीं जा सकता था। इसके फलस्वरूप जाति-प्रथा द्वारा निर्धारित पेशों के मूल-विभाजन को बनाए रखना कठिन हो गया।

4. धन का महत्व (Importance of money)—आधुनिक समय में जाति से कहीं अधिक धन का महत्व है। एक निर्धन ब्राह्मण से एक निम्न जाति के पूँजी-पति का सम्मान कहीं अधिक है। दूसरे शब्दों में, चाहे एक व्यक्ति किसी भी जाति का क्यों न हो, पर यदि वह धनी है तो समाज में उसकी प्रतिष्ठा उच्च जाति के एक निर्धन व्यक्ति से कहीं अधिक होगी। साथ ही, नवीन अर्थ-व्यवस्था में धन कमाने के अवसर भी सभी जाति के सदस्यों के लिए समान रूप से उपलब्ध हैं। फलतः हर जाति के सदस्य आज अपनी योग्यता, शिक्षा आदि के आधार पर अधिकाधिक धन कमाते हैं और उसी के बल पर सामाजिक प्रतिष्ठा या सम्मान को प्राप्त करते हैं। यही कारण है कि जिन व्यक्तियों की जाति-प्रथा के नियमानुसार कभी भी सामाजिक प्रतिष्ठा प्राप्त नहीं हो सकती थी, आज धन के आधार पर उन्हें वही सम्मान प्राप्त है। अत स्पष्ट है कि धन का यह महत्व हिन्दुओं के सम्पूर्ण मनोविज्ञान को परिवर्तित करने में सहायक हुआ है और वह इस अर्थ में कि आज एक निम्न जाति के सदस्य

को यह चिन्ता नहीं है कि वह सदा के लिए सामाजिक संस्तरण में असम्मानित पद पर ही बना रहेगा। आज वह यह जानता और अनुभव करता है कि जन्म के आधार पर नहीं, अपितु धन या व्यक्तिगत गुणों या योग्यताओं के आधार पर उसकी सामाजिक स्थिति किसी भी समय ऊँची उठ सकती है। मनोवैज्ञानिक परिवर्तन ने सम्पूर्ण जातीय आधार को कितना निर्बल और कितना दुर्बल बना दिया है, इस तथ्य को शायद पृथक् रूप में समझाने की आवश्यकता नहीं है।

5. यातायात और संचार के साधनों में उन्नति (Development of the means of transport and communication) —आवागमन के साधनों में उन्नति अंग्रेजी शासनकाल की एक अन्य प्रमुख विशेषता है। अंग्रेजों को यातायात और संचार के साधनों में बहुत-कुछ विवश होकर ही उन्नति करनी पड़ी और वह इस अर्थ में कि इतने बड़े देश का शासन-प्रबन्ध इन साधनों में उन्नति किए बिना एक अर्थ में असम्भव सा ही था। साथ-ही-साथ अंग्रेजों का एक प्रमुख उद्देश्य भारतवर्ष से कच्चे माल को अपने देश में लेजाकर वहाँ के उद्योगों को विकसित करना तथा वहाँ के उद्योगों में बने तैयार माल को भारत के बाजारों में बेचना था। इन सभी उद्देश्यों की पूर्ति तब तक सम्भव न थी जब तक यातायात और संचार के साधनों में पर्याप्त उन्नति न की जाती। परन्तु इन साधनों में उन्नति होने से एक ओर भारत में सामाजिक गतिशीलता दिन-प्रतिदिन बढ़ती गई और दूसरी ओर नए-नए नगरों, उद्योगों, व्यवसायों, मिल और कारखानों की भी उत्पत्ति और विकास होता गया। परिणामस्वरूप विभिन्न प्रकार के धर्म, जाति, प्रदेश और देश के लोगों का पारस्परिक सम्पर्क और विचार-विनिमय का क्षेत्र बढ़ता जा रहा है। लोग दुनिया की पृष्ठभूमि पर आलोचना करते हैं, उनमें समानता की भावना जागृत होती है, उनकी संकुचित विचारधारा और दृष्टिकोण का अन्त होता है और उसी के साथ जाति-पाँति की कठोरता का भी। यातायात और संचार के साधनों के फलस्वरूप जिन नए उद्योग, व्यापार या वाणिज्य की उन्नति हुई उनमें काम करने के लिए श्रमिकों की आवश्यकता हुई और इस आवश्यकता की पूर्ति भारत के ग्रामीण समुदायों ने की। गाँव से अनेक लोगों को शहरों में आकर बसने का मौका मिला और शहरों में जाति-पाँति की कठोरता या नियमों का पालन उनके लिए सम्भव न हुआ। साथ-ही-साथ कुछ दिनों तक शहरों में बसने के बाद जब ये लोग ही कभी-कभी गाँव लौटते हैं तो अपने साथ नई विचारधाराओं और दृष्टिकोणों को भी गाँव में ले जाते हैं। इसका भी प्रभाव जाति-पाँति की कटोरता पर आप-से-आप पड़ता है। इसके अतिरिक्त यातायात और संचार के साधनों में उन्नति के फलस्वरूप जो सामाजिक गतिशीलता बढ़ती है उससे प्रत्येक जाति के सदस्यों को पेशे के चुनाव में अधिक स्वतन्त्रता प्राप्त होती है। इससे भी वंशानुगत पेशे आप-से-आप नष्ट हो जाते हैं। केवल इतना ही नहीं, ट्रेन, बस, ट्राम आदि में सब जाति के लोगों का एकसाथ यात्रा करना भी खाने-पीने के बन्धनों और छुआछूत के विचारों को शिथिल बनाने में सहायक होता है क्योंकि ट्रेन आदि में यात्रा करते समय कोई भी यात्री यह माँग नहीं कर सकता है कि वह अपने से नीची जाति के लोगों के साथ बैठकर साथ-साथ सफर नहीं करेगा या रेलगाड़ी के उस डिब्बे में बैठकर खाने-पीने के सम्बन्ध में जातीय नियमों का पालन करेगा। इससे खाने-पीने के प्रतिबन्ध और छुआछूत के विचारों को घबका पहुँचा।

यातायात के साधनों में उन्नति होने से एक अन्य रूप में भी जाति-प्रथा को ठेस

पहुँची है। पारश्चात्य संस्कृति तथा आदर्शों से प्रभावित समाज-सुधारक तथा राष्ट्रीय नेताओं को इन साधनों के उन्नत होने से यह अवसर प्राप्त हुए कि वे अपने विचारों तथा मतों को देश के कोने-कोने तक पहुँचा सकें। अपने इन विचारों में इन देश-नेताओं तथा सुधारकों ने जाति-पाँति के भेदभाव तथा छुआछूत की भावना की कटु आलोचना की जिसका कि कुछ-न-कुछ प्रभाव जनता पर निरन्तर ही पड़ता रहा और जाति-प्रथा की जड़ें दुर्बल होती रहीं।

उसी प्रकार संचार या सन्देश-वाहन के साधनों का भी प्रभाव स्पष्ट है। इन साधनों में विशेष करके रेडियो, समाचार-पत्रों, पत्रिकाओं, पुस्तकों आदि का प्रभाव विशेष रूप से उल्लेखनीय है। रेडियो के द्वारा अन्तर्राष्ट्रीय आधार पर विचारों का आदान-प्रदान सम्भव हुआ। समाचार-पत्रों, पत्रिकाओं तथा पुस्तकों ने संसार के प्रमुख विद्वानों के विचारों को देश के कोने-कोने में फैलाया और जाति-प्रथा के विरुद्ध एक स्वस्थ जनमत का निर्माण करने में सहायता की।

6. नगरों का प्रभाव (Impact of cities)—जैसा कि पहले ही बताया जा चुका है भारतवर्ष में प्रौद्योगिक उन्नति के साथ ही आधुनिक नगरों का भी विकास हुआ। मोटे तौर पर नगर वह समुदाय है जिसमें कि सामाजिक विभिन्नता, घनी आवादी, पेशों की बहुलता, व्यक्तिवादिता, अवैयक्तिक, सामाजिक सम्बन्ध, सामाजिक गतिशीलता तथा द्वैतीयक समिति व नियन्त्रण की प्रधानता होती है। नगरों में विभिन्न धर्म, जाति, सम्प्रदाय, वर्ग, प्रजाति, प्रान्त और देश के लोग आकर बस जाते हैं। साथ ही नाना प्रकार के उद्योग-धन्धे, धर्म, परम्परा, रीति-रिवाज, वेशभूषा, रहन-सहन सब नागरिक जीवन में समा जाते हैं। नगरों में असंख्य पेशों का राज्य होता है क्योंकि यहाँ उद्योग, व्यापार और वाणिज्य की भी बहुलता होती है। साथ ही नगरों में उद्योग, व्यापार, शिक्षा तथा नौकरी की सुविधायें होने के कारण वहाँ आवादी भी घनी होती है। इसीलिये नगरों में व्यक्तिगत सम्बन्धों का नितान्त अभाव होता है। अपने ही नगर के 99-9 प्रतिशत लोगों को हम व्यक्तिगत रूप से नहीं जानते हैं। नगरों में वास्तव में सम्बन्ध 'छूओ और चले जाओ' (touch and go) प्रकृति का होता है। साथ ही, नगरों में संयुक्त-परिवार, पंचायत या पड़ोस द्वारा नियन्त्रण का नितान्त अभाव होता है। स्पष्टतः ये सभी परिस्थितियाँ जाति-प्रथा को निर्बल बनाने वाली परिस्थितियाँ हैं। उदाहरणार्थ, नगरों में विभिन्न जातियों का एक अच्छा जमघट रहता है और उनमें से प्रत्येक जाति के सदस्य को एक-दूसरे के निकट आने का अवसर मिलता है। विभिन्न जातियों के सदस्यों का यह निकट-सम्बन्ध उनके पारस्परिक भेदभाव को नष्ट करता है। उसी प्रकार नगरों में जनसंख्या अत्यधिक होती है और अधिकतर व्यक्ति एक-दूसरे को व्यक्तिगत रूप से जानते-पहचानते नहीं हैं। इस अपरिचितता के दो प्रमुख प्रभाव जाति-प्रथा पर पड़ते हैं—प्रथम तो यह कि जिन्हें हम व्यक्तिगत रूप से जानते-पहचानते नहीं हैं उनके बारे में हम ज्यादा चिन्ता भी नहीं करते हैं। इससे विभिन्न जातियों में सामाजिक भेदभाव जाति-प्रथा के आधार पर पनप नहीं पाता है। द्वितीयतः नगर में अधिकतर व्यक्ति एक-दूसरे से अपरिचित होते हैं और ऐसे व्यक्तियों की वास्तविक जाति का पता लगाना कठिन हो जाता है। इस परिस्थिति से बहुत से लोग लाभ उठाते हैं और अपनी वास्तविक जाति को छिपाकर अपने को किसी ऊँची जाति का सदस्य कहते हैं। वे व्यक्ति अपरिचित होते हैं, अतः लोग उनके कथन को सच भी मान लेते हैं। ऐसे झूठ का आश्रय लेने में

नगरों में लोग हिचकिचाते भी नहीं हैं क्योंकि वहाँ उन्हें न तो संयुक्त परिवार का डर रहता है और न ही पंचायत या पड़ोस का डर। प्राथमिक नियन्त्रणों के इन साधनों से विमुक्त होकर लोग नगरों में निःसंकोच जातीय नियमों को ठुकरा देते हैं या नगरों की परिस्थितियाँ उन्हें ऐसा करने को प्रोत्साहित करती हैं। इतना ही नहीं, नगरों में विभिन्न जाति के लोग एकसाथ काम करते हैं, होटल तथा जलपान-गृहों में साथ-साथ बैठकर खाते-पीते हैं। बसों, रेलों, रिक्शाओं तथा अन्य प्रकार की गाड़ियों में एक-दूसरे के साथ बैठकर एक स्थान से दूसरे स्थान को जाते हैं तथा क्लब, थियेटर व सिनेमा हॉल में साथ-साथ मनोरंजन करते हैं। ऐसी परिस्थिति में जाति-पाँति के भेदभाव को बनाये रखना सम्भव नहीं होता है। उसी प्रकार नगरों की जलकल व्यवस्था ने जहाँ एक ओर लोगों के लिये जल-पूर्ति की सुविधाओं को बढ़ाया वहाँ दूसरी ओर छुआछूत के भेदों को मिटाने में भी अपना महत्वपूर्ण योगदान किया है। साथ ही, नगर का पर्यावरण वहाँ के निवासियों में एक मनोवैज्ञानिक परिवर्तन भी ला देता है। नगर एक प्रगतिशील पर्यावरण का प्रतिनिधि है। वहाँ शिक्षा, ज्ञान, विज्ञान और समाज-सुधार का एक स्वस्थ वातावरण नगर-निवासियों को निरन्तर प्रभावित करता रहता है। वहाँ गाँव का श्रमिक भी इन सबसे प्रभावित होता है और शहर का 'बाबू' भी। वह प्रगतिवादी नेताओं का भाषण सुनता है, सुधारवादी धार्मिक सम्प्रदायों के सम्पर्क में आता है और जाति-पाँति के संकुचित समाज को छोड़कर विस्तृत विश्व का सन्देश सुनता है, उसे जानने-समझने का अवसर पाता है। यह सब उसके सम्पूर्ण मनोभाव को आमूल या ब्रह्म-कुच्छ परिवर्तित कर सकता है और करता भी है। यह मनोवैज्ञानिक परिवर्तन जाति-प्रथा में परिवर्तन का एक उल्लेखनीय कारक बन जाता है। शायद नागरिक पर्यावरण की इसी पृष्ठभूमि में बंगाल में एक कहावत प्रचलित है—“जाति मारलो तिन सेने—स्टेसेने, विलसेने आर केशवसेने।” अर्थात् तीन सेनों ने जाति-प्रथा को समाप्त किया है—स्टेशन अर्थात् रेलवे स्टेशन ने, विलसन अर्थात् कलकत्ता के एक प्रसिद्ध होटल के मालिक ने और श्री केशवचन्द्र सेन अर्थात् ब्रह्म समाज के एक सुप्रसिद्ध नेता ने।

इतना ही नहीं, नगरों में न केवल पुरुषों को बल्कि स्त्रियों को भी घर से बाहर नोकरी करने का पर्याप्त अवसर मिलता है। इससे युवक और युवतियों को मिल, कारखाने, दफ्तर, कालेज, रेडियो स्टेशन, टेलीफोन एक्सचेंज आदि में साथ-साथ काम करने का मौका मिला और प्रेम-विवाह का प्रचलन बढ़ा जिसमें कि जाति-पाँति का कोई प्रश्न ही नहीं उठता है। वैसे भी नगरों में स्त्री और पुरुष दोनों के लिए ही सामाजिक गतिशीलता, मेल-मिलाप आदि का जो मौका मिलता है उससे जाति द्वारा निर्धारित विवाह सम्बन्धी प्रतिबन्ध आप-से-आप शिथिल हो जाते हैं।

7. आधुनिक समय के नवीन समूह (New groups of modern time)—आधुनिक अर्थ-व्यवस्था तथा सांस्कृतिक व राजनीतिक परिस्थितियों ने अनेक नवीन समूहों को जन्म दिया है। उदाहरणार्थ, औद्योगीकरण के साथ-साथ समाज में दो नए समूह—श्रमिक व पूँजीपति—का उद्भव हुआ है। ये दोनों ही समूह आर्थिक स्वार्थों पर आधारित विशिष्ट समूह हैं और उन्हीं आर्थिक स्वार्थों की रक्षा के लिये ये दोनों समूह आपस में संघर्ष करते हैं जिनकी कि सामान्य अभिव्यक्ति हड़ताल व तालाबन्दी है। ऐसे अवसरों पर श्रमिक और मालिक अपने-अपने क्षेत्र में संगठित रहते हैं, पर इस संगठन का आधार जातीय चेतनता न होकर वर्ग-चेतनता (Class consciousness)

होता है। यह वर्ग-चेतनता जातीय सीमाओं से बहुत-कुछ परे होती है और विभिन्न जातियों के व्यक्तियों में 'हम' की भावना को पनपाने में सहायक सिद्ध होती है। वर्तमान समय में श्रमिकों का एक नवीन संगठित समूह 'श्रमिक संघ' (Trade Union) है। यह संगठन खुले तौर पर जाति-पाँति का विरोध करता है और उस सामान्य आधार का निर्माण करता है जहाँ या जिस पर सभी जाति के सदस्य आकर एक-साथ मिल सकते हैं। श्रमिक संघ के कार्यक्रम में सभी जाति के सदस्य भाग लेते हैं, कन्वे-से-कन्धा मिलाकर काम करते हैं तथा बहुत निकट से एक-दूसरे को जानने-पहचाने का अवसर पाते हैं। यह परिस्थिति जाति-प्रथा की समस्त रूढ़ियों को एक अर्थ में चुनौती ही देती है।

उसी प्रकार आधुनिक समय में सांस्कृतिक क्षेत्र में भी अनेक नए समूहों का जन्म हुआ है। उदाहरणार्थ, शिक्षा संस्थाओं को ही लीजिए। इस प्रकार की अधिकतर संस्थाओं का एक अपना संगठन (management) होता है और इसकी देख-रेख एक कमेटी (Managing Committee) के हाथ में होती है। इस प्रकार की कमेटियों में बहुधा सभी जाति के लोग सम्मिलित होते हैं, यदि वह संस्था किसी विशेष जातीय आधार पर संगठित नहीं है। उसी प्रकार क्लब, मनोरंजन आ-सांस्कृतिक गोष्ठियों तथा सम्मेलनों में प्रायः एकाधिक जातियों के लोग सक्रिय भाग लेते हैं। उसी प्रकार 'मोहल्ला सुधार कमेटियों', 'होली मिलाप संघ' या 'रामलीला कमेटी' का भी संगठन विभिन्न जातियों के सदस्यों को लेकर ही होता है। इन सबका परिणाम विभिन्न जातियों की पारस्परिक दूरी का घटना तथा जातीय प्रतिबन्धों का शिथिल होना ही होता है।

आधुनिक समय में राजनीतिक क्षेत्र में भी जिन नए समूहों का जन्म हुआ है, वे भी विभिन्न जातियों के मिलन-केन्द्र के रूप में कार्य करते हैं। भारत में एकाधिक राजनीतिक पार्टियाँ हैं और उनमें से प्रायः सभी में सभी जातियों के लोगों के लिये सदस्य होने की स्वतन्त्रता है। इनमें प्रत्येक पार्टी के अपने उद्देश्य तथा आदर्श हैं। इन सामान्य राजनीतिक उद्देश्यों तथा आदर्शों के आधार पर विभिन्न जातियों के लोग एकसाथ मिलते हैं और एक ही झण्डे के नीचे काम करते हैं। इनमें से 'जनता पार्टी' अपने को सबसे उदार कहती है और केन्द्रीय तथा राज्य स्तर पर 'जनता सरकार' के मन्त्रिमण्डल के सदस्यों की सूची से यह बात प्रमाणित भी होती है। इन विभिन्न जातियों के नेताओं का एकसाथ मिलन ही जाति-प्रथा के परम्परात्मक स्वरूप में परिवर्तन का द्योतक है।

8. महिला आन्दोलन (Feminist Movement)—परम्परागत रूप में हिन्दू स्त्रियों की स्थिति बहुत गिरी हुई थी। पहले उन्हें शिक्षा, नौकरी, विवाह आदि किसी भी विषय में कुछ भी स्वतन्त्रता नहीं थी। पारिवारिक और सामाजिक समस्त प्रथा और परम्परा, नियमों और प्रतिबन्धों को सर्वप्रथम स्त्रियों पर ही लादा जाता था। अतः हिन्दू स्त्रियाँ समाज के रूढ़िवादी तत्व के रूप में ही परिचित थीं। परन्तु अंग्रेजी शासन की स्थापना के बाद से परिस्थितियाँ बदलीं और व्यक्तिगत व सामूहिक रूप में उनके शिक्षा-सम्बन्धी, सामाजिक, आर्थिक, साम्प्रतिक तथा राजनीतिक अधिकारों के लिये सुधार आन्दोलन चलाये गये। स्त्रियों में शिक्षा का प्रसार होने तथा पर्दा-प्रथा के हटने से उनकी सामाजिक गतिशीलता बढ़ी तथा वे अपने अधिकारों के सम्बन्ध में अधिक जागरूक हो गईं। साथ ही, पर्दा-प्रथा से मुक्त शिक्षित स्त्रियों के लिये

सामाजिक तथा राजनीतिक क्षेत्रों में सक्रिय भाग लेना सम्भव हुआ। उदाहरणार्थ, सन् 1929 में असहयोग आन्दोलन के समय जब महात्मा गांधी ने राष्ट्रीय आन्दोलन में स्त्रियों का भी आह्वान किया तो उसके प्रत्युत्तर में हजारों महिलाओं ने उस आन्दोलन में योग दिया और इस निपुणता व त्याग के साथ कार्य किया कि गांधी जी ने इनकी प्रशंसा मुक्त-कण्ठ से की। सामाजिक या जातीय दृष्टिकोण से राष्ट्रीय संग्राम में स्त्रियों के वे कार्य उतने अधिक महत्वपूर्ण न थे जितना कि परम्परात्मक निषेधों का स्त्रियों द्वारा तोड़ना तथा विभिन्न जातियों की स्त्रियों को एकसाथ मिलकर काम करने का अवसर मिलना था। इसके फलस्वरूप समाज की सर्वाधिक रूढ़िवादी अंग स्त्रियाँ भी धीरे-धीरे प्रगतिवादी होने लगीं और जाति-पाँति की सीमाओं की निरर्थकता को अनुभव किया। इसके अतिरिक्त शिक्षा और नारी आन्दोलन के विस्तार के साथ-साथ देश के विभिन्न भागों में घर से बाहर नौकरी करने वाली स्त्रियों की संख्या बढ़ती जा रही है। आर्थिक दृष्टिकोण से पिछड़े हुए परिवार अपनी आर्थिक कठिनाइयों के कारण स्त्रियों को घर से बाहर नौकरी करने के लिये भेजने को विवश हो जाते हैं। इस अवस्था का भी प्रभाव जाति-प्रथा पर स्वतः ही पड़ता है, क्योंकि विभिन्न व्यवसायों में जब युवक व युवतियाँ साथ-साथ मिलकर काम करते हैं तो उनमें मेल-मिलाप आप ही बढ़ता है। वे एक-दूसरे के निकट आते हैं और आवश्यकता पड़ने पर एक-दूसरे को जीवन-साथी के रूप में भी चुनते हैं। इस प्रकार जीवन-साथी चुनने का उत्तरदायित्व माता-पिता पर न छोड़कर युवक-युवतियों ने स्वयं अपने ऊपर ले लिया है और ऐसा करने में प्रायः जाति-पाँति के प्रतिबन्धों की अवहेलना की जाती है। इस प्रकार के चुनाव का एक और भी कारण है। नारी आन्दोलन के फलस्वरूप बाल-विवाह के विरुद्ध एक क्रियात्मक जनमत का निर्माण हो रहा है। लड़कियों को शिक्षित करने तथा अन्य रूप में उनके व्यक्तित्व का विकास करने के लिये अब उनका विवाह देर से किया जाता है। इससे भी युवक और युवतियों को विवाह करने के बारे में स्वयं विचार करने का अवसर मिला है। साथ ही पाश्चात्य मूल्यों तथा सिनेमा के प्रभाव से रोमांस और प्रेम-विवाह की महत्ता बढ़ने लगी और इन दोनों ही अवस्थाओं में जाति-पाँति के बन्धनों को तोड़ना एक बड़प्पन या बहादुरी का काम समझा जाने लगा।

9. राजनीतिक आन्दोलन (Political Movement)—राजनीतिक आन्दोलन के क्षेत्र में भी, विशेषकर जबसे उसमें महात्मा गांधी ने प्रवेश किया, जाति-पाँति के भेदभाव को दूर करने का एक सचेत प्रयत्न होता रहा। वैसे भी राजनीतिक आन्दोलन विभिन्न जातियों के बीच की दूरी दूर करने में सहायक सिद्ध हुआ। हो सकता है कि देश के विभिन्न भागों में जाति-पाँति तथा अन्य आधारों पर अनेक भिन्नताएँ हों; परन्तु इन समस्त भिन्नताओं के बीच भी राजनीतिक दृष्टिकोण से उनमें एक महान् समानता थी और वह यह कि देश को विदेशी शासन से छुटकारा दिलाना या स्वतन्त्रता को प्राप्त करना। यह एक ऐसा सामान्य आधार था जिसके आधार पर न केवल विभिन्न जाति के सदस्य एक-दूसरे के साथ मिले बल्कि हिन्दू, मुसलमान, ईसाई, पारसी सभी को एक-दूसरे के निकट आने का अवसर प्राप्त हुआ। राजनीतिक नेताओं के आह्वान से विभिन्न भाषा-भाषी धर्म और जाति के लोग एक ही तिरंगे झण्डे के नीचे एकत्रित हुए, हाथ-से-हाथ और कन्धे-से-कन्धा मिलाकर सत्याग्रह किया, जलूस निकाला, पुलिस के अत्याचार सह्य और जेल गये। इनमें से किसी में भी न तो ऊँच-

नीच का प्रश्न था और न ही जाति-पाँति के आधार पर छुआछूत और भेदभाव। जेल में एकसाथ रहते हुये भोजन सम्बन्धी जातीय नियमों का भी पालन सम्भव न था। उसी प्रकार सन् 1931 में जब अछूतों को हिन्दुओं के सामाजिक ढाँचे से अलग मानने का राजनीतिक षडयन्त्र चलाया गया तो राजनीतिक और सामाजिक दोनों स्तरों पर हरिजनों की दशा सुधारने की कोशिश की गई। इस सम्बन्ध में गांधी जी द्वारा चलाया गया 'हरिजन आन्दोलन' विशेष रूप से उल्लेखनीय है। राजनीतिक क्षेत्र में भी गांधी जी ने यह घोषणा की कि सुधार सबसे नीचे स्तर से होना चाहिये। इसका एक प्रमुख प्रभाव हरिजनों की धार्मिक तथा सामाजिक नियोग्यताओं को कम करने पर पड़ा।

10. धार्मिक आन्दोलन (Religious Movement)—कुछ धार्मिक आन्दोलनों ने भी जाति-प्रथा को काफी धक्का पहुंचाया है। इनमें बंगाल में ब्रह्म समाज, बम्बई में प्रार्थना समाज तथा पंजाब और उत्तर प्रदेश में आर्य समाज द्वारा आयोजित आन्दोलन या प्रचार-कार्य उल्लेखनीय हैं। ये सभी समाज पाश्चात्य सामाजिक मूल्यों और ईसाई धर्म के समानता के सिद्धान्तों से प्रभावित थे। ब्रह्म समाज की स्थापना राजा राममोहन राय ने सन् 1828 में की थी और उनके प्रयत्नों से हिन्दू समाज की अनेक कुप्रथाओं का अन्त करने के लिये आवश्यक वातावरण की सृष्टि हुई थी। उसके बाद जाति-प्रणाली का सबसे अधिक विरोध ब्रह्म समाज के प्रमुख नेता श्री केशवचन्द्र सेन द्वारा हुआ। श्री सेन ने जाति-पाँति के भेदभावों का घोर विरोध किया और सामाजिक समानता के सिद्धान्तों को अपनाने पर बल दिया। श्री सेन जाति-प्रथा के अन्तर्गत पाये जाने वाले छुआछूत, भेदभाव और ब्राह्मणों की कट्टरता के घोर विरोधी थे और उनके प्रयत्नों से जाति-प्रथा की दृढ़ता कम-से-कम बंगाल में कम होती दिखाई दी। ब्रह्म समाज की बम्बई की शाखा ने प्रार्थना समाज के नाम से हिन्दू समाज में सुधार लाने के लिये अनेक प्रयत्न किये। प्रार्थना समाज के सदस्यों में श्री राना डे सबसे प्रमुख थे। स्वामी दयानन्द सरस्वती ने सन् 1875 में आर्य समाज की स्थापना करके जाति-प्रथा के विरुद्ध एक नया मोर्चा बनाया। ब्रह्म समाज का मौलिक सिद्धान्त यह था कि ईश्वर एक है और उसी एक ईश्वर की सन्तान होने के नाते सब मनुष्य समान हैं। मानवता का सबसे बड़ा सिद्धान्त सामाजिक समानता का होना चाहिये। इस आधार पर जाति-पाँति का भेदभाव न केवल अनुचित है बल्कि अन्याय भी है। प्रार्थना समाज ने भी इसी सामाजिक समानता का नारा बुलन्द किया। स्वामी दयानन्द सरस्वती के नेतृत्व में आर्य समाज द्वारा जाति-प्रथा का विरोध धार्मिक आधार पर किया गया। उन्होंने उन्नीसवीं शताब्दी में प्रचलित हिन्दू-धर्म को भारत के मौलिक वैदिक धर्म से भिन्न माना और उन्नीसवीं शताब्दी में पाई जाने वाली सामाजिक व्यवस्था को वैदिक काल की सामाजिक व्यवस्था से भिन्न बतलाया। अतः वे इन दोनों ही विषयों में अर्थात् धर्म तथा सामाजिक व्यवस्था में आवश्यक सुधार करना चाहते हैं ताकि वे वैदिक युग के अनुरूप हो जाएँ। उनके अनुसार सामाजिक व्यवस्था को तभी वैदिक काल के अनुरूप बनाया जा सकता है जबकि समाज में जाति-प्रथा के स्थान पर वर्ण-व्यवस्था को स्थापित किया जाए। जाति-प्रथा अहितकर है क्योंकि वह जन्म पर आधारित है जबकि वर्ण-व्यवस्था कल्याणकारी है क्योंकि उसका आधार कर्म है। अतः सामाजिक कल्याण या समाज-सुधार के लिये जाति-प्रथा को हटाकर वर्ण-व्यवस्था को चालू करना चाहिये।

परन्तु व्यावहारिक रूप में यह देखा गया है कि जाति-प्रथा को समाप्त करने में न तो ब्रह्म समाज या प्रार्थना समाज को अधिक सफलता मिली और न ही आर्य समाज को। बंगाल में ब्रह्म समाजी हिन्दू समाज से पृथक् हो गये और इस छोटे-से समूह में केवल वे व्यक्ति ही रह गये जो पाश्चात्य संस्कृति से अधिक प्रभावित थे। बृहत् हिन्दू समाज में उनकी कुछ भी प्रतिष्ठा न रह गई और उन्हें सामाजिक जीवन से पृथक् कर दिया गया। उसी प्रकार आर्य सामंजियों में न जातियाँ समाप्त हुई और न कर्म के आधार पर वर्ण ही बन पाये। उनके समस्त प्रयत्नों का जाति-प्रथा से सम्बन्धित विषयों पर केवल इतना ही प्रभाव पड़ा कि उनके संरक्षण में अन्तर्जातीय विवाह तथा खाने-पीने के नियम में कुछ समानता देखने को मिली।

11. सरकारी प्रयत्न (Governmental efforts)—जाति-प्रथा के दुष्परिणामों को दूर करने के लिये सरकार की ओर से अनेक प्रयत्न हुए हैं और इन प्रयत्नों के अन्तर्गत विशेष रूप से सरकार द्वारा जाति-प्रथा-विरोधी कानूनों का बनाना उल्लेखनीय है। अंग्रेजों के काल में सामान्य रूप से भी 'कानून के सम्मुख समानता' (equality before law) के सिद्धांत को समस्त भारतीयों पर लागू किया गया। इससे जाति-प्रथा को काफी ठेस पहुंची, विशेषकर ब्राह्मणों की स्थिति पहले की तुलना में अब काफी गिर गई क्योंकि उक्त सिद्धांत के लागू होने का प्रत्यक्ष तात्पर्य तो यही था कि जाति-पाति के आधार पर ब्राह्मणों को जो विशेषाधिकार मिले हुए थे उसे कानूनी तौर पर अस्वीकार कर दिया गया। उसी प्रकार अंग्रेजी शासनकाल में धीरे-धीरे पंचायत के समस्त अधिकारों को छीन लिया गया, विशेषकर न्याय सम्बन्धी अधिकार पंचायत के हाथों से निकलकर अदालत के हाथों में चले गये। यह अवस्था भी जाति-प्रथा के लिये अनुकूल न थी। क्योंकि गाँव-पंचायतें भी अपराधी की जाति को दृष्टि में रखते हुए ही दण्ड देती थीं। फलतः उच्च जातियों को अनेक प्रकार की छूट मिल जाती थी, जबकि निम्न जातियों को कठोर दण्ड भुगतना पड़ता था। यह अवस्था भी उच्च जातियों की सामाजिक प्रतिष्ठा को बनाये रखने में सहायक सिद्ध होती थी। परन्तु अंग्रेज न्याय-व्यवस्था ने इस अनुकूल परिस्थिति को विल्कुल ही प्रतिकूल बना दिया और कम-से-कम न्याय के आधार पर समस्त जातियों को समान स्तर पर ला खड़ा किया।

इतना ही नहीं, अंग्रेज सरकार द्वारा कुछ ऐसे कानूनों को भी पास किया गया जिनका कि प्रत्यक्ष प्रभाव जाति-प्रथा पर पड़ा। सन् 1850 में 'जाति निर्योग्यता उन्मूलन अधिनियम' (Caste Disabilities Removal Act, 1850) जाति-प्रथा के प्रभावों को रोकने के लिये सरकार का पहला कदम था। इस कानून के द्वारा उन लोगों के सम्पत्ति विषयक या अन्य अधिकारों की सुरक्षा की गई जो अपनी जाति से निकाल दिये गये थे। सन् 1872 के 'विशेष विवाह अधिनियम' (Special Marriage Act, 1872) के द्वारा अन्तर्जातीय विवाहों को कानूनी अनुमति दे दी गई, पर शर्त यह थी कि पति-पत्नी दोनों यह घोषित करें कि वे किसी भी धर्म का पालन नहीं करते। सन् 1923 में इस अधिनियम में कुछ संशोधन किया गया जिसके अनुसार दोनों पक्षों (पति और पत्नी) को यह घोषित करना पड़ता था कि वे हिन्दू, बौद्ध और जैन धर्म में से किसका पालन करते हैं।

स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात् कांग्रेस सरकार ने इस दिशा में और भी क्रियात्मक कदम उठाये। 'हिन्दू विवाह वैधकरण अधिनियम' (Hindu Marriage

Validating Act) सन् 1949 में पास हुआ। इसके द्वारा इस अधिनियम के पास होने के पहले और बाद में विभिन्न धर्मों, जातियों उपजातियों और सम्प्रदायों के व्यक्तियों में होने वाले विवाहों को वैध कर दिया गया है। सन् 1954 के 'विशेष विवाह अधिनियम' (The Special Marriage Act of 1954) ने अन्तर्जातीय विवाहों की वैधानिक अड़चनों को दूर कर दिया है। यह अधिनियम सन् 1872-के अधिनियम का ही विस्तृत रूप है। सन् 1955 में 'हिन्दू विवाह अधिनियम' (The Hindu Marriage Act, 1955) पास हुआ जिसके अनुसार विवाह सम्बन्धी अनेक प्रतिबन्ध उठा लिये गये।

स्वतन्त्र भारत के संविधान ने जाति-पाँति के भेदभाव और छुआछूत को बिल्कुल ही समाप्त कर दिया है। संविधान के अनुच्छेद 15 के अनुसार राज्य किसी भी नागरिक के विरुद्ध केवल धर्म, मूलवंश, जाति, लिंग, जन्म-स्थान अथवा इनमें से किसी भी आधार पर किसी नागरिक के लिये राज्याधीन किसी नौकरी या पद के विषय में न अपात्रता होगी और न विभेद किया जायेगा। अनुच्छेद 17 के अनुसार 'अस्पृश्यता' का अन्त कर दिया गया है और उसका किसी भी रूप में आचरण निषिद्ध किया गया है। 'अस्पृश्यता' से उत्पन्न किसी नियोग्यता को लागू करना अपराध होगा जो कानून के अनुसार दण्डनीय होगा। संविधान के अनुच्छेद 15 को विस्तारपूर्वक लागू करने के लिये 'अस्पृश्यता अपराध अधिनियम 1955' (The Untouchability Offences Act, 1955) पास किया गया और अस्पृश्यता के अपराध के लिये कड़े दण्ड के प्रावधान का नया कानून 'नागरिक अधिकार संरक्षण कानून' (Protection of Civil Rights Act, 1976) 19 नवम्बर, 1976 से लागू कर दिया गया। साथ-ही-साग भारत सरकार सन् 1954 से अस्पृश्यता उन्मूलन आंदोलन के लिए आर्थिक सहायता देती आ रही है। इस कार्य में हरिजन सेवक संघ, भारतीय दलित वर्ग संघ, आदि स्वयंसेवी संगठनों का सहयोग व सहायता प्राप्त की जा रही है। इसके अतिरिक्त अधिकांश राज्यों में 'अस्पृश्यता अपराध अधिनियम' को लागू करने के लिये छोटी-छोटी समितियाँ नियुक्त कर दी गई हैं। साथ ही, इस कार्य के लिए पुस्तक, विज्ञापन तथा अन्य साधनों का उपयोग किया जा रहा है। अस्पृश्यता सम्बन्धी एक फिल्म भी बनाई गई है। इन समस्त सरकारी प्रयत्नों ने जाति-प्रथा की दृढ़ता को कितना दुर्बल बना दिया है इस बात को पृथक् रूप से समझाने की शायद आवश्यकता नहीं।

जाति-प्रथा में समकालीन परिवर्तन

या

जाति-प्रथा की वर्तमान अवस्था

(Contemporary Changes in Caste System)

उपरोक्त कारकों के फलस्वरूप भारतीय जाति-प्रथा में अनेक क्रांतिकारी परिवर्तन हुए हैं और भविष्य में भी होने की आशा की जाती है। इसका कारण भी उपरोक्त विवेचना से स्पष्ट है। अंग्रेजी शासन की स्थापना के बाद से भारत में न केवल आर्थिक तथा राजनीतिक क्षेत्रों में ही उल्लेखनीय परिवर्तन हुए हैं, अपितु सामाजिक तथा सांस्कृतिक क्षेत्र में भी उसी रूप में अनेक परिवर्तन हुए हैं। जाति-प्रथा उसी सामाजिक जीवन के एक अंग का प्रतिनिधित्व करती है। अतः जिसकी वह

प्रतिनिधि है उसमें परिवर्तन के साथ-साथ स्वयं जाति-प्रथा में भी परिवर्तन हो जाना स्वाभाविक ही है। वास्तव में जो कारक सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक तथा सांस्कृतिक जीवन में परिवर्तन लाने के लिये उत्तरदायी हैं, उन्हीं कारकों ने पृथक् रूप से या सम्मिलित रूप से जाति-प्रथा को भी परिवर्तित किया है। इन कारकों के फलस्वरूप एक ओर विभिन्न जातियों की स्थिति और कार्यों में गम्भीर परिवर्तन होते जा रहे हैं और दूसरी ओर जाति-प्रथा से सम्बन्धित प्रायः सभी प्रतिबन्ध दिन-प्रति-दिन निर्बल होते जा रहे हैं। दूसरे शब्दों में, वर्तमान समय में जाति-प्रथा के संरचनात्मक (structural) तथा सांस्कृतिक या संस्थात्मक (institutional) दोनों ही पहलुओं में एकाधिक परिवर्तन देखने को मिलते हैं। ये परिवर्तन और जाति-प्रथा की वर्तमान अवस्था निम्न विवेचना से स्पष्ट हो जायेगी—

जाति-प्रथा के संरचनात्मक पहलू में परिवर्तन (Changes in the Structural Aspect of Caste System)

जाति-प्रथा की विशेषताओं की विवेचना करते हुए पिछले एक अध्याय में हम बता चुके हैं कि संरचना के दृष्टिकोण से जाति-प्रथा सामाजिक संस्तरण और खण्ड-विभाजन की एक व्यवस्था है जिसमें कि सदस्यता परम्परागत रूप में जन्म पर आधारित होती है और प्रत्येक जाति के सदस्य अपनी ही जाति या उपजाति में विवाह करते हैं। अर्थात् संरचनात्मक पहलू में सामाजिक संस्तरण, समाज का खण्डात्मक विभाजन, अन्तर्विवाह तथा जन्म का अधिक महत्व प्रमुख तत्व हैं। वर्तमान समय में इन तत्वों में बहुत-कुछ परिवर्तन हो गये हैं और अब भी हो रहे हैं। ये परिवर्तन निम्नवत् हैं—

(अ) समाज के खण्डात्मक विभाजन में परिवर्तन (Changes in the segmental division of Society)—जैसा कि पहले ही उल्लेख किया जा चुका है, डॉ० घुरिये (Ghurye) के अनुसार भारतीय जाति-प्रथा ने हिन्दू समाज को विभिन्न खण्डों में विभाजित कर दिया है और सम्पूर्ण सामाजिक व्यवस्था में इनमें से प्रत्येक खण्ड के सदस्यों की स्थिति, पद, स्थान और कार्य भी सुनिश्चित हैं। इस खण्ड-विभाजन का तात्पर्य स्पष्ट करते हुए डॉ० घुरिये ने यह भी लिखा है कि जाति-प्रथा के अन्तर्गत समग्र समुदाय के प्रति नहीं अपितु अपनी ही जाति के प्रति उस जाति के सदस्य अधिक निष्ठावान होते हैं और अपनी ही जाति के सदस्यों के प्रति उनमें सामुदायिक भावना अधिक प्रबल होती है। परन्तु आधुनिक समय में विभिन्न परिस्थितियों के दबाव या प्रभाव से उक्त अवस्था में काफी परिवर्तन देखने को मिलता है। आज एकाधिक क्षेत्रों में विभिन्न जातियों के सदस्यों की सामुदायिक भावना या कर्तव्य-बोध अपनी जाति की सीमाओं को पार कर चुका है और जातीय-भावना से कहीं अधिक विस्तृत रूप में आज वह अभिव्यक्त है। उदाहरणार्थ देश की आर्थिक प्रगति को ही लीजिये। पंचवर्षीय योजनाओं के अन्तर्गत आर्थिक प्रगति के लिये जो कार्यक्रम चल रहे हैं उनमें हाथ बंटाने या सहयोग देने वाले व्यक्ति किसी विशेष जाति के नहीं हैं। श्रमिक-संघों के संरक्षण में मजदूरी, महंगाई भत्ता, बोनस आदि से सम्बन्धित मार्गों को पूरा करने में श्रमिक आज जो हड़तालें करता है या मालिकों से संघर्ष करता है उसे भी जातीय सीमाओं में बांधा नहीं जा सकता। श्रमिक-संघ या हड़ताल के प्रति श्रमिकों का कर्तव्य-बोध जाति के प्रति कर्तव्य-बोध की तुलना में कहीं अधिक विस्तृत रूप में प्रकट होता है। उसी प्रकार एक राजनीतिक पार्टी के सदस्य बहुधा पार्टी-

स्वार्थ को जातीय-स्वार्थ से ऊपर स्थान देते हैं। शिक्षा, सामाजिक सहवास के विस्तृत क्षेत्र तथा राष्ट्रीयता की भावना के विकास आदि अनेक कारणों से ऐसा सम्भव होता है। अतः इस दृष्टिकोण से आधुनिक समय में जाति-प्रथा के आधार पर समाज का खण्डात्मक विभाजन तथा विभिन्न खण्डों के बीच परम्परात्मक विभाजक रेखा आज बहुत-कुछ अस्पष्ट हो चुकी है। वैसे भी, जैसाकि डॉ० शर्मा का कथन है, "यदि समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण से देखा जाये तो विभिन्न जातियाँ पूर्ण रूप से स्वतन्त्र अपनी ही जाति के सदस्यों पर निर्भर रहते हैं, पर ऐसे अनेक सामाजिक सम्बन्ध हैं जो अन्य जातियों के व्यक्तियों के साथ ही स्थापित होते रहे हैं। विवाह और भोजन के दृष्टिकोण से एक जाति के सदस्य आपस में अन्य जातियों के सदस्यों के मुकाबले में अधिक नजदीक हैं, पर जजमानी व्यवस्था और पेशों के विशेषीकरण के कारण सभी जातियाँ एक-दूसरे पर निर्भर रही हैं।"

(ब) जातीय संस्तरण में परिवर्तन (Changes in Caste Hierarchy)—जाति-प्रथा समाज को विभिन्न खण्डों में विभाजित करती है और इन खण्डों में ऊँच-नीच का एक संस्तरण या चढ़ाव-उतार होता है जिसमें ब्राह्मण जाति की स्थिति सर्वमान्य रूप से सबसे ऊपर है। जातीय संस्तरण में ब्राह्मणों की स्थिति जैसे पहले सबसे ऊपर थी, वैसे आज भी है, परन्तु जाति-प्रथा के आधार पर उनका जो प्रभुत्व या विशेषाधिकार पहले सामाजिक, राजनीतिक आदि क्षेत्रों में था, वह अब नहीं है। आर्थिक और राजनीतिक शक्ति की महत्ता का वर्तमान युग में बोलबाला होने के कारण परम्परा के आधार पर आधारित ब्राह्मणों की सत्ता का घटना स्वाभाविक ही है। औद्योगीकरण और नगरीकरण ने अनेक नये व्यवसायों, नौकरियों आदि को भी जन्म दिया है जिनमें व्यक्तिगत कुशलता या योग्यता को अधिक महत्व दिया जाता है। फलतः निम्न जाति के लोगों को भी अपनी योग्यता के अनुसार उन्नति करने तथा सामाजिक स्थिति को ऊँचा उठाने के अवसर प्राप्त हुए हैं। इससे जन्म के आधार पर आधारित ब्राह्मणों की परम्परागत प्रभुता को काफी धक्का पहुँचा है। आज धन का भी महत्व अधिक है। इस कारण एक धनी व्यक्ति को, चाहे वह किसी जाति का सदस्य क्यों न हो, एक निर्धन ब्राह्मण से कहीं अधिक सामाजिक सम्मान मिलता है। इसके अतिरिक्त ब्राह्मणों का कुछ महत्व उनका धार्मिक क्रियाओं के साथ सम्पर्क होने का कारण भी था। पर नगरों में अब धार्मिक क्रियाओं, पूजा-पाठ आदि में ब्राह्मणों का महत्व बहुत कम हो गया है। यह भी नगरों में ब्राह्मण के प्रभुत्व को घटाने का एक प्रमुख कारण है। वास्तव में धन, राजनीतिक सत्ता तथा नागरिक जीवन में उपलब्ध व्यक्ति-स्वातन्त्र्य एवं धर्म-निरपेक्षता आदि कारणों से निम्न जाति वालों को अपनी स्थिति को बदलकर उच्च स्थान को प्राप्त कर लेना आज सरल हो गया है। व्यावहारिक रूप में वास्तविकता यह है कि आज सदस्यों की सामाजिक स्थिति को निर्धारित करने वाले आधारों में ही परिवर्तन हो गए हैं वर्तमान समय में धर्म, जन्म, कुल या वंश या परिवार आदि आधारों को त्यागकर शिक्षा, आय, सत्ता (Authority), व्यक्तिगत योग्यता आदि धर्म-निरपेक्ष आधारों को स्वीकार किया जा रहा है। इन आधारों के आधार पर आज सभी जाति के सदस्यों को यह स्वतन्त्रता है कि वे अपनी सामाजिक स्थिति को उन्नत करें। यही कारण है कि यदि एक ब्राह्मण में शिक्षा, आय, व्यक्तिगत योग्यता आदि का अभाव है तो उसे ऊँची स्थिति

प्रदान करना आज मूल्यता में सम्मिलित है। उपरोक्त आधारों पर ही जाति-प्रथा में खुलेपन (openness) की स्थिति उत्पन्न हुई है; उससे विभिन्न उपजातियों की स्थिति विशेष रूप से प्रभावित हुई है या हो रही है। फिर भी ये परिवर्तन किस सीमा तक हुए हैं इसका सही-सही पता लगाने के लिए समाजशास्त्रीय अध्ययनों की आवश्यकता है।

जातीय संस्तरण में जो परिवर्तन हुए हैं उनमें सबसे उल्लेखनीय परिवर्तन अछूतों की सामाजिक स्थिति में हैं। परम्परागत दृष्टिकोण से न सही, पर वैधानिक या राजनीतिक दृष्टिकोण से हरिजनों को दूसरी जातियों के साथ समान स्तर पर ले आया गया है। इस सम्बन्ध में विस्तृत विवेचना हम आगे करेंगे।

(स) जाति की सदस्यता में परिवर्तन (Changes in Caste membership)—जाति की सदस्यता मुख्यतः जन्म पर ही आधारित है। यह बात न केवल परम्परा या सामाजिक तौर पर बल्कि सरकारी तौर पर भी सच प्रतीत होती है। सरकार भी आज उन लोगों को अनेक प्रकार की सुविधाएँ प्रदान कर रही है जिनका कि जन्म पिछड़ी हुई जातियों में हुआ है। इस कारण ऐसे लोगों को आज इसी में अधिक लाभ है कि वे जन्म के आधार पर ही अपनी जाति की सदस्यता को स्वीकार कर लें, न कि कृत्रिम रूप में उसे बदलने का प्रयत्न करें। अतः इस स्तर पर अर्थात् जहाँ तक पिछड़ी जातियों का प्रश्न है, जाति की सदस्यता जन्म पर ही स्वीकार की जाती है और इसमें परिवर्तन भी बहुत कम देखने को मिलता है। परन्तु इसके बाहर जो जातियाँ हैं उनमें केवल जन्म के आधार पर ही जाति की सदस्यता निर्भर करती है; ऐसा सोचना उचित न होगा। यह सच है कि अन्य आधारों पर जाति की सदस्य-संख्या बहुत कम है, फिर भी ऐसे प्रयत्नों को अस्वीकार नहीं किया जा सकता जबकि धन, सत्ता, शहरी पर्यावरण आदि से लाभ उठाकर अपनी जाति को बदला जाता है।

(द) विवाह सम्बन्धी प्रतिबन्धों में परिवर्तन (Changes in marriage prohibitions)—परम्परागत रूप में प्रत्येक जाति अपने सदस्यों को अपनी ही जाति या उपजाति में विवाह करने का निर्देश देती है, अर्थात् जातीय आधार पर प्रत्येक उपजाति अन्तर्विवाही (endogamous) समूह है और अपनी उपजाति से बाहर विवाह-सम्बन्ध स्थापित करने की आज्ञा नहीं देती है। परन्तु आधुनिक समय में इन प्रतिबन्धों में अनेक परिवर्तन देखने को मिलते हैं। जैसाकि पहले ही बताया जा चुका है, शिक्षा और प्रगतिवादी विचारों के फैलने के साथ-साथ राजनीतिक, सामाजिक और आर्थिक जीवन के विभिन्न क्षेत्रों में विभिन्न रूपों में स्त्रियों और पुरुषों को परस्पर निकट आने और काम करने का अवसर आज प्राप्त है; साथ ही विवाह आदि के सम्बन्ध में वैधानिक सुविधाएँ उन्हें मिल गई हैं। इन सबका प्रभाव यह है कि देर से विवाह और प्रेम-विवाह करने की प्रवृत्ति बढ़ रही है और ऐसे विवाहों में प्रायः जाति-प्राप्ति के भेदभाव को कोई भी महत्ता प्रदान नहीं की जाती है।

जाति-प्रथा के सांस्कृतिक पहलू में परिवर्तन

(Changes in Cultural Aspect of Caste System)

भारतीय जाति-प्रथा के सांस्कृतिक पहलू का आधार धार्मिक है। जाति-प्रथा के अन्तर्गत जो पेशों की ऊँचाई-निचाई, या खान-पान के सम्बन्ध में प्रतिबन्ध, या हरिजनों की अनेक प्रकार की निर्योग्याएँ देखने को मिलती हैं, उन सभी का आधार

पवित्रता और अपवित्रता की धारणा है। यद्यपि सम्पूर्ण जाति-प्रथा को केवल पवित्रता और अपवित्रता की धारणा के आधार पर नहीं समझाया जा सकता है, फिर भी इसी आधार पर इस प्रथा की कई विशेषताओं का बहुत-कुछ विश्लेषण सम्भव है। श्री दुर्खीम (Durkheim) ने इस बात पर बल दिया है कि सामाजिक जीवन की समस्त घटनाओं को हम मोटे तौर पर दो भागों में विभाजित कर सकते हैं—पवित्र (sacred) और अपवित्र या साधारण (profane)। पवित्र को अपवित्र या साधारण से पृथक् करने का जो प्रयत्न समाज करता है उसी के फलस्वरूप सामाजिक जीवन में अनेक प्रथा, परम्परा, नियम आदि पनप जाते हैं। श्री दुर्खीम के इस विचार के आधार पर हम कह सकते हैं कि जाति-प्रथा के अनेक नियम भी उसी प्रयत्न का फल हैं। सामाजिक तौर पर या और भी स्पष्ट रूप में धार्मिक तौर पर कुछ पेशों को पवित्र माना जाता है तो कुछ को अपवित्र। इसी पवित्र और अपवित्र के आधार पर पेशों को ऊँचाई-निचाई निर्धारित है। उसी प्रकार दूसरी जाति विशेषकर अपने से निम्न जाति के सदस्यों के छूने से भोजन के अपवित्र हो जाने की धारणा ने ही भोजन से सम्बन्धित प्रतिबन्धों को पनपाया है। अछूत जातियाँ अछूत इसलिये भी हैं कि वे अपवित्र पेशों की करती हैं, इसलिये धार्मिक क्षेत्र में उनका प्रवेश निषिद्ध है क्योंकि धर्म से सम्बन्धित सब-कुछ पवित्र है। यहाँ हम पेशा, भोजन तथा अछूत जातियों की स्थिति में होने वाले परिवर्तनों पर विचार करेंगे।

(क) पेशों के चुनाव सम्बन्धी प्रतिबन्धों में परिवर्तन (Changes in the restrictions relating to choosing of occupations)—सामान्य रूप से जाति-प्रथा की एक विशेषता यह भी है कि इसके अन्तर्गत प्रत्येक जाति के सदस्यों के लिए एक या कुछ पेशे निश्चित हैं और उसके बाहर उनके लिये पेशों की चुनने की स्वतन्त्रता नहीं है। परन्तु व्यावहारिक दृष्टिकोण से यदि देखा जाये तो व्यवसाय या पेशा सम्बन्धी प्रतिबन्ध निम्नतर जातियों को छोड़कर अन्य जातियों के लिए अत्यधिक कठोर कभी भी न था। पतंजलि ने ब्राह्मण राजाओं और मनु ने क्षत्र शासकों का उल्लेख किया है। सिकन्दर के समय में ब्राह्मण सैनिक होते थे। मुगल काल में तो पेशा सम्बन्धी प्रतिबन्धों में परिवर्तन स्पष्ट रूप से प्रारम्भ होने लगे और अंग्रेजों के राज्यकाल में जब अगणित नये पेशों का जन्म हुआ तो ऐसे प्रतिबन्धों को बनाये रखना प्रायः असम्भव हो गया। ये नए पेशे ऐसे थे कि जाति-प्रथा के आधार पर इनका विभाजन कदापि सम्भव न था। पर इस सम्बन्ध में एक बात स्मरणीय है और वह यह कि जातीय संस्तरण में सबसे ऊँचे पर ब्राह्मणों का पुरोहित का पेशा और सबसे नीचे अछूतों के गन्दे पेशों में कोई परिवर्तन नहीं हुआ है। समस्त प्रगतिशील विचारों तथा सुधार-प्रयत्नों के बीच भी आज हमें लड़के या लड़की के विवाह-संस्कार में या माता-माता के श्राद्ध-संस्कार में एक हरिजन पुरोहित का काम करते हुए नहीं दिखाई पड़ता और न ही किसी ब्राह्मण को घर-घर गन्दगी साफ करते फिरते देखा जाता है। अगर ऐसा होता तो कैसा होता या अगर ऐसा होता तो कितना अच्छा होता है। अगर ऐसा बात है, पर व्यावहारिक रूप में ऐसा अभी नहीं हो रहा है, यही स्मरणीय है।

इस सम्बन्ध में डॉक्टर शर्मा की गवेषणाओं पर आधारित तथा हाल ही में प्रकाशित एक प्रबन्ध के निष्कर्षों को यहाँ दे देना अनुचित न होगा—

(1) विभिन्न जातियों और उनके परम्परात्मक पेशों का पूर्ण सम्बन्ध केवल ऐसे ही आदर्श गांव या समुदाय में पाया जा सकता है जिसकी अर्थ-व्यवस्था आत्मनिर्भर हो जिसकी विभिन्न जातियों की जनसंख्या का गांव के प्राकृतिक साधनों के साथ सन्तुलन हो तथा जिसकी प्रत्येक जाति की केवल उतनी ही जनसंख्या हो, जितने व्यक्तियों की सेवायें गांव को आवश्यकता है। ऐसा आदर्श गांव कहीं भी नहीं मिल सकता। (2) यदि किसी गांव में एक जाति के व्यक्तियों की संख्या उनकी सेवाओं की आवश्यकता से अधिक है तो ऐसे लोगों के सामने दो रास्ते हैं—या तो वे दूसरे गांव में ऐसे परिवारों को ढूँढ़ निकालें जिन्हें उनकी सेवाओं की आवश्यकता है या वे अपने परम्परात्मक पेशे को छोड़ दें। (3) भारत में अन्य औद्योगिक देशों की भांति पेशों का क्षेत्र पर्याप्त विस्तृत नहीं है, इसलिए जो व्यक्ति अपने परम्परागत पेशे को छोड़ता है, उसके सामने खेती ही सबसे बड़ा सहारा रहा है। इसमें भी ऊँचाई-निचाई है। जो जमीन के मालिक हैं और स्वयं खेती नहीं करते उनकी स्थिति ऊँची है। ये लोग प्रायः ऊँची जाति के सदस्य हैं। इसके विपरीत, नीची जातियों, विशेषकर अछूत जातियों के सदस्य भूमिहीन कृषि-श्रमिक हैं। (4) जहाँ तक दूसरी जातियों के वंशानुगत पेशों का प्रश्न है, उनमें बढ़ईगरी या इसी प्रकार के दूसरे पेशों का धार्मिक रूप नहीं है। इसलिए गांवों में ऐसे पेशों को भी चुना जा रहा है। (5) गांवों की आत्मनिर्भरता कम होने पर व्यापार से सम्बन्धित पेशे लाभकारी हो जाते हैं और इनकी ओर भी लोग बढ़ने लगते हैं। चूँकि व्यापार के लिये धन की आवश्यकता है, जिसका कि अभाव अछूत जातियों के पास होता है, इस कारण वे ऐसे पेशे नहीं चुन पाते। (6) शहर के सम्पर्क के कारण नए पेशों के द्वारा विभिन्न जातियों के लिये खुल गये हैं। इन पेशों के चुनने में जातीय प्रतिबन्ध नहीं हैं। पर शहर के पेशों में अनेक पेशे ऐसे हैं जिनके लिये शिक्षा आवश्यक है और निर्धन व्यक्ति के लिए शिक्षा-प्राप्ति आज भी भारत में कष्टकर है। इसलिए ऊँची जाति के धनिक व्यक्ति शहर के उन ऊँचे पेशों की ओर बढ़े हैं, जिनमें शिक्षा की आवश्यकता होती है; जबकि नीची जातियों के निर्धन व्यक्तियों के भाग्य में शहर में भी नीचे-स्तर के पेशे ही जुटते हैं। (7) खेती के अतिरिक्त व्यापार तथा शहरी उद्योग-धन्धों से सम्बन्धित पेशों को, जिनका कोई सम्बन्ध किसी जाति-विशेष से नहीं है, चुनने की स्वतन्त्रता सब जाति के सदस्यों को है, फिर भी तुलनात्मक दृष्टिकोण से अपनी अच्छी आर्थिक स्थिति के कारण ऊँची जातियों के सदस्यों को नीची जातियों के निर्धन व्यक्तियों की तुलना में उन पेशों को चुनने की स्वतन्त्रता या सुविधाएँ अधिक प्राप्त हैं।

श्रीमती गफ (Gough) का मत है कि “आज जाति पेशों के चुनाव का निर्णय नहीं करती, अपितु चुनाव की सीमाओं को निर्धारित करती है; दूसरे शब्दों में हम कह सकते हैं कि अब जाति-प्रथा केवल यह तय करती है कि कौनसे पेशे एक जाति के व्यक्तियों को नहीं चुनने चाहिए। अन्य पेशों का चुनाव जाति पर निर्भर नहीं करता, अपितु आर्थिक स्तर पर ही निर्भर करता है।”

(ख) पेशों की ऊँचाई और निचाई की धारणा में परिवर्तन (Changes in the concept of superiority and inferiority of occupations)—परम्परात्मक दृष्टिकोण से जाति-प्रथा द्वारा निर्धारित कुछ पेशे ऊँचे स्तर के हैं तो कुछ पेशे नीचे स्तर के। इसका प्रमुख आधार धार्मिक दृष्टिकोण अथवा पवित्रता या अपवित्रता की धारणा है। परन्तु आधुनिक समय में पेशों की ऊँचाई-निचाई नापने के लिए धार्मिक

आधारों की अपेक्षा धन, सत्ता आदि धर्म-निरपेक्ष (secular) पैमाने को स्वीकार किया जा रहा है। इन पैमानों को विशेषकर आधुनिक समय के नए पेशों पर अधिक लागू किया जाता है और फिर उनकी तुलना परम्परागत पेशों के साथ की जाती है। फलतः परम्परागत पेशों का स्थान बहुधा नीचे उतर आता है। जिन पेशों से धन, सत्ता आदि की प्राप्ति अधिक होती है, आज उन्हीं पेशों को उत्तम माना जाता है क्योंकि उन्हीं के (अर्थात् धन, सत्ता आदि के) आधार पर ही आज व्यक्ति की सामाजिक स्थिति या प्रतिष्ठा भी निर्धारित होती है। इसीलिए आज पुरोहित का पेशा एक अफसरगिरी के पेशे से नीचे दर्जे का है। वही ब्राह्मण यदि पुरोहित का पेशा छोड़कर व्यापार में लग्न जाता है और खूब धन कमा लेता है तो उसकी सामाजिक प्रतिष्ठा स्वतः ही बढ़ जाती है। उसी प्रकार चमार का पेशा निम्न स्तर का है, पर जूता बनाने का एक बड़ा कारखाना खोलना उद्योग-धन्धे के रूप में बुरा नहीं है। अतः स्पष्ट है कि औद्योगीकरण के फलस्वरूप जो नवीन परिस्थितियाँ तथा नए सामाजिक मूल्य पनपे हैं, उनसे पेशों की ऊँचाई और निचाई नापने के नये पैमाने भी साथ-साथ विकसित हो रहे हैं जिससे कि परम्परात्मक आधारों में परिवर्तन हो गये हैं। परन्तु इसका तात्पर्य यह नहीं है कि अब पेशे की ऊँचाई-निचाई की धारणा ही समाप्त हो गई है। इसका तात्पर्य केवल इतना ही है कि जो पेशे पहले श्रेष्ठ समझे जाते थे वे अब भी आवश्यक रूप में श्रेष्ठ नहीं समझे जाते हैं।

(ग) भोजन सम्बन्धी प्रतिबन्धों में परिवर्तन (Changes in the restrictions relating to food and drink)—आधुनिक शिक्षा के आधार पर समानता के विचारों का पनपना, यातायात के साधनों में उन्नति होने के कारण सामाजिक गतिशीलता का बढ़ना, नगरों, विभिन्न जाति, धर्म और देश के लोगों के सम्पर्क में आने से सामाजिक सहनशीलता का बढ़ना, मित्र, कारखाने, दफ्तर और नगर में अज्ञात जाति के लोगों के साथ परिचय और मित्रता, होटलों और जलपान-गृहों की लोकप्रियता आदि ऐसे कारण तथा परिस्थितियाँ हैं जिनके फलस्वरूप खाने-पीने के सम्बन्ध में समस्त नियम बहुत ढीले पड़ते जा रहे हैं। विशेषकर नगरों में रहकर जाति-प्रथा के अनुसार खाने-पीने के सम्बन्ध में समस्त नियमों का पालन करना अगर असंभव नहीं तो कष्टकर अवश्य ही है। इसका कारण भी स्पष्ट है। शहरों में आर्थिक, सामाजिक, सांस्कृतिक तथा राजनीतिक उद्देश्यों को लेकर जो संगठन बनते हैं उनमें सभी जाति के सदस्य होते हैं और उन सामान्य उद्देश्यों के आधार पर उनमें जो घनिष्ठ सम्बन्ध या कम-से-कम जो सामाजिक निकटता पनपती है वह फिर खाने-पीने के सम्बन्ध में कट्टरपन्थी होने नहीं देती। साथ-ही-साथ प्रजातान्त्रिक आधार पर समानता की जो नीति अपनायी जा रही है, उसके अन्तर्गत राष्ट्र के नेतागण तथा समाज-सुधारक इस प्रकार के प्रतिबन्धों की धोर निन्दा भी करते हैं जिसका कि प्रभाव जनता पर अवश्य पड़ता है। उदाहरणार्थ, डॉक्टर राधाकृष्णन के अनुसार, “हमारे इस समय में इस प्रकार के (अर्थात् खाने-पीने के सम्बन्ध में) भेदभाव असमर्थनीय हैं और खिजाते वाले हैं और ये स्वच्छन्द सामाजिक गति में रुकावट डालते हैं। प्राचीनकाल में मांस ब्राह्मण लोग भी खाते थे। प्राचीन वैदिक धर्म में पाँच प्रकार के पशुओं की बलि दी जाती थी : बकरी, भेड़, गाय या सांड और घोड़ों की। बौद्ध, जैन और वैष्णव मतों के प्रभाव के कारण यह प्रथा बुरी समझी जाने लगी। मनु और याज्ञवल्क्य ने मांस-भक्षण पर इतने अधिक प्रतिबन्ध लगा दिए हैं कि वे मांसाहार को

निस्सह्य करते हैं। भारत के कुछ भागों (बंगाल और कश्मीर) में आजकल भी ब्राह्मण मांस खाते हैं, जबकि कुछ अन्य भागों (गुजरात) में निचले वर्णों के लोग भी मांस से परहेज करते हैं। हमारी आदतें स्वच्छता के सिद्धांतों पर आधारित होनी चाहिए, निषेधों पर नहीं। स्पर्श से अपवित्र हो जाने की धारणा त्याग दी जानी चाहिए।" भारत में पढ़े-लिखे अनेक व्यक्ति इस धारणा को त्याग भी रहे हैं और उसका एक प्रमुख कारण यह है कि आज सन्तुलित भोजन के सम्बन्ध में जो वैज्ञानिक ज्ञान हमें प्राप्त हुआ है उसे ही भोजन के चुनाव का आधार माना जा रहा है, न कि जाति के नियमों को। ऐसे भी अनेक लोग हैं जोकि मांसाहार से दूर रहते हुए भी लहसुन, प्याज आदि से अधिक परहेज नहीं करते हैं। कुछ लोग मांस, मछली तो नहीं खाते हैं, पर अण्डा खाने में संकोच नहीं करते और उसका कारण वे यह बतलाते हैं कि अण्डों से उन्हें पोषक तत्व काफी मिल जाता है; अतः 'दवा' के रूप में ही वे उसे लेते हैं।

इस सम्बन्ध में एक उल्लेखनीय बात यह है कि जहाँ मांसाहारी भोजन कुछ-न-कुछ ऊँची जातियों में फैल रहा है, वहाँ नीची जातियों में विशेषकर अछूतों में परिवर्तन की दिशा बहुत-कुछ विपरीत है। "भारत के अनेक भागों में अछूत तथा अन्य नीची जातियाँ भारतीय जाति-प्रथा में अपनी परिस्थिति को ऊँचा करने के लिये मांसाहारी भोजन को छोड़कर शाकाहारी भोजन करने लगी हैं और मदिरा पीना छोड़ रही हैं। इस प्रक्रिया को डॉ० श्रीनिवास संस्कृतिकरण (Sanskritization) कहते हैं। संस्कृतिकरण वह प्रक्रिया है जिसमें नीची जाति के व्यक्ति अपनी सामाजिक परिस्थिति को ऊँचा उठाने के लिये ब्राह्मणों के मूल्यों को स्वीकार करते हैं और इन्हीं के अनुसार अपने व्यवहारों को ढालते हैं।"⁴

(घ) सामाजिक तथा धार्मिक नियोग्यताओं में परिवर्तन (Changes in social and religious disabilities)—जाति-प्रथा के स्वरूप में वर्तमान समय में जो-जो परिवर्तन हुए हैं उनमें एक महत्वपूर्ण परिवर्तन हरिजनों की सामाजिक तथा धार्मिक नियोग्यताओं की समाप्ति है। इसका सम्पूर्ण श्रेय पूज्य बापू को है। आपके 'हरिजन आन्दोलन' ने न केवल स्वस्थ जनमत का ही निर्माण किया अपितु सरकार को भी हरिजनों के उत्थान के सम्बन्ध में प्रयत्नशील बनाया। आज सामाजिक, राजनीतिक, धार्मिक और आर्थिक सभी क्षेत्रों में उन्हें राज्य की ओर से केवल समान अधिकार ही प्राप्त नहीं हैं, बल्कि प्रत्येक प्रकार की नौकरियों, विधानसभाओं और मन्त्रिमण्डलों में उनके लिये स्थान सुरक्षित भी कर दिये गये हैं। आज वे किसी भी सार्वजनिक पूजा के स्थान में प्रवेश कर सकते हैं; धर्म से सम्बन्धित किसी भी पवित्र नदी, तालाब आदि में नहा या पानी ले सकते हैं; किसी दूकान, जलपान-गृह, होटल, सार्वजनिक मनोरंजन के स्थानों, सराय आदि में प्रवेश कर सकते हैं; किसी भी पेशे, व्यापार या उद्योग को अपना सकते हैं; किसी भी नदी, कुएँ, नल, घाट, श्मशान या कब्रिस्तान के स्थानों को व्यवहार में ला सकते हैं, किसी भी मुहल्ले में ज़मीन खरीदकर मकान बनवा सकते हैं तथा किसी भी शिक्षा संस्थान में प्रवेश पा सकते हैं। परन्तु स्मरण रहे कि ये सभी समानाधिकार कानूनी तौर पर मान्य हैं; व्यावहारिक रूप में हरिजनों की परम्परात्मक नियोग्यताएँ ढीली तो अवश्य हो गई हैं, पर संप्राप्त नहीं हुई हैं। गाँवों में आज भी उनकी अधिकतर नियोग्यताएँ बनी हुई हैं, पर शहरों में बहुत कम रह गई हैं। गाँवों

के लोग रुढ़िवादी हैं, इसलिये उनसे यह आशा करना व्यर्थ है कि कानून के पास होने के साथ-ही-साथ वे परम्परात्मक सभी निषेधों का त्याग कर नवीन परिवर्तनों को पूर्णतया मान लेंगे। इसके विपरीत नगरों में वे परिस्थितियाँ या कारक क्रियाशील हैं जो कि हरिजनों की नियोग्यताओं को दूर करने में सहायक सिद्ध होते हैं। फिर भी यह कहा जा सकता है कि गाँवों में भी इस दिशा में परिवर्तन का सिलसिला चल चुका है और कुछ विषयों में हुए परिवर्तन भी स्पष्ट हैं। इस विषय में विस्तृत विवेचना हम अगले एक अध्याय में करेंगे।

क्या जाति क्रमशः वर्ग के रूप में विकसित हो रही है ?
(Is Caste developing into Class ?)

उपर्युक्त परिवर्तनों को देखते हुये यह कहा जा सकता है कि वर्तमान जाति-प्रथा उन प्रतिबन्धों से दूर होती जा रही है जोकि उसे बनाये रखने में सहायक थे। दूसरे शब्दों में, जाति-प्रथा का बन्द द्वार अब धीरे-धीरे खुल रहा है जिसके कारण विभिन्न जातियों के सदस्यों में वह दूरी या नियोग्यतायें तथा विशेषाधिकार भी नहीं रहे जो पहले थे। विभिन्न जातियों के सदस्यों में पारस्परिक व सामाजिक आदान-प्रदान बढ़ता ही जा रहा है और जाति-प्रथा में वर्ग-प्रथा के अनेक गुण या विशेषतायें स्पष्ट हो गई हैं। इस आधार पर यह कहा जा सकता है कि आधुनिक भारत में जाति क्रमशः वर्ग के रूप में विकसित हो रही है। परन्तु इस स्वीकृति का तात्पर्य कदापि यह नहीं है कि आज भारतीय जाति-प्रथा और वर्ग-प्रथा में कोई अन्तर ही नहीं रह गया है। जाति-प्रथा आज भी जाति-प्रथा ही है। हाँ, इतना अवश्य है कि युग की माँग के अनुसार उसके स्वरूप में अनेक परिवर्तन निश्चय ही हो गए हैं और अब भी हो रहे हैं। वर्तमान जाति-प्रथा वैसी नहीं है जैसी थी और न ऐसी रहेगी जैसी है। जाति-प्रथा की गतिशीलता का यही अर्थ है और यही स्वाभाविक परिणाम भी।

क्या भारत में जाति-विहीन समाज की स्थापना सम्भव है ?
(Is it possible to establish a Casteless Society in India ?)

उपरोक्त विवेचना से यह स्पष्ट है कि आधुनिक भारत में जाति-प्रथा में निःसन्देह अनेक परिवर्तन हो गये हैं। ये परिवर्तन अच्छे हैं या बुरे, यह दूसरा प्रश्न है, पर इतना अवश्य है कि अब हम सब भारतवासी जाति-प्रथा का मूल्यांकन नये और वैज्ञानिक मानदण्डों के आधार पर करने लग गये हैं जिसका कि प्रमुख उद्देश्य जाति-प्रथा में उत्पन्न दोषों से समाज को विमुक्त करना है। हमें स्वयं जाति-प्रथा से कोई शत्रुता नहीं है, हम तो जाति-प्रथा के दोषों को दूर करना चाहते हैं। इन दोषों को आज हम स्वीकार करते हैं और उनके बुरे परिणामों को हम भुगत रहे हैं। इनसे हमें कैसे छुटकारा मिले, एक बड़ा प्रश्न आज हमारे सामने है। इसके लिये दो ही रास्ते हैं—प्रथम तो जाति-प्रथा को समाप्त न करते हुए इसके दोषों को दूर करना और दूसरा जाति-प्रथा को जड़ से उखाड़ फेंककर भारत में एक जाति-विहीन समाज की स्थापना करना। प्रश्न यह है कि क्या भारत में जाति-विहीन समाज की स्थापना सम्भव है ? इसका वैज्ञानिक उत्तर यही है कि जाति-प्रथा एक अति प्राचीन संस्था है जिसकी कि जड़ भारतीय समाज के हर कोने में अत्यधिक गहरी बैठ चुकी है। उस पुरानी विस्तृत जड़ को पूर्णतया उखाड़ फेंकना यदि असम्भव नहीं तो अत्यधिक कठिन आवश्यक ही है। यह स्मरण रहे कि जाति-प्रथा की उत्पत्ति और स्थिरता को बनाये रखने में धर्म का भी काफी हाथ रहा है और भारतवासी स्वभावतः ही धर्मपरायण हैं। धर्म की उपेक्षा

करना आज भी उनके लिये सरल नहीं है। धर्म के साथ 'कर्म' के सिद्धान्त' ने भी जाति-प्रथा का साथ दिया है। भारत की जनता अंश भी काफी संख्या में अनपढ़ है। उस अनपढ़ जनता के दिमाग से 'धर्म' और 'कर्म' दोनों को निकल फेंकने की कल्पना और कुछ हो या न हो, कम-से-कम व्यावहारिक नहीं है।

यह सच है कि आज जाति-विहीन समाज की स्थापना के लिये एकाधिक कानून पास कर दिये गये हैं जिनके अनुसार अन्तर्जातीय विवाह आज मान्य है, पेशों के चुनाव के सम्बन्ध में सबको स्वतन्त्रता है, हरिजनों को समानाधिकार प्राप्त हैं, अस्पृश्यता को बढ़ावा देना या मानना आज अपराध है और भोजन सम्बन्धी प्रतिबन्ध भी आज नहीं है। परन्तु यह सब कानून की अपनी बात है जिसकी कि पहुँच मनुष्य के मस्तिष्क और आन्तरिक भावनाओं तक आज भी पूर्ण नहीं है। संस्था और जाति-प्रथा जैसी सुदृढ़, प्रभावशाली, विस्तृत व प्राचीन संस्था को केवल कानून पास करके समाप्त नहीं किया जा सकता, जब तक जनमत उसके विपक्ष में जाग्रत न हो। जाति-प्रथा जैसी संस्था को समाप्त करने के लिये एक क्रियात्मक सामाजिक परिस्थिति और प्रभावपूर्ण जनमत की आवश्यकता है जोकि अब भी भारतीय समाज में बहुत अधिक स्पष्ट नहीं है। इसीलिये जब तक कि भारत की जनता स्वयं दिल व दिमाग से पूर्णरूप में इसके लिये तैयार न होगी तब तक भारत में जाति-विहीन समाज की स्थापना सम्भव नहीं है। यह किसी व्यक्ति विशेष की अपनी राय नहीं है। सांस्कृतिक, आर्थिक, यहाँ तक कि राजनीतिक परिस्थितियों, प्रवृत्तियों तथा झुकाव की एक अनुठी अभिव्यक्ति है।

जाति-प्रथा का भविष्य

(Future of Caste System)

जाति-प्रथा में अनेक गुण और दोष दोनों ही हैं और वर्तमान परिस्थितियों में हमें इसके दोष ही अधिक मिलते हैं। इसी कारण आज समाज-सुधारकों और राजनीतिक नेताओं की ओर से जाति-प्रथा को जड़ से उखाड़ फेंकने की बात कही जाती है। कुछ जाति-व्यवस्था को वर्ण-व्यवस्था में बदलने के पक्ष में राय देते हैं। महात्मा गाँधी का मुद्दा यह है कि "वर्ण अगर धर्म बन जाये और अधिकार न रहे तो वर्ण-वर्ण के बीच भेद न रहे और सब वर्ण बराबर हो जायें।" उनके अनुसार यही आदर्श स्थिति है।

इसमें सन्देह नहीं कि आज हमारा जीवन इतना अधिक जटिल और विस्तृत हो चुका है कि जाति-प्रथा हमारी समस्त आवश्यकताओं की पूर्ति करने में असफल है। साथ ही समानता की भावना और वैज्ञानिक शिक्षा के प्रभाव से आज हम यह अनुभव करते हैं कि जाति-प्रथा के अन्तर्गत विवाह-सम्बन्धी प्रतिबन्ध और ऊँच-नीच या छुआ-छूत आदि की भावना सर्वथा निरर्थक है। उसी प्रकार आज पेशों या आर्थिक जीवन में इतनी विविधतायें पनप गई हैं कि अगर जाति-प्रथा के नियमों का पालन किया जाये तो आर्थिक जीवन की गाड़ी एक पग भी आगे न चल सकेगी। परन्तु इसका तात्पर्य यह नहीं है कि जाति-प्रथा को जड़ से उखाड़-फेंक देने से ही इन समस्याओं का हल मिल जायेगा; और न ही उखाड़-फेंकना सम्भव है। प्रत्येक समाज में सदस्यों के कार्य और पद (role and status) को निश्चित करने तथा सामाजिक नियन्त्रण के लिये कोई-न-कोई सामाजिक व्यवस्था होती ही है। इस व्यवस्था में सामाजिक संस्तरण भी स्वाभाविक रूप में ही देखने को मिलता है और इसकी आवश्यकता को भी सामाजिक दृष्टिकोण से कोई अस्वीकार नहीं कर सकता। वास्तव में सामाजिक संस्तरण की

व्यवस्था न तो अव्यावहारिक है और न ही अहितकर। यह परिस्थिति तो तब उत्पन्न होती है जबकि इस प्रकार के संस्तरण के फलस्वरूप उत्पन्न होने वाले समूह एक-दूसरे के विरोधी हो जाते हैं और उच्च स्थिति वाले समूह शोषण और अन्याय की नीति को अपनाते हैं। जाति-प्रथा में भी ऐसा ही हुआ है। अस्पृश्यता, उच्च जातियों की शोषण नीति, जातिवाद और ऐसे ही अनेक दोष आज जाति-प्रथा के अन्तर्गत पनप गये हैं। इन दोषों को दूर करना होगा और फिर यह सोचना होगा कि इस शक्तिशाली सामाजिक संस्था को हम कैसे और कहाँ तक समाज के लाभ के लिये प्रयोग में ला सकते हैं। केवल कानून बनाकर जाति-प्रथा जैसी दृढ़ संस्था को नष्ट नहीं किया जा सकता, यह भी याद रखना है।

इस अर्थ में जाति का भविष्य उतना अन्धकारपूर्ण नहीं है जितना कि सामान्यतः हम सोचते हैं। साथ ही, वर्तमान परिस्थितियों को देखते हुये यह भी कहा जा सकता है कि चूंकि किसी भी सामाजिक संस्था की स्थिरता या समाप्ति सामाजिक मूल्यों, सामाजिक मनोभावों, भौतिक परिस्थितियों आदि अनेक कारकों पर आधारीत होती है और चूंकि आज इन सभी कारकों में इस देश में भी तेजी से परिवर्तन हो रहे हैं, इसलिये इन परिवर्तित अवस्थाओं के प्रभावों से जाति-प्रथा के स्वरूपों में भी कम या अधिक परिवर्तन अवश्य ही होना है। जाति-प्रथा को आज के परिवर्तित युग से अनुकूलन कर लेना ही होगा और जाति-प्रथा का पिछला इतिहास इस बात का साक्षी है कि जाति-प्रथा सदैव ही परिवर्तित परिस्थितियों से अनुकूलन करने में बहुत-कुछ सफल हुई है। यही कारण है कि यह संस्था सैंकड़ों साल से इस देश में न केवल बनी ही हुई है, बल्कि असंख्य रूपों में यहाँ के निवासियों को प्रभावित भी करती आती है। समस्त परिवर्तित परिस्थितियों का पूरा-पूरा ध्यान रखते हुए भी यह कहा जा सकता है कि "जन्म के आधार पर जातीय समूहों की स्थायी सदस्यता आगे भी मानी जायेगी और समाज के भावी संस्तरण पर जाति-प्रणाली के ढाँचे का प्रभाव बना रहेगा।" सर जार्ज वर्डवुड ने कहा है—“जब तक हिन्दू इसे अपनाते रहेंगे, भारत भारत ही रहेगा। जिस दिन वे इसे छोड़ देंगे, भारत हिन्दुओं का भारत न रह जायेगा।”

मानव-समाज का इतिहास परिवार का ही इतिहास है क्योंकि मानव-जीवन के प्रारम्भ से ही परिवार उसके साथ है और किसी-न-किसी रूप में यह सांस्कृतिक विकास के सभी स्तरों पर पाया जाता है। इतना ही नहीं, श्री चार्ल्स कुले (Charles Cooley) ने भी परिवार को एक ऐसा प्राथमिक समूह माना है जिसमें बच्चे के सामाजिक जीवन व आदर्शों का निर्माण होता है। इस रूप में परिवार व्यक्ति के समाजीकरण (Socialization) का एक प्रमुख साधन भी है। इसके अतिरिक्त परिवार ही समाज की प्रारम्भिक इकाई है। परिवार के बिना समाज की निरन्तरता सम्भव नहीं क्योंकि परिवार ही नये बच्चों को उत्पन्न करता है तो उन लोगों का रिक्त स्थान भर देते हैं जोकि मर गये हैं। इस प्रकार परिवार द्वारा मृत्यु और अमरत्व, दो विरोधी अवस्थाओं का सुन्दर समन्वय हुआ। स्पष्ट ही है कि परिवार सामाजिक जीवन की एक प्रमुख संस्था है। इसी कारण समाजशास्त्र के प्रत्येक विद्यार्थी के लिये इस सामाजिक संस्था का अध्ययन अति आवश्यक है। परन्तु इसके विषय में कुछ और जानने से पूर्व, इसके वास्तविक अर्थ को जानना होगा।

परिवार का अर्थ एवं परिभाषा

(Meaning and Definition of Family)

श्री एलमर (Elmer) ने अपनी पुस्तक 'Sociology of Family' में लिखा है कि अंग्रेजी शब्द family लैटिन शब्द *famulus* से निकला है। इस लैटिन शब्द से एक ऐसे समूह का बोध होता है जिसके अन्तर्गत माता और पिता, बच्चे, नौकर और यहाँ तक कि दास (salves) भी आ जाते हैं। वास्तव में इस शाब्दिक अर्थ से परिवार का वास्तविक अर्थ स्पष्ट नहीं होता। जहाँ तक कि परिवार के वास्तविक अर्थ का सम्बन्ध है, विद्वानों में ऐकमत्य का अभाव है। कुछ विद्वान् यदि परिवार में पति-पत्नी व अविवाहित बच्चे ही सम्मिलित करते हैं तो कुछ दादा-दादी, भतीजे-भानजे, नौकर आदि को भी परिवार का अंग मानते हैं। कुछ परिभाषायें इस तथ्य को और भी स्पष्ट कर देगी।

सर्वश्री ऑगबर्न और निमकॉफ (Ogburn and Nimkoff) के अनुसार, "बच्चों सहित अथवा बच्चों रहित एक पति-पत्नी के या किसी एक पुरुष या एक स्त्री के अकेले ही बच्चे सहित एक थोड़े-बहुत स्थायी संग को परिवार कहते हैं।"¹

1. "The family is more or less a durable association of husband and wife with or without children, or of a man or woman alone with children."
—W. F. Ogburn and M. F. Nimkoff, *A Handbook of Sociology*, Routledge and Kegan Paul Ltd; London, p. 459.

सर्वश्री मैकाइवर और पेज (MacIver and Page) ने परिवार के उद्देश्यों और कार्यों पर बल देते हुए कहा है कि, “परिवार पर्याप्त निश्चित यौन-सम्बन्ध द्वारा परिभाषित एक ऐसा समूह है जो बच्चों को पैदा करने तथा लालन-पालन करने की व्यवस्था करता है।”¹

परिवार की कुछ अन्य विशेषताओं की ओर संकेत देते हुए सर्वश्री बर्गस एवं लॉक (Burgess and Locke) ने परिवार को परिभाषित करते हुए कहा है कि, “एक परिवार विवाह, रक्त-सम्बन्ध या गोद लेने के बन्धनों से सम्बद्ध व्यक्तियों का एक समूह है जोकि एक गृहस्थी का निर्माण करते हैं और जो एक-दूसरे के साथ अन्तःक्रिया और अन्तःसन्देश करते हुए पति-पत्नी, माता-पिता, लड़के-लड़की और भाई-बहन के रूप में अपने-अपने सामाजिक कार्यों को करते हैं और एक सामान्य संस्कृति को बनाते व उसकी रक्षा करते हैं।”²

डॉ० डी० एन० मजूमदार (Dr. D. N. Majumdar) ने भी परिवार का अर्थ समझाते हुए लिखा है कि “परिवार ऐसे व्यक्तियों का समूह है जो एक मकान में रहते हैं, रक्त द्वारा सम्बन्धित हैं और स्थान, स्वार्थ तथा पारस्परिक कर्तव्य-बोध के आधार पर समान होने की चेतनता या भावना रखते हैं।”

वास्तव में परिवार स्त्री-पुरुष के यौन-सम्बन्धों द्वारा संगठित करीब-करीब एक स्थायी संगठन है। परिवार का अर्थ और भी विस्तार में जानने के लिए इसकी विशेषताओं का ज्ञान आवश्यक है। यह वर्णन निम्नलिखित है।

परिवार की सामान्य प्रकृति या विशेषतायें

(General Nature and Characteristics of Family)

उपरोक्त परिभाषाओं के आधार पर परिवार की सामान्य प्रकृति को समझाने के लिए परिवार की निम्नलिखित प्रमुख विशेषताओं का उल्लेख किया जा सकता है—

1. **विवाह-सम्बन्ध (Mating relationship)**—एक परिवार का जन्म स्त्री-पुरुष के वैवाहिक सम्बन्ध से होता है। यह सम्बन्ध समाज द्वारा स्वीकृत होता है और इसके आधार पर उनमें यौन-सम्बन्ध स्थापित होने के फलस्वरूप जो सन्तान उत्पन्न होती है उसे समाज स्वीकार कर लेता है और वे अपने माता-पिता के साथ उस परिवार के सदस्य बन जाते हैं। वह विवाह-सम्बन्ध आजीवन बना रहता है, जब तक कि बीच में विवाह-विच्छेद या मृत्यु के कारण टूट न जाए। इस सम्बन्ध में एक बात स्मरणीय है और वह यह है कि विवाह-सम्बन्ध स्थापित करने का एक विशेष संस्थात्मक तरीका होता है जो समाजों में भिन्न-भिन्न रूपों में होता है। साधारणतया इसे विवाह-पद्धति कहा जाता है।

2. “The family is a group defined by a sex-relationship sufficiently precise and enduring to provide for the procreation and upbringing of the children.”—R. M. MacIver and C. H. Page, *Society*, The MacMillan & Co; London, p. 238.

3. “A family is a group of persons, united by the ties of marriage, blood or adoption, constituting a single household interacting and intercommunicating with each other in their respective social role of husband and wife, mother and father, son and daughter brother and sister, and creating and maintaining a common culture.”—E. W. Burgess and H. J. Locke, *The Family from Institution to Companionship* American Book Co; New York, p. 8.

2. कुछ आर्थिक व्यवस्था (Some economic system)—परिवार की एक प्रमुख विशेषता यह भी है कि प्रत्येक परिवार में कोई-न-कोई आर्थिक व्यवस्था, अर्थात् जीवित रहने के लिए आवश्यक वस्तुओं को प्राप्त करने का साधन अवश्य होता है जिसके द्वारा परिवार के सदस्यों का पालन-पोषण हो सके।

3. वंश-नाम की व्यवस्था (A system of nomenclature)—प्रत्येक परिवार में वंश-नाम निश्चित करने का कोई-न-कोई विशेष नियम हुआ करता है जिसके अनुसार एक परिवार के बच्चों का उपनाम (surname) या वंश-नाम निर्धारित होता है और उस परिवार के वंशजों को पहचानने में सहायता मिलती है। यह वंश-नाम मा-वंशीय (matrilineal) या पितृवंशीय (patrilineal) दोनों ही हो सकता है।

4. एक सामान्य निवास (A common habitation)—प्रत्येक परिवार के सदस्यों के रहने के लिए एक सामान्य निवास होता है। ऐसे निवास मातृस्थानीय निवास (Matrilocal residence), जैसे खासी, गारो, नायर आदि लोगों में या पितृस्थानीय निवास (Patrilocal residence), जैसे हमारे सम्य समाजों में हो सकते हैं। आज के युग में 'नवस्थानीय परिवार' भी विकसित हो गए हैं। इस प्रकार के परिवार में विवाहित दम्पति अपना एक नया निवास बनाकर रहने लगते हैं।

5. सार्वभौमिकता (Universality)—परिवार नामक सामंति अन्य सभी सामाजिक समितियों या संगठनों में सबसे अधिक सार्वभौम है। इसका तात्पर्य यह है कि ऐसा कोई समाज, या सामाजिक विकास की ऐसी कोई अवस्था, या ऐसा कोई युग नहीं है जहाँ कि परिवार न पाया जाता रहा हो। वास्तव में प्रत्येक स्वाभाविक मनुष्य किसी-न-किसी परिवार का सदस्य है, रहा है और भविष्य में रहेगा भी। इसका सर्व-प्रमुख कारण यह है कि परिवार के बिना मानव और उसके समाज के अस्तित्व की कल्पना भी नहीं की जा सकती।

6. रचनात्मक प्रभाव (Formative influence)—परिवार की एक अनोखी विशेषता यह भी है कि परिवार का उसके सदस्यों पर एक रचनात्मक प्रभाव पड़ता है। शायद इसी कारण श्री कूले (Cooley) ने परिवार को एक प्राथमिक समूह (Primary group) तथा मानव-स्वभाव का निर्माण-क्षेत्र (nursery) माना है।

7. भावनात्मक आधार (Emotional basis)—परिवार नामक समिति मानव की अनेक स्वाभाविक मूल-प्रवृत्तियों (instincts) पर आधारित होती है। प्रत्येक स्वाभाविक परिवार में पति अपनी पत्नी से प्रेम करता है; पत्नी अपने पति से प्रेम, सहानुभूति व श्रद्धा की भावनाओं से बँधी होती है; और बच्चे आपस में प्रीति की भावना रखते हैं—साथ ही माता-पिता के प्रति श्रद्धा-भक्ति भी। यही कारण है कि परिवार के एक-दूसरे के लिये सब-कुछ बलिदान अथवा त्याग करने को सदा तैयार रहते हैं।

8. सामाजिक ढाँचे में केन्द्रीय स्थिति (Nuclear position in the Social Structure)—परिवार सामाजिक ढाँचे की प्रथम व भीतिक इकाई है। मनुष्य का जन्म, विकास और संस्कृतिकरण (Sanskritization) परिवार से ही प्रारम्भ होता है और परिवार के प्रसार से ही सम्पूर्ण राष्ट्र या समाज का निर्माण होता है। श्री अरस्तु (Aristotle) ने इसीलिये समुदाय की परिभाषा देते हुए लिखा है कि "समुदाय परिवारों का ही योग या संघ है।"

9. सीमित आकार (Limited size)—परिवार का आकार सीमित होता है और इसका कारण भी स्पष्ट है। परिवार के सदस्य वही व्यक्ति हो सकते हैं जिनमें

कि वास्तविक या काल्पनिक रक्त-सम्बन्ध हो। वे वच्चे, जो परिवार में पैदा हुए हों या जिन्हें गोद लिया गया हो—वही परिवार के सदस्य होते हैं। इस रूप में परिवार का एक सीमित आकार ही होता है।

10. सदस्यों का असीमित उत्तरदायित्व (Unlimited responsibility of members)—परिवार की एक प्रमुख विशेषता यह भी है कि सदस्यों का अपने परिवार के प्रति असीमित उत्तरदायित्व होता है। इसका अर्थ यह है कि परिवार के लिये किस समय क्या और कितना त्याग करना पड़ेगा, इसका कोई भी निश्चित अन्दाज नहीं लगाया जा सकता। वास्तव में एक दूसरे के प्रति परिवार के सदस्यों का उत्तरदायित्व-बोध परिवार के संगठन और स्थायित्व के लिये परमावश्यक भी है।

11. सामाजिक नियम (Social regulation)—चूँकि व्यक्तिगत तथा सामाजिक दोनों ही दृष्टिकोणों से परिवार का महत्व अत्यधिक होता है, अतः इस कल्याणकारी व आधारभूत संगठन की रक्षा के लिये समाज अनेक प्रथाओं, सामाजिक निषेधों (taboos) और कानूनों को बनाता एवं लागू करता है। विशेषकर आधुनिक समाजों में ऐसे अनेक नियम हैं जिनके अनुसार मनमाने तौर पर न तो विवाह-सम्बन्ध स्थापित किया जा सकता है और न ही तोड़ा जा सकता है। उदाहरणार्थ, भारतवर्ष में 'विशेष विवाह अधिनियम, 1954' के अनुसार विवाह तभी वैध होगा, जबकि विवाह के समय किसी भी पक्ष का जीवित जीवन-साथी न हो। दूसरे शब्दों में बहु-विवाह की मनाही है।

12. परिवार की स्थायी और अस्थायी प्रकृति (Its permanent and temporary nature)—परिवार की एक अन्तिम विशेषता यह है कि यदि एक ओर एक समिति या संघ के रूप में यह परिवर्तनशील होता है क्योंकि मृत्यु, कारावास, त्याग (desertion), या विवाह-विच्छेद से भंग हो सकता है; तो दूसरी ओर—एक संस्था (institution) के रूप में परिवार की प्रकृति स्थायी है। यह तथ्य इसी से स्पष्ट है कि मानव के प्रारम्भिक या आदिम जीवन से अब तक परिवार किसी-न-किसी रूप में अवश्य ही बना हुआ है।

परिवार के प्रकार (Types of Family)

यह सच है कि प्रत्येक समाज में परिवार का स्वरूप एकसमान नहीं होता है। इनके अनेक भेद हमें संसार के विभिन्न समाजों में देखने को मिलते हैं और उन्हें अनेक आधारों पर एक-दूसरे से पृथक् किया जा सकता है। इसका कारण भी स्पष्ट है। प्रत्येक समाज में, यहाँ तक कि एक ही समाज के विभिन्न प्रान्तों या प्रदेशों में, भौगोलिक, सामाजिक व सांस्कृतिक अवस्थाएँ भिन्न-भिन्न होती हैं। इनका प्रभाव सामाजिक संस्थाओं पर अवश्य ही पड़ता है। अतः यह स्वाभाविक ही है कि प्रत्येक समाज में परिवार का स्वरूप एकसमान नहीं होगा। साथ ही, यह भी आवश्यक नहीं कि एक समाज में एक ही प्रकार का परिवार पाया जाये। प्रायः एक समाज के विभिन्न प्रदेशों में एक से अधिक प्रकार के परिवारों का दर्शन होता है। इसका सबसे अच्छा उदाहरण भारतीय समाज है।

विभिन्न आधारों पर परिवार के प्रकार (Types of Families on different Bases)

डॉ० श्यामाचरण दुबे ने विभिन्न आधारों पर परिवार के निम्नलिखित प्रकारों का उल्लेख किया है—

- | | | |
|---------------------------|---|---|
| 1. निवास | : | (क) पितृस्थानीय परिवार
(ख) मातृस्थानीय परिवार
(ग) नवस्थानीय परिवार |
| 2. अधिकार | : | (क) पतृक परिवार
(ख) मातृक परिवार |
| 3. उत्तराधिकार | : | (क) पितृमार्गी परिवार
(ख) मातृमार्गी परिवार |
| 4. वंश-नाम | : | (क) पितृनामी परिवार
(ख) मातृनामी परिवार
(ग) उभयवाही परिवार
(घ) द्विनामी परिवार |
| 5. वैवाहिक रचना
और गठन | : | (क) एक-विवाही परिवार
(ख) बहु-विवाही परिवार
(ग) मूल परिवार
(घ) संयुक्त परिवार
(ङ) विस्तारित परिवार |

उपर्युक्त पाँच आधारों के अतिरिक्त एक और छोटे आधार पर भी परिवार का वर्गीकरण किया जा सकता है। वह आधार तथा उसके आधार पर परिवार के प्रकार निम्नवत् हैं—

6. सदस्यों की संख्या :
- | |
|-----------------------------|
| (क) मूल या केन्द्रीय परिवार |
| (ख) विवाह-सम्बन्धी परिवार |
| (ग) संयुक्त परिवार |

विभिन्न आधारों पर परिवार के प्रकारों (Types) को जान लेने के पश्चात् यह आवश्यक है कि हम इन विभिन्न प्रकार के परिवारों के सम्बन्ध में कुछ विस्तार-पूर्वक विवेचना करें जिससे कि उनकी वास्तविक प्रकृति स्पष्ट हो जाए।

निवास के आधार पर परिवार के प्रकार

(Types of family on the basis of Residence)

जैसाकि ऊपर उल्लेख किया जा चुका है निवास के आधार पर परिवार तीन प्रकार के होते हैं जेकि निम्नवत् हैं—

(क) पितृस्थानीय परिवार (Patrilocal residence) — प्रत्येक परिवार के सदस्यों के रहने के लिए एक सामान्य घर या निवास होता है। परन्तु यह निवास कौन-सा होगा, इस बात का निश्चय उस समय या समूह में प्रचलित नियम के अनुसार ही होता है। जहाँ पर यह नियम है कि विवाह के बाद पति अपनी पत्नी को उसके परिवार से अपने परिवार में लाकर रखेगा अर्थात् पत्नी अपने पति के परिवार में रहेगी तो उसे पितृस्थानीय परिवार कहते हैं। हम लोगों के अपने समाज का परिवार इसी प्रकार का है क्योंकि इनमें बच्चे अपने माता के साथ अपने पिता के घर या परिवार में रहते हैं। इसके अतिरिक्त भारत की अनेक जनजातियों या आदिवासियों जैसे खरिया, भील आदि में भी पितृस्थानीय परिवार पाये जाते हैं।

(ख) मातृस्थानीय परिवार (Matrilocal residence) — किन्हीं-किन्हीं

समाजों में परिवार के उपर्युक्त प्रकार का उल्टा रूप देखने को मिलता है अर्थात् बन समाजों में यह नियम है कि विवाह के बाद पत्नी अपने पति के परिवार में जाकर नहीं रहेगी बल्कि पति को अपने माता-पिता का घर छोड़कर पत्नी के परिवार में आकर बस जाना या रहना पड़ेगा। ऐसे परिवार को मातृस्थानीय परिवार कहते हैं। ऐसे परिवार भारतीय आदिवासी खासी, गोरा आदि में तथा मालाबार (भारत) में नायरों में पाए जाते हैं।

(ग) नवस्थानीय परिवार वह है जब विवाहित दम्पति न तो पति के परिवार में रहे और न पत्नी के परिवार में, बल्कि वे अपना अलग घर बनाकर रहें। भारत के अधिकतर नगरों में इस प्रकार के परिवारों का दर्शन होता है, विशेषकर आधुनिक विचार वाले नव दम्पतियों में।

अधिकार या सत्ता के आधार पर परिवार के प्रकार (Types of family on the basis of Authority)

परिवार में सत्ता या अधिकार किसके हाथ में होगा इस सम्बन्ध में अलग-अलग समाज में पृथक्-पृथक् नियम हैं। उन नियमों के आधार पर परिवार दो प्रकार के होते हैं—

(अ) पितृक या पितृसत्तात्मक परिवार (Patriarchal family)—चूँकि ऐसे परिवारों में सत्ता या अधिकार पति या बच्चों के पिता के हाथ में रहता है, इस कारण इन्हें पितृसत्तात्मक परिवार कहते हैं। ऐसे परिवार में परिवार से सम्बन्धित समस्त विषयों में पिता की बात सब मानते हैं और वह परिवार के कर्त्ता के रूप में सब घर पर नियन्त्रण रखता है। भारत में हिन्दू, मुसलमान आदि का परिवार इसी प्रकार का है। साथ ही भारत की खरिया, भील आदि जनजातियों में भी इसी प्रकार का परिवार पाया जाता है।

(ब) मातृक या मातृसत्तात्मक परिवार (Materiarchal family)—इस प्रकार के परिवार को मातृसत्तात्मक परिवार इस कारण कहते हैं क्योंकि इसमें पारिवारिक सत्ता स्त्री वर्ग की होती है। परन्तु मातृसत्ता का यह अर्थ कदापि नहीं है कि माता को आर्थिक, सामाजिक व राजनीतिक समस्त अधिकार प्राप्त होते हैं और पुरुषों को कुछ भी अधिकार प्राप्त नहीं होता है। वास्तव में पुरुष भी सामाजिक, राजनीतिक विषयों में सम्मानित पद को प्राप्त होते हैं और पुरुषोचित्त समस्त अधिकार पुरुषों का ही होता है। यह भी सम्भव है, जैसा कि श्री दुब ने लिखा है, कि सत्ता का उपयोग पुरुष स्त्रियों की ओर से करें। ये अधिकार वास्तविक होते हैं, अथवा वे नाम-मात्र के भी हो सकते हैं खासी, गारो, मालाबार के नायर आदि में इस प्रकार के परिवार पाये जाते हैं।

उत्तराधिकार के आधार पर परिवार के प्रकार (Types of family on the basis of Inheritance)

उत्तराधिकार के आधार पर भी परिवार के दो प्रमुख भेद हो सकते हैं।

(क) पितृमार्गी परिवार—इस प्रकार के परिवार में सामाजिक और पारिवारिक पद, उपाधियों तथा सम्पत्ति पर सम्पूर्ण अधिकार पिता का ही होता है और उसकी मृत्यु में बाद वह समस्त अधिकार पुत्र को प्राप्त होता है। हिन्दू परिवार इस प्रकार के परिवार का उत्तम उदाहरण है। भारत के खरिया, भील आदि में भी ऐसे परिवार पाए जाते हैं।

(ख) मातृमार्गी परिवार—इस प्रकार के परिवार में पुत्र को पिता से कोई सम्पत्ति नहीं मिलती है। सभी सम्पत्तिक अधिकार माता के सम्बन्ध से ही निश्चित होते हैं। परन्तु इसका आशय यह नहीं है कि साम्पत्तिक अधिकार केवल स्त्रियों को ही प्राप्त हैं, लड़कों को कुछ भी नहीं मिलता। ऐसे परिवारों में माता या भाई या बहन का लड़का (भानजा) सम्पत्ति का उत्तराधिकारी हो सकता है और होता है। भारत में खासी, गारो आदि जनजातियों में ऐसे परिवार पाए जाते हैं।

वंश-नाम के आधार पर परिवार के प्रकार

(Types of family on the basis of Nomenclature)

वंश-नाम के आधार पर परिवार के जो चार प्रकार के होते हैं वह निम्नवत् हैं

(अ) पितृनामी या पितृवंशीय परिवार (Patrilineal family)—ऐसे परिवार में वंश-नाम पिता के वंश के आधार पर होता है अर्थात् बच्चे अपने पिता के कुल या वंश के नाम को ग्रहण करते हैं। बच्चे अपने पिता के कुल या वंश के समझे जाते हैं, माता के कुल या वंश के नहीं। हम लोगों का अपना परिवार इसी प्रकार का होता है।

(ब) मातृनामी या मातृवंशीय परिवार (Matrilineal family)—ऐसे परिवार में बच्चों का वंश-परिचय या वंश-नाम माता के परिवार के नाम पर निर्धारित होता है। इसलिये बच्चे पिता के कुल के नहीं अपितु माता के वंश के समझे जाते हैं। संक्षेप में ऐसे परिवारों में माता के वंश का ही महत्त्व होता है, पिता गौण मात्र समझे जाते हैं। मालाबार के नायरो में ऐसे परिवार देखने को मिलता है।

(स) उभयवाही परिवार—कुछ परिवारों में वंश-परिचय वंशानुगत सम्बन्ध को महत्त्व न देते हुए सभी निकट के सम्बन्धियों पर वह समान रूप से आश्रित रहते हैं। ऐसे परिवारों को उभयवाही वंश के परिवार कहा जा सकता है।

(द) द्विनामी परिवार—कुछ समाजों में व्यक्ति को उसके माता व पिता दोनों के ही परिवारों के सदस्यों के कुछ विशिष्ट समूहों से सम्बन्धित कर दिया जाता है। अर्थात् द्विनामी परिवार में पिता और माता दोनों का ही वंश-नाम परम्परागत रूप में साथ-साथ चलता रहता है।

उपयुक्त चारों प्रकार के परिवार में जो अन्तर है, उसे डॉ० दुबे ने इस प्रकार स्पष्ट किया है—“पितृनामी परिवार में किसी भी व्यक्ति का केवल अपने पिता और दादा से सम्बन्ध रहता है तो मातृनामी परिवार में अपनी नानी से। उभयवाही वंश के परिवार में एक व्यक्ति का अपने दादा-दादी और नाना-नानी चारों सम्बन्धियों से समान रूप से सम्बन्ध रहता है, किन्तु द्विनामी वंश के परिवार से यह एक ही समय में अपनी दादी और अपनी नानी से सम्बद्ध रहता है, अन्य दो सम्बन्धी (दादा और नाना) छोड़ दिए जाते हैं।”

विवाह-सम्बन्ध के आधार पर परिवार के प्रकार

(Types of family on the basis of Marriage Relations)

(क) एक-विवाही परिवार (Monogamous family)—जब एक पुरुष एक स्त्री से विवाह करता है तो ऐसे विवाह से उत्पन्न परिवार को ‘एक-विवाह परिवार’ कहते हैं। आधुनिक भारतीय समाज में तो इस प्रकार का परिवार ‘सर्वस्वीकृत प्रतिमान’ के रूप में प्रतिष्ठित होता जा रहा है। भारत की जनजातियों में ऐसे परिवारों की संख्या अधिक नहीं है।

(ख) बहु-विवाही परिवार (Polygamous family)—जब एक स्त्री अथवा

पुरुष एक से अधिक पुरुषों या स्त्रियों से विवाह करते हैं तो ऐसे विवाह से उत्पन्न परिवार को 'बहु-विवाही परिवार' कहते हैं। इस प्रकार के परिवार के दो भेद हो सकते हैं—(अ) बहुपति-विवाही परिवार (Polyandrous family) जिसमें एक स्त्री एक से अधिक पुरुषों से विवाह करके घर बसाती है। उत्तर प्रदेश के जौनसार बावर के खस आदिवासियों में ऐसे परिवार पाये जाते हैं। (ब) बहुपत्नी-विवाही परिवार (Polygynous family) जिसमें कि एक पुरुष एक से अधिक स्त्रियों से विवाह करके परिवार की स्थापना करता है। ऐसे परिवार भारत के अधिकतर आदिवासी समाजों में पाये जाते हैं, विशेषकर नागा, गोंड, बैगा आदि में।

परिवार की सदस्य-संख्या के आधार पर परिवार के प्रकार

(Types of family on the basis of Number of Family Members)

परिवार की सदस्य-संख्या के आधार पर परिवार तीन प्रकार का हो सकता है—

(अ) मूल या केन्द्रीय परिवार (Primary or nuclear family)—यह परिवार का सबसे छोटा आधारभूत रूप है। इसमें एक विवाहित पति-पत्नी और उनके अविवाहित बच्चे ही आते हैं। इस प्रकार मूल परिवार की सदस्य-संख्या बहुत ही सीमित होती है। भारत के सभी नगरों में ऐसे परिवारों की भरमार है।

(ग) विवाह-सम्बन्धित परिवार (Conjugal family)—इस प्रकार के परिवार के सदस्यों में विवाहित पति-पत्नी और उनके बच्चे तो होते ही हैं, साथ ही विवाह द्वारा बने हुए कुछ रिश्तेदार भी आ जाते हैं। भारत में खरिया आदिवासी में ऐसे परिवार पाए जाते हैं।

(स) संयुक्त परिवार (Joint or extended family)—डॉ० दुबे के अनुसार, "यदि कई मूल परिवार एकसाथ रहते हों और इनमें निकट का नाता हो, एक ही स्थान पर भोजन करते हों और एक आर्थिक इकाई के रूप में कार्य करते हों तो उन्हें उनके सम्मिलित रूप से संयुक्त परिवार कहा जा सकता है।" परम्परागत हिन्दू परिवार इसी प्रकार का होता था और अब भी पर्याप्त संख्या में हैं।

मूल या केन्द्रीय परिवार

(Primary or Nuclear Family)

जैसा कि पहले ही लिखा जा चुका है कि मूल या केन्द्रीय परिवार, परिवार का सबसे छोटा और आधारभूत रूप है। सबसे छोटा इस अर्थ में कि इसकी सदस्य-संख्या एक विवाहित पति-पत्नी और उनके अविवाहित बच्चों तक ही सीमित होती है। इस अर्थ में पति-पत्नी और उनके अविवाहित बच्चों से बने एक छोटे आकार के परिवार को ही मूल या केन्द्रीय परिवार कहते हैं। यह परिवार का सबसे आधारभूत रूप होता है और वह इस अर्थ में कि परिवार के अन्य जितने भी रूप हमें देखने को मिलते हैं वे सभी इस केन्द्रीय परिवार के ही विस्तृत व परिवर्तित रूप होते हैं। परिवार का प्रारम्भ ही केन्द्रीय परिवार के रूप में होता है क्योंकि कम-से-कम पति-पत्नी के बिना हम किसी भी परिवार के निर्माण की कल्पना नहीं कर सकते। इनमें से किसी भी एक पक्ष के न रहने से परिवार का अस्तित्व ही खतरे में पड़ जाता है। हाँ, जब पति-पत्नी के बच्चे हो जाते हैं तो पति अथवा पत्नी इन बच्चों के साथ रहते हुए एक परिवार की निरन्तरता को बनाए रख सकते हैं। कभी-कभी पति-पत्नी में से किसी एक कि मृत्यु के पश्चात् पति या पत्नी पक्ष के कोई एक नाते-रिश्तेदार आकार

केन्द्रीय परिवार की निरन्तरता को बनाए रखने में सहायक होते हैं। पर यदि वास्तव में देखा जाय तो यह कहा जा सकता है कि इस प्रकार नाते-रिस्तेदार के सम्मिलित हो जाने पर वह परिवार वास्तव में केन्द्रीय परिवार नहीं रह जाता अपितु विवाह-सम्बन्धी परिवार (Conjugal family) का रूप धारण कर लेता है। यथार्थ में केन्द्रीय परिवार दूसरे नाते-रिस्तेदारों से मुक्त रहता है। कभी-कभी ऐसा भी होता है कि पति-पत्नी एकसाथ एक परिवार में रहते हैं, पर उनका अपना कोई बच्चा नहीं होता। ऐसी अवस्था में वे दूसरे के बच्चे को गोद ले लेते हैं। इस प्रकार के परिवार को भी, जिसमें पति-पत्नी तथा उनके गोद लिए बच्चे साथ-साथ रहते हैं, केन्द्रीय परिवार कहते हैं।

केन्द्रीय परिवार की सबसे उल्लेखनीय विशेषता इसका छोटा आकार है। इस अर्थ में यह संयुक्त या विस्तृत परिवार का एक विपरीत रूप है क्योंकि संयुक्त परिवार का आकार बड़ा होता है। केन्द्रीय परिवार की सदस्यता पति-पत्नी और उनके बच्चों तक सीमित होती है जबकि संयुक्त परिवार में तीन या अधिक पीढ़ियों के सदस्य सम्मिलित हो सकते हैं। संयुक्त परिवार में सम्मिलित सम्पत्ति, सम्मिलित आय, सम्मिलित वास आदि का समावेश होता है जबकि केन्द्रीय परिवार में व्यक्तिगत आय तथा अपने ही बीबी-बच्चों के साथ रहना होता है। केन्द्रीय परिवार मातृसत्तात्मक व पितृसत्तात्मक दोनों ही हो सकते हैं; पर सभ्य समाजों में यह पितृसत्तात्मक, पितृ-वंशीय तथा पितृस्थानीय ही होते हैं। पिता ही परिवार का कर्त्ता और सामान्य नियन्त्रक या संरक्षक होता है जबकि पत्नी तथा बच्चों को भी अपने-अपने स्थान पर उचित अधिकार प्राप्त होते हैं। अक्सर एक संयुक्त परिवार कई केन्द्रीय परिवारों में विभक्त होकर छिटक जाता है, विशेषकर औद्योगिक समाजों में और इस प्रकार अलग हो जाने के बाद भी वे एक-दूसरे के साथ सम्पर्क बनाये रखते हैं और विवाह, मृत्यु आदि सामाजिक उत्तरदायित्व के अवसरों पर एक स्थान पर मिलते हैं और प्रायः सम्पूर्ण उत्तरदायित्व में हिस्सा बँटाते हैं।

हिन्दू सामाजिक जीवन की एक मुख्य विशेषता संयुक्त परिवार प्रणाली है। वास्तव में इसका प्रचलन केवल हिन्दुओं में ही है; यह सोचना गलत होगा, क्योंकि हिन्दुओं की भाँति अनेक अहिन्दू समुदायों ने भी इसी प्रणाली को अपना लिया है। सर्वश्री कीथ और मैकडॉनल जैसे पाश्चात्य विद्वान् संयुक्त परिवार प्रणाली को अति प्राचीन मानते हैं। अनेक वैदिक मन्त्र ऐसे हैं जो इस प्रणाली की प्राचीनता को प्रमाणित करते हैं। विवाह के समय पुरोहित वर-वधू को आशीर्वाद देते हुये कहता है—“तुम यहीं इसी घर में रहो, वियुक्त मत होओ। अपने घर में पुत्रों और पौत्रों के साथ खेलते हुये और आनन्द मनाते हुये सारी आयु का उपभोग करो” (ऋ०, 10/85/42) तथा “तू सास, ससुर, ननद और देवर पर शासन करने वाली रानी बन” (वही, 46)। यदि विवाह के पश्चात् पुत्र के माता-पिता से पृथक् हो जाने की प्रथा होती, तो आशीर्वाद का कोई महत्व ही नहीं रहता। स्वापन और सामनस्य सूक्तों (अथर्व०, 3/30) से भी कुटुम्ब पद्धति का निर्देश प्राप्त होता है। कुछ भी हो, इतना अवश्य कहा जा सकता है, कि संयुक्त परिवार प्रणाली जाति-प्रथा की ही भाँति हिन्दू समाज का एक आधारभूत संगठन है और यही कारण है कि इस संगठन ने भी यहाँ के लोगों के जीवन को पर्याप्त प्रभावित किया है।

संयुक्त परिवार का अर्थ

(Meaning of Joint Family)

संयुक्त परिवार की परिभाषा के सम्बन्ध में आज कुछ मतभेद स्पष्ट हैं। श्रीमती इरावती कार्वे (Smt. Iravati Karve) के अनुसार, “एक संयुक्त परिवार उन व्यक्तियों का एक समूह है जो साधारणतया एक मकान में रहते हैं, जो एक रसोई में पका भोजन करते हैं, जो सामान्य सम्पत्ति के स्वामी होते हैं, और जो सामान्य उपासना में भाग लेते हैं, तथा जो किसी-न-किसी प्रकार एक-दूसरे के रक्त सम्बन्धी हैं।”¹

इसके विपरीत डॉ० आई० पी० देसाई (Dr. I. P. Desai) का मत यह है कि विभिन्न प्रकार के परिवारों का आधार सामान्य निवास, सामान्य पाठशाला या

1. “A joint family is a group of people who generally live under one roof, who eat food cooked at one hearth, who hold property in common and who participate in common worship and are related to each other as some particular type of kindred.”—Dr. I. Karve, *Kinship Organization in India*, p. 10.

समूह के सदस्यों की संख्या नहीं है।¹ आपने केवल परिवार के आकार या सदस्यों की संख्या के आधार पर किसी परिवार को संयुक्त या मूल परिवार (primary or nuclear family) मान लेने पर विशेष आपत्ति की है। आपके अनुसार नातेदारी (kinship), पीढ़ियों की संख्या (generation depth), सम्पत्ति, आय तथा पारस्परिक सहयोग के आधार पर ही परिवारों का विभाजन उचित होगा। इसी दृष्टिकोण से अपने संयुक्त परिवार की परिभाषा इस प्रकार की है—“हम उस परिवार को संयुक्त परिवार कहते हैं जिसमें मूल परिवार से अधिक पीढ़ियों के सदस्य (अर्थात् तीन या अधिक पीढ़ियों के सदस्य) सम्मिलित हों तथा उनके सदस्य एक-दूसरे से सम्पत्ति, आय तथा पारस्परिक अधिकारों एवं कर्तव्यों के द्वारा सम्बन्धित हों।”³

डॉक्टर शर्मा के अनुसार डॉक्टर देसाई की उपरोक्त परिभाषा का प्रमुख दोष यह है कि इसमें डॉक्टर देसाई ने पीढ़ी की गहराई पर ही अत्यधिक बल दिया है। उनके अनुसार ऐसा परिवार संयुक्त परिवार नहीं माना जाएगा, जिसमें दो भाई एक-साथ रहते हैं, साथ ही खाते हैं, और आय तथा सम्पत्ति के दृष्टिकोण से भी संयुक्त हैं। वास्तव में डॉक्टर देसाई ने संयुक्त परिवार प्रणाली को एक सीमित दायरे के अन्दर लाकर छोड़ दिया है। व्यावहारिक रूप से संयुक्त परिवार प्रणाली का क्षेत्र इससे कहीं व्यापक है।

डॉ० श्यामाचरण दुबे (Dr. S. C. Dubey) के अनुसार, “यदि कई मूल-परिवार एकसाथ रहते हों, और इनमें निकट का नाता हो, एक ही स्थान पर भोजन करते हों और एक आर्थिक इकाई के रूप में कार्य करते हों, तो उन्हें उनके सम्मिलित रूप में संयुक्त परिवार कहा जा सकता है।”

सामान्यतः, संयुक्त परिवार संयुक्त संगठन के आधार पर निकट के नाते-रिश्तेदारों की एक सहयोगी व्यवस्था है, जिसमें सम्मिलित सम्पत्ति, सम्मिलित वास, अधिकारों तथा कर्तव्यों का समावेश होता है।

उपरोक्त परिभाषाएँ समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण से हैं और इस अध्याय में संयुक्त परिवार का जो विश्लेषण प्रस्तुत किया गया है, वह इसी दृष्टिकोण पर आधारित है। फिर भी कानून दृष्टिकोण का भी उल्लेख किया जा सकता है। कानूनी दृष्टिकोण से यह आवश्यक नहीं है कि एक संयुक्त परिवार के सभी सदस्य एक ही रसोई में पका भोजन करते हों, पूजा या उपासना के दृष्टिकोण से संयुक्त हों तथा उनकी सम्पत्ति भी संयुक्त हो। ये सब कुछ न होते हुये भी एक परिवार संयुक्त परिवार कहा जा सकता है। हिन्दू कानून के अनुसार एक संयुक्त परिवार के अन्दर वे सब व्यक्ति आते हैं जो एक सामान्य पूर्वज के वंशज हैं (इनमें उनकी पत्नियाँ और अविवाहित लड़कियाँ भी सम्मिलित हैं) और उन्हें संयुक्त रूप में एक संयुक्त परिवार तब तक माना जाएगा जब तक कि यह सिद्ध न हो जाए कि उस परिवार के सदस्य

2. “We have shown that the type of the family is not to be determined by the fact of co-residence, commensality or the size of the group.”
—I. P. Desai, *The Joint Family in India*, an article in *Sociological Bulletin*, Vol. V. No. Z., Sept. 1947., p. 148.

3. “We call that household a joint family which has greater generation depth (i. e. three or more) than the nuclear family and the members of which are related to one another by property, income, and the mutual rights and obligations.”—*Ibid.*, p. 148.

विभाजित हो गए हैं। इन सदस्यों की सम्पत्ति अगर संयुक्त है तो अच्छा ही है, पर यदि सम्पत्ति संयुक्त न भी हो, तो भी एक परिवार संयुक्त बना रहता है। उसी प्रकार संयुक्त परिवार के सदस्य सामान्य रूप से धार्मिक कार्यों को संयुक्त रूप में करते हैं और एकसाथ भोजन करते हैं। परन्तु भोजन और पूजा के दृष्टिकोण से अगर वे अलग भी हैं तो भी एक हिन्दू परिवार संयुक्त रह सकता है। संक्षेप में सामान्यतः संयुक्त परिवार के सदस्य संयुक्त सम्पत्ति, भोजन तथा पूजा के आधार पर संयुक्त रहते हैं, परन्तु परिवार का संयुक्त रूप होने के लिए इन सबका संयुक्त होना अनिवार्य नहीं है।

संयुक्त परिवार की प्रमुख विशेषताएं

(Main features of Joint Family)

1. बड़ा आकार (Larger size)—यद्यपि श्री देसाई ने बड़े आकार को संयुक्त परिवार का आधार नहीं माना है फिर भी अगर हम हिन्दू संयुक्त परिवार के परम्परात्मक स्वरूप को देखें तो स्पष्ट होगा कि एक संयुक्त परिवार में पिता, पुत्र, उसके पुत्र और इनसे सम्बन्धित स्त्रियों और अन्य नाते-रिश्तेदारों का समावेश है। इस प्रकार संयुक्त परिवार का आकार साधारणतया बड़ा ही होता है। इसीलिए डॉ० दुबे ने अपनी परिभाषा में यह स्पष्टतः उल्लेख किया है कि 'उस परिवार को संयुक्त परिवार कहा जा सकता है जिसमें कई मूल परिवार एकसाथ रहते हों।

2. सहयोगी व्यवस्था (Co-operative Organisation)—संयुक्त परिवार का आधार सहयोग है क्योंकि इसमें एकाधिक सदस्य होते हैं और यदि वे आपस में सहयोग न करें तो परिवार का संगठन व व्यवस्था कायम न रह सके। इसी सहयोग का परिणाम यह होता है कि दूसरे प्रकार के परिवार जिन आर्थिक-सामाजिक कार्यों को नहीं कर सकते, संयुक्त परिवार के लिये वे ही कार्य करना सरल हो जाता है।

3. सम्मिलित सम्पत्ति (Common Property)—संयुक्त परिवार में सम्पत्ति सम्मिलित रूप में होती है, जब तक कि कोई सदस्य अपना अनुबन्ध संयुक्त परिवार से न तोड़ ले और सम्पत्ति के बंटवारे की मांग करे। इस विशेषता के विकसित और सुदृढ़ होने का एक महत्वपूर्ण कारण यह था कि यह आर्थिक दृष्टि से अत्यन्त उपयोगी थी। संयुक्त परिवार में रहने वाले सभी व्यक्ति सम्मिलित सम्पत्ति से लाभ उठाते हैं तथा उनका पालन-पोषण व अन्य आवश्यकताओं की पूर्ति होती रहती है। इस सम्बन्ध में एक बात स्मरणीय है कि न तो संयुक्त परिवार के सब सदस्यों का इस सम्मिलित सम्पत्ति पर अधिकार होता है और न ही सबके अधिकार समान होते हैं। फिर भी कहा जा सकता है कि सम्मिलित सम्पत्ति संयुक्त परिवार की एक उल्लेखनीय विशेषता है। सम्पत्ति के बंटवारे का अर्थ ही संयुक्त परिवार का विघटन है। सम्मिलित सम्पत्ति संयुक्त परिवार के संगठन की जड़ को मजबूत करती है, संयुक्त परिवार की कानूनी परिभाषा में भी यह स्वीकार किया गया है कि यद्यपि परिवार का संयुक्त रूप होने के लिये सम्पत्ति का संयुक्त होना अनिवार्य नहीं है फिर भी संयुक्त सम्पत्ति परिवार के संयुक्त रूप को सहारा अवश्य ही देती है।

4. सामान्य वास (Common residence)—कानूनी दृष्टिकोण से संयुक्त परिवार का एक सामान्य वास भी होना चाहिये, अर्थात् परिवार के सब सदस्य एक ही घर में रहते हों। कुछ विद्वानों का मत है कि यदि कुछ भाइयों का अविभाजित (undivided) पैतृक गृह या निवास है और उनकी एक संयुक्त सम्पत्ति भी है तो चाहे वे

भाई अलग-अलग शहरों में नौकरी करने के लिए वहाँ रहते ही क्यों न हो, फिर भी वे संयुक्त परिवार का निर्माण करेंगे। डॉ० देसाई ने भी लिखा है कि संयुक्त परिवार का यह कोई आवश्यक लक्षण नहीं है कि परिवार के सभी सदस्य एक ही घर में रहते हों। हम डॉ० देसाई के मत से सहमत नहीं हैं क्योंकि अलग-अलग घर में पृथक् रूप में रहने वाले व्यक्ति मूल या केन्द्रीय परिवारों (nuclear or primary families) का निर्माण करते हैं और अनेक मूल परिवारों के संकलन को तब तक संयुक्त परिवार नहीं कहा जा सकता जब तक वे परिवार 'एकसाथ न रहते हों'। डॉ० दुबे ने अपनी उपरोक्त परिभाषा में संयुक्त परिवार के इस पक्ष का स्पष्टतः उल्लेख किया है और यही सत्य है। अगर दूर-दूर छिटे मूल परिवारों को संयुक्त परिवार मान लिया जाए, तो भारतवर्ष के ही नहीं अपितु दुनिया के अधिकतर मूल परिवारों को संयुक्त परिवार कहना पड़ेगा। तो फिर क्यों संयुक्त परिवार के विघटन की इतनी चर्चा आज हो रही है ?

5. सामान्य सामाजिक तथा धार्मिक कर्तव्य (Common social and religious obligations) — सामान्यतः संयुक्त परिवार के सब सदस्य एक धर्म को मानते हैं और उसी धर्म से सम्बन्धित कर्तव्यों को सम्मिलित रूप से निभाते हैं। साथ ही, प्रत्येक सामाजिक कर्तव्य के विषय में भी उनका एक सम्मिलित सहयोग या योगदान रहता है; उदाहरणार्थ, सामाजिक उत्सवों तथा त्यौहारों को वे एकसाथ मानते हैं, विवाह आदि पारिवारिक संस्कारों के विषय में भी अपने को सम्मिलित रूप से उत्तरदायी समझते हैं; भारत के ग्रामीण समुदायों में पाए जाने वाले संयुक्त परिवारों में यह विशेषता विशेष रूप से देखने को मिलती है। सम्बन्धित अनुसंधानों से पता चलता है कि भारतीय श्रमिकों की प्रवासी प्रवृत्ति (migratory character) का एक प्रमुख कारण संयुक्त परिवार की उक्त विशेषता है। चूँकि उत्सवों, त्यौहारों तथा विवाह आदि पारिवारिक संस्कारों के अवसरों पर परिवार के अन्य सदस्यों के साथ सम्मिलित होना और आवश्यक कार्यों में हाथ बँटाना श्रमिक अपना कर्तव्य समझता है, इसीलिए उसे समय-समय पर शहर छोड़कर अपने गाँव जाना ही पड़ता है।

6. एक उत्पादक इकाई (A productive unit) — परम्परात्मक आधार पर संयुक्त परिवार की एक और विशेषता यह है, कि यह एक उत्पादक इकाई भी होता है। यह बात विशेषकर कृषि समाज के सम्बन्ध में बहुत ही सच है। वहाँ एक संयुक्त परिवार के सभी सदस्य एक या एकाधिक सामान्य (common) खेत को जोतते और बोते हैं और एक साथ मिलकर ही फसल काटते हैं। कारीगर वर्गों जैसे जुलाहों, बढ़इयों, लोहारों आदि में भी सम्पूर्ण परिवार एक उत्पादक इकाई होता है; उत्पादन का कार्य पारिवारिक आधार (family basis) पर होता है और इस कार्य को परिवार के सभी लोग — पुरुष, स्त्रियाँ तथा बच्चे — एकसाथ मिलकर करते हैं। श्रम का जो भी प्रतिफल मिलता है उसे भी सब साथ मिलकर उपभोग करते हैं, उस प्रतिफल में कोई अलग-अलग हिस्सा नहीं लगता है और न ही कोई सदस्य इस प्रकार की कोई माँग करता है।

7. पारस्परिक अधिकार और कर्तव्य-बोध (Mutual rights and obligation) — संयुक्त परिवार में कर्त्ता को छोड़कर किसी का भी विशेष अधिकार नहीं होता। प्रत्येक सदस्य का एक पारस्परिक अधिकार संयुक्त परिवार की एक प्रमुख विशेषता है। 'प्रत्येक से उसकी क्षमता के अनुसार और प्रत्येक को उसकी आवश्यकता

के अनुसार', इसी सिद्धान्त पर संयुक्त परिवार आधारित होता है। इतना ही नहीं, संयुक्त परिवार के समस्त सदस्य एक-दूसरे के प्रति अपने कर्तव्य के सम्बन्ध में सचेत रहते हैं। इसके अन्तर्गत प्रत्येक सदस्य की एक निश्चित स्थिति और उत्तरदायित्व होता है तथा इसके अनुसार ही प्रत्येक सदस्य अपने को एक-दूसरे से सम्बन्धित समझता है। 'प्रत्येक के लिये सब और सबके लिये' प्रत्येक यही संयुक्त परिवार का आदर्श तत्त्व है।

8. आर्थिक स्थिरता और सांस्कृतिक निरन्तरता (Economic stability and cultural continuity)—संयुक्त परिवार के सदस्यों के संगठित और सम्मिलित रूप से रहने और कार्य करने के कारण ऐसे परिवारों में आर्थिक स्थिरता अधिक पाई जाती है। इसका कारण भी स्पष्ट है। अधिकतर संयुक्त परिवारों में एक से अधिक कमाने वाले होते हैं और सबकी कमाई को मिलाकर एक सामान्य कोष का निर्माण होता है जिसके फलस्वरूप उस परिवार में आर्थिक स्थिरता आप-से-आप उत्पन्न हो जाती है क्योंकि किसी एक की कमाई बन्द हो जाने से सम्पूर्ण परिवार के आर्थिक साधन समाप्त नहीं हो जाते हैं। उसी प्रकार संयुक्त परिवार के द्वारा समाज के सांस्कृतिक तत्त्व की भी निरन्तरता बनी रहती है क्योंकि परम्परात्मक सभी आचार, प्रथा और व्यवहारों को पिता से पुत्र और पुत्र से उसके पुत्र सीखते जाते हैं। वास्तव में संयुक्त परिवार का एक सांस्कृतिक प्रतिमान हुआ करता है, चाहे इसका रूप व स्वरूप कितन ही सीमित क्यों न हो और वचन से ही संयुक्त परिवार के प्रत्येक सदस्य पर अन्य वयस्क सदस्यों का एक ऐसा निरन्तर प्रभाव व दबाव पड़ता रहता है जिसके फलस्वरूप प्रत्येक सदस्य पारिवारिक जीवन से सम्बन्धित सांस्कृतिक तत्त्वों अर्थात् आचार प्रथा, परम्परा, धर्म आदि को ग्रहण करता रहता है। इस रूप में विशेषकर पारिवारिक और सामान्य रूप से सामाजिक-सांस्कृतिक तत्त्व की निरन्तरता बनी रहती है।

संक्षेप में, ये ही संयुक्त परिवार की प्रमुख विशेषताएँ हैं। परन्तु इस सम्बन्ध में यह स्मरण रहे कि संयुक्त परिवार की उपरोक्त सभी विशेषतायें परम्परात्मक दृष्टिकोण से हैं; आधुनिक संयुक्त परिवारों में इन विशेषताओं में कुछ हेर-फेर हो गई है।

संयुक्त परिवार के प्रकार

(Kinds of Joint Family)

1. पारिवारिक सत्ता के आधार पर संयुक्त परिवार के दो भेद हैं—

(अ) मातृसत्तात्मक या मातृवंशीय संयुक्त परिवार (Matriarchal or Matrilineal joint family)—इस प्रकार के परिवार को मातृसत्तात्मक परिवार इस कारण कहते हैं क्योंकि इसमें पारिवारिक सत्ता स्त्री की होती है। साथ ही ऐसे परिवारों में बच्चे अपनी माता के कुल या वंश का नाम ग्रहण करते हैं; इस कारण ऐसे परिवार को मातृवंशीय परिवार भी कहते हैं। साथ ही इसमें माता की ओर के सभी सदस्य निवास करते हैं। सर्वस्त्री मैकाइवर तथा पेजने मातृसत्तात्मक या मातृवंशीय परिवार की जन्मलिखित विशेषताओं का उल्लेख किया है—(1) ऐसे परिवार में बच्चों का वंश-परिचय या वंश-नाम माता के परिवार के आधार पर निर्धारित होता है। इसलिये बच्चे पिता के कुल या वंश के नहीं अपितु माता के वंश के समझे जाते हैं। (2) ऐसे परिवारों में एक स्त्री या उसके भाई, बहनें तथा परिवार की सब स्त्रियों के बच्चे आते हैं। (3) मातृसत्तात्मक संयुक्त परिवार में पुत्र को पिता से कोई सम्पत्ति नहीं मिलती है। सभी साम्प्रतिक अधिकार माता के ही सम्बन्ध से निश्चित होते हैं। परन्तु इसका आशय यह नहीं है कि साम्प्रतिक अधिकार केवल स्त्रियों को ही प्राप्त हैं, लड़कों

को कुछ भी नहीं मिलता। ऐसे परिवारों में माता का भाई या बहन का लड़का (भानजा) सम्पत्ति का उत्तराधिकारी हो सकता है और होता भी है। (4) सामाजिक सम्मान के विभिन्न पद और उपाधियाँ पुत्र के स्थान पर भानजे को मिलती हैं। द्रावणकोर-कोचीन राज्यों का उत्तराधिकारी राजा का लड़का नहीं बल्कि उसकी बहन का लड़का होता है। (5) मातृसत्ता का यह अर्थ नहीं है कि माता को आर्थिक, सामाजिक व राजनीतिक समस्त अधिकार प्राप्त होते हैं और पुरुषों को कुछ भी अधिकार नहीं होता। वास्तविकता तो यह है कि पुरुष भी सामाजिक, राजनीतिक आदि विषयों में सम्मानित पद को प्राप्त होते हैं और पुरुषोचित समस्त अधिकार पुरुषों का ही होता है।

भारतवर्ष में इस प्रकार के संयुक्त परिवार खासी, गारो आदि जनजातियों में तथा मालाबार के नायरों में मिलते हैं। खासी लोग मातृवंशीय हैं और वे अपनी वंश-परम्परा स्त्री-वंश से मानते हैं। उनका देवता भी स्त्री होती है। एक खासी परिवार में माता, उसके अविवाहित बच्चे, उसका पति, विवाहित लड़कियों और उनके पति होते हैं। एक परिवार में जो कुछ भी उसके पुरुष या स्त्री सदस्य कमाते हैं उस पर संयुक्त अधिकार और नियन्त्रण परिवार की सबसे बड़ी स्त्री सदस्य का ही होता है। सम्पत्ति का उत्तराधिकारी भी किसी पुरुष को, चाहे वह पति के रूप में हो या पुत्र के रूप में हो, नहीं मिलता है। माता के मरने पर सम्पत्ति के उत्तराधिकारी लड़के या पति नहीं, अपितु लड़कियाँ होती हैं। पुरुष अपनी सारी कमाई शादी से पहले अपनी माता को और शादी के बाद अपनी पत्नी को देते हैं। चूंकि सब भाई और लड़के अन्त में अपनी-अपनी पत्नी के घर चले जाते हैं और चूंकि पति एक दूसरे परिवार से आकर बसता है, इसलिये भाई, पुत्र या पति को धार्मिक क्रियाओं में कोई भाग अदा करने को नहीं दिया जाता है और पुरोहितों का प्रधान कार्य स्त्रियाँ करती हैं। इस विषय में परिवार की सबसे छोटी लड़की का महत्व सबसे अधिक होता है और इसीलिये उसी को अपनी माँ की सम्पत्ति का अधिकतर भाग मिलता है।

मातृसत्तात्मक परिवार मालाबार के नायरों में पाया जाता है। नायर स्त्री अपने घर या परिवार की मालकिन होती है और विवाह के बाद भी परिवार को छोड़कर पति के घर नहीं जाती। वंश और सम्पत्ति सम्बन्धी अधिकार माता की ओर से निश्चित होते हैं और पिता को अपनी सन्तानों पर कोई अधिकार नहीं होता है। माता का अधिकार पारिवारिक मामलों में, आर्थिक अधिकारों में और वंशावली या वंश-नाम के सम्बन्ध में सर्वोच्च होता है। उदाहरणार्थ, राज-परिवारों में राज्य का उत्तराधिकारी राजा का लड़का नहीं, बल्कि राजा की बहन का लड़का होता है।

(ब) पितृसत्तात्मक या पितृवंशीय संयुक्त परिवार (Patriarhal or Patri-lineal joint family) — चूंकि ऐसे परिवारों में सत्ता या अधिकार पति या पिता के हाथ में रहता है इस कारण इसे पितृसत्तात्मक संयुक्त परिवार कहते हैं। ऐसे परिवारों में वंश-नाम पिता के वंश के आधार पर होता है, अर्थात् बच्चे अपने पिता के कुल या वंश के नाम को ग्रहण करने हैं। इस कारण ऐसे परिवार पितृवंशीय परिवार कहलाते हैं। इस प्रकार के परिवार की निम्नलिखित विशेषतायें हैं—(1) ऐसे परिवार में बच्चों का वंश-परिचय पिता के परिवार पर निर्भर होता है। बच्चे अपने पिता के कुल या वंश के समझे जाते हैं, माता के वंश या कुल के नहीं। (2) ऐसे परिवारों में पिता, उसके भाई, उन सबके लड़के, इन लड़कों के बच्चे तथा इन सबकी पत्नियाँ और अविवाहित लड़कियाँ आती हैं। (3) ऐसे परिवार में बच्चों का अपने पिता की सम्पत्ति

पर अधिकार होता है; माता के परिवार की सम्पत्ति पर उनका कोई अधिकार नहीं होता। (4) सामाजिक और पारिवारिक पद और उपाधियाँ पुत्र को ही प्राप्त होती हैं। इस विषय में परिवार के सबसे बड़े लड़के का स्थान व अधिकार सबसे पहले होता है। (5) पारिवारिक मामलों में तथा सम्पत्ति के सम्बन्ध में सम्पूर्ण अधिकार पिता का ही होता है। उसे ही इन विषयों में निर्णय लेने का अधिकार है। भारत के अधिकांश भाग में रहने वाले हिन्दुओं में तथा भारत की अधिकांश जनजातियों में पितृसत्तात्मक या पितृवंशीय संयुक्त परिवार पाये जाते हैं।

उड़ीसा के पहाड़ी प्रदेश में रहने वाली खसिया जनजाति में पितृसत्तात्मक संयुक्त परिवारों का विशिष्ट विस्तार है। पिता का स्थान परिवार के अन्य सभी सदस्यों से महत्वपूर्ण होता है। वंश पिता के द्वारा स्थापित होता है। समस्त सम्पत्ति का मालिक पिता और उसकी मृत्यु के बाद उसके लड़के होते हैं। पिता या परिवार का सबसे बड़ा पुरुष सदस्य ही परिवार का मुखिया होता है और परिवार की अच्छाई-बुराई का उत्तरदायित्व उस पर ही होता है। जिस प्रकार वंश-नाम, निवास-अधिकार तथा उत्तराधिकार के विषय में पति की स्थिति सर्वोच्च है, उसी प्रकार परिवार को चलाने के मामले में या पारिवारिक जीवन के रोज के विषयों में स्त्रियाँ भी महत्वपूर्ण तथा स्वतन्त्र पाठ अदा करती हैं। परन्तु पारिवारिक मामलों को छोड़कर, अन्य विषयों में, विशेषकर धार्मिक विषयों में स्त्रियों की अनेक नियोग्यतायें होती हैं। धार्मिक कृत्यों में स्त्रियाँ भाग नहीं ले सकती हैं।

परन्तु पितृसत्तात्मक या पितृवंशीय संयुक्त परिवार का आदर्श प्ररूप (ideal type) हिन्दू समाज में देखने को मिलता है। इसमें पाये जाने वाले पितृसत्तात्मक संयुक्त परिवार की संरचना के सम्बन्ध में हम आगे विवेचना करेंगे।

2. पैतृक सम्पत्ति में अधिकार की दृष्टि से हिन्दू संयुक्त परिवार को दो प्रधान भागों में बांटा जा सकता है—मिताक्षरा (Mitakshara) और दायभाग।

(क) मिताक्षरा संयुक्त परिवार जिन सिद्धान्तों पर आधारित है उनका प्रधान आधार याज्ञवल्क्य स्मृति पर विज्ञानेश्वर द्वारा 1070-1100 ई० के बीच में लिखी हुई मिताक्षरा नामक टीका है। ये सिद्धान्त बंगाल, आसाम को छोड़कर सम्पूर्ण भारत में प्रामाणिक माने जाते हैं। श्री हरिदत्त वेदालंकार ने इस प्रकार के संयुक्त परिवारों की निम्नलिखित विशेषताओं का उल्लेख किया है— (1) अविभक्त परिवार में पैतृक सम्पत्ति पर सभी साक्षीदारों का संयुक्त स्वामित्व होता है। एक व्यक्ति को जन्म से ही पैतृक सम्पत्ति पर अधिकार मिल जाता है। इसलिये परिवार में नई सन्तानों (उत्तराधिकारियों) के जन्म लेने या वृद्धजनों के मर जाने से सम्पत्ति पर अधिकार रखने वालों की संख्या बढ़ती-घटती रहती है। अतः इसमें साक्षीदारों का हिस्सा कभी निश्चित नहीं रहता, उनकी संख्या के अनुसार घटता-बढ़ता रहता है। (2) इसकी दूसरी विशेषता अतिजीविता (survivorship) द्वारा सम्पत्ति का संक्रमण है। एक हिस्सेदार के मरने पर उसका हिस्सा उसके बाद जीवित रहने वाले (अतिजीवी) अन्य शरीकों या समो-शियों को मिल जाता है, बशर्ते कि मृत सम्बन्धी का कोई पुत्र, पौत्र या प्रपौत्र न हो। नारद (13/25) ने स्पष्ट रूप से यह कहा है कि यदि कई भाइयों में से एक भाई बिना किसी पुत्र रखे अर्थात् अपुत्र ही मर जाये अथवा संन्यासी हो जाये तो स्त्री घन के

अतिरिक्त उसकी सम्पत्ति उसके भाई बांट लेवें। मिताक्षरा ने इस व्यवस्था को मान लिया। (3) इसमें स्त्रियों को पुरुष उत्तराधिकारियों के समान सम्पत्ति पर अधिकार नहीं होता है, भले ही वे मृत व्यक्ति की माता या स्त्री क्यों न हों। मिताक्षरा के अनुसार एक पुरुष के तीसरी पीढ़ी तक के पुरुष वंशज ही सम्पत्ति में अधिकार रखते हैं। सन् 1937 के 'हिन्दू स्त्रियों का सम्पत्ति पर अधिकार अधिनियम' (The Hindu Women's Right to Property Act, 1937) के लागू होने के फलस्वरूप मिताक्षरा की इस विशेषता में यह परिवर्तन हो गया है कि यदि एक हिन्दू संयुक्त परिवार की सम्पत्ति में अपना हिस्सा छोड़कर मर जाता है तो उसकी विधवा स्त्री को अब उसका उत्तराधिकार मिल जाता है। पर यह उत्तराधिकार सीमित है; वह केवल अपने जीवन-काल में इस उत्तराधिकार के फलस्वरूप प्राप्त सम्पत्ति का उपभोग तो कर सकती है, पर वह उसे न किसी को दे सकती है और न बेच सकती है; फिर भी धार्मिक कर्तव्यों को निभाने के लिये ये दोनों कार्य भी किए जा सकते हैं। (4) इसकी एक अन्य विशेषता शरीकों या समाशियों द्वारा सम्पत्ति का बँटवारा करवाने का अधिकार है। पुत्रों का जन्म से ही पैतृक सम्पत्ति पर अधिकार है, वे उसकी माँग किसी भी समय कर सकते हैं। (5) सम्पत्ति के विनियोग (investment) पर पिता का सीमित अधिकार है। वह धार्मिक कार्यों के हेतु लिये गये विशेष ऋणों के चुकाने के लिये ही संयुक्त सम्पत्ति का विक्रय कर सकता है। किन्तु अन्य शरीक या हिस्सेदार संयुक्त सम्पत्ति में अपने स्वत्व का, दूसरे हिस्सेदारों से बिना पूछे, अपनी इच्छानुसार विनियोग नहीं कर सकते।

(ख) दाय भाग संयुक्त परिवार जिन सिद्धान्तों पर आधारित है उनका प्रधान आधार सन् 1090-1130 के बीच में जीमूतवाहन द्वारा लिखित दायभाग ग्रन्थ है। बंगाल और आसाम में इस प्रकार के परिवार पाये जाते हैं। इस प्रकार के परिवार में पैतृक सम्पत्ति में अधिकार का सिद्धान्त मिताक्षरा के विपरीत है। इन परस्पर विरोधी सिद्धान्तों का मूल कारण, जैसाकि प्रो० वेदालंकार ने लिखा है, सम्पत्तिवाची 'दाय' शब्द की दोहरी व्याख्या है।¹⁸ मिताक्षरा सम्प्रदाय के प्रवर्तक विज्ञानेश्वर के मतानुसार 'दाय' वह सम्पत्ति है, जिस पर स्वामी के साथ सम्बन्ध मात्र के कारण ही दूसरे व्यक्ति का स्वामित्व स्थापित हो जाता है। पिता की सम्पत्ति पर पुत्र का अधिकार पिता के साथ उसका सम्बन्ध होने के कारण है और यह सम्बन्ध जन्म से उत्पन्न होता है। अतः सम्पत्ति पर जन्म से ही अधिकार समझना चाहिये। दूसरी ओर दायभाग के प्रवर्तक जीमूतवाहन 'दाय' शब्द की व्युत्पत्ति दानार्थक 'दा' धातु से करते हुए कहते हैं कि 'जो दिया जाए, वह दाय है', दान देने वाला व्यक्ति अपने अधिकार का त्याग करता है, इस प्रकार सम्पत्ति का स्वामी जब उस सम्पत्ति पर से अपना अधिकार त्यागता है, तभी नए व्यक्ति के अधिकार की उत्पत्ति होती है। सम्पत्ति में अधिकार पाने के लिये यह आवश्यक है कि उस पर जिस व्यक्ति का अधिकार है उसके अधिकार या स्वत्व की समाप्ति हो; क्योंकि इसके बिना नया स्वत्व पैदा नहीं हो सकता। अतः जब पिता की मृत्यु से सम्पत्ति पर उसका अधिकार या स्वत्व समाप्त होता है, उसी समय पुत्र का उस पर अधिकार पैदा होता है, उसके पहले या जन्म से नहीं। इसी से दायभाग संयुक्त परिवार की विशेषतायें स्पष्ट हैं—(1) पिता के मरने पर ही पुत्र को संयुक्त सम्पत्ति पर अधिकार प्राप्त होता है। जब तक पिता जीवित है तब तक सम्पत्ति पर

पुत्रों का कोई भी अधिकार नहीं होता। इस सिद्धान्त की पुष्टि करते हुये दायभाग के समर्थक कहते हैं कि मनुस्मृति (9/104) और नारदस्मृति की यह व्यवस्था है कि पुत्र सम्पत्ति का बंटवारा पिता के मरने पर ही करें; क्योंकि वे पिता के जीवित रहते हुए सम्पत्ति के स्वामी नहीं हैं। देवल ने भी ऐसी ही व्यवस्था की है। (2) दायभाग संयुक्त परिवार में पुत्र पिता के जीवनकाल में पैतृक सम्पत्ति के बंटवारे की माँग नहीं कर सकते हैं क्योंकि यह अधिकार उन्हें पिता की मृत्यु के बाद ही प्राप्त होता है। (3) पिता का सम्पत्ति पर पूर्ण अधिकार होता है। लड़कों का भरण-पोषण के अतिरिक्त उस सम्पत्ति पर कोई अधिकार नहीं है। इस अर्थ में सम्पत्ति के विनियोग पर पिता का अधिकार असीमित है। पिता पैतृक और स्वर्जित दोनों प्रकार की सम्पत्ति का अपनी इच्छानुसार विनियोग, दान, विक्रय आदि कर सकता है। (4) इसमें पिता के मरने पर सब समांशी भाइयों का हिस्सा निश्चित होता है और यदि उन्हीं पिता का कोई भी पुत्र नहीं है तो अतिजीविता के सिद्धान्त के अनुसार यह दूसरे शरीकों को न मिलकर मृत व्यक्ति के उत्तराधिकारियों को ही मिलता है। पुत्र न होने पर विधवा स्त्री को हिस्सा मिलता है। (5) इसमें मिताक्षरा की भाँति केवल पुरुष ही नहीं बल्कि स्त्रियाँ भी सम्पत्ति में उत्तराधिकारिणी होती हैं।

उपरोक्त विवेचना के आधार पर मिताक्षरा और दायभाग संयुक्त परिवारों के निम्न अन्तर्गत्तों का उल्लेख किया जा सकता है¹⁶ —

(1) मिताक्षरा के अन्तर्गत पुत्र का जन्म लेते ही पैतृक सम्पत्ति पर अधिकार या स्वत्व उत्पन्न हो जाता है, अतः यह मत जन्मस्वत्ववाद कहलाता है। इसके विपरीत दायभाग संयुक्त परिवार में पिता की मृत्यु (उपरम) के बाद ही पुत्रों को सम्पत्ति में अधिकार मिलता है; अतः यह मत उपरमस्वत्ववाद कहलाता है। विज्ञानेश्वर और जीमूतवाहन से पहले भी ये दो विचारधाराएँ (जन्मस्वत्ववाद तथा उपरमस्वत्ववाद) चली आ रही थीं, किन्तु इन्होंने सर्वप्रथम सुस्पष्ट प्रतिपादन द्वारा इन्हें अपने प्रदेशों में सर्वमान्य सिद्धांत बनाया। अतः स्पष्ट है कि मिताक्षरा के अन्तर्गत पैतृक सम्पत्ति पर पिता के साथ पुत्रों का भी समान अधिकार पिता की जीवित अवस्था में ही हो जाता है, जबकि दायभाग के अन्तर्गत पैतृक सम्पत्ति पर पिता की जीवित अवस्था में पुत्रों का कोई अधिकार नहीं होता, पिता का उसके जीवनकाल में सम्पत्ति पर एकाधिकार होता है।

(2) मिताक्षरा के अनुसार एक-एक उत्तराधिकारी या हिस्सेदार के मरने पर उसका हिस्सा उसके बाद जीवित रहने वाले अन्य अतिजीवी शरीकों या समांशियों को मिल जाता है, बशर्ते कि मृत व्यक्ति का कोई पुत्र, पौत्र या प्रपौत्र न हो। इसके विपरीत दायभाग के अनुसार एक हिस्सेदार की मृत्यु होने पर पुरुष का हिस्सा पत्नी आदि मृत व्यक्ति के उत्तराधिकारियों को मिलता है।

(3) मिताक्षरा में केवल पुरुष हिस्सेदार ही हो सकते हैं। दायभाग में पुरुष हिस्सेदारों की सुविधाएँ भी समांशी या हिस्सेदार होती हैं।

(4) मिताक्षरा के अन्तर्गत कोई हिस्सेदार अपने हिस्से को दान, विक्रय आदि द्वारा अपहार (alienation) या अलग नहीं हटा सकता। दायभाग में हिस्सेदारों को यह अधिकार होता है।

(5) मिताक्षरा के अन्तर्गत पिता कानूनी आवश्यकता या पूर्ववर्ती ऋण के

लिये ही संयुक्त सम्पत्ति का अपहार कर सकता है। दायभाग में पिता का सम्पत्ति पर पूर्ण अधिकार होता है, वह इसका यथेच्छ विनियोग कर सकता है।

पैतृक सम्पत्ति में अधिकारी की दृष्टि से हिन्दू परिवार पिछले एक हजार वर्ष से दो प्रधान भागों में—मिताक्षरा और दायभाग—में बंटा हुआ था, परन्तु अब 'हिन्दू उत्तराधिकार अधिनियम, 1956' (The Hindu Succession Act, 1956) के लागू हो जाने के फलस्वरूप यह भेद, अन्तर या विभाजन समाप्त हो गया है। यह बात इस अधिनियम की निम्नलिखित चार प्रमुख विशेषताओं से स्वतः ही स्पष्ट हो जाएगी—(क) उत्तराधिकार से सम्बन्धित दायभाग और मिताक्षरा नियमों को समाप्त कर दिया गया है और समस्त हिन्दुओं के लिये एक-सा कानून हो गया है; (ख) हिन्दू स्त्री के सीमित अधिकार को समाप्त करके उसे सम्पत्ति पर पूर्ण अधिकार दिया गया है; (ग) स्त्री तथा पुरुष उत्तराधिकारियों में किसी प्रकार का भी भेद नहीं किया जायेगा; अर्थात् सम्पत्ति पर स्त्रियों का अधिकार पुरुषों के समान होगा; (घ) स्त्री को पारिवारिक सम्पत्ति में अधिकार प्रदान किया गया है। थोड़े से विस्तारपूर्वक अगर इस अधिनियम को प्रस्तुत किया जाए तो यह स्पष्ट होगा कि स्त्री को पत्नी, माता तथा पुत्री के रूप में जो साम्प्रतिक अधिकार उक्त अधिनियम के लागू होने के फलस्वरूप मिले हैं वे निम्न हैं—

(अ) पत्नी के रूप में—पिछले पृष्ठों में उल्लिखित 'हिन्दू स्त्रियों का सम्पत्ति पर अधिकार अधिनियम, 1937' के अनुसार विधवा पत्नी को अपने मृत पति की सम्पत्ति में लड़के के बराबर हिस्सा मिलता था, पर यह अधिकार सीमित था। अब सन् 1956 के अधिनियम के अनुसार विधवा पत्नी को अपने पति की सम्पत्ति पर सीमित नहीं, पूर्ण अधिकार प्राप्त हो गया है। अब वह जिस प्रकार भी चाहे अपने हिस्से की सम्पत्ति का उपभोग कर सकती है। सन्तान न होने की दशा में पति की समस्त सम्पत्ति पर विधवा का अधिकार होगा। पर अगर वह विधवा पुनर्विवाह कर लेती है तो उस सम्पत्ति पर उसका अधिकार समाप्त हो जाएगा और वह सम्पत्ति पति के परिवार को लौट आएगी।

(ब) माता के रूप में—भारत के दक्षिण-पश्चिमी भाग में प्रचलित मरूमकट्य-यम कानून को छोड़कर भारत की अन्य किसी भी प्रणाली के अन्तर्गत माता को पुत्र की सम्पत्ति में अब तक कोई हिस्सा न था। अतः माता को पुत्र-वधू और पौत्र-पौत्रियों की दृष्टि में एक सम्मानित पद प्रदान करने के उद्देश्य से इस अधिनियम में भी पुत्र की सम्पत्ति में उसके पत्नी और बच्चों के समान एक हिस्सा मिलने की व्यवस्था की गई है।

(स) पुत्री के रूप में—इस कानून के पास होने से पूर्व न दायभाग और न ही मिताक्षरा उत्तराधिकार प्रणाली के अन्तर्गत पिता की सम्पत्ति में लड़की का कोई भी अधिकार मान्य था। अब यह अधिनियम दायभाग और मिताक्षरा प्रणालियों को समाप्त कर देता है और लड़की को पुत्र के साथ, पुत्र के समान ही पिता की संपत्ति में अधिकार प्रदान करता है।

पितृसत्तात्मक संयुक्त परिवार की संरचना

(Structure of Patriarchal Joint Family)

यह सच है कि पहले पैतृक सम्पत्ति में अधिकारों के आधार पर मिताक्षरा और दायभाग संयुक्त परिवारों में कुछ मौलिक भेद थे, फिर भी सामान्य रूप से इन

दोनों प्रकार के पितृसत्तात्मक संयुक्त परिवारों की संरचना में कोई विशेष अन्तर नहीं था। इस प्रकार के परिवारों की संरचना में निम्नलिखित प्रमुख अंग होते हैं—

1. कर्त्ता (Karta)—संयुक्त परिवार का संचालक और सम्पत्ति का व्यवस्थापक परिवार का सबसे बड़ा पुरुष सदस्य होता है। यह पद प्रायः पिता को प्राप्त होता है और उसके अभाव में बड़ा भाई या परिवार का अन्य सबसे बड़ा पुरुष यह पद पाता है। आजकल इसे कर्त्ता कहा जाता है, किन्तु प्राचीन साहित्य में यह नाम नहीं मिलता है; वहाँ कुटुम्ब, गृही, गृहपति, प्रभु (कात्यायन, 543) आदि शब्दों का व्यवहार हुआ है। मनुस्मृति (9/104-108), गौतम धर्मसूत्र (28/1-3) तथा नारद-स्मृति (13/5) पिता की मृत्यु के बाद बड़े भाई का यह कर्त्तव्य बताते हैं कि वह छोटे भाइयों का पितृवत् पालन करे। परिवार का पोषण करने वाले कर्त्ता के अधिकार परिवार के अन्य सदस्यों के अधिकारों की अपेक्षा अधिक होते हैं। वह न केवल संयुक्त सम्पत्ति का स्वामी होता है, बल्कि इसके प्रबन्ध सम्बन्धी सभी कार्य करता है, इस सम्पत्ति से उत्पन्न आय का अपने विवेक के अनुसार उपयोग करता है। शरीकों के प्रति अपने प्रबन्ध के लिए वह उस समय तक उत्तरदायी नहीं है जब तक वह परिवार की सम्पत्ति को धोखे से गबन या दुरुपयोग नहीं करता। कानूनी आवश्यकता पड़ने पर या परिवार के लाभ के लिए वह ऋण ले सकता है और संयुक्त सम्पत्ति को गिरवी अथवा विक्रय कर सकता है। कानूनी आवश्यकता परिवार की ऐसी स्थिति है, जिसमें कानून ऋण लेना अथवा संयुक्त सम्पत्ति का अपहार करना उचित समझता है। हिन्दू परिवार में उपनयन और विवाह आदि संस्कार, श्राद्ध आदि धार्मिक कर्त्तव्य, बच्चों की शिक्षा, पितृक ऋण की अदायगी आवश्यक कर्त्तव्य समझे जाते हैं। कानून भी इन्हें महत्वपूर्ण समझता है और निम्न स्थितियों में कर्त्ता द्वारा ऋण लेना कानूनी आवश्यकता समझी जाती है—(1) ऐसा सरकारी लगान या टैक्स देना, जिसकी अदायगी न होने से संयुक्त सम्पत्ति बेची जा सकती हो; (2) परिवारिक सम्पत्ति पर अपने स्वत्व की रक्षा के लिये किया जाने वाला व्यय; (3) शरीकों की तथा उनकी पत्नियों और बच्चों की रक्षा का तथा भरण-पोषण का व्यय; शरीकों तथा उनकी लड़कियों के विवाह का खर्चा; (4) आवश्यक धार्मिक कर्त्तव्य पूरा करने का व्यय तथा (5) पिता के ऐसे ऋण जो अनैतिक और कानून के विरुद्ध न हों।⁷ अतः स्पष्ट है कि कर्त्ता को 'कर्त्ता' इसलिये कहा जाता है, क्योंकि वह परिवार की ओर से और परिवार के लिये सब कार्यों को करने वाला होता है। डॉ० मजूमदार (Majumdar) के द्वारा प्रस्तुत विवरण के अनुसार कर्त्ता को ही परिवार के सम्बन्ध में निर्णय लेने का अधिकार है। परिवार से सम्बन्धित समस्त कार्यों में उसका स्थान सर्वोच्च होता है; वही परिवार का जज और जूरी होता है और पारिवारिक झगड़ों का निपटारा करता है; वह राजनीतिक मुखिया होता है क्योंकि सामाजिक, धार्मिक और सामुदायिक समस्त कार्यों में और स्थानीय गांव पंचायत में वही परिवार का प्रतिनिधित्व करना है।⁸

7. *Ibid.*, pp. 298-299.

8. "The karta of the joint or extended family has the right to make decisions for his family; he is the working head; he is the judge and jury; he decides family quarrels; he is the political head as every family has a place and is represented by the head of the family in the social, ceremonial and community activities, and in the local *Gaon Panchayat*."—D. N. Majumdar, *Races and Cultures of India*, Asia Pub. House, Bombay, 1958, p. 250.

2. कर्ता की पत्नी (Wife of Karta)—संयुक्त परिवार की रचना में कर्ता की स्त्री का स्थान कर्ता के बाद होता है। विशेषकर दूसरी स्त्रियों की तुलना में कर्ता की पत्नी का स्थान सबसे ऊँचा होता है और दूसरी स्त्रियों के सम्बन्ध में कर्ता की पत्नी का आदेश ही उचित माना जाता है। दूसरे शब्दों में, परिवार के आन्तरिक मामलों में कर्ता की पत्नी का प्रमुख हाथ व नियन्त्रण होता है। परिवार की अन्य स्त्रियों को अगर कोई बात या शिक्षात्मक कर्ता तक पहुँचानी होती है तो यह काम कर्ता की पत्नी के द्वारा ही होता है। कम आयु के पुरुष सदस्य अपनी भाभी के सम्मुख अपनी समस्याओं या कठिनाइयों को रखते हैं जोकि धीरे-धीरे या क्रमशः भाभी से कर्ता की पत्नी और कर्ता की पत्नी से कर्ता तक पहुँच जाती हैं।

3. बड़ा लड़का (The eldest son)—पितृवंशीय संयुक्त परिवार में लड़कियों की तुलना में लड़कों का महत्व कहीं अधिक होता है। इसलिये परिवार में पुत्र के जन्म लेने पर अनेक प्रकार से खुशियाँ मनाई जाती हैं, जबकि पुत्री का जन्म एक नये 'भार' का द्योतक होता है। लड़कों का महत्व इस कारण अधिक होता है क्योंकि उनकी आवश्यकता पितरों के तर्पण, पिण्डदान तथा दाहसंस्कार के लिये होती है। सबसे बड़े लड़के को यह अधिकार सबसे पहले प्राप्त होता है, इस कारण बड़े लड़के का स्थान कर्ता या कर्ता की पत्नी के बाद ही होता है और पिता की मृत्यु के बाद उसे ही कर्ता का पद प्राप्त हो जाता है।

4. अन्य पुरुष सदस्य (Other male members)—संयुक्त परिवार की संरचना में बड़े लड़के के बाद आयु के हिसाब से अन्य पुरुष सदस्यों का स्थान होता है। पारिवारिक व्यवस्था या प्रबन्ध (management) में अविवाहित लड़कों का कोई स्थान नहीं होता है। परम्परागत दृष्टिकोण से यह माना जाता है कि जब तक लड़कों का विवाह नहीं होता है तब तक उनमें उत्तरदायित्व की भावना नहीं पनपती है और न ही वे किसी विषय को गम्भीरतापूर्वक सोचते-विचारते हैं। अर्थात् उनमें 'बचपना' रहता है, और ऐसे 'बच्चों' से परिवार से सम्बन्धित किसी विषय पर राय लेना व्यर्थ है। इसीलिये अविवाहित लड़कों की स्थिति पारिवारिक संरचना में विशेष महत्व की नहीं होती। फिर भी लड़कियों की तुलना में लड़कों का महत्व और मर्यादा अधिक होती है।

5. कन्या (Daughter)—हिन्दू संयुक्त परिवार की संरचना में कन्या प्रायः उपेक्षा का पात्र और दुःखदायी समझी जाती रही है। कन्या के प्रति हिन्दू समाज या परिवार की सामान्य धारणा सायण द्वारा उद्धृत इस श्लोक से स्पष्ट है—“वह जन्म के समय अपने सम्बन्धियों को दुःख देती है, विवाह के समय (दहेज के रूप में) बहुत-सा धन ले जाती है, यौवन में (असतीत्वादि) अनेक दोषों से (कुल को) कलंकित कर सकती है, (इस प्रकार) लड़की माता-पिता का हृदय विदीर्ण करने वाली होती है।” हिन्दू संयुक्त परिवार में कन्या की उपेक्षा और दुर्दशा के प्रधान कारण उससे उत्पन्न होने वाली अनेक प्रकार की चिन्ताएँ हैं। कन्या के सम्बन्ध में माता-पिता की जो सबसे बड़ी चिन्ता होती है, वह उसके लिये उपयुक्त वर ढूँढ़ने से सम्बन्धित है। वर मिल जाए तो उसके लिये दहेज जुटाने की समस्या बनी ही रहती है। साथ-ही-साथ तनिक असावधानी से कन्या के कारण कुल पर कलंक लग सकता है; फिर भी शास्त्रकारों ने कन्या को पुत्र-तुल्य माना है। मनु के अनुसार जैसे पुत्र अपना ही दूसरा रूप होता है, उसी तरह लड़की पुत्र के बराबर होती है। ऐसे बहुत से उदाहरण हैं कि

कन्या ने पिता के परिवार के लिये किसी भी प्रकार का आत्मत्याग करने में संकोच नहीं किया। राम ने पिता का वचन पूरा करने के लिये 14 वर्ष का बनवास स्वीकार किया था। किन्तु असुरराज वृषपर्वा की पुत्री शमिष्ठा ने पिता के कहने से कुल के कल्याण के लिये आजीवन देवयानी की दासता स्वीकार की (महाभारत 1/80/23)। यह सच है कि हिन्दू संयुक्त परिवार में कन्या की प्रतिष्ठा व स्थिति, महत्व और मर्यादा बहुत कम है, फिर भी हिन्दू समाज में उसका दर्शन सदा शुभ माना गया है। मंगल अवसरों पर उसकी उपस्थिति आवश्यक बताई गई है।

6. नव-वधू (Newly-married bride)—नव-विवाहित वधू को ससुराल आने के पश्चात् नई परिस्थितियों से अनुकूलन करना पड़ता है। ससुराल में वह किसी को नहीं जानती और न ही किसी की आदतों से परिचित होती है। इसलिये उसे अपने पति के परिवार के आचार-व्यवहार कायदे-कानून को सीखना होता है, जोकि वह अपनी सास या परिवार की अन्य किसी वयस्क महिला से सीखती है, अन्यथा उसकी निन्दा होती है और कभी-कभी उसे अत्याचार भी सहना पड़ता है। परिवार का प्रत्येक सदस्य वधू से विभिन्न प्रकार की आशाएँ रखता है और यह आशा की जाती है कि वह इन कार्यों को भली प्रकार से करेगी। संयुक्त परिवार में वधू का सम्पर्क अपने पति से बहुत कम होता है। इसलिये इस दशा में पति उसकी अधिक सहायता नहीं कर पाता है। उसका तो अधिकतर समय परिवार के अन्य सदस्य ही ले लेते हैं और उनमें से प्रत्येक के साथ उनकी अलग-अलग आदतों और विचारों के अनुसार उसे अनुकूलन करना पड़ता है। ऐसा न करने पर उसे नाना प्रकार के ताने सुनने पड़ते हैं। पति भी उसका कोई प्रत्यक्ष समर्थन नहीं कर पाता है और जब करता है तो संयुक्त परिवार के अन्य सदस्यों के द्वारा उसकी निन्दा होती है। यहाँ तक कि इसी विषय को लेकर कभी-कभी पारिवारिक झगड़े और मन-मुटाव उत्पन्न हो जाते हैं, जिसका कि अन्तिम परिणाम अपनी पत्नी और बच्चों को लेकर संयुक्त परिवार के एक सदस्य का अलग हो जाना होता है। संयुक्त परिवार के विघटन का यह एक कारण बन जाता है, इसके विपरीत यह भी हो सकता है कि पति स्त्री का पक्ष न ले और अपनी माँ, पिता, बड़े भाई या बहन का पक्ष ले। उस अवस्था में वधू पर पर्याप्त अत्याचार होता है। कभी-कभी तो यह कलह इतना गम्भीर रूप धारण करता है कि पति अपनी पत्नी को हमेशा के लिये त्याग देता है या फिर उसे उसके मायके से अपने घर कभी नहीं लाता है। जब हिन्दुओं के लिये बहुपत्नी-विवाह पर कोई कानून नहीं था तो उक्त अवस्था में पति पहली पत्नी को त्यागकर दूसरा विवाह कर लेता था। यह सब इसलिये होता है कि परम्परागत 'दृष्टिकोण' से यह कामना की जाती है कि घर की बहू सबके लिये सुखदायी हो। साथ-ही-साथ बहू के अनेक कर्तव्यों का भी उल्लेख किया जाता है। बहू द्वारा सास-ससुर की सेवा के आदर्श का वर्णन ग्रामीण समुदायों में प्रचलित लोकगीतों में बड़े सुन्दर ढंग से हुआ है। एक लोकगीत में पति अपनी प्रियतमा को कहता है कि आजीविका कमाने के लिये आषाढ़ लगते ही दक्षिण चला जाऊंगा, तुम मायके से भाई को बुला नहर चली जाना। पत्नी उत्तर देती है, "भाई को क्यों बुलाऊँ? नहर क्यों जाऊँ? मैं सास की सेवा करके अपनी आयु बिताऊँगी।" एक अन्य गीत में यह आदर्श और भी प्रभावोत्पादक ढंग से प्रस्तुत किया गया है। सोहर के एक गीत में ससुर बहू से पूछते हैं, "हे बहू, तुमने कौन-सा तप किया है जो तुम्हारा बच्चा बड़ा सुन्दर है।" बहू का उत्तर है, "मैंने सास की

बात कभी नहीं टाली, ननद का तिरस्कार नहीं किया, न कभी इधर की बात उधर लगाई, शायद इसीलिये बच्चा इतना सुन्दर हुआ।” परन्तु यह आदर्श स्थिति बहुत कम देखने को मिलती है क्योंकि बहुधा यह देखा जाता है कि अनेक अव्यावहारिक चीजें ही आदर्श कहलाती हैं। यही बात संयुक्त परिवार की बहुओं पर भी लागू होती है। संयुक्त परिवार में बहुओं का उत्पीड़न एक सामान्य घटना है। हिन्दू परिवार में बाल-विवाह की प्रथा के कारण इस अत्याचार की मात्रा और भी बढ़ जाती है और साथ ही इस प्रकार के आदर्श से कि पति देवता है और सास-ससुर उस देवता के भी देवता हैं, इसलिये बहू की देह, प्राण और धर्म उनकी सेवा के लिये हैं, उस उत्पीड़न की प्रक्रिया को और भी बल मिलता है। इसीलिये बहुओं को नाना प्रकार के अत्याचार सहने पड़ते हैं और इस विषय में सास और ननद का हाथ प्रमुख होता है। यही सताई हुई बहुएँ जब स्वयं सास बनती हैं तो वे अपनी बहुओं के साथ कैसा व्यवहार करेंगी इसका सहज ही अन्दाजा लगाया जा सकता है। वे अपने साथ हुये दुर्व्यवहारों और अत्याचारों का बदला अपनी बहू पर अत्याचार करके चुकाती हैं। एक लोकगीत में एक बहू अपनी दुर्दशा का चित्रण करती हुई भाई को कहती है, “मेरी पीठ देखो, वह घोबी के पाट जैसी है। मेरे कपड़े देखो, वे सावन की घटा जैसे मँले हैं। नौ मन कूटती हूँ, नौ मन पीसती हूँ, नौ मन रसोई करती हूँ। सबके खा चुकने के बाद जो टिकरी बचती है वही मेरा आहार है। उसमें से भी कुत्ते, बिल्ली को हिस्सा देना पड़ता है।” बहुओं के साथ इस प्रकार के अत्याचार और दुर्व्यवहार वर्तमान समय में संयुक्त परिवार के विघटन का एक प्रधान कारण हैं।

7. माता-पिता (Parents)—संयुक्त परिवार के ढाँचे में माता-पिता का स्थान महत्वपूर्ण है। प्राचीनकाल से ही माता को अत्यधिक ऊँचा स्थान दिया गया है। माता को ही पारिवारिक जीवन में सबसे अधिक घनिष्ठ और प्रिय सम्बन्धी माना गया है। अथर्ववेद में पुत्र को यह उपदेश दिया गया है कि वह अपने को माता के अनुकूल बनाने का प्रयत्न करे। तैत्तिरीय उपनिषद् के अनुसार आचार्य शिक्षा समाप्त कर लेने पर ब्रह्मचारी को उपदेश देते हैं कि माता की देवता की तरह पूजा करो। गौतम धर्मसूत्र के अनुसार गुरुओं में आचार्य श्रेष्ठ है किन्तु कुछ लोगों के मत में माता श्रेष्ठ गुरु है। माता का इतना महत्वपूर्ण स्थान होने के कारण ही धर्मसूत्रों में प्रत्येक अवस्था में माता की सेवा और भरण-पोषण करना पुत्र का परम कर्त्तव्य माना है। माता पतित हो, कलंकित अथवा जातिभ्रष्ट हो—सभी अवस्था में उसका भरण-पोषण पुत्र का कर्त्तव्य है। पिता के पतित होने पर भले ही उसका भरण-पोषण जाए परन्तु माता के साथ ऐसा करना महापाप समझा गया है। साथ ही माता की आज्ञा का पालन हिन्दू संयुक्त परिवार में पुत्र का परम धर्म है, माता देह-दात्री होने के साथ ज्ञान-दात्री भी है—यह विश्वास भी हिन्दुओं के हृदय और मस्तिष्क में समाया हुआ है। शिवाजी, गांधीजी आदि अनेक महापुरुषों ने यह स्वीकार किया है कि वे जो कुछ थे उसका सम्पूर्ण श्रेय उनकी माता को ही है। माता ही बच्चे की सबसे पहली और बड़ी गुरु है। माताओं के ऋण को कभी चुकाया नहीं जा सकता—यह विश्वास हिन्दू परिवार की प्रत्येक सन्तान को है। इन सन्तानों ने कितने ही प्रकार वास्तव में अपार है। उसी प्रकार हिन्दू संयुक्त परिवार में पिता का भी महत्त्व अत्यधिक है। मनुस्मृति में पिता को प्रजापति की भूति बताया गया है और बताया गया

है कि माता-पिता के ऋण का बदला सन्तान सौ वर्ष में भी नहीं चुका सकती। पराशर ने कहा है कि मनुष्यों के लिये पिता ही परम देवता है। पिता का कर्तव्य बच्चों की रक्षा, पालन-पोषण, देख-रेख और नियन्त्रण है। प्राचीन काल में सन्तान को शिक्षा देने का काम भी पिता का ही था। कालीदास ने पिता के इन कार्यों का विनय, रक्षण और भरण के नाम से उल्लेख किया है। वेद में पिता का त्राता और खाद्य-सामग्रीदाता के रूप में बड़ा सुन्दर वर्णन है। वास्तव में सामाजिक दृष्टिकोण से सन्तान को जन्म देना पिता के लिए उतना महत्वपूर्ण नहीं है जितना उसका भरण-पोषण करना, रक्षा करना और शिक्षा देना है। यही कारण है कि हमारे साहित्य में पिता की जनिता या जनक के रूप में इतनी प्रतिष्ठा नहीं है, जितनी सन्तान के पालक के रूप में है। हिन्दू संयुक्त परिवार में इसी आदर्श का दर्शन होता है। इसीलिए माता-पिता की आज्ञा का पालन करना, उनका आदर करना तथा उनकी वृद्धावस्था में उनकी देख-रेख व सेवा करना बच्चों का सामान्य कर्तव्य समझा जाता है। वैदिक युग से ही यह आदर्श रहा है कि माता-पिता की आज्ञा का पालन करना ही पुत्र अपना परम धर्म समझे। धर्म से अनुसार माता-पिता की सेवा तथा आज्ञापालन से अच्छे परिणामों की प्राप्ति, अभीष्ट सिद्धि तथा पुण्य प्राप्ति सम्भव है। पिता धर्म, कर्म, स्वर्ग और परम देवता है, साथ-ही-साथ माता-पिता में वरदान देने और शाप देने की शक्ति होती है। महाभारत में स्पष्ट शब्दों में यह घोषणा की गई है कि सब शापों का कुछ-न-कुछ प्रतिकार है। परन्तु माता-पिता के शाप पाये गये व्यक्ति का कहीं छुटकारा नहीं है; यही आदर्श हिन्दु संयुक्त परिवार का आदर्श है, यद्यपि आधुनिक समय में इस आदर्श का अनेक रूपों में पतन हो रहा है जिसकी विवेचना हम आगे करेंगे। फिर भी सामान्य रूप से यह कहा जा सकता है कि हिन्दू संयुक्त परिवार के ढाँचे में माता-पिता का स्थान सम्मानप्रद और महत्वपूर्ण है। बड़े भाई और भाभी को भी क्रमशः पिता और माता के बाद ही श्रद्धा और आदर मिलता है।

8. पति और पत्नी (Husband and Wife) संयुक्त परिवार की संरचना में पति और पत्नी का सम्बन्ध आन्तरिक कर्तव्य-बोध पर आधारित होता है। पति और पत्नी के सम्बन्ध में पति की प्रभुता हिन्दू संयुक्त परिवार की एक विशेषता है। हिन्दू परिवार में पति देवता माना जाता रहा है। पत्नी के सम्बन्ध में उसका हर व्यवहार, अत्याचार या अभिचार क्षम्य है। साथ-ही-साथ पहले पति को कुछ दशाओं में एक पत्नी होते हुए दूसरी स्त्री से विवाह का या पत्नी को त्याग देने का अधिकार था। यद्यपि पुनर्विवाह का यह अधिकार देने का मूल कारण पुत्र-प्राप्ति की कामना और धर्म-पालन की चिन्ता थी। परन्तु प्रायः पति इसका दुरुपयोग ही करते थे। पति का कर्तव्य पत्नी का भरण-भोषण करना, रक्षा करना और उसके सुख का ध्यान रखना है। उसी प्रकार पत्नी का कर्तव्य पति की सेवा करना और उसकी आज्ञाओं का पालन करना है। साथ-ही-साथ उसका यह भी कर्तव्य है कि वह पति की अधीनता को स्वीकार करे। धर्मशास्त्रों में पत्नी के कर्तव्यों का बड़े विस्तार में वर्णन है। इनमें पति-सेवा और पातिव्रत्य को बहुत महत्त्व दिया गया है। मनु के मतानुसार पत्नी में चार बातें होनी चाहिये—(i) वह सदैव हँसमुख रहे, (ii) गृह-कार्यों में दक्ष हो, (iii) घर की सब चीजें साफ-सुथरी रखे और (iv) अपव्ययी न हो। आज भी हिन्दू संयुक्त परिवार के इन आदर्शों को स्वीकार किया जाता है। परन्तु पति-सेवा को सबसे अधिक महत्त्व प्रदान किया जाता है। शंख के मत में स्त्री को अन्न, उपवास, यज्ञ, दान आदि

से वैसा फल नहीं मिल सकता जैसा पति-सेवा से। मनु ने इस पर बल देते हुये कहा है कि साध्वी पत्नी दुःशील, स्वच्छन्दगामी और गुणशून्य पति की भी देवता की तरह सेवा करे, इसी से स्त्रियाँ स्वर्ग में पूजित होती हैं; क्योंकि स्त्रियों के लिये पृथक् रूप से कोई यज्ञ, व्रत व उपवास नहीं है। हिन्दू संयुक्त परिवार में पत्नी के सम्मुख प्रायः सीता जी की पति-सेवा के आदर्श को प्रस्तुत किया जाता है। रामचन्द्र जी यह नहीं चाहते थे कि सीता उनके साथ वन के भयंकर कष्टों को झेले। परन्तु सीता जी पति-सेवा के लिये कठोर-से-कठोर कष्ट झेलने के लिये राजी थीं। उनका कहना था कि "उच्च अट्टालिकाओं और विमानों में बैठकर आकाश में विहार करने की अपेक्षा सब अवस्थाओं में पति के चरणों की सेवा ही श्रेष्ठ है। यदि स्वर्ग में भी वास करने को मिले, तो भी मैं उसे आपके बिना पसन्द नहीं करूँगी। हिन्दू संयुक्त परिवार में पति-सेवा के इस प्रकार के अनेक आदर्शों की चर्चा होती है और पत्नी से उसी के अनुसार आशा की जाती है; उसी प्रकार पातिव्रत्य का आदर्श हिन्दू पत्नी के जीवन का दूसरा आधार है। यह आदर्श इस बात पर बल देता है कि एक बार किसी पुरुष से विवाह हो जाने पर पत्नी उसीको आजीवन अपना पति मानेगी और कभी अपने मन में दूसरे पुरुष का विचार न लाएगी, चाहे उसके पति में कितनी कमियाँ हीं या दुर्गुण क्यों न हो। सत्यवान सब प्रकार से गुणवान होते हुए भी एक वर्ष में मर जाने वाले थे। सावित्री ने सत्यवान को जब पति-रूप में वरण किया तो उसे यह दोष मालूम नहीं था। बाद में नारदजी से जब इस बात का पता चला और सावित्री के पिता ने उसे दूसरा पति चुनने को कहा तो सावित्री ने उत्तर दिया कि लम्बी आयु वाला हो या कम आयु वाला, गुणवान हो या गुणशून्य, मैंने एक बार पति चुन लिया है—दूसरा पति नहीं चुनूँगी। हिन्दू संयुक्त परिवार में पत्नी से यह आशा की जाती है कि वह किसी भी अवस्था में पातिव्रत्य की मर्यादा नहीं छोड़ेगी।

9. ननद-भौजाई—संयुक्त परिवार की संरचना में ननद-भौजाई का पारस्परिक सम्बन्ध भी बड़ा रोचक होता है। यह कहा जाता है कि घर की बहू पर जितने अत्याचार होते हैं उसमें ननद की कुटिलता भी एक महत्वपूर्ण कारण है। सास की भाँति संयुक्त परिवार में ननद की स्थिति भी ऊँची होती है, विशेषकर बहू की स्थिति से तो अवश्य ही। इसलिये बहू को संयुक्त परिवार में अपना अनुकूलन करने के लिए जिन समस्याओं का सामना करना पड़ता है, उनमें ननद के साथ अनुकूलन करना भी उल्लेखनीय है। ननद में चुगली खाने की आदत होती है, यह एक सामान्य विश्वास है और इसी के कारण समय-समय पर बहू को अनेक प्रकार के अत्याचार सहने पड़ते हैं। श्री रामनरेश त्रिपाठी ने इसी का एक मार्मिक चित्रण एक लोकगीत में किया है : भाई बहन से मिलने आया है, चूल्हे की राख बाहर फेंकने जाते हुए उसने भैया को पेड़ के नीचे खड़े देखा है तो ननद कहती है, "हे भौजाई, मैं क्या जानूँ। बखार में जितना धान है उतना कूटकर तब भाई से मेंट करने जाओ। जितना कोटे में गेहूँ है उतना पीसकर मेंट करने जाओ। पीपल में जितने पत्ते हैं उतनी रोटिया पोंकर तब भाई से मिलने जाओ।" ननद भौजाई के पुत्र होने की कामना करती है और उसके होने पर अपना नेग माँगती है; इसके न मिलने पर रूठ जाती है और कई बार शाप तक दे डालती है। भाभी के पुत्र जन्म की सूचना न मिलने पर भी ननद उसके घर आ घमकती है। हिन्दू संयुक्त

परिवार में इस प्रकार के उदाहरण और ननद-भाँजाई के तनावपूर्ण सम्बन्ध को ढूँढ़ने के लिए अधिक कष्ट नहीं करना होगा।

10. देवर-भाभी—संयुक्त पारिवारिक जीवन में सम्भवतः देवर-भाभी का सम्बन्ध सबसे मधुर है। अनेक लोगों के बीच भाभी ही एक ऐसी सम्बन्धी है जिसे कि देवर सब कुछ निःसंकोच कह सकता है। भाभी ही देवर की माता, बहन, परामर्श-दात्री तथा बान्धवी है और इनमें से प्रत्येक रूप में प्रगट होना ही उसका आदर्श भाभी होने का प्रमाण है। जो बात किसी से नहीं कही जा सकती उसे देवर निःसंकोच भाभी से कह सुनाता है। यदि कोई बात संयुक्त परिवार के कर्त्ता तक पहुँचानी होती है तो भाभी ही उस वार्त्ता के संचार का प्रमुख साधन है। भाभी देवर की बातों को दिल लगाकर सुनती है, पर दिल्लगी नहीं करती है ऐसी बात नहीं है। देवर-भाभी का सम्बन्ध और भी मधुर इसलिए है कि इनमें एक मजाक का रिश्ता है और उस रिश्ते की कोई सीमा शायद ही निश्चित हो। यहाँ तक कि यौन-सम्बन्धी मजाक भी अस्वाभाविक नहीं है। अधिक कहने हेतु शास्त्रों के वचन को प्रस्तुत किया जाता है। यास्क ने देवर शब्द की व्युत्पत्ति करते हुए उसे दूसरा वर बताया है। महाभारत में पति के अभाव में देवर से विवाह का उल्लेख है। अधिकांश शास्त्रकार सन्तान प्राप्त करने के लिए देवर से ही नियोग की व्यवस्था करते हैं। देवर या भाभी इस शास्त्रीय व्यवस्था के बारे में जानते हों या नहीं पर परम्परागत रूप में एक-दूसरे को अति निकट पाते हैं भाभी के लिए भी देवर सखा रूप में है और देवर के लिये भाभी प्रिय सखी के रूप में है। परम्परागत हिन्दू संयुक्त परिवार में सखा-सखी का यह अनुपम दृष्टान्त वास्तव में उल्लेखनीय है और अगर देखा जाय तो पारिवारिक जीवन में इसका महत्त्व भी कम नहीं है। जहाँ पति देवता है और पत्नी दासी वहाँ पति-पत्नी के सम्बन्ध में सखा और सखी की धारणा पनप ही नहीं सकती। आधुनिक समय में परिवर्तित परिस्थितियों के दबाव से हमारे देश में पुरुष के जीवन में भी पत्नी सखी के रूप में और नारी के जीवन में पति सखा के रूप में विकसित हो रहे हैं। पुरुष के जीवन में सखा-सखी की यह धारणा प्राचीन परम्परा में संयुक्त पारिवारिक जीवन में देखने को मिलती है, पर पहले जैसाकि अभी हम कह चुके हैं, पति के देवता और पत्नी की सेविका के रूप के बीच में इस सखा-सखी की भावना को लाना सम्भव न था। इसीलिए स्थानान्तरण (transferred epathy) की तरह दूसरे रूप में पुरुष के जीवन में भाभी और स्त्री के जीवन में देवर को लाकर उन सखा-सखी की भावना को विकसित किया गया था। रामायण में सीता जी के देवर थे लक्ष्मण, उन्हें और किसी भी मित्र की आवश्यकता कभी अनुभव न हुई।

संयुक्त परिवार के सामाजिक कार्य ✓

(Social Functions of Joint Family)

श्री यादवराव जोशी ने लिखा है कि भारतीय समाज का ढाँचा एक ऐसी सुदृढ़ आधारशिला पर खड़ा है जो अनन्त काल से इतने बड़े देश में अवस्थित इतनी बृहत् जनसंख्या को शान्ति प्रदान करने का कारण बनी हुई है। सम्पूर्ण समाज 'विराट पुरुष' है और हर व्यक्ति उसका अंग। व्यक्ति, शरीर के अंगों के समान समाज के कल्याण के हेतु त्याग और सेवा की भावना से प्रेरित होकर काम करता है; अधिकार की भावना से प्रेरित नहीं। इस भव्य कल्पना को साकार करने की सर्वप्रथम सीढ़ी संयुक्त परिवार है। संयुक्त परिवार का कर्त्ता हृदय और मस्तिष्क से उदार होता

है। वह स्नेहपूर्ण सतर्कता के साथ परिवार के समस्त सदस्यों के कार्यों का नियोजन और निर्देशन करता है। उसके प्रति परिवार के समस्त सदस्यों के स्वाभाविक स्नेह और श्रद्धा के आधार पर उसके प्रभुत्व का निर्धारण होता है। उसके सामने परिवार के हित के अतिरिक्त कुछ नहीं रहता—निश्चय ही यह विचार रहता है कि परिवार का ब्रह्म रूप ही समाज है। परिवार के माध्यम से उसके सभी सदस्यों में विशालतर जनसमुदाय के साथ एकाकार होने की भावना पनपती है। संयुक्त परिवार का मूल-धार अधिकार की भावना न होकर, स्नेह सिक्त कर्तव्य और त्याग की भावना हो। डॉक्टर सरकार ने हिन्दू समाज के लिए इस प्रथा की उपयोगिता का उल्लेख करते हुए 'हिन्दू लॉ' नामक पुस्तक में लिखा है, "संयुक्त हिन्दू परिवार ही हिन्दू समाज की प्राणशक्ति का मूल है। हिन्दू चरित्र की सभी उदात्त और उत्तम विशेषताएँ इसी व्यवस्था का परिणाम हैं। यह हिन्दुओं के धार्मिक और आध्यात्मिक चरित्र का आधार है" निम्नलिखित विवेचना से यह और भी स्पष्ट हो जाएगा।

आर्थिक कार्य

(Economic Functions)

1 खर्च का बचाव—संयुक्त परिवार में सम्मिलित आय और सम्मिलित खर्च होता है, इस कारण रुपये की बचत या कम खर्च में अधिक लोगों का भरण-पोषण होता है। अलग-अलग परिवार बसाने में सामान्यतया खर्चा अधिक होता है क्योंकि परिवार से सम्बन्धित हर चीज को अलग-अलग खरीदना पड़ता है। इतना ही नहीं, संयुक्त परिवार में खर्च पर बड़े-बूढ़ों का नियन्त्रण होता है जो, कि इस सम्बन्ध में काफी अनुभवी होते हैं। इसलिये वे पारिवारिक आमदनी को उचित ढंग से इस प्रकार खर्च करते हैं कि कम-से-कम रूपयों से अधिक-से-अधिक लोगों को अधिकतम सन्तुष्टि प्राप्त हो। उनके इस अनुभव का ही एक परिणाम होता है कि पारिवारिक आय का रुपया केवल खर्च ही नहीं होता है बल्कि उससे बचत की सम्भावना भी सदैव अधिक रहती है। इस प्रकार की बचत होने से परिवार की आर्थिक दृढ़ता बढ़ती है और परिवार के सदस्यों में आर्थिक सुरक्षा की भावना पनपती है।

2. पारिवारिक धन का समान वितरण—संयुक्त परिवार की व्यवस्था के अन्तर्गत आय और सम्पत्ति पर किसी विशेष व्यक्ति का विशेष अधिकार नहीं होता, जिसके कारण आय और सम्पत्ति से प्रायः परिवार के सभी सदस्य समान लाभ उठा सकते हैं। संयुक्त परिवार इन आदर्शों पर आधारित है कि प्रत्येक से उसकी क्षमता के अनुसार और प्रत्येक को उसकी आवश्यकता के अनुसार लेना और देना चाहिये। इसका परिणाम यह होता है कि कोई भी व्यक्ति यह अनुभव नहीं कर पाता कि वह आर्थिक रूप से असुरक्षित है। संयुक्त परिवार प्रत्येक सदस्य को प्रायः समान आर्थिक सुरक्षा प्रदान करता है। आर्थिक दृष्टिकोण से संयुक्त परिवार का यह एक महत्वपूर्ण कार्य व लाभ है।

3 खेतों के टुकड़े होने से बचाव—संयुक्त परिवार में अन्य सम्पत्तियों के साथ भूमि पर भी परिवार का सम्मिलित अधिकार होता है। इससे एक बहुत बड़ा आर्थिक लाभ यह होता है कि खेतों के टुकड़े और छिटके होने की सम्भावना कम होती है। ग्रामीण जीवन की एक प्रमुख समस्या आज खेतों के टुकड़े और छिटका होना है, जिसका कि एक सामान्य कारण वर्तमान युग में संयुक्त परिवार का विघटन है।

संयुक्त परिवार

सामाजिक कार्य (Social Functions)

1. सामाजिक बीमा—संयुक्त परिवार का संगठन भी इस प्रकार का है कि वह अपने सदस्यों के लिए बीमा कम्पनी के रूप में कार्य करता है, क्योंकि शारीरिक या मानसिक असमर्थता या दुर्घटना होने पर यह अपने प्रत्येक सदस्य की रक्षा करता है। बीमार पड़ने पर सेवा-सुश्रूषा मिलती है, वृद्धावस्था या असमर्थता या बेकारी या दुर्घटना होने पर आश्रय मिलता है, खाने-पहनने को मिलता है और किसी भी अवस्था में भूखों मरने का भय नहीं रहता। इस संत्य को शायद ही कोई अस्वीकार कर सके कि “परिवार एक ऐसी उन्नतावस्था है जो व्यक्ति को किसी भी बाहरी आश्रय का मुखानुपेक्षी होने से बचाती है तथा स्नेहप्रद स्वाभाविक स्नेह-सूत्रों से आवद्ध कर उसी के अन्तर्गत सुरक्षा प्रदान करती है। यथार्थ में हमारे सामने उस आदर्श समाज का चित्र है जिसमें राज-सत्ता के लिये नगण्य स्थान रह जाता है। वह पारस्परिक अगाध प्रेम और कर्तव्य-जनित समन्वित सहयोग का चित्र है। संयुक्त परिवार का जीवन छोटे रूप में उसका ही साक्षात्कार है।” श्री अनन्तशयनम आयंगर ने उचित ही लिखा है कि “संयुक्त परिवार हमारे समाज का वह अभूतपूर्व किला है, जिसमें श्रमयोग्य वयस्कों से काम लिया जाता है और असमर्थ वृद्धों तथा अपरिपक्व बालकों की रक्षा हो सकती है।”

2. बूढ़ों, विधवाओं और अनाथों के लिये आदर्श स्थान—संयुक्त परिवार से निर्बल तथा अनाथ व्यक्तियों को बड़ा सहारा मिलता है। वास्तव में संयुक्त परिवार एकाकी जीवन की व्याधियों से मुक्ति दिलाता है। हर सदस्य के मन में विश्वास रहता है कि ‘मैं अकेला नहीं हूँ।’ इस प्रकार उसे मानसिक चिन्ताओं से मुक्ति मिल जाती है, विशेषकर वृद्धावस्था की चिन्ताओं से—उन चिन्ताओं से जिनके अभाव में ही व्यक्ति सुख व आनन्द का अनुभव कर सकता है। उसी प्रकार पति की मृत्यु के पश्चात् स्त्री का तथा उसके बच्चों का पालन-पोषण संयुक्त परिवार करता है। इसमें सन्देह नहीं कि बूढ़े, विधवाओं तथा अनाथ बच्चों के पालन-पोषण के दृष्टिकोण से संयुक्त परिवार एक अद्वितीय सुरक्षा केन्द्र है।

3. बच्चों के पालन-पोषण का आदर्श स्थान—संयुक्त परिवार बालकों के व्यक्तित्व के समुचित विकास में भी सहायक होता है। इसमें रहते हुए बच्चे उदारता, सहिष्णुता, सेवा, सहयोगिता, प्रेम, सद्भाव और आज्ञाकारिता का पाठ पढ़ते हैं सब मिलकर सबके लिए रहने की भावना से उनमें संकुचित स्वार्थ का विकास नहीं हो पाता। संयुक्त परिवार में रहते हुए छोटेपन से ही बच्चा यह सीख जाता है कि उसका जीवन केवल उसी के लिये नहीं है बल्कि उसके जीवन की सार्थकता दूसरों के लिए जीने में है। प्रत्येक बच्चे पर बड़े-बूढ़ों का दबाव और प्रभाव पड़ता है। संयुक्त परिवार में कुछ ऐसे बूढ़े लोग भी होते हैं, जो कि कार्यों से अवकाश ग्रहण कर चुके हैं, वे हर समय घर पर ही रहते हैं और बच्चों के चाल-चलन पर कड़ी निगरानी रखते हैं। उनके सम्पर्क में रहने से बच्चों को उन बड़े-बूढ़ों के अनुभवों से अनेक प्रकार से लाभ उठाने का अवसर मिलता है और उनसे वे अनेक नई चीजों को सीखते हैं।

4. व्यक्तिवादिता की रोक—उपरोक्त विवेचना से ही यह स्पष्ट है कि संयुक्त परिवार व्यक्तिगत स्वार्थ-पूर्ति के लिये नहीं बल्कि सबके समान्य हितों की रक्षा के लिये हुआ करता है। सहयोग, त्याग और सहनशीलता के आधार पर ही संयुक्त

परिवार का कार्य होता है। इस कारण व्यक्तिवादिता की भावना नहीं पनप पाती। श्री जोशी के शब्दों में, “संयुक्त परिवार के अन्तर्गत जन्म लेने वाले प्रत्येक बालक को सतत एक ऐसा वातावरण मिलता है जिसमें वह अपने अहम् को विलीन कर बृहत् हित में विचार करने का अभ्यासी होता है। वह स्वयं के सुख-दुःख की अपेक्षा दूसरों के सुख-दुःख की चिन्ता करना सीखता है। सहयोगपूर्ण जीवन उसके श्वास-प्रश्वास का अंग बन जाता है। इस प्रकार उसके मन और बुद्धि निःस्वार्थ कर्म की वृद्धि के साथ विकसित होते हैं।”

5. मनोरंजन का उत्तम साधन—संयुक्त परिवार द्वारा उसके सदस्य का पर्याप्त मनोरंजन होता रहता है। उसमें अनेक छोटे-छोटे बच्चों की तोतली बातें—उनके मनोरंजन क्रिया-कलाप, भाई-बहनों का प्रेम, माता का वात्सल्य आदि सदस्यों के दिल को बहुलाती रहती हैं। साथ-ही-साथ फुर्त में या तीज-त्योहारों में परिवार के सदस्य मिलकर हँसी-मजाक करते, अन्य खेल खेलते तथा संगीत, लोकगीत, धार्मिक भजन आदि से अपना दिल बहुलाते रहते हैं।

6. पारिवारिक परम्परा आदि की रक्षा—चूँकि संयुक्त परिवार में पीढ़ी-दर-पीढ़ी लोग एक साथ रहते हैं तथा प्रत्येक सामाजिक तथा धार्मिक कार्यों, उत्सवों तथा त्योहारों में सम्मिलित रूप से भाग लेते हैं, इस कारण परिवार की धार्मिक व सामाजिक आचार-प्रथाएँ, नियम व परम्पराएँ एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी को हस्तांतरित होती रहती हैं। इससे पारिवारिक परम्परा आदि की रक्षा सम्भव होती है।

7. बड़े-बूढ़ों का उपदेश व निर्देश—संयुक्त परिवार में बड़े-बूढ़ों का एक अच्छा जमघट होता है जिनमें जीवन का लम्बा अनुभव होता है। इनसे अनेक अच्छे उपदेश व निर्देश मिलते रहते हैं और सदस्यों को अपने जीवन को सफल बनाने में सहायता मिलती है। बड़े-बूढ़े अपने से छोटी आयु के लोगों को सदैव उचित मार्ग पर रखने के प्रयत्न करते हैं। इन्हीं बड़े-बूढ़ों के उपदेशों और निर्देशों का फल यह होता है कि संयुक्त परिवार सच्चे अर्थों में एक ऐसा सहकारी संस्थान बन जाता है जिसमें उसका प्रत्येक सदस्य पूरी तरह काम में लगा रहता है।

राष्ट्रीय कार्य

(National Functions)

1. समाजवादी व्यवस्था—राष्ट्रीय दृष्टिकोण से परिवार समाजवाद के फलों को देने वाला है। व्यक्तिगत भावना के कारण जो सामाजिक व्याधियाँ राष्ट्र को पीड़ित कर सकती हैं, संयुक्त परिवार एक सरलतम सहयोगी इकाई के रूप में उन व्याधियों से राष्ट्र को मुक्ति दिला देता है। श्री जोशी के शब्दों में, “आज भी जबकि सोशलिस्टिक पैटर्न, आदि के आधेतर समाज को चूर-चूर कर न केवल स्वार्थपरक एकाकी परिवार के रूप में परिणत किए दे रहे हैं, अपितु उन एकाकी परिवारों को भी छिन्न-भिन्न किए दे रहे हैं, संयुक्त परिवार स्थायित्व और समन्वय के प्रतीक बने हुए हैं।”

2. राष्ट्रीय एकता की प्रोत्साहन—संयुक्त परिवार परोपकार और त्याग की भावना को उत्पन्न करता है और इससे सामुदायिक जीवन की व्यावहारिक शिक्षा मिलती है। संयुक्त परिवार के सदस्य के नाते प्रत्येक सदस्य के हृदय और मस्तिष्क से संकीर्ण भाव दूर हो जाते हैं, जिसके फलस्वरूप उनमें अपनेपन की भावना विकसित होती है, इससे राष्ट्रीय एकता की भावना पनपती है।

3. देश-सेवा का अवसर—चूँकि संयुक्त परिवार में बीबी-बच्चों या बड़े माँ-बाप के पालन-पोषण का भार किसी एक के सिर पर नहीं होता और चूँकि उनमें से एक-दो सदस्यों की अनुपस्थिति से इन कार्यों में कोई बाधा नहीं पहुँचती, इस कारण संयुक्त परिवार के सदस्यों को परिवार की चिन्ता अधिक न रखकर देश-सेवा और त्याग करने का अवसर अधिक प्राप्त होता है।

संयुक्त परिवार के दोष (Demerits of Joint Family)

अनेक लाभ होते हुए भी संयुक्त परिवार प्रथा के कुछ अपने दोष हैं, जिस कारण संयुक्त परिवार दिन-प्रतिदिन निर्बल होता जा रहा है।

आर्थिक दृष्टिकोण

(From Economic Point of View)

(क) श्रमिकों की कुशलता में बाधक—चूँकि संयुक्त परिवार में सारा बोझ दो-चार कमाने वाले व्यक्तियों पर होता है, इस कारण प्रायः उनको कठिन परिश्रम करना पड़ता है और उनका स्वास्थ्य गिर जाता है। इसलिए उनकी कुशलता दिन-प्रतिदिन घटती जाती है या उनकी बहुत जल्द मृत्यु हो जाती है। डॉ० श्रीमती रानू मुकर्जी के द्वारा हाल ही में किए गए एक अर्थशास्त्रीय अनुसन्धान से यह पता चलता है कि श्रमिक की कुशलता उसी अनुपात में घटती है जिस अनुपात में उसके आश्रितों की संख्या बढ़ती है। दूसरे शब्दों में यदि किसी व्यक्ति के ऊपर अधिक लोगों के भरण-पोषण का भार है तो यह भरण-पोषण सम्बन्धी समस्या ही उसके लिए घातक सिद्ध होती है, क्योंकि उसी की चिन्ता में वह व्यक्ति सदैव घुलता रहता है जो अन्त तक उसकी कुशलता को घटाती रहती है।

(ख) श्रमिकों की गतिशीलता में बाधक—संयुक्त परिवार में अनेक नाते-रिस्तेदार एकसाथ रहते हैं और उनमें सहयोग, प्रेम, प्रीति और सदभावना की भावनाएँ दृढ़ होती हैं, जिनके फलस्वरूप संयुक्त परिवार के सदस्य अपने परिवार के साथ एक कठोर बन्धन में बन्ध जाते हैं। उस परिवार से पृथक् होकर अपने अस्तित्व की कल्पना करना भी वे छोड़ देते हैं। इसके फलस्वरूप व्यक्तिगत उन्नति के अवसर प्राप्त होने पर भी वे अपना परिवार छोड़ दूसरे शहर में जाना नहीं पसन्द करते, विशेषकर उन शहरों में जोकि उनके परिवार के शहर से बहुत दूर हैं, इसके परिणाम-स्वरूप न केवल उनके भावी जीवन की उन्नति रुक जाती है बल्कि श्रमिकों की गतिशीलता सन्तुलित ढंग से नहीं हो पाती है। अर्थात् कुछ जगहों में श्रमिकों की मांग की अपेक्षा पूर्ति अधिक होती है और कहीं-कहीं पर मांग की अपेक्षा श्रमिकों की पूर्ति कम। संयुक्त परिवार श्रमिकों की गतिशीलता पर रोक लगाकर बेकारी को बढ़ाता है। कुछ अर्थशास्त्रियों का यह कहना है कि भारतीय श्रमिकों में जो प्रवासी प्रवृत्ति पाई जाती है उसका एक प्रमुख कारण संयुक्त परिवार है। इसी प्रवृत्ति के कारण औद्योगिक केन्द्रों में किसी स्थायी श्रमशक्ति का विकास नहीं हो पाता।

(ग) सामान्य निर्धनता—चूँकि संयुक्त परिवार में प्रायः कमाने वालों की संख्या कम होती है और आश्रितों की संख्या अधिक, इसलिए परिवार में सामान्य निर्धनता सदा बनी रहती है। साथ-ही-साथ संयुक्त परिवार के कारण ही बाल-विवाह को भी काफी प्रोत्साहन मिलता है क्योंकि विवाह के द्वारा उत्पन्न समस्त उत्तरदायित्व

विवाह करने वाले लड़के पर नहीं बरन उसके संयुक्त परिवार पर होता है। बाल-विवाह के जो सामाजिक-आर्थिक दुष्परिणाम होते हैं, उससे सभी परिचित हैं।

सामाजिक दृष्टिकोण

(From Social Point of View)

(क) निकम्मे व्यक्तियों की वृद्धि—संयुक्त परिवार में सबको खाने-पीने को मिल ही जाता है, बेकार व्यक्ति भी भूखों नहीं मरता। यूरोप में बेकारों को काम दिलवाने और ऐसे व्यक्तियों को भूखों मरने से बचाने के लिए दरिद्रगृह (Poor Houses) की स्थापना की गई है; भारत में दरिद्रगृह संयुक्त परिवार है, इसमें सभी व्यक्तियों का निष्पक्ष रूप में पालन-पोषण होता रहता है। इस सुविधा से बेजा फायदा उठाने वाले भी होते हैं। ऐसे व्यक्तियों की संख्या वास्तविक कितनी है यह बताना कठिन है, पर यह निर्विवाद सत्य है कि इससे समाज में हजारों अकर्मण्य, आलसी और निकम्मे व्यक्तियों की वृद्धि हुई है। ऐसे व्यक्तियों के दो प्रमुख काम होते हैं—एक तो बैठे-बैठे खाना और मजाक उड़ाना, और दूसरे अपने जैसी निकम्मी सन्तानों को पैदा करना। ऐसे लोगों को यदि संयुक्त परिवार सहारा न दे तो उन्हें भी रोटी-कपड़ा कमाने की चिन्ता हो, वे भी जीवन की वास्तविकताओं का सामना करें और अपने पैरों पर खड़े हों; परन्तु जब उन्हें यह विश्वास हो जाता है कि परिवार से ही उनकी प्राथमिक आवश्यकताओं की पूर्ति होती रहेगी तो वे मेहनत से जी चुराते हैं। हराम की रोटी आराम से खाते हैं। अतः स्पष्ट है कि संयुक्त परिवार न केवल निकम्मे व्यक्तियों की संख्या को बढ़ाने में सहायक है बल्कि उनके आत्माभिमान को भी नष्ट करता है। दोनों ही स्थितियाँ समाज तथा परिवार के लिए एक गम्भीर समस्या है। इसीलिए संयुक्त परिवार के ये निकम्मे व्यक्ति देश या राष्ट्र के वर्तमान और भविष्य दोनों पर ही बोझ हैं। श्री भट्टनागर ने उचित ही लिखा है कि इस प्रकार के लोग शिक्षित, समझदार और चतुर होते हैं, इसीलिये समाज-सुधार, व्यापारिक प्रगति, औद्योगिक उन्नति, शिक्षा-प्रचार आदि कल्याणकारी कार्यों में महत्वपूर्ण सहयोग प्रदान कर सकते हैं; उनके पास जनता की सेवा के लिये समय है, ज्ञान है, धनी कुल में जन्म लेने से उनमें से अनेक लोग आर्थिक चिन्ताओं से भी मुक्त हैं; इसलिये अपने परिश्रम तथा सेवा से समाज की आर्थिक, सामाजिक तथा सांस्कृतिक प्रगति में पर्याप्त हाथ बंटा सकते हैं। परन्तु इन सब कामों से उन्हें प्रेम नहीं रहता; उन्हें तो एक ही काम से प्रेम है और वह है देश में अपने जैसी निकम्मी सन्तानों की वृद्धि करना। कुछ लोगों का यह कहना है कि संयुक्त परिवार यदि इन निर्धन व्यक्तियों का पालन-पोषण न करे तो यह काम राज्य या सरकार को अपने ऊपर ले लेना पड़ेगा, जो कि उसके लिए एक भारी आर्थिक बोझ होगा। परन्तु यह एक गलत धारणा है। श्री काटन ने संयुक्त परिवार के इस पहलू की विवेचना करते हुए लिखा है कि “मैं समझता हूँ कि आपका यह अनुमान गलत है कि यदि परिवार के व्यय से पलने वाले निकम्मे पुरुषों को पारिवारिक सहायता से वंचित कर दिया जाए तो वे भिखारी बन जाएंगे और समाज को इनका बोझ उठाना पड़ेगा..... मुसलमानों में संयुक्त परिवार जैसी कोई पद्धति नहीं है, किन्तु उनमें इस तरह का भिखारीपन नहीं है। इन निठल्ले उन्हें काम करने की कोई आवश्यकता प्रतीत नहीं होती।” अतः यह स्पष्ट है कि संयुक्त परिवार को हम सामाजिक सुरक्षा की कितनी ही अनोखी संस्था क्यों न समझें परन्तु उस अनोखेपन से ही अनेक निकम्मों की सृष्टि होती है।

(ख) व्यक्तित्व के विकास में बाधक—संयुक्त परिवार में रहते हुए विशेषकर होनहार लड़कों के व्यक्तित्व का विकास नहीं हो पाता, क्योंकि वहाँ 'सब धान बाईस पैसेरी' के भाव से तौले जाते हैं। इस कारण किसी को विशेष सुविधा प्राप्त नहीं होती। साथ ही, बच्चे बचपन से ही परतन्त्र और दूसरों पर निर्भर रहते हैं, इस कारण उनमें अपने पैरों पर खड़े होने की शक्ति नहीं पनप पाती। श्री काटन ने उचित ही कहा है, "यह जगन्नाथ का विशाल रथ है, असीम वैयक्तिक प्रतिभा इस रथ के भारी चक्रों से चुर-चुर हुई है; संयुक्त परिवार इसी रथ का लघु रूप है; कर्त्ता के अनुकूल या वश में न रहने वाले व्यक्तियों का विकास इस रथ के पहियों के नीचे कुचला गया है। उनकी योग्यताओं को पददलित किया गया है; उनमें विकास पाने वाली महत्वाकांक्षाओं पर तुषारापात किया गया; उनकी आशाओं और अभिलाषाओं का मर्दन किया गया; क्योंकि संयुक्त परिवार का सदस्य होने के कारण उन पर अनेक महान् उत्तरदायित्व थे। उनको निबाहते हुए वे अपने विश्वासों और आकांक्षाओं के अनुकूल आचरण नहीं कर सकते थे। यदि यह सामाजिक पद्धति न होती तो देश में जन-कल्याणकारी कार्यकर्त्ता, समाज-सुधारक और देशभक्त बहुत अधिक होते।" वास्तविकता यह है कि जिनके ऊपर परिवार का भार होता है, वे इतने लोगों के भरण-पोषण की चिन्ता में इतने व्याकुल और व्यस्त रहते हैं कि उन्हें भी अपने व्यक्तित्व के विकास से सम्बन्धित प्रयत्नों को तिलांजलि ही देनी पड़ती है। उसी प्रकार परिवार के अल्प-वस्क सदस्यों को इतने कठोर अनुशासन में रहना पड़ता है कि उनमें आत्मनिर्भरशीलता पनप ही नहीं पाती है और न ही वे अपने आन्तरिक गणों और क्षमताओं का उचित विकास कर पाते हैं।

(ग) द्वेष और कलह—संयुक्त परिवार में द्वेष और कलह का राज्य होता है क्योंकि सदस्यों के पारस्परिक हितों में संघर्ष होता रहता है, विशेषकर स्त्रियों में सदैव छोटी-छोटी बातों में झगड़ा खड़ा हो जाता है। इन पारिवारिक कलहों का परिणाम या तो पारिवारिक अशान्ति या संयुक्त परिवार का विघटन होता है। श्री एन० घोष के शब्दों में, "जिन दीवारों में संयुक्त परिवार के बुद्धिमान और प्रतिभाशाली व्यक्तियों को रहना पड़ता है, यदि उनसे प्रश्न किया जाये तो वे बड़ी करुण कथा कहेंगे। उन दीवारों ने कितने ही प्राणियों के अजस्र अश्रुप्रवाह देखे हैं; कितनों की दुःख व निराशा-भरी ठण्डी आहों को सुना है; वे दीवारें विफल हुए, फिर प्रारम्भ किये गये और पुनः विफल हुए अनेक संघर्षों की साक्षी हैं। वीर आत्माएँ किसी के आगे घुटने टेकना नहीं चाहती, उन दीवारों ने उन्हें अनिच्छा से घुटने टेकते देखा है। हिन्दू परिवार ने उनके हृदय में घकने वाली ज्वाला के अनेक अंगारों को दबा डाला है, अनेक उच्च योजनाओं को कब्र में दफना दिया है।" कई बार झगड़े का कारण प्रतिष्ठा-सम्बन्धी छोटी-सी बात होती है। कई बार घन के हेतु और आज्ञा-पालन व सत्ता के प्रश्न का झगड़ा उठ खड़ा होता है। इसमें सन्देह नहीं कि कई बार खुल्लमखुल्ला लड़ाई बन्द हो जाती है; किन्तु परिवार की यह शान्त दशा सशस्त्र तटस्थता की तरह होती है। परिवार में शांति उन्हीं अवस्थाओं में होती है, जब सब लोग लड़ते-लड़ते थक गये हों, या अगले मोर्चे की तैयारी कर रहें हों, या शत्रु को बलवान समझकर चुप हों तथा उसे लौटकर आक्रमण करने का अनुकूल अवसर ढूँढ रहे हों।" यदि पारिवारिक झगड़ों की वास्तविक झाँकी किसी को देखनी हो तो किसी संयुक्त परिवार को देख ले। परन्तु इसका तात्पर्य यह नहीं है कि सभी संयुक्त परिवार कलहों के केन्द्र बने होते हैं। पर इतनी बात बख्श

है कि संयुक्त परिवारों में अन्य परिवारों की अपेक्षा अधिक झगड़े होते हैं और उनका रूप भी अधिक कटु होता है।

(घ) बाल-विवाह को प्रोत्साहन—संयुक्त परिवार में छोटे-छोटे लड़के व लड़कियों का विवाह हो जाता है, क्योंकि विवाह कर्त्ता की मर्जी के ऊपर है, न कि विवाह करने वालों पर। संयुक्त परिवार में रहते हुए कोई भी सदस्य कर्त्ता की मर्जी के खिलाफ काम नहीं कर सकता और अगर लड़के की ओर से कोई आपत्ति उठाई भी जाती है तो कर्त्ता और अन्य लोग यह तर्क प्रस्तुत करते हैं कि उसे विवाह करने में क्या आपत्ति है जबकि उसके तथा बीबी-बच्चों के भरण-पोषण का भार परिवार पर है, न कि विवाह करने वाले पर। संयुक्त परिवार में, जैसा कि पहले ही बताया जा चुका है, कन्याओं का स्थान सबसे प्रथम है। विवाह के सम्बन्ध में न तो उनसे राय ली जाती है और न ही इसकी कोई आवश्यकता समझी जाती है। वे एक प्रकार से परिवार पर बोझ होती हैं और इसलिये जल्दी-से-जल्दी उस बोझ को सर से उतारने की बात सभी लोग सोचते हैं और यह प्रयत्न करते हैं कि कम-से-कम खर्च में उनका विवाह कर दिया जाये। चूँकि बचपन में घर के भविष्य-जीवन और गुणों का समुचित पता नहीं लगाया जा सकता इस कारण अधिक घर-मूल्य भी नहीं देना पड़ता है, इसी से लाभ उठाने के लिये संयुक्त परिवार के अनेक कर्त्ता लड़कियों का विवाह जल्दी-से-जल्दी कर देते हैं।

(ङ) गोपनीय स्थान का प्रभाव—संयुक्त परिवार में अनेक लोगों का झुण्ड होता है, पर उस अनुपात में परिवार में स्थान उपलब्ध नहीं होते। फलतः गोपनीय स्थान का नितान्त अभाव होता है जिसके कारण पति-पत्नी और विशेषकर नवविवाहित दम्पतियों का स्वतन्त्र रूप से मिलना-जुलना सम्भव नहीं होता, जोकि मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण से हानिकारक है। गोपनीय स्थान के अभाव से पति-पत्नी को अपनी अनेक स्वाभाविक इच्छाओं तथा भावनाओं को दबाना पड़ता है, यहाँ तक कि स्थितान्तरापूर्वक अपने विचारों का आदान-प्रदान भी नहीं कर पाते हैं। इसके फलस्वरूप एक-दूसरे को उचित रूप से समझना और एक-दूसरे के सुख-दुख में समान रूप से हिस्सा बँटाना सम्भव नहीं होता। यह दाम्पत्य-जीवन के लिये अहितकर सिद्ध होता है क्योंकि पति-पत्नी का पारस्परिक अनुकूलन, घनिष्ठता, आंतरिकता तथा एक-दूसरे को यथार्थ रूप में समझने पर ही निर्भर है, जोकि संयुक्त परिवार में स्थानाभाव के कारण सम्भव नहीं होता है। डॉक्टर राजेन्द्र प्रसाद ने अपनी 'आत्म-कथा' में लिखा है कि संयुक्त परिवार में दाम्पत्य-प्रेम के विकास का बहुत कम अवसर है। पति-पत्नी इतनी कृत्रिम और अस्वाभाविक परिस्थितियों में लिखते हैं कि उनमें प्रेम का विकास तो दूर की बात है, मामूली परिचय भी कम होता है।

(च) स्त्रियों की गिरी दशा—स्त्रियों की दशा संयुक्त परिवार में बड़ी दयनीय होती है, विशेष रूप से नई ब्याही बहुओं की; क्योंकि उन पर सास और ननद राज्य एवं अत्याचार करती हैं। उनका एकमात्र काम संयुक्त परिवार के दर्जनों सदस्यों की सेवा करना तथा रात्रि को पति की शैया-संगिनी बनना होता है। उन्हें एक प्रकार से दासी के समान समझा जाता है और उनको अपने आत्म-विकास के लिये कोई भी अवसर नहीं मिल पाता। किसी भी पारिवारिक मामले में उनकी राय नहीं ली जाती, यहाँ तक कि अपने बच्चों के पालन-पोषण से सम्बन्धित विषय में भी उनका कोई हाथ नहीं रहता। न वे दाम्पत्य-प्रेम का ही सुख उठा सकती हैं और न बच्चों के प्रेम का।

उनका जीवन रसोईखाने में ही और अन्य सेवा-कार्यों के साथ बच्चों को जन्म देने में ही बीता जाता है। उन्हें शिक्षा के अवसर प्राप्त नहीं होते और शिक्षा के अभाव के कारण उनका दृष्टिकोण न तो विस्तृत होता है और न ही दुनिया के प्रगतिशील विचारों के साथ कोई सम्पर्क।

(ख) कर्त्ता की स्वेच्छाचारिता—संयुक्त परिवार में स्वेच्छाचार का राज्य होता है। उस परिवार का कर्त्ता जो इच्छा करता है वही होता है। उसकी आज्ञा ही सर्वोपरि है। उसके आगे किसी की भी भावना, इच्छा या आज्ञा का ध्यान नहीं रखा जाता है। यह कर्त्ता प्रायः बड़े-बूढ़े ही होते हैं और इनका दृष्टिकोण प्राचीन परम्पराओं आदर्शों और मूल्यों पर आधारित होता है जिसके फलस्वरूप वे रुढ़िवादी भी होते हैं और प्रगतिशील विचारों को अपने पास फटकने नहीं देते। इसका परिणाम यह होता है कि संयुक्त परिवार के नवयुवक और युवती सदस्यों का उनके साथ अनुकूलन नहीं हो पाता है। कर्त्ता यह चाहते हैं कि उनकी इच्छा के अनुसार ही दूसरे लोग काम करें। इसके विपरीत नवीन भावनाओं और विचारों से अनुप्रेरित अल्पवयस्क सदस्य उस पुराने ढंग को स्वीकार नहीं कर पाते हैं। पर कर्त्ता के सामने उन्हें झुकना ही पड़ता है या फिर वे परिवार से पृथक् हो जाते हैं। दोनों ही अवस्थाएँ व्यक्तिगत तथा पारिवारिक जीवन के लिए स्वास्थ्यप्रद नहीं हैं।

संयुक्त परिवार को विघटित करने वाले कारक (Factors disintegrating Joint Family)

प्रत्येक सामाजिक संस्था एक समाज की और एक युग की परिस्थितियों के अनुसार बनती-बिगड़ती है। संयुक्त परिवार की उत्पत्ति भारतवर्ष में ऐसे युग में हुई थी जब ग्रामीण समुदाय में ही यहाँ के लोग पलते थे। उस समय सामाजिक परिवर्तन और गतिशीलता का नितान्त अभाव था। सब लोग जमीन से जकड़े थे और इस कारण एक स्थान पर एक परिवार में सम्पूर्ण जीवन व्यतीत कर सकते थे। परन्तु आज परिस्थितियाँ बिल्कुल विपरीत हैं। पाश्चात्य शिक्षा और साथ ही औद्योगीकरण और नगरीकरण के फलस्वरूप भारतवर्ष की सामाजिक परिस्थितियों में क्रान्तिकारी परिवर्तन हो गया है। ऐसी अवस्था में भारतीय संयुक्त परिवारों के लिये अपने परम्परात्मक स्वरूप को बनाये रखना कठिन हो गया और उनका विघटन प्रारम्भ हुआ। आधुनिक युग में इस विघटन के निम्न कारण हैं—

1. औद्योगीकरण—कृषियुग में परिवार के सदस्यों को एक स्थान से दूसरे स्थान को जाना नहीं पड़ता था और सभी सदस्य एक स्थान पर एकसाथ रहकर खेती-बाड़ी करते थे। पर औद्योगीकरण ने इस एकता को तोड़ डाला है, क्योंकि इसके फल-स्वरूप नौकरी का क्षेत्र सारे देश में फैल गया है और उसी के साथ संयुक्त परिवार का विघटन भी प्रारम्भ हुआ। औद्योगीकरण ने निम्न प्रकार से संयुक्त परिवार को विघटित किया है—(क) नए तथा अगणित पेशों को उत्पन्न करके—औद्योगीकरण के साथ-साथ नये-नये पेशों का भी जन्म हुआ है और ये पेशे देश के हर क्षेत्र में फैल गये हैं। पहले परिवार से पृथक् होने पर रोटी कमाने के अवसर और साधन बहुत कम थे, पर आज औद्योगीकरण के फलस्वरूप नौकरी का क्षेत्र सारे देश में फैल गया है। साथ-ही-साथ मिल और कारखानों में अधिक वेतन का भी आकर्षण होता है। इससे लाभ उठाने के लिये गाँव के हजारों व्यक्ति शहर में आते हैं जिसके फलस्वरूप संयुक्त परिवार का विघटन होता है। (ख) ग्रामीण उद्योग-धंधों को नष्ट करके—भारतवर्ष

में औद्योगीकरण का एक दुष्परिणाम यह हुआ है कि यहाँ औद्योगीकरण के साथ-साथ गाँव के गृह-उद्योगों का विनाश हुआ है। इसका प्रमुख कारण यह है कि इस देश में औद्योगीकरण की प्रक्रिया स्वस्थ आधार पर न तो प्रारम्भ की गई थी और न ही उसका आयोजन इस रूप में किया गया था कि गृह-उद्योगों में तथा बड़े उद्योगों के बीच एक स्वस्थ श्रम-विभाजन हो ताकि एक को दूसरे से हानि न पहुँचे। इसका परिणाम यह हुआ कि मशीनों से बनने वाली चीजें गृह-उद्योगों में उत्पन्न होने वाली चीजों की अपेक्षा सस्ती और अच्छी बनने लगीं और उनके साथ गाँव के गृह-उद्योग प्रतिस्पर्द्धा नहीं कर पाये। फलतः इन गृह-उद्योगों का धीरे-धीरे पतन हुआ और उनमें लगे हुए हजारों कारीगर बेकार हो गए। देश में खेतीबाड़ी की पिछड़ी दशा होने के कारण इस पेशे में भी उन कारीगरों की खपत न हो सकी और वे बेकार कारीगर नौकरी की खोज में अपने गाँव के संयुक्त परिवार को छोड़कर शहरों में आकर बसने को बाध्य हुए।

(ग) नागरिक पर्यावरण को उत्पन्न करके—औद्योगीकरण का एक परिणाम यह हुआ कि इसके साथ-साथ इस देश में नगरों की संख्या भी बढ़ती चली गई। ये नगर एक विशेष पर्यावरण को प्रस्तुत करते हैं। नगरों में नाना देश तथा प्रान्त के लोगों का जमघट होता है। इनके सम्पर्क में आने से नये विचारों तथा आदर्शों को जानने का अवसर मिलता है और उसके फलस्वरूप लोग वैज्ञानिक दृष्टिकोण से संयुक्त परिवार के दोष और गुणों का विश्लेषण करते हैं। इससे संयुक्त परिवार की नाँव आप-से-आप दुर्बल हो जाती है। औद्योगीकरण के साथ-साथ जिन नगरों का विकास हुआ है उनमें सामान्य तथा टेक्नीकल शिक्षा प्राप्त करने के अनेक अवसर प्राप्त हैं। इससे लाभ उठाने के लिये गाँव के अनेक व्यक्ति शहर में आते हैं। पर एक बार पढ़-लिख जाने या प्रशिक्षित हो जाने के बाद इच्छा रहते हुए भी ये लोग गाँव नहीं लौट पाते हैं क्योंकि पढ़े-लिखे, प्रशिक्षित या टेक्नीकल रूप में कुशल लोगों के लिये देहात में किसी नौकरी या व्यापार की सुविधा उपलब्ध नहीं है। इसलिये उनके लिये भी शहरों में ही रह जाना अनिवार्य हो जाता है।

(घ) नकद मजदूरी प्रणाली को लागू करके औद्योगीकरण के फलस्वरूप नकद-मजदूरी देने की प्रणाली चालू हुई है। कृषि-स्तर पर एक सामान्य खेत में सब लोग काम करते थे और उसमें जो फसल उगाते थे वह उनके सम्मिलित श्रम का ही परिणाम होता था। कोई भी यह अन्दाजा नहीं लगा पाता था कि वास्तव में उस फसल में उसका निजी हिस्सा कितना है। जिस तरह सब लोग सम्मिलित रूप से कमाते थे उसी तरह सब लोग उस कमाई के फल को सम्मिलित रूप में अपनी-अपनी आवश्यकतानुसार उपभोग भी करते थे। न केवल खेती बल्कि बढ़ईगोरी, सोनार-गीरी, लोहारगीरी आदि के काम भी पारिवारिक आधार पर होते थे जिनमें कि परिवार के सभी पुरुष, स्त्री तथा बच्चों का सहयोग होता था। फलतः सम्मिलित आय और सम्मिलित उपभोग का ही सिद्धान्त लागू था, इसके फलस्वरूप व्यक्तिवाद की भावना पनप नहीं पाती थी। औद्योगीकरण के बाद नकद मजदूरी प्रणाली के आधार पर लोगों की व्यक्तिगत क्षमताओं का झूल्यांकन अलग-अलग सम्भव हो गया, जिससे व्यक्तिवाद की भावना पनपने लगी, जोकि संयुक्त परिवार के संगठन के लिये घातक ही सिद्ध हुई।

(ङ) मकानों की समस्या को उत्पन्न करके—औद्योगीकरण के फलस्वरूप न केवल नगरों का विकास हुआ बल्कि उन नगरों में नौकरी, व्यापार, शिक्षा आदि की सुविधायें उपलब्ध होने के कारण वहाँ आबादी भी घनी हो गई। नगरों में जिस अनुपात में जनसंख्या बढ़ी उस अनुपात में नये मकान नहीं बन सके। इसका फल यह

हुआ कि नगरों में मकानों की समस्या विकट हो गई और उसी के साथ-साथ मकानों का किराया भी बढ़ता चला गया। औसत आय के लोगों के लिये शहरों में बड़ा मकान किराये पर लेकर संयुक्त परिवार में सभी सदस्यों के साथ रहना असम्भव हो गया।

(च) स्त्रियों के लिये नौकरी के अवसर उपलब्ध करके—औद्योगीकरण के फलस्वरूप न केवल पुरुषों के लिये बल्कि स्त्रियों के लिये भी नौकरी के अनेक अवसर उपलब्ध हो गये हैं। इसके फलस्वरूप स्त्रियाँ भी घर से बाहर नौकरी करने के लिये निकल पड़ी हैं, जिसका परिणाम यह हुआ है कि स्त्रियों की परिवार पर आर्थिक निर्भरता कम हो गई है और उनमें भी अपने अधिकार तथा स्वतन्त्रता के सम्बन्ध में जागरूकता उत्पन्न हुई है। उन लोगों ने इस रुढ़िवादी व्यवस्था—संयुक्त परिवार—के विरुद्ध एक प्रत्यक्ष व अप्रत्यक्ष विद्रोह कर दिया है। अतः स्पष्ट है कि औद्योगीकरण के फलस्वरूप महिलाओं में जो जागृति उत्पन्न हुई है, उससे संयुक्त परिवार की नींव हिल गई है।

(छ) परिवार के कार्यों को घटाकर—औद्योगीकरण के फलस्वरूप परिवार के अनेक कार्य घट गये हैं। कृषि-युग में परिवार न केवल एक सामाजिक बल्कि एक आर्थिक इकाई था। अनाज और सब्जियाँ घर पर ही उगाई जाती थीं, कपड़े बुनने का काम घर में ही होता था और घर में ही माँ और अन्य स्त्रियाँ अपने ही हाथों से उन कपड़ों को सीती थी, अन्न कूटती-पीसती थीं और खाना पकाती थीं। परन्तु औद्योगीकरण के फलस्वरूप इस परिस्थिति में मौलिक परिवर्तन आ गया है। मनुष्यों का काम मशीनें करने लगी हैं, इससे परिवार के अनेक कार्य घट गये हैं और उनमें अधिक व्यक्तियों की आवश्यकता समाप्त हो गई है। इससे भी संयुक्त परिवार विघटित होता है।

(ज) धन के महत्व और व्यक्तिगत योग्यता पर अधिक बल देकर—औद्योगीकरण ने एक ओर धन पर और दूसरी ओर व्यक्तिगत योग्यता पर अधिक बल दिया है। औद्योगिक व्यवस्था के अन्तर्गत अच्छी श्रेणी और स्थान पाने के लिये प्रत्येक व्यक्ति को या तो अपनी व्यक्तिगत योग्यता या कुशलता को बढ़ाना पड़ता है या पर्याप्त मात्रा में धन का अधिकारी होना पड़ता है। अपने संयुक्त परिवार के लिये सब-कुछ त्याग देने में या दूसरों के भरण-पोषण की चिन्ता में सम्पूर्ण जीवन बिता देने से औद्योगिक समाज में न तो किसी भी व्यक्ति का सम्मान बढ़ सकता है और न उसे ऊँची स्थिति ही मिल सकती है। औद्योगिक समाज में धन का महत्व अधिक है। इसीलिए कहा गया है कि आज राजा के प्रजा और प्रजा से भी धन का महत्व अधिक है। एक डॉक्टर की पत्नी की सामाजिक स्थिति उसी अनुपात में ऊँची उठती जाती है जिस अनुपात में उस डॉक्टर की आय बढ़ती है। उसी तरह एक राज्य की ख्याति उसके राष्ट्रीय धन के बढ़ने के साथ-साथ बढ़ती है। इसी कारण ऐसी परिस्थिति में संयुक्त परिवार का बना रहना कैसे सम्भव हो सकता है।

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि आधुनिक औद्योगीकरण के फलस्वरूप कुछ ऐसी परिस्थितियों का उद्भव हुआ है जो संयुक्त परिवार की निरन्तरता के लिये अनुकूल नहीं हैं और इसीलिये औद्योगीकरण के प्रभाव से आज का संयुक्त परिवार विघटित हो रहा है।

2. यातायात के साधनों में उन्नति—अंग्रेजी राज्य की स्थापना के पहले तक भारतवर्ष में यातायात के साधन बहुत कम थे। फलस्वरूप एक ओर उद्योग-धन्धों का अधिक विकास नहीं हो सका और दूसरी ओर लोग एक स्थान से दूसरे स्थान को नहीं जा सकते थे। परन्तु यातायात के साधनों में उन्नति हो जाने से ये कठिनाइयाँ दूर हो

गई और व्यापार, वाणिज्य व उद्योग-धन्धे तेजी से पनपने लगे। उद्योग-धन्धे या व्यापार-वाणिज्य के लिये देश के एक कोने से दूसरे कोने तक जाना यातायात के उन्नत साधनों के कारण सम्भव हो गया। इसीलिये योग्य और कुशल व्यक्ति परिवार छोड़कर देश के कोने-कोने में छिटक गये और परिवार के साथ सम्पर्क मनीआर्डर और चिट्ठी-पत्री तक ही सीमित रह गया।

3. जनसंख्या का बढ़ना—भारत में जनसंख्या बहुत तेजी से बढ़ रही है। इसके फलस्वरूप खेती पर जनसंख्या का दबाव भी उत्तरोत्तर बढ़ता गया और खेती के द्वारा इस बढ़ती हुई जनसंख्या का पोषण सम्भव नहीं रहा। इससे गांव में बेकारी और मुखमरी बढ़ी और लोगों को बाध्य होकर संयुक्त परिवार को छोड़कर नौकरी की खोज में बाहर निकलना पड़ा। फलस्वरूप संयुक्त परिवार का विघटन शुरू हुआ।

4. सामान्य निर्धनता—अंग्रेजी के राज्य-विस्तार के बाद भारत के सभृद्धि-शाली और आत्मनिर्भर गांवों के समस्त आधार नष्ट होते गए और देश की निर्धनता दिन-प्रतिदिन बढ़ती गई। साथ ही महंगाई भी बढ़ती गई। इन सबके फल-स्वरूप एक औसत आय वाले व्यक्ति के लिए अपने बीबी-बच्चों का ही उचित पालन-पोषण आज कठिन हो गया है; संयुक्त परिवार के नाते-रिश्तेदारों का प्रश्न तो बाद की बात है। इस कारण आज संयुक्त परिवार प्रणाली को बढ़ावा देने की बात कोई सोचता भी नहीं है। यह परिस्थिति संयुक्त परिवार के विघटन का एक कारण बन जाती है।

5. पाश्चात्य संस्कृति और शिक्षा—पाश्चात्य आदर्शों ने भारत के लोगों को त्याग और कर्त्तव्य के पथ से हटाकर व्यक्तिगत अधिकार, सुख और समानता का पाठ पढ़ाया जोकि स्वतः ही संयुक्त परिवार को विघटित करने वाले तत्व हैं। भारतीय संस्कृति के अनुसार मनुष्य जन्म लेते ही तीन ऋणों का ऋणी होता है; उसे अपने जीवन में माता-पिता, गुरु और समाज के इन ऋणों को अवश्य चुकाना है। इसके विपरीत पाश्चात्य संस्कृति व्यक्तिगत अधिकार, स्वतन्त्रता और समानता के सिद्धांतों पर आधारित है। आज के नवयुवक इन्हीं सिद्धांतों को मानते हैं और प्राचीन बन्धनों को तोड़ने का प्रयत्न करते हैं जबकि उनके माता-पिता अपनी प्राचीन परम्पराओं को अत्यधिक महत्व देते हैं। ऐसी अवस्था में पिता और पुत्र के विचारों और कार्यों में कोई भी सामंजस्य स्थापित नहीं हो पाता बल्कि इनमें संघर्ष ही अधिक होता है। यह स्थिति संयुक्त परिवार के विघटन का एक महत्वपूर्ण कारण है।

उसी प्रकार पाश्चात्य शिक्षा भी संयुक्त परिवार की नींव को हिला देने में सहायक सिद्ध हुई है। आज लोगों की शिक्षा परिवार में नहीं, अंग्रेजी आदर्शों से प्रभावित स्कूल और कालेजों में मिलती है। इस शिक्षा से शिक्षित लड़के और लड़कियों के दिल में माता-पिता, बड़े भाई या परिवार के प्रति उतने अधिकारी की भावना नहीं होती जितनी संयुक्त परिवार के लिये आवश्यक है। साथ ही पाश्चात्य शिक्षा ने एक नया आदर्श हमारे सम्मुख उपस्थित किया है जिसके अनुसार पति-पत्नी और दो बच्चों का परिवार ही आदर्श परिवार समझा जाने लगा है और संयुक्त परिवार के प्रति अश्रद्धा पनपने लगी है।

6. व्यक्तिवाद की भावना—पाश्चात्य संस्कृति और शिक्षा संस्था का एक प्रमुख परिणाम व्यक्तिवाद का विकास है। व्यक्तिवाद संयुक्त परिवार के समष्टिवाद

के विपरीत है। परिवार के सामूहिक हितों की ओर किसी का ध्यान नहीं जाता। जब प्रत्येक व्यक्ति केवल अपनी ही पत्नी और बच्चों की सुख-शांति की चिन्ता में लग गया है तो संयुक्त परिवार का विघटन स्वाभाविक ही है। इस परिस्थिति को प्रोफेसर वेदालंकर ने इस प्रकार प्रस्तुत किया है—“पहले पुरुष अपने परिवार से पृथक् होकर शहर में जाता है। जब वह आजीविका कमाने लगता है तो अपने परिवार को वहाँ बुला लेता है। उसकी यह प्रबल इच्छा होती है कि अपने गाढ़े पसीने से पैदा की गई कमाई पर उसका पूरा अधिकार हो, उसका उपभोग उसके ही बीबी-बच्चे करें। यदि वह उदारतावश अपनी आय गांव में बसे अपने संयुक्त परिवार को प्रदान करता है तो यह स्थिति देर तक नहीं चल सकती। जीवन-संघर्ष की उग्रता उसकी पत्नी को इस बात के लिये बाधित करती है कि वह उस धन का अत्यन्त सावधानी से उपयोग करे। जब वह देखती है कि संयुक्त परिवार में उनके धन का दुरुपयोग होना अनिवार्य है तो वह पति को पृथक् होने के लिए बाध्य करती है ... परोपकार करना साधु-महात्माओं का काम है, हम प्रत्येक स्त्री से यह आशा नहीं कर सकते कि वह अपने बच्चों और पति से भिन्न प्राणियों को अपनी सम्पत्ति लुटा देने के लिए तैयार होगी। इस अवस्था में संयुक्त परिवार का मंग होना आवश्यक है।”

7. महिला आन्दोलन—महिला आंदोलन और स्त्रियों की शिक्षा के प्रसार के फलस्वरूप स्त्रियों में जो जागृति आई है उसके कारण भी संयुक्त परिवार विघटित हो रहे हैं। आज वे संयुक्त परिवार में अपने व्यक्तित्व को पूर्ण रूप से नष्ट करके बासी की तरह जीवन व्यतीत करने को राजी नहीं हैं और इसलिए विवाह के बाद ही प्रायः उन्हीं की योजनाओं और परामर्श के अनुसार पति को संयुक्त परिवार से अपना सम्बन्ध तोड़ना पड़ता है।

8. स्त्रियों की कलह—संयुक्त परिवार के विघटन में इस कारक का भी महत्वपूर्ण हाथ रहता है। संयुक्त परिवार की एक प्रमुख विशेषता सास-बहू, देवरानी-जेठानी के बीच होने वाली कलहें या संघर्ष हैं। परिवार की प्रत्येक विवाहित स्त्री अपने पति और अपने बच्चों का ख्याल अधिक रखती है और झगड़ों की शुरुआत प्रायः इसी विषय को लेकर होती है। सास-ननद आदि जो अत्याचारपूर्ण व्यवहार बहू के साथ करती हैं, वह भी प्रायः झगड़े का एक कारण बन जाता है जिसका कि परिणाम संयुक्त परिवार का विघटन ही होता है।

9. कानूनी कारण—आज के अनेक कानूनों ने संयुक्त परिवार की स्थिरता पर अपना प्रभाव डाला है। उदाहरण के लिए सन् 1954 के विशेष विवाह अधिनियम को ही लीजिये। इसके द्वारा अन्तर्जातीय विवाह को कानूनी मान्यता प्रदान की गई है। इससे संयुक्त परिवार के कुछ सदस्य दूसरी जाति की लड़की से विवाह करते हैं और चूँकि इनका अनुकूलन संयुक्त परिवार से प्रायः नहीं हो पाता, इस कारण विवाह के पश्चात् बहुधा संयुक्त परिवार को छोड़कर ये पति-पत्नी अपना एक पृथक् घर बसा लेते हैं। इससे संयुक्त परिवार की स्थिरता को काफी ठेस पहुँचती है। उसी प्रकार सन् 1955 के विवाह-विच्छेद अधिनियम के पास हो जाने से संयुक्त परिवार के स्त्री सदस्यों पर मनमाने ढंग से अत्याचार करने वाले के दिल में यह डर लगा रहता है कि अधिक अत्याचार करने पर पत्नी विवाह-विच्छेद के द्वारा संयुक्त परिवार से ही नहीं बल्कि पति से भी अपना सम्बन्ध तोड़ सकती है। जहाँ सास, ननद या पति का अधिक अत्याचार होता था वहाँ कुछ स्त्रियों ने उससे अपना पीछा छुड़ा भी लिया है। इतना ही नहीं, ‘हिन्दू उत्तराधिकार अधिनियम, 1956’ के

पास हो जाने से अब संयुक्त परिवार की सम्पत्ति पर स्त्री और पुरुष सभी सदस्यों का समान अधिकार हो गया है। इससे भी संयुक्त परिवार की स्थिरता प्रभावित हुई है। इस अधिनियम ने विशेषकर कर्त्ता की निरंकुश सत्ता पर आघात किया है। सन् 1955 के विवाह अधिनियम के अनुसार विवाह के समय वर की आयु कम-से-कम 18 वर्ष और वधू की आयु कम-से-कम 15 वर्ष होनी चाहिए। अब तो एक केन्द्रीय कानून के द्वारा लड़की-लड़के के विवाह की न्यूनतम आयु क्रमशः 18 व 21 वर्ष कर दिया गया है। इससे संयुक्त परिवार में होने वाले बाल-विवाहों की संख्या कम हो गई है और लड़के व लड़कियों को पढ़ने, लिखने या शिक्षा प्राप्त करने के अधिक अवसर प्राप्त होने लगे हैं। पढ़-लिखकर लड़के नौकरी करने के उद्देश्य से देश के विभिन्न भागों में छिटक जाते हैं और अपने बीबी-बच्चों के साथ वहीं बस जाते हैं जिसके फलस्वरूप संयुक्त परिवार टूटता है। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि वर्तमान समय में संयुक्त परिवार की स्थिरता भंग करने में आधुनिक अधिनियमों का पर्याप्त योग रहा है।

उपरोक्त विवेचना से यह स्पष्ट है कि आधुनिक समय में इस प्रकार की कुछ परिस्थितियाँ उत्पन्न हो गई हैं जिससे कि संयुक्त परिवार का विघटन स्वाभाविक है। आधुनिक मूल्य और आदर्श कुछ इस भाँति हैं कि आज हम ज्यादा झन्झट पसन्द नहीं करते। हम हर प्रकार के बोझों से अपने को हल्का करना चाहते हैं। आज कमरों में सारी दीवार भरकर तस्वीर लटकाना नहीं समझा जाता, ड्राइंग रूम में दो-एक कलात्मक चित्रों को लगा देना ही आज कुलीनता की पहचान है। आज चार घोड़े की टमटम से बेबी-ऑस्टीन मोटरकार की कदर ज्यादा है; आज पक्का गाना या ख्याल गाने से गीत और ग़ज़ल कहीं ज्यादा लोकप्रिय हैं। आज ड्रामा नहीं होता, एकांकी नाटक से ही काम चल जाता है। जब जीवन के सब पहलू इस भाँति संक्षिप्त हो गए हैं तो उन सबके बीच संयुक्त परिवार के विशाल रूप की स्थिरता कैसे सम्भव है। आधुनिक परिवर्तित परिस्थितियों का प्रभाव सब ओर स्पष्ट है। उदाहरणार्थ स्त्रियों को ही लीजिये। पहले जमाने में पति को अपनी पत्नी से सेवा और पत्नी को खाना व कपड़ा और दो-चार लड़के-लड़कियाँ मिल जाने से ही दोनों खुश रहते थे। पर आज जमाना दूसरा है—आज जीवन के हर क्षेत्र में व्यापारिक दृष्टिकोण पनप चुका है, हर विषय में आज हम लाभ-हानि का हिसाब लगाते हैं और इसलिए यदि किसी को एक पाई का भी घाटा हुआ तो फौरन अलग होने का प्रश्न आता है। इसी कारण आज भाई-भाई में भी नहीं बनती, जिसका अन्तिम परिणाम संयुक्त परिवार का विघटन होता है। इसलिए यह सच ही कहा गया है कि 'आज परिवार एक संकट में फंसी हुई संस्था है' (The family today seems to be a troubled institution.)।

संयुक्त परिवार का भविष्य (Future of Joint Family)

अब तक की विवेचना के आधार पर यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि वर्तमान समाज में कुछ ऐसी शक्तियाँ काम कर रही हैं जिनके कारण संयुक्त परिवार का विघटन अनिवार्य है। इसमें हमारे चाहने या न चाहने का प्रश्न नहीं, यह होना ही है। संयुक्त परिवार का विघटन विशेषकर नगरों या शिक्षित वर्गों में स्पष्ट है तथा यह आशा की जा सकती है कि औद्योगीकरण की वृद्धि के साथ-साथ यह और

भी स्पष्ट होता जाएगा। ग्रामीण आर्थिक-सामाजिक व्यवस्था के अन्तर्गत संयुक्त परिवार की उपयोगिता आज भी है; इसीलिए गांव में इसका विस्तार और प्रभाव स्पष्टतः देखने को मिलता है और शायद भविष्य में भी ऐसा ही होगा जब तक कि भारतीय-ग्रामीण समुदाय के स्वरूप में कोई क्रान्तिकारी परिवर्तन नहीं होता। प्रायः ऐसा भी देखा गया है कि संयुक्त परिवार से अलग होने के बाद भी लोग आपस में सद्भाव को बनाए रखने में सफल होते हैं। ये लोग संयुक्त परिवार को तोड़ने के लिए पृथक् नहीं होते; इनका उद्देश्य संयुक्त परिवार के जीवन के दोषों से, विशेषकर रोज के झगड़े और अशान्ति से दूर रहना होता है। संयुक्त परिवार के प्रति प्रायः इनके मनोभाव में कोई परिवर्तन नहीं होता, क्योंकि भारत की हवा में भी संयुक्त जीवन की लहरें हैं। श्री कपाडिया (Kapadia) के शब्दों में, "हिन्दू-मनोवृत्तियाँ आज भी संयुक्त परिवार के पक्ष में हैं। इस कारण यह उचित ही है कि कानून द्वारा संयुक्त परिवार का विनाश गैर-हिन्दुयाना समझा जाता है। क्योंकि यह हिन्दू पारिवारिक इतिहास और मनोवृत्ति की अवहेलना करता है।" श्री कपाडिया ने यह भी लिखा है कि "इतना तनाव तथा भार सहन करते हुए भी संयुक्त परिवार अब तक जीवित है तथा इसका भविष्य अन्धकारपूर्ण नहीं है। भिन्न-भिन्न पीढ़ियों में संघर्ष होते हुए भी.....आने वाली पीढ़ी में संयुक्त परिवार के लिये सुदृढ़ भावना विद्यमान है।" डॉ० आई० पी० देसाई ने अभी कुछ समय पूर्व पूना में हाई स्कूल के मैट्रिकुलेशन तथा उससे नीचे की कक्षाओं में पढ़ने वाले विद्यार्थियों का अध्ययन किया है। उससे पता चलता है कि 97 प्रतिशत ने सम्मिलित परिवार की साथ-साथ खाने-पीने तथा बात-चीत एवं मनोविनोद की आदत को अधिक पसन्द किया है। इसके अतिरिक्त 72 प्रतिशत ने घर के कार्य में अपने माता-पिता को सहायता देने का भार स्वेच्छा से अपने ऊपर लिया और प्रसन्नतापूर्वक उसे निभाया और केवल 17 प्रतिशत ने इसे घमकी अथवा दबाव से किया। इसके अलावा, 89 प्रतिशत ने बाहर जाने से पहले अपने वृद्धजनों से आज्ञा ली अथवा कम-से-कम उन्हें सूचित किया और केवल 9 प्रतिशत ने रात्रि में देर से लौटने की दशा में अपने माता-पिता द्वारा पूछताछ किए जाने पर विरोध प्रकट किया। अतः स्पष्ट है कि भारतीय समाज में संयुक्त परिवार का आधार अब भी न तो बिल्कुल निर्बल हो गया है और न ही भविष्य में एकाएक होने की आशा है।

9. "Hindu sentiments are even today in favour of joint family. The destruction of the joint family by legislation is, therefore, rightly considered to be non-Hindu, because it ignores Hindu family history and sentiments."
--K. M. Kapadia, *Marriage and Family in India*. Oxford University Press. London, 1958, p. 219.

10. *Ibid.*, Hindi Edition, p. 283

सामाजिक परिवर्तन एक स्वाभाविक नियम है और उस नियम के अन्तर्गत समाज का सब-कुछ समय के साथ-साथ बदलता रहता है। हाँ, यह हो सकता है कि सामाजिक जीवन के किसी पक्ष में परिवर्तन की गति तेज हो और किसी में धीमी, पर परिवर्तन तो होगा ही। विवाह और परिवार भी उसी समाज का सामाजिक जीवन का एक आधारभूत अंग होने के कारण सामाजिक परिवर्तन का प्रभाव स्वभावतः ही इन पर पड़ना है। यही कारण है कि सामाजिक जीवन या सामाजिक परिस्थितियों में परिवर्तन के साथ-साथ तथा विवाह के स्वरूप तथा प्रकृति में भी परिवर्तन होना स्वाभाविक है। आधुनिक समय में यह बात और भी सच है। निम्नलिखित विवेचना इसी का स्पष्टीकरण है।

परिवार तथा विवाह में आधुनिक परिवर्तन के कारण (Causes of Recent Changes in Family and Marriage)

हाल ही के वर्षों में भारतीय समाज में अनेक नवीन शक्तियाँ क्रियाशील हैं जिनके कारण सामाजिक जीवन में और उसके फलस्वरूप विवाह तथा परिवार में महत्वपूर्ण परिवर्तन तेजी से होते जा रहे हैं। इन परिवर्तनों के कारणों को हम इस प्रकार प्रस्तुत कर सकते हैं—

1. सामाजिक विधान (Social Legislation)—प्रथा और परम्परा का युग आज भारत में भी तेजी से समाप्त होता जा रहा है और उनके स्थान को विभिन्न कानून ग्रहण करते जा रहे हैं। प्रथा व परम्परा रूढ़िवादी होती है जबकि कानून प्रगतिशील होता है और वर्तमान युग की माँग के अनुरूप इसे पारित किया जा सकता है। हाल ही में ऐसे अनेक कानून या सामाजिक विधान पास किये गये हैं जिनके कारण भारतीय विवाह तथा परिवार में अनेक परिवर्तन हो गए हैं अथवा, कम-से-कम, परिवर्तन के लिये आवश्यक परिस्थिति उत्पन्न होने में मदद मिली है। उदाहरणार्थ, 'हिन्दू विवाह तथा विवाह-विच्छेद अधिनियम, 1955' के विवाह-विच्छेद का अधिकार देकर परिवार के स्थायित्व को प्रभावित किया है, एक-विवाह को अनिवार्य बनाया है और अन्तर्जातीय विवाह को प्रोत्साहित किया है। 'हिन्दू विधवा पुनर्विवाह अधिनियम, 1956' ने उस परम्परा को तोड़ दिया है जिसके अनुसार विधवाओं का फिर से विवाह हो ही नहीं सकता था। 'हिन्दू उत्तराधिकार अधिनियम, 1956' ने सम्पत्ति पर अधिकार पाने के मामले में स्त्रियों को पुरुषों के समान स्तर पर लाकर खड़ा कर दिया है। इस प्रकार सामाजिक विधान आधुनिक समय में भारतीय परिवार तथा विवाह में परिवर्तन लाने वाले कारणों में महत्वपूर्ण है।

2. औद्योगीकरण (Industrialisation)—भारत में आज औद्योगीकरण की प्रक्रिया भी तेजी से क्रियाशील है और इसके कारण परिवार तथा विवाह में अनेक

परिवर्तन हो गये हैं। औद्योगीकरण ने न केवल पुरुषों के लिये अपितु स्त्रियों के लिये भी अनेक पेशों को प्रस्तुत किया है। इससे परिवार के सदस्य अपनी योग्यता के अनुसार सारे देश में छिंटक गये हैं जिससे कि संयुक्त परिवार का विघटन हो रहा है। साथ ही, स्त्री-पुरुष के एकसाथ काम करने में प्रेम-विवाह, अन्तर्जातीय विवाह आदि की प्रवृत्ति बढ़ रही है। साथ ही, औद्योगीकरण के फलस्वरूप अनेक कार्य जो पहले परिवार के द्वारा किये जाते थे, अब मिल, कारखाने आदि में होते हैं। आज सभी कार्य बाहर की समितियाँ ही करती हैं। यहाँ तक कि परिवार को जो मुख्य काम बच्चों को पालना या उन्हें शिक्षित करना था वह भी आज आया या नौकरानियों को दे दिया गया है।

3. स्त्रियों की आर्थिक स्वतन्त्रता (Economic independence of women)—प्राचीनकाल में केवल पुरुष ही घर के बाहर काम करने का अधिकारी था। स्त्रियाँ घर में रहकर गृहस्थी देखती थी और बच्चों का लालन-पालन करती थीं। पर आज औद्योगीकरण के कारण स्त्री-पुरुष दोनों ही बाहर काम करने जाते हैं। औद्योगीकरण ने केवल पुरुषों को ही नहीं बल्कि स्त्रियों को भी वे सभी सुविधाएँ प्रदान की हैं कि वे घर से बाहर काम करने जा सकती हैं। प्रत्येक क्षेत्र में आज स्त्रियाँ काम करती दिखाई पड़ती हैं। मिल, कारखाना, दफ्तर आदि सभी जगहों पर स्त्रियों को काम करने की सुविधा उपलब्ध है। इस नौकरी का प्रभाव स्त्रियों पर यह पड़ा है कि वे आर्थिक रूप से स्वतन्त्र हो गई हैं। पति पर अब वे भारस्वरूप नहीं रहीं। ज्यादातर अपनी आवश्यकताओं को वे स्वयं ही पूरा करती हैं। नौकरी करने से एक ओर स्त्रियाँ आर्थिक मामलों में स्वतन्त्र हो गई हैं, पर दूसरी ओर उनका घर के काम में दिन-प्रति-दिन लगाव कम होता जा रहा है जिसका परिणाम यह है कि परिवार की अवस्था दिन-पर-दिन गिरती जाती है। घर का इन्तजाम नौकरों के हाथ में होता है जिसको कि नौकर सुचारु रूप से नहीं चला पाता। विवाह के मामले में भी अब वे अधिक स्वतन्त्र हैं।

4. राज्य के महत्व व कार्य का विस्तार (Extension of State's function and importance)—आधुनिक भारत में राज्य का महत्व दिन-प्रतिदिन बढ़ता ही जा रहा है क्योंकि राज्य एक नहीं, अनेक कार्यों को करता है। इसके अलावा आधुनिक युग में राज्यों के कार्यों का विस्तार विस्तृत हो गया है। पहले जो कार्य परिवार करता था आज अनेक कार्य हैं जोकि राज्य करता है। उदाहरणार्थ, जैसे बच्चों को शिक्षा देने का उत्तरदायित्व अब परिवार का नहीं रहा बल्कि राज्य का हो गया है। विवाह का नियमन आज राज्य के द्वारा ही होता है। इसीलिये राज्य का कार्य बहुत बढ़ गया है। कार्य बढ़ने के साथ-ही-साथ राज्य का महत्व भी बढ़ गया है। राज्य जनता की एक अपनी प्रमुख संस्था बन गई है।

5. नगरीकरण (Urbanization)—आधुनिक भारत की एक प्रमुख विशेषता यह है कि आज नगरों की दिन-प्रतिदिन वृद्धि होती जा रही है। नगरों में आकर्षण-बिन्दु एक नहीं, अनेक हैं, जैसे नगरों में नौकरी की अधिकता, मजदूरी पैसे के रूप में अधिक मिलना, मनोरंजन के साधनों का होना, शहरों की तड़क-भड़क का जीवन आदि। व्यक्ति अपने मन के अनुसार पेशों को भी चुन सकता है। यही सब कारण हैं जो कि जनसंख्या को अधिक घनी करते हैं। एक तरफ तो शहरों में जनसंख्या घनी होती जाती है और दूसरी तरफ मकान की समस्या दिन-प्रतिदिन और गम्भीर होती

जाती है। इन सभी बातों का प्रभाव परिवार के आकार पर पड़ता है। संयुक्त परिवार का आकार दिन-प्रतिदिन छोटा होता जाता है। नगरों में तो बहुत ही कम संयुक्त परिवार देखने को मिलते हैं। नगरों के मकान भी बहुत छोटे-छोटे होते हैं। इस प्रकार के मकानों में 2-4 प्राणियों से अधिक व्यक्ति अच्छी तरह नहीं रह सकते। नगरों में स्वतन्त्रतापूर्वक मेल-मिलाप के कारण प्रेम-विवाह तथा अन्तर्जातीय विवाह की प्रवृत्ति बढ़ रही है।

6. आधुनिक औषधियाँ (Modern medicines)—आधुनिक औषधियों का भी परिवार पर प्रभाव पड़ता है। पहले परिवार के सदस्यों को रोग से बचाना बहुत ही कठिन होता था। पर आज वर्तमान युग में इस प्रकार की औषधियों का आविष्कार किया गया है कि मौत के मुँह से भी हम अपने परिवार के प्यारे सदस्यों को बचा सकते हैं। बच्चों की मृत्यु-दर भी पहले से बहुत कम हो गई है। आधुनिक युग में इस प्रकार की दवाएँ भी हैं कि आज बच्चे भगवान् के दिये फल नहीं हैं बल्कि अपनी इच्छा के प्रतिफल हैं। सन्तति-निरोध (birth-control) सम्बन्धी औषधियों की सहायता से सन्तानोत्पत्ति को कम किया जा सकता है और जरूरत पड़ने पर बढ़ाया जा सकता है।

7. विवाह के धार्मिक आधारों का दुर्बल होना (Weakening of religious basis of marriage)—प्राचीन समय में विवाह एक धार्मिक बन्धन था। पर आज विवाह को धार्मिक बन्धन न मानकर एक शिष्ट या सामाजिक समझौता (contract) माना जाता है। विवाह का धार्मिक पक्ष कमजोर हो जाने के कारण परिवार की स्थिरता में महत्वपूर्ण परिवर्तन हो रहा है। विवाह को केवल एक समझौते के रूप में लिया जाता है, इसलिये दोनों पक्षों (पति-पत्नी) में से यदि किसी एक पक्ष को यह समझौता पसन्द न आया तो वह उसी समय उसे तोड़ सकता है। परिवार का ढाँचा वहीं तितर-बितर हो जाता है। इसका परिणाम यह होता है कि परिवार के प्रति लोगों का उत्तरदायित्व भी घटता जा रहा है। कोई किसी के प्रति अपना उत्तरदायित्व नहीं समझता क्योंकि परिवार का सम्बन्ध स्थायी नहीं है।

8. व्यक्तिवादी आदर्श (Individual ideals)—प्राचीनकाल में व्यक्ति अपने लिये नहीं बल्कि समूचे परिवार के बारे में सोचता था, वही उसका आदर्श था। पर आधुनिक भारत में व्यक्तिवादी आदर्श का बोलबाला है। परिवार का प्रत्येक सदस्य केवल अपने ही बारे में सोचता है। पिता को बेटे से कुछ सम्बन्ध नहीं, बेटा भी अपनी उन्नति की ही बात सोचता है, उस उन्नति को या आदर्श को प्राप्त करने में चाहे उसे पिता या भाई को छोड़ा देना पड़े या झूठ बोलना पड़े। माँ के बारे में ऐसा नहीं कहा जा सकता और न सोचा जा सकता है, पर बाकी परिवार के सदस्य केवल अपनी उन्नति के बारे में ही सोचते हैं। इस प्रकार के व्यवहार से परिवार के सहयोगी वातावरण में परिवर्तन आ गया है क्योंकि परिवार का प्रत्येक सदस्य केवल अपनी स्वार्थ-पूर्ति में लगा हुआ है। इसी व्यक्तिवादी आदर्श ने विवाह को भी एक व्यक्तिगत सुविधा का विषय बना दिया है।

आधुनिक भारत में परिवार में परिवर्तन

(Changes in Family In Modern India)

आधुनिक भारत औद्योगिक युग में है। इसके पहले परिवार कृषि युग में था

कृषि युग की संस्कृति, सम्यता, आचार, विचार, आदर्श आदि आज जैसे नहीं थे; पर आधुनिक युग में औद्योगीकरण के कारण इन सब में काफी परिवर्तन हो गये हैं और इन परिवर्तनों का काफी प्रभाव परिवार के स्वभाव पर पड़ा है क्योंकि परिवार सामाजिक जीवन की ही एक प्राथमिक और मौलिक इकाई है। आधुनिक भारत में परिवारों में निम्नलिखित परिवर्तन हो गये हैं—

1. परिवार के कार्यों में परिवर्तन (Changes in family functions)—पहले भारतीय परिवार स्वयं में पूर्ण था। वह अपनी आवश्यकताओं के लिये किसी पर आश्रित नहीं था। जरूरत का सभी सामान खुद ही तैयार करता था। प्राथमिक व द्वितीयक सभी आवश्यकताएँ परिवार के द्वारा ही पूर्ण होती थीं। अनाज, साग-भाजी सब घर पर ही उगाये जाते थे, अपने पहनने के लिये कपड़ा स्त्रियाँ स्वयं बुनती थीं और उन्हें सीती भी थीं; अनाज का कटना, पीसना तथा खाना पकाना सभी कार्य स्वयं स्त्रियाँ ही करती थीं; घर पर ही तेल, साबुन, कंधी आदि बनाती थीं, दूध व घी की व्यवस्था घर के स्त्री-पुरुष मिलकर करते थे। जीवन की बड़ी से लेकर छोटी आवश्यकता सभी घर या परिवार के सदस्य पूरी करते थे। पर आज परिवार के कार्यों में बहुत ही अन्तर आ गया है, विशेषकर आर्थिक कार्यों में। सभी आर्थिक कार्य आज बाहरी समितियाँ करती हैं। रोटी बनाने का कार्य आज होटल और कैण्टीनों ने ले लिया है, कपड़े सिलने का काम टेलरिंग हाउस तथा कपड़े धोने का काम लाण्ड्रियों ने ले लिया है। बच्चों के लालन-पालन के लिये नर्सरीज तथा शिक्षा के लिये स्कूल और कॉलेज बन गये हैं। रोगी की सेवा के लिये अस्पताल खुल गए हैं। संक्षेप में, परिवार पहले जिन कार्यों को करता था आज वे सभी कार्य परिवार खुद न करके दूसरी संस्थाओं या समितियों से करवाता है। इस प्रकार भारतीय परिवार के परम्परागत मुख्य कार्य अब बाहर की समिति-संस्थाओं के हाथ में चले गये हैं। यह बात नगर के परिवारों पर विशेषकर लागू होती है।”

2. परिवार के आकार में परिवर्तन (Change in the size of the family)—पहले परिवार में जितने भी बच्चे पैदा होते थे नन्हीं भगवान् की देन मान लिया जाता था। माँ-बाप बच्चों के तन ढकने के लिये कपड़ा व पेट भरने के लिये सूखी रोटी भी नहीं जुटा पाते थे; पर हर साल एक बच्चा भगवान् के प्रसाद के रूप में ग्रहण करते थे, उनका कहना था कि बच्चों के पैदा होने में उनका कुछ भी हाथ नहीं है। जो भगवान् की मर्जी होती है वही होता है। पर यह गलत धारणा आज मिटती जा रही है। वैज्ञानिक शिक्षा, बर्थ-कंट्रोल की विधियों का प्रयोग, देर से विवाह आदि अनेक ऐसे कारण हैं जो कि बच्चों की जन्म-दर को कम करने में सहायक होते हैं। बच्चों का जन्म कम होने के कारण ही परिवार का आकार भी कम होता जा रहा है। आज अधिकतर लोग आदर्श परिवार को ही पसन्द करते हैं। आदर्श परिवार का अर्थ है पति-पत्नी और उनके दो बच्चे। बच्चों की जन्म-दर कम होने का एक कारण व्यक्तिवादी आदर्श भी है। प्रोफेसर होडार्ड (Hodard) ने लिखा है कि आज के माता-पिता एक बेबी की अपेक्षा एक 'वेनी-ऑस्टिन' को लेना अधिक पसन्द करते हैं। क्योंकि बच्चा या बेबी, दोनों पति और पत्नी पर अनेक प्रकार के उत्तरदायित्वों को लादता है जबकि बेबी-ऑस्टिन मोटरकार उनके आराम को बढ़ा देती है। इन्हीं सब कारणों से आज परिवार का आकार दिन-प्रतिदिन छोटा होता जा रहा है।

3. परिवार के सहयोगी आधार में परिवर्तन (Change in the co-operative basis of the family) — परिवार के सहयोगी आधार में भी आज परिवर्तन हो रहा है। इसका मुख्य कारण यह है कि परिवार में व्यक्तिवादी भावना दिन-प्रतिदिन बढ़ती जा रही है। प्राचीन समय के परिवार में व्यक्ति अपने स्वार्थ को परिवार के स्वार्थ के सामने त्याग देता था या प्रत्येक सदस्य अपने बारे में नहीं बल्कि अन्य सदस्यों के बारे में सोचता था। पर आज परिवार की स्थिति पहले जैसी नहीं है। आज व्यक्ति केवल अपने बारे में सोचता है, दूसरों के बारे में नहीं। अपना स्वार्थ ही सब-कुछ है, उसे पूरा करने के लिये वह परिवार के बड़े-से-बड़े स्वार्थ को मिटा सकता है। इसका कारण है व्यक्तिवादी भावना की प्रधानता। आज समाज में व्यक्ति की प्रतिष्ठा उसके गुणों पर आधारित है। इसीलिए आज परिवार का प्रत्येक सदस्य सम्पूर्ण परिवार के बारे में नहीं बल्कि अपने बारे में सोचता है। आज सभी व्यक्ति प्रतिष्ठा के इच्छुक हैं और वह प्रतिष्ठा केवल उन्हीं व्यक्तियों को मिल सकती है जिनमें कुछ विशेष गुण हैं। उन विशेष गुणों को ही हासिल करने में व्यक्ति सब-कुछ भूल जाता है। यहाँ तक कि अपने माँ-बाप, भाई-बहन तक को भूल जाता है, केवल याद रखता है अपने में किसी तरह विशेष गुणों को पैदा करके स्वार्थ की पूर्ति करना और समाज में प्रतिष्ठा प्राप्त करना। यही अनेक कारण हैं जो परिवार के सहयोगी आधार में परिवर्तन उत्पन्न रहे हैं।

4. पति-पत्नी के सम्बन्ध में परिवर्तन (Change in husband-wife relations) — प्राचीन भारत में पति-पत्नी का सर्वस्व होता था। वही उसका देवता, वही उसका मालिक था। चाहे पति अत्याचारी, शराबी, झुठारी, चोर, डाकू या भ्रष्टाचारी क्यों न हो, पर पत्नी को उसके प्रति वफादार रहकर उसकी सेवा करनी ही पड़नी थी। पर आज यह भावना कि पति पत्नी का देवता था उसका मालिक है, धीरे-धीरे समाप्त होती जा रही है। पति की निरकुशता का तेजी से अन्त हो रहा है। आज पति केवल नाम-मात्र का प्रधान रह गया है। आज पति-पत्नी का सम्बन्ध सहयोगिता की ओर बढ़ रहा है। अब पत्नी पति की दासी नहीं, साथी बन गई है। इसीलिए साथी के रूप में दोनों के अधिकार भी समान हो गए हैं।

5. विवाह और यौन-सम्बन्ध में परिवर्तन (Change in marriage and sex relations) — पहले विवाह जितनी जल्दी कर दिया जाता था उतना ही अच्छा माना जाता था। माता-पिता अपनी लड़की का विवाह छोटी-से-छोटी उम्र में कर देते थे। उनका कहना था कि रजोदर्शन से पूर्व ही लड़की के पैर पूजना बहुत ही पुण्य कर देते थे। आज देर से विवाह, अन्तर्जातीय विवाह और प्रेम-विवाह की दरें (rates) दिन-प्रतिदिन बढ़ती जा रही हैं और बाल-विवाह प्रथा धीरे-धीरे कम होती जा रही है। आज लड़का जब पूर्ण रूप से अपने पैरों पर खड़ा हो जाता है तभी वह शादी करने के लिए राजी होता है। शादी-ब्याह में पहले जो जाति-भेद का बन्धन था, आज अन्तर्जातीय विवाह जाति-पाँति के उस बन्धन को दिन-प्रतिदिन शिथिल करता जा रहा है। सभी जातियाँ आपस में विवाह कर सकती हैं। जाति-भेद आज विवाह के माध्यम में रोड़ा या रुकावट नहीं बन सकती। पहले विधवाओं और अविवाहित लड़कियों के प्रति समाज के मनोभाव अच्छे नहीं थे, पर अब परिस्थिति बिल्कुल विपरीत हो गई है, आज लोगों के मनोभाव विधवाओं तथा अविवाहित लड़कियों के

प्रति बहुत ही सहानुभूति के हो गए हैं। पहले वर का चुनाव माता-पिता अपनी इच्छा से करते थे, पर आज युवक व युवती इस मामले में स्वतन्त्र हैं कि वे अपने जीवन-साथी का चुनाव अपने मन के अनुसार करें। वर-वधू का चुनाव अब माता-पिता या अन्य संरक्षक के द्वारा न होकर स्वयं युवक व युवती के द्वारा होता है। राज्य एक से अधिक विवाह करने का आदेश नहीं देता जब तक कि एक पति या पत्नी जीवित है। एक-विवाह ही आदर्श विवाह माना जाता है। आज विवाह में रोमांस का स्थान भी घट रहा है। उसी प्रकार पहले विवाह-विच्छेद बहुत कम होते थे क्योंकि विवाह-बन्धन के प्राथमिक धारणाएँ जुड़ी हुई थीं। पर अब परिस्थिति बदल रही है। आज तलाक या विवाह-विच्छेद की दरें बढ़ रही हैं।

6. राज्य द्वारा परिवार के कार्यों का होना (Functions of family are being taken over by the State)—परिवार पहले प्राथमिक और द्वैतीयक दोनों प्रकार के कार्यों को स्वयं ही करता था। औद्योगीकरण के कारण आज समस्त द्वैतीयक कार्य राज्य के हाथों में पहुँचते जा रहे हैं। परिवार का कार्य पहले नियन्त्रण करना भी था; पर अब परिवार के सहयोगी और नियन्त्रणात्मक दोनों ही कार्य राज्य के हाथों में आ गए हैं। सहयोगी कार्य के अन्तर्गत राज्य निम्न प्रकार के कार्यों को करता है—बच्चों की व्यवस्था चिकित्सा व सेवा-व्यवस्था, पेंशन, बच्चों के लालन-पालन की व्यवस्था करना, प्रॉवीडेंट फण्ड की व्यवस्था, शिक्षा, बेकारी आदि के समय सामाजिक सुरक्षा आदि। ये सभी कार्य पहले परिवार करता था, यदि परिवार का कोई सदस्य बीमार हो जाता था तो उसकी देख-रेख, सेवा-सुश्रूषा परिवार के ही सदस्य करते थे, बच्चों के लालन-पालन का भार भी परिवार पर ही था। यदि परिवार का कोई व्यक्ति काम नहीं कर सकता था, शरीर से लाचार हो जाता था या कुछ दिनों के लिए उसकी नौकरी छूट जाती थी तो उस अवस्था में भी परिवार के ही सदस्य उसकी मदद करते थे या लाचार सदस्य को बैठाकर खिलाने व कपड़े की व्यवस्था करते थे। आज ये सभी कार्य राज्य के हाथ में आ गए हैं। परिवार के नियन्त्रण-सम्बन्धी कार्य जैसे विवाह की आयु और जीवन-साथी के चुनाव को नियन्त्रित व नियमित करना, विवाह-विच्छेद की समस्या को तय करना सम्पत्ति-सम्बन्धी अधिकारों को निश्चित करना आदि कार्यों को भी राज्य करता है।

7. स्त्रियों, बच्चों और युवकों की स्थिति व अधिकार में परिवर्तन (Change in the status and rights of women, children and youths)—परिवार में पहले स्त्रियों की दशा बहुत ही दयनीय थी, चाहे परिवार में उनका स्थान माँ का हो या पत्नी या लड़की या बहू का। स्त्रियों के बारे में पहले लोगों के मनोभाव बहुत ही हेय प्रकार के थे। समाज में उनके साथ दासी की तरह व्यवहार किया जाता था। लड़कियाँ परिवार में भार-स्वरूप समझी जाती थीं। परन्तु आज परिवार में स्त्रियों की स्थिति पहले से बहुत-कुछ सुधर गई है। अब उन्हें दासी न समझकर साथी समझा जाता है।

जिस प्रकार से स्त्रियों के प्रति एक गलत धारणा पुरुषों के मन में थी उसी प्रकार की एक गलत धारणा बच्चों के प्रति माँ-बाप के दिल में थी कि बच्चे को अगर उचित रास्ते पर लाना है या उसकी बुरी आदत को छूटाना है तो एक ही रास्ता है और वह है मारना। पर आज के शिक्षित माता-पिता के मन से यह बात बिल्कुल निकल गई है और उन्हें यह मालूम हो गया है कि बच्चे को मार-पीटकर

नहीं बल्कि प्यार-दुलार से या समझा-बुझाकर उचित रास्ते पर लाना अधिक सरल है तथा बच्चों की इच्छाओं का दमन नहीं करना चाहिये; इस कारण उनके मनोभावों व विचारों को मान्यता दी जाती है। दूसरे शब्दों में हम यह कह सकते हैं कि परिवार में बच्चों का व स्त्रियों का स्थान अब यह नहीं रहा जो पहले था।

स्त्री व बच्चों की स्थिति में ही नहीं बल्कि युवकों की स्थिति में भी परिवर्तन हो गया है। अब परिवार के मामलों में उनकी भी बात सुनी जाती है और उत्तरदायित्व निभाने का अवसर उन्हें दिया जाता है।

8. रक्त-सम्बन्धों का महत्व कम होना (Lesser importance of kinship relations)—पहले परिवार इस बात का प्रयत्न करता था कि नाते-रिस्तेदार नाराज न होने पाएँ और सम्बन्धों में घनिष्ठता बनी रहे। पर आज परिवार के सदस्य रिस्तेदारों से दूर भागने की कोशिश करते हैं। आज सिर्फ़ यह है, "हमारे रिस्तेदारों से जितना दूर रहें उतना ही अच्छा है।" कुछ लोगों का तो कहना है कि रिस्तेदारों से वास्तविक अर्थ में पिण्ड छुड़ाना वास्तव में कठिन है। वे सोच और उनके चारों तरफ से आघात करते हैं। यही मनोभाव मैय्या जी के इस कथन में स्पष्टतया अभिव्यक्त होता है। जब वह कहते हैं कि रिस्तेदार वे लकड़ियाँ हैं, यमिलें तो जलें और दूर रहें तो घुआ दें। स्पष्ट है कि रक्त-सम्बन्धियों के सम्बन्ध में अनुकूल मनोभाव आज वास्तव में विरल है। इसका कारण कुछ तो नाते-रिस्तेदारों का अर्थी मनोभाव है और कुछ व्यक्तिवादी आदर्श।

9 स्नेह, प्रीति व प्रेम के लिए परिवार पर अधिक निर्भर (Greater dependency on family for affection and love) आज मनुष्य के जीवन में द्वैतीयक समूहों का ही बोलबाला है। ये द्वैतीयक समूह 'शीत जगत्' कहलाते हैं। इस कारण द्वैतीयक समूह में सहानुभूति, सद्भावना, स्नेह, प्रेम और प्रीति नहीं मिल पाती है। इसलिये आज व्यक्ति स्नेह, प्रीति व प्रेम को परिवार में पाना चाहता है। पहले ये सभी हमें पड़ोस, रिस्तेदारों से मिल जाती थीं, सब एक ही बन्धन में बंधे थे। इसलिए प्यार, प्रेम, प्रीति को पाने के लिये हम परिवार पर इतने ज्यादा आश्रित नहीं थे। पर व्यक्तिवादिता ने इन सभी को बहुत दूर कर दिया है, इसलिए परिवार का महत्व इस सम्बन्ध में अधिक बढ़ गया है। आज हम पड़ोसी व रिस्तेदारों से प्रेम, प्रीति या सहानुभूति का व्यवहार नहीं पाते हैं। स्वार्थपरता, चालाकी, धोखेबाजी इत्यादि बढ़े हुए हैं। इसलिए आज ये सब कोमल भाव परिवार में आकार केन्द्रित हो गए हैं। 'शीत जगत्' के विस्तार के साथ-ही-साथ इस विषय में परिवार का महत्व उत्तरोत्तर बढ़ता ही जा रहा है।

उपयुक्त विवेचना से यह स्पष्ट है कि भारत में समय के परिवर्तन के साथ-साथ जिस भाँति अन्य चीजों में परिवर्तन हो रहा है उसी प्रकार परिवार के संगठन और कार्यों में भी परिवर्तन हुआ है। यह सच है कि परिवार आज का नहीं है बल्कि आदिकाल से ही मनुष्य के साथ है, पर इम सत्य के साथ-ही-साथ हमें यह भी मानना पड़ेगा कि जिस प्रकार का परिवार प्राचीनकाल में था आधुनिक भारत में उम प्रकार का परिवार नहीं रहा। उसके संगठन और कार्यों में अनेक परिवर्तन हो गए हैं। यही स्वाभाविक है और यही उचित भी।

परिवार का भविष्य : क्या परिवार टूट रहा है ?

(Future of Family : Is Family breaking down ?)

आधुनिक परिवार के कार्यों का अत्यधिक घट जाना, उसकी अस्थिरता,

घटता हुआ आकार, रोमांस तथा विवाह-विच्छेद की दरों (rates) का अधिक बढ़ना आदि समस्याओं की गम्भीरता को देखते हुए कुछ विद्वान् परिवार के भविष्य के बारे में बहुत निराश हो गये हैं और उनका निष्कर्ष यह है कि परिवार टूट रहा है। पर इस प्रकार का कोई भी विचार अवैज्ञानिक है। परिवार सामाजिक जीवन का मूलधार है। इस कारण जब तक समाज है तब तक परिवार रहेगा और रहता आया है। यदि समाज ही मिट जाए तब तो परिवार का भी अन्त सम्भव है, अन्यथा नहीं। औद्योगिक क्रान्ति के बाद हमारी सभ्यता और संस्कृति में, आचार प्रथा, परम्परा, धर्म, रीति-रिवाज सब-कुछ में क्रान्तिकारी परिवर्तन हो गया है। इस प्रकार सामाजिक जीवन का प्रत्येक अंग आज नवीनता की ओर तेजी से बढ़ता जा रहा है। चूँकि परिवार भी उसी सामाजिक जीवन का एक अंग है इस कारण उसे भी नवीन अवस्थाओं के साथ अपना अनुकूलन करना ही होगा। परिवार कर-भी वही रहा है। पर किसी भी अनुकूलन की प्रक्रिया में प्रारम्भिक काल में या शुरू-शुरू में कुछ समय तक कुछ-न-कुछ गड़बड़ी या विघटन की अवस्था उत्पन्न हो ही जाती है। परिवार में भी यही हुआ है। जिसे हम पारिवारिक विघटन कहते हैं, वास्तव में वह विघटन नहीं बल्कि आधुनिक नवीन परिस्थितियों से परिवार द्वारा अनुकूलन की प्रक्रिया का ही एक आवश्यक अंग है। श्री फॉलसम (Folsom) ने लिखा है कि “यह परिवार का विघटन नहीं, न ही पतन है बल्कि परिवर्तित संगठन है।” सर्वश्री ऑगबर्न तथा निमकॉफ ने यह स्पष्टतः स्वीकार किया है कि मानव-इतिहास इस बात का साक्षी है कि परिवार नामक संस्था एक बहुत ही अनुकूलनशील संस्था है और इसीलिये मानव-इतिहास के सभी उत्थान-पतन के बीच भी वह अमर है, आदिकाल से ही मानव-जीवन से घनिष्ठ रूप में सम्बन्धित है। सर्वश्री बर्गेंस तथा लॉक ने भी लिखा है कि “बदलती हुई दशाओं का अनुकूलन करने के इस लम्बे इतिहास और इसके स्नेह, प्रीति व प्रेम देने के कार्य के महत्व को देखते हुए यह भविष्यवाणी करना सुरक्षित है कि परिवार जीवित रहेगा—व्यक्तिगत सन्तोष और व्यक्तित्व के विकास में देता और लेता रहेगा।”

हिन्दू-विवाह—एक संस्कारात्मक विवाह

[Hindu-Marriage—A Sacramental Marriage]

परिवार बसाने के लिए दो या अधिक स्त्री-पुरुषों में आवश्यक सम्बन्ध (जिसमें यौन-सम्बन्ध भी सम्मिलित है) स्थापित करने और उसे स्थिर रखने की कोई-न-कोई संस्थात्मक व्यवस्था प्रत्येक समाज में पाई जाती है, जिसे विवाह कहते हैं। विवाह प्रत्येक समाज, चाहे वह आदिम समाज हो या सम्य समाज, की संस्कृति का एक आवश्यक अंग होता है क्योंकि यह वह साधन है जिसके आधार पर समाज की प्रारम्भिक इकाई, परिवार का निर्माण होता है। विवाह एक सामान्य तथा स्वाभाविक घटना है। हममें से हर व्यक्ति आगे चलकर इंजीनियर नहीं होगा, न हम सभी लोग केवल किसान, एकाउण्टेण्ट, वकील, प्रोफेसर या सरकारी अफसर ही होंगे, पर हममें से प्रायः सभी लोग एक दिन पति और पत्नी तथा आगे चलकर माँ और पिता होंगे; ऐसा न होना अस्वाभाविक है क्योंकि जीवन के लिए विवाह की आवश्यकता सभी स्वीकार करते हैं। किसी विद्वान् ने सच ही कहा है कि जीवन के लिये विवाह लड़कियों के हाथ में रिस्ट-वाच की तरह शोभा के लिए नहीं बल्कि डॉक्टर के हाथ में आले की तरह आवश्यक है। शायद इसलिए विवाह अण्डमान प्रायद्वीप या आस्ट्रेलिया की जनजातियों में जितना लोकप्रिय है उतना ही न्यूयार्क-निवासियों में भी।

कुछ भी हो, इतना अवश्य कहा जा सकता है कि समाज द्वारा मान्यता प्राप्त तरीके से स्त्री-पुरुष की यौन-सम्बन्धी आवश्यकता की पूर्ति के लिए, उसे एक निश्चित ढंग से नियन्त्रित करने तथा स्थिर रखने और परिवार को स्थायी रूप देने के लिए विवाह की संस्था का जन्म हुआ है। विवाह वह आधार है जो घर बसाता है और बच्चों के जन्म व पालन-पोषण तथा आर्थिक सहकारिता व सामाजिक उत्तरदायित्व की नींव को बनाता है। व्यक्तिगत दृष्टिकोण से विवाह की आवश्यकता यौन-सम्बन्धी इच्छाओं की पूर्ति सन्तान-प्राप्ति की स्वाभाविक इच्छा की पूर्ति तथा शरीर का स्वस्थ निर्वाह और मानसिक शान्ति प्राप्त करने के लिये है। पति-पत्नी एक-दूसरे से प्रेम करते हैं और दोनों ही मिलकर अपने समस्त स्नेह को सन्तानों को अर्पित करते हैं, जिसके फलस्वरूप सन्तान का पालन-पोषण होता है और परिवार व समाज की निरन्तरता बनी रहती है। इसीलिये कहा गया है कि सामाजिक दृष्टिकोण से विवाह का महत्व बच्चों को जन्म देना और उसके द्वारा समाज की निरन्तरता को कायम रखना है। इसलिए विवाह नामक संस्था किसी समाज में न हो, ऐसा कोई उदाहरण दुनिया के किसी कोने से अनेक छानबीन तथा अन्वेषण के बाद भी न मिल सका; यद्यपि विवाह का स्वरूप या विवाह-सम्बन्ध स्थापित करने के तरीके में पर्याप्त भिन्नता विभिन्न समाजों में पाई जाती है। इसी कारण यह विषय समाजशास्त्र का एक अध्य-यन-विषय बन गया।

हिन्दू-विवाह—एक संस्कारात्मक विवाह

विवाह की सामान्य परिभाषा

(General Definition of Marriage)

श्री बोगार्डस (Bogardus) के शब्दों में, “विवाह स्त्री और पुरुष को पारिवारिक जीवन में प्रवेश करवाने की एक संस्था है।”¹ श्री वेस्टरमार्क (Westermarck) के अनुसार, “विवाह एक या अधिक पुरुषों का एक या अधिक स्त्रियों के साथ होने वाला वह सम्बन्ध है जिसे प्रथा या कानून स्वीकार करता है और जिसमें विवाह करने वाले व्यक्तियों के और उनसे पैदा हुए सम्भावित बच्चों के बीच में एक-दूसरे के प्रति होने वाले अधिकारों और कर्तव्यों का समावेश होता है।”² संक्षेप में, विवाह समाज से मान्यताप्राप्त किसी प्रथा या नियम के अनुसार दो या अधिक स्त्री-पुरुषों के यौन-सम्बन्धों को नियमित करने की वह संस्था है जिसका कि उद्देश्य घर बसाना तथा बच्चों के लालन-पालन के लिये एक स्थायी आधार प्रदान करना है।

विवाह के सामान्य उद्देश्य

(General Aims of Marriage)

विवाह का सर्वप्रमुख उद्देश्य स्त्री और पुरुष के यौन-सम्बन्धों को नियमित करना तथा सन्तानोत्पत्ति के सामाजिक कार्य में योग देना है। सन्तानोत्पत्ति के बाद एक नवीन समस्या यह उत्पन्न होती है कि उन अग्रहाय बच्चों का लालन-पालन कैसे हो। पशु-पक्षियों के बच्चों को अपने माता-पिता की उतनी आवश्यकता नहीं होती जितनी कि मनुष्यों के बच्चों को। इस कारण यौन-सम्बन्ध तथा सन्तान-उत्पत्ति के बाद बच्चों के लालन-पालन के लिये एक घर, निवास या गृहस्थी की आवश्यकता होती है। विवाह की उत्पत्ति इस आवश्यकता की पूर्ति के लिये भी हुई है। कुछ विद्वानों के अनुसार विवाह का एकमात्र उद्देश्य स्त्री-पुरुष के यौन-सम्बन्ध को नियमित करना है। परन्तु यह विचार भ्रामक है। यौन-सम्बन्धी इच्छाओं की पूर्ति मात्र को विवाह का उद्देश्य मानना गलत होगा क्योंकि इनकी पूर्ति विवाह-सम्बन्ध के अतिरिक्त भी हो सकती है। इसलिए इसी को एकमात्र और अन्तिम उद्देश्य मान लेना विवाह के परम उद्देश्य की अवहेलना करना होगा। शरीर के स्वस्थ निर्वाह के लिये और मानसिक शान्ति के लिए भी विवाह की आवश्यकता है। मनुष्य केवल यौन-सम्बन्धी इच्छाओं की पूर्ति के लिए ही जीवित नहीं रहता; उसकी आर्थिक, सामाजिक तथा वैयक्तिक अन्य अनेक आवश्यकताएँ तथा इच्छाएँ होती हैं, जिनके लिए उसे किसी-न-किसी प्रकार के संगठन की आवश्यकता होती है। इस संगठन का एक प्राथमिक आधार परिवार होता है जो विवाह के द्वारा ही बसाया जाता है। इस प्रकार विवाह के अनेक महत्त्वपूर्ण आर्थिक व सामाजिक उद्देश्य हैं। विवाह और परिवार मानव-जाति की निरन्तरता को बनाये रखने का एक प्रधान साधन है। मनुष्य अपने बच्चों में अपनी आशाओं को फलीभूत होते देखना चाहता है। मनुष्य की कई आकांक्षाएँ और अभिलाषाएँ सन्तान से पूर्ण होती हैं। सन्तान द्वारा उसकी वंश-रक्षा ही नहीं बल्कि वंश की परम्परा

1. “Marriage is an institution for admitting men and women to family life.”

—Bogardus.

2. “Marriage is a relation of one or more men and women which is recognized by custom or law, and involves certain rights and duties both in the case of the parties entering the union and in the case of children born of it.”—Westermarck, *The History of Human Marriage*, Vol. I, p. 26.

या सांस्कृतिक प्रतिमान भी हमेशा बने रहते हैं। इस प्रकार व्यक्तिगत दृष्टिकोण से विवाह का उद्देश्य यौन-सम्बन्धी तथा मानसिक इच्छाओं की सन्तुष्टि करना और सामाजिक दृष्टिकोण से समाज तथा संस्कृति दोनों के अस्तित्व व निरन्तरता को बनाये रखना है।

श्री मुरडॉक (Murdock) ने संसार के विभिन्न भागों में पाये जाने वाले 250 समाजों के, विवाह के उद्देश्य के सन्दर्भ में, तुलनात्मक अध्ययन करके यह निष्कर्ष निकाला है कि मानव-समाजों में विवाह के सामान्यतः तीन प्रमुख उद्देश्य हैं—प्रथम, यौन-सम्बन्धी इच्छाओं की तृप्ति द्वितीय आर्थिक सहयोग और तृतीय बच्चों का पालन-पोषण। श्री मुरडॉक का मत है कि प्रथम उद्देश्य (अर्थात् यौन-सम्बन्धी आनन्द) विवाह का एकमात्र उद्देश्य है, ऐसा प्रमाण किसी भी समाज में नहीं मिलता, क्योंकि ऐसे भी समाज हैं जहाँ कि पति और पत्नी को एक-दूसरे के साथ ही नहीं बल्कि अन्य व्यक्तियों के साथ भी यौन-सम्बन्ध स्थापित करने की छूट रहती है और कुछ ऐसे समाज भी हैं जहाँ पति-पत्नी तक में आपस में यौन-सम्बन्ध नहीं होता। अतः कहा जा सकता है कि किसी भी समाज में केवल यौन-सम्बन्ध स्थापित करने के उद्देश्य से ही विवाह नहीं होते। पर सभी समाजों में दूसरे दो उद्देश्य अर्थात् आर्थिक सहयोग तथा बच्चों के पालन-पोषण का उत्तरदायित्व विवाह करने वाले स्त्री-पुरुष पर अवश्य ही आ जाता है। अतः स्पष्ट है कि विवाह एक वैयक्तिक घटना नहीं है जिसका एकमात्र उद्देश्य विवाह करने वाले स्त्री-पुरुष को सुख या तृप्ति प्रदान करना है, बल्कि विवाह वह साधन भी है जिससे समाज का अस्तित्व भी सम्भव हो।

हिन्दुओं में विवाह

(Marriage among Hindus)

सांस्कृतिक दृष्टिकोण से हिन्दुओं की अपनी कुछ विशेषताएँ हैं और उसका आधार अनेक रूपों में धर्म है। इसी कारण हिन्दुओं की सामान्य-से-सामान्य क्रियाओं से भी धर्म का सम्बन्ध माना गया है। हमारे दैनिक जीवन की प्रत्येक क्रिया तथा सभी शारीरिक, मानसिक तथा बौद्धिक चेष्टाओं को धर्म द्वारा इस प्रकार नियन्त्रित किया गया है कि इससे बाहर जाने की कोई भी आशंका न हो। धार्मिक विश्वासों को अपनाने वालों का कथन है कि इसका उद्देश्य ऐहलौकिक स्वास्थ्य, सुख-शान्ति और दीर्घायु प्राप्त करते हुए पारलौकिक अभ्युदय तथा सुख-शान्ति को प्राप्त करना है। उनके अनुसार हिन्दुओं के सब वेद-पुराण और धर्मशास्त्रों का सारा प्रयास मनुष्य जीवन के इसी लक्ष्य की प्राप्ति के लिए है। यह हिन्दुओं की एक विशिष्टता है जो उनकी विवाह संस्था की विवेचना से और भी स्पष्ट हो जाती है।

हिन्दुओं के मीमांसा शास्त्र से सिद्ध है कि सृष्टि के प्रारम्भ से ही स्त्री-द्वारा एवं पुरुष-द्वारा यह दो स्वतन्त्र धारायें चलीं। मनु के अनुसार सृष्टि के प्रारम्भ में परमात्मा ने अपने को दो भागों में विभक्त किया वे आधे में पुरुष और आधे में नारी हो गए। देवीभागवत में इस विषय में उल्लेख है कि स्वेच्छामय भगवान् स्वेच्छा से दो रूप हो गये, वाम भाग के अंग से स्त्री और दक्खिन भाग के अंग से पुरुष बने। बिना इन दोनों के सहयोग के सृष्टि का कोई भी काम सम्पन्न नहीं होता है। नारी शक्ति है। परमपुरुष परमेश्वर ही बिना अपनी शक्ति के निष्क्रिय बन जाते हैं; उनका सारा ऐश्वर्य, सौंदर्य, माधुर्य, उनकी शक्ति प्रकृति के ही कारण है, बिना शक्ति के वे कुछ भी करने में असमर्थ हैं। साथ ही पुरुष के बिना प्रकृति भी अधूरी है। इससे यह भी

सिद्ध होता है कि दोनों एक-दूसरे के पूरक हैं। हिन्दू-विवाह इसी पूरकता का परिचायक है और हिन्दू-विवाहों का एक महत्वपूर्ण उद्देश्य है।

हिन्दू-विवाह का अर्थ

(Meaning of Hindu Marriage)

कुछ धार्मिक संस्कारों के द्वारा समाज से मान्यताप्राप्त दो स्त्री-पुरुष का विधिवत् मिलन ही हिन्दू-विवाह है जिसका उद्देश्य धर्म-कार्य, पुत्र-प्राप्ति और रति के प्रयोजन को पूरा करना है।¹⁷³

उपरोक्त परिभाषा से यह स्पष्ट है कि हिन्दू-विवाह एक धार्मिक संस्कार है, वैधानिक या सामाजिक समझौता नहीं। यह धार्मिक संस्कार इसलिये है कि हिन्दू-विवाह की पूर्णता के लिये कुछ धार्मिक कृत्य, जैसे होम, पाणिग्रहण और सप्तपदी आदि आवश्यक हैं। उपरोक्त परिभाषा से यह भी स्पष्ट है कि हिन्दू-विवाह में धर्म का स्थान सबसे पहले रखा गया है और रति का स्थान सबसे अन्त में। अर्थात् हिन्दू-विवाह में यौन-तृप्ति का प्रयोजन विशेष महत्वपूर्ण नहीं है। हिन्दू-विवाह के सम्बन्ध में एक और बात भी स्मरणीय है कि एक विवाह को ही हिन्दुओं में आदर्श माना गया है यद्यपि बहुपत्नी-विवाह की आज्ञा भी कुछ विशेष परिस्थितियों में दी गई है। हिन्दू-परम्परा और धार्मिक नियमों के अनुसार एक स्त्री का वैवाहिक सम्बन्ध अनेक पुरुषों से (बहुपति-विवाह) नहीं हो सकता। इसी कारण उपरोक्त परिभाषा में “दो स्त्री-पुरुष के विधिवत् मिलन” को ही आदर्श हिन्दू-विवाह मान लिया गया है।

हिन्दू-विवाह एक धार्मिक संस्कार है

(Hindu Marriage is a sacrament)

प्रोफेसर के० एम० कपाडिया ने यह लिखा है कि हिन्दू-विवाह एक धार्मिक संस्कार (sacrament) है। इसका तात्पर्य यह हुआ कि हिन्दू-विवाह एक वैधानिक या सामाजिक समझौता नहीं है। हिन्दू-विवाह एक धार्मिक संस्कार है, इस बात को निम्नलिखित रूप में समझाया जा सकता है—

(1) हिन्दू-विवाह एक धार्मिक संस्कार इस रूप में है कि इस विवाह पद्धति के अन्तर्गत कुछ ऐसे धार्मिक नियम, तरीके या धार्मिक कृत्य होते हैं जिनका सम्पादित किया जाना विवाह की पूर्णता के लिये आवश्यक है। इन धार्मिक कृत्यों में होम, पाणिग्रहण और सप्तपदी प्रमुख हैं। अग्नि में मन्त्र-पाठ के साथ लाजाओं अथवा लाई का होम किया जाता है। स्मरण रहे कि होम अग्नि में दिया जाता है और अग्नि को भगवान् या देवता माना जाता है। अतः हिन्दू-विवाह एक धार्मिक संस्कार है। उसी प्रकार पाणिग्रहण और कृत्य के अन्तर्गत कन्या के पिता या अन्य संरक्षक हाथ में जल लेकर वेद-मन्त्र उच्चारण करते हुए लड़के को दान देने का संकल्प करते हैं और फिर अपनी कन्या का दान मन्त्रों का उच्चारण करते हुए ही करते हैं। वर की अग्नि तथा भगवान् को साक्षी मानकर वधू के हाथ को अपने हाथ में लेकर पाणिग्रहण करता है और छः मन्त्रों से वे दोनों कुछ प्रतिज्ञायें करते हैं। वेद-मन्त्र पवित्र मन्त्र हैं और विवाह

3. “The Hindu marriage is a socially approved ceremonious union of two opposite sexes through certain ritual performances which has for its objects *dharma* (religion), *praja* (progeny) and *rati* (pleasure).”

—The Author.

में इन मन्त्रों को महत्वपूर्ण स्थान देना ही इस बात का प्रमाण है कि हिन्दू-विवाह एक धार्मिक संस्कार है। पाणिग्रहण के पश्चात् वर-वधू दोनों गाँठ बाँधकर अग्नि के पास उत्तर-पूर्व की दिशा में सात कदम एकसाथ चलते हैं, जिसे 'सप्तपदी' कहते हैं। ये समस्त कृत्य ब्राह्मण के द्वारा पवित्र अग्नि की साक्षी में वेद-मन्त्रों के साथ किये जाते हैं। यह विवाह की पूर्णता के लिये आवश्यक है, क्योंकि ये सब कृत्य या इनमें से कोई भी एक यदि उचित रूप में न किया गया हो तो कानून की दृष्टि से वह विवाह वैध नहीं माना जाता है। इसलिये डॉ० कपाडिया ने लिखा है कि हिन्दू-विवाह-एक संस्कार है। यह पवित्र समझा जाता है क्योंकि यह तभी पूर्ण होता है, जबकि ये पवित्र मन्त्रों के साथ किए जाएँ।

(2) डॉ० कपाडिया के अनुसार हिन्दू-विवाह एक दूसरे अर्थ में भी धार्मिक संस्कार है। अपने जीवन में हिन्दू पुरुष अनेक संस्कारों को सम्पादित करता हुआ आगे बढ़ता है। यह गर्भाधान संस्कार से आरम्भ होता है और शरीर के दाह-संस्कार में समाप्त होता है। हिन्दू-जीवन में इन संस्कारों का महत्व इसी बात से पता चलता है कि पहले-महल कानूनी दृष्टिकोण से उस बालक का दाह-संस्कार हो सकता था जिसकी आयु के दो वर्ष पूरे हो गये हों, पर बाद में कानून द्वारा ऐसा विधान हो गया कि यह संस्कार केवल ऐसे ही बालक का हो सकता है जिसका मुण्डन-संस्कार हो चुका हो। उसी प्रकार द्विजवर्णों के लिये यज्ञोपवीत एक ऐसा संस्कार है जो उनके दूसरे जन्म का चोक्त है। अतः स्पष्ट है कि अपने जीवन की पूर्णता के लिये हिन्दू पुरुष को एकाधिक संस्कार करने पड़ते हैं। परन्तु हिन्दू स्त्रियों के लिये इस प्रकार के विविध संस्कारों की व्यवस्था या निर्देश नहीं है; उनके लिये केवल एक संस्कार करने का निर्देश है और वह है विवाह-संस्कार, जिसके द्वारा वह गृहस्थ आश्रम में प्रवेश करती है और जो कि धार्मिक व सामाजिक दृष्टिकोण से स्त्री को पूर्णता प्रदान करता है। अतः इस रूप में भी हिन्दू-विवाह एक धार्मिक संस्कार है।

(3) हिन्दू-विवाह एक धार्मिक संस्कार है क्योंकि हिन्दू-विवाह को एक पवित्र तथा ईश्वर द्वारा निश्चित बन्धन माना जाता है। क्योंकि यह ईश्वर द्वारा निर्धारित पवित्र बन्धन है, इसलिये यह अटल है। विवाह करने वाले वर या वधू कोई भी अपनी इच्छा से इस बन्धन को तोड़ नहीं सकते और पत्नी तो अपने पति से मृत्यु के बाद भी बँधी हुई मानी जाती है। हिन्दू-विवाह में अन्तर्निहित यह भावना कि विवाह ईश्वरीय आदेशानुसार अविच्छेद्य है, इस बात का प्रमाण है कि हिन्दू-विवाह एक धार्मिक संस्कार है।

(4) हिन्दू-विवाह एक धार्मिक संस्कार है, इस बात का एक और प्रमाण यह है कि इस विवाह का सबसे प्रथम उद्देश्य धार्मिक कर्त्तव्यों का पालन करना है। इन धार्मिक कर्त्तव्यों में यज्ञ सबसे महत्वपूर्ण है। पर यज्ञ पत्नी के बिना सम्पादित नहीं किया जा सकता। यज्ञ में साथ बैठने वाली स्त्री को ही पत्नी कहा जाता है। हिन्दू-विवाह एक धार्मिक संस्कार है। इसे दर्शाने के लिये ही हिन्दू पत्नी को धर्मपत्नी या सहधर्मिणी कहा जाता है। विवाह के द्वारा ही पुत्र-प्राप्ति होती है और उससे पितृयज्ञ पूरा होता है। लड़का पितरों को तर्पण तथा पिण्डदान देकर पितृयज्ञ को सम्पादित करता है। इस दृष्टिकोण से भी हिन्दू-विवाह एक धार्मिक संस्कार है।

हिन्दू-विवाह—एक संस्कारात्मक विवाह

हिन्दू-विवाह के उद्देश्य या आदर्श (Aims or ideals of Hindu Marriage)

धर्मशास्त्रों के अनुसार प्रत्येक माता-पिता या दूसरे अभिभावक का यह कर्तव्य है कि वह अपने लड़के-लड़कियों का विवाह उचित समय पर करें। प्रत्येक हिन्दू के लिये विवाह अनिवार्य है क्योंकि इसके बिना कुछ धार्मिक तथा सामाजिक उद्देश्यों की पूर्ति सम्भव नहीं है। धर्मशास्त्रों के मत में हिन्दू-विवाह और परिवार के द्वारा निम्न-लिखित तीन उद्देश्यों या आदर्शों की पूर्ति होती है—

1. धार्मिक कर्तव्यों का पालन (Performance of religious duties)—
हिन्दू-विवाह का सबसे प्रमुख आदर्श या उद्देश्य धार्मिक कर्तव्यों को निभाना है। प्रत्येक पुरुष के अपने जीवन में कुछ धार्मिक कर्तव्य हैं और इन कर्तव्यों को निभाने के लिये पत्नी की आवश्यकता है और इसीलिये विवाह न केवल आवश्यक है बल्कि अनिवार्य भी। वैदिक युग में यज्ञ अनिवार्य थे, प्रत्येक व्यक्ति स्नातक होकर यज्ञ की अग्नि अपने घर में प्रज्वलित करता था। यज्ञ का महत्त्व पारिवारिक तथा धार्मिक दोनों ही दृष्टिकोण से अत्यधिक था, परन्तु पत्नी के बिना यह धार्मिक कर्तव्य पूरा नहीं किया जा सकता था, यज्ञ में साथ बैठने वाली स्त्री को ही पत्नी कहा जाता था। इसी कारण श्रीरामचन्द्रजी को स्वर्ण प्रतिमा बनानी पड़ी थी। याज्ञवल्क्य एक पत्नी के मरने पर यज्ञ कार्य के लिये तुरन्त दूसरी स्त्री से विवाह करने का आदेश देते हैं। कालिदास ने बताया है कि कामदेव पर विजय पाने वाले शिवजी के सामने जब सप्तर्षि और अरुन्धती आये, उस समय अरुन्धती को देखकर उन्हें विवाह करने की इच्छा उत्पन्न हुई क्योंकि धर्म सम्बन्धी क्रियाओं का मूल पतिव्रता स्त्री है। पुरुष के जीवन में पत्नी की इस धार्मिक महत्ता के कारण ही स्त्री को धर्मपत्नी के नाम से सम्बोधित किया जाता है। माता बनने के लिये स्त्रियों की, और पिता बनने के लिये पुरुषों की सृष्टि की गई है, इस कारण वेदों का आदेश है कि धार्मिक क्रियाएँ पुरुष को अपनी पत्नी के साथ मिलकर करनी चाहियें। ये मनु के वचन हैं और इनका महत्त्व हिन्दू-विवाह में अत्यधिक है।

हिन्दू-जीवन के धार्मिक कर्तव्यों को ही 'यज्ञ' कहा गया है जो संख्या में पाँच हैं—ब्रह्मयज्ञ, देवयज्ञ, भूतयज्ञ, पितृयज्ञ और नृयज्ञ या अतिथियज्ञ। इनके विषय में विस्तृत विवेचन हम अध्याय 7 में 'आश्रम-व्यवस्था' के अन्तर्गत कर चुके हैं। यहाँ पर केवल इतना ही बता देना आवश्यक होगा कि इन यज्ञों को सुसम्पन्न करने के लिये पत्नी की अर्थात् विवाह की आवश्यकता होती है। उदाहरणार्थ, पितृयज्ञ को ही लीजिये। पितृयज्ञ तभी पूरा होता है जबकि पितरों को तर्पण या पिण्डदान देकर पितृ-ऋण से उऋण हुआ जाए। यह काम पुत्रों के द्वारा ही हो सकता है और उसके लिये पुत्र को जन्म देना आवश्यक है जिसके लिये विवाह ही समाज द्वारा मान्य उचित साधन है। उसी प्रकार अतिथियज्ञ को पूरा करने के लिये अतिथि-सत्कार करना पड़ता है। इसके लिये पत्नी ही परम सहायक सिद्ध हो सकती है। अतः हिन्दू-विवाह का उद्देश्य धार्मिक कर्तव्यों का पालन है।

हिन्दू-विवाह के इस उद्देश्य को डॉक्टर सम्पूर्णानन्द ने इस प्रकार समझाया है—
"तैत्तिरीय ब्राह्मण के अनुसार 'अयज्ञियो वा एषयोऽपत्नीकः' पत्नीहीन पुरुष यज्ञ का अधिकारी नहीं होता। यज्ञ केवल उस कृत्य को नहीं कहते जिसमें मन्त्र, पदंकर अग्नि में आहुति डाली जाती है। जो कोई भी काम शुद्ध बुद्धि से किया जाए वह यज्ञ हो

सकता है, परन्तु उत्कृष्ट यज्ञ वह है जो परार्थ किया जाए। भगवद्गीता के चतुर्थ अध्याय में यज्ञ के कई प्रकार गिनाए गए हैं। जव् बलि दी जाए, निरीह पशुओं की नहीं बल्कि अपने अधम स्व की, अपनी काम-क्रोध-लोभमयी प्रवृत्तियों की। इस बलि से जो शक्ति उत्पन्न होती है वह यज्ञ को सम्पन्न कराती है। वेद कहते हैं कि सृष्टि के आरम्भ में जीवों के कल्याण के लिये देवों ने यज्ञ किया था। यह विश्व शिव-शक्ति का महायज्ञ है, इसलिए यज्ञ में पति-पत्नी का योग होना ही चाहिए। दो शरीर परन्तु चित्त एक, संकल्प एक, लक्ष्य एक—तभी यज्ञ पूरा होता है। जहाँ तक यज्ञ-सृष्टि से सांसारिक कामों को करने की बात है, यह कौन नहीं जानता कि स्त्री ऐसे कामों में अमूल्य सहायता दे सकती है। स्त्री का जीवन त्याग और तपस्या की कहानी है, वह पुरुष को भी मूक भाषा में यह पाठ पढ़ाती है। इसीलिए स्त्री को सहधर्मिणी कहते हैं। न तो पुरुष के बिना स्त्री समुचित रूप से कर्त्तव्य-पथ पर आरुढ़ हो सकती है, न स्त्री के बिना पुरुष।" विवाह द्वारा धर्म के पालन का यही व्यावहारिक अर्थ है।

2. पुत्र-प्राप्ति (Progeny)—हिन्दू-विवाह का दूसरा उद्देश्य पुत्र-प्राप्ति है। ऋग्वेद में पुत्रों की आकांक्षा को अनेक स्थलों पर बड़ी तीव्रता से अभिव्यक्त किया गया है। प्राचीनकाल में जब स्नातक विद्या प्राप्त करके गुरुकुल से विदा होने लगता था, तो उसको अन्य बातों के साथ गुरु यह भी आदेश देते थे कि 'प्रजातन्तु मा व्यव-च्छेसीः' अर्थात् प्रजातन्तु, सन्तानोत्पादन के क्रम को मत काटो, जिस प्रकार तुम्हारे पूर्वज सन्तति छोड़ गए हैं वैसे तुम भी छोड़ जाओ। पत्नी और सन्तान के बिना पुरुष, और पति और सन्तान के बिना स्त्री अपूर्ण है। शतपथब्राह्मण के एक वचन में यह कहा गया है कि "पत्नी निश्चयपूर्वक पति का आधा हिस्सा है, जब तक वह पत्नी नहीं प्राप्त करता उस समय तक वह सन्तान नहीं उत्पन्न करता और अपूर्ण (असर्व) रहता है, जब स्त्री को प्राप्त करता है, प्रजा (सन्तान) पैदा करता है, तभी वह पूर्ण होता है।" विवाह के मन्त्रों में वर वधू से कहा है कि मैं उत्तम सन्तान को प्राप्त करने के लिये तुमसे विवाह कर रहा हूँ, पुरोहित तथा अन्य गुरुजन भी अपने आशीर्वाद में इसी इच्छा को प्रकट करते हैं।

हिन्दुओं में पुत्र सन्तान भी तीव्र आकांक्षा इस कारण है कि इसके द्वारा पितृ-ऋण से उच्छ्रान्त होना तथा प्रजातन्त्र की रक्षा करना सम्भव है। "आत्मसंरक्षण की सहज भावना से प्रेरित होकर वह प्रजा की आकांक्षा रखता है, पुत्र द्वारा अपने वंश का विस्तार करता है और अमर बनता है।.....दिलीप ने नन्दिनी से अनन्त कीर्ति वाले वंशकर्त्ता पुत्र की मांग की थी।" कालिदास ने कहा है कि शुद्ध वंश में उत्पन्न हुई सन्तति इस लोक में और परलोक में सुख देने वाली होती है। भवभूति ने इन्हें आनन्द की ग्रन्थि कहा है। शास्त्रकारों ने सम्भवतः सामाजिक हित को दृष्टि में रखकर पुत्र-प्राप्ति को एक धार्मिक कर्त्तव्य बताया। समाज जिन नियमों और व्यवस्थाओं से टिका हुआ है वे सब धर्म हैं। सन्तानोत्पादन समाज की स्थिति और विस्तार का मुख्य हेतु है। अतः यह एक महान् धर्म है। इसका पालन करने वाला पापी होता है। महाभारत में स्पष्ट रूप से कहा गया है कि जो पुरुष सन्तान उत्पत्ति नहीं करता वह अधार्मिक होता है। सन्तान को जन्म देना इतना बड़ा धर्म है कि इसकी तुलना में अग्निहोत्र तीनों वेद विल्कुल नगण्य हैं। सन्तान ही तीनों वेद हैं और सदा बने रहने वाले देवता हैं। दुस्तर संसार सागर को पुत्र को नौका से पार किया जा सकता है। स्वर्ग में बने रहने के लिये तथा नरक से बचने के लिये पुत्र आवश्यक है। शास्त्रकार

पुत्र की महिमा का बखान करके ही सन्तुष्ट नहीं हुए, उन्होंने समाज में इस विश्वास को प्रचलित किया कि “पुत्र-प्राप्ति ऋण है, इसे न चुकाने पर पुत्र के अभाव में पिता पुत्र नामक नरक में जाता है और उसके पितर पिण्डदान के अभाव में भूखे-प्यासे मरते हैं।” मनु ने कहा है—

“ऋणानि त्रीण्यपाकृत्य मनो मोक्षे निवेशयेत्” अर्थात् तीनों ऋणों को शोधकर मन को मोक्ष में लगाना चाहिये। साथ ही—

“अधीत्य विविधान् वेदान् पुत्राश्चोत्पाद्य धर्मतः।

इष्ट्वा च शक्तितो यज्ञमनो मोक्षे निवेशयेत् ॥”

अर्थात् वेद-वेदांग के स्वाध्याय से ऋषि-ऋण, यज्ञों के अनुष्ठान से देव-ऋण और धर्मानुकूल सन्तानोत्पादन द्वारा पितृ-ऋण से उऋण होकर मोक्ष में मन लगाए। इसीलिए वैदिक साहित्य, मनुसंहिता तथा महाभारत में पुत्र शब्द की व्युत्पत्ति से पता चलता है कि पुत्र वह है जो पिता को पुत्र अर्थात् नरक से बचाए; पुत्र ही तर्पण और पिण्डदान के द्वारा पितरों को शान्ति प्रदान कर सकता है। इसीलिए कहा गया है कि पितृयज्ञ के लिए पुत्र की उत्पत्ति आवश्यक है। इस पितृयज्ञ का दूसरा नाम श्राद्ध है। इसी श्राद्ध की महिमा धार्मिक ग्रन्थों में नाना प्रकार से व्यक्त की गई है। कर्मपुराण में लिखा है कि “जो प्राणी जिस किसी विधि से एकाग्र चित्त होकर श्राद्ध करता है, वह समस्त पापों से रहित होकर मुक्त हो जाता है और पुनः संसार-चक्र में नहीं आता।” इसी प्रकार गरुडपुराण में यह उल्लेख है कि “पितृपूजन (श्राद्धकर्म) से सन्तुष्ट होकर पितर मनुष्यों के लिये आयु, पुत्र, यश, स्वर्ग, कीर्ति, पुष्टि, बल, वैभव, सुख, पशु, घन और धान्य देते हैं। स्कन्दपुराण में तो यहाँ तक कह दिया गया है कि “अन्याय से उपार्जित घन से भी किए हुए श्राद्ध से चाण्डाल, पुल्कस आदि योनियों में भोगवश पहुँचे हुए पितृगण सन्तुष्ट होते हैं। इतना ही नहीं, वे पितृगण पापरहित होकर ब्राह्मणत्व प्राप्त करते हैं।” जरत्कारु उग्र तपस्वी ऋषि थे, उन्होंने विवाह नहीं किया था; किन्तु अपने पितरों की दुर्दशा देखकर अन्त में उन्हें विवाह करना पड़ा। कुणिगर्ग की कन्या ने आजीवन घोर तप करके तपोबल से जब स्वर्ग जाने की इच्छा की तो नारदजी ने उसे बताया कि आविवाहित कन्याओं को स्वर्ग नहीं मिलता। इस पर उसने अपने तप के आगे फल को देकर शृंगवान से विवाह किया और फिर कहीं स्वर्ग को जा सकी। अतः स्पष्ट है कि हिन्दुओं के जीवन में विवाह का प्रयोजन न केवल इस लोक या जीवन के लिए ही है अपितु परलोक के लिए भी है।

3. रति (Sex)—समाज द्वारा मान्यता प्राप्त तरीके से घर बसाना और यौन-सम्बन्धी कामनाओं को चरितार्थ करना न केवल हिन्दुओं के विवाह का ही अपितु सभी समाजों में प्रायः सभी विवाहों का उद्देश्य हुआ करता है। यौन-सुख की तृप्ति हिन्दू-विवाह का एक सामान्य उद्देश्य माना जाता है। उपनिषदों में रति या सम्भोग को सबसे बड़ा आनन्द कहा गया है। बृहस्पति उपनिषद् में यह उल्लेख है कि “जैसे कोई अपनी प्रिय पत्नी से मिलता हुआ, बाहर के जगत् में कुछ भी नहीं जानता और न आंतरिक जगत् को जानता है, उसी प्रकार प्राज्ञ आत्मा से जुड़ा हुआ पुरुष न बाहर की किसी वस्तु को जानता है, न ही अन्दर की किसी वस्तु को।” हिन्दू-धर्मशास्त्रकारों ने जहाँ एक ओर इसे मानव-जीवन के लिए आवश्यक माना है वहाँ दूसरी ओर यह नियन्त्रण भी लगाया कि पत्नी के अलावा अन्य किसी भी स्त्री से सम्भोग नहीं होना चाहिये और साथ ही इस सम्भोग का मुख्य उद्देश्य उत्तम धार्मिक सन्तान की उत्पत्ति

होना चाहिए। इसीलिये श्रीकृष्ण ने गीता में इसे धर्मानुकूल कर्म बताया है। वैसे भी प्राचीन आर्यों के जीवन में धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष नामक चारों पुरुषार्थों की प्राप्ति आवश्यक समझी जाती थी। फिर भी हिन्दू-विवाह के उद्देश्य में इसे तीसरा स्थान दिया जाता है। अतः स्पष्ट है कि हिन्दू आदर्श के अनुसार यह विवाह का बहुत कम महत्वपूर्ण उद्देश्य है। श्री के० एम० कपाडिया ने लिखा है कि “विवाह में यौन-सम्बन्ध की निरन्तर भूमिका पर बल देने के लिये ही यह कहा जाता है कि शूद्र का विवाह केवल यौन-सम्बन्ध के लिये होता है। शूद्र एक निम्न स्तर का व्यक्ति माना जाता है जिसका कोई उद्देश्य नहीं होता। चूँकि शूद्र से घृणा की जाती है, इसलिये शूद्र स्त्री के साथ सम्बन्धों को भी नीची दृष्टि से देखा जाता है यद्यपि इन्हें रोका नहीं जा सकता। इसी के परिणामस्वरूप ब्राह्मण कानून-निर्माताओं ने आदेश दिया है कि शूद्र पत्नी केवल भोगविलास के लिए ली जा सकती है।”

धर्मशास्त्रों में उल्लिखित हिन्दू-विवाह के उपरोक्त तीन उद्देश्यों के अतिरिक्त कुछ दूसरे सामान्य उद्देश्य निम्नलिखित हैं—

4. परिवार के प्रति अपने कर्त्तव्यों का पालन—विवाह के द्वारा अपने परिवार के प्रति अपने कर्त्तव्यों का पालन करना हिन्दू-विवाह का चौथा प्रमुख उद्देश्य है। बूढ़े माता-पिता के प्रति उनकी सेवा करने का जो उत्तरदायित्व हिन्दू-समाज सन्तानों पर लादता है, उसे पूरा करने के लिये भी विवाह आवश्यक है। पारिवारिक परम्परा, प्रथा, धर्म आदि की निरन्तरता को बनाये रखने के लिये भी विवाह आवश्यक है।

5. समाज के प्रति कर्त्तव्यों का पालन—समाज के प्रति कर्त्तव्यों का पालन भी विवाह के द्वारा ही हो सकता है। समाज की निरन्तरता को बनाये रखने के लिये विवाह करना परमावश्यक है क्योंकि विवाह के द्वारा उत्पन्न सन्तान मृत व्यक्तियों की खाली जगह भरती है।

6. व्यक्तित्व का विकास—विवाह स्त्री-पुरुष के विकास के लिये भी परमावश्यक है। मनु के अनुसार वह पूर्ण पुरुष है जिसके पत्नी और बच्चे हों, वह पुरुष वास्तव में आधा है जो एक पत्नी पर विजय नहीं पाता और वह तब तक सम्पूर्ण पुरुष नहीं है जब तक एक सन्तान को उत्पन्न नहीं करता है। इस प्रकार स्त्री और पुरुष एक-दूसरे के पूरक हैं और एक-दूसरे के व्यक्तित्व के विकास में सहायक हैं। डॉ० वासुदेव शरण अग्रवाल के शब्दों में, “स्त्री और पुरुष दोनों नदी के दो तटों की भांति सहयुक्त हैं। दोनों के बीच में ही जीवन की धारा प्रवाहित होती है। वैदिक साहित्य में स्त्री और पुरुष के सम्मिलन की उपमा पृथ्वी और ब्रूलोक से दी गई है। जैसे भुक्ति के दो दलों के बीच में मोती की स्थिति होती है, वैसे ही स्त्री और पुरुष इन दोनों के मध्य में सन्निवृत्त की। आकाशचारी मेघ वृष्टि के द्वारा पृथ्वी को गर्म धारण कराते हैं और तब वृक्ष-वनस्पतियों का जन्म होता है। यही स्थिति स्त्री-पुरुष या पति-पत्नी की है। वे दोनों दो होते हुए भी एक हैं। दोनों के इस अभेद की स्वीकृति विवाह संस्कार है।”

उपर्युक्त विवेचना से यह स्पष्ट है कि विवाह का उद्देश्य स्त्री एवं पुरुष के मधुर पवित्र समन्वय तथा सामंजस्य द्वारा पारिवारिक, सामाजिक तथा राष्ट्रीय जीवन की सुव्यवस्था एवं सुख-स्वास्थ्य-शान्ति की रक्षा करना है। इतना ही नहीं, विवाह का एक और महत्वपूर्ण उद्देश्य “स्त्री-धारा को पुरुष-धारा से मिलाकर उसे मुक्ति की अधिकारिणी बनाना तथा दोनों की अनर्गल अनियन्त्रित पशु-प्रवृत्तियों को नियन्त्रित

कर दोनों की शारीरिक, मानसिक, बौद्धिक तथा आध्यात्मिक उन्नति करना और दोनों के मधुर समन्वय से दोनों की पूर्णता सिद्ध करना एवं शारीरिक सुख-शांति प्राप्त करना है। विवाह संस्कार के द्वारा स्त्री और पुरुष दोनों अपनी-अपनी अनर्गल भोग-प्रवृत्तियों को एक-दूसरे में केन्द्रीभूत एवं नियन्त्रित कर आत्मसंयम और आत्मत्याग के अभ्यास के द्वारा एक-दूसरे की आध्यात्मिक उन्नति में सहायक बनते हैं। इसीलिए हिन्दू-विवाह में स्त्री के लिये पातिव्रत्य और पुरुष के लिए भी एक-पत्नी-व्रत धर्म ही प्रशस्त एवं आदर्श है।

हिन्दू-विवाह के परम्परागत स्वरूप

(Traditional Forms of Hindu Marriage)

विभिन्न स्मृतिकारों ने हिन्दू-विवाह के भेदों की अलग-अलग संख्याओं का उल्लेख किया है। उदाहरणार्थ वशिष्ठ केवल छः प्रकार के विवाह मानते हैं जबकि मनु ने हिन्दू-विवाहों के आठ प्रकारों का उल्लेख किया है। सामान्य रूप से मनु द्वारा उल्लिखित निम्नलिखित विवाह के आठ प्रकारों को अधिक महत्वपूर्ण माना जाता है—

1. ब्राह्म विवाह—वर-कन्या दोनों यथाविधि ब्रह्मचर्य से पूर्ण, विद्वान्, धार्मिक और सुशील हों, उनका परस्पर प्रसन्नता से विवाह होना ब्राह्म विवाह कहलाता है। इस प्रकार विवाह में कन्या के माता-पिता अपनी खुशी से एक विद्वान् और योग्य वर को अपनी कन्या के लिये चुनते हैं। उसे अपने घर पर आमन्त्रित करते हैं और कन्या को वस्त्र, अलंकार आदि से सुसज्जित करके उस वर को दान करते हैं।

2. दैव विवाह—इस प्रकार के विवाह में कन्या के पिता एक यज्ञ की व्यवस्था करते हैं और वस्तु तथा अलंकार से सुसज्जित कन्या का दान उस व्यक्ति को किया जाता है जो उस यज्ञ को उचित ढंग से पूरा करता है। संक्षेप में विस्तृत यज्ञ करने में कुशल पुरोहित को अलंकारयुक्त कन्या को देना ही दैव विवाह है। इस विवाह का प्रचलन प्राचीनकाल में अधिक था, क्योंकि उस समय यज्ञ का बहुत महत्व था। परन्तु आज न तो यज्ञों का उतना महत्व है और न ही दैव विवाह का प्रचलन।

3. आर्ष विवाह—आर्ष विवाह का सम्बन्ध 'ऋषि' शब्द से है। बौद्धिक तथा आध्यात्मिक शक्ति व चरित्र के लिये ऋषियों का आदर किया जाता था और उनसे ऐसी बुद्धिमान सन्तति की उत्पत्ति की आशा की जाती थी जोकि परिवार तथा समाज के गौरव व गर्व की वस्तु होगी। इसीलिये ऐसे ऋषियों से अपनी कन्या का विवाह कर देने को सभी माता-पिता अत्यधिक इच्छुक रहते थे। परन्तु चूँकि ऋषि लोग प्रायः विवाह के सम्बन्ध में उदासीन हुआ करते थे इसलिए विवाह करने को इच्छुक ऋषि को अपने भावी ससुर को एक गाय अथवा एक बैल अथवा इनके दो जोड़े देने पड़ते थे ताकि यह प्रमाणित हो जाये कि ऋषि ने अब विवाह-बन्धन को स्वीकार कर लिया है। इसे कन्या-मूल्य न समझना चाहिये। इस प्रकार की मेंट लेकर कन्या के माता-पिता कन्या को ऋषि की पत्नी के रूप में सौंप देते हैं और उन दोनों को इसके पश्चात् पवित्र गृहस्थ धर्म निर्वाह करने का अवसर प्रदान करते हैं।

4. प्राजापत्य विवाह—वर और वधू को वैवाहिक जीवन के सम्बन्ध में उप-देश देकर और "तुम दोनों मिलकर गृहस्थ धर्म का पालन करना और तुम दोनों का जीवन सुखी एवं समृद्धिशीली हो" यह कहकर विधिवत् वर की पूजा करके कन्या का

दान ही प्राजापत्य विवाह है। 'सत्यार्थ प्रकाश' में लिखा है कि वर और वधू दोनों का विवाह धर्म की वृद्धि के लिये हो—यह कामना करना ही 'प्राजापत्य' का आधार है। इस प्रकार ब्राह्म और प्राजापत्य विवाह में कोई विशेष अन्तर नहीं है। कुछ विद्वानों के मतानुसार प्रारम्भ में प्राजापत्य था ही नहीं। सम्भवतः विवाह के प्रकार को आठ बनाने के लिये इसका प्रचलन बाद में हुआ है।

5. आसुर विवाह—आसुर विवाह में विवाह के लिए इच्छुक व्यक्ति को कन्या के पिता या अभिभावक को कन्या-मूल्य चुकाना पड़ता है। इसके अनुसार कन्या का कुछ मूल्य पहले ही निश्चित हो जाता है और उसे चुकाये बिना विवाह नहीं हो सकता। इस मूल्य की कोई सीमा नहीं होती। प्रायः यह कन्या के गुण और परिवार के आधार पर निश्चित होता है। ऊपरी तौर पर ऐसा लगता है कि आर्ष विवाह और आसुर विवाह एकसमान हैं क्योंकि दोनों में ही वर-पक्ष कन्या-पक्ष को कुछ-न-कुछ वस्त्र या धन देता है। परन्तु वास्तव में ऐसी बात नहीं है। सच यह है कि दोनों ही प्रकार के विवाह में वर-पक्ष कुछ वस्तु या धन देता है, पर इस देने के उद्देश्य तथा आधार में भारी अन्तर है। आर्ष विवाह में जो गाय और बैल दिया जाता है वह कन्या-मूल्य नहीं है बल्कि केवल इस बात का प्रमाण है कि ऋषि विवाह करने को इच्छुक है और जो कुछ वह अपने भावी ससुर को दे रहे हैं वह ऋषि-कृतज्ञता का प्रतीक है, परन्तु आसुर विवाह में जो कुछ भी दिया जाता है वह वास्तव में कन्या-मूल्य ही होता है और उसे चुकाये बिना विवाह नहीं हो सकता। साथ ही यह कन्या-मूल्य आर्ष विवाह की तरह निश्चित भी नहीं होता और यह कन्या के गुण और परिवार के आधार पर ज्यादा या कम हो सकता है। परन्तु आर्ष विवाह में कन्या के माता-पिता को निश्चित रूप में एक गाय और बैल अथवा दो जोड़े गाय या बैल मिलते हैं। इन मौलिक भिन्नताओं के कारण ही इन दोनों विवाहों के दो भिन्न नाम और विवाह के दो भिन्न प्रकार स्वीकार किये गये हैं। उच्च जाति के हिन्दुओं में आसुर विवाह बहुत ही खराब समझा जाता है। नीच जाति के लोगों में और जनजातियों में इसका विशेष प्रचलन है।

6. गान्धर्व विवाह—यह विवाह कन्या और वर के परस्पर प्रेम के फलस्वरूप और उनकी इच्छा के अनुसार होता है तथा वे बिना अपने माता-पिता की अनुमति के ही एक-दूसरे को पति और पत्नी के रूप में स्वीकार कर लेते हैं। इस प्रकार के विवाह में शरीर-संयोग विधिवत् विवाह होने के पूर्व ही हो सकता है, परन्तु उचित विधियों को कर लेने के बाद ही ऐसे विवाह को समाज की स्वीकृति प्राप्त होती है। 'सत्यार्थ प्रकाश' में लिखा है कि अनियम, असमय इसी कारण से दोनों की इच्छापूर्वक वर-कन्या का परस्पर संयोग होना 'गान्धर्व विवाह' है। 'कामसूत्र' में इस प्रकार के विवाह को आदर्श विवाह माना गया है।

7. राक्षस विवाह—लड़ाई करके, छीन-झपटकर या कपट से कन्या से विवाह कर लेना राक्षस विवाह है। यह विवाह उस समय अधिक होता था जब युद्ध का महत्व अधिक था और स्त्रियों को युद्ध में विजय पाकर प्राप्त करना, गौरवपूर्ण माना जाता था। इस प्रकार स्त्रियों को युद्ध का पुरस्कार माना जाता था और उसको प्राप्त करने के लिये कन्या-पक्ष के लोगों पर आक्रमण किया जाता था और शक्ति के द्वारा कन्या को जबरदस्ती उठा लेजाकर विवाह किया जाता था। चूँकि युद्ध से प्रत्यक्ष

सम्पर्क क्षत्रियों का था इस कारण इस प्रकार का विवाह विशेष रूप से क्षत्रियों के लिये था। इसलिये इसे 'श्रात्र-विवाह' भी कहते हैं।

8. पैचाश विवाह—जब निद्रित, शराब आदि पी हुई या अन्य प्रकार से उन्मत्त स्त्री के साथ किसी-न-किसी प्रकार की जबरदस्ती या धोखा देकर यौन-सम्बन्ध स्थापित कर लिया जाता है, तो उसे पैचाश विवाह कहते हैं। विवाह, संस्कार पूरा कर लेने के बाद इस प्रकार के स्त्री-पुरुष को भी समाज वर-वधू के रूप में स्वीकार कर लेता है जिससे कि पुरुष की काम-वासना के शिकार होने के फलस्वरूप उस लड़की का जीवन नष्ट न हो जाये।

मनुस्मृति का विधान है कि ब्राह्मणों के लिए प्रथम चार प्रकार के विवाह—ब्राह्म, दैव आर्ष और प्राजापत्य ही उत्तम हैं; क्षत्रिय के लिए आर्ष प्राजापत्य, आसुर और गान्धर्व ये चार विवाह श्रेष्ठ हैं; वैश्य और शूद्रों के लिये भी ये ही चार विवाह धर्मानुकूल हैं। क्षत्रियों के लिये राक्षस विवाह को भी अनुमति मनु देते हैं, क्योंकि युद्ध करना क्षत्रियों का धर्म है और उस युद्ध में स्त्रियों को विजय-पुरस्कार के रूप में प्राप्त करना उनके लिये गौरवकी बात है। मनु के अनुसार पैचाश विवाह किसी भी वर्ण के लिये योग्य, उचित या धर्मानुकूल नहीं है (मनु०, 3/23-25)। इस प्रकार के विवाह से उत्पन्न सन्तान 'निलज्ज मिथ्यावादी एवं ब्राह्मणों व धर्मों के शत्रु होते हैं जबकि ब्राह्म आदि प्रथम चार प्रकार के विवाहों से उत्पन्न पुत्र ब्रह्मतेजस्वी, रूपवान, गुणवान, धर्मात्मा और 160 वर्ष की आयु वाले होते हैं (मनु०, 3/39-41)। कौटिल्य का मत है कि उपरोक्त आठ प्रकार के विवाहों में प्रथम चार प्रकार के विवाह पिता की सलाह से होने के कारण धर्मानुकूल विवाह हैं (कौटिल्य अर्थशास्त्र अधि० 3 अध्या० 2/10, 1 इस प्रकार के विवाह करने वाले पति-पत्नी व उनकी सन्तानों के लिये स्त्री धन, पारिवारिक सम्पत्ति, सामाजिक अधिकार आदि के सम्बन्ध में अनेक सुविधाओं का विधान कौटिल्य करते हैं।

वर्तमान काल में हिन्दुओं में प्रचलित विवाह (Forms of Hindu Marriage in practice To-day)

उपरोक्त आठ प्रकार के विवाहों में आर्य-समाजी ग्रन्थ सत्याय प्रकाश ब्राह्म विवाह को सर्वोत्कृष्ट, दैव और प्राजापत्य को माध्यम, आसुर और गान्धर्व को निकृष्ट, राक्षस को अधम और पैचाश को महाभ्रष्ट मानता है। वर्तमान काल में हिन्दू समाज में केवल दो प्रकार के विवाह—ब्राह्म और आसुर विवाह का ही प्रचलन है।

डॉ० मजूमदार (Majumdar) के मतानुसार यद्यपि साधारणतया ब्राह्म विवाह उच्च जाति के लोगों में और आसुर विवाह निम्न जाति के लोगों में प्रचलित है तथापि उच्च जाति में भी आसुर विवाह पूर्णतया नहीं मिट गया है। उदाहरणार्थ, बंगाल के कुलीन लोग आज भी अपनी लड़की का विवाह ब्राह्म विवाह के अनुसार एक ऐसे व्यक्ति से करना पसन्द नहीं करेंगे जो कुलीन नहीं है; ऐसी अवस्था में अपनी

"Hindu society now recognizes only two forms, the *Brahma* and the *Asura*, the higher castes preferring the former, the backward castes the latter, though here and there among the higher castes the *Asura* practice has not died out".—D.N. Majumdar, *Races and Cultures of India*, Asia Publishing House, Bombay, 1958, p. 173.

लड़की को वस्त्र, अलंकार आदि देने के स्थान में वे प्रायः लड़के वाले से रुपये की माँग पेश करते हैं। फिर भी सामान्य रूप से ब्रह्मा विवाह और आसुर विवाह ही वर्तमान काल में हिन्दुओं में प्रचलित विवाह है। इनके अतिरिक्त आधुनिक समय में गान्धर्व विवाह का प्रचलन भी दिन-प्रतिदिन बढ़ता जा रहा है जिसका कि लोकप्रिय स्वरूप प्रेम-विवाह (Love Marriage) है।

ब्राह्म विवाह (कन्यादान)—जैसाकि ऊपर ही बताया जा चुका है, ब्राह्म विवाह का प्रचलन ऊँची जातियों में अधिक है। इस प्रकार के विवाह में कन्या के माता पिता या अन्य संरक्षक कन्या के लिये योग्य वर को चुनते हैं, और उसे एक निश्चित दिन पर इष्ट-मित्रों और कुटुम्बियों के साथ अपने घर आमन्त्रित करते हैं और फिर अन्न, वस्त्र, अलंकार आदि सहित कन्या का दान उस व्यक्ति को कर देते हैं। इस प्रकार ब्राह्म विवाह में कन्यादान एक प्रमुख संस्कार है, जिसमें कन्या के पिता या अन्य संरक्षक हाथ में जल लेकर लड़के को दान देने का संकल्प करते हैं और अपनी कन्या का दान करते हुए वर से कहते हैं, 'अमुक गोत्र में उत्पन्न, अमुक नाम वाली, अलंकृत इस कन्या को आप स्वीकार कीजिये।' इस पर वर कहता है, 'मैं स्वीकार करता हूँ।' इसके पश्चात् वर और वधू दोनों एक साथ कहते हैं, 'हे इस यज्ञशाला में बैठे हुये विद्वान् लोगो ! आप निश्चय जानें कि हम दोनों प्रसन्नतापूर्वक गृहस्थाश्रम में एकत्र रहने के लिये एक-दूसरे को स्वीकार करते हैं:'।

इस विवाह को पूर्णता प्रदान करने के लिये कुछ धार्मिक संस्कारों का होना आवश्यक है। उनमें होम, पाणिग्रहण और सप्तपदी प्रमुख हैं। अग्नि में मन्त्र-पाठ के साथ लाजाओ अथवा लाई का होम किया जाता है। साथ ही वधू के हाथ को वर अपने हाथ में लेकर पाणिग्रहण करता है और छः मन्त्रों से वे दोनों कुछ प्रतिज्ञाएँ करते हैं। इसके बाद ग्रन्थि-बन्धन किए हुए वर-वधू दोनों अग्नि के पास उत्तर-पूर्व की दिशा में सात कदम एकसाथ चलते हैं, जिसे 'सप्तपदी' कहते हैं। ये समस्त संस्कार पुरोहित के द्वारा मन्त्र सहित कराये जाते हैं। अतः स्पष्ट है कि हिन्दू-विवाह एक पवित्र धार्मिक संस्कार है। इसे पवित्र इस कारण समझा जाता है कि विवाह तभी सम्पूर्ण कहा जाता है कि जब इन पवित्र संस्कारों को पवित्र तरीके से किया जाए। कानूनी दृष्टिकोण से हवन और सप्तपदी ये दोनों महत्वपूर्ण हैं।

इसीलिए यह कहा गया है कि हिन्दुओं में विवाह पंचांग होता है। पहले के दो अंगों में वर-कन्या के अभिभावकों और दूसरे गुरुजनों में बातचीत होती है। वे सब इन बातों का पता होगा, परन्तु अब तक प्रत्यक्ष रूप से उनका काम नहीं पड़ा। यह बात अब तीसरे अंग, कन्यादान में होती है। वर और कन्या का परिचय होता है। परन्तु केवल इतनी बात नहीं है। परिचय के साथ-साथ कन्या का पिता वर से प्रार्थना करता है कि आप इस कन्या को ले लीजिये और वर इस प्रार्थना को स्वीकार करता है, यही प्रतिगृह है। परन्तु प्रतिगृह कन्या को देने और लेने का उद्देश्य वह नहीं है जो आज समाज में प्रचलित है। पिता का कन्या पर कोई स्वत्व नहीं है जिसे वह वर को हस्तान्तरित कर सकता है; यह भी नहीं है कि लड़की उसके लिए भार हो गई है, पिता वर को अधिकार नहीं, वरन् कर्तव्य सौंपना चाहते हैं। बात दूसरी ही है। कन्या के में यही अर्थ है। जिस दिन के लिए पिता ने कन्या को पाला था, वह दिन आया। यह

उनका सौभाग्य है कि वे उसके लिए योग्य वर, अनुरूप जीवन-संगी ढूँढ़ सकें। अब पिता उन दोनों को धर्म की दुर्गम घाटी में प्रवेश करने का आह्वान करता है, सचमुच धर्म का पथ छुरे की पतली तीखी धार है। कभी-कभी पारिजात की मधुर गन्ध भी आ जाती है। परन्तु कर्तव्य का पालन करना काँटों की सेज पर सोने के समान है। वर-कन्या को अब इस पथ का पथिक बनना है। कन्यादान में इनको इसकी सूचना दी जाती है। अब तक का उनका जीवन इसी के लिये तैयार किया गया था। कन्या-दान दान नहीं, समर्पण है। कन्या समर्पित की जाती है, परन्तु वर की सेवा के लिये नहीं, वर के माध्यम से सनातन शाश्वत धर्म की सेवा के लिये। दुर्गासप्तशती के अर्ग-लास्तोत्र में पत्नी को 'तारिणी दुर्गसंसारसागरस्य'—दुस्तर संसार-सागर से पार उतारने वाली—कहा है। सती इस जगत् में ब्रह्मा की उत्कृष्टतम रचना है, वह भगवती पार्वती का स्वरूप है; पति संतति, कुल, राष्ट्र को पुनीत करने वाली धर्म की चल-प्रतिमा है; पति के लिये इस लोक और परलोक का सम्बल है; उसके चरणों पर देवों के भी सिर झुकते हैं। इन्हीं कर्तव्यों का पालन करने के लिये पिता ने लड़की को अपने घर तैयार किया था। माता-पिता के चारित्र्य और उपदेशों ने अब उसको इस योग्य बनाया है कि वह उन कृत्यों का बोझ अपने कंधों पर ले जो पितृ-गृह में रहकर नहीं उठाये जा सकते। कन्यादान में पिता उसको उस पुरुष से मिलाता है जो उसकी प्रतीक्षा कर रहा था, जो धर्म पथ पर उसका साथी होगा, जो भार एक से नहीं उठ सकता उसको दोनों मिलकर उठायेंगे। उपनयन के समय वर का दूसरा जन्म हुआ था। उसने सहज सरल पथ को, उस स्वार्थमूलक पथ को जिस पर पशु भी चल सकता है, छोड़कर धर्ममय उत्सर्गमूलक जीवन बिताने का व्रत लिया था। उसी प्रकार कन्यादान कन्या की दीक्षा है, वह भी अब से कंटीले मार्ग की व्रती बनती है। कन्या का यही महत्व है।

आसुर विवाह—वर्तमान काल में हिन्दुओं में ब्राह्म विवाह के अतिरिक्त आसुर विवाह भी प्रचलित है। इस विवाह में कन्या-मूल्य लेकर लड़की की शादी कर दी जाती है। यह प्रायः नीच जातियों में अधिक प्रचलित है। कुछ वैश्यों में भी आसुर विवाह का प्रचलन देखने को मिलता है। धर्मशास्त्रों में कन्या का मूल्य लेना अनुचित बतलाया गया है। इसी कारण शायद आसुर विवाह ऊँची जातियों में नहीं पाया जाता पर चूँकि जनजातियों में आसुर विवाह का प्रचलन है, इस कारण नीच जातियों में इसका प्रचलन स्वाभाविक ही है।

हिन्दू-विवाह के भेद

(Types of Hindu Marriage)

पति-पत्नी की संख्या के आधार पर विवाह के दो मुख्य भेद हैं—(1) एक-विवाह और (2) बहु-विवाह। बहु-विवाह के दो भेद हैं—(अ) बहुपत्नी-विवाह और (ब) बहुपति-विवाह। हिन्दू-विवाह के सन्दर्भ में इन विभिन्न प्रकार के विवाहों के बारे में भी ज्ञान लेना अनावश्यक न होगा।

एक-विवाह (Monogamy)

एक-विवाह उसे कहते हैं जब एक पुरुष केवल एक स्त्री से विवाह करता है और स्त्री के जीवन काल में वह दूसरी स्त्री से विवाह नहीं करता। श्री बुकेनोविक

(Vukobovic) ने यह मत व्यक्त किया है कि वास्तव में उसी विवाह को एक-विवाह कहना उचित होगा जिसमें न केवल एक व्यक्ति की एक ही पत्नी या पति हो, अपितु इसमें से किसी की मृत्यु हो जाने पर भी दूसरा पक्ष (विधुर या विधवा) दूसरा विवाह न करे। परन्तु सामान्यतः एक पति या पत्नी के जीवित रहते द्वये किसी से विवाह न करता ही एक-विवाह माना जाता है।

वास्तव में हिन्दू-विवाह का आदर्श एक-विवाह ही है। इसका प्रमाण 'दम्पति' शब्द के प्रयोग से स्पष्ट है। दम्पति का अर्थ दो से होता है। ऐसी स्थिति में एक पुरुष या नारी के जीवन में एक से अधिक स्त्री या पुरुष का स्थान नहीं है। धार्मिक संस्कारों को करने के लिये भी एक पत्नी की आवश्यकता होती है। धर्मशास्त्रों के अनुसार वही व्यक्ति आदर्श पुरुष है जो अपनी पत्नी की जीवितावस्था में दूसरी स्त्री से विवाह नहीं करता है। हिन्दू स्त्रियों के लिये तो यह आदर्श और भी कठोर है। उनके लिये सतीत्व व पातिव्रत्य का आदर्श ही यह है कि किसी भी अवस्था में दूसरे पुरुष का विचार न किया जाये। मनु ने 'मन, वचन और देह से भी परपुरुष के साथ व्यभिचार न करने वाली स्त्री को पति के साथ स्वर्ग में निवास करने वाली साध्वी स्त्री बताया है और परपुरुष के साथ व्यभिचार से स्त्री की निन्दा, पाप रोगों से पीड़ित होने तथा सियार की योनि पाने का उल्लेख किया है।' स्कन्दपुराण तथा मार्कण्डेय पुराण के अनुसार अपने कोड़ी पति को उसकी इच्छा पूरी करने के लिये वेश्या के पास ले जाने वाली पतिव्रता शंडिली अथवा दीर्घिका अपने सतीत्व के सामर्थ्य से सूर्योदय रोक देती है। इन सबका उद्देश्य स्त्रियों के लिए एक-विवाह के आदर्श व महिमा को ही प्रस्तुत करना है।

हिन्दू धर्म के अनुसार विवाह वंश की निरन्तरता को बनाए रखने के लिये तथा सामाजिक व धार्मिक कर्तव्यों को पूरा करने के लिये है और ये कर्तव्य बिना एक पुत्र सन्तान के पूरे नहीं हो सकते हैं, इस कारण प्रथम पत्नी से पुत्र-प्राप्ति न होने या बिना सन्तान को जन्म दिये पत्नी की मृत्यु हो जाने की स्थिति में पुरुषों को फिर विवाह करने की अनुमति है। उसी प्रकार स्त्रियों के लिये भी कुछ छूट दी गई थी। "अधिकांश शास्त्रकार सन्तान प्राप्त करने के लिये देवर से ही नियोग (या पति के अभाव में देवर से विवाह) की व्यवस्था करते हैं। बौद्धायन धर्मसूत्र विधवा को नियोग का अधिकार देता है, किन्तु पति के जीवनकाल में उसके क्लीब या व्याधि-पीड़ित होने पर भी वह ऐसा कर सकती है। कौटिल्य तो पत्नी के किसी सम्बन्धी अथवा सगेज द्वारा तथा विष्णु सपिण्ड (सातवीं पीढ़ी तक के सम्बन्धी) अथवा उत्तम वर्ण वाले व्यक्ति के नियोग द्वारा सन्तान उत्पन्न करने का अधिकार देते हैं। मनु ने औरस पुत्र के अभाव में देवर या सपिण्ड को इस कार्य में समर्थ बताया है। किन्तु इस प्रथा का दुरुपयोग न हो तथा कर्तव्य-बुद्धि से सन्तान प्राप्ति के लिए ही इस प्रथा का व्यवहार हो, इस उद्देश्य से शास्त्रकारों ने इसके बहुत कठोर नियम बनाये हैं और बार-बार यह निर्देश किया है कि यह सम्बन्ध कामभाव से नहीं होना चाहिये। कहा गया है कि इन नियमों का पालन न करने वाले पुरुष पुत्रवधूगामी होने के तथा गुरु-पत्नीगामी होने के महापापों से पतित होते हैं। इस अवस्था में उनकी सन्तान जारज समझी जाती थी और उन्हें सम्पत्ति में हिस्सा नहीं मिलता था। विधवा या पत्नी सदैव पति, गुरु आदि बड़े व्यक्तियों की आज्ञा और अनुमति से ही नियत व्यक्ति से नियोग कर सकती थी। परन्तु जब ये कठोर नियम भी अनैतिकता रोकने में असमर्थ रहे

तो शास्त्रकारों ने कलिकाल में इस प्रथा को निषिद्ध ठहराया। उनके द्वारा निषिद्ध ठहराने के बावजूद भी उत्तर भारत की अनेक जातियों में पति के रहने पर देवर से शादी की प्रथा पाई जाती है।" फिर भी एक-विवाह को ही आदर्श माना गया है। इस आदर्श का वर्णन मनुसंहिता में इस प्रकार है—“पारस्परिक निष्ठा मृत्युपर्यन्त बनी रहे, यह पति और पत्नी के लिये सर्वोच्च नियम का सार माना जाये; विवाह-बन्धन में जुड़े हुए पुरुष तथा स्त्री दृढ़ता एवं स्थिरतापूर्वक इस प्रकार आचरण करें कि वे एक-दूसरे से अलग न हों तथा पारस्परिक निष्ठा का उल्लंघन नहीं करें।”

बहुपत्नीत्व या बहुपत्नी-विवाह

(Polygamy)

एक-विवाह का उपरोक्त आदर्श होते हुए भी हिन्दुओं में बहुभार्या अथवा बहु-पत्नीत्व का प्रचलन पहले बहुत था। एक पुरुष का अनेक स्त्रियों से विवाह बहुपत्नी-विवाह या बहुपत्नीत्व है और शास्त्रकारों ने इस प्रकार के विवाहों की अनुमति केवल कुछ विशेष परिस्थितियों में ही दी है। फिर भी धनिक वर्गों में, विशेषकर राजाओं में बहुपत्नी-विवाह का खूब प्रचलन देखने को मिलता था। श्री कपाडिया (Kapadia) ने लिखा है कि “संस्कार सम्बन्धी कृत्यों (ceremonial rites) में चार पत्नियों की मान्यता प्रदान की गई है तथा उनकी स्थिति (status) की परिभाषित करने के लिए अलग-अलग शब्दों के प्रयोग किए गए हैं। ये पत्नियाँ ‘महिषी’ (मुख्य पत्नी), ‘परिवृति’ (प्रभावशाली), ‘वक्ता’ (व्यक्तिगत रूप से प्रिय) तथा ‘पालागली’ (पालागल अर्थात् दरबार के सबसे निम्न-अधिकारी की पुत्री) के नाम से परिचित होती थीं।”⁵ आपस्तम्ब ने यह निर्देश दिया है कि अगर एक पत्नी धार्मिक कृत्यों को उचित ढंग से निभाती है और पुत्र को जन्म देने में समर्थ है तो उसके पति को दूसरी स्त्री से विवाह नहीं करना चाहिये। पर यदि इन दोनों में से किसी भी एक गुण का अभाव पत्नी में है, तो उस अवस्था में पुरुष दूसरा विवाह कर सकता है। धार्मिक तथा पारिवारिक कर्तव्यों के पालन के लिये पुत्र की आवश्यकता व महत्व होने के कारण पुत्र की प्राप्ति के लिये दूसरे विवाह का समर्थन शास्त्रकारों ने विशेष रूप से किया है। ऐसे विवाह को उचित भी माना गया है।

मनु का आदेश है, “बाँझ पत्नी के स्थान पर आठवें वर्ष तथा जिस पत्नी की सन्तान जीवित नहीं रहती उस पत्नी के स्थान पर ग्यारहवें वर्ष दूसरी स्त्री को पत्नी के रूप में ग्रहण कर लिया जावे।” कौटिल्य ने भी उस पुरुष को दूसरी स्त्री से विवाह करने की आज्ञा दी है जिसकी पत्नी के आठ वर्ष तक कोई सन्तान उत्पन्न न हो, जिस पत्नी का पिछले दस वर्षों से गर्भपात होता रहा हो और जो पिछले बारह वर्षों में केवल कन्या-सन्तान को ही जन्म देती रही है। मनु ने यह भी लिखा है कि “जो पत्नी मद्यपान करती हो अथवा दुराचारिणी हो, जो अपने पति के अनुकूल नहीं हो, जो रोगग्रस्त अथवा अपव्ययी हो अथवा क्रूर हो, उसे त्याग देना ही उचित है।” अर्थात् इन अवस्थाओं में भी अन्य स्त्री से विवाह-सम्बन्ध स्थापित किया जा सकता है,

5. “In the ceremonial rites four wives are recognized and their status is defined by the words used for them. These wives are called *mahisi* (chief wife), *parivriti* (influential), *vakta* (one in personal favour) and *palagal* (daughter of a palagal, the lowest court official).”—K. M. Kapadia, *Ibid.*,

यही निर्देश अप्रत्यक्ष रूप में दिया गया है। परन्तु पत्नी को त्याग देने का यह कार्य न तो सरल था और न ही इसका अर्थ पत्नी को घर से निकाल देना था। इस सम्बन्ध में विज्ञानेश्वर की व्याख्या इस प्रकार है, "किसी भी पत्नी को तभी त्यागना चाहिए जब उसने शूद्र से व्यभिचार किया हो। इस परित्याग का अर्थ यह है कि उसे धार्मिक कृत्यों तथा दाम्पत्य के कार्यों में भाग नहीं लेने दिया जाये, न कि यह कि उसे गलियों में छोड़ दिया जाये। उसे एकान्त कमरे में सुरक्षित रखना चाहिये तथा भोजन एवं वस्त्र प्रदान करना चाहिये।" नारदजी ने व्यभिचारिणी स्त्री के लिये बहुत-कुछ ऐसे ही नियमों का प्रतिपादन किया है। वेदव्यास तो इस विषय में और भी अधिक सहनशीलता व उदारता का परिचय देते हैं। उनके अनुसार, "उस पत्नी को, जो व्यभिचार की अपराधिनी हो, घर में तो रखना चाहिये किन्तु धार्मिक और दाम्पत्य सम्बन्धी कार्यों में हिस्सा बंटाने नहीं देना चाहिये। साथ ही उसे साम्प्रतिक अधिकार से वंचित करना तथा उसके प्रति घृणा का व्यवहार करना चाहिये, किन्तु उस व्यभिचार के बाद होने वाले मासिक धर्म अर्थात् रजस्वला हो जाने पर पति को उस स्त्री को पत्नी के सामान्य अधिकार दे देने चाहिये।" अर्थात् व्यभिचार से सन्तान उत्पन्न होने की सम्भावना न होने तक पत्नी को क्षमा किया जा सकता है। इस रूप में भी एक-विवाह के आदर्श को ही प्रस्तुत किया गया है। इन्हीं सब कारणों से उत्तर-वैदिक काल तथा प्रारम्भिक स्मृति-युग तक यद्यपि बहुपत्नीत्व की प्रथा का कुछ प्रचलन था फिर भी उसे विवाह का आमतौर पर प्रचलित रूप मानना उचित न होगा।¹⁶

उपरोक्त आदर्शों व प्रतिबन्धों के होने पर भी स्मृति-युग के बाद से ही बहुपत्नी-विवाह का प्रचलन हिन्दू समाज में बढ़ता गया। इसके विशेष सामान्य कारण इस प्रकार हैं—(1) चूंकि पुत्र की आवश्यकता और वंश की निरन्तरता को बनाये रखने के लिये व अन्य सामाजिक, धार्मिक तथा व्यक्तिगत कर्त्तव्यों को पूरा करने के लिये आवश्यक माना जाता है इसलिये प्रथम स्त्री से पुत्र-प्राप्ति न होने की दशा में एक से अधिक स्त्रियों से विवाह कर लिया जाता था। (2) इतना ही नहीं, मध्य-कालीन युग में अधिक-से-अधिक पत्नियाँ रखना सामाजिक प्रतिष्ठा का भी द्योतक था। इस कारण धनिक व्यक्ति, जमींदार, राजा आदि बहुपत्नी-विवाह करते थे। (3) धनो-पार्जन में स्त्रियों के महत्व के कारण भी बहुपत्नी-विवाह प्रथा को प्रोत्साहन मिला। भारत एक कृषि-प्रधान देश है। यहां कृषि-सम्बन्धित अनेक कार्यों को करने के लिये अधिक-से-अधिक स्त्रियों की आवश्यकता हुआ करती थी। इस कारण बहुपत्नी-विवाह कर लिया जाता था क्योंकि इसके द्वारा एक परिवार को पत्नियों तथा उनकी सन्तानों के रूप में खूब काम करने वाले विश्वस्त श्रमिक मिल जाते थे। विशेषकर निम्न जातियों में स्त्रियाँ घर से बाहर जाकर काम-काज करके धनोपार्जन भी करती हैं, इस कारण भी बहुपत्नी-विवाह प्रथा को प्रोत्साहन मिला। (4) बहुपत्नी-विवाह को समाज में खूब प्रचलित करने में कुलीन विवाह प्रणाली का सक्रिय हाथ रहा है। कुलीन विवाह प्रथा के दो स्पष्ट परिणामों ने बहुपत्नी-विवाह को प्रत्यक्षतः प्रोत्साहित किया है। प्रथम तो यह है कि कुलीन विवाह प्रथा के कारण उच्च कुल के पुरुषों को दहेज के रूप में जो आर्थिक लाभ होता उसके कारण दूसरे तथा तीसरे विवाह का प्रलोभन उत्पन्न होना स्वाभाविक ही था। दूसरे कुलीन विवाह की प्रथा के परिणाम-स्वरूप उच्च कुलों में विवाह योग्य पुरुषों की कमी उत्पन्न हो जाती है और इस कमी को बहुपत्नी-विवाह द्वारा पूरा किया जाता था।

बहुपत्नी-विवाह से प्रमुख लाभ यह होता है कि बच्चों की देख-रेख अनेक स्त्रियाँ मिलकर अधिक अच्छी तरह कर सकती हैं। कामी पुरुषों को परिवार में ही अनेक स्त्रियाँ मिल जाती हैं, इस कारण यौन-सम्बन्धी व्यभिचार नहीं फैल पाता है। इसके अतिरिक्त, इस प्रकार के विवाह से सन्तानें अच्छी होती हैं, क्योंकि अधिकतर शक्तिशाली और धनवान व्यक्ति ही बहुपत्नी-विवाह करते हैं।

इस प्रथा का सबसे प्रमुख दोष यह है कि इससे स्त्रियों की सामाजिक स्थिति बहुत गिर जाती है। साथ ही, ऐसे विवाह से परिवार पर आर्थिक बोझ बढ़ जाता है। इसके अतिरिक्त, परिवार में अधिक स्त्रियों का अर्थ ही यह है कि परिवार का वातावरण ईर्ष्या, द्वेष और लड़ाई-झगड़े से कलुषित होगा।

उपरोक्त हानियों से हिन्दू समाज की रक्षा के लिये ही 'हिन्दू-विवाह अधिनियम' (Hindu Marriage Act) सन् 1955 में पास किया गया है जिसमें एक हिन्दू-विवाह के वैध (valid) होने के लिये पहली शर्त यह है विवाह के समय दोनों पक्षों (parties) में से किसी का भी जीवन-साथी (पति या पत्नी) जीवित न हो। सरकारी कर्मचारियों पर भी यह प्रतिबन्ध लगा दिया गया है कि वे दो विवाह नहीं कर सकते हैं। महिला आन्दोलन तथा शिक्षा व समानता के विचारों के विस्तार के फलस्वरूप बहुपत्नीत्व के विरुद्ध जनमत तैयार हो रहा है।

बहुपत्नित्व या बहुपति-विवाह (Polyandry)

जैसा कि पहले ही उल्लेख किया गया है, हिन्दू समाज में विवाह के आदर्शों के अनुसार बहुपति-विवाह प्रथा का कोई स्थान नहीं है। प्रत्येक पत्नी का यह परम कर्तव्य समझा जाता है कि वह एक पुरुष के प्रति ही एकनिष्ठ रहकर अपने पतिव्रत धर्म का पालन करे। पाँच पांडवों का द्रोपदी से विवाह आदि बहुपति-विवाह के दो-एक उदाहरण मिलते अवश्य हैं, पर ये सब अपवाद मात्र हैं, नियम नहीं। यहाँ तक कि केवल भारतवर्ष में ही नहीं, दुनिया के अन्य सभी जनजातीय समाजों (tribal societies) में भी बहुपति-विवाह का प्रचलन बहुपत्नी-प्रथा से कहीं कम है। भारत-वर्ष में इसका प्रचलन टोडा तथा खस जनजातियों तथा नायरों में विशेष रूप से देखने को मिलता है। किंतु सामान्य रूप से बहुपति-विवाह को हिन्दू समाज में बुरा माना जाता है। इस देश में बहुपति-विवाह के विस्तार के विषय में हम अगले एक अध्याय में विस्तारपूर्वक विवेचना करेंगे।

हिन्दुओं जीवन-साथी के चुनाव के सिद्धान्त (Principles of Mate Selection among Hindus)

डॉ० कपाडिया के अनुसार विवाह में चुनाव का प्रश्न तीन दृष्टिकोणों से सोचा जा सकता है—(1) चुनाव का क्षेत्र, (2) चुनाव के पक्ष तथा (3) चुनाव की कसौटी।

(1) हिन्दुओं में चुनाव का क्षेत्र दो प्रकार से सीमित है—प्रथम तो अन्तर्विवाह (Endogamy) के नियम हैं जिनके अनुसार हिन्दुओं को यह निर्देश दिया जाता है कि वे अपने जीवन-साथी का चुनाव अपनी ही जाति में करें। इस रूप में ब्राह्मण का विवाह ब्राह्मण-परिवार में, क्षत्रिय का विवाह क्षत्रिय-परिवार में, वैश्य का विवाह वैश्य-परिवार में और शूद्र का विवाह शूद्र-परिवार में ही हो सकता है। पर व्यावहारिक

रूप में प्रत्येक जाति अनेक उपजातियों में विभक्त है और एक व्यक्ति को अपनी ही उपजाति में जीवन-साथी का चुनाव करना पड़ता है। यही अन्तर्विवाह का नियम है। हिन्दुओं में वर अथवा वधू के चुनाव को सीमित करने वाला दूसरा नियम अन्तर्विवाह (Exogamy) का नियम है। वास्तव में इस नियम का उद्भव उन प्रतिबन्धों के फलस्वरूप होता है जो कुछ नाते-रिश्तेदारों या निकट के रक्त-सम्बन्धियों अथवा समूह के युवक-युवतियों में विवाह अवांछनीय अथवा व्यभिचारात्मक बतलाकर निषेध करते हैं। दूसरे शब्दों में अन्तर्विवाह का नियम यह है कि जीवन-साथी का चुनाव अपने कुछ निकट के रक्त-सम्बन्धियों (वास्तविक, काल्पनिक या आध्यात्मिक) के दायरे से बाहर करना होगा।

(2) हिन्दुओं में जीवन-साथी के चुनाव का दूसरा सिद्धान्त चुनाव के पक्ष से (अर्थात् जीवन-साथी का चुनाव कौन करता है—माता-पिता या लड़का-लड़की) सम्बन्धित है। परम्परागत रूप में जीवन-साथी को चुनने का काम व एकाधिकार माता-पिता को ही है और बच्चों (लड़के का लड़की) का यह 'धर्म' है कि वे माता-पिता या उनके न रहने पर अन्य किसी अभिभावक (guardian) या गुरुजन के द्वारा चुने हुए जीवन-साथी को सहर्ष स्वीकार करें। इस सम्बन्ध में लड़के की राय कुछ माता-पिता कभी-कभी ले लेते थे, पर लड़की की राय का प्रश्न ही नहीं उठता था। लड़की का वर ढूँढना और उसके चुनाव के सम्बन्ध में तय करना—इन विषयों में माँ-बाप की राय ही अन्तिम होती थी। आज भी यह परिस्थिति पूर्णतया बदल नहीं गई है, पर आज जीवन-साथी को चुनने का काम शीघ्रता में माता-पिता के हाथ से निकलकर लड़के-लड़कियों के हाथों में जाता हुआ दिखाई पड़ता है। आज के युवक व युवतियाँ जीवन-साथी के चुनाव का एकाधिकार अपने माता-पिता को देने के पक्ष में नहीं हैं, और वे इसे अपने हाथ में ही रखना चाहते हैं। प्रेम-विवाहों या अन्तर्जातीय विवाहों में तो लड़के-लड़कियाँ खुले तौर पर अपनी इच्छा व पसन्द को प्राधान्य देते हैं और माँ-बाप के आदर्शों की अवहेलना करते हैं।

(3) हिन्दुओं में जीवन-साथी के चुनाव का तीसरा सिद्धान्त चुनाव की कसौटी से सम्बद्ध है। यह कसौटी परम्परागत रूप में कुलीन विवाह की कसौटी है। इसके अन्तर्गत लड़की की शादी या तो अपने से बराबर कुल में की जाती है या अपने कुल से उच्च कुल में लड़की ब्याही जाती है। इस सिद्धान्त के अनुसार अपनी लड़की की शादी अपने से नीचे कुल में नहीं की जाती। पर यह परम्परागत सिद्धान्त है। वर्तमान समय में इस सिद्धान्त में अनेक हेर-फेर हो गए हैं। उदाहरणार्थ, आज यह नहीं भी देखा जा सकता है कि जिस परिवार से लड़की के लिये वर का चुनाव किया जा रहा है कि वह परिवार जातीय दृष्टिकोण से कितना कुलीन है। इसके विपरीत आज तो यह देखा जाता है कि आर्थिक दृष्टिकोण से वह परिवार कितना कुलीन है। इसी प्रकार वर के पस्विार की श्रेष्ठता ही आज चुनाव की कसौटी नहीं है, अपितु वर की अपनी योग्यता, शिक्षा का स्तर, नौकरी, नौकरी का पद, आमदनी आदि को ही सामाजिक कसौटी मान लिया जाता है। आधुनिक अध्ययनों से यह पता चलता है कि लड़कों के चुनाव में जिन विशेषताओं को देखा जाता है वे प्राथमिकता के दृष्टिकोण से इस क्रम में आते हैं—शिक्षा, रोजगार सम्बन्धी पद, आमदनी, आयु, परिवार की स्थिति, सम्पत्ति, लड़के पर परिवार का कितना भार है, इत्यादि। लड़की के चुनाव में यह क्रम कुछ इस प्रकार होता है—शिक्षा, आयु, सौन्दर्य, स्वास्थ्य, चरित्र, परिवार की

परिस्थिति, गृहकार्य में दक्षता, सीने-पिरोने के काम में दक्षता, संगीत आदि का जानना, रोजगार आदि। इस समय अत्यधिक महँगाई के कारण पत्नी के चुनाव में शहर के मध्यम वर्ग के लड़कों का झुकाव दो बातों पर है—एक तो यह है कि लड़की पढ़ी-लिखी हो या नौकरी कर रही हो। अगर ये दोनों ही विशेषतायें हैं तो विवाह होने में बहुत अधिक कठिनाई का सामना नहीं करना पड़ता है। पर यदि केवल पढ़ी-लिखी है तो भी अधिक समस्या उत्पन्न नहीं होती है, क्योंकि लड़के को यह सन्तोष रहता है कि वह किसी भी समय आवश्यकतानुसार पत्नी से नौकरी करवा सकता है या पति के एका-एक मर जाने या दुर्घटना हो जाने पर परिवार की रक्षा विनाश से कर सकती है। दूसरी ओर प्रेम-विवाहों में भावात्मक (emotional) पक्ष अधिक प्रबल होता है और युवक-युवती दोनों का ही रोमाण्टिक दृष्टिकोण होने के कारण केवल शिक्षा या सौंदर्य या नृत्य-संगीत में निपुणता जीवन-साथी के चुनाव की कसौटी बन सकती है।

ये सभी जीवन-साथी चुनाव के आधुनिक सिद्धान्त या दृष्टिकोण हैं। परम्परागत रूप में इन सिद्धान्तों को तीन प्रकार के निषेधों के अन्तर्गत लाया जा सकता है। अब हम उन्हीं निषेधों की विवेचना करेंगे—

हिन्दू-विवाह के निषेध

(Prohibitions of Hindu Marriage)

हिन्दू समाज में विवाह सम्बन्धित निषेध तीन प्रकार के हैं—(1) अन्तर्विवाह; (2) बहिर्विवाह; (3) कुलीन-विवाह।

अन्तर्विवाह

(Endogamy)

धर्मशास्त्र प्रत्येक हिन्दू को अपने वर्ण में ही विवाह करने का निर्देश देता है। परन्तु व्यावहारिक रूप में प्रत्येक वर्ण अनेक जातियों और उपजातियों में विभाजित है और ये उपजातियाँ फिर अनेक भागों में विभक्त हैं।¹⁷ ये सभी भाग एक-एक अन्तर्विवाही समूह (endogamous groups) हैं। इस कारण अन्तर्विवाह की सीमा आज वर्ण या जाति तक विस्तृत नहीं बल्कि वास्तव में उपजाति या उससे भी छोटे समूह में सीमित और संकुचित है। श्री कैतकर ने व्यंग्यात्मक शब्दों में कहा है कि भारत में करोड़ों हिन्दू आपस में इस प्रकार विभक्त और उप-विभक्त हैं कि उनमें ऐसी जातियाँ भी हैं जो पन्द्रह परिवारों के बाहर विवाह नहीं कर सकती हैं।¹⁸ श्री कपाडिया (Kapadia) ने भी लिखा है कि कभी-कभी यह अन्तर्विवाह स्थानीय क्षेत्र के आधार पर भी पनप जाता है। गाँव वाले प्रायः यह पाते हैं कि नगर के लोग गाँव से लड़कियाँ तो विवाह करके ले जा रहे हैं, पर नगर से उन्हें लड़कियाँ वधू के रूप में नहीं मिल पा रही हैं। ऐसी अवस्था में वे भी अपना एक घेरा (circle) बना लेते हैं और उसी

7. K. M. Kapadia, *Marriage and Family in India*, Oxford University Press, Bombay, 1955, p. 112.

8. "In this way two hundred million Hindus are so much divided and sub-divided that there are castes who cannot marry outside fifteen families."

—Ketkar.

के अन्दर विवाह करते हैं। इस प्रकार का एक घेरा 50 से 300 परिवारों तक का होता है।”

वैदिक और उत्तर-वैदिक काल में अन्तर्विवाह का क्षेत्र काफी विस्तृत था और उस विस्तृत क्षेत्र में ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य एक-दूसरे से वैवाहिक सम्बन्ध स्थापित कर सकते थे। इसका प्रमुख कारण यह था कि ये तीनों जातियाँ इण्डो-आर्यन प्रजाति की थीं और कोई सांस्कृतिक या प्रजातीय भिन्नता नहीं थी। इसलिये उनमें आपस में विवाह हो सकता था। मनु ने भी अन्तर्वर्ण विवाह की अनुमति दे रखी थी, परन्तु अत्यन्त नीच वर्ण की लड़कियों से केवल कुछ विशेष परिस्थितियों में ही विवाह करने की आज्ञा थी। ऐसा प्रतीत होता है कि 11वीं शताब्दी तक इस सम्बन्ध में कोई विशेष प्रतिबन्ध नहीं था। परन्तु इसके बाद धीरे-धीरे अन्तर्वर्ण विवाह पर प्रतिबन्ध कठोर होने लगे।

हिन्दू-अन्तर्विवाह के कारण (Causes of Hindu Endogamy)

1. प्रजातीय भिन्नता (Racial Difference)—धीरे-धीरे भारतवर्ष में अनेक प्रजातीय समूहों का जमघट होने लगा और इनमें प्रजातीय और सांस्कृतिक भिन्नता अत्यधिक होने के कारण प्रत्येक समूह अपने समूह के अन्दर ही विवाह करना पसन्द करने लगा और इस प्रकार अन्तर्विवाही समूह बढ़ होने लगे।

2. जन्म पर अधिक बल (Emphasis on birth)—प्रारम्भ में कर्म की श्रेष्ठता ही मनुष्य को ऊँचा पद प्रदान करने के लिये पर्याप्त थी, पर धीरे-धीरे कर्म से जन्म पर अधिक बल दिया जाने लगा और जन्म या रक्त की शुद्धता की रक्षा के लिये अन्तर्विवाह के नियम भी कठोर होने लगे।

3. जैन और बौद्ध धर्म का प्रभाव (Impact of Jainism and Buddhism)—जैन और बौद्ध धर्म इन दो नए धर्मों के विकास के बाद इनके अनुयायियों (followers) के साथ हिन्दू धर्म को मानने वालों का विभेद और अधिक हो गया और अन्तर्विवाह के द्वारा अपने-अपने को पृथक् रखने का प्रयत्न किया गया। दूसरी बात यह थी कि जैन और बौद्ध धर्म के कारण ब्राह्मणों के सामाजिक पद और प्रतिष्ठा को गहरी चोट लगी थी, इसलिये इन धर्मों से पतन के बाद ही ब्राह्मणों ने अपनी खोई मर्यादा को पुनः प्रतिष्ठित करने के लिये विवाह पर कठोर नियम लागू किये और नीच जातियों ने इनका अनुकरण किया।

4. बाल-विवाह (Child marriage)—विवाह की आयु हिन्दू समाज में दिने-प्रतिदिन घटती ही गई। इसका प्रभाव यह हुआ कि आठ-नौ वर्ष या उससे भी कम आयु के लड़के-लड़कियों का कोई भी हाथ अपने विवाह के सम्बन्ध में न रह गया और इस प्रकार स्वतन्त्र चुनाव के द्वारा अपनी जाति से बाहर जीवन-साथी चुनने की सम्भावना भी कम होती गई।

5. हिन्दू समाज पर मुसलमानों का आक्रमण (Attack of Muslims on Hindu Society)—मुसलमानों का राज्य स्थापित हो जाते ही उन लोगों ने हिन्दू

9. “The multiplicity of groups thus restricts the choice of a mate within the bounds of a few families varying in number from 50 to 300,” —K. M. Kapadia, *op. cit.*, p. 113.

समाज और धर्म को नष्ट करने का भरसक प्रयत्न किया। इससे बचने के लिये जाति-प्रथा के नियमों, विशेषकर विवाह सम्बन्धी नियमों को अधिक दृढ़ बनाया गया जिससे हिन्दुओं का विवाह मुसलमानों से न हो पाए।

हिन्दू अन्तर्विवाह प्रतिबन्धों का दुर्बल होना

(Weakening of Hindu Endogamous Restrictions)

आज भी अन्तर्विवाह के नियमों को कठोरता से लागू किया जाता है और सामाजिक दृष्टिकोण से, आज भी, इसके विपक्ष में अधिक प्रभावशाली जनमत नहीं है; फिर भी अंग्रेजों के आ जाने के बाद पाश्चात्य शिक्षा, यातायात के साधनों में उन्नति, राष्ट्र के आन्दोलनों का प्रभाव, रोमांस का विस्तार, वैज्ञानिक धारणा आदि के कारण अन्तर्विवाह के नियम ढीले पड़ने लगे हैं और अन्तर्जातीय विवाह की ओर झुकाव बढ़ता जा रहा है। साथ ही, सन् 1872 का 'विशेष विवाह अधिनियम' (Special Marriage Act) और सन् 1949 का 'हिन्दू विवाह वैधकरण अधिनियम' (Hindu Marriage Validating Act) ने अन्तर्जातीय विवाह की वैधानिक अड़चनों को दूर कर दिया है। परन्तु जैसाकि श्री कपाडिया का कथन है, अब भी जाति की नैतिक शक्ति इतनी अधिक है कि केवल कानून द्वारा अन्तर्विवाह के नियमों को तोड़ा जा सकेगा यह सन्देहजनक है।¹⁰

बहिर्विवाह

(Exogamy)

अगर हम पूरे भारतवर्ष को लेते हैं तो यहाँ चार प्रकार के बहिर्विवाह पाए जाते हैं। वे हैं—(1) टोटम बहिर्विवाह, (2) गोत्र बहिर्विवाह, (3) पिण्ड बहिर्विवाह और (4) प्रवर बहिर्विवाह। इनमें से टोटम बहिर्विवाह भारतीय जनजातियों की एक प्रमुख विशेषता है, जिसके सम्बन्ध में विस्तृत वर्णन हम अगले एक अध्याय में करेंगे। यहाँ हम केवल हिन्दू समाज में पाए जाने वाले बहिर्विवाह के नियमों की विवेचना करेंगे।

हिन्दुओं में बहिर्विवाह का नियम (अ) गोत्र, (ब) प्रवर और (स) पिण्ड पर आधारित है। दूसरे शब्दों में, हिन्दुओं में सगोत्र, सप्रवर और सपिण्ड विवाह करने पर निषेध है। कुछ विद्वानों का कथन है कि सनातन धर्म में आर्य जाति की सुरक्षा के लिये चार बड़े-बड़े दुर्ग हैं—गोत्र और प्रवर वर्ण-व्यवस्था, आश्रम तथा धर्म सतीत्वमूलक नारी धर्म। गोत्र और प्रवर का महत्त्व प्राचीनकाल में वास्तव में अत्यधिक था। परन्तु, जैसाकि श्री प्रभु (Prabhu) का कथन है, उत्पत्तिकाल से लेकर आज तक बहिर्विवाह के नियमों से सम्बन्धित ये तीन शब्द 'गोत्र', 'प्रवर' और 'पिण्ड' के वास्तविक अर्थों और अवधारणाओं में इतना अधिक परिवर्तन, परिवर्द्धन और रूपान्तर हुआ है कि इसके सम्बन्ध में कुछ भी निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता।¹¹ फिर

10. "The moral force of caste is still so great and Hindus are still so caste-minded that it is questionable whether legislation will break the ice."
—K. M. Kapadia, *Ibid.*, p. 114.

11. "The three terms *gotra*, *pravara* and *pinda* used in connection with the laws of exogamy, have undergone so many changes, additions and modifications in their meaning and implications through the ages since their origin, that it becomes well-nigh impossible to find out their original implications."
—P.H. Prabhu, *Hindu Social Organization*, Popular Book Depot, Bombay-7, 1928, pp. 154-55.

भी निम्नलिखित विवेचना से इसके सम्बन्ध में एक प्राथमिक जानकारी प्राप्त हो सकेगी।

(अ) गोत्र बहिर्विवाह

(*Gotra Exogamy*)

डॉ० अलतेकर (Altekar) के मतानुसार सगोत्र विवाह पर निषेध ईसा से 600 वर्ष पूर्व नहीं था।¹² श्री करन्दीकर (Karandikar) के अनुसार, ऋग्वेदकाल में 'गोत्र' शब्द यद्यपि परिवार से सम्बन्धित नहीं था, फिर भी इसमें समूह की धारणा धीरे-धीरे जुड़ती रही और छान्दोग्य उपनिषद् में तो यह शब्द निश्चय ही परिवार के अर्थ में आया है।¹³ श्री कपाडिया के अनुसार वैदिक काल में सगोत्र विवाह पर निषेध नहीं था। यह निम्नलिखित आधार पर कहा जा सकता है।¹⁴

(1) आर्यों में स्वयम्बर आदि के अतिरिक्त गान्धर्व विवाह तक का प्रचलन था। इससे पता चलता है कि उस समय गोत्र विवाह पर निषेध नहीं था।

(2) अपराक के द्वारा उल्लिखित एक श्लोक में कहा गया है कि द्विजों को कलियुग में सगोत्र लड़की से विवाह करने से बचना चाहिए। इससे स्पष्ट है कि सगोत्र विवाह भारतवर्ष में होता था और इस पर निषेध बहुत बाद से लागू किया गया था।

(3) तीसरी युक्ति यह है कि गोत्र बहिर्विवाह ईरान में, जहाँ से कि आर्य लोग आये थे, नहीं मिलता है। इससे कम-से-कम इतना तो अनुमान किया ही जा सकता है कि पंजाब में आकर बसने के बाद कुछ दिनों तक इण्डो-आर्यन लोग बहिर्विवाह नहीं थे।¹⁵ मनु के समय से जैसा कि उनके नियमों से पता चलता है सगोत्र विवाह पर निषेध स्पष्ट हो चुके थे। सबसे पहले ये निषेध 'गृहसूत्र' में ही मिलते हैं। सगोत्र विवाह के निषेध को समझने के लिये 'गोत्र' शब्द के यथार्थ अर्थ को जान लेना आवश्यक है। 'सत्याषाढ हिरण्य केशी—'श्रौत-सूत्र के अनुसार विश्वामित्र, जमदग्नि, भारद्वाज, गोतम, अत्रि, वशिष्ठ, कश्यप और अगस्त्य नामक आठ ऋषियों की सन्तान गोत्र कहलाती है। पाणिनि ने अपने एक सूत्र में पोते तक की सन्तान को गोत्र कहा है। पतञ्जलि के महाभाष्य से स्पष्ट पता चलता है कि यों तो अस्सी हजार ऋषि हुए हैं किन्तु इनमें से आठ ऋषियों की सन्तान का विस्तार हुआ, अतः इनकी सन्तान गोत्र कहलाती है। परन्तु इन सब व्याख्याओं से 'गोत्र' का अर्थ स्पष्ट नहीं होता है। इस कारण हमें इसे दूसरे रूप में समझने का प्रयत्न करना होगा।

ऋग्वेद में 'गोत्र' शब्द का प्रयोग मिलता है। इन प्रयोगों के आधार पर गोत्र के तीन-चार सम्भावित अर्थ हो सकते हैं—जैसे गौशाला, गाय का समूह, पहाड़, किला

12. A. S. Altekar, *The Position of Women in Hindu Civilization*, Motilal Banarsidas, Banaras, 1956.

13. "The word *gotra* in the *Rigveda* times, although it did not imply the later sense of family, was slowly gathering round it the idea of a group. The word definitely came to mean a family in the *Chhandogya Upanisad*."—S. V. Karandikar, *Hindu Exogamy*, 1929, p. 36—Cf. K. M. Kapadia; *op. cit.*, pp. 115-116.

14. K. M. Kapadia, *Hindu Kinship*, 1947.

15. "It is, hence, reasonable to suppose that the Indo-Aryans were probably non-exogamous for sometime at least after their settlement in Punjab."—K. M. Kapadia, *Ibid*.

आदि। इन अर्थों से यह स्पष्ट है कि 'गोत्र' या तो घेरे में रहने वाले व्यक्तियों से या एक विशेष समूह के व्यक्तियों से सम्बन्धित है। इसी से धीरे-धीरे 'गोत्र' का सम्बन्ध उन व्यक्तियों से हो गया, जोकि एक परिवार के घेरे में रहते थे। इस प्रकार के परिवार से सम्बन्धित जितने भी सदस्य होते थे उनमें आपस में विवाह नहीं हो सकता था। यही गोत्र बहिर्विवाह का प्रारम्भिक रूप या नियम था। महाभारत के दलोंकों में गोत्र शब्द का प्रयोग इसी अर्थ में हुआ है। कौटिल्य और बौद्धायन ने भी इसे इसी अर्थ में प्रयोग किया है। सम्पत्ति के हस्तान्तरण (inheritance) के सम्बन्ध में जो नियम प्राचीन धर्मशास्त्रों में मिलता है उससे यह पता चलता है कि एक मूल पुरुष से प्रादुर्भूत सभी वंशजों का एक ही गोत्र समझा जाता था। सम्भवतः उस समय सम्पत्ति के सभी उत्तराधिकारी सगोत्र ही होते थे। गौतम ने इनके अभाव में उस गोत्र के ऋषि को सम्पत्ति देने का विधान किया है। इन सबसे भी पता चलता है कि सगोत्र के अन्तर्गत वही व्यक्ति आते थे जो किसी एक सामान्य पूर्वज या मूल पुरुष या ऋषि से सम्बन्धित थे।

अगर हम शाब्दिक अर्थ के दृष्टिकोण से 'गोत्र' की व्याख्या करें तो भी हम उपरोक्त निष्कर्ष पर ही पहुँचेंगे। शाब्दिक अर्थ में गोत्र (गो + त्र) गायों को पालने वाले समूह की ओर संकेत करता है। या इसका अर्थ गायों को रखने के लिये बनाया गया बाड़ा या घेरा या गौशाला भी हो सकता है। इस शाब्दिक अर्थ के आधार पर यह सोचना शायद गलत न होगा कि जिन लोगों की गायें एक स्थान पर बँधती थीं उनमें एक प्रकार का नैतिक सम्बन्ध स्थापित हो जाना सम्भव ही था। साथ ही यह भी हो सकता है कि वे एक स्थान पर ही अपनी-अपनी गायों को बँधते थे, इस कारण वे आपस में निकट रक्त-सम्बन्धी रहे होंगे या एक सामान्य पूर्वज से अपने को सम्बन्धित मानते होंगे। इसी आधार पर अलग-अलग गोत्रों का निर्माण हुआ और उनमें आपस में विवाह नहीं होता था। विज्ञानेश्वर ने स्पष्ट ही कहा है कि वंश-परम्परा में जो नाम प्रसिद्ध होता है वह गोत्र होता है। इनमें आपस में विवाह नहीं हो सकता है। यही गोत्र बहिर्विवाह का नियम है।

कुछ लेखकों ने गोत्र और प्रवर को एक मान लिया है, पर यह गलत है। श्री करन्दीकर (Karandikar) का कहना है कि गोत्र का सम्बन्ध केवल रक्त-सम्बन्धित (काल्पनिक या वास्तविक) व्यक्तियों से है जबकि प्रवर आध्यात्मिक सम्बन्धों की ओर संकेत करता है।

विज्ञानेश्वर के अनुसार ब्राह्मणों के ही वास्तविक गोत्र होते हैं; क्षत्रियों और वैश्यों के गोत्र उनके पुरोहितों पर आश्रित होते हैं। शूद्रों का कोई गोत्र नहीं होता परन्तु धीरे-धीरे किसी-न-किसी आधार पर सब जातियों में गोत्र की भावना का विकास हो गया है, फिर भी प्रत्येक जाति में इसकी धारणा और संगठन अलग-अलग हैं।

(ब) प्रवर बहिर्विवाह

(Pravara Exogamy)

गौतम के लेख से यह ज्ञात होता है कि धर्मसूत्रकाल के आरम्भ में प्रवर बहिर्विवाह सगोत्र बहिर्विवाह से बहुत-कुछ घुला-मिला था। आगे चलकर प्रवर का अर्थ बहुत स्पष्ट हो गया। 'वैदिक इण्डेक्स' (Vedic Index) के अनुसार प्रवर का अर्थ आह्वान करना होता है।¹⁴ इण्डो-आर्यन लोगों में अग्नि की पूजा या हवन का प्रचलन

था। हवन करते समय पुरोहित अपने प्रमुख श्रेष्ठ ऋषि-पूर्वज का नाम लेते थे। इस प्रकार प्रवर के अन्तर्गत एक व्यक्ति के उन पूर्वजों का समावेश होता है जो अग्नि का आह्वान करते हैं।¹⁷ श्री प्रभु (Prabhu) के अनुसार धीरे-धीरे इनके साथ सामाजिक धारणा भी जुड़ गई और इन ऋषि-पूर्वजों का महत्व अनेक घरेलू और सामाजिक संस्कारों में भी हो गया जिनमें विवाह संस्कार प्रमुख है।¹⁸ संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि वे सभी व्यक्ति, जो एक सामान्य ऋषि-पूर्वज से अपना संस्कारात्मक या आध्यात्मिक सम्बन्ध जोड़ते हैं, अपने को उसी एक पूर्वज से सम्बन्धित मानने के कारण आपस में विवाह नहीं करते। अतः स्पष्ट है कि प्रवर का कोई भी सम्बन्ध रक्त से नहीं है, बल्कि यह एक धार्मिक या आध्यात्मिक या संस्कार सम्बन्धी सम्बन्ध से सम्बन्धित समूह की ओर संकेत करता है। श्री करन्दीकर ने भी इसे स्वीकार किया है।

चूंकि धार्मिक संस्कार सम्बन्धी कार्यों पर ब्राह्मणों का एकाधिकार था, इस कारण प्रवर की धारणा ब्राह्मणों में ही विशेष रूप से पाई जाती है। इस प्रवर के आधार पर ही ब्राह्मणों ने क्षत्रियों को यह विश्वास दिलाया कि वे क्षत्रियों से श्रेष्ठ हैं। इसी कारण अन्य जातियों में इसका महत्व नहीं के बराबर है।

धर्मसूत्रकाल या मनु के समय में यह निषेध अधिक कठोर नहीं था। महा-महोपाध्याय काने (P. V. Kane) के अनुसार सगोत्र और सप्रवर विवाह पर निषेध तीसरी शताब्दी के बाद बहुत कठोर हो गया।¹⁹ नवीं शताब्दी के बाद तो सगोत्र विवाह एक क्षमा न करने योग्य पाप समझा जाता था और आज भी विशेषकर महाराष्ट्र में इस सम्बन्ध में कठोर निषेध है। सन् 1949 के 'हिन्दू विवाह निर्योग्यता निवारण अधिनियम' (The Hindu Marriage Disabilities Removal Act, 1949) के अनुसार सगोत्र और सप्रवर विवाह सम्बन्धी सभी वैधानिक कठिनाइयाँ दूर हो गई हैं।

(स) सपिण्ड बहिर्विवाह

(Sapinda Exogamy)

सगोत्र और सप्रवर विवाहों के अतिरिक्त हिन्दुओं में सपिण्ड विवाह पर भी निषेध पाया जाता है। मनु के अनुसार सपिण्ड विवाह का निषेध मातृ-पक्ष की लड़की से विवाह न करने से सम्बन्धित है। इसमें माता से 6 पीढ़ी ऊपर और 6 पीढ़ी नीचे तक की लड़कियाँ आती थीं, इस कारण मनु ने मामी, मौसी और बुआ की लड़कियों से विवाह करना बहुत बुरा समझा।²⁰

17. "The Purohita (priest), officiating at a sacrifice *Agni*; used to recite the name of his famous *rishi* ancestors when invoking *Agni* to carry liberations to the Gods, therefore; the *Pravara* came to denote the series of such ancestors of the persons who had in former time invoked *Agni*." — Cf. P. H. Prabhu, *op. cit.*, p. 156.

18. P. H. Prabhu, *Ibid.*! p. 157.

19. P. V. Kane; *Goira and Pravara in Vedic Literature*, J. B. B. R. A. S.; 1935.

20. Manu writes: "He who had approached the daughter of his father's sister or his mother's brother shall perform a lunar penance. A wise man should not take as his wife any of these three because they are relatives. He who approaches them sinks low."

विज्ञानेश्वर के अनुसार, “एक ही पिण्ड अर्थात् देह रखने वालों में एक ही शरीर के अवयव रखने के कारण सपिण्डता का सम्बन्ध होता है। पिता और पुत्र सपिण्ड हैं, क्योंकि पिता की देह के अवयव पुत्र में आते हैं। इसी प्रकार दादा आदि के शरीरावयव पिता द्वारा पोते में आने से वे सपिण्ड हैं; माता के शरीर का अंश आने से पुत्र की माता के साथ सपिण्डता होती है। इस प्रकार जहाँ-जहाँ सपिण्ड शब्द का प्रयोग हो, वहाँ एक शरीर के अवयवों का सम्बन्ध समझना चाहिए।” इस प्रकार सपिण्ड का सम्बन्ध मातृ-पक्ष की लड़कियों से ही नहीं, वल्कि पितृ-पक्ष की लड़कियों से भी है। विज्ञानेश्वर की यह व्याख्या मिताक्षरा के मत में सपिण्ड के अर्थ को अति स्पष्ट रूप से प्रस्तुत करती है।

वास्तव में सपिण्ड की व्याख्या ‘मिताक्षरा’ (Mitakshara) और ‘दायभाग’ (Daya Bhaga) के टीकाकारों ने अलग-अलग तरीकों से की है। मिताक्षरा के अनुसार, जैसा कि विज्ञानेश्वर की उपर्युक्त व्याख्या से स्पष्ट है, पिण्ड का अर्थ रक्त की निकटता है। एक ही शरीर, निकट-रक्त-सम्बन्ध या वंशानुसंक्रमण द्वारा समान शरीरावयव रखने वाला व्यक्ति सपिण्ड होता है। यह सपिण्डता का सम्बन्ध माता की तरफ की पाँच पीढ़ियों तक और पिता की तरफ की सात पीढ़ियों तक माना जाता है और इनके अन्तर्गत आने वाले व्यक्तियों में परस्पर विवाह नहीं हो सकता।

दायभाग के टीकाकार पिण्ड का तात्पर्य श्राद्ध में पितरों को दिया जाने वाला चावल का गोला समझते हैं। उनके मत में वे व्यक्ति, जो इस प्रकार पूर्वजों को पिण्ड दान करने के अधिकारी हैं, सपिण्ड होते हैं और इनमें इस कारण विवाह नहीं हो सकता।

महाभारतकाल में इस सम्बन्ध में कोई कठोर नियम नहीं थे। अर्जुन ने अपने मामा की लड़की सुभद्रा से विवाह किया था। अर्जुन के भाई सहदेव और पुत्र अभिमन्यु ने भी ऐसा ही किया था। श्रीकृष्ण ने भी अपने मामा की लड़की रुक्मिणी से विवाह किया था। कर्नाटक और मैसूर के ब्राह्मणों में बहन की लड़की से विवाह की प्रथा पाई जाती है।

। बहिर्विवाह के उद्देश्य (Aims of Exogamy)—प्रत्येक समाज में ही बहिर्विवाह के सम्बन्ध में कोई-न-कोई निषेध अवश्य ही पाए जाते हैं। इन निषेधों में सर्वमान्य उद्देश्य भाई और बहन, माता और पुत्र, पिता और पुत्री के बीच यौन-सम्बन्ध को रोकना है। धर्मशास्त्रों ने स्पष्ट ही घोषणा की है कि माता, बहन, पुत्री, पुत्रवधू आदि से यौन-सम्बन्ध महापाप है और इसे किसी भी परिस्थिति में क्षमा नहीं किया जा सकता। डॉ० वलावलकर (Valavalkar) के अनुसार ये निषेध विवाह-सम्बन्ध को नियन्त्रित करने और ‘प्रतिषिद्ध यौन-सम्बन्धी निषेधों’ (Incest Taboo) को लागू करने के लिये हैं।¹⁷²¹ श्री काने (Kane) के अनुसार इन निषेधों के दो उद्देश्य हैं—प्रथम, यदि निकट-सम्बन्धित व्यक्ति आपस में विवाह करते हैं तो उनका दोष उनकी सन्तानों को प्राप्त हो जाएगा, दूसरा उद्देश्य यह है कि निकट-सम्बन्धियों में विवाह होने से उनमें अशोभन प्रेम-व्यवहार पनपने का डर रहेगा जिससे नैतिक पतन की सम्भावना है।¹⁷²²

21. See P. H. Valavalkar, *Hindu Social Institution* (1939).

22. “The prohibitions was due to two causes : firstly, if near relatives marry their defects are transmitted with aggravation to their offsprings and secondly, the fear that there may be clandestine love affair and consequent loss of morals.”—P. V. Kane, *op. cit.*

बहिर्विवाह के सामाजिक परिणाम (Social Effects of Exogamy)—

(1) बहिर्विवाह के नियमों के कारण अनेक योग्य लड़के-लड़कियों को छोड़ना पड़ता है क्योंकि हिन्दुओं में इसका क्षेत्र अत्यन्त विस्तृत है और पिता की सात और माता की पांच पीढ़ियों में विवाह नहीं हो सकता। इस प्रकार जीवन-साथी चुनने में अत्यन्त कठिनाई होती है।

(2) इस कठिनाई से लाभ उठाने की इच्छा से ही लड़कों के पिता कन्या-पक्ष से अधिक वर-मूल्य की मांग करते हैं। वर-मूल्य या दहेज-प्रथा स्वयं ही एक सामाजिक समस्या है।

(3) इस वर-मूल्य-प्रथा के कारण ही बाल-विवाह, बेमेल विवाह, और बाल-विधवाओं की समस्या भी उत्पन्न होती है।

अनुलोम व प्रतिलोम (Anuloma and Pratiloma)

हिन्दुओं में जीवन-साथी के चुनाव के सम्बन्ध में जितने प्रतिबन्ध, निषेध या नियम प्रचलित किये गये थे; उनमें अनुलोम या प्रतिलोम भी उल्लेखनीय है। ये दोनों ही नियम प्राचीन भारतीय समाज से सम्बन्धित हैं जबकि अन्तर्जातीय विवाह पर कोई विशेष प्रतिबन्ध नहीं था अर्थात् जब ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य आदि वर्णों में परस्पर विवाह-सम्बन्ध स्थापित हो जाते थे। इस प्रकार के विवाह को अन्तर्जातीय या अन्तर्वर्णीय कुलीन विवाह भी कहते हैं। इनके विषय में संक्षेप में हम इस प्रकार विवेचना कर सकते हैं—

अनुलोम और प्रतिलोम विवाह क्या है?—शास्त्रों में बार-बार कहा गया है कि कन्या का विवाह अपने से उच्च कुल के साथ करना चाहिये। शास्त्र के अनुसार इस प्रकार के विवाह को अनुलोम और उसके विपरीत रूप को प्रतिलोम कहा गया है। जब उच्च वर्ण के पुरुष का अपने वर्ण अर्थात् अपने से निम्न वर्ण की कन्या के साथ विवाह होता है तो उसे अनुलोम विवाह कहा जाता है। दूसरे शब्दों में, कन्या की अपने बराबर या उससे ऊँचे वर्ण के लड़के के साथ विवाह अनुलोम है। इसके विपरीत, निम्न वर्ण के पुरुष तथा उच्च वर्ण की स्त्री के पारस्परिक विवाह-सम्बन्ध को प्रतिलोम विवाह कहा गया है अर्थात् प्रतिलोम विवाह उस विवाह को कहते हैं जिसमें कि वर का वर्ण कन्या के वर्ण से नीचे दर्जे का हो।

मनुस्मृति में एक स्थान पर कहा गया है कि ब्राह्मण अपने से निम्न तीन वर्णों का कन्याओं से (अर्थात् क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र कन्या से), क्षत्रिय अपने वर्ण के अतिरिक्त अन्य दो वर्णों (वैश्य और शूद्र) की कन्याओं से और वैश्य अपने वर्ण के अतिरिक्त शूद्र कन्या से विवाह कर सकते हैं (मनुस्मृति, 3-13)। दूसरी ओर, मनुस्मृति में ही एक दूसरे स्थान पर यह कहा गया है कि ब्राह्मण तथा क्षत्रिय के लिये आपद् के समय भी (अर्थात् सवर्ण कन्या के न मिलने पर भी) शूद्र की कन्या से विवाह अनुमोदित नहीं है (मनुस्मृति, 3-14)। इन दो विरोधी मतों से ऐसा प्रतीत होता है कि मनुस्मृति की प्रारम्भिक परम्परा के अनुसार अनुलोम विवाह को मान्यता प्राप्त थी, पर बाद को इस प्रकार के विवाह को मान्यता नहीं दी गई। मनुस्मृति के अनुसार जो द्विज (ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य) सवर्ण स्त्री के स्थान पर किसी हीन कुल की स्त्री से विवाह करता है उसका कुल (वंश) भी हीन (शूद्र) हो जाता है। अत्रि और

गीतम का मत है कि शूद्र कन्या से विवाह मात्र से ही पति पतित हो जाता है। शौनक के अनुसार उससे पुत्र उत्पन्न होने पर पतित होता है और भृगु का मत है कि शूद्रा की सन्तान होने पर पतित होता है (मनुस्मृति, 3-16)। शूद्रा के साथ सम्भोग करने से ब्राह्मण नरक में जाता है और उससे पुत्र उत्पन्न होने पर वह ब्राह्मणत्व खो देता है। इन सब कथनों से एक बात यह स्पष्ट हो जाती है कि अनुलोम विवाह के अन्तर्गत ब्राह्मण, क्षत्रिय एवं वैश्य में परस्पर विवाह करने की अनुमति स्मृतिकाल में भी थी क्योंकि ये सभी 'द्विज' थे और इस समानता के आधार पर उनमें विवाह-सम्बन्ध स्थापित हो सकते थे। पर शूद्रों की कन्याओं के साथ विवाह करने की अनुमति उच्च वर्ण के पुरुषों को नहीं दी गई थी।

इसके विपरीत प्रतिलोम विवाह में, जैसा कि पहले ही कहा जा चुका है, नीचे वर्णों के पुरुष ऊँचे वर्णों की स्त्रियों से विवाह करते हैं। इस प्रकार के विवाहों को मनु ने ठीक नहीं माना है। इसीलिये मनुस्मृति में प्रतिलोम विवाह सम्बन्धों का कठोरता से विरोध किया गया है और इस प्रकार के विवाहों को बिल्कुल निकृष्ट तथा हेय माना गया है। ऐसे विवाहों से उत्पन्न सन्तानों को अछूतों की श्रेणी में रखा गया है। उदाहरणार्थ, ब्राह्मण लड़की और शूद्र लड़के से उत्पन्न सन्तान को मनु ने चाण्डाल बतलाया है और ये चाण्डाल अपवित्र हैं। इस प्रकार हम यह देखते हैं कि आरम्भ में प्रतिलोम विवाह भले ही मान्य हो, पर बाद को इस प्रकार के विवाह को बुरा माना गया। श्री हट्टन (Hutton) के अनुसार यह निषेध इस कारण था कि इस प्रकार के विवाहों से उत्पन्न सन्तान माता या पिता दोनों में से किसी के भी कुल को प्राप्त नहीं कर पाती थी।

परम्परागत अनुलोम प्रथा के अन्तर्गत उच्च वर्ण के लोग कई विवाहों को कर सकते थे। कुछ विद्वानों का कथन है कि उस समय ब्राह्मण चार विवाह कर सकता था, क्षत्रिय तीन, वैश्य दो एवं शूद्र एक। स्पष्ट है कि विवाह के ये अधिकार जातीय उच्चता के आधार पर थे। ब्राह्मण की स्थिति सर्वश्रेष्ठ थी, अतः उसे चारों वर्णों से एक-एक कन्या को पत्नी के रूप में प्राप्त करने का अधिकार था। इसके विपरीत शूद्र की स्थिति सबसे निम्न थी, इस कारण वह केवल एक ही विवाह कर सकता था। डॉ॰ राधाकृष्णन का मत है कि दसवीं सदी के बाद हिन्दू समाज में अनुलोम विवाह को प्रोत्साहित नहीं किया गया और धीरे-धीरे इस प्रथा का अन्त होकर इसका एक दूसरा रूप सामने आया जिसे सजातीय कुलीन विवाह या केवल कुलीन विवाह (Hypergamy) की संज्ञा दी गई थी। कुलीन विवाह भी अनुलोम विवाह के सिद्धान्तों पर ही आधारित है अर्थात् इसमें भी उच्च कुल के लड़कों के साथ निम्न कुल की लड़कियों का विवाह होता है। पर अनुलोम विवाह में यह 'कुल' एक सम्पूर्ण वर्ण होता था अर्थात् उच्च वर्ण ब्राह्मण लड़के का विवाह निम्न कुल क्षत्रिय या वैश्य लड़के के साथ हो जाता था, जबकि कुलीन विवाह (Hypergamy) में अनुलोम विवाह की भांति अन्तर्वर्ण विवाह (क्षत्रिय लड़की के साथ ब्राह्मण लड़के का विवाह) तो नहीं होता है, पर एक ही वर्ण या जाति के अन्तर्गत पाए जाने वाले उच्च कुल के लड़को का विवाह उसी जाति की निम्न कुल की लड़की के साथ होता है। उदाहरणार्थ, ब्राह्मण जाति में ही 'अ' कुल (या वंश) 'ब' कुल (या वंश) से यदि श्रेष्ठ है तो कुलीन विवाह के अन्तर्गत 'ब' कुल की लड़की का विवाह 'अ' कुल के लड़के के साथ ही करना पसन्द किया जायेगा। स्पष्ट है कि कुलीन विवाह की

उत्पत्ति उस समय सम्भव होती है जबकि एक ही जाति या वर्ण के अन्तर्गत बहुत-सी जातियाँ या उपजातियाँ बन गईं और उनमें ऊँच-नीच की भावना पनप गई। जैसे सरयूपारी ब्राह्मणों में कुछ विशेष स्थान के तिवारी, शुक्ल, पाण्डेय अथवा दुबे उच्च माने गये। यही बात कान्यकुब्जों के साथ है। उनमें बिस्वा के आधार पर उच्चता व निम्नता का निर्धारण किया जाता है और उसी के अनुसार उनकी सामाजिक प्रतिष्ठा भी अधिक या कम होती है। कम सामाजिक प्रतिष्ठा वाली उपजाति या कुल (अथवा वंश) के लोग अपने से ऊँची प्रतिष्ठा वाले लोगों के यहाँ अपनी लड़की का विवाह करने का प्रयत्न करते हैं। इसी को कुलीन विवाह कहते हैं। अब हम उसी के बारे में कुछ विवेचना करेंगे।

कुलीन विवाह (Hypergamy)

कुलीन विवाह का अर्थ (Meaning of Hypergamy)—जैसा कि उपरोक्त विवेचना से स्पष्ट है कि कुलीन विवाह वह प्रथा है जोकि लड़की को अपनी ही जाति या उपजाति में अपने से बराबर या ऊँचे कुलों में विवाह करने की आज्ञा देती है। दूसरे शब्दों में लड़कों को अपने या अपने से नीचे कुलों (या वंश) में विवाह करने की छूट है, परन्तु एक व्यक्ति को अपनी लड़की का विवाह अपनी ही जाति में अपने बराबर या अपने से ऊँचे कुलों में करना पड़ता है। यही कुलीन विवाह है। उदाहरणार्थ, 'अ', 'ब', 'स' और 'द' चारों कुल ब्राह्मण जाति के अन्तर्गत ही आते हैं, पर सामाजिक प्रतिष्ठा के दृष्टिकोण से 'अ' की स्थिति सर्वश्रेष्ठ है और उसके बाद क्रमशः 'ब', 'स' और 'द' का स्थान है। अतः यदि 'ब', 'स' या 'द' कुल (या वंश) की लड़की का विवाह 'अ' कुल के लड़के के साथ होता है तो उसे कुलीन विवाह कहेंगे। इसी प्रकार 'द' वंश की लड़की की शादी 'ब' या 'स' वंश के लड़के के साथ होने पर भी वह कुलीन विवाह होगा। अतः कुलीन विवाह में लड़के की वंश-स्थिति लड़की से ऊँची होनी चाहिये।

कुलीन विवाह की उत्पत्ति के कारण (Causes of origin of Hypergamy)

अन्तर्जातीय कुलीन विवाह या अनुलोम प्रथा के समाप्त हो जाने के साथ सजातीय कुलीन विवाह का जन्म हुआ। इसका मुख्य कारण यह था कि एक ही जाति में विभिन्न सामाजिक स्थिति, प्रतिष्ठा या मर्यादा वाले समूह बन गए, जैसे कि कान्यकुब्जों में बिस्वा के आधार पर विभिन्न समूह हैं। जब एक ही जाति के अन्दर इस तरह के समूहों में नीचे कुल की लड़की का विवाह उससे ऊँचे कुल में होता है तो उसे सजातीय कुलीन विवाह कहते हैं।

सजातीय कुलीन विवाह के उत्पन्न होने का मुख्य कारण एक ही जाति में विभिन्न सामाजिक स्तर या स्थिति वाले समूहों का होना है। स्तरों या स्थितियों में असमानता, प्रजातीय श्रेष्ठता, राजनीतिक प्रभुता या क्षेत्रीय प्रभुता आदि के कारण सजातीय कुलीन विवाह उत्पन्न हो सकता है। राजपूताना में राजनीतिक प्रभुता और राजवंश से सम्पर्क के आधार पर ऐसी समानताओं का जन्म हुआ था। कान्यकुब्जों में वे समूह ऊँचे स्तर पर हो गए जिन्हें मुगल बादशाहों से किसी-न-किसी प्रकार की सहायता या सम्मान मिला। बीस बिस्वा के कान्यकुब्ज सबसे ऊँचे माने जाते हैं।

डॉ० शर्मा ने उत्तर प्रदेश के ब्राह्मणों की कुलीन विवाह प्रथा का जो अध्ययन किया है उससे पता चलता है कि सनाढ्यों में जिन परिवारों को बदायूँ के एक राजा से सम्मान मिला, उनकी सन्तानों को श्रेष्ठ माना जाता है। उसी प्रकार अलमोड़ा और नैनीताल जिलों के कूर्माचली ब्राह्मणों में राजाओं द्वारा सम्मानित परिवार श्रेष्ठ समझे जाते हैं। उत्तर प्रदेश के अहीर अपनी लड़कियों का विवाह इस प्रदेश के पश्चिम दिशा में अवस्थित गांवों में करना अधिक पसन्द करते हैं और डॉ० शर्मा के अनुसार इसका कारण यह है कि भगवान् कृष्ण पश्चिम के थे और अहीर उन्हें अपने पूर्वज मानते हैं, इसलिए पश्चिम के गांवों को पूर्व के गांवों की तुलना में अधिक कुलीन माना जाता है।

श्री कपाडिया ने भी लिखा है कि अनवल लोगों में दो सामाजिक समूह हैं—देसाई और भटेला। इन में देसाई की सामाजिक स्थिति (status) भटेला से ऊँची है। इसीलिये देसाई अपनी कन्या का विवाह किसी भटेला से करने की नहीं सोचता। उसी प्रकार पाटीदारों ने भी अपने-आपको ग्रामों के आधार पर बाँट रखा है। चारोत्तर के पाटीदारों की सामाजिक स्थिति ऊँची है, इसलिये वे आपस के क्षेत्र से कन्याएँ ले लेते हैं, देते नहीं।

कुलीन विवाह के परिणाम (Consequences of Hypergamy)

कुलीन विवाह के अनेक सामाजिक परिणाम हैं। इस विवाह की प्रथा ने स्त्रियों की स्थिति को वास्तव में बहुत नीचे गिरा दिया जोकि पहले ही बहुत निम्न स्तर पर थी। इस प्रथा के कारण स्त्रियों को जो नाना प्रकार के अत्याचार, अविचार, अपमान तथा अनादर सहन करने पड़ते थे, उसके अनेक उदाहरण प्रस्तुत किए जा सकते हैं। इसके अतिरिक्त कुलीन कहलाने वाले पुरुष अपने से नीची स्थिति वाले परिवारों का जो आर्थिक शोषण करते थे, वह भी आज किसी से छिपा हुआ नहीं है। एक कुलीन बंगाली ग्रेजुएट यह आशा करता था कि “उसकी पत्नी सिर से पैर तक रत्नाभूषणों से लदी हुई हो और कन्या के पिता से वर-आभरण के लिये व्यक्तिगत दहेज के अतिरिक्त कम-से-कम चार सहस्र रुपया नगदी की माँग की जा सकती थी।.....यदि पिता दुर्भाग्य से उनकी कन्या कुछ सांवले रंग की, कुरूप अथवा विकृत होगी तो यह माँग पन्द्रह सहस्र रुपयों तक पहुँच जाती थी। यदि इसमें वे अनेक व्यय के मद जोड़े जाँ जो वधू के पिता को विवाह पर तथा उसके पहले और बाद में करने पड़ते तो इसका परिणाम इस परिवार की बरबादी ही होती थी।” इस प्रकार के परिणाम इस कारण संभव होते हैं कि प्रत्येक माता-पिता के मन में यह झूठा अहंकार होता है कि अपनी लड़की का विवाह उच्च-से-उच्च कुल में कर देने से उनकी सामाजिक प्रतिष्ठा बढ़ जायेगी। फलतः अधिक-से-अधिक रकम दहेज के रूप में देकर ऊँचे कुल से दामाद चुनने के लिये कन्याओं के माता-पिताओं में आपस में प्रतिस्पर्धा चलती रहती है। इस प्रकार दहेज लेना और दहेज देना दोनों ही बढ़ते हैं, क्योंकि जिस माता-पिता को अपनी कन्या के विवाह में ढेर सारा दहेज जुटाना पड़ता है, वह भला अपने लड़के की शादी में उस नुकसान को पूरा करने से क्यों चूकेगा। परिणामतः पुत्री के विवाह में दहेज देने और पुत्र के विवाह में खूब दहेज लेने अथवा पुत्र के विवाह में दहेज लेकर उसी दहेज से पुत्री का विवाह कर देने की प्रवृत्ति सामाजिक जीवन में एक कुचक्र बनकर सामने आती है। इस कुचक्र में सम्मिलित होने वाले कोई भी माता-पिता किसी से पीछे नहीं

रहना चाहते हैं। सभी पुत्री के पिता पर 'आक्रमण' करने का मौका ढूँढ़ते रहते हैं। फलतः यह कुचक्र कटुतर होता जाता है, दहेज की रकम बढ़ती जाती है और कुलीन विवाह की प्रथा चलती जाती है। यही कारण है कि आज दहेज के विरुद्ध कानून बन जाने पर भी पुत्र के पिता की माँगें कम नहीं हुई हैं क्योंकि विवाह के प्रति हिन्दुओं का दृष्टिकोण और सामाजिक प्रतिष्ठा का झूठा अभिमान आज भी पूर्ववत् ही है।²³

कुलीन विवाह की प्रथा के फलस्वरूप कुलीन पुरुषों को जो ढेर सारे दहेज मिलते हैं, उसका लोभ अनेक पुरुषों को एकाधिक स्त्रियों से विवाह करने को प्रोत्साहित करता है। उच्च कुल में कुलीन पुरुषों की संख्या सीमित होने के कारण बाल-विवाह का भी प्रचलन बढ़ता है, जबकि निम्न कुल में लड़कियों की कमी अनुभव की जाती है क्योंकि अधिकतर लड़कियों का विवाह उच्च कुलों में हो जाता है। फलतः यहाँ भी बाल-विवाह का प्रचलन बढ़ता है। हिन्दुओं में बहुपति विवाह का आदर्श नहीं है, इसलिये निम्न कुलों में लड़कियों की कमी के कारण अनेक पुरुषों को अविवाहित जीवन व्यतीत करना पड़ता है। इसका एक और सामाजिक दुष्परिणाम यह होता है कि निम्न कुलों के ये अविवाहित पुरुष अपनी कामवासनाओं की सन्तुष्टि विवाह सम्बन्ध के बाहर करने लगते हैं, जिसके फलस्वरूप समाज में यौन-अपराध की दरें तथा केश्यावृत्ति बढ़ती है। उसी प्रकार उच्च कुलों में लड़की की कमी होने के कारण अनेक लड़कियों का विवाह नहीं हो पाता है। बंगाल के कुलीन लोगों में तथा नम्बूद्री लोगों में अविवाहित वृद्ध स्त्रियों की संख्या काफी होती है। कहीं-कहीं पर इस दुष्परिणाम से छुटकारा पाने के लिए बदला-बदली विवाह या विनिमय विवाह (Exchange Marriage) प्रथा को अपनाया जाता है जिससे "प्रायः बहनों का विनिमय सीधा अथवा त्रिकोण के ढंग से होता है।" बहन न होने पर किसी निकट सम्बन्धी का विनिमय किया जाता है।

कुलीन विवाह प्रथा लड़कियों के प्रति अनादर की भावना को पनपाने में सहायक सिद्ध होती है। इस प्रथा के फलस्वरूप लड़कियों के लिये वर प्राप्त करने में जिस दहेज की आवश्यकता होती है और उस दहेज को जुटाने में परिवार की जो आर्थिक हानि और बहुधा बरबादी होती है, वह लड़कियों के प्रति अनुकूल मनोभाव को पनपाने में कदापि सहायक नहीं होती।" इसलिये "कन्या का जन्म पूर्वजन्म में किये गये पापों का फल माना जाता है।" इस मनोभाव का परिणाम यह होता है कि हिन्दू परिवारों में लड़कियों का लालन-पालन का कार्य बहुत ही अवहेलना के साथ किया जाता है, जिसके फलस्वरूप उनके व्यक्तित्व का समुचित विकास सम्भव नहीं होता और अनेक होनहार व्यक्तित्व इस सामाजिक प्रथा रूपी दानव के पैरों तले कुचले जाते हैं। लड़कियों के प्रति अवहेलना का उग्रतम रूप जन्म लेते ही कन्याओं की हत्या करता है।

कुलीन विवाह के उपरोक्त परिणामों को हम संक्षेप में इस प्रकार प्रस्तुत कर सकते हैं : (1) सामाजिक मान्यता के अनुसार जिस समूह की स्थिति सबसे ऊँची है, उस समूह के लड़कों को वर के रूप में पाने का प्रयत्न नीचे के सभी समूह या कुल के लोग करेंगे जिसके कारण ऊँचे कुलों में लड़कों की नितास्त कमी होगी और बहुत-सी

23. "Thus there are apparently different principles which operate in regulating hypergamy among different castes, but in essence they all represent one basic principle, namely, social prestige." —K. M. Kapadia, *Marriage and Family in India*, 1955, p. 103.

लड़कियों को योग्य वर नहीं मिल पायेगा, दूसरे छोर में वह समूह है जो सबसे नीचे है। इस समूह में लड़कियों की अत्यधिक कमी होगी क्योंकि इस समूह की अधिकतर लड़कियों का विवाह ऊँचे कुल के लड़कों के साथ ही जाएगा। फलतः नीचे के कुल में लड़कों के लिए पत्नी मिलना एक समस्या ही होती है। (2) चूँकि सबसे ऊँचे कुल में लड़कों की अत्यधिक कमी होती है, इस कारण इस कुल की अनेक लड़कियों को या तो अविवाहित रहना होता है, या एक लड़के से एकाधिक लड़कियों का विवाह अर्थात् बहुपत्नी-प्रथा (Polygamy) का जन्म होता है। इसके विपरीत, सबसे निम्न कुल में लड़कियों की अत्यधिक कमी होती है और इस कारण या तो अनेक लड़के अविवाहित रहते हैं या एक लड़की से एकाधिक लड़कों का विवाह होता है अर्थात् बहुपति-प्रथा (Polyandry) का जन्म होता है। (3) चूँकि ऊँचे कुलों में लड़कों की संख्या सीमित होती है और उनको वर के रूप में पाने की उत्कट इच्छा नीचे कुल के सभी लड़कियों के माता-पिता की होती है, इस कारण वे योग्य वर पाने के लिए अधिक-से-अधिक मूल्य चुकाने में भी नहीं हिचकिचाते। फलतः दहेज-प्रथा का जन्म व प्रसार होता है। (4) परन्तु वर-मूल्य या दहेज-प्रथा के गर्म बाजार में धनी पिता ही विजयी होते हैं। दूसरों के लिये दो ही रास्ते हैं—या तो वे कर्ज लेकर या गिरवी रखकर दहेज की माँग को पूरा करें और आजीवन ऋणी बने रहें या लड़कियों के जन्म लेते ही उन्हें मार डालें। (5) जो लोग दहेज देने में असमर्थ हैं वे अपनी सामाजिक प्रतिष्ठा को बचाये रखने के लिये किसी भी उम्र वाले कुलीन पुरुष के साथ अपनी लड़की का विवाह कर देते हैं, इसी कारण पहले आठ-दस साल की लड़की का विवाह साठ-सत्तर साल के बूढ़े के साथ हुआ करता था। बंगाल और बिहार में एक-एक कुलीन पुरुष की सौ से भी अधिक पत्नियाँ होती थीं और उन्हें उनके बारे में याद रखने के लिए रजिस्टर (register) रखना पड़ता था। इस प्रकार बेमेल विवाह कुलीन विवाह-प्रथा का एक सामान्य परिणाम है। (6) इस प्रकार के बेमेल विवाह का अर्थात् सात-आठ साल की लड़की का विवाह साठ-सत्तर साल के बूढ़े के साथ होने का यही फल होता है कि समाज में बाल-विधवाओं की संख्या अत्यधिक बढ़ जाती है। बाल-विधवाओं की समस्या हिन्दू समाज के लिए स्वयं ही एक गम्भीर समस्या है। (7) चूँकि ऊँचे कुल में लड़कों की अधिक कमी होती है और दहेज की माँग अत्यधिक, इस कारण प्रत्येक कन्या के माता-पिता अपनी कन्या की शादी जल्द-से-जल्द करने का प्रयत्न करते हैं। इससे समाज में बाल-विवाह का प्रचलन बढ़ता है। (8) सबसे नीचे के कुल में भी लड़कियों की कमी के कारण बाल-विवाह का प्रचलन तथा कन्या-मूल्य की माँग बढ़ती है। इस समूह में विधवा-विवाह पर भी कोई विशेष प्रतिबन्ध नहीं होता है।

इन्हीं दुष्परिणामों के प्रति आज का हिन्दू बहुत-कुछ सचेत होता जा रहा है जिसके फलस्वरूप इस प्रथा का प्रचलन अब पहले से कम हो गया है। अन्तर्जातीय विवाह के प्रति लोगों का झुकाव जिस गति से बढ़ता जा रहा है उसी गति से जाति के आधार पर कुलीन विवाह की समाप्ति अवश्य ही होनी है।

विवाह से सम्बन्धित समस्याएं एवं आधुनिक परिवर्तन या प्रवृत्तियाँ

[Problems and Recent Trends Or Changes In Marriage]

समस्याएं (Problems)

(1) दहेज तथा वर-मूल्य-प्रथा

(Dowry and Bridegroom Price System)

दहेज व वर-मूल्य-प्रथा क्या है ?

(What is Dowry and Bridegroom Price System ?)

वर-मूल्य-प्रथा और दहेज को प्रायः एक ही माना जाता है, पर ऐसा नहीं है। इनमें अन्तर है। विवाह के समय प्रायः कन्या-पक्ष की ओर से, कन्या व वर को, कुछ वस्तुएँ और धन उपहार में दिए जाते हैं। उदाहरणार्थ, ब्राह्म विवाह में कन्या का पिता कन्या को वस्त्र, अलंकार सहित वर को दान देता है। ऐसे धन या उपहार को 'दहेज' कहना चाहिए। दहेज में यह धन या उपहार कन्या-पक्ष द्वारा अपनी इच्छा से दिया जाता है। दूसरे शब्दों में, दहेज वह धन या उपहार है जिसे लड़की के माता-पिता विवाह के उपलक्ष में अपनी इच्छा से वर-पक्ष को देते हैं।

इसके विपरीत, वर-मूल्य वह निश्चित धन या मॅट है जोकि विवाह के पूर्व वर-पक्ष निश्चित कर लेते हैं और जिसे विवाह के पूर्व या विवाह तक कन्या-पक्ष को चुका देना होता है। इस प्रकार वर-मूल्य विवाह की एक शर्त है जिसे पूरा किए बिना विवाह नहीं हो सकता। व्यावहारिक रूप में यह वर का मूल्य है जोकि उसके माता-पिता उसकी योग्यता के अनुसार माँगते हैं और जो वर की पारिवारिक स्थिति (status) से भी सम्बद्ध हो सकता है। परन्तु रोज की बोलचाल में लोग वर-मूल्य न कहकर 'दहेज' शब्द का ही प्रयोग करते हैं। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि (1) दहेज वह धन या उपहार है जिसे लड़की-पक्ष के लोग स्नेहवश वर और कन्या को देते हैं जबकि वर-मूल्य एक निश्चित धन है, जिसकी स्पष्ट माँग वर-पक्ष की ओर से की जाती है। (2) इस प्रकार दहेज कितना होगा या दिया जाएगा यह पहले से ही निश्चित नहीं किया जाता जबकि वर-मूल्य कितना देना पड़ेगा यह पहले से ही निश्चित कर दिया जाता है। (3) दहेज कन्या-पक्ष की स्वेच्छा और सामर्थ्य पर आधारित होता है, जबकि वर-मूल्य वर के व्यक्तिगत गुण या परिवार की स्थिति, या दोनों पर निर्भर करता है। (4) दहेज देना विवाह की कोई शर्त नहीं होती, जबकि वर-मूल्य विवाह की शर्त के रूप में ही रखा या तय किया जाता है। इसे चुकाए बिना विवाह नहीं हो सकता।

विवाह से सम्बन्धित समस्याएँ एवं आधुनिक परिवर्तन

उपरोक्त विवेचना से यह स्पष्ट है कि दहेज-प्रथा बुरी नहीं है क्योंकि दहेज कन्या-पक्ष के द्वारा वर और वधू को स्नेहवश, बिना किसी दबाव के तथा अपनी सामर्थ्य के अनुसार स्वेच्छा से दिया जाता है। बुरी तो वर-मूल्य-प्रथा है। सन् 1960 में जो 'दहेज-निरोधक अधिनियम' पास किया गया है उसका भी उद्देश्य वर-मूल्य-प्रथा को रोकना है, न कि दहेज-प्रथा को। इसीलिए इस अधिनियम के अन्तर्गत दहेज (वास्तव में वर-मूल्य) को इस प्रकार परिभाषित किया गया है—“दहेज का अर्थ कोई ऐसी सम्पत्ति या मूल्यवान् निधि से है जो (अ) विवाह करने वाले दोनों पक्षों में से एक ने दूसरे पक्ष को, अथवा (ब) विवाह में भाग लेने वाले दोनों पक्षों में से किसी एक पक्ष के माता-पिता या किसी दूसरे व्यक्ति ने दूसरे पक्ष के माता-पिता या किसी अन्य व्यक्ति को विवाह के अवसर पर या विवाह से पहले या विवाह के बाद विवाह की शर्त के रूप में दी हो या देना मंजूर किया हो।” इस प्रकार की कोई भी सम्पत्ति या मूल्यवान् निधि लेना कानून के अन्तर्गत दण्डनीय होगा, जबकि स्वेच्छा से दी गई उपहार की चीजों के सम्बन्ध में यह बात लागू न होगी। इससे यह भी स्पष्ट है कि कानूनी आधार पर भी वर-मूल्य और दहेज दो पृथक् धारणाएँ हैं और इनका अर्थ भी अलग-अलग है।

उत्पत्ति के कारण

(Causes of Origin)

1. जीवन-साथी चुनने का सीमित क्षेत्र (Limited field of choosing mates)—जाति और उपजातियों में विवाह होने से उपयुक्त वर मिलना कठिन होता है और वर-मूल्य-प्रथा का प्रादुर्भाव होता है।

2. बाल-विवाह (Child marriage)—बाल-विवाह के कारण लड़के या लड़कियों को स्वयं अपने जीवन-साथी चुनने का अवसर नहीं मिलता और लड़के का पिता अपने लाभ के लिए वर-मूल्य को माँगता है।

3. हिन्दू लड़कियों में विवाह अनिवार्य है (Marriage is compulsory for Hindu girls)—इस अनिवार्यता से लड़के के पिता लाभ उठा सकते हैं और वर-मूल्य की माँग करते हैं।

4. कुलीन विवाह (Hypergamy)—कुलीन विवाह के कारण ऊँचे कुल में लड़कों की अत्यधिक कमी होती है और उचित वर पाने के लिए अधिक-से-अधिक मूल्य देने को लड़की वाले बाध्य होते हैं।

5. शिक्षा और व्यक्तिगत प्रतिष्ठा का महत्त्व (Importance of education and personal status)—आधुनिक युग में शिक्षा और व्यक्तिगत प्रतिष्ठा का अत्यधिक महत्त्व होने के कारण प्रत्येक पिता अपनी कन्या के लिए शिक्षित और प्रतिष्ठित लड़के को ढूँढ़ता है। इनकी संख्या अधिक न होने के कारण इनका मूल्य बढ़ता है।

6. धन का महत्त्व (Importance of money)—धन का महत्त्व भी आज के समाज में बहुत अधिक है। धन के आधार पर आज योग्य वरों को खरीदने का प्रयत्न किया जाता है।

7. यातायात के साधनों में उन्नति (Development of the means of transport)—यातायात के साधनों में उन्नति के कारण नगरीकरण और औद्योगीकरण बढ़ता गया और एक जाति या उपजाति के लोग दूर-दूर छिटक गए। इससे

अपनी जाति या उपजाति में योग्य वर मिलना कठिन हो गया तथा वर-मूल्य-प्रथा को बढ़ावा मिला।

वर-मूल्य-प्रथा से हानियाँ

(Demerits of Bridegroom Price System)

1. शिशु-हत्या (Female infanticide)—जब वर-मूल्य-प्रथा अत्यधिक गम्भीर रूप धारण कर लेती है तो बहुधा अनेक माता-पिता अपनी लड़की को पैदा होते ही मार डालते हैं। राजस्थान में इस प्रकार की हत्या को कानून द्वारा रोकना पड़ा था।

2. आत्महत्या (Suicide)—आज शिशु-हत्या का दूसरा रूप यह है कि लड़कियाँ अपने माता-पिता के दुर्व्यवहार या तानों से परेशान होकर या उन्हें योग्य वर की तलाश में दर-दर ठोकरें खाते देख आत्म-हत्या को ही आत्मरक्षा के साधन के रूप में चुन लेती हैं। बंगाल में एक साल में सात-आठ ऐसी आत्महत्याएँ हो जाती हैं।

3. ऋणप्रस्तता (Indebtedness)—वर-पक्ष की बढ़ती हुई माँगों को पूरा करने के लिए लड़की के माता-पिता महाजन से ऋण लेते हैं अथवा अपनी सम्पत्ति को बेचते या गिरवी रखते हैं। इस कारण अनेक परिवार आजीवन ऋणी बने रहते हैं।

4. बेमेल विवाह (Unsuitable mates)—वर-मूल्य की माँग को पूरा न कर सकने और योग्य वर नहीं मिल पाता और प्रायः कन्या के माता-पिता बेमेल विवाह करने पर तैयार हो जाते हैं। बंगाल, बिहार तथा उत्तर प्रदेश के पूर्वी भागों में ऐसे बेमेल विवाह के अनेक उदाहरण पाए जाते हैं।

5. कन्याओं का दुःखद वैवाहिक जीवन (Unhappy married life)—तय किए गए वर-मूल्य को न देने पर वर-पक्ष वधू को प्रतिशोध का शिकार बना लेता है और उसकी दुर्दशा की सीमा नहीं रहती। भारतीय दण्ड-विधान में एक लोटा-चोर के लिए भी दण्ड-व्यवस्था है, परन्तु आश्चर्य की बात है कि इस दण्ड-विधान में इस प्रकार के अपराधी परिवारों के लिए कोई भी दण्ड-व्यवस्था नहीं है जो अपनी वधूओं की समस्त आशा और अभिलाषाओं का गला घोटकर उन्हें जीवित ही मृत्यु से भी अधिक दर्दनाक अवस्था में रखते हैं।

6. दो परिवारों में तनाव (Tension between two families)—वर-मूल्य के लेने-देने को लेकर वधू पर अत्याचार होता है और उसकी प्रतिक्रियास्वरूप दो परिवारों में तनाव हो जाता है। कभी-कभी यह तनाव बढ़ते-बढ़ते शत्रुता की सीमा तक पहुँच जाता है और नव वर-वधू का वैवाहिक जीवन भी उस दूषित वातावरण में विषम हो जाता है।

वर-मूल्य-प्रथा से लाभ

(Merits of Bridegroom Price System)

1. बाल-विवाह पर रोक (Check on child marriage)—अत्यधिक वर-मूल्य के कारण अनेक व्यक्ति अपनी कन्या का विवाह जल्दी नहीं कर पाते हैं, इससे बाल-विवाह को अत्यधिक प्रोत्साहन नहीं मिलता।

2. स्त्री शिक्षा (Female education)—अधिक वर-मूल्य के कारण जब लड़कियों का विवाह जल्दी नहीं हो पाता है तो लड़कियों को शिक्षा प्राप्त करने का,

और इससे आगे चलकर अपने व्यक्तित्व के विकास का अवसर मिल जाता है ; लोग लड़कियों को इसलिये पढ़ाते हैं कि शिक्षित लड़कियों के लिये कम वर-मूल्य देना होगा ।

समस्या का हल

(Remedial Measures)

1. कानूनी हल (Legal remedy) —अनेक समाज-सुधारकों के अनुसार, दहेज-प्रथा को समाप्त करने के लिए सरकारी कानूनों का पास होना सुधार की दिशा में पहला कदम है । देश के महिला-संगठनों ने यह माँग सरकार से की थी । इस माँग की पूर्ति के लिए सरकार ने एक दहेज-निरोधक विधेयक (Dowry Prohibition Bill) लोकसभा तथा राज्यसभा के सम्मुख प्रस्तुत किया था । इस विधेयक (Bill) की कुछ धाराओं के सम्बन्ध में लोकसभा तथा राज्यसभा के बीच कुछ मतभेद था । इन मतभेदों को दूर करने के लिए 9 मई, 1961 को संसद के इन दोनों सदनों का एक संयुक्त अधिवेशन आमन्त्रित किया गया । इस ऐतिहासिक अधिवेशन ने प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से दहेज माँगने अथवा देने और लेने पर रोक लगाने व दण्ड देने का विधेयक (Bill) स्वीकार कर लिया । संयुक्त अधिवेशन ने निर्णय किया कि विवाह के अवसर पर दिए गए उपहार दहेज नहीं समझे जायेंगे, परन्तु विवाह तय करते समय माँगे गए उपहार पर यह बात लागू नहीं होगी । दूसरे शब्दों में, अमुक-अमुक या इतना उपहार देना ही होगा, इस प्रकार की कोई शर्त (condition) विवाह तय करते समय नहीं रखी जा सकेगी और वह दण्डनीय होगी । यह दण्ड 6 माह का कारावास और 5 हजार रुपये तक का जुर्माना हो सकता है एवं दहेज लेने-देने से सम्बन्धित किसी प्रकार का समझौता गैर-कानूनी होगा । इस कानून का उल्लंघन करते हुए जो कुछ भी दहेज दिया जाएगा, वह सभी पत्नी की सम्पत्ति (trust property) मानी जाएगी, और पत्नी को या उसके उत्तराधिकारी को प्राप्त होगी । संयुक्त अधिवेशन की बहस में श्री जयपाल सिंह ने इस विधेयक का पूर्ण विरोध किया । उन्होंने कहा कि “विधेयक लाखों आदिवासी भारतीयों के सामाजिक रीति-रिवाजों में दखलन्दाजी होगा ।” आचार्य कृपलानी ने भी विधेयक का विरोध किया । उन्होंने कहा कि बुराई कानून से दूर नहीं की जा सकती । उन्होंने स्त्रियों को इस प्रथा के विरुद्ध सत्याग्रह की सलाह दी । कानून मन्त्री श्री ए० के० सेन ने भी इस विरोध का स्वागत करते हुए कहा कि “यह कानून पुस्तक (statute book) का एक बेकार का पृष्ठ बनने के बजाय मानव-आचरण का एक मानदण्ड (a norm of human conduct) प्रमाणित होगा । यही सही मार्ग-दर्शन करेगा और घृणित दहेज-प्रथा-सम्बन्धी सामाजिक-विचारधारा में परिवर्तन लाएगा । कानून बनने से दहेज-प्रथा की पुरानी ताकत खत्म हो जाएगी ।” इस विधेयक को 22 मई, 1961 को राष्ट्रपति की स्वीकृति भी प्राप्त हो गई है और इस प्रकार यह विधेयक अब कानून के रूप में 1 जुलाई, सन् 1961 से लागू हो गया है । इसके विषय में अध्याय 22 में विस्तार पूर्वक विवेचना करेंगे ।

2. अन्तर्जातीय विवाह को प्रोत्साहन (Encouragement to intercaste marriage) —वर-मूल्य समस्या का एक हल अन्तर्जातीय विवाह का प्रचार करना है क्योंकि इससे योग्य लड़कों की कमी समाप्त हो जाएगी और वर-मूल्य-प्रथा का ह्रास होगा ।

3. लड़कों को स्वावलम्बी करने का प्रयत्न (Efforts to settle the grooms well in life)—लड़कों की उचित शिक्षा और उसके पश्चात् उन्हें योग्य पदों पर नियुक्त होने का अवसर देने से योग्य वरों की संख्या बढ़ जाएगी। उनके लिये प्रतियोगिता घट जाने से वर-मूल्य-प्रथा भी कम हो जाएगी।

4. लड़कियों की शिक्षा (Female education)—दूसरी ओर लड़कियों को भी शिक्षित होने का अवसर तथा सुविधाएँ प्राप्त होनी चाहिए जिससे कि उनके जीवन में विवाह अनिवार्य न हो और वह बाध्यता दूर हो जाए जिसके होने से लड़कों के पिता अनुचित लाभ उठाते हैं।

5. जीवन-साथी का स्वतन्त्र चुनाव (Freedom in choosing mates)—लड़कों और लड़कियों के शिक्षित होने से, उनको नौकरियों की सुविधा प्राप्त होने पर उन्हें एक-दूसरे के निकट आने का अवसर प्राप्त होगा और वे अपनी इच्छा से अपने जीवन-साथी को चुन सकेंगे। इस प्रकार के विवाह में वर-मूल्य का प्रश्न ही नहीं उठेगा।

6. स्वस्थ जनमत (Healthier public opinion)—इस सम्बन्ध में सबसे आवश्यक परिस्थिति स्वस्थ जनमत के द्वारा ही उत्पन्न हो सकती है। जब तक सामाजिक जागरण न होगा और लड़के व लड़कियाँ स्वयं अपने विवाह में वर-मूल्य का विरोध न करेंगे, तब तक इस विद्या में अधिक सफलता की आशा नहीं है। सरकार की ओर से इस बात का प्रयत्न होना चाहिए कि प्रचार द्वारा जनमत को इस प्रथा के विरुद्ध क्रियाशील किया जाए।

7. गांधीजी का सुझाव (Suggestion of Gandhiji)—इस सम्बन्ध में गांधीजी ने लिखा है, "हमें नीचे गिराने वाली दहेज-प्रथा की निन्दा करने वाला जोरदार लोकमत जाग्रत करना चाहिए और जो युवक इस तरह के पाप के पैसे से अपने हाथ गन्दे करें उन्हें समाज से बाहर निकाल देना चाहिए। लड़कियों के माँ-बाप को भी अंग्रेजी डिग्री वालों का मोह छोड़ देना चाहिए और बहादुर नौजवान बूढ़े के लिये अपनी छोटी जातियों और प्रान्तों से बाहर निकलने में संकोच नहीं करना चाहिए" जब तक किसी खास जाति के ही सौ-दो सौ युवक-युवतियों के भीतर जीवन-साथी का चुनाव करना पड़ेगा या होता रहेगा, तब तक इस प्रथा की कितनी ही निन्दा की जाए, यह कायम रहेगी। अगर इस बुराई को जड़ से मिटाना है तो लड़के-लड़कियाँ या उनके माँ-बापों को जाति का बन्धन तोड़ना होगा। विवाह की उम्र भी बढ़ानी पड़ेगी और यदि आवश्यकता हुई तो लड़कियों को कुंवारी रहने का भी साहस करना पड़ेगा। इस सबके लिए ऐसी शिक्षा देनी होगी, जो राष्ट्र के युवक-युवतियों की मनोवृत्ति में क्रान्ति पैदा कर दे।"

(2) बाल-विवाह (Child Marriage)

बाल-विवाह क्या है ?

(What is Child Marriage ?)

बाल-विवाह वह विवाह है जबकि लड़के और लड़कियों का विवाह बाल्यकाल में ही कर दिया जाता है। लड़कियों के क्षेत्र में यह विवाह रजोदर्शन के पूर्व ही हो जाता है। कभी-कभी तो ऐसे विवाह 5 या 6 वर्ष की आयु में ही कर दिये जाते हैं।

कानूनी दृष्टिकोण से 21 वर्ष से कम आयु वाले लड़के और 18 वर्ष से कम आयु वाली लड़की का विवाह बाल-विवाह है।

बाल-विवाह का इतिहास

(History of Child Marriage)

वैदिक युग के साहित्य या धर्म-ग्रन्थों के अध्ययन से यह स्पष्ट रूप से पता चलता है कि उस समय बाल-विवाह का प्रचलन नहीं था। महाभारत में 16 वर्ष की 'नग्निका' के विवाहका उल्लेख मिलता है। गृह्य-सूत्र में भी विवाह के चौथे दिन सम्भोग करने का आदेश है। इससे यह सिद्ध होता है कि उस समय पूर्ण युवतियों का ही विवाह होता था, बालिकाओं का नहीं। हिन्दू-विवाह के मन्त्रों से भी यही बात स्पष्ट होती है।

ऋग्वेदकाल के बाद बाल-विवाह के प्रति मनोवृत्ति बढ़ती गई। धर्म-सूत्रकारों ने लड़कियों के बाल-विवाह के पक्ष में राय दी और धीरे-धीरे स्मृतिकारों ने मासिक धर्म के पहले विवाह करने की अनुमति दे दी। ब्राह्म-पुराण के रचयिता ने तो यहाँ तक कहा कि चार साल की आयु के बाद किसी समय भी लड़की का विवाह किया जा सकता है। इसके विपरीत, मनु, कौटिल्य और वशिष्ठ आदि ने रजोदर्शन के तीन वर्ष के अन्दर ही विवाह कर देने पर बल दिया।

मुसलमानी राज्य-स्थापना के पश्चात् हिन्दू लड़कियों के विवाह मुसलमानों के साथ न हो सकें, इस उद्देश्य से जल्द-से-जल्द विवाह कर देने पर बल दिया गया और विवाह की आयु घटते-घटते आठ-नौ वर्ष रह गई। आज भी भारत के गाँवों में इस आयु में अनेक विवाह होते हैं।

बाल-विवाह के कारण

(Causes of Child Marriage)

1. भारत एक कृषि प्रधान देश है (India is an agricultural country)—भारत एक कृषि-प्रधान देश है और प्राचीनकाल में जनसंख्या की तुलना में यहाँ उपजाऊ जमीन अधिक थी। इसलिए मनुष्य और जमीन के बीच सन्तुलन स्थापित करने के लिये जनसंख्या का विस्तार आवश्यक था जोकि बाल-विवाह के द्वारा ही सम्भव था। इस कारण धीरे-धीरे बाल-विवाह का प्रचलन हुआ।

2. स्त्रियों की गिरी हुई दशा (Lower status of women)—वैदिक युग के बाद ही स्त्रियों की दशा में अवनति होने लगी और स्मृतिकारों ने तो यहाँ तक निर्देश दिया कि स्त्रियाँ कभी भी स्वतन्त्र रहने के योग्य नहीं हैं। बाल-विवाह इन सब मनोभावों की ही उपज है।

3. अन्तर्जातीय विवाह पर रोक (Restriction on intercaste marriage)—स्मृतिकाल से धीरे-धीरे अन्तर्जातीय विवाह का निषेध बढ़ता गया। इस निषेध को कार्यशील करने के लिये यह आवश्यक हो गया है कि लड़के-लड़कियों का बाल-विवाह ही कर दिया जाए ताकि उन्हें बड़े होकर स्वतन्त्र चुनाव का अवसर न मिले और माता-पिता को अन्तर्जातीय विवाह के लिए बाध्य न होना पड़े।

4. जीवन साथी चुनने का सीमित क्षेत्र (Restricted field of choice of mates)—अन्तर्जातीय विवाह पर प्रतिबन्ध जैसे-जैसे कठोर होते गए, जीवन-साथी चुनने का क्षेत्र भी वैसे-वैसे ही सीमित होता गया। व्यावहारिक रूप में अन्तर्विवाह के नियमों के अन्तर्गत अपने छोटे-छोटे उपजातीय समूह के अन्दर ही विवाह करना होता

है। इसलिये प्रत्येक पिता को अपनी लड़की के लिए वर खोजना कठिन हो गया और वे शीघ्र इस कठिनाई से मुक्त होना चाहते थे। इससे बाल-विवाह करने की ओर प्रवृत्ति बढ़ती गई।

5. संयुक्त परिवार प्रणाली (Joint family system)—संयुक्त परिवार प्रणाली ने भी बाल-विवाह को काफी प्रोत्साहित किया क्योंकि विवाह के द्वारा उत्पन्न समस्त उत्तरदायित्व विवाह करने वाले लड़के पर नहीं वरन् उसके संयुक्त परिवार पर था। उसके स्त्री और बच्चों के भरण-पोषण का भार संयुक्त परिवार के कर्त्ता पर होता था। दूसरी ओर विवाह के द्वारा संयुक्त परिवार के कार्यों में हिस्सा बंटाने के लिए एक और व्यक्ति आ जाता था। इससे भी बाल-विवाह को काफी प्रोत्साहन मिला।

6. सती प्रथा (Sati-pratha)—सती-प्रथा ने भी बाल-विवाह को फैलाने में योग दिया। पिता की मृत्यु के साथ ही माता के सती हो जाने से बच्चों की देख-भाल की समस्या गम्भीर हो जाती थी। इस कारण माता-पिता जल्दी-से-जल्दी अपने बच्चों को किसी एक संयुक्त परिवार के हवाले कर देना पसन्द करते थे। इससे भी बाल-विवाह का प्रचलन बढ़ता ही गया।

7. कुलीन विवाह (Hypergamy)—कुलीन विवाह प्रथा से सबसे ऊँचे कुल में लड़कों की ओर सबसे नीचे कुल में लड़कियों की अत्यधिक कमी होगी। इस कारण प्रत्येक माता-पिता योग्य वर या बधू पाते ही विवाह कर देने का प्रयत्न करेंगे। इस प्रकार बाल-विवाह का प्रचलन स्वाभाविक ही है।

8. वर-मूल्य-प्रथा (Bridegroom price system)—वर-मूल्य-प्रथा की समस्या धीरे-धीरे काफी गम्भीर हो गई और यह इतना अधिक मांगा जाने लगा कि प्रत्येक साधारण माता-पिता को अपनी कन्या का विवाह कर देना एक बहुत कड़ी समस्या हो गई। चूँकि बचपन में वर के भविष्य, जीवन और गुणों का समुचित पता नहीं लगाया जा सकता, इस कारण अधिक वर-मूल्य भी नहीं देना पड़ता है। इसी से लाभ उठाने के लिये अनेक पिता अपनी लड़की का विवाह जल्दी-से-जल्दी करके अत्यधिक वर-मूल्य से अपने को बचाने का प्रयत्न करने लगे।

9. धार्मिक मनोवृत्ति (Religious attitude)—हिन्दू धर्मशास्त्रों में अनेक स्थानों पर बाल-विवाह को आदर्श कहा गया है। अनेक धार्मिक धारणायें यह हैं कि अपनी कन्या का 'गौरीदान' अर्थात् रजोदर्शन के पूर्व विवाह करने वाले पिता या संरक्षक को स्वर्ग-प्राप्ति होगी। इसी कारण बाल-विवाह को भी धर्म का एक अंग मानकर कट्टरपन्थी या रूढ़िवादी लोग इसका अधिकाधिक पालन करना चाहते हैं। इससे भी बाल-विवाह का प्रचलन बढ़ता है।

10. विदेशी आक्रमण (Foreign invasion)—विशेषकर मुसलमानों के आक्रमण के पश्चात् बाल-विवाह का अधिक प्रचलन हुआ। इसका कारण यह था कि मुसलमानों को हिन्दू लड़कियों से विवाह करने में कोई संकोच न था। इस कारण, एक ओर रक्त की शुद्धता को बनाये रखने के लिए और दूसरी ओर हिन्दू-धर्म की रक्षा के लिए बाल-विवाह पर अत्यधिक बल दिया गया।

बाल-विवाह से हानियाँ

(Evils of Child Marriage)

बाल-विवाह एक सामाजिक समस्या है क्योंकि इससे व्यक्ति और समाज को अनेक हानियाँ होती हैं। उनमें से प्रमुख निम्नलिखित हैं—

1. बाल-दम्पति जीवन-भार सम्भालने में अयोग्य (Child couples are incapable of sharing the responsibilities of married life)—विवाह बालकों का खेल नहीं है। विवाह केवल कुछ मन्त्रों का पाठ कर लेने से ही पूरा नहीं हो जाता है, विवाह के साथ-ही-साथ अनेक प्रकार के उत्तरदायित्व बर और बधू के कंधों पर आ जाते हैं। बाल-दम्पति इन्हें निभाने के योग्य कदापि नहीं होते।

2. स्वास्थ्य पर बुरा प्रभाव (Adverse effect on health)—बाल-विवाह में बर-बधू पूर्ण रूप से युवक और युवती नहीं होते हैं और इस कारण शारीरिक दृष्टिकोण से भी वे विवाह के योग्य नहीं होते। इस अवस्था में उनमें जो यौन-सम्बन्ध स्थापित होता है उसका बहुत ही बुरा प्रभाव उनके स्वास्थ्य पर पड़ता है। इससे राष्ट्र का स्वास्थ्य-स्तर घटता है। यह स्वयं ही एक गम्भीर समस्या है।

3. दुर्बल सन्तान (Weak children)—आयुर्वेदशास्त्र के अनुसार पूर्ण आयु प्राप्त होने से पहले सम्भोग के द्वारा जो सन्तान उत्पन्न होती है वह कदापि हृष्ट-पुष्ट नहीं हो सकती। इस प्रकार बाल-विवाह आने वाली पीढ़ी और जातीय स्वास्थ्य-स्तर पर बुरा प्रभाव डालता है।

4. व्यक्ति के विकास में बाधा (Hinders personality development)—बाल्यकाल में ही विवाह हो जाने से दम्पति पर पारिवारिक बोझ बहुत जल्द लद जाता है, विशेषकर लड़कियों पर सन्तानों का भार लद जाने के फलस्वरूप शिक्षा प्राप्त करने और व्यक्तित्व का विकास करने में काफी बाधा पहुँचती है। हिन्दू समाज में स्त्रियों की निम्नतम स्थिति होने का यह भी एक कारण है।

5. अधिक माताओं की मृत्यु (High rate of maternal mortality)—अल्प आयु में सन्तान उत्पन्न होने के समय गर्भवती माताओं को अत्यधिक कष्ट सहन करना पड़ता है और प्रायः उनकी प्राण-हानि तक हो जाती है। यह हिंसाब लगाया गया है कि भारतवर्ष में प्रतिवर्ष प्रायः 2,50,000 माताओं की मृत्यु हो जाती है। यह कितनी बड़ी राष्ट्रीय हानि है, इसे समझाने की आवश्यकता नहीं।

6. अधिक जनसंख्या (Over-population)—बाल-विवाह का एक प्रभाव यह होता है कि दम्पतियों की सन्तान बहुत ही अल्प आयु से पैदा होने लगती है जिससे देश की जनसंख्या में वृद्धि होती है। भारत में आज यह समस्या अत्यन्त गम्भीर है और इससे सम्बन्धित और भी अनेक समस्याएँ जैसे, निवास-स्थान की समस्या, खाने-पहनने की समस्या, निर्बलता और बेकारी की समस्या दिन-प्रतिदिन कटु होती जा रही है।

7. योग्य जीवन-साथी चुनने में कठिनाई (Difficulty in choosing suitable mates)—बाल-विवाह से योग्य जीवन-साथी चुनने में काफी कठिनाई होती है। इसका कारण यह है कि बचपन में किसी भी लड़के या लड़की को देखकर उसके आगामी जीवन और व्यक्तित्व का कुछ भी पता नहीं लगाया जा सकता। एक छोटे लड़के को देखकर कोई नहीं बता सकता कि यह आगे चलकर एक विद्वान् होगा या डाकू। इस प्रकार बर-बधू के जीवन को केवल मात्र 'संयोग' (chance) पर छोड़ दिया जाता है।

8. बाल-विधवाओं की समस्या (Problem of child widows)—यह देखा गया है कि भारतवर्ष में जहाँ कि आयुकाळ बहुत थोड़ा है और जहाँ बच्चों की मृत्यु

सबसे अधिक होती है, वहाँ बाल-विवाह का परिणाम यही है कि बाल-विधवाओं की संख्या बढ़ती जाती है, जोकि स्वयं ही एक गम्भीर सामाजिक समस्या है।

9. स्त्री-पुरुष में असमान अनुपात (Disparity in sex-ratio)—सर एडवर्ड ब्लण्ट (Edward Blunt) के मतानुसार बाल-विवाह ही भारतवर्ष में लड़कियों की कमी के लिये उत्तरदायी है क्योंकि अधिकतर स्त्रियाँ 30 या 35 वर्ष की आयु के बीच में, अधिक सन्तान-उत्पत्ति से खराब स्वास्थ्य के कारण, मर जाती हैं।

बाल-विवाह से लाभ

(Merits of Child Marriage)

बाल-विवाह से केवल हानियाँ ही हैं यह कहना उचित न होगा क्योंकि इससे कुछ लाभ भी हैं जो निम्नवत् हैं —

1. पारस्परिक अनुकूलन में सहायता (Help in mutual adjustment)—चूँकि छोटेपन से ही बर-बधू निरन्तर आपस में एकसाथ रहते हैं इस कारण एक-दूसरे को समझने और एक-दूसरे की प्रकृति से अपना अनुकूलन करने का उन्हें काफी अवसर प्राप्त होता है, जिससे कि आगे चलकर वैवाहिक जीवन सुखी होने की काफी सम्भावना रहती है।

2. आर्थिक आत्मनिर्भरता (Economic independence)—विशेषकर पुरुष के ऊपर परिवार का बोझ पड़ने पर वह प्रारम्भ से ही अपने कर्तव्यों के प्रति जागरूक हो जाता है जिससे उसमें पैरों पर खड़े होकर आत्मनिर्भरता प्राप्त करने की भावना पनपती है।

3. नैतिक पतन पर रोक (Check on moral degeneracy)—बाल-विवाह प्रायः लोगों की नैतिक पतन से रक्षा करता है क्योंकि इससे परिवार और स्त्री के प्रति कर्तव्य और नैतिक बोध का केन्द्रीकरण हो जाने से बाहरी प्रलोभनों से वह अपने को सरलता से सुरक्षित रख सकता है।

बाल-विवाह को समाप्त करने के उपाय

(How to eliminate the System of Child Marriage)

उद्युक्त विवेचना से स्पष्ट है कि बाल-विवाह से लाभ की अपेक्षा हानियाँ ही अधिक हैं, इस कारण यह आज एक सामाजिक समस्या के रूप में मूर्त है। इससे छुटकारा पाने के लिये निम्नलिखित उपायों को प्रयोग में लाया जा सकता है।

1. अन्तर्जातीय विवाह को प्रोत्साहन (Encouragement to intercaste marriage) — बाल-विवाह को समाप्त करने का सबसे सरल उपाय अन्तर्जातीय विवाह को प्रोत्साहित करना है। अन्तर्जातीय विवाह से कुलीन विवाह और बर-मूल्य-प्रथा का अन्त नहीं होता, तो भी बहुत-कुछ कम हो जाने की सम्भावना है जिससे बाल-विवाह भी आप-से-आप समाप्त हो जायेगा।

2. समुचित शिक्षा की व्यवस्था (Proper education)—लड़कों और लड़कियों दोनों को ही समुचित शिक्षा देकर उन्हें आत्मनिर्भर बनाने का प्रयत्न करना चाहिये, जिससे कि एक ओर उनके व्यक्तित्व का विकास होने के कारण योग्य बर और बधुओं की कमी दूर हो जायेगी और दूसरी ओर बाल-विवाह के दोषों के प्रति अधिकाधिक जागरूकता उत्पन्न होगी और अन्तर्जातीय विवाह के प्रति अनुकूल वातावरण पैदा हो सकेगा।

3. कानूनी रोक (Legal chech) - बाल-विवाह का रोकने के लिये उचित कानून भी होने चाहिए। पर केवल कानून पास करने से ही बाल-विवाह समाप्त न होगा जैसाकि शारदा ऐक्ट पास होने के पश्चात् देखा गया। उसका कोई विशेष प्रभाव बाल-विवाह को रोकने पर नहीं पड़ा। इसलिये कानून पास करने के साथ ही उनको दृढ़तापूर्वक लागू करने के लिये सरकारी प्रयत्न और संगठन भी परमावश्यक है। विशेषकर गांवों में, जहां बाल-विवाह का प्रचलन अधिक है, सरकार की ओर से कानून को लागू करने के लिये संगठित प्रयत्न करना होगा।

4. प्रचार (Propaganda)—बाल-विवाह के विरुद्ध जनमत को तत्पर करने के लिये प्रचार-कार्य को भी संगठित रूप से चलाना चाहिये। यह प्रचार-कार्य सरकारी और गैर-सरकारी समितियों के द्वारा समाचार-पत्र, पत्रिका इस्तहार आदि के माध्यम से होना चाहिये।

5. वर-मूल्य-प्रथा का अन्त (Abolition of Bridegroom Price System)—अत्यधिक वर-मूल्य से घबराकर माता-पिता अपनी कन्याओं का विवाह जल्दी-से-जल्दी करने का प्रयत्न करते हैं। इस प्रकार वर-मूल्य-प्रथा का अन्त हो जाने से बाल-विवाह के भी कम होने की सम्भावना है। लेकिन वर-मूल्य-प्रथा भी कानून के द्वारा समाप्त न होगी; उसके लिये भी जनमत को जागृत करना आवश्यक है।

कानूनी सुधार

(Legal Reforms)

प्रारम्भिक सुधार (Preliminary reforms)—बाल-विवाह को रोकने के लिये सरकार की दृष्टि को इस सामाजिक कुरीति की ओर आकर्षित करने का श्रेय राजा राममोहन राय और श्री ईश्वरचन्द्र विद्यासागर महाशय को है। इनके प्रयत्नों से सन् 1860 में सबसे पहले बाल-विवाह को रोकने के लिये पहला अधिनियम पास हुआ, जिसके अनुसार विवाह के समय कन्या की आयु कम-से-कम 10 वर्ष होनी चाहिये थी। इसके बाद सन् 1891 में दूसरा अधिनियम पास किया गया जिसके अनुसार विवाह के समय लड़की की आयु कम-से-कम 12 वर्ष होनी चाहिये थी। पर इस सम्बन्ध में विशेष उल्लेखनीय अधिनियम राय हरविलास शारदा की सिफारिशों के फलस्वरूप सन् 1929 में पास हुआ। इसे 'बाल-विवाह अवरोध अधिनियम' (The Child Marriage Restraint Act, 1929) या संक्षेप में 'शारदा ऐक्ट' (Sharda Act) कहते हैं। इसके विषय में हम अध्याय 22 में विस्तारपूर्वक विवेचना करेंगे। यहाँ केवल इतना कह देना पर्याप्त होगा कि इस कानून के अन्तर्गत विवाह के समय कन्या की आयु कम-से-कम 15 वर्ष और वर की आयु 18 वर्ष होना जरूरी है। अब भारत सरकार द्वारा बाल-विवाह अवरोध (संशोधन) अधिनियम 1978 के द्वारा इस अधिनियम को संशोधित कर दिया गया है जिसके अनुसार विवाह की न्यूनतम आयु कन्या के लिये 18 वर्ष तथा वर के लिये 21 वर्ष होना अनिवार्य है।

कानूनी प्रतिकारों की विफलता के कारण

(Causes of the Failure of Legal Remedies)

सरकार की ओर से कानून पास हो जाने के बाद भी भारतवर्ष में बाल-विवाहों की संख्या प्रायः पूर्ववत् ही बनी रही। इसके निम्नलिखित कारण हैं—

1. पुलिस को कोई अधिकार नहीं—सन् 1929 के बाल-विवाह अधिनियम की सबसे प्रमुख दुर्बलता यह है कि पुलिस इस प्रकार के विवाह का अपने-आप

चालान नहीं कर सकती। ऐसा करने से पहले उसे अदालत से आज्ञा प्राप्त करनी पड़ती है जिसके प्राप्त करने तक विवाह हो चुकता है।

2. विवाह हो-जाने के बाद वह अवैध नहीं हो सकता—उपर्युक्त अधिनियम की दूसरी दुर्बलता यह है कि एक बार किसी भी रूप से विवाह हो-जाने के पश्चात् उसे फिर अवैध करार नहीं दिया जा सकता। इसीलिये लोग इस कानून से प्रायः बिल्कुल नहीं डरते हैं।

3. एक वर्ष के पश्चात् कोई कार्यवाही सम्भव नहीं—उपर्युक्त अधिनियम की तीसरी दुर्बलता यह है कि एक साल बीत जाने पर अदालत इस सम्बन्ध में कोई भी शिकायत नहीं सुनेगी। इससे भी कानून का प्रभाव अत्यधिक घट गया है।

4. दण्ड देने की समुचित व्यवस्था नहीं—इस अधिनियम के अन्तर्गत जो दण्ड विद्यमान है उसका भी उचित ढंग से प्रयोग नहीं किया जाता और प्रायः इस अधिनियम को तोड़ने वाले बिना किसी प्रकार की सजा पाये ही छूट जाते हैं। इस कारण भी बाल-विवाह पर कोई विशेष रोक नहीं हो पाती।

5. गाँव में संगठन का अभाव—भारतवर्ष में ऐसे विवाह अधिकतर गाँव में ही होते हैं, पर गाँव में बाल-विवाह को रोकने के लिये सरकार की ओर से कोई भी संगठित व्यवस्था नहीं है, इसलिये अधिकतर गाँववासियों को इस अधिनियम के सम्बन्ध में कुछ पता नहीं है।

6. शिक्षा का अभाव—वास्तविकता तो यह है कि कोई भी कानून बिना शिक्षा के सफल नहीं हो सकता और भारतवर्ष में विशेषकर गाँवों में शिक्षा का नितान्त अभाव है, जिसके कारण बाल-विवाह के दोषों को जनता अनुभव ही नहीं कर पाती।

7. प्रचार का अभाव—कानून को प्रभावशाली बनाने के लिये प्रचार की भी आवश्यकता होती है, पर भारत में इस सम्बन्ध में न तो सरकार की ओर से और न ही समाज-सुधारकों की ओर से कोई विशेष प्रयत्न हुए हैं।

8. धार्मिक विश्वास—आज भी भारतवर्ष में, विशेषकर गाँवों में, धर्म और परम्परा का काफी महत्व है और चूँकि बाल-विवाह के अन्तर्गत धार्मिक तत्व और शास्त्रों की अनुमति भी सम्मिलित है, इस कारण इस देश के लोगों के लिये धर्म के नियमों की अपेक्षा कानूनी अधिनियम को तोड़ना अधिक सरल है।

अतः स्पष्ट है कि, एक ओर, अधिनियम के अनेक दोष होने से और दूसरी ओर सामाजिक परिस्थितियाँ बाल-विवाह के अनुकूल होने से भारत में कानूनी प्रतिकार सफल नहीं हो पाये। परन्तु वर्तमान परिवर्तित सामाजिक अवस्थाओं के कारण कम-से-कम शहरों में तो बाल-विवाह कम होते जा रहे हैं। ये बदली परिस्थितियाँ निम्न हैं—

बाल-विवाह के प्रतिकूल सामाजिक परिस्थितियाँ (Social Conditions Unfavourable to Child Marriage)

1. आधुनिक शिक्षा और पाश्चात्य मूल्य (Modern education and western values)—आधुनिक शिक्षा और पाश्चात्य संस्कृति के मूल्यों के प्रसार के कारण बाल-विवाह के प्रतिकूल वातावरण उत्पन्न होता जा रहा है। आज शिक्षित व्यक्ति अपनी लड़की या लड़के का विवाह बाल्यावस्था में करना पसन्द नहीं करते हैं। साथ ही आजकल युवक और युवतियाँ शिक्षा लेते समय-उसके रास्ते में विवाह सम्बन्धी रुकावट को महन नहीं करते हैं।

2. संयुक्त परिवार का विघटन (Disintegration of joint family)—नगरों और कुछ सीमा तक गाँवों में भी आज संयुक्त परिवार का विघटन हो रहा है, जिसके कारण बाल-विवाह को आज उतना बल नहीं मिल पा रहा है जितना पहले मिलता था।

3. महिला-आन्दोलन (Feminist movement)—आधुनिक महिला-आन्दोलनों ने स्त्रियों की दशा में काफी सुधार किया है, जिससे स्त्रियों की ओर से ही बाल-विवाह के विरुद्ध क्रियात्मक आवाज उठने लगी है और शिक्षित वर्ग में यह प्रायः समाप्त हो चुका है।

4. वर-मूल्य-प्रथा का उग्र रूप (Abnormal bridegroom price system)—वर्तमान समय में धन का महत्व बढ़ने के साथ-साथ वर-मूल्य-प्रथा ने भी उग्र रूप धारण कर लिया है जिससे जल्दी विवाह सम्भव ही नहीं हो पाता है। इस कारण लड़के-लड़कियों को शिक्षित करने की बात ही पहले सोची जाती है। लड़की शिक्षित होने पर कम वर-मूल्य लगेगा और लड़के के शिक्षित होने पर अच्छी नौकरी लगेगी और इस प्रकार ऊँचा वर-मूल्य प्राप्त होगा, इस उद्देश्य से आज लड़के और लड़की, दोनों के ही माता-पिता उन्हें शिक्षित करने का प्रयत्न पहले करते हैं। इस प्रकार विवाह देर से होने लगे हैं।

5. व्यक्तिवाद (Individualism)—आज व्यक्तिवादिता का विकास भी तेज़ी से हो रहा है। व्यक्तिवादिता के कारण ही कोई भी लड़का या लड़की अपनी जीवन-नैया को माता-पिता की स्वेच्छा के अनुसार अथाह समुद्र में नहीं बहा देना चाहता है और स्वयं अपने व्यक्तिगत चुनाव द्वारा ही अपने जीवन-साथी को चुनना चाहता है। इससे भी विवाह की आयु बढ़ती जा रही है।

6. व्यक्तिगत गुणों का महत्व (Importance of individual qualities)—आज वर्तमान युग में व्यक्तिगत गुणों का महत्व दिन-प्रतिदिन बढ़ता जा रहा है। आज एक व्यक्ति का स्थान उसके परिवार के आधार पर नहीं, बल्कि उसके व्यक्तिगत गुणों के आधार पर ही निश्चित होता है। ऐसी परिस्थिति में, विवाह करने से पूर्व, प्रत्येक लड़का या लड़की अपने व्यक्तिगत गुणों को विकसित करना चाहते हैं।

7. अन्तर्जातीय विवाहों का प्रसार (Spread of intercaste marriages)—आज समाज-सुधारकों और राज्य की ओर से भी अन्तर्जातीय विवाह को प्रोत्साहित करने का प्रयत्न किया जा रहा है। इस कारण माता-पिता के दिल में अपनी लड़कियों के भविष्य में विवाह करने के सम्बन्ध में यह भय नहीं है जोकि पहले था। इस कारण भी जल्दी विवाह का पक्ष नहीं लिया जाता है।

(3) विधवा-विवाह (Widow-Marriage)

हिन्दू-विवाह से सम्बन्धित दूसरी समस्या विधवा-विवाह की है। हिन्दुओं में विवाह के सम्बन्ध में जितने प्रतिबन्ध हैं उनमें से एक प्रतिबन्ध यह भी है कि एक स्त्री अपने पति की मृत्यु के बाद पुनर्विवाह नहीं कर सकती जबकि पुरुषों के लिये ऐसा कोई प्रतिबन्ध नहीं है।

विभिन्न युगों में विधवा-विवाह

(Widow-Marriage in Different Ages)

वैदिक ग्रन्थों के अध्ययन से पता चलता है कि वैदिक काल में विधवा-विवाह का प्रचलन था। विधवायें अपने देवर या अन्य व्यक्ति के साथ विवाह कर सकती थीं या 'नियोग' के द्वारा केवल एक लड़के को प्राप्त करने के लिए अन्य व्यक्तियों से यौन-सम्बन्ध स्थापित कर सकती थीं। लेकिन महाकाव्य के काल से विधवा-विवाह पर निषेध लागू हो गया। स्मृतिकाल की श्रुतियों से ज्ञात होता है कि दो परिस्थितियों में विधवायें पुनर्विवाह कर सकती थीं : एक तो जब एक युवती को बिना विवाह-संस्कार के कोई बलपूर्वक उठा ले गया हो या विवाह के बाद यौन-सम्बन्ध होने से पहले ही, पति की मृत्यु हो गई हो। इसके अतिरिक्त उस काल में बाल-विधवाओं के विवाह की भी आज्ञा थी। पर धीरे-धीरे यह प्रथा भी समाप्त हो गई। जैन और बौद्ध धर्म के काल में इस सम्बन्ध में नियम काफी कठोर हो चुके थे और मुसलमानों के राज्य-स्थापना के बाद तो विधवाओं के पुनर्विवाह के निषेध चरम सीमा तक पहुँच गए। भारत में इस समय प्रायः 2-92 करोड़ विधवायें हैं।

विधवा-विवाह के प्रतिकूल परिस्थितियों के कारण

(Causes of Unfavourable Conditions of Widow-Marriage)

उपरोक्त विवेचना से स्पष्ट है कि भारतवर्ष में सामाजिक परिस्थितियाँ ही विधवाओं के पुनर्विवाह पर रोक लगाती हैं। हिन्दू-समाज में विधवाओं के पुनर्विवाह के सम्बन्ध में जो निषेध पाए जाते हैं उनके कुछ सामाजिक और धार्मिक कारण हैं, जिनमें से निम्नलिखित प्रमुख हैं—

1. कन्यादान का आदर्श (Ideal of Kanyadan)—विधवा-विवाह के निषेध प्रमुख रूप से कन्यादान के आदर्श पर आधारित हैं। कन्यादान की धारणा के अनुसार, पिता अपनी लड़की या कन्या को विवाह में एक पुरुष को विधिवत् दान कर देता है और कोई व्यक्ति किसी वस्तु का दान एक बार ही कर सकता है। जो व्यक्ति उस दान को ग्रहण करता है उसका अधिकार उस वस्तु पर उसकी मृत्यु के बाद भी बना रहता है। इस कारण एक बार दान में दिया गया, एक कन्या का दान, फिर कैसे हो सकता है? इस कारण कन्या का दोबारा विवाह नहीं हो सकता।

2. पवित्रतावादी धारणा (Idea of sacredness)—हिन्दू-धर्म पर जैन, बौद्ध और इस्लाम आदि धर्मों का आक्रमण एक के बाद दूसरा होता ही गया। इसके फल-स्वरूप ब्राह्मण अपनी सामाजिक स्थिति की रक्षा के लिये पवित्रता की धारणा को उत्तरोत्तर बढ़ा करते गए। पवित्रतावादी इन धारणाओं का विस्तार अनेक सामाजिक निषेधों के रूप में हुआ जिनमें विधवा-विवाह पर निषेध एक था।

3. धार्मिक और सामाजिक निषेध के प्रति श्रद्धा (Regard for religious and social prohibitions)—चूँकि ब्राह्मणों ने विधवा-विवाह के निषेध को धार्मिक आवरण पहना दिया था और चूँकि वह एक धार्मिक तथा सामाजिक प्रथा के रूप में चल पड़ा था, इस कारण उसका विरोध साधारणतया नहीं किया जाता। साथ ही उस समय स्त्रियों के सतीत्व की रक्षा पर भी अधिक बल दिया जाता था जिसके कारण एक पति के अतिरिक्त किसी अन्य व्यक्ति से यौन-सम्बन्ध स्थापित करना उचित नहीं समझा जाता था।

4. रक्त की शुद्धता पर बल (Emphasis on purity of blood)—मुसलमानों के आ जाने के बाद हिन्दुओं में रक्त की शुद्धता को बनाये रखने की समस्या काफ़ी गम्भीर हो गई जिसके कारण स्त्रियों पर सामाजिक प्रतिबन्ध और भी कठोर कर दिये गए क्योंकि हिन्दू स्त्रियों से यहाँ तक कि विधवाओं से भी विवाह करने में मुसलमान पीछे नहीं हटते थे। इस कारण एक ओर बाल-विवाह का प्रचलन बढ़ता गया और दूसरी ओर विधवाओं की पुनर्विवाह-सम्बन्धी रोक कठोर होती गई।

5. भाग्यवादिता (Fatalism)—स्वभाव से ही भारतवासी भाग्यवादी हैं। भाग्य पर अन्धविश्वास के कारण भी विधवाओं से विवाह करना उचित नहीं समझा गया क्योंकि ऐसा विश्वास किया जाता है कि विधवा अभागिन होती है और उसके दुर्भाग्य से ही उसके पति की मृत्यु हुई है। अगर दूसरा कोई व्यक्ति ऐसी विधवा से विवाह करेगा तो विधवा का दुर्भाग्य उसे भी प्रभावित कर सकता है। इस डर से विधवा से कोई विवाह करने को कोई तैयार नहीं होता।

6. जन्म-जन्मान्तर के बन्धन की धारणा (Concept of eternal bond)—पुराणों, महाकाव्यों आदि के द्वारा इस बात का प्रचार किया गया कि पति-पत्नी का सम्बन्ध स्वर्ग में भगवान् द्वारा निर्धारित होता है। यह जन्म-जन्मान्तर का बन्धन होता है। ऐसे में उन दोनों व्यक्तियों के बीच तीसरे व्यक्ति का स्थान कहाँ ?

7. स्त्रियों की शिक्षा का अभाव (Lack of female education)—स्त्रियों की शिक्षा के अभाव के कारण भी विधवा-विवाह के प्रतिकूल परिस्थिति बनी रही। चूँकि भारतवर्ष में अधिकतर स्त्रियाँ अनपढ़ हैं, इस कारण एक ओर से धर्म तथा शास्त्रों के पंजों में फँसी रही और दूसरी ओर सामाजिक सुधार-आन्दोलन भी शक्तिशाली नहीं हो पाया।

8. आर्थिक निर्भरता (Economic dependency)—स्त्रियों की परिवार पर आर्थिक निर्भरता अत्यधिक होने के कारण भी विधवा-विवाह को प्रोत्साहन नहीं मिल सका। स्त्रियों तब तक विधवा-विवाह के लिये तैयार नहीं हो सकतीं जब तक कि उन्हें शिक्षा तथा आर्थिक स्वतन्त्रता प्राप्त न होगी।

विधवा-विवाह के लिये अनुकूल परिस्थितियाँ

(Favourable Conditions for Widow-Marriage)

1. आर्य समाज तथा ब्रह्म समाज के प्रयत्न (Efforts made by Arya Samaj and Brahma Samaj)—इन दो संस्थाओं ने विधवा-विवाह को प्रोत्साहित करने में प्रशंसनीय प्रयास किये। राजा राममोहन राय तथा ईश्वरचन्द्र विद्यासागर के नाम इस सम्बन्ध में उल्लेखनीय हैं। आर्य समाज ने यह प्रचार किया कि वैदिक काल में विधवाओं के विवाह होते थे, इस कारण ऐसे विवाह शास्त्रानुकूल हैं।

2. स्त्री आन्दोलन (Feminist movement)—स्त्रियों की सामाजिक स्थिति में सुधार हो जाने से, और साथ ही उनको आर्थिक स्वतन्त्रता व सामाजिक मामलों में पुरुषों के समान अधिकार प्राप्त हो जाने से भी, विधवा-विवाह के सम्बन्ध में अनुकूल परिस्थितियाँ उत्पन्न हो रही हैं।

3. शिक्षा का प्रसार (Spread of education)—शिक्षा का प्रसार होने से युवक-युवतियों में विवाह-सम्बन्धी संकीर्णता दूर हो गई और मानवीय दृष्टिकोण से अनेक प्रगतिशील युवक विधवाओं से विवाह करने को राजी हो जाते हैं।

4. सामाजिक गतिशीलता और धर्म का कम महत्व (Social Mobility)

and lesser importance of religion)—वर्तमान समय में सामाजिक गतिशीलता बढ़ जाने से लड़के-लड़कियों को एक-दूसरे के निकट आने का और एक-दूसरे की समस्याओं को समझने का मौका मिला है। साथ ही, धर्म का महत्व घटने से विधवा-पुनर्विवाह के सम्बन्ध में जो धार्मिक कठिनाइयाँ थीं, वह दूर हो गईं, जिससे विधवा-विवाह के प्रति अनुकूल परिस्थितियाँ उत्पन्न हो रही हैं।

विधवा-विवाह के सम्बन्ध में वैधानिक सुविधाएँ

(Legal Facilities in regard to Widow-Marriage)

राजा राममोहन राय, ईश्वरचन्द्र विद्यासागर और साथ ही अन्य समाज तथा ब्रह्म समाज के प्रयत्नों से सरकार का ध्यान भी विधवा-विवाह की समस्या की ओर आकर्षित हुआ, जिसके फलस्वरूप सरकार भी इस ओर प्रयत्नशील हुई। विधवा-विवाह के निषेध विशेषकर ऊँची जातियों में हैं और इस सम्बन्ध में विधवाओं की दो विशेष नियोग्यताएँ थीं—(1) पुनर्विवाह-सम्बन्धी नियोग्यता, और (2) मृत पति की सम्पत्ति में अधिकार-सम्बन्धी नियोग्यता। इन दो नियोग्यताओं को सरकार की ओर से दो अधिनियमों के द्वारा दूर करने का प्रयत्न किया गया। ये अधिनियम निम्न हैं—

(क) हिन्दू विधवा-पुनर्विवाह अधिनियम, सन् 1856 (Hindu Widow-Remarriage Act, 1856)—विधवाओं की पुनर्विवाह-सम्बन्धी नियोग्यताओं को दूर करने के लिये यह अधिनियम सन् 1856 में पास किया गया। इसके अनुसार विधवाओं की पुनर्विवाह-सम्बन्धी कानूनी अड़चनों को दूर किया गया। इस अधिनियम की विवेचना हम अध्याय 22 में करेंगे।

(ख) हिन्दू उत्तराधिकार अधिनियम, सन् 1956 (The Hindu Succession Act, 1956)—इस अधिनियम के पास हो जाने के फलस्वरूप अब परिस्थिति यह है कि विधवा पत्नी को अपने पति की सम्पत्ति पर सीमित नहीं अपितु पूर्ण अधिकार प्राप्त हो गया है। अब वह जिस प्रकार चाहे अपने हिस्से की सम्पत्ति का उपभोग कर सकती है। सन्तान न होने की दशा में पति की समस्त सम्पत्ति पर विधवा का अधिकार होता है। अगर वह विधवा पुनर्विवाह कर लेती है तो पति की सम्पत्ति पर उसका अधिकार समाप्त हो जाता है और वह सम्पत्ति पति के परिवार को लौट जाती है (विस्तृत विवरण के लिये देखिए अध्याय 22)।

विधवा-पुनर्विवाह के सम्बन्ध में उपर्युक्त सामाजिक तथा वैधानिक पहलुओं की विवेचना से यह स्पष्ट है कि विधवाओं के पुनर्विवाह के सम्बन्ध में काफी अनुकूल परिस्थितियाँ उत्पन्न हो गई हैं, विशेषकर वैधानिक अड़चनें तो अब रही ही नहीं। फिर भी आज विधवा-विवाह अधिक संख्या में नहीं होता। बम्बई जैसे प्रगतिशील क्षेत्र में साल में केवल 100-200 विधवाओं का पुनर्विवाह होता है। दूसरे शब्दों में, इस सम्बन्ध में अभी बहुत-कुछ होना बाकी है।

विधवा-विवाह का नैतिक औचित्य

(Ethical Justification of Widow-Marriage)

प्रायः यह प्रश्न किया जाता है कि नैतिक दृष्टिकोण से विधवा-विवाह क्या उचित है? नैतिक दृष्टिकोण से भी अगर देखा जाये तो स्पष्ट है कि विधवा-पुनर्विवाह से अनेक नैतिक लाभ हैं और साथ ही अनेक सामाजिक बुराईयाँ भी दूर हो जाने की सम्भावना है। विधवा-विवाह के नैतिक औचित्य निम्नलिखित हैं—

1. विधवाओं की दयनीय अवस्था (Pathetic condition of widows) —

आज भी हिन्दू समाज में, पति की मृत्यु पत्नी के विगत जीवन के पापों का परिणाम समझी जाती है। जीवन-भर वैधव्य को भोगना ही काफी सजा है, इस पर भी जब समाज उससे यह मांग करता है कि वह नारी जीवन की समस्त आशा और भावनाओं की बलि दे दे तब उसकी अवस्था वास्तव में दयनीय हो जाती है। विशेषकर बाल-विधवाओं की अवस्था सचमुच ही मर्मस्पर्शी है। वे 'विधवा' शब्द के अर्थ को समझने से पूर्व ही विधवा हो जाती हैं और उनसे यह आशा की जाती है कि उसी दिन से वे अपनी समस्त इच्छा, कामना और वासना को त्यागकर पत्थर की भाँति हो जाएँ। उन्हें अच्छे कपड़े पहनने तक का अधिकार नहीं और न ही आभूषण या अन्य किसी सुहाग की चीज को ही पहनने का अधिकार है। आजीवन दूसरों की गृहस्थी और बच्चों को सम्भालती रहें, पर अपनी एक गृहस्थी और बच्चों की बात सोचना भी उनके लिये अक्षम्य अपराध है। वे परिवार पर बोझ हैं और इस धारणा के कारण वे सभी के कटु-व्यवहार को सहन करती हैं। बातों के ताने, व्यवहारों की तीक्ष्णता और किसी से न कहने योग्य मर्मपीड़ा ही उनके जीवन की एकमात्र साथी हो जाती है। उनके जीवन का अतीत धुँधला है, वर्तमान असहनीय तथा भविष्य अन्धकारमय है। उन असहाय नारियों की अन्तर्वेदना को हृदय से अनुभव करने वाला कोई भी नहीं होता। यह न केवल उनके व्यक्तित्व के विकास में ही बाधक है, न केवल उनको आत्मग्लानि देने वाला ही है, बल्कि नैतिक दृष्टिकोण से घोर सामाजिक अन्याय भी है। इस सामाजिक अन्याय के विरुद्ध आवाज उठाने की आवश्यकता है। इस कारण विधवा-पुनर्विवाह को भी उचित मानना होगा।

2. अनुचित यौन-सम्बन्ध को रोकने के लिये (To check illicit sex relations)—पहले सती-प्रथा के द्वारा समाज विधवाओं की समस्या से छुटकारा पा लेता था, परन्तु आज सती-प्रथा के समाप्त होने के बाद विधवाओं की समस्या बहुत गम्भीर हो चुकी है। इनके पुनर्विवाह पर निषेध अनुचित यौन-सम्बन्धों को प्रोत्साहित करता है। प्राकृतिक नियम के अनुसार ही यौन-सम्बन्धी वासनाएँ प्रत्येक पूर्णवयस्का युवती में होती हैं और जब उन्हें जबरदस्ती दबा देने का प्रयत्न किया जाता है तो यौन-सम्बन्धी अपराध को केवल प्रोत्साहन देना ही होता है। अगर ऐसे अपराधों को समाप्त करना है तो विधवा-पुनर्विवाह को भी नैतिक दृष्टिकोण से उचित मान लेना होगा।

3. वेश्यावृत्ति तथा धर्म-परिवर्तन को रोकने के लिए (To check prostitution and religious conversion)—स्वाभाविक यौन-प्रवृत्तियों को दबा न सकने के कारण विधवाएँ प्रायः अनुचित यौन-सम्बन्ध स्थापित कर लेती हैं और चूँकि समाज ऐसे कार्यों को कभी मान्यता नहीं देता, इस कारण प्रायः उन विधवाओं का समाज से बहिष्कार हो जाता है और जीविका-पालन का अन्य कोई रास्ता न देखकर वे वेश्यावृत्ति को अपनाती हैं या धर्म-परिवर्तन के द्वारा अपने जीवन को फिर से बसाने का प्रयत्न करती हैं। यह मानी हुई बात है कि वेश्या वर्ग में नई भक्तियाँ अधिकतर गरीब और मध्यम श्रेणी की विधवाओं की ही होती हैं। इन परिस्थितियों से उत्पन्न सामाजिक बुराइयों को अगर रोकना है तो विधवा-विवाह को प्रोत्साहित करना होगा।

4. विधवाओं के व्यक्तित्व के विकास के लिए (To develop the personalities of widows)—परिवार में विधवाओं की अवस्था बहुत ही दयनीय है। उनको इन परिवारों में जिन परिस्थितियों के बीच रहना पड़ता है उनमें रहते हुए उनके व्यक्तित्व का विकास किसी भी अवस्था में सम्भव नहीं। यह सामान्यतः प्रजातन्त्र नैतिक सिद्धान्त के विरुद्ध है कि समाज के एक बड़े अंग को उनके व्यक्तित्व के विकास का कोई भी अवसर न दिया जाये। इस दृष्टिकोण से भी विधवा-विवाह उचित है।

5. विधवाओं के बच्चों को बरबादी रोकने के लिए (To check widow's children going astray)—अगर विधवा के बच्चे हैं तो उनके भविष्य पर बहुत बुरा प्रभाव पड़ता है। जिन परिस्थितियों के मध्य माता का जीवन ही दुःखद और आशाविहीन है वहाँ उसके बच्चों का जीवन कितना अन्धकारमय होगा, इसका अनुमान सरलता से लगाया जा सकता है। राष्ट्र के भविष्य और इन बच्चों के जीवन की बरबादी को रोकने के लिये भी विधवा-पुनर्विवाह नैतिक आधार पर उचित है।

6. विधवाएँ परिवार पर ही नहीं, राष्ट्र पर भी बोझ हैं (Widows are a burden, not only on family but also on nation)—जिन परिस्थितियों में विधवाएँ आज निवास कर रही हैं उन परिस्थितियों में उनके जीवन में सम्मान की तो झलक भी नहीं दिखाई देती। यह प्रत्येक समाज का और उस समाज के प्रत्येक सदस्य का नैतिक कर्तव्य है कि इन विधवाओं को, परिवार और समाज पर बोझ न बनाकर, उपयोगी सदस्यों में बदल दें। यह काम विधवा-पुनर्विवाह के द्वारा सरलता से हो सकता है।

7. यह समस्या समाज के एक बड़े अंग की है (This problem involves a large section of society) — विधवाओं की यह समस्या दो-चार हजार नारियों की समस्या नहीं, बल्कि प्रायः 2 करोड़ 92 लाख विधवाओं की है। समाज के इतने बड़े अंग को नियोग्यताओं के अन्धकार में डाले रखना उचित नहीं है। समाज, जाति या राष्ट्र की उन्नति के दृष्टिकोण से इस बड़ी संख्या को उपयोगी बना देना जरूरी होगा। अगर प्रयत्न किया जाये तो जो आज निकम्मे और बेकार समझे जाते हैं, उनके द्वारा ही राष्ट्र को अनेक लाभ हो सकते हैं। इस दृष्टिकोण से विधवा-पुनर्विवाह उचित ही नहीं, अपितु आवश्यक है।

(4) विवाह-विच्छेद (Divorce)

विवाह-विच्छेद का अर्थ (Meaning of divorce)—विवाह-विच्छेद वैवाहिक सम्बन्धों का वैधानिक अन्त है, यद्यपि यह अन्त बहुधा अदालत के हेस्तक्षप के बिना भी हो जाता है। दूसरे शब्दों में, विवाह-विच्छेद के द्वारा पति-पत्नी के वैवाहिक सम्बन्धों का अन्त हो जाता है। विवाह-विच्छेद एक अर्थ में इस बात का द्योतक है कि पति-पत्नी आपस में मिल-जुलकर रहने में असफल हुये हैं और इसी कारण सुखमय पारिवारिक जीवन व्यतीत करने में भी असफल हैं। इस दृष्टिकोण से विवाह-विच्छेद अस्वस्थ वैवाहिक जीवन की चरम गति या स्थिति है।

हिन्दुओं में विवाह-विच्छेद (Divorce among Hindus)—पारसी और मुसलमानों में विवाह-विच्छेद मान्य है, परन्तु हिन्दू कानून के अनुसार ऐसी कोई सुविधा प्राप्त नहीं है। उत्तरकालीन धर्मशास्त्र विवाह-विच्छेद का खण्डन करते हैं, परन्तु पूर्व-कालीन धर्मशास्त्र में विवाह-विच्छेद मान्य था। पाराशर और मनु तक ने कुछ निश्चित

परिस्थितियों में स्त्रियों को विवाह-विच्छेद की आज्ञा दी है। मनु के अनुसार उन्मत्त, पतित और असाध्य रोगों से पीड़ित पति से पत्नी सम्बन्ध-विच्छेद कर सकती है। बौधायन के अनुसार अगर पति का 5 वर्ष तक कोई पता न चले तो स्त्री पति के परिवार या गोत्र के किसी अन्य व्यक्ति से विवाह कर सकती है। कौटिल्य के अनुसार एक स्त्री के लिये विवाह-विच्छेद मान्य है जबकि पति दुश्चरित्र हो, राजद्रोही हो, पत्नी के जीवन को नष्ट कर रहा हो या नपुंसक हो। परन्तु कालान्तर में धीरे-धीरे इन सभी सुविधाओं को स्त्रियों से छीन लिया गया, विशेष रूप से ऊँची जातियों में विवाह-विच्छेद के प्रतिकूल धारणा तेजी से फैलती गई। विवाह-विच्छेद के निषेधों के साथ धार्मिक धारणाओं को भी जोड़ दिया गया। उदाहरणार्थ, विवाह-सम्बन्ध स्वर्ग में निश्चित होता है और इस कारण ईश्वर को ही उसे तोड़ने का अधिकार है। साथ ही, लड़कियों को बचपन से यह शिक्षा दी जाने लगी कि पति देवता है और उसकी सेवा ही पत्नी का परम धर्म है। संक्षेप में, हिन्दुओं में विवाह अभिमन्यु-व्यूह है जिसमें प्रवेश का मार्ग तो है, निकलने का नहीं। पति का स्नेह और प्रेम या केवल 'करुणा' ही अगर प्राप्त हो सकी तो वाह-वाह, नहीं तो आजीवन असह्य वेदना के अश्रु से 'देवता' के चरण-कमल को सींचने का भी सौभाग्य प्राप्त नहीं हो पाता है। हिन्दुओं में विवाह स्वर्ग में स्थिर होता है, इसलिये स्वर्गारोहण के पूर्व उससे कैसे निष्कृति मिल सकती है? सच तो यह है कि यहाँ स्त्रियों के लिए विवाह पवित्र विवाह-बन्धन (holy wedlock) न होकर पवित्र मृत्यु-बन्धन (holy deadlock) ही है।

विवाह-विच्छेद की आवश्यकता (Need for divorce)—प्रायः इस बात में सन्देह किया जाता है कि क्या विवाह-विच्छेद उचित है तथा क्या विवाह-विच्छेद के पक्ष में राय देना उचित होगा? आधुनिक युग में विवाह-विच्छेद की आवश्यकता को अस्वीकार नहीं करना चाहिए, जैसा कि निम्नलिखित कारणों से स्पष्ट है—

1. स्त्रियों की दशा उन्नत करने के लिए (To improve the status of women)—हिन्दू समाज में स्त्रियों की दशा बहुत नीचे स्तर पर है। विवाह-विच्छेद के अधिकार से पूर्णतया वंचित होने के कारण उन पर हर तरह का अत्याचार होता है तथा उनको सहन करने के अतिरिक्त उनके सामने दूसरा कोई रास्ता नहीं होता। इस कारण वे अपनी अवस्था को ऊँचा उठाने की बात सोच भी नहीं सकतीं। विवाह-विच्छेद का अधिकार मिल जाने से उनको अपना आत्मविकास करने की स्वतन्त्रता मिल सकेगी।

2. हिन्दू-विवाह के नियम एक तरफा हैं (Hindu marriage rules are one sided)—हिन्दू-विवाह के नियम एकतरफा हैं और साथ ही विवाह के आदर्शों पर कुठाराघात हैं। पुरुष अपनी पत्नी से असन्तुष्ट होकर दूसरा विवाह कर सकता है या पत्नी को मँके भेज सकता है या घर में ही रखकर उसके ऊपर अत्याचारों द्वारा अपने प्रतिशोध की ज्वाला भी बुझा सकता है, पर स्त्रियों के पास ऐसा कोई भी उपाय नहीं है जिससे यदि उन पर अत्याचार हो रहा है या विवाह बेमेल है या अन्य किसी कारण से पारिवारिक जीवन विषमय है तो वे भी इन अवस्थाओं से किसी प्रकार छुटकारा पा सकें।

3. समानता के सिद्धान्त पर विवाह-विच्छेद उचित है (Divorce is justified on the principle of equality)—आज जबकि सामाजिक, आर्थिक और

राजनीतिक सभी विषयों में स्त्री और पुरुषों में समानता के सिद्धान्त ही प्रगति की कसौटी हैं, तब अगर हिन्दू समाज को भी प्रगतिवादी होना है तो यह आवश्यक है कि विवाह के सम्बन्ध में स्त्री-पुरुषों में समानता को अपनाया जाए, न कि सामाजिक, धार्मिक और नैतिक कानूनों का एक ऐसा बोझ स्त्रियों पर लाद दिया जाए कि वे अपनी स्वतन्त्र सत्ता को उपलब्ध करना ही भूल जाएँ। इस दृष्टिकोण से भी विवाह-विच्छेद उचित है।

4. असुखी वैवाहिक जीवन को सुखी बनाने के लिए (To relieve unhappy married life)—हिन्दू समाज के वैवाहिक जीवन में सामाजिक और धार्मिक कानूनों का ऐसा जाल बिछा है जिसमें रहकर हिन्दू स्त्री दुखी जीवन को सुखी बनाने की बात सोच भी नहीं सकती। चाहे पति अत्याचारी, शराबी, जुआरी, चोर, भ्रष्टाचारी ही क्यों न हो, पत्नी को उसी परिवार में जीवन व्यतीत करना होगा। उसके लिए इन परिस्थितियों से छुटकारा पाने की कोई भी सम्भावना नहीं है। यह वैवाहिक जीवन को सुखी बनाने के दृष्टिकोण से अनुचित है, समानता और प्रजातन्त्र के सिद्धान्त के दृष्टिकोण से अन्याय है और समानता के दृष्टिकोण से स्त्रियों पर एक प्रकार का अत्याचार है।

5. विवाह-विच्छेद गतिशील समाज में आवश्यक है (Divorce is a necessity in dynamic society)—वर्तमान युग में नवीन आविष्कारों और औद्योगीकरण एवं नगरीकरण के फलस्वरूप सामाजिक परिवर्तन की गति अति तीव्र हो गई है। भारतवर्ष में भी औद्योगीकरण और नगरीकरण के फलस्वरूप ऐसी अवस्थाएँ उत्पन्न हो गई हैं कि सभी सामाजिक संस्थाओं और अवस्थाओं में अनेक परिवर्तन हो रहे हैं। इस अवस्था में यदि विवाह जैसी महत्वपूर्ण संस्था अपरिवर्तनीय बनी रहेगी तो सामाजिक विघटन उत्पन्न हो सकता है। इस दृष्टिकोण से भी विवाह-विच्छेद को आवश्यक माना जा सकता है।

विवाह-विच्छेद के विरोध में तर्क और उनका खण्डन

1. विवाह-विच्छेद से अधिक पारिवारिक विघटन होगा (Divorce will increase family disorganization)—विवाह-विच्छेद का विरोध करने वालों का मत है कि विवाह-विच्छेद से पारिवारिक विघटन अधिक होगा। इसमें सन्देह नहीं कि विवाह-विच्छेद के द्वारा परिवार टूट जाता है और कुछ प्रारम्भिक समस्याएँ उत्पन्न हो जाती हैं, पर यही सब-कुछ नहीं है। विवाह-विच्छेद का अधिकार होने पर स्त्रियों पर वे अत्याचार नहीं होंगे जो आज हो रहे हैं। पति और पत्नी को समानता के सिद्धान्त को मान लेना होगा और उनको सहयोग द्वारा मित्रता के आधार पर पारिवारिक जीवन को अधिक सुखी बनाने की भावना जागृत करनी होगी। इसलिए विवाह-विच्छेद द्वारा विवाह-बन्धन टूटने की अपेक्षा अधिक सुद्ध होंगे। रूस में प्रयोगात्मक आधार पर बहुत ही आसान शर्तों पर विवाह-विच्छेद की आज्ञा दी गई थी परन्तु देखा गया कि इस अधिकार के प्राप्त होने के बाद पारिवारिक सम्बन्ध और भी दृढ़ हो गया।

2. विवाह-विच्छेद से स्त्रियों के सम्मुख आर्थिक समस्याएँ खड़ी हो जाएंगी (Women will face economic hardship)—विरोधियों का कथन है कि चूँकि भारतवर्ष में स्त्रियाँ अधिक शिक्षित नहीं हैं और न ही आर्थिक मामले में आत्मनिर्भर,

इसीलिए विवाह-विच्छेद के बाद स्त्रियों के सम्मुख अपने भरण-पोषण की समस्या खड़ी हो जाएगी। जब तक ऐसी स्त्रियों के पुनर्विवाह या आर्थिक आश्रय का प्रबन्ध न हो तब तक उन्हें विवाह-विच्छेद से हानि ही होगी। लेकिन स्त्रियों की शिक्षा और आर्थिक आत्मनिर्भरता की समस्या विवाह-विच्छेद से पृथक् है। विवाह-विच्छेद के अधिकार को न देने से अगर स्त्रियों का शिक्षित और आत्मनिर्भर होना सम्भव हो जाए तो विवाह-विच्छेद का विरोध ठीक भी है। लेकिन विवाह-विच्छेद के विरोध से ऐसी कोई सम्भावना नहीं है; पृथक् समस्या को अलग से सुलझाना ही उचित होगा।

3. विवाह-विच्छेद से सन्तानों के पालन-पोषण की समस्या गम्भीर हो जाएगी (Divorce will create the problem of the upbringing of children)—इसमें कोई सन्देह नहीं कि विवाह-विच्छेद के बाद सन्तानों के लालन-पालन की समस्या आ खड़ी होती है और बहुधा बच्चे बिगड़ जाते हैं। स्टेट नर्सरी (state nursery) की उचित व्यवस्था और साथ ही समानता के आधार पर बच्चों को बोर्डिंग हाउस (boarding house) में रखकर सरकार की ओर से शिक्षा का प्रबन्ध हो जाने से यह समस्या हल हो सकती है। विदेशों में इस सम्बन्ध में व्यवस्था इस रूप में है कि विवाह-विच्छेद के बाद बच्चा माता के संरक्षण में रहता है और पिता उसके पालन-पोषण का खर्च देता है। रूस में भी माता-पिता में जो अधिक योग्य होता है उसके संरक्षण में बच्चे को रखा जाता है। जहाँ बच्चा अपनी इच्छा को प्रकट कर सकता है वहाँ उसकी इच्छा का ध्यान रखना उचित होगा।

विवाह-विच्छेद के सम्बन्ध में कुछ आवश्यक सतर्कता
(Some Precautions in granting Divorce)

(1) विवाह-विच्छेद का अधिकार कुछ गम्भीर और न टाली जा सकने वाली परिस्थितियों में ही देना उचित होगा।

(2) विवाह-विच्छेद के पक्ष में स्वस्थ जनमत को जागृत करना बहुत आवश्यक है जिससे इस अधिकार का दुरुपयोग न हो।

(3) स्त्रियों को आर्थिक आत्मनिर्भरता प्राप्त न होने तक कानून के द्वारा उनके आर्थिक हितों की रक्षा करनी होगी, नहीं तो विवाह-विच्छेद से वेश्यावृत्ति को प्रोत्साहन मिल सकता है।

(4) बच्चों के लालन-पालन सम्बन्धी हितों की भी कानूनों के द्वारा पूर्णरूप से रक्षा करनी होगी। पिता को बच्चे के समस्त खर्च को बरदाश्त करना होगा और बच्चे को माता के संरक्षण में रखना ही उचित होगा बशर्ते कि माता चरित्रहीन न हो।

एक गतिशील व प्रगतिशील समाज के लिए विवाह-विच्छेद की आवश्यकता को अस्वीकार नहीं किया जा सकता। पर इस सम्बन्ध में उपरोक्त आवश्यक सतर्कता को बर्तना भी जरूरी है। इन सब बातों को ध्यान में रखते हुए ही 'हिन्दू विवाह अधिनियम, 1955' पास किया गया है। इस कानून के द्वारा न केवल हिन्दू-विवाह की शर्तों को स्पष्ट कर दिया गया है, अपितु न्यायिक पृथक्करण (judicial separation) तथा विवाह-विच्छेद (divorce) की अनुमति भी कुछ निश्चित आधारों पर दी गई है। इस अधिनियम व उसके प्रभाव के बारे में हम अगले एक अध्याय में विस्तार-

पूर्वक विवेचना करेंगे। यहाँ केवल इतना कह देना ही पर्याप्त होगा कि इस अधिनियम ने युग की एक महत्वपूर्ण माँग की पूर्ति कर दी है।

विवाह से सम्बद्ध आधुनिक परिवर्तन या प्रवृत्तियाँ

(Modern Changes or Trends in Marriage)

भारत में विवाह का परम्परागत रूप अनेक प्रकार के नियमों तथा निषेधों से घिरा हुआ है। परन्तु आज जैसाकि हम अध्याय 18 में विस्तारपूर्वक लिख चुके हैं, औद्योगीकरण, नगरीकरण, पाश्चात्य विचार, शिक्षा विशेषकर स्त्री-शिक्षा के प्रसार, राजनीतिक व सामाजिक सुधार-आन्दोलन आदि के फलस्वरूप सामाजिक संरचना व संस्थाओं में और साथ-ही-साथ विचार, जीवन-दर्शन आदि में क्रान्तिकारी परिवर्तन होते जा रहे हैं। इन सबका प्रभाव हिन्दू-विवाह-संस्था पर भी पड़ा है और विवाह के सम्बन्ध में कुछ नए झुकाव या प्रवृत्तियाँ पनप गई हैं संक्षेप में वे प्रवृत्तियाँ इस प्रकार हैं—

1. **विलम्ब विवाह (Late-marriage)**—बाल-विवाह के दुष्परिणामों के सम्बन्ध में हिन्दुओं में जागरूकता शीघ्रता से बढ़ती जा रही है। इसलिए बाल-विवाह के पक्ष में भी लोगों का झुकाव कम हो रहा है। चूँकि आज लड़के पढ़ी-लिखी पत्नी चाहते हैं और अपने पैरों पर खड़े न होने तक विवाह का विरोध करते हैं और चूँकि आज लड़कियों में भी शिक्षा प्राप्त करके अपने व्यक्तित्व को विकसित करने तथा अपने अधिकारों को समझने की प्रवृत्ति बढ़ रही है इस कारण बाल-विवाह का विरोध अब किया जाता है और विवाह की उम्र बढ़ती जा रही है। विलम्ब-विवाह के अन्तर्गत अब लड़कों का विवाह 25 और 30 वर्ष की आयु के बीच तथा लड़कियों का विवाह 20 और 25 वर्ष की आयु के बीच होता है और इस आयु को विवाह के लिए आदर्श मानने की प्रवृत्ति बढ़ती जा रही है। आज यह अनुभव किया जा रहा है कि विलम्ब-विवाह से दम्पतियों के स्वास्थ्य की रक्षा, स्वस्थ सन्तान, लड़कों व लड़कियों के व्यक्तित्व के विकास में सुविधा तथा योग्य जीवन-साथी चुनने में सहायता मिलती है।

2. **विधवा-पुनर्विवाह (Widow-remarriage)**—विवाह से सम्बद्ध एक और आधुनिक प्रवृत्ति विधवा-पुनर्विवाह की है। आज सामाजिक व नैतिक दोनों ही दृष्टियों से यह अनुभव किया जाता है कि विधवाओं का भी पुनर्विवाह होना चाहिए, विशेषकर उन विधवाओं का जो कम आयु में विधवा हो गई हैं। उनके व्यक्तित्व के विकास के लिए, अनैतिक व्यभिचार को रोकने के लिए, उनके बच्चों को अनाथ होने से बचाने के लिए और विधवाओं को भी राष्ट्र के उपयोगी नागरिक बनाने के लिए विधवा-पुनर्विवाह उचित है, यह धारणा हिन्दुओं में धीरे-धीरे पनप रही है।

3. **दहेज का विरोध (Opposition of dowry)**—आज दहेज या सही अर्थ में वर-मूल्य-प्रथा का भी विरोध किया जा रहा है। लड़के व लड़कियों में, विशेषकर शिक्षित लोगों में, यह भावना पनप रही है कि दहेज जैसी सामाजिक प्रथा का अन्त होना ही चाहिए। यद्यपि इस प्रथा का प्रचलन आज भी कम नहीं हुआ है फिर भी प्रवृत्ति इसके पक्ष में नहीं है।

4. **विवाह-विच्छेद के प्रति झुकाव (Favourable attitude towards divorce)**—पहले कोई भी हिन्दू, विशेषकर हिन्दू स्त्री, विवाह-विच्छेद की कल्पना भी नहीं करती थी और विवाह-बन्धन को आजीवन का बन्धन मान लिया जाता था।

पर अब इस प्रवृत्ति में परिवर्तन हो रहा है और आवश्यकता पड़ने पर, विवाह-विच्छेद बुरा नहीं है, यह प्रवृत्ति दिन-प्रतिदिन प्रबल होती जा रही है। ऐसा इसलिए हो रहा है कि विवाह-विच्छेद की आवश्यकता कुछ विशेष परिस्थितियों में हो सकती है, यह आज अनुभव किया जा रहा है। इस सम्बन्ध में हमने इसी अध्याय में विस्तारपूर्वक विवेचन किया है।

5. अन्तर्जातीय विवाह (Intercaste marriage)—विवाह के सम्बन्ध में एक कान्तिकारी प्रवृत्ति जीवन-साथी के चुनाव के मामले में जातीय बन्धन को तोड़ना या अन्तर्विवाह के नियमों का न मानना है। आज अन्तर्जातीय विवाह के प्रति लोगों का झुकाव बढ़ रहा है। अब हम इसी प्रकार के विवाह के सम्बन्ध में विस्तारपूर्वक विवेचना करेंगे।

अन्तर्जातीय विवाह (Intercaste Marriage)

धर्मशास्त्रों के अनुसार, प्रत्येक हिन्दू को अपनी जाति के अन्दर ही विवाह करना चाहिए। परन्तु एक ही जाति के अन्तर्गत अनेक उपजातियाँ होने के कारण अन्तर्विवाह का क्षेत्र इन उपजातियों तक ही सीमित है। दूसरे शब्दों में, प्रत्येक हिन्दू को अपनी उपजाति में ही विवाह करना होता है। अन्तर्जातीय विवाहों पर प्रतिबन्ध हैं। ये प्रतिबन्ध कुछ प्रजातीय और सांस्कृतिक कारणों से हैं। रक्त की शुद्धता को बनाए रखने की इच्छा, जन्म पर अधिक बल देना, सांस्कृतिक भिन्नता, हिन्दू समाज और धर्म पर जैन, बौद्ध और मुसलमान धर्म के आक्रमण आदि अन्तर्जातीय विवाह पर प्रतिबन्ध के कुछ प्रमुख कारण हैं।

परन्तु अंग्रेजी राज्य की स्थापना के पश्चात् अनेक ऐसे कारक भारतीय समाज में क्रियाशील हुए कि उनके प्रभाव से अन्तर्विवाह के प्रतिबन्ध धीरे-धीरे दुर्बल होने लगे और हमारा झुकाव अन्तर्जातीय विवाह के प्रति दिन-प्रतिदिन बढ़ता गया। इसके प्रमुख कारक निम्न हैं—

अन्तर्जातीय विवाह को प्रोत्साहित करने वाले कारक

या अन्तर्जातीय विवाह कैसे ?

(Factors promoting Intercaste Marriages)

1. पाश्चात्य शिक्षा (Western Education)—पाश्चात्य शिक्षा हमारे सामाजिक मूल्यों में कान्तिकारी परिवर्तन लाई है जिसके कारण हम अनेक कुसंस्कारों या अन्धविश्वासों के पंजे से बहुत-कुछ मुक्त हो सके हैं। साथ ही, पाश्चात्य शिक्षा के कारण भारत में एक सांस्कृतिक समानता उत्पन्न हो सकी है जिससे विभिन्न जातीय समूह एक-दूसरे के बहुत निकट आ गये हैं और अन्तर्जातीय विवाह के अनुकूल वातावरण की सृष्टि हुई है।

2. सह-शिक्षा (Co-education)—केवल शिक्षा को ही नहीं, सह-शिक्षा का विस्तार भी दिन-प्रतिदिन होता जा रहा है। डॉ० घुरिये (Ghurye) का मत है कि सह-शिक्षा युवक-युवतियों को एक-दूसरे के निकट लाने का और यौन-सम्बन्धी नैतिक पतन से उनकी रक्षा करने का सर्वोत्तम उपाय है। इनके उत्साह और शिक्षा-

जाति के बन्धन का तोड़ने में अवश्य सफल होंगे।¹

3. छापाखाना और यातायात के साधन (Press and transports)—छापाखाने तथा यातायात और संचार के साधनों में उन्नति से भी विभिन्न समुदाय, धर्म और जाति के लोग एक-दूसरे के निकट आ गए, क्योंकि यातायात के साधनों में उन्नति होने से सामाजिक गतिशीलता बहुत बढ़ गयी और छापाखाने की सहायता से मासिक पत्रिका, समाचार-पत्र, पुस्तक आदि की सार्फत एक-दूसरे के बारे में जानकारी प्राप्त करने का अवसर प्राप्त हुआ।

4. समानता की धारणा (Idea of quality)—छापाखाना, यातायात और सदेशवाहन के साधनों में उन्नति होने के कारण दुनिया के विभिन्न देशों के प्रजातन्त्रवाद के साथ हमारा सम्पर्क दिन-प्रतिदिन बढ़ता ही गया। एक ओर प्रजातन्त्रवाद के साथ सम्पर्क और दूसरी ओर शिक्षा के विस्तार के कारण समानता की धारणा धीरे-धीरे जड़ पकड़ती रही और जाति-पाँति के आधार पर ऊँच-नीच की जो भावनाएँ विभिन्न जातियों में अब तक पाई जाती थीं वह धीरे-धीरे दुर्बल होती गई।

5. राष्ट्रीय आन्दोलन (National movement)—अन्तर्जातीय विवाह को प्रोत्साहित करने में भारत का राष्ट्रीय आन्दोलन भी एक प्रमुख सहायक कारण है। राजनीतिक आन्दोलन के क्षेत्र में महात्मा गांधी के आ जाने के बाद राष्ट्रीय आन्दोलन जनता का आन्दोलन हो गया। एकसाथ मिलकर एक तिरंगे झंडे के नीचे कंधे से कंधा मिलाकर राष्ट्रीय आन्दोलन में भाग लेने और एकसाथ जेल जाने से विभिन्न जातियों में एक भ्रातृभाव की जागृति हुई। यह अन्तर्जातीय विवाह को प्रोत्साहित करने में सहायक सिद्ध हुई है।

6. वैज्ञानिक शिक्षा (Scientific education)—वैज्ञानिक ज्ञान के बढ़ने के साथ ही हमें एक बात स्पष्ट रूप से ज्ञात हो गई कि कोई भी जाति या प्रजाति आज शुद्ध नहीं है और उनमें ऊँच-नीच का भेदभाव मनुष्य की ही मन-गढ़न्त रचना है जिसका कि कोई भी वैज्ञानिक आधार नहीं है। इस कारण अन्तर्जातीय विवाह से कोई हानि भी हो सकती है यह प्रमाणित नहीं हो सका है। इससे अन्तर्जातीय विवाह को काफी बढ़ावा मिला।

7. औद्योगीकरण और नागरिक संस्कृति (Industrialization and urban culture)—औद्योगीकरण के साथ-साथ हजारों तरह के उद्योग-धन्धे पनप गए और साथ ही नगरों का भी विकास हुआ, जहाँ की प्रायः सभी जातियाँ और प्रान्त के लोग साथ-साथ मिलकर रहने और काम करने लगे। ऐसी परिस्थिति में एक-दूसरे के प्रति सहनशीलता तथा धर्म और जाति के प्रति निरपेक्षता बढ़ती गई और जाति-पाँति का भेदभाव दूर होता गया। इससे अन्तर्जातीय विवाह को काफी प्रोत्साहन मिला।

8. महिला आन्दोलन (Feminine movement)—महिलाओं में शिक्षा का विस्तार और उनको पुरुषों के समान राजनीतिक, आर्थिक तथा सामाजिक अधिकार और स्वतन्त्रता प्राप्त होने के साथ-साथ जाति-पाँति के आधार पर उनके ऊपर लगाए

1. "It appears to me that co-education at all stages of instruction is the best method of bringing together young people of opposit sex, apart from its being the best prophylactic for sex morals. The enthusiasm of youth will surely transcend the artificial bounds of caste."—G. S. Ghurye, *Caste and Class in India*, Popular Book Depot, Bombay, 1957, p. 136.

हुए विवाह-सम्बन्धी प्रतिबन्ध धीरे-धीरे निर्बल होते जा रहे हैं जिनसे उनकी तरफ से भी अन्तर्जातीय विवाह को बढ़ावा मिला।

9. वर-मूल्य-प्रथा का कटु रूप (Abnormal Bridegroom Price System)—धीरे-धीरे वर-मूल्य-प्रथा का इतना कटु रूप हो गया है कि हर माता-माता के लिये उसकी माँग को पूरा करना सम्भव नहीं हो रहा है। अत्यधिक दहेज के कारण लड़कियों और लड़कों के विवाह नहीं हो पा रहे हैं। ऐसी परिस्थिति में युवक और युवतियों को अपने विवाह के सम्बन्ध में निर्णय करने का अवसर मिल गया। कभी-कभी तो लड़कियों के माता-पिता दहेज के दानव से अपना प्राण बचाने के लिये स्वयं अन्तर्जातीय विवाह करने को तैयार हो जाते हैं या उसकी अनुमति अपने लड़के-लड़की को देते हैं।

10. ब्रह्म समाज और आर्य समाज के प्रभाव (Impact of Brahma Samaj and Arya Samaj)—ब्रह्म समाज और आर्य समाज ने धार्मिक आधार पर समाज-सुधार का जो आन्दोलन चलाया उससे जाति-पाँति और छुआछूत पर ही कुठारघात नहीं हुआ बल्कि स्त्रियों की दशा सुधारने की भी अत्यन्त प्रशंसनीय प्रचेष्टा हुई। ये दोनों समाज अन्तर्जातीय विवाह के विपक्ष में नहीं, पक्ष में ही हैं।

11. रोमांस (Romance)—वर्तमान सामाजिक परिस्थितियाँ रोमांस को बढ़ावा देने के अनुकूल हैं। स्त्रियों और पुरुषों को समान अधिकार मिलना, शिक्षा का विस्तार, सामाजिक गतिशीलता का बढ़ना, सह-शिक्षा, नारी और पुरुष को एक साथ कारखाने, दफ्तर आदि में काम करने की सुविधा आदि के कारण रोमांस आज तेजी से रहा है। इसके फलस्वरूप प्रेम-विवाह का प्रचलन भी दिन-प्रतिदिन बढ़ता चला जा रहा है और प्रेम-विवाह में जाति-पाँति का प्रतिबन्ध बाधा की सृष्टि करने में सर्वथा असफल हो सकता है। इससे अन्तर्जातीय विवाह को आप-से-आप बढ़ावा मिल रहा है।

12. वैधानिक सुविधायें (Legislative Facilities)—अन्तर्जातीय विवाह को कानून की तरफ से भी काफी बढ़ावा मिला है। सन् 1872 में 'विशेष विवाह अधिनियम' (Special Marriage Act, 1872) पास हुआ और सन् 1923 में संशोधित हुआ। इसके अनुसार, अन्तर्जातीय विवाह की वैधानिक अड़चनें दूर हो गईं और सभी हिन्दू, बौद्ध, सिक्ख और जैनों में अन्तर्विवाह वैध हो गए। हाल में ही 'हिन्दू-विवाह वैधकरण अधिनियम' (Hindu Marriage Validating Act) सन् 1949 में पास हुआ है। इसके अनुसार, इस अधिनियम के पहले और बाद में विभिन्न धर्मों, जातियों, उपजातियों और सम्प्रदायों के व्यक्तियों में होने वाले विवाहों को मान्यता दे दी गई है। यह भारत के समस्त हिन्दुओं पर, जिनमें सिक्ख और जैन भी सम्मिलित हैं, लागू होता है।²

उपयुक्त कारणों से आज हिन्दू-विवाह का परम्परात्मक स्वरूप विघटित हो रहा है और अन्तर्जातीय विवाह के अनुकूल वातावरण की सृष्टि हो रही है।

अन्तर्जातीय विवाह से लाभ या अन्तर्जातीय विवाह क्यों ?

(Merits of Intercaste Marriage)

डॉ० घुरिये (Ghurye) के मत में "विभिन्न सम्बन्धों को दृढ़ करने के लिये

और राष्ट्रीयताओं के पोषण के लिये अन्तर्जातीय विवाह के द्वारा रक्त का एकीभाव एक प्रभावशाली साधन है।¹³ इस मत की पुष्टि अन्तर्जातीय विवाहों के निम्नलिखित लाभों से स्पष्ट हो जाती है—

1. जातिवाद को दूर करने में सहायक (Help to eradicate casteism)—डॉ० घुरिये (Ghurye) जातिवाद की समस्या को हल करने में अन्तर्जातीय विवाह को जनप्रिय करने की आवश्यकता पर अधिक बल देते हैं। अगर विभिन्न जाति के लड़के और लड़कियों को अन्तर्जातीय विवाह के द्वारा एक-दूसरे के निकट आने का अवसर दिया जायेगा तो जाति-प्रथा उपेक्षित होगी और जातिवाद के विरोध में क्रियात्मक आवाज उठने लगेगी क्योंकि वे व्यक्ति, जो जाति के बन्धनों को तोड़कर विवाह करते हैं, केवल जातिविहीन वातावरण की ही सृष्टि नहीं करेंगे बल्कि एक ऐसी पीढ़ी का भी पोषण करेंगे जो जाति-प्रथा की अधिक कट्टर विरोधी होगी।¹⁴

2. सामाजिक और राष्ट्रीय एकता (Social and national unity)—आज भारत असंख्य समूहों में विभाजित है, चाहे उस विभाजन का आधार धर्म, जाति, पेशा कुछ भी हो। इस कारण इन समूहों में कोई एक सामान्य आधार नहीं है जिसके बल पर वे एक-दूसरे के निकट आ सकें। विभिन्न जाति या समूहों के बीच जो कटुभाव आज हमारे समाज में दिखाई देता है और जिसके कारण भारतवर्ष में सामाजिक और राष्ट्रीय एकता स्थापित होने के रास्ते में काफी अड़चनों का सामना करना पड़ रहा है अन्तर्जातीय विवाह के प्रचलित हो जाने पर, वे सभी अड़चनें दूर हो जायेंगी। डॉसन और गेटिस (Dawson and Gettys) के अनुसार, एक आन्तरिक एकता, समूहों के सदस्यों में अपनेपन की भावना, सामान्य संस्कृति और एक सामान्य जीवन में भागीदार होने की भावना, राष्ट्रीयता के प्रमुख लक्षण हैं।¹⁵ ये सभी लक्षण अन्तर्जातीय विवाह के द्वारा धीरे-धीरे पनपने लगेंगे और सामाजिक और राजनीतिक जीवन दृढ़ होता जायेगा। इसी उद्देश्य को दृष्टिकोण में रखते हुए आज राष्ट्र के नेता लोग अन्तर्जातीय विवाह को प्रोत्साहित करने के लिये प्रयत्नशील हैं।

3. बहेज-प्रथा को रोकने में सहायक (A check on dowry system)—दहेज या बर-मूल्य-प्रथा को रोकने या समाप्त करने के लिये भी अन्तर्जातीय विवाहों की वृद्धि आवश्यक है। बर-मूल्य-प्रथा का विशेषकर उस समाज में होता है जहाँ जीवनसाथी चुनने का क्षेत्र अत्यन्त सीमित होता है या जहाँ उचित बरों की अत्यधिक कमी के कारण उनको प्राप्त करने के लिये लड़कियों के अभिभावकों में आपस में प्रति-

3. "Fusion of blood through inter-marriage has been found to be an effective method of cementing alliances and nurturing nationalities."—G. S. Ghurye, *op. cit.*, p. 323.

4. "Thus while caste would be ignored and caste-patriotism actively denounced, the people who marry without reference to caste would not only create a casteless atmosphere for the management of civic affairs, but would rear up a generation which would be still more hostile to caste."—G. S. Ghurye, *op. cit.*, p. 236.

5. "Nationalities are characterised by an internal cohesiveness, a sense of belonging together on the part of the members of the group and a feeling of being sharers in a common culture and a common way of life."—C. A. Dawson and W. E. Gettys, *An Introduction to Sociology*, p. 313.

योगिता होती रहती है। अन्तर्जातीय विवाहों का अधिकाधिक प्रचलन होने पर ये दोनों परिस्थितियाँ समाप्त हो जायेंगी।

4. योग्य जीवन-साथी के चुनाव में सहायक (Help in choosing Suitable mates)—अन्तर्विवाह के नियमों के अनुसार विवाह अपनी जाति में नहीं, वास्तव में, अपनी उपजाति में करना होता है जिसमें जीवन-साथी चुनने का क्षेत्र अत्यन्त सीमित हो जाता है और योग्य वर या वधू प्राप्त नहीं हो पाते हैं। अन्तर्जातीय विवाह के द्वारा विवाह की यह जातीय या उपजातीय सीमा-रेखा विस्तृत हो जाएगी और योग्य जीवन-साथी के चुनने में काफी सरलता होगी। इसके फलस्वरूप व्यक्तिगत और पारिवारिक जीवन अधिक सुखी होने की सम्भावना होगी।

5. उत्तम वंशानुसंक्रमण (Better heredity)—अन्तर्विवाह के नियमों के अनुसार एक बहुत ही सीमित समूह के अन्दर ही विवाह करने से वंशानुसंक्रमण के गुण दिन-प्रतिदिन घटते जाते हैं और अच्छी सन्तानों की संख्या कम होती जाती है। इसके विपरीत अन्तर्जातीय विवाहों के होने से नए और उत्तम बाहकणुओं (genes) का आयात बाहरी परिवारों से सम्भव हो जाता है जिससे उत्तम सन्तान उत्पन्न होने लगती है। वच्चों के व्यक्तित्व के विकास और सामाजिक प्रगति के दृष्टिकोण से यह अत्यन्त महत्वपूर्ण है।

6. बाल-विवाह और विधवा-विवाहों की समस्याओं का हल (A solution of the problem of child and widow marriage)—जाति के प्रतिबन्ध, अन्तर्विवाह के नियम, कुलीन-विवाह-प्रथा, वर-मूल्य-प्रथा आदि के कारण हिन्दू समाज में बाल-विवाह और विधवा-विवाह से सम्बन्धित अनेक गम्भीर समस्याएँ उत्पन्न हो गई हैं। अन्तर्जातीय विवाह के प्रचलित होने से जीवन-साथी चुनने का क्षेत्र बड़ जायेगा और देहज-प्रथा भी समाप्त हो जायेगी। इसके फलस्वरूप बाल-विवाह और विधवा-विवाह से सम्बन्धित समस्याएँ आप-से-आप हल हो जायेंगी।

7. जनसंख्या की समस्या का हल (A solution of the population problems)—आज भारत में बढ़ती हुई जनसंख्या की समस्या एक बहुत बड़ी समस्या है जिसका कि एक प्रमुख कारण जल्दी-विवाह या बाल-विवाह है। अन्तर्जातीय विवाह से ऐसे विवाह बहुत घट जायेंगे और जनसंख्या की समस्या का एक स्वाभाविक हल मिल सकेगा।

निष्कर्ष

(Conclusion)

उपरोक्त विवेचना से स्पष्ट है कि अन्तर्जातीय विवाह अनेक व्यक्तिगत, पारिवारिक और सामाजिक समस्याओं को दूर करने में सहायक सिद्ध हो सकते हैं। भारतवर्ष में ऐसी अनेक समस्याएँ आज अत्यन्त गम्भीर हैं। श्री जेम्स ब्राइस (James Bryce) ने उचित ही लिखा है; “जहाँ मनुष्य भाषा, धर्म, पेशा या प्रजाति के आधार पर जाति-भेद के द्वारा विभक्त हैं वहाँ पारस्परिक अविश्वास और घृणा पनपती है जोकि उन्हें एक-साथ मिलकर काम करने या एक-दूसरे के अधिकार का ध्यान रखने से रोकती है। एकरूपता वर्ग-युद्धों को टाल नहीं सकती, परन्तु समुदाय के प्रत्येक वर्ग को एक दूसरे की समझने में सहायक होती है और एक राष्ट्र में एक सामान्य मत की

सृष्टि करती है।”⁶ भारत के प्रत्येक प्रगतिवादी नागरिक को और राष्ट्र के शुभचिन्तकों को इसे ध्यान में रखना होगा और अन्तर्जातीय विवाह को प्रोत्साहित करके सामाजिक एकरूपता को उत्पन्न करना होगा।

6. “Where men are divided by language or by religion, or caste distinctions grounded on race or on occupation, there are grounds for mutual distrust and animosity which make it hard for them to act together or for each section to recognize equal rights in the other. Homogeneity, though it may not avert class wars, helps each of the community to understand the mind of others, and creates a general opinion in a nation.”—James Bryce, *Modern Democracies*, Vol I, p. 98.

मुस्लिम परिवार, विवाह और समाज-व्यवस्था इस्लाम धर्म पर आधारित है। “इस्लाम का अर्थ होता है समर्पण अथवा उत्सर्ग, जिसका अभिप्राय होता है अल्लाह (ईश्वर) की इच्छा के सामने झुकना। इस्लाम केवल एक ही ईश्वर अर्थात् अल्लाह को मानता है। ईश्वर दयालु और करुणामय है। पथभ्रष्ट मानवता को वह समय-समय पर अपने पैगम्बर के- द्वारा सही मार्ग बतलाते हैं। इन पैगम्बरों में मोहम्मद अन्तिम पैगम्बर थे। उनका ध्येय पथभ्रष्ट मानवता को अल्लाह का सन्देश समझाना था जो उनको ‘जबरील’ नामक देवदूत से प्राप्त हुआ। अल्लाह की इच्छा इस प्रकार मानवता के सामने प्रदर्शित की गई और जो पैगम्बर का ईश्वरीय ज्ञान था वह बाद में ‘कुरान’ नामक ग्रन्थ में संग्रहीत किया गया।” कुरान मुस्लिम रीति-रिवाज का मुख्य स्रोत तथा मुस्लिम जीवन-पद्धति के लिये सर्वोपरि प्रमाण है, फिर भी मुस्लिम रीति-रिवाज अपने शताब्दियों के जीवन में विभिन्न प्रदेशों की परिस्थितियों से अप्रभावित नहीं रहे।” मुस्लिम रीति-रिवाज तथा मुस्लिम जीवन-पद्धति देश और काल के अनुसार परिवर्तित होती रही।” डॉ० कपाडिया का यह कथन अक्षरशः सच है। उदाहरणार्थ, भारतीय मुसलमानों को ही लीजिये। भारत में स्थायी रूप से बस जाने के बाद मुसलमान हिन्दुओं की जाति-प्रथा से अप्रभावित हुए बिना रह न सके, उन्होंने संयुक्त परिवार प्रणाली को अपनाया, बाल-विवाह को स्वीकार किया, कुछ धार्मिक विश्वास आदि में भी हेरफेर किया। इसका प्रमुख कारण यह है कि भारत के अधिकतर मुसलमान वास्तव में मूलतः हिन्दू ही हैं और वे धर्म-परिवर्तन के द्वारा मुसलमान बने हैं। अतः हिन्दू-समाज-व्यवस्था, जीवन-दर्शन आदि से सम्बद्ध मूल धारणाओं को वे धर्म-परिवर्तन द्वारा मुसलमान बन जाने के बाद भी, पूर्णतया त्याग न सके। साथ ही शिक्षित मुसलमानों ने इस बात को अनुभव किया कि इस्लाम के सामाजिक विधान में कुछ परिवर्तन की आवश्यकता है। इसका एक कारण तो यह है कि वह कानून, जो मरुस्थल के भ्रमणशील लोगों के लिये बनाया गया था, कृषक समाज अथवा औद्योगिक सभ्यता की आवश्यकताओं की पूर्ति नहीं कर सकता। दूसरा कारण यह है कि पाश्चात्य सभ्यता के सम्पर्क ने वैवाहिक सम्बन्धों का एक नवीन ढाँचा तथा आदर्श प्रदान किया है।¹ इसीलिये डॉ० कपाडिया का निष्कर्ष यह है कि “भारतीय मुसलमानों का बहुसंख्यक भाग अरब देश अथवा संसार के अन्य किसी भाग के इस्लामी बन्धुओं की अपेक्षा हिन्दुओं से अधिक सादृश्य या समानता रखता है। उन हिन्दुओं ने, जिन्होंने इस्लाम

1. K. M. Kapadia, *Marriage and family in India*, Hindi edition, 1963, pp. 40-41.

2. *Ibid.*, p. 45.

3. *Ibid.*, p. 48.

धर्म को स्वीकार किया, इस्लाम को मानते हुए भी अपने प्राचीन धार्मिक विश्वासों तथा सामाजिक व्यवहारों का परित्याग नहीं किया।”

उपरोक्त पृष्ठभूमि के आधार पर अब हम मुस्लिम परिवार के सम्बन्ध में विवेचना करेंगे।

मुस्लिम परिवार की सामान्य विशेषताएँ

(General Characteristics of Muslim Family)

मुस्लिम परिवार की स्थापना समाज द्वारा मान्य एक विवाह-पद्धति के द्वारा, जिसे 'निकाह' कहा जाता है, होती है। परिवार-सम्बन्धी अधिकार पुरुषों के हाथ में ही होता है अर्थात् परिवार के मामलों में पुरुष ही सत्ताधारी होता है और पिता के आधार पर ही वंश-नाम निर्धारित होता है। अतः बच्चों का उपनाम पिता के वंश के नाम पर ही हुआ करता है। जिन पति-पत्नी के बच्चे नहीं होते हैं वे प्रायः किसी नते-रिस्तेदार के एके बच्चे को गोद ले लेते हैं और इस प्रकार अपने परिवार की निरन्तरता को बनाये रखते हैं। भारत के मुसलमानों में मातृवंशीय परिवार (Matrilinal Family) देखने को नहीं मिलता है। यह केवल मुसलमानों पर हिन्दुओं के प्रभावों को ही नहीं दर्शाता अपितु मुसलमानों की परम्पराओं को भी अभिव्यक्त करता है। मुस्लिम परिवार की एक और सामान्य विशेषता यह है कि यह परिवार पितृस्थानीय (Patrilocal) होता है अर्थात् विवाह के पश्चात् पत्नी को अपने माता-पिता का घर छोड़कर पति के घर पर आकर रहना पड़ता। किन्हीं-किन्हीं परिवारों में किसी खास वजह से हिन्दुओं की भाँति पति को 'घर जमाई' बना लेने की प्रथा पाई जाती है, अर्थात् विवाह के बाद लड़की अपने माता-पिता के परिवार को छोड़कर नहीं जाती है, अपितु अपने पति को पत्नी के घर या ससुराल में रहने के लिये राजी कर लिया जाता है। ऐसा प्रायः उसी समय होता है जबकि लड़की अपने धनवान माता-पिता की इकलौती सन्तान होती है। मुस्लिम परिवार की स्थिति केवल घन पर ही नहीं अपितु सामाजिक संरचना में उस परिवार के वास्तविक स्थान के अनुसार निर्धारित होती है। सैद्धान्तिक दृष्टिकोण से सब मुसलमान व उनके परिवार बराबर हैं, पर व्यवहार में उनमें भी ऊँच-नीच के आधार पर एक सामाजिक संस्तरण (stratification) पाया जाता है।

मुस्लिम परिवार की आधारभूत विशेषताएँ

(Fundamental Characteristics of Muslim family)

जैसाकि पहले कहा जा चुका है कि भारत में मुस्लिम परिवार की संरचना बहुत-कुछ हिन्दू परिवार की संरचना (structure) से मिलती-जुलती है। अतः इसकी अनेक आधारभूत विशेषताएँ हिन्दुओं जैसी हैं। फिर भी कुछ विषयों में अन्तर भी देखने को मिलता है। अतः मुस्लिम परिवार की आधारभूत विशेषताओं को स्पष्ट रूप में जान लेना आवश्यक होगा। ये विशेषताएँ इस प्रकार हैं—

1. परिवार का धार्मिक आधार (Religious basis of family)—मुस्लिम

परिवार का अपना धार्मिक आधार होता है। इस्लाम धर्म ने परिवार के स्वरूप तथा प्रकृति को निर्धारित करने में अपना महत्वपूर्ण योगदान दिया है। इसिलिये मुसलमानों में परिवार कुरान के आधार पर चालित व शासित होता है। अल्लाह पर विश्वास रखते हुए जो व्यक्ति अपने पारिवारिक कर्तव्यों को ठीक ढंग से निभाता है वह अल्लाह का प्यारा होता है। “अल्लाह की इच्छा का पालन करने का पुरस्कार मुसलमानों

को परम आनन्द के रूप में प्राप्त होता है। इसके विपरीत वे लोग, जो उनके (अल्लाह के) सन्देश पर विश्वास नहीं करते और उनकी इच्छा को मुला देते हैं, दण्ड के भागी होते हैं। अन्तिम दिन मनुष्य के कर्मों का न्याय होगा—कोई नहीं जानता कि वह दिन कब आएगा—तब सभी को अल्लाह के सामने उपस्थित होना पड़ेगा।” इन सब विश्वासों का परिवार के सदस्यों के पारस्परिक सम्बन्धों को निर्धारित करने तथा उनके कार्यों को नियन्त्रित करने में महत्वपूर्ण हाथ रहा है।

2. संयुक्त परिवार (Joint family)—हिन्दुओं के पारिवारिक जीवन की जिन विशेषताओं को मुसलमानों ने ग्रहण किया है, उनमें संयुक्त परिवार प्रणाली एक है। मुसलमानों में, विशेषकर भारतीय गाँवों में रहने वाले मुसलमानों में संयुक्त परिवार उनके जीवन की एक सामान्य विशेषता है। ऐसे परिवारों का आकार बड़ा होता है क्योंकि एक परिवार में पिता, पुत्र उसके पुत्र और इनके सम्बन्ध की स्त्रियों और अन्य नाते-रिश्तेदारों का समावेश होता है। साथ ही ऐसे परिवार में सम्मिलित सम्पत्ति, सम्मिलित आय, सामान्य निवास-स्थान और एक ही रसोई होती है। परन्तु इसका तात्पर्य यह नहीं है कि मुसलमानों में एकाकी परिवार या छोटे परिवार होते ही नहीं हैं। विशेषकर शहरों में औद्योगीकरण, आधुनिक शिक्षा, व्यक्तिवादी आदर्श आदि के कारण हिन्दुओं की भाँति मुसलमानों के संयुक्त परिवारों का विघटन होता जा रहा है। लोग अपने बीबी-बच्चों के साथ अलग परिवार बसाकर रहना ही अधिक पसन्द करते हैं।

3. सदस्यों की पारिवारिक स्थिति में असमानता (Disparity in family status of the members)—इस्लाम किसी भी रूप में असमानता को स्वीकार नहीं करता है। इसीलिये जन्म या लिंग (sex) के आधार पर सब मुसलमान बराबर हैं। पर मुस्लिम परिवार के सदस्यों की पारिवारिक स्थिति के सम्बन्ध में यह बात लागू नहीं होती है। यह भी शायद हिन्दुओं के प्रभाव के कारण ही है। परिवार में पिता की स्थिति सबसे ऊँची होती है यद्यपि माता का स्थान भी कम सम्मानसूचक नहीं होता है। घर में लड़कियों की अपेक्षा लड़कों की स्थिति अच्छी कही जा सकती है क्योंकि पारिवारिक मामलों में लड़कों की राय में लड़कियों की राय से अधिक महत्वपूर्ण समझा जाता है। साथ ही सामाजिक गतिशीलता के सम्बन्ध में पुरुषों की अपेक्षा स्त्रियों पर अधिक प्रतिबन्ध होते हैं। पुरुष स्वतन्त्रतापूर्वक घूम-फिर सकता है, स्त्री नहीं। स्त्रियों को तो घर की चारदीवारी में रहना पड़ता है। लड़कों में भी आयु के आधार पर पारिवारिक स्थिति अलग-अलग होती है। सबसे बड़े लड़के की इज्जत माता-पिता के बाद ही होती है और पिता की मृत्यु के बाद उसे ही पिता की स्थिति प्राप्त हो जाती है।

4. पर्दा-प्रथा का प्रचलन (Prevalence of Purdah System)—मुस्लिम परिवार में पर्दा-प्रथा का प्रचलन अति उत्कट रूप में देखने को मिलता है और इसे आभिजात्य (aristocracy) का एक लक्षण माना जाता है। इसलिए इनके परिवार के प्रत्येक दरवाजे पर पर्दा या ‘चिक’ पड़ी रहती है, विशेषकर मकान के अन्दर आने के लिए प्रथम दरवाजे पर पर्दा करना अनिवार्य-सा होता है। इसी प्रकार मुस्लिम स्त्रियों के पहनावे में ‘बुरका’ एक अनिवार्य वस्त्र है। मुसलमान स्त्रियाँ, विशेषकर ऊँचे घराने की स्त्रियाँ, जब भी घर से बाहर निकलती हैं तो बुरका ओढ़ लेती हैं, यहाँ तक कि तांगा, रिक्शा आदि को भी पर्दे से ढककर ही वे सवारी पर एक स्थान से दूसरे स्थान

को जाती हैं। डॉ० अलतेकर के अनुसार, सुन्दर स्त्रियों को पर्दे में बड़ी सुरक्षा मिलती है। यात्रा के दौरान दुष्टों तथा अत्याचारियों से रक्षा पाने के लिये भी पर्दा उत्तम साधन है। मुसलमान स्त्रियों को घर के अन्दर ही सभी बड़े-बूढ़ों से, कई नाते-रिस्तेदारों से तथा बाहर के लोगों से पर्दा करना पड़ता है। हिन्दू स्त्रियों ने मुसलमानों से ही पर्दा-प्रथा को न केवल ग्रहण किया है अपितु उसे आभिजात्य का सूचक भी बनाया।

5. परिवारों की सामाजिक स्थिति में असमानता (Disparity in social status of families)—यह भी सैद्धान्तिक और व्यावहारिक रूप में विरोध का एक उदाहरण है। जन्म या परिवार के आधार पर सब मुसलमान और उनके परिवार सामाजिक दृष्टिकोण से बराबर हैं। मुसलमानों में वंश और पेशों के आधार पर कोई भेद नहीं होना चाहिये। इसीलिये हिन्दुओं में परिवारों की सामाजिक स्थिति जिस भांति जाति के अनुसार निर्धारित होती है, उस प्रकार मुस्लिम परिवारों की सामाजिक स्थिति के निर्धारण का प्रश्न ही नहीं उठना चाहिए। पर इस सिद्धांत का व्यावहारिक रूप देखने को नहीं मिलता है। मुसलमानों में भी सामाजिक संस्तरण (social stratification) पाया जाता है और उसी के अनुसार परिवार की सामाजिक स्थिति निर्धारित होती है। डॉ० शर्मा ने लिखा है कि मौलिक या अशरफ मुसलमानों के संस्तरण में चार मौलिक वर्ग हैं जो क्रमशः सैयद, शेख, मुगल तथा पठान हैं। इनमें सैयदों का स्थान सबसे ऊँचा है। अरबी भाषा में सैयद का अर्थ सरदार होता है। सैयद अपने को मुहम्मद साहब और उनके दामाद अली के वंशज बतलाते हैं और इसीलिये ये सबसे श्रेष्ठ हैं। इनके बाद क्रमशः शेख, मुगल तथा पठान का स्थान है। इसके बाद राजपूत मुसलमान आते हैं, फिर व्यावसायिक जातियाँ, जैसे जुलाहा, दर्जी, कसाई, नाई, कवाड़िया, कुम्हार, मनिहार, धुनिया आदि आती हैं। सबसे नीचे स्तर पर लालबेगी मेहतर आते हैं। विभिन्न परिवारों की सामाजिक स्थिति भी इसी संस्तरण के अनुसार निर्धारित होती है।

6. सांस्कृतिक निरन्तरता (Cultural continuity)—मुसलमान पुरातन के पुजारी कहे जाते हैं। इसका तात्पर्य शायद यह है कि अपनी पारिवारिक परम्परा, भाषा, रीति-रिवाज आदि के प्रति मुसलमानों को अधिक अनुराग होता है। इसीलिये परम्परात्मक सभी आचारों, प्रथाओं और व्यवहारों को पिता से पुत्र से उसके पुत्र सीखते जाते हैं और इस प्रकार परिवार की सांस्कृतिक निरन्तरता बनी रहती है। वास्तव में मुस्लिम परिवार का अपना एक सांस्कृतिक प्रतिमान हुआ करता है और उस प्रतिमान का हस्तांतरण पीढ़ी-दर-पीढ़ी होता रहता है जिससे कि सांस्कृतिक तत्वों की निरन्तरता बनी रहती है। पर इसका तात्पर्य यह नहीं है कि मुस्लिम परिवार केवल रुढ़िवादी ही होता है और प्रगतिशील भावनाओं का उसके द्वारा स्वागत नहीं होता है। ऐसा नहीं, पर साथ ही प्रगति के नाम पर विघटनकारी शक्तियों को आमन्त्रित करने के पक्ष में भी वह राय नहीं देता है। उसे अपने धर्म, भाषा, संस्कृति से विशेष लगाव है और इस मौलिकता को बनाए रखना चाहता है।

7. परिवार में स्त्रियों की असन्तोषजनक स्थिति (Unsatisfactory status of women in the family)—हिन्दू स्त्रियों की भांति परिवार में मुस्लिम स्त्रियों की स्थिति भी सन्तोषजनक नहीं कही जा सकती। यह सच है कि साम्प्रतिक अधिकारों (property rights) के सम्बन्ध में मुस्लिम स्त्री परिवार के किसी भी

पुरुष से कम नहीं है। वे अपनी सम्पत्ति का चाहे जिस प्रकार प्रयोग कर सकती हैं। इसी प्रकार 'महर' पर भी उनका सम्पूर्ण अधिकार होता है। माता-पिता से एक लड़की को दहेज के रूप में जो कुछ भी मिलता है उस पर उसका पूर्ण अधिकार होता है। उसी प्रकार मुस्लिम स्त्रियों को समस्त धार्मिक अधिकार प्राप्त हैं। वे कुरान पढ़ सकती हैं, नमाज पढ़ सकती हैं और अन्य धार्मिक कार्यों में भाग ले सकती हैं। इसके अतिरिक्त इस्लाम धर्म के अनुसार यह परमावश्यक समझा गया है कि विवाह के लिए स्त्रियों की राय अवश्य ली जाये। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि इस्लाम धर्म में स्त्रियों को हिन्दू स्त्रियों की तुलना में काफी सन्तोषजनक अधिकार मिले हुए हैं, पर अशिक्षा, पर्दा-प्रथा, संयुक्त परिवार प्रथा आदि के कारण व्यावहारिक तौर पर इन अधिकारों से लाभ उठाने का अवसर मुस्लिम स्त्रियों को मिल नहीं पाता है। पुरुषों ने स्त्रियों के सारे अधिकार छीन लिये हैं और पर्दा-प्रथा की आड़ में उन्हें जनानखाने में कैद करके रख दिया है। परिवार सम्बन्धी वास्तविकता सत्ता तो पुरुषों के हाथों में केन्द्रित रहती है और हिन्दू स्त्रियों की भांति मुस्लिम स्त्रियों को भी सेविका की ही भूमिका आजीवन निभानी पड़ती है। यह स्थिति सन्तोषजनक नहीं कही जा सकती।

मुस्लिम परिवार के प्रमुख संस्कार

(Important family Rites of the Muslims)

मुस्लिम परिवार के कुछ प्रमुख संस्कारों का उल्लेख किए बिना मुस्लिम परिवार के सम्बन्ध में यह विवरण सम्पूर्ण नहीं कहा जा सकता। ये संस्कार इस प्रकार हैं—

1. सतवाँ—स्त्री के गर्भाधान होने पर खुशियाँ मनाई जाती हैं तथा सातवें महीने में एक विशेष उत्सव मनाया जाता है। इसी को 'सतवाँ' कहते हैं। इष्ट-मित्र व नाते-रिस्तेदारों को आमन्त्रित किया जाता है और स्त्रियाँ बच्चे के जन्म के सम्बन्ध में अनेक प्रकार के गाने बना-बनाकर गाती हैं। गर्भाधान के बाद हर महीने कुछ-कुछ उत्सव होता रहता है।

2. चिल्ला और अकीका—चिल्ला संस्कार बच्चे के जन्म के चालीसवें दिन मनाया जाता है। इस दिन तक माता अपवित्र-समझी जाती है। इस अवसर पर उपहार दिए जाते हैं और मिठाई बाँटी जाती है। नमाज पढ़ना और अल्लाह से दुआ माँगना भी इस संस्कार का आवश्यक अंग है। बच्चे का सबसे पहला संस्कार 'नाम रख' या 'अकीका' कहलाता है। यह बच्चे के जन्म से सातवीं रात को मनाया जाता है। मुल्लाजी बच्चे का नाम रखने के लिये आते हैं और अल्लाह से दुआ माँगते हैं। किसी-किसी परिवार में बच्चे के कई नामों का सुझाव प्रस्तुत किया जाता है और हर नाम पर एक-एक मोमबत्ती जला दी जाती है तथा जिस नाम वाली मोमबत्ती सबसे बाद तक जलती रहती है वही नाम रख दिया जाता है। इस दिन एक बकरे की बलि दी जाती है तथा उसका मांस बिना हड्डियाँ तोड़े बाँटा जाता है। यह मुसलमानों का एक महत्वपूर्ण उत्सव है। इसे दिन इब्राहीम ने अपने बच्चे इस्माइल की बलि दी थी।

3. बिसमिल्ला—लड़कों का एक संस्कार बिसमिल्ला होता है। यह विद्यारम्भ का उत्सव है। मुल्लाजी बच्चे से बिसमिल्ला का उच्चारण करवाते हैं और पाटी पर लिखना आरम्भ करवाते हैं।

4. खतना—बचपन का सबसे महत्वपूर्ण संस्कार खतना है। इसी उत्सव के बाद बच्चे को धार्मिक कार्य-कलापों में भाग लेने का अधिकार वास्तव में प्राप्त होता है। ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार की उपनयन संस्कार न हो जाने तक बच्चा शूद्र ही बना रहता है और उसके उपरान्त द्विज हो जाता है। साधारणतया खतना संस्कार उस समय होता है जबकि लड़के की उम्र 5 और 7 वर्ष के बीच होती है। खतने के दिन हज्जाम आकर लड़के के लिंग के आगे की खाल काट देता है और लड़के से कुछ शपथें लेता है तथा कुरान की आयतें पढ़ने को कहता है। इस अवसर पर लड़के को नाना प्रकार का उपहार दिया जाता है तथा प्रीति-भोज आदि का आयोजन किया जाता है। इस संस्कार के बाद लड़का नमाज़ पढ़ना और रोज़ा रखना आरम्भ कर देता है।

5. निकाह—यह विवाह संस्कार है। विवाह का प्रस्ताव लड़के के पिता या संरक्षक की ओर से आता है और जब दोनों पक्ष एक-दूसरे के बारे में जांच-पड़ताल कर लेने के बाद सन्तुष्ट हो जाते हैं, तो विवाह की तारीख निश्चित की जाती है। उस दिन वर शोभा-यात्रा के साथ अपने इष्ट-मित्र व नाते-रिश्तेदारों को लेकर लड़की के घर पहुँचता है। बरात का स्वागत किया जाता है। काजी के सामने लड़की का रिश्तेदार दो पुरुष गवाहों या एक पुरुष और दो स्त्री गवाहों के साथ अन्दर जाता है और लड़की से पूछता है कि इस विवाह में उसकी सहमति है या नहीं। लड़की से सहमति मिल जाने पर निकाह की रस्म पूरी की जाती है। काजी के पास एक रजिस्टर होता है जिसमें विवाह दर्ज किया जाता है।

6. मृत्यु—यह जीवन का अन्तिम संस्कार है। मृत्यु के समय व्यक्ति को ज़मीन पर उतार लिया जाता है। नाई मृत व्यक्ति के कपड़े उतारकर नहलाता है; शरीर पर मुलतानी मिट्टी लगाता है और एक नया तहमंद, कुर्ता और पटका पहना देता है। एक नई खाट पर लाश को लिटा दिया जाता है और चादर ढक दी जाती है। मृत आत्मा की शान्ति के लिये जनाजा पढ़ा जाता है और फिर सब लोग मिलकर चुपचाप शान्तिपूर्वक लाश को कब्रिस्तान ले जाते हैं। वहाँ एक कब्र खोदकर लाश को दफनाया जाता है। कब्र खोदने वाला तीन बार कब्र पर पाणी छिड़कता है और सब लोग फातिहा पढ़ते हैं। इसके बाद तीजा, दसवां, चालीसवां, बरसी आदि मृत्यु-संस्कार किए जाते हैं। इन दिनों फकीरों को दान देना, गरीबों को भोजन खिलाना आदि कार्य होते हैं। कुछ विशेष-विशेष दिनों में कब्र पर फूल-माला चढ़ाना व धूप-बत्ती आदि जलाना होता है। इस प्रकार मृत व्यक्ति के प्रति हर तरह से सम्मान व श्रद्धा प्रदर्शित की जाती है। जाने वाला तो चला ही जाता है, पर उसकी याद बहुतों के मन में सदा बनी रहती है !

मुस्लिम विवाह (Muslim Marriage)

मुस्लिम विवाह एक शिष्ट सामाजिक समझौता है, न कि हिन्दुओं की भांति एक धार्मिक संस्कार। कुछ विद्वानों का कथन है कि भारतवर्ष में मुसलमानों में विवाह या जो रूप देखने को मिलता है वह वास्तव में उनके आदि-विवाह के स्वरूप का परिमार्जित रूप है। श्री रावर्टसन स्मिथ ने लिखा है कि इस्लाम के पूर्ववर्ती प्राचीन अरब-समाज में विवाह का जो रूप प्रचलन में था वह बहुत ही अस्थिर व अव्यवस्थित प्रतीत होता है। स्त्री अपने पति के चुनाव में स्वतन्त्र थी। उसे वह अपने डेरे अथवा

तम्बू में बुलाती थी और अपनी स्वेच्छानुसार जब चाहे तब उस पति को निकाल बाहर करती थी। यह आवश्यक नहीं था कि इन स्त्रियों की जो सन्तात उत्पन्न होती थी उनकी देखभाल उनके पिता के द्वारा ही हो। बहुधा यह काम स्त्री के नाते-रिस्तेदार ही करते थे और उन्हीं के संरक्षण में बच्चे बड़े होते थे। इस विवाह को वे 'बीना' विवाह के नाम से पुकारते थे। कालान्तर में इस प्रकार का विवाह समाप्त हो गया क्योंकि इससे पारिवारिक जीवन न केवल अस्थिर बल्कि अनिश्चित भी था। इसलिये 'बीना' विवाह का स्थान 'बाल' अर्थात् आधिपत्य के विवाह ने ले लिया। इस विवाह के अन्तर्गत 'बीना' विवाह में स्त्रियों को जो असीमित स्वतन्त्रता प्राप्त थी उसे छीन लिया गया तथा मनमाने तौर पर पति छोड़ देने का अधिकार भी स्त्रियों को बैठों। 'बाल' विवाह में विवाह सम्बन्धी प्रायः सभी अधिकार पुरुष का हो गया और इस विषय में उनकी स्थिति, अधिकार या आधिपत्य बहुत ही ऊँचे स्तर पर पहुँच गया। इसीलिये इसे 'बाल' या आधिपत्य का विवाह कहते हैं। इसमें स्त्री को विवाह के पश्चात् अपना घर छोड़कर पति के घर पर आकर उसी के पास रहना पड़ता था और सन्तानों पर पति के परिवार का ही पूर्ण अधिकार होता था तथा उनकी देखभाल भी पति या उसके परिवार के द्वारा होती थी। इतना ही नहीं, विवाह-विच्छेद के सम्बन्ध में भी पति का पूर्ण अधिकार हो गया। इस प्रकार प्राचीन प्रथा में वैवाहिक सम्बन्ध में जो अनिश्चितता थी, उसे बहुत-कुछ सुधारा गया और विवाह के सम्बन्ध में पुरुष के अधिकारों को पान्यता दी गई।

पुरुष के इन अधिकारों के दो सम्भावित परिणाम हुए—प्रथम तो यह कि पुरुष द्वारा पत्नियों का विवाह-विच्छेद एक सामान्य घटना हो गई और द्वितीयतः बहुपत्नी-विवाह का प्रचलन हुआ। डॉ० कपाडिया⁴ का कथन है कि मोहम्मद साहब के समय में अरब लोगों में प्रचलित विवाह का रूप बहुपत्नी-विवाह (Polygyny) ही था। युद्ध में छीनकर लाई हुई स्त्रियों से या तो विवाह कर लिया जाता था या उन्हें उप-पत्नी सेविका आदि के रूप में रखा जाता था। इसके अतिरिक्त, विवाह का अनुबन्ध (Contract) तभी किया जाता था जबकि स्त्री के पिता या उसके नाते-रिस्तेदार को 'महर' अर्थात् वधू का मूल्य वर-पक्ष द्वारा चुका दिया जाता था। इन तरीकों में अन्तर्निहित भाव यह था कि पत्नी पर पुरुष या पति का ही सर्वोच्च अधिकार है क्योंकि पत्नी को उस पुरुष ने या तो युद्ध में जीतकर प्राप्त किया है अथवा उसे उचित मूल्य के बदले में खरीदा है। दोनों ही स्थितियाँ इस बात की द्योतक हैं कि पत्नी पर पति का पूर्ण आधिपत्य है और वह उसका प्रयोग अपने मनमाने ढंग में कर सकता है। स्त्री को 'सम्पत्ति' के रूप में मानने की यह भावना इसी से स्पष्ट है कि विवाह-विच्छेद के मामले में पति को असीमित अधिकार दे दिया गया तथा पत्नी पर जमाये गये अन्य अनेक अधिकार भी पति के ही हिस्से में आये। डॉ० कपाडिया ने लिखा है कि पत्नी के ऊपर पति के जो अधिकार होते थे उनमें दूसरों के साथ दाम्पत्य के अधिकार भोगना, उसके उत्तराधिकारियों द्वारा विधवा का दायभाग लेना तथा अपनी पत्नी का जब चाहे तब विवाह विच्छेद करने की पूर्ण स्वतन्त्रता प्राप्त होना सम्मिलित थे। अरब लोगों में यह रिवाज था कि अतिथि के प्रति आतिथ्य-भाव प्रदर्शित करने के लिये अपनी पत्नी भी दे दी जाती थी। वह अरब जो श्रेष्ठ सन्तान प्राप्त करने की इच्छा रखता था, अपनी पत्नी को किसी महान्

4. K. M. Kapadia, *Marriage and Family in India*, 1955, pp. 176-177.

पुरुष के साथ रहने की आज्ञा देता था। उस अवस्था में पति कुछ समय के लिये बाहर या दूसरी जगह चला जाता था और तभी लौटता था जबकि उसकी पत्नी की गर्भावस्था पर्याप्त रूप से विकसित हो जाती थी। जब कोई अरब यात्रा के लिये बाहर रहता था तो वह अपनी पत्नी को अपनी अनुपस्थिति में अपने मित्र को सौंप जाता था। ऐसा भी होता था कि अरब उस व्यक्ति को, जो उसकी भेड़ों की देखभाल करता था, अपनी पत्नी को भोगने में साक्षीदार बना लेता था। अरब का अपनी पत्नी की पवित्रता के विषय में कोई विचार नहीं था। यह इस बात से स्पष्ट हो जाता है कि वह उसे अपनी सम्पत्ति मानता था जिसको भोगने अथवा जैसे उचित समझे वैसा उसका उपभोग करने में वह अपने-आपको स्वतन्त्र समझता था।

सर विलियम म्योर ने लिखा है कि "मोहम्मद ने जो स्थिति स्त्री के लिए निर्धारित की वह निम्न कोटि की है और उसके अनुसार स्त्री के भाग्य में केवल अपने स्वामी की सेवा करना लिखा है और वह भी उस स्वामी की जो बिना कोई कारण बताए तथा बिना एक घंटे की भी पूर्वसूचना दिए पत्नी को अलग कर सकता है। इस आदर्श के अन्तर्गत जबकि पति को विवाह-विच्छेद का सीमाहीन अधिकार प्राप्त है तब इस प्रकार का कोई भी अधिकार पत्नी के लिए सुरक्षित नहीं है। पत्नी की इच्छा या अनिच्छा का कोई प्रश्न नहीं उठता, पति अपनी पत्नी की देख-रेख उचित ढंग से कर भी पाता है या नहीं यह बात भी अधिक झूझ की नहीं है।

मुस्लिम विवाह के उपरोक्त परम्परात्मक स्वरूप के आधार पर अब हम भारतीय मुसलमानों की वैवाहिक संस्था के बारे में विवेचना कर सकते हैं।

मुस्लिम विवाह का अर्थ

(Meaning of Muslim Marriage)

मुस्लिम विवाह, जिसे निकाह कहते हैं, मुस्लिम कानून के अनुसार एक सामाजिक समझौता है जिसका कि उद्देश्य घर बसाना, बच्चों का उत्पाद और उन्हें वैधता प्रदान करना है। शी (Mulla) ने लिखा है कि "मुस्लिम निकाह (विवाह) एक शिष्ट समझौता है जिसका उद्देश्य बच्चे उत्पन्न करना तथा उन्हें वैध घोषित करना है।"

उपरोक्त परिभाषाओं से स्पष्ट है कि मुस्लिम विवाह एक समझौता है। मुस्लिम विवाह में वे सब बातें मिलती हैं जो 'भारतीय समझौता अधिनियम' (Indian Contract Act) के अनुसार वैध समझौते में होनी चाहिए। निकाह को वैध बनाने के लिए किसी धार्मिक संस्कार की आवश्यकता नहीं होती। इस सम्बन्ध में यह जान लेना आवश्यक होगा कि उपरोक्त अधिनियम के अन्तर्गत अनुबन्ध या समझौता क्या है और वह कब वैध होता है। इस अधिनियम के अनुसार वे समझौते वैध हैं जिनमें निम्न तत्व हों—(अ) किसी भी पक्ष की ओर से एक प्रस्ताव; (ब) उस प्रस्ताव को दोनों पक्षों की स्वतन्त्र स्वीकृति। ये दोनों पक्ष कानूनी दृष्टिकोण से समझौता करने के योग्य हों; तथा (स) समझौते के प्रतिफल (consideration) के रूप में कुछ धन।

मुस्लिम विवाह एक समझौते के रूप में

(Muslim Marriage as a Contract)

मुस्लिम विवाह एक समझौता इस अर्थ में है कि विवाह के समय दोनों पक्षों में जो समझौता होता है उसमें उपरोक्त अधिनियम के सभी तत्व अन्तर्निहित हैं।

जैसे—(1) एक ओर से विवाह का प्रस्ताव आता है। प्रायः लड़के के पक्ष से खितवा (मांग) के रूप में निकाह का प्रस्ताव आता है। (2) दूसरी ओर से इस प्रस्ताव की स्वीकृति होती है। यह प्रस्ताव और स्वीकृति एक ही बैठक में होती है। यह कायदा है कि दो पुरुष अथवा एक पुरुष तथा दो स्त्रियों की उपस्थिति में प्रस्ताव आना चाहिए और उसकी तत्क्षण स्वीकृति होनी चाहिए। ध्यान रहे कि ये पुरुष और स्त्रियाँ बालिग हों। यदि ऐसा नहीं तो वह विवाह वैध नहीं माना जाता। साथ-ही-साथ यदि प्रस्ताव दो अलग-अलग बैठकों में स्वीकृत हुआ तो विवाह वैध नहीं हो सकता। साक्षियों की अनुपस्थिति में विवाह 'फासिद' अर्थात् अनियमित (irregular) माना जाता है परन्तु 'वातिल' अर्थात् अवैध (void) नहीं होता। लड़की इन गवाहों के सामने अपनी स्वीकृति देती है। (3) लड़के के पक्ष से समझौते के प्रतिफल के रूप में 'महर' लड़की को भेंट देने का वचन दिया जाता है। इसी से यह स्पष्ट है कि मुसलमानों का विवाह एक सामाजिक समझौता है।

विवाह की शर्तें

(Conditions of Marriage)

(1) विवाह के समय वह मुसलमान, जोकि 15 वर्ष की आयु प्राप्त कर चुका है और जो सही दिमाग का है, निकाह समझौते के योग्य है। (2) नाबालिग बच्चों के विवाह उनके संरक्षकों की स्वीकृति से हो सकते हैं। (3) विवाह की स्वीकृति स्वतन्त्र रूप से या बिना किसी दबाव के होनी चाहिए। जबरदस्ती या धोखे से स्वीकृति प्राप्त कर लेना वैधानिक दृष्टिकोण से अवैध है। (4) एक मुसलमान पुरुष चार स्त्रियों से एकसाथ विवाह कर सकता है, पर एक मुसलमान स्त्री एक समय में केवल एक ही पुरुष से विवाह कर सकती है। (5) एक मुसलमान पुरुष मुसलमान स्त्री के अतिरिक्त 'किताबिया' स्त्री अर्थात् यहूदी या ईसाई स्त्री के साथ विवाह कर सकता है, परन्तु मूर्ति-पूजक से विवाह पूर्ण रूप से निषिद्ध है। इसके विपरीत एक मुसलमान स्त्री का विवाह केवल एक मुसलमान पुरुष से ही हो सकता है अर्थात् वह किताबिया पुरुष से विवाह नहीं कर सकती। (6) मुसलमानों में विवाह बहुत ही निकट रक्त-सम्बन्धियों में हो सकता। कोई भी व्यक्ति माता या आजी, पुत्री या नातिन, पिता की पत्नी या पिता पक्ष के बाबा की पत्नी, पुत्र की पत्नी, या पुत्र के पुत्र की पत्नी से विवाह नहीं कर सकता; पर मुसलमानों में चचेरी बहन या ऐसी सौतेली बहन से, जिसकी माँ दूसरी हो, विवाह किया जा सकता है।

विवाह-समझौते का प्रतिफल—'महर'

(Dower as a consideration of Marriage Contract)

जैसाकि ऊपर बताया जा चुका है कि मुस्लिम विवाह तब तक वैध नहीं है जब तक लड़के के पक्ष से विवाह-समझौते के प्रतिफल के रूप में 'महर' लड़की को न भेंट की जाए या भेंट देने का वचन न दिया जाए। पत्नी को कानून द्वारा अपने पति से महर लेने का अधिकार होता है परन्तु इसकी रकम कानून द्वारा निर्धारित न होने से घटती-बढ़ती रहती है। डॉ० कपाडिया ने लिखा है कि चूँकि अब महर वधू का मूल्य नहीं माना जाता जैसाकि प्राचीन अरब कानून में यह था और वधू की स्वीकृति वैध विवाह का आवश्यक अंग है, इसलिए ऐसा सोचा जा सकता है कि अब मुस्लिम विवाह में कोई ऐसी बात नहीं है जिसमें स्त्री को खरीदने तथा उसके परिणामस्वरूप स्त्री को सम्पत्ति के रूप में मानने की भावना छिपी हो। आज महर वह धन या

सम्पत्ति है जिसे पति, पत्नी के सम्मान में देता है। साथ ही कानून की दृष्टि से पत्नी को महर का और पति को सहवास का अधिकार एकसाथ मिलता है अर्थात् महर को चुकाए बिना पति को सम्भोग का अधिकार नहीं होता। महर का सम्बन्ध यौन-सम्बन्धी अधिकार से है, यह अनेक प्रकार से दिखाया गया है। महर की रकम स्त्री की अक्षतयोनि होने पर उसी स्त्री के महर से बहुत अधिक होगी जिसका विवाह-विच्छेद हो चुका हो अथवा जो स्त्री विधवा हो।

महर चार प्रकार का होता है—(1) निश्चित महर (Specified Dower)—यह वह महर है जो विवाह के समय अर्थात् समझौते के समय पति-पत्नी में निश्चित रूप से तय हो जाता है। (2) उचित महर (Dower Proper)—अगर विवाह के समय कोई महर तय न हुआ हो तो अदालत उचित महर तय करती है। इस प्रकार का महर पति और उसके पिता की स्थिति को देखकर तथा पत्नी के परिवार में अन्य लड़कियों को जो महर मिला है, उसके आधार पर तय होता। (3) सत्वर महर (Prompt Dower)—यह वह महर है जो विवाह से पूर्व या सम्भोग से पूर्व पति को चुकाना पड़ता है। (4) स्थगित महर (Deferred Dower)—यह वह महर है जो विवाह के समय निश्चित हो जाता है, पर विवाह-विच्छेद के समय या किसी अन्य घटना के समय देना पड़ता है, इसको चुकाए बिना विवाह-विच्छेद वैध नहीं होता। यह भी हो सकता है कि दोनों पक्ष आपस में महर को दो प्रकार से चुकाने को राजी हो जाएँ—कुछ भाग सत्वर महर के रूप में और कुछ स्थगित महर के रूप में दिया जाए।

उक्त चारों प्रकारों में महर कितना होगा, इसकी कोई निश्चित सीमा नहीं है। प्रायः यह कन्या और वर की योग्यता व स्थिति पर निर्भर होता है। पति की मृत्यु के बाद यह महर पति की सम्पत्ति से सबसे पहले अलग कर लिया जाता है। और यदि सम्पत्ति का बँटवारा हो चुका है तो प्रत्येक हिस्सेदार के हिस्से से उसके हिस्से के अनुपात में यह महर वसूल कर लिया जाता है। अगर पति की ओर से पत्नी को छोड़ दिया गया है, या पति ने अपनी पत्नी को तलाक दे दिया है तो उस अवस्था में भी महर चुका देना आवश्यक होता है, वरना वह तलाक वैध नहीं माना जाता है। यदि पति-पत्नी ऐसे किसी कारण से अलग हुए हों जो स्वयं पत्नी की ओर से उत्पन्न हुआ हो और उनमें यौन-सम्बन्ध स्थापित नहीं हुआ हो तो पत्नी किसी भी महर की अधिकारिणी नहीं होगी। अक्सर विवाह में पूरा महर नहीं चुकाया जाता और इसकी प्रथा भिन्न-भिन्न प्रदेशों में भिन्न-भिन्न है कि पति-पत्नी में यौन-सम्बन्ध स्थापित होने के पूर्व महर का कितना भाग चुका दिया जाएगा। शेष भाग तो सामान्यतः पति की मृत्यु अथवा पत्नी का विवाह-विच्छेद होने पर ही चुकाया जाता है। अगर महर की निश्चित राशि पत्नी को नहीं चुकाई जाती है तो उसे यह अधिकार होगा कि वह अपने आपको अपने पति की होने से इनकार कर दे, अथवा उसके साथ यौन-सम्बन्ध स्थापित न करे या पति के साथ कहीं दूसरी जगह जाने से इनकार कर दे।

विवाह और नाबालिग

(Marriage and Minors)

यदि कोई मुस्लिम विवाह 15 वर्ष से नीचे की आयु वाले का हुआ है और यदि वह विवाह पिता या दादा के अलावा अन्य किसी के द्वारा किया गया है, तो

मुस्लिम परिवार तथा विवाह

बालिग होने पर दोनों पक्षों को यह अधिकार रहता है कि वे उस विवाह को स्वीकार करें या न करें। इस सम्बन्ध में किसी भी प्रकार की कानूनी कार्यवाही की आवश्यकता नहीं होती, पति-पत्नी की सम्मति या विचार ही काफी होता है और विवाह आप-से-आप रह हो जाता है; पर यदि विवाह पिता-दादा के द्वारा किया गया है तो बालिग होने पर भी उसे अस्वीकार नहीं किया जा सकता जब तक अस्वीकार करने वाले पक्ष यह प्रमाणित करने में सफल न हों कि पिता या दादा ने उनका विवाह लापरवाही या धोखे से, जबरदस्ती या अपनी स्वाधुनिकता के लिए किया जो कि विवाह करने वाले पक्ष के हित के विरुद्ध था।

विवाह में संरक्षक का स्थान

(Role of Guardian in Marriage)

मुस्लिम विवाह में 'वली' अर्थात् संरक्षक का महत्वपूर्ण स्थान है। डॉ० कपाडिया ने लिखा है कि स्वीकृति के मामले में, पिता का प्राचीन अधिकार अप्रत्यक्ष रूप से अब भी विद्यमान है। विवाह के सम्बन्ध में संरक्षक का यह अधिकार दो प्रकार से उपयोग में आता है—(1) संरक्षक का यह देखने का मुख्य कर्तव्य होता है कि "दोनों पक्षों में समानता के सिद्धान्त का निर्माण हो रहा है या नहीं तथा वह लड़की, जिसका कि वह संरक्षक है अनुपयुक्त अथवा अवांछनीय व्यक्ति को तो अपना साथी नहीं बना लेती है, जिसके फलस्वरूप उसके समुदाय का अपमान हो।" इसलिए "कुछ सम्बन्धियों को यह अधिकार होता है कि वे वयस्क स्त्री के द्वारा किए गए विवाह के अनुबन्ध या समझौते के विरुद्ध आपत्ति इस आधार पर उठाएँ कि वह पुरुष, जिसको कि वर के रूप में चुना गया है, वंश, चरित्र, पेशा, स्थिति तथा शिक्षा में उसके समान नहीं है। (2) इसके अतिरिक्त यह संरक्षक का ही कार्य होता है कि वह 'महर' के स्वीकृति अंश को चुका देने पर वधू का नियन्त्रण उसके पति के हाथ में सौंप दे।" हनाफी न्यायसंहिता (Code) के अनुसार 'वली' अर्थात् संरक्षक ही नाबालिग तथा अक्षतयोनि कन्या का विवाह उसे यह सूचना देकर करता है कि 'वह' आ गया है। उसका मौन ही उसकी स्वीकृति होती है किन्तु यदि वह कुछ कहती भी है और अपनी स्वीकृति नहीं देती तो भी वह विवाह वैध अर्थात् न्याय-सम्मत होता है।" डॉ० कपाडिया ने यह भी लिखा है कि शफी कानून के अन्तर्गत अक्षतयोनि कन्या का विवाह, चाहे वह वयस्क भी हो गई है 'वली' अर्थात् संरक्षक की स्वीकृति के बिना असम्भव है। इसलिए वली को 'वली मुआविर' कहते हैं। जैसा कि पहले ही कहा चुका है, संरक्षक द्वारा किया हुआ विवाह तभी तोड़ा जा सकता है "जब पिता अथवा पितामह के अतिरिक्त किसी अन्य संरक्षक द्वारा नाबालिग कन्या का विवाह किया गया है, तो उस अवस्था में वह (पुरुष अथवा स्त्री) वयस्कता के विकल्प (option of puberty) का प्रयोग करके उस विवाह में वधू से इनकार कर सकती है और न्यायालय से उस विवाह को समाप्त कर देने की राजाज्ञा (decree) देने के लिए कह सकती है।" यदि उसका विवाह संरक्षक के द्वारा हुआ हो तो तब उसे अधिकार है कि वह उस विवाह को समाप्त कर दे यदि वह उसके पन्द्रह वर्ष की आयु प्राप्त करने के पूर्व हुआ हो और उसने उसका विरोध किया हो। इसमें केवल शर्त यही है कि उस विवाह की पूर्णता (सम्भोग) उसके 18 वर्ष की आयु के पूर्व नहीं हुई हो।" डॉ० कपाडिया के अनुसार विवाह में वली (संरक्षक) की भूमिका एक दूसरे तथ्य से भी सिद्ध होती है। वह यह कि अनुबन्ध या समझौता करने

बालों में वर की ओर से वर स्वयं उपस्थित होता है जबकि वधू की ओर से उसका संरक्षक होता है।

इस सम्बन्ध में यह कहा जाता है कि पैगम्बर ने यह घोषणा की थी कि "सावधानी बरतो ताकि उचित संरक्षकों के अतिरिक्त अन्य कोई व्यक्ति स्त्रियों के विवाह का समझौता नहीं करे।" दो कारणों से विवाह का निश्चित करना संरक्षकों पर छोड़ा गया—(1) सर्वश्री मलिक तथा शफी के अनुसार, "विवाह का प्रस्तावित लक्ष्य उन लाभों को प्राप्त करना है जो इसके द्वारा उत्पन्न होते हैं, जैसे सन्तानोत्पादन आदि और यदि इस समझौते का परिणाम किसी भी प्रकार से स्त्रियों पर छोड़ दिया गया तो विवाह का लक्ष्य सिद्ध नहीं होगा, क्योंकि स्त्रियाँ कम बुद्धि वाली तथा चापलूसी एवं छल-कपट से प्रभावित होने वाली होती हैं।" (2) विवाह का अनुबन्ध केवल उस स्त्री के 'कफ' अर्थात् समान के साथ हो सकता है। सर्वश्री हनीफी तथा शफी के अनुसार इस समानता का सम्बन्ध जन्म-धर्म आदि से है और श्री मलिक के अनुसार आचरण तथा निष्ठा (faith) अर्थात् धर्म से है। यह समानता केवल पति के सम्बन्ध में होनी चाहिए। यह आवश्यक नहीं है कि पत्नी भी पति के समान हो, क्योंकि पुरुष अपने से निम्न स्त्रियों के साथ सहवास करने से नहीं गिरते। तदनुसार संरक्षक का यह कार्य या कर्त्तव्य है कि वह इस बात से सचेत रहे कि लड़की का विवाह केवल मुसलमान पुरुष से ही हो रहा है अर्थात् गैर-मुस्लिम से या 'किताबिया' में विवाह करने से कन्या को रोकना संरक्षक का कार्य है। ऐसे विवाह वैध भी नहीं हैं। मुसलमान पुरुष के लिए, जैसा कि पहले ही कहा जा चुका है, इस प्रकार का कोई प्रतिबन्ध नहीं है। परन्तु स्त्रियों पर धर्म से सम्बन्धित प्रतिबन्ध यह है कि किसी गैर-मुस्लिम से विवाह अवैध है, यहाँ तक कि यदि पति भी इस्लाम धर्म को छोड़कर किसी दूसरे धर्म को स्वीकार कर ले तो विवाह अपने-आप ही समाप्त हो जाता है और मुस्लिम स्त्री को दूसरे मुस्लिम से विवाह करना पड़ता है।

विवाह के अधिकार और कर्त्तव्य

(Rights and Duties of Marriage)

एक वंश मुस्लिम विवाह पत्नी को महर, भरण-पोषण और निवास का अधिकार प्रदान करता है और उस पर यह कर्त्तव्य लादता है कि वह पति के प्रति वफादार और आज्ञाकारी रहेगी। वह पति को यौन-सम्बन्ध स्थापित करने का भी अधिकार देगी, पर साथ ही तलाक के समय 'इद्त' को मानेगी। 'इद्त' वह समय है जिसमें तालाक घोषित होने के बाद पति-पत्नी आपस में सम्भोग या यौन-सम्बन्ध स्थापित नहीं करते। इद्त का यह समय साधारणतया तीन माह का होता है। इसका उद्देश्य यह ज्ञात करना है कि स्त्री पहले पति से गर्भवती नही है। अगर है तो गर्भ के बच्चे का अधिकार पिता की सम्पत्ति पर हो जाता है। पत्नी से यह आशा की जाती है कि इद्त के दौरान में वह न तो पति से और न ही किसी अन्य व्यक्ति से यौन-सम्बन्ध स्थापित करेगी; दूसरी ओर पति के लिए यह अनिवार्य है कि अपनी पत्नी का भरण-पोषण करे जब तक कि वह आज्ञाकारी और वफादार है। अगर पति ऐसा नहीं करता है तो पत्नी अदालत की शरण ले सकती है।

विवाह के भेद

(Kinds of Marriage)

मुसलमानों में विवाह के दो भेद हैं—(1) निकाह और (2) मुताह। निकाह

मुस्लिम परिवार तथा विवाह

सर्वाधिक प्रचलित और स्थायी विवाह है, परन्तु इस विवाह के अतिरिक्त भी, मुसलमानों में, विशेषकर शिया सम्प्रदाय में एक प्रकार का अस्थायी विवाह भी हो सकता है। निकाह विवाह की विशेषताओं के सम्बन्ध में हम ऊपर विस्तारपूर्वक विवेचना कर चुके हैं, इसलिए इसे फिर यहाँ दोहराने की आवश्यकता नहीं। यहाँ हम दूसरे प्रकार के विवाह अर्थात् मुताह के बारे में विवेचना करेंगे। जैसाकि पहले ही कहा जा चुका है, प्राचीन अरब में स्त्री अपने पति के चुनाव में स्वतन्त्र थी। वह अपने डरे में उसे बुलाती और जब इच्छा होती तो उसे निकाल बाहर भी करती थी—इसे उस समय 'बिना' विवाह भी कहा जा सकता था। बाद में इसका स्थान 'बाल' विवाह ने ले लिया जिसमें कि पत्नी के समस्त अधिकार छीनकर पति को दे दिए गए। किन्तु विवाह का यह नवीन रूप प्राचीन प्रथा को पूरी तौर से नहीं मिटा सका, जो मोहम्मद के समय 'मुताह' के रूप में चलती रही। यह उस समय दोनों पक्षों की सम्मति तथा पारस्परिक स्वीकृति से होता था तथा इस प्रकार के विवाह के समझौते की अवधि भी निश्चित होती थी और उस अवधि में पत्नी अपने पति से विवाह-विच्छेद नहीं करती थी। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि प्राचीन अरब में स्त्री को जो मौलिक अधिकार प्राप्त था उसके बाद भी उससे वह अधिकार नहीं छीना गया, यद्यपि उसे सीमित अवश्य ही कर दिया गया है। डॉक्टर कपाडिया ने लिखा है कि एक अनुश्रुति के अनुसार ऊपर लिखे समय तक मुताह विवाह पूरी तौर से नहीं हटा दिया गया था। यद्यपि पैगम्बर इस विवाह को अच्छी दृष्टि से नहीं देखते थे फिर भी उनके समय में तथा उसके बाद भी इस विवाह का प्रचलन बना रहा। कुरान में भी इस प्रकार के विवाह की निन्दा की गई है, परन्तु आश्चर्य की बात यह है कि शिया लोगों में ही, जो कि कुरान के उपदेशों के कट्टर अनुयायी हैं, इस विवाह का प्रचलन मिलता है। सुन्नियों में कुछ भी हो, मुताह विवाह की पत्नी 'सीद्दा' कहलाती है। साधारण पत्नी की भाँति 'सीद्दा' का भारण-पोषण के लिए कोई कानूनी दावा नहीं है और न ही उसे अपने पति की सम्पत्ति पर अधिकार होता है, फिर भी इस प्रकार के विवाह से उत्पन्न सन्तान पूर्ण रूप से वैध होती है और उन्हें पिता की सम्पत्ति पर अधिकार होता है। डॉ० कपाडिया के अनुसार यद्यपि पैगम्बर इस प्रथा को हटा नहीं सके फिर भी उन्होंने इसकी निन्दा अवश्य की। मुताह विवाह की सबसे प्रमुख विशेषता यह है कि इसका इकरार एक विशेष अवधि के लिए होता है और उस अवधि के बाद पति-पत्नी का वह वैवाहिक सम्बन्ध आप-से-आप हो जाता है। श्री बुखारी द्वारा वर्णित एक अनुश्रुति में पैगम्बर कहते हैं कि "यदि स्त्री और पुरुष परस्पर यह स्वीकार कर लें, तो उनका साहचर्य तीन रात्रियों के लिए होगा। इसके बाद भी यदि वे किसी प्रकार आगे और रहना चाहते हैं तो वे ऐसा कर सकेंगे और यदि वे चाहें तो अपना सम्बन्ध तोड़ सकेंगे।" इस अनुश्रुति (हदीस या सुन्नत) के अनुसार अस्थायी मित्रता स्थायी हो सकती है यदि दोनों पक्ष ऐसा चाहते हैं और इसलिए यह अस्थायीपन कोई गम्भीर बुराई नहीं है। श्री स्मिथ का कहना है कि अरबों में विवाह-विच्छेद बहुत प्रचलित होने के कारण विवाह-बन्धन के प्रति कोई ऐसी कोमल भावना नहीं थी जो मुताह विवाह को इस्लाम में अवैध तथा गैर-कानूनी बना देती, फिर भी यह विवाह अधिक लोकप्रिय नहीं हो सका। श्री स्मिथ के अनुसार इसका कारण यह था कि मुताह विवाह में स्त्री अपना घर नहीं छोड़ती थी और न ही उसके नाते-रिस्तेदार उस पर से अपना अधिकार त्यागते थे और साथ ही उस विवाह की सन्तान भी पति

की नहीं होती थी। इस विवाह ने, जैसाकि डॉ० कपाडिया ने लिखा है, स्त्री को बहुत अधिक स्वतन्त्रता प्रदान की और इससे उत्पन्न हुई सन्तान का सम्बन्ध भी उसके पति के गोत्र से नहीं जोड़ा। इस प्रकार यह इस्लाम की विवाह सम्बन्धी धारणा के विरुद्ध था। इसीलिए इस्लाम ने अरबों के यौन-सदाचार पर पवित्र प्रभाव डालने का प्रयत्न किया और मुताह विवाह की निन्दा की और इसलिए पैगम्बर ने जो महान् कार्य अपने सामने रखा वह विवाह के अस्थायी रूप को स्थायित्व प्रदान करने का था। उसी के फलस्वरूप निकाह विवाह आज हमारे सम्मुख है और भारतीय मुसलमानों में इसी निकाह विवाह का प्रचलन देखने को मिलता है।

उपरोक्त विवेचना के आधार पर मुताह विवाह की निम्नलिखित विशेषताओं का उल्लेख किया जा सकता है—(1) आवश्यक सहवास का समय निश्चित होता है। इस निश्चित समय के पश्चात् विवाह-सम्बन्ध बिना शर्त के आप-से-आप समाप्त हो जाता है। (2) महर का निश्चित उल्लेख होता है यदि सहवास का समय निश्चित है, पर यदि महर निश्चित नहीं तो भी मुताह वैध है। पर यदि महर निश्चित है और सहवास का समय निश्चित नहीं है तो मुताह अवैध है, परन्तु निकाह किया जा सकता है। (3) ऐसे विवाह से उत्पन्न बच्चों को माता-पिता की सम्पत्ति पर अधिकार होता है और प्रत्येक सन्तान वैध होती है। (4) स्त्रियों को निश्चित महर का अधिकार होता है, यदि यौन-सम्बन्ध स्थापित हो गया है; परन्तु भरण-पोषण का अधिकार नहीं होता। यद्यपि कानूनी दृष्टिकोण से भारत में मुताह की आज्ञा है फिर भी इसका प्रचलन नहीं है।

हिन्दू और मुस्लिम विवाह में अन्तर

(Distinction between Hindu and Muslim Marriage)

भारतीय सामाजिक व्यवस्था में हिन्दू और मुसलमान दोनों का ही महत्वपूर्ण स्थान है। ये दोनों ही शताब्दियों से एकसाथ यहाँ निवास कर रहे हैं और इसलिए अनेक क्षेत्रों में इन दोनों में सांस्कृतिक आदान-प्रदान हुआ है। यह आदान-प्रदान बहुमुखी है। फिर भी दोनों संस्कृतियाँ अपने रूप में अनोखी हैं और यही कारण है कि अनेक विषयों में हिन्दू और मुसलमान में आज भी अनेक अन्तर देखने को मिलते हैं। इसका सबसे अच्छा प्रमाण हिन्दू और मुसलमानों की विवाह-संस्था है। विवाह सामाजिक जीवन की एक आधारभूत संस्था के रूप में सर्वमान्य है और इसलिए हिन्दू और मुस्लिम दोनों ही संस्कृतियों में इस संस्था का रूप अलग-अलग है। यह अन्तर न केवल उद्देश्यों और आदर्शों के आधार पर है बल्कि विवाह की प्रकृति और विवाह की प्रणाली में भी भिन्नता देखने को मिलती है।

१. उद्देश्य और आदर्श के आधार पर अन्तर—हिन्दू विवाह एक धार्मिक और पवित्र संस्कार है जिसके मुख्य रूप से तीन उद्देश्य और आदर्श हैं—(क) प्रत्येक हिन्दू स्त्री-पुरुष का विवाह करना एक धार्मिक कर्तव्य है; (ख) विवाह का एक मुख्य उद्देश्य पुत्र-प्राप्ति है जोकि अपने पितरों को तर्पण और पिण्डदान कर सके; (ग) साथ ही पारिवारिक और धार्मिक आवश्यकताओं के उद्देश्य से विवाह आवश्यक है। इसके विपरीत मुस्लिम विवाह या निकाह एक शिष्ट समझौता है जिसका कि मुख्य उद्देश्य (अ) यौन-सम्बन्धी तृप्ति और (ब) सन्तानों की उत्पत्ति और उनका वैधकरण है।

2. विवाह प्रणाली के आधार पर अन्तर—(क) हिन्दुओं में पत्नी अपने पिता के घर से दहेज या धन लाती है; पर मुसलमानों में पति पत्नी को महर देता है। यद्यपि कुछ मुसलमानों में हिन्दुओं की देखा-देखी वर-मूल्य-प्रथा का प्रचलन भी हो रहा है। (ख) हिन्दुओं में बहुपत्नी-विवाह मान्य है, पर पत्नी की संख्या सीमित नहीं है। मुसलमानों में भी बहुपत्नी-विवाह मान्य है, पर एक समय में चार से अधिक पत्नियों से विवाह नहीं हो सकता। (ग) हिन्दुओं में विवाह सम्बन्धी अनेक प्रकार के निषेध हैं। प्रत्येक व्यक्ति को अपनी ही उपजाति में विवाह करना पड़ता है। उसी प्रकार सगोत्र, सपिण्ड और सप्रवर विवाह नहीं हो सकते। कुलीन विवाह के नियमों को भी मानना आवश्यक हो जाता है। परन्तु इस प्रकार के असंख्य निषेध मुसलमानों की विवाह-संस्था में देखने को नहीं मिलते। उनमें तो कुछ निकट के रक्त-सम्बन्धियों को छोड़कर और सभी के साथ विवाह-सम्बन्ध स्थापित हो सकता है। हनाफी न्याय-वेत्ताओं के अनुसार, “कोई भी पुरुष अपनी कन्या का विवाह अपने भाई के पुत्र के साथ बिना उसकी स्वीकृति लिए कर सकता है, यद्यपि पुरुष के लिए यह छूट है कि वह अपने-आप यह निश्चित करे कि उसकी चचेरी बहन से विवाह करने के सम्बन्ध में उसकी इच्छा क्या है।

3. विवाह की प्रकृति के आधार पर अन्तर—(क) मुसलमानों में स्थायी और अस्थायी दोनों परिवार के विवाह पाए जाते हैं, परन्तु हिन्दुओं में मुताह विवाह के समान कोई अस्थायी विवाह मान्य नहीं है। (ख) हिन्दुओं में विधवा-विवाह मान्य नहीं है और न ही इहत जैसा समय होता है, पर मुस्लिम विवाद में ये दोनों ही पाये जाते हैं।

4. विवाह-सम्बन्ध के आधार पर अन्तर—(अ) हिन्दुओं में विवाह एक अटूट बन्धन है और मृत्यु के बाद ही यह सम्बन्ध विच्छिन्न हो सकता है। परन्तु मुसलमानों का विवाह एक समझौता है, इस कारण इसे किसी भी समय तोड़ा जा सकता है। (ब) मुसलमानों में विवाह-विच्छेद सरल है, हिन्दुओं में विवाह-विच्छेद सपना है। (स) मुसलमानों में विवाह-विच्छेद अदालत के बिना और अदालत की सहायता दोनों ही तरह हो सकता है। आजकल हिन्दुओं में भी विवाह-विच्छेद हो सकता है, पर केवल अदालत के द्वारा ही।

उपरोक्त विवेचना से स्पष्ट है कि हिन्दू तथा मुस्लिम विवाह संस्था में कुछ आधारभूत अन्तर हैं और ये अन्तर सामाजिक आधार पर अधिक स्पष्ट हैं। वास्तव में वैधानिक आधार पर इनमें से अनेक अन्तर दूर हो चुके हैं।

भारतीय मुस्लिम-विवाह की एक झलक

(A Glimpse of Indian Muslim Marriage)

मुस्लिम विवाह में, जैसाकि ऊपर स्पष्ट किया जा चुका है, लड़के वाले की ओर से प्रस्ताव आता है और इसकी स्वीकृति लड़की की ओर से होती है! उसके पश्चात् जो-जो संस्कार होते हैं वे निम्नवत् हैं—

मंगनी—प्रस्ताव स्वीकार हो जाने के पश्चात् मंगनी (पानखोरी) होती है। लड़के वाले लड़की के लिये कपड़े, एक जोड़ा कंगन, छल्ला (अँगूठी), मिठाई और पान का पूरा सामान लाते हैं; ढोलक के गीत ‘मिरासनें’ गाती हैं। उस समय महर भी निश्चित होता है।

विवाह से सात दिन पूर्व—लड़की को 'माइयो' (अलग कमरे) में बैठाया जाता है। इस समय लड़की को पीले कपड़े पहनाकर अलग कमरे में बैठा देते हैं। शादी-कुशा औरतें (सम्बन्धी) होने वाली दुल्हन को उबटन इत्यादि लगाती हैं। यह क्रिया शादी तक चलती रहती है।

विवाह से एक रात पूर्व—लड़के के पक्ष से 'सुहागपूड़ा' में मेंहदी, मिस्सी, सुरमा, कलावा व उबटन आदि भी आता है। यही मेंहदी लड़की (दुल्हन) के हाथ पर रचाई जाती है। 'सुहागपूड़े' के साथ 'साचक' आती है जिसमें दुल्हन का पूरा सख्तमल का सूट, चूड़ियाँ, सेंडल इत्यादि आते हैं। इस अवसर पर मंगलगीत गाये जाते हैं जिसमें विदा के गीत तथा गालियाँ भी गाई जाती हैं। विदा के गीत की प्रथम पंक्ति है—“काहे दिया है विदेश बाबुल मोरे—”। मीठी गालियाँ लड़के के पक्ष (समधी, समधिन इत्यादि) को दी जाती हैं। 'सुहागपूड़े' और 'साचक' के बदले लड़की वाले 'बरी' भेजते हैं जिसमें दुल्हे के लिये शेरवानी, साफा, चुस्त या चोड़ा पजामा, सलीम-शाही जूता, मेंहदी व अँगूठी आदि वस्तुयें शामिल होती हैं।

शादी का दिन—दुल्हे की बारात के साथ थालों में छुआरे, मिश्री, मखाने और काजू आदि के अलावा लड़की के लिये और सालियों के लिये जोड़े और सालों के लिए रूमाल आदि लाये जाते हैं। बारात के पहुंचने पर दुल्हन के भाई डण्डे से रास्ता रोकते हैं और उस समय उनको कुछ मिलने का हक होता है। दुल्हन को लड़के के यहाँ से आए हुए कपड़े पहनाए जाते हैं। उसका अन्य प्रकार से खूब साज-शृंगार किया जाता है। इस समय मिरासनें 'हस्बेमायूल' (विदा के गीत) गाती हैं।

निकाह पढ़ना—इसके लिए एक काजी बुलवाया जाता है जो दो वकीलों को दुल्हन के पास उसकी मर्जी (स्वीकृति) लेने के लिये भेजता है। इनके साथ निकाह के दफ्तर का एक रजिस्टर भी होता है जिसमें लड़की के दस्तखत किये जाते हैं और साथ ही वकील भी दस्तखत करते हैं। वकीलों के बाहर आने के बाद लड़के की तरफ से दो गवाह इसी तरह दुल्हे की मर्जी लेकर उससे दस्तखत करवाते हैं और गवाह के तौर पर खुद भी दस्तखत करते हैं। इसके पश्चात् काजी 'निकाह' पढ़ता है। यह अरबी भाषा में पढ़ा जाता है। इसका अर्थ काजी आम जवान में बतलाता जाता है। निकाह के बाद दुल्हे की तरफ से आई हुई 'बरी' न्यूछावर की जाती है। इसके पश्चात् दुल्हन के वालिद (पिता) की ओर से एक दावत दी जाती है। उसी रात को दुल्हे को अन्दर बुलाकर दुल्हन का मुँह दिखाया जाता है। इस रस्म को 'आरसी मुसद्दफ' कहा जाता है। इसके अन्तर्गत दोनों के बीच में 'कुराने शरीफ' रखकर दुल्हन के हाथ में आईना दिया जाता है। दुल्हा अपनी दुल्हन के मुँह का प्रतिबिम्ब आईने में देखता है।

विदाई—रात के पहले पहर तक लड़की विदा कर दी जाती है। उसके साथ तमाम दहेज का सामान होता है। जब दुल्हन लड़के के घर के दरवाजे पर पहुंचती है तो वहाँ से अपने कमरे तक दुल्हा उसे गोद में लेकर जाता है। इसका अर्थ यह है कि दुल्हा मरते दम तक दुल्हन को इसी प्रकार सहारा दिए रहेगा। मिरासनें गीत गाती हैं। उसके पश्चात् सुहागरात मनाई जाती है। दूसरे दिन दुल्हन के भाई व बहनें दुल्हन को लेने जाते हैं। उस मौके पर भी कुछ रस्में होती हैं। चौथी, छठी और सालें (40 दिन) पर दुल्हन अपने मँके जाती है।

मुसलमानों में विवाह-विच्छेद (Divorce among Muslims)

मुसलमानों में विवाह-विच्छेद सरल है। परम्परागत रूप में विवाह-विच्छेद या 'तलाक' से सम्बन्धित अधिकार एकतरफा हैं और ऐसे समस्त अधिकार पुरुष के हाथों में ही केन्द्रित हैं। पुरुष जब चाहे तब अपनी मर्जी के मुताबिक बिना कोई कारण बतलाए अपनी पत्नी को तलाक दे सकता है। पुरुष का अधिकार यहीं समाप्त नहीं होता। "तलाक की घोषणा हो जाने पर भी स्त्री स्वतन्त्र नहीं हो जाती थी। जब तक तीन मासिक धर्म की अवधि (इद्दत) नहीं बीत जाए, तब तक उसे यह निश्चित करने के लिये प्रतीक्षा करनी पड़ती थी कि कहीं वह गर्भवती तो नहीं है। प्रतीक्षा की इस अवधि में पति को यह अधिकार होता था कि वह अपने वैवाहिक अधिकारों को तलाक दी गई पत्नी पर फिर से जमा ले और दुबारा विवाह को वैध बनाने के लिये आवश्यक किसी भी प्रकार के रस्म-रिवाज को पूरा किए बिना ही वह स्त्री फिर उसकी पत्नी बन जाती थी। इस पुनः ग्रहण के लिये पत्नी की स्वीकृति की कोई आवश्यकता नहीं थी। इस विशिष्ट स्थिति का कारण यह था कि प्राचीन अरब कानून में पत्नी पर पति का अधिकार तलाक के सूत्र दोहराए जाने पर भी समाप्त नहीं होता था। तलाक की स्थिति में भी पति का अपनी पत्नी पर अन्य किसी भी दूसरे व्यक्ति से अधिक ही अधिकार होता था। इस अधिकार की समाप्ति तो तलाक के सूत्र को तीन बार दोहरा दिए जाने अथवा 'इद्दत' की अवधि पूरी हो चुकने के बाद ही होती थी। तभी तलाक (divorce) पूर्ण होता तथा स्त्री अपने पत्नीत्व से मुक्त हो जाती।"

डॉ० कपाडिया के अनुसार यह सम्भव है कि मोहम्मद विवाह-विच्छेद के अधिक पक्ष में नहीं थे क्योंकि उनका तो लक्ष्य विवाह संस्था को कुछ ऐसे ठोस आधारों पर आधारित करना था जोकि पारिवारिक जीवन में स्थिरता ला सकें। इसलिये विवाह-विच्छेद की आज्ञा केवल तभी दी जाती थी, "जब दोनों को यह आशंका उत्पन्न हो जाती कि वे ईश्वरीय सीमा के अन्दर नहीं रह सकते।" इस सम्बन्ध में एक अनुश्रुति भी उद्धृत की जाती है, "विवाह-विच्छेद वह स्थिति है जो कानून-सम्मत तो है, किन्तु ईश्वर उसे पसन्द नहीं करता।" श्री एम० सेडिलॉट ने भी लिखा है कि मुसलमानों में "विवाह-विच्छेद की आज्ञा दी जाती थी, परन्तु वह उन औपचारिकताओं (formalities) के अधीन थी, जो शीघ्रता में अथवा बिना भली प्रकार विचारे ली गई प्रतिज्ञा को वापिस लेने की सिफारिश करती थी।" दूसरे शब्दों में, तलाक पूर्ण होने से पहले कुछ औपचारिकताओं या नियमों का पूरा होना भी आवश्यक है, इस दौरान में तलाक देने वाले को यह मौका मिलता है कि वह अपने निर्णय पर पुनः विचार करे और यदि उसने जल्दबाजी या गुस्से में वह निर्णय लिया हो तो उसे सुधारे जिससे कि पारिवारिक विघटन की सम्भावनायें न्यूनतम हों। उदाहरणार्थ, "प्राचीन अरबी कानून में इस्लाम द्वारा तलाक के अन्तर्गत जो तीन मास की प्रतीक्षा ('इद्दत') सम्मिलित की गई उससे पति को अपनी भावनाओं को दबाने अथवा अपने निर्णय पर पुनः विचार करने का पर्याप्त समय मिल गया, यदि वह निर्णय शीघ्रता अथवा क्रोध में लिया गया हो। इस प्रकार अप्रत्यक्ष रूप से आगे चलकर मेल-मिलाप के लिये अवसर दिया गया और 'इद्दत' ने अविचारपूर्ण शीघ्रता तथा आवेश में दिए गए तलाक पर नियन्त्रणकारी

प्रभाव डाला।" उसी प्रकार कुछ विद्वानों का कथन है कि आज 'महर' की रकम वर की औकात या क्षमता से ज्यादा इसलिए निश्चित कर दी जाती है कि इससे पति के विवाह-विच्छेद के निरंकुश अधिकारों पर स्वतः ही रोक लग जाती है क्योंकि तय की हुई महर को चुकाए बिना पति अपनी पत्नी को तलाक नहीं दे सकता। फिर भी मोहम्मद के समय से तलाक के अधिकार का उपयोग पुरुष द्वारा खव स्वतन्त्रता से ही होता जा रहा है।

कुछ भी हो, मोहम्मद तथा उनके बाद के न्याय-विशारदों ने इस बात का प्रयत्न अवश्य ही किया कि तलाक की दरें समाज में बढ़ने न पायें। इसके लिये इन न्याय-विशारदों ने यह स्पष्ट निर्देश दिया कि पति के द्वारा अपनी पत्नी को तलाक देना तब तक अनुचित, इसलिये निषिद्ध है, जब तक कि पत्नी के विरुद्ध व्यभिचार का अभियोग न हो। इसलिये "हनाफी, मलिक, शफी तथा बहुसंख्यक सियाह तलाक की आज्ञा तो देते हैं, किन्तु वे बिना कोई गम्भीर कारण के उस अधिकार का उपयोग न्याय-सम्मत नहीं मानते।" मुस्लिम-नैयायिकों तथा कुरान के व्याख्याकारों ने तो तलाक के सम्बन्ध में पुरुषों के एकतरफा अधिकार को भी अनुचित ठहराया तथा स्त्रियों के प्रति न्याय तथा समानता बरतने की सिफारिश की। उनके अनुसार, "पत्नी को भी दुर्व्य-वहार, भरण-पोषण की कमी तथा अन्य दूसरे उचित कारणों से पति से अलग होने की माँग करने का अधिकार है, परन्तु यदि वह अपने अलग होने की माँग के समर्थन में उचित और ठोस आधार या कारण प्रस्तुत करने में असमर्थ है तो वह अपने दहेज को खो बँटेगी।" श्री अमीर अली का भी यही कहना है कि "पैगम्बर ने स्त्रियों को उचित आधार पर अलग होने की माँग करने का अधिकार प्रदान किया।" पीर और पैगम्बर का इस सम्बन्ध में उद्देश्य अच्छा ही था, यह स्वीकार करना पड़ेगा, पर व्यावहारिक रूप में तलाक की जो स्थिति है वह मुस्लिम स्त्रियों के अधिक अनुकूल नहीं है और न ही इस सम्बन्ध में उनकी स्थिति पुरुषों के समान है। पत्नी भी अपने पति को तलाक दे सकती है, पर यह अधिकार भी वास्तव में विवाह के समय पति से ही पत्नी को प्राप्त होता है। अर्थात् विवाह के समय पति अपनी पत्नी को विवाह-विच्छेद का अधिकार प्रदान कर सकता है। परन्तु जैसा कि मुल्ला ने लिखा है, "इस प्रकार का तलाक यद्यपि देखने में पत्नी द्वारा पति का विवाह विच्छेद है, फिर भी कानूनी तौर पर पति द्वारा पत्नी के तलाक के रूप में ही चलता है।" दूसरे शब्दों में आधार-भूत में पति ही पत्नी के इस अधिकार का मूल-स्रोत है अर्थात् तलाक देने का वास्तविक अधिकार पति को प्राप्त है, उस अधिकार को पति अपनी पत्नी को 'अगर चाहे तो' सौंप सकता है और तब कहीं पत्नी तलाक की घोषणा कर सकती है।

इसीलिये यह निरन्तर अनुभव किया गया कि तलाक का यह एकतरफा नियम स्त्रियों के लिये हितकर नहीं है। "वह प्रणाली, जिसमें पत्नी अपने सिर पर तलाक का भय लगातार लटकता हुआ देखे, उसके लिये यह सदा कष्ट का कारण होने के अतिरिक्त और कुछ नहीं सिद्ध हो सकती।" अतः सन् 1939 में 'मुस्लिम विवाह-विच्छेद अधिनियम' पास करके मुस्लिम स्त्रियों की तलाक सम्बन्धी नियोग्यता को दूर प्रदान किया गया। अब हम परम्परागत तथा कानूनी दृष्टिकोण से मुस्लिम विवाह-विच्छेद के बारे में विवेचना करेंगे।

मुस्लिम परिवार तथा विवाह

बिना अदालत के विवाह-विच्छेद

(Divorce without the Interference of the Court)

बिना अदालत के हस्तक्षेप किए विवाह-विच्छेद का अधिकार मुस्लिम तपुरुष को ही है। स्त्रियाँ केवल पति की सहमति से ही विवाह-विच्छेद कर सकती हैं। मुसलमानों में बिना अदालत के जो विवाह-विच्छेद होते हैं वे निम्न हैं—

1. तलाक—मुस्लिम कानून के अनुसार कोई भी पति, जो सही दिमाग वाला और बालिग है, अपनी पत्नी को जिस समय भी चाहे, बिना कोई कारण बताए हुए तलाक दे सकता है। तलाक लिखित और अलिखित दो प्रकार का होता है। लिखित तलाक के लिए तलाकनामा जरूरी है। अलिखित या मौखिक तलाक तीन प्रकार का होता है—(अ) तलाके अहसन—इसमें पत्नी के 'तुहर' (मासिक धर्म) के समय एक बार तलाक की घोषणा की जाती है और 'इद्दत' के समय पति-पत्नी का सहवास नहीं होता। (ब) तलाके हसन—इसमें तीनों तुहरों के समय तलाक की घोषणा की जाती है और इन तीन तुहरों के बीच में सहवास नहीं होता। (स) तलाक-उल-बिद्दत—इसमें किसी तुहर के समय एक वाक्य में एक बार स्पष्ट रूप से पति तलाक की घोषणा करता है। घोषणा के समय पत्नी या गवाह की उपस्थिति आवश्यक नहीं है।

2. इला—एक शपथ के आधार पर चार महीने तक मैथुन न करने से पति-पत्नी में विवाह-विच्छेद हो जाता है।

3. जिहर—यदि पति अपनी पत्नी की तुलना ऐसी सम्बन्धी स्त्री से कर देता है जिससे विवाह निषिद्ध है, तो पत्नी अपने पति को प्रायश्चित्त करने को कहती है या अदालत में यह अर्जी देती है कि अदालत पति को या तो प्रायश्चित्त करने को कहे अथवा तलाक घोषित करने को कहे। यदि पति प्रायश्चित्त नहीं करता है तो अदालत विवाह-विच्छेद करा देती है।

4. खुला—जब पति-पत्नी दोनों ही सही दिमाग के और बालिग हैं तो पत्नी की इच्छा पर एक-दूसरे की सहमति से विवाह-विच्छेद किया जा सकता है। इसमें अपने को विवाह-सम्बन्ध से मुक्त करने के लिए पत्नी को अपने पति को कुछ 'प्रतिफल' (consideration) देना पड़ता है। दूसरे शब्दों में 'खुला' के अन्तर्गत जब पत्नी को विवाह-विच्छेद की इच्छा है और यदि उसका पति इस पर राजी हो जाता है तो वह अपने पति को 'महर' वापिस चुका देती है और अपने-आपको विवाह-बन्धन से स्वतन्त्र कर लेती है। डॉ० कपाडिया के अनुसार यह प्रथा प्राचीन अरबी 'खुला' नामक विवाह-विच्छेद की प्रथा का ही संशोधित रूप है। "दोनों का अन्तर इसी बात में है कि अरबी कानून के अनुसार पिता सरलतापूर्वक अपनी पुत्री की स्वतन्त्रता 'महर' अर्थात् वधू का मूल्य वर-पक्ष को वापिस लौटाकर प्राप्त कर सकता था, परन्तु इस्लाम के अनुसार पत्नी अपनी स्वतन्त्रता 'महर' लौटाकर तभी प्राप्त कर सकती है जब उसका पति भी इस बात को स्वीकार कर ले। इस प्रकार इस्लामी कानून पति के पक्ष में अधिक झुका हुआ है।"

5. मुबरात—इस प्रकार का विवाह-विच्छेद पति-पत्नी की पारस्परिक सहमति और इच्छा से होता है। इसमें 'खुला' की भाँति केवल स्त्री की इच्छा ही आवश्यक नहीं है, बल्कि दोनों की इच्छा जरूरी है।

6. तलाक—ए—तालविद—यह प्रत्यायोजित (delegated) तलाक का एक रूप है। इसके अनुसार, पति विवाह संविदा (marriage Contract) में तलाक के अपने अधिकार को प्रत्यायोजित (delegate) कर देता है। इस संविदा में अन्य बातों के साथ-साथ यह अनुबन्ध किया जा सकता है कि पति के द्वारा कोई दूसरी पत्नी ले लेने पर प्रथम पत्नी को उसे तलाक देने का अधिकार होगा। न्यायालयों ने विवाह-पूर्व और विवाह के बाद किए गये इन करारों (agreements) को बहाल रखा है और यह निर्धारित किया है कि ये करार न तो लोकनीति के विरुद्ध हैं और न ही मुस्लिम कानून की भावना के प्रतिकूल। असम उच्च न्यायालय ने अपने एक निर्णय द्वारा यह घोषणा करके पत्नी के इस अधिकार को और भी सबल बना दिया है कि पत्नी को दिया गया तलाक का अधिकार अटल (irrevocable) है।

स्पष्ट है कि मुस्लिम पत्नी को तलाक देने का पति की तुलना में बहुत सीमित अधिकार प्राप्त है। अलिखित और पारस्परिक विधि ने तलाक-ए-तालविद, ब्रुल और मुवर्त के रूप में तलाक की मांग करने की इजाजत देकर एक मुस्लिम पत्नी की स्थिति को बेहतर बनाने का प्रयास किया है।

अदालत द्वारा विवाह-विच्छेद (Divorce granted by Court)

पहले पत्नी को बिना पति की स्वीकृति के विवाह-विच्छेद करने का अधिकार नहीं था। इस नियोग्यता को सर्वप्रथम सन् 1939 में 'मुस्लिम विवाह-विच्छेद अधिनियम' (Dissolution of Muslim Marriage Act, 1939) के द्वारा दूर किया गया। इस अधिनियम के अनुसार एक मुस्लिम स्त्री को निम्न आधारों पर विवाह-विच्छेद के अधिकार दिए गए हैं— (1) जब चार वर्ष से पति का कोई पता नहीं चल रहा हो। (2) जब पति जान-बूझकर अथवा अपनी असमर्थता के कारण दो वर्ष से पत्नी के भरण-पोषण की व्यवस्था करने में असफल है। (3) जब पति को सात वर्ष अथवा उससे लम्बी अवधि की कैद का दण्ड मिल गया हो। (4) जब उचित कारण के बिना पति अपने वैवाहिक कर्तव्यों का पालन तीन वर्ष की अवधि से नहीं कर रहा हो। (5) विवाह के समय से ही पति नपुंसक हो। (6) दो वर्ष की अवधि से पति पागल हो अथवा कोढ़ या विषाक्त गुप्त रोग से पीड़ित हो। (7) जब 15 वर्ष की आयु से पहले पत्नी का विवाह पिता या संरक्षक के द्वारा किया गया हो और पत्नी ने यौन-सम्बन्ध स्थापित होने से पूर्व तथा अपनी 18 वर्ष की आयु होने के पूर्व विवाह का प्रत्याख्यान कर दिया हो। (8) जब पति की ओर से शारीरिक या आचरण सम्बन्धी क्रूरता है, या उसका बदनाम स्त्रियों से सम्पर्क है, या वह बदनाम जीवन व्यतीत करता है, या पत्नी को अनैतिक जीवन व्यतीत करने के लिए बाध्य करता है, या उसकी सम्पत्ति को बेचता है, या उसे अपनी सम्पत्ति के उपभोग से रोकता है, या पत्नी के धार्मिक कार्यों में बाधा पहुंचाता है, या अन्य पत्नियों की तुलना में बराबर का व्यवहार नहीं करता है। (9) मुस्लिम कानून द्वारा मान्य किसी अन्य आधार पर भी विवाह-विच्छेद हो सकता है।

निष्कर्ष

(Conclusion)

उपरोक्त विवेचना से स्पष्ट है कि मुसलमानों में विवाह-विच्छेद बहुत सरल है और इस सम्बन्ध में पुरुषों की स्थिति स्त्रियों से कहीं अधिक अच्छी है। फिर भी परिस्थितियाँ बहुत तेजी से बदल रही हैं। नवीन आर्थिक व्यवस्था, राजनीतिक विचारधारा, यातायात के साधन, शिक्षा, पश्चिमी सभ्यता तथा सिनेमा सभी का प्रभाव आज मुस्लिम युवक-युवतियों पर स्पष्टतः पड़ रहा है जिससे कि पुरुषों को ही नहीं, स्त्रियों को भी अपने व्यक्तित्व को विकसित करने तथा समानाधिकार की माँग करने का बहुमुखी अवसर प्राप्त होता जा रहा है। स्त्रियों की आर्थिक, सामाजिक तथा राजनीतिक स्वतन्त्रता मुस्लिम समाज की परम्परात्मक रूढ़िवादिता और एकतरफापन को धीरे-धीरे समाप्त कर रही है और स्त्रियों के न्यायोचित अधिकारों को विशेषतः मुस्लिम युवकों की ओर से मान्यता मिलती जा रही है। परन्तु परम्परा को दो-चार दिन में छोड़ा नहीं जा सकता। इसलिए आज नवीन और पुरातन विचारधारा के बीच एक प्रकार की खींचातानी की स्थिति चल रही है। डा० कपाडिया ने उचित ही लिखा है कि "मुस्लिम समाज का जो शिक्षित अंश जन-समूह है वह इस चीज को अनुभव करता है कि, इस्लाम के लिए यह आवश्यक है कि वह अपने-आपको नवीन पर्यावरण के अनुकूल बनाए तथा नवीनीकरण को अपनाए, किन्तु इस्लाम में उनकी थोड़ा तथा प्रसिद्ध आधुनिकों के उपदेश उन्हें कुरान की ओर पीछे खींच रहे हैं। इस प्रकार नवीन पीढ़ी तनाव तथा बेचैनी के युग में से गुजर रही है और अब यह देखना है कि किस प्रकार यह तनाव ढीला पड़ता है तथा इस विरोध का समाधान होता है।"

22

सामाजिक विधानों का विवाह तथा परिवार पर प्रभाव

[Compact Of Social Legislations On Marriage
And Family]

सामाजिक विधान का अर्थ

(Meaning of Social Legislation)

सामाजिक समस्याओं को सुलझाने तथा विघटित सामाजिक सम्बन्धों को सुव्यवस्थित करने के उद्देश्य से राज्य द्वारा बनाए गए अधिनियमों को सामाजिक विधान कहते हैं। इसका तात्कालिक (immediate) उद्देश्य सामाजिक कुरीतियों पर प्रतिबन्ध तथा सामाजिक सुधार व कल्याण है और अन्तिम (final) उद्देश्य सामाजिक विघटन का प्रतिरोध है। सामाजिक विधान व्यक्तिगत आधारों पर समाज-सुधार या कल्याण का छुट-पुट प्रयत्न नहीं, अपितु राज्य द्वारा उठाया हुआ सुनिश्चित व व्यवस्थित कदम होता है। अतः इस प्रकार के विधान अनिवार्य रूप से सबको मानने पड़ते हैं और इस प्रकार सामाजिक सुधार के कार्यक्रम को एक निश्चित दिशा प्राप्त हो जाती है। अतः सामाजिक विधान राज्य द्वारा पास किए वे कानून हैं जो सामाजिक कुरीतियों को दूर करने, सामाजिक विघटन को रोकने तथा समाज-सुधार के अनुकूल परिस्थितियाँ उत्पन्न करने के उद्देश्य से बनाए जाते हैं। सामाजिक विधान का संकुचित अर्थ कुछ भी लगाया जा सकता है, परन्तु व्यापक अर्थों में इनका आधुनिक और वास्तविक स्वरूप यही है।

भारत में सामाजिक विधान का महत्व

(Importance of Social Legislation in India)

भारत में सामाजिक सुधार की दृष्टि से सामाजिक विधान का बहुत महत्व है। आधुनिक युग की पृष्ठभूमि में भारत सामाजिक कुरीतियों का साम्राज्य है। इस कारण उन्हें दूर करने के लिए जो भी सामाजिक विधान पास किया जाएगा वह वास्तव में लाभकारी सिद्ध होगा। भारत की प्रमुख सामाजिक समस्याओं और कुरीतियों में स्त्रियों की गिरी हुई दशा, विवाह सम्बन्धी उनकी अनेकों नियोगताएँ जैसे, बाल-विवाह, विधवा-विवाह पर रोक; अन्तर्जातीय विवाह पर प्रतिबन्ध, विवाह-विच्छेद का अधिकार न होना, बहुपत्नी-विवाह, दहेज-प्रथा आदि; जाति-प्रथा के आधार पर समाज का असमान खण्ड-विभाजन और सामाजिक विषमता, अस्पृश्यता, पिछड़े निबल और शोषित वर्गों की समस्या, स्त्रियों का अनैतिक व्यापार, स्त्रियों का पितृ की सम्पत्ति पर अधिकार न होना आदि विशेष उल्लेखनीय समस्याएँ हैं। इनमें से किसी समस्या की अगर विवेचना की जाए तो हम यह देखेंगे कि उस समस्या

का निराकरण सामाजिक प्रगति के लिए बहुत आवश्यक है। उदारणार्थ, बाल-विवाह की सामान्य समस्या को ही लीजिए। इस कुप्रथा का व्यक्तिगत और सामाजिक दुष्परिणाम यह होता है कि इसका अत्यधिक बुरा प्रभाव बाल-दम्पति के स्वास्थ्य पर पड़ता है, दुर्बल सन्तान उत्पन्न होती है, शिक्षा में और व्यक्तिगत विकास में बाधा पहुंचती है, अधिक माताओं की मृत्यु होती है, जनसंख्या बढ़ती है, बाल-विधवा की समस्या उत्पन्न होती है। उसी प्रकार विधवाओं के पुनर्विवाह पर प्रतिबन्ध के कारण हिन्दू-समाज में विधवाओं की अवस्था हृदय-स्पर्शी होती है; अनुचित यौन-सम्बन्ध, वैश्यावृत्ति तथा धर्म-परिवर्तन को बढ़ावा मिलता है, विधवाओं के व्यक्तित्व का विकास नहीं हो पाता है, उनके बच्चों के जीवन की बर्बादी होती है, वे परिवार पर नहीं, राष्ट्र पर भी बोझ बन जाती हैं। उसी प्रकार अस्पृश्यता के कारण सामाजिक एकता में बाधा पहुंचती है, राजनीतिक फूट उत्पन्न होती है, आर्थिक असमानताएँ बढ़ती हैं और समाज को भारी आर्थिक हानि होती है; अशिक्षा, अरिद्रता और निम्न जन-स्वास्थ्य का साम्राज्य होता है। दहेज-प्रथा के कारण कितने ही जीवन और परिवार बर्बाद हो जाते हैं। आत्महत्या, ऋणग्रस्तता, वेमेल विवाह, कन्याओं का दुःखद वैवाहिक जीवन, दो परिवारों में तनाव दहेज-प्रथा के ही दुष्परिणाम हैं। इतना ही नहीं, प्रायः दो करोड़ भारतीय जनजातियों की अनेक गम्भीर समस्याएँ आज इस समाज के लिए एक महान् चुनौती हैं। भारतीय सामाजिक जीवन और ढाँचे को खोखला बना देने वाली इन समस्याओं की अवहेलना करने का साहस आज भारतीय समाज या राष्ट्र कदापि नहीं कर सकता। आज इन समस्याओं को स्वीकार करना ही होगा, उन्हें समझना और सुलझाना होगा, नहीं तो राष्ट्र की प्रगति मिट्टी की दीवार की भाँति एक ही बारिश में गिर जाएगी; राष्ट्र का कुसुम खिलने से पहले ही मुरझा जाएगा; राष्ट्र का रवि असफलताओं के काले बादलों में डूब जाएगा। इन सबसे बचने के लिए राष्ट्रीय सरकार को क्रियात्मक कदम उठाना ही पड़ता है और उसकी अभिव्यक्ति ही सामाजिक विधान है। अतः स्पष्ट है कि केवल सामाजिक सुधार ही नहीं, समाज-कल्याण और पुनर्निर्माण की दृष्टि से भी भारत में सामाजिक विधानों का असाधारण महत्त्व है। जैसा कि पंचवर्षीय योजनाओं और नए संविधान से पता चलता है, भारत का अन्तिम लक्ष्य समाजवादी ढंग से कल्याण-राज्य की स्थापना है। इस लक्ष्य की प्राप्ति के साधन के रूप में सामाजिक विधानों के महत्त्व को शायद और अधिक स्पष्ट रूप से समझाने की आवश्यकता नहीं है। कल्याण-राज्य और विकट सामाजिक समस्याओं के पंजे से विमुक्त समाज शायद अलग-अलग नहीं हैं, और अगर यह सच है, तो अनेक गम्भीर समस्याओं से पीड़ित भारतीय समाज में सामाजिक विधानों के महत्त्व को अस्वीकार नहीं किया जा सकता।

भारत में प्रमुख सामाजिक विधान

(Important Social Legislations in India)

(1) सती-प्रथा निषेध अधिनियम, 1829

(Regulation No. XVII, 1829)

सन् 1829 से पहले सती-प्रथा भारत में अत्यधिक प्रचलित थी। इसका रूप इतना कटु और अमानुषिक था कि इसका प्रचलन सभ्य समाज में कैसे सम्भव हो

सका यह वास्तव में आश्चर्य का विषय है। फिर भी इसका राजनीतिक और धार्मिक आधार अवश्य ही था। मुसलमानों के आ जाने के बाद हिन्दुओं में रक्त की शुद्धता को बनाये रखने की समस्या काफी गम्भीर हो गई थी। क्योंकि मुसलमानों को हिन्दू स्त्रियों से यहाँ तक कि विधवाओं से भी विवाह करने में कोई आपत्ति न थी। इस कारण एक ओर बाल-विवाह का बहुत प्रचलन हुआ और दूसरी ओर विधवाओं को यह लालच दिखाकर कि अपने पति की चिता में जिन्दा जलकर मर जाने से उन्हें सीधा स्वर्ग मिलेगा, समाज से विधवाओं का नाम तक मिटा देने का प्रयत्न किया गया। परन्तु धीरे-धीरे यह प्रथा अत्यन्त अमानुषिक और हृदय-स्पर्शी हो गई। सती होना तब विधवाओं की इच्छा पर निर्भर न रहकर तथाकथित समाज-नेताओं के आदेश पर आधारित हो गया। विधवा को अफीम खिलाकर बेहोश करके उसे जबरदस्ती जलती हुई चिता में डाल दिया जाता था और अगर वह भागने की कोशिश करती तो बल्लम और बाँसों से कोस-कोसकर जिन्दा ही जलकर राख हो जाने को बाध्य किया जाता था। चिता को घेरकर ढोल नगाड़ा, शंख, घण्टा आदि के साथ अनेक व्यक्तियों का इतना उल्लास-नृत्य होता था कि उस जलती हुई विधवा का समस्त हाहाकार उस कोलाहल में डूब जाता था। सभ्य मनुष्यों का यह बर्बर और पाषाणिक रूप शायद मानव-इतिहास में विरल है।

उस समय के सुप्रसिद्ध समाज-सुधारक राजा राममोहन राय ने इस प्रथा का सर्वप्रथम घोर विरोध किया और उनके नेतृत्व में जो आन्दोलन उस समय बंगाल में चला उसके फलस्वरूप सन् 1829 में 'सती-प्रथा निषेध अधिनियम' पास किया गया, जिसके अनुसार यदि कोई व्यक्ति किसी भी विधवा को सती होने के सम्बन्ध में किसी प्रकार की प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष सहायता करेगा तो वह दण्डनीय अपराधी होगा। धीरे-धीरे जनमत भी इस नियम के अनुकूल हो गया, जिसके कारण आज यह प्रथा प्रायः समाप्त हो गई है।

(2) हिन्दू-विधवा-पुनर्विवाह अधिनियम, 1856

(Hindu Widow Remarriage Act, 1856)

विधवा-पुनर्विवाह पर निषेध अंग्रेजी राज्य की स्थापना के समय अपनी चरम सीमा तक पहुँच चुका था। आज भारत में लगभग दो करोड़ विधवाएँ हैं। विधवा-पुनर्विवाह के निषेध विशेषकर ऊँची जातियों में हैं और इस सम्बन्ध में विधवाओं की दो विशेष नियोग्यताएँ थीं—(अ) पुनर्विवाह सम्बन्धी नियोग्यता और (ब) मृत पति की सम्पत्ति में अधिकार सम्बन्धी निर्गोण्यता। राजा राममोहन राय, ईश्वरचन्द्र विद्यासागर और साथ ही आर्य समाज तथा ब्रह्म समाज के प्रयत्नों से सरकार का ध्यान विधवा-विवाह की समस्या की ओर आकर्षित हुआ और उक्त दोनों नियोग्यताओं को सरकार ने दो अधिनियमों के द्वारा दूर करने का प्रयत्न किया। ये अधिनियम हैं—'हिन्दू-विधवा-पुनर्विवाह अधिनियम, 1856' और 'हिन्दू स्त्रियों का सम्पत्ति पर अधिकार अधिनियम, 1937'।

विधवाओं की पुनर्विवाह सम्बन्धी नियोग्यताओं को दूर करने के लिये 'हिन्दू विधवा पुनर्विवाह अधिनियम' सन् 1856 में पास किया गया। इसके अनुसार विधवाओं की पुनर्विवाह सम्बन्धी कानूनी अड़चनों को दूर किया गया। इस अधिनियम की मुख्य धारारें निम्न हैं—(1) यदि दूधरे विवाह के समय किसी स्त्री के पति की

मृत्यु हो चुकी हो, तो उसका दूसरा विवाह वैध है। (2) इस प्रकार के विवाह से उत्पन्न होने वाली कोई भी सन्तान अवैध न होगी। (3) यदि पुनर्विवाह करने वाली विधवा नाबालिग है और पहले पति से उसका यौन-सम्बन्ध स्थापित नहीं हुआ है तो पुनर्विवाह करने के लिये पिता, दादा, बड़े भाई या नजदीक के किसी पुरुष रिश्तेदार की स्वीकृति आवश्यक है। (4) यदि विधवा बालिग है और यदि पुनर्विवाह में यौन-सम्बन्ध स्थापित हो चुका है तो विधवा की अपनी स्वीकृति ही काफी है। (5) हिन्दू विधवा का पुनर्विवाह अपने पूर्वमृत पति की सम्पत्ति, भरण-पोषण या वसीयतनामा के द्वारा प्राप्त सीमित अधिकारों के सम्बन्ध में उसकी मृत्यु की स्थिति के बराबर होगी जब तक कि वसीयतनामे में उसे पुनर्विवाह के सम्बन्ध में स्पष्ट आज्ञा प्राप्त न हो। अर्थात् पुनर्विवाह करने वाली विधवा का अपने पूर्वमृत पति की सम्पत्ति आदि पर अधिकार नहीं होगा। (6) यदि पति के वसीयतनामा या पति के परिवार के सदस्यों के समझौते के अनुसार उसे पति की सम्पत्ति पर पूर्ण अधिकार मिल गया हो, तो वह पुनर्विवाह के बाद भी अपने अधिकारों का उपभोग करती रहेगी।

(3) हिन्दू स्त्रियों का सम्पत्ति पर अधिकार अधिनियम, 1937

(The Hindu Women's Right to Property Act, 1937)

हिन्दू विधवाओं की मृत पति की सम्पत्ति में अधिकार सम्बन्धी नियोग्यता को दूर करने के लिये सन् 1937 में सबसे महत्वपूर्ण अधिनियम पास हुआ। इस अधिनियम की मुख्य धारयाँ निम्नलिखित हैं—(1) दायभाग से नियन्त्रित परिवार का यदि कोई व्यक्ति अपनी सम्पत्ति के बारे में बिना तय किए हुए मर गया हो तो उसकी विधवा स्त्री को लड़के के बराबर हिस्सा मिलेगा। (2) अन्य नियमों से नियन्त्रित परिवार में ऐसी स्थिति में पति की व्यक्तिगत सम्पत्ति में विधवा या विधवायें अपने जीवित लड़कों के समान भागीदार होंगी। (3) यदि कोई लड़का पिता से पहले मर गया है तो उसकी विधवा को अपने पति के हिस्से का उत्तराधिकार लड़कों और पौत्रों के साथ मिल जाता है। (4) यदि एक हिन्दू संयुक्त परिवार की सम्पत्ति में अपना हिस्सा छोड़कर मर जाता है तो उसकी विधवा स्त्री को उसका उत्तराधिकार मिल जाता है, पर यह उत्तराधिकार सीमित है। वह विधवा केवल अपने जीवनकाल में ही इस उत्तराधिकार का उपभोग कर सकती है, न किसी को दे सकती है और न बेच सकती है। परन्तु धार्मिक कर्तव्यों को निभाने के लिये ये दोनों कार्य भी किए जा सकते हैं।

(4) बाल-विवाह अवरोध अधिनियम, 1929

(The Child Marriage Restraint Act, 1929)

जैसा कि इस अध्याय के आरम्भ में कहा जा चुका है, बाल-विवाह के अनेक व्यक्तिगत और सामाजिक दुष्परिणाम हैं। इन्हें रोकने के लिये सरकार की दृष्टि इस सामाजिक कुरीति की ओर आकर्षित करने का श्रेय राजा राममोहन राय और श्री ईश्वरचन्द्र विद्यासागर महाशय को है। इनके प्रयत्नों से सन् 1807 में सबसे पहले बाल-विवाह को रोकने के लिये पहला अधिनियम पास हुआ जिसके अनुसार विवाह के समय कन्या की आयु कम-से-कम 10 वर्ष होनी चाहिये थी। इसके पश्चात् सन् 1891 में दूसरा अधिनियम पास किया गया जिसके अनुसार विवाह के समय लड़की की आयु कम-से-कम 12 वर्ष होनी चाहिये थी। पर इस सम्बन्ध में विशेष उल्लेखनीय अधिनियम राय हरविलास शारदा की सिफारिशों के फलस्वरूप सन् 1929 में पास

हुआ। इसीको 'बाल-विवाह अवरोधक अधिनियम' या संक्षेप में 'शारदा ऐक्ट' कहते हैं। यह कानून के रूप में 1 अप्रैल, सन् 1930 से लागू किया गया। इसके अनुसार—

(1) बाल-विवाह को रोकने का प्रयत्न किया जायेगा, पर विवाह हो जाने के बाद कोई भी विवाह अवैध न होगा। (2) कोई भी विवाह, जिसमें वर की आयु 18 वर्ष से कम और कन्या की आयु 15 वर्ष से कम है, नहीं किया जा सकेगा। (3) इस अधिनियम के विरुद्ध विवाह करने वाले वर को अगर उसकी आयु 18 और 21 वर्ष के बीच की है, 15 दिन का कारावास या एक हजार रुपया जुर्माना अथवा दोनों की सजा भी दी जा सकेगी। (4) अगर वर की आयु 21 वर्ष से अधिक है तो जुर्माना के साथ ही तीन माह की जेल भी हो सकेगी। (5) उस विवाह संस्कार को कराने वाले या उसका निर्देश देने वाले व्यक्तियों को तीन माह का कारावास और जुर्माना हो सकेगा। संरक्षक या माता-पिता जो ऐसे विवाहों को करवायेंगे उन्हें तीन माह का कारावास और जुर्माना हो सकेगा। (6) ऐसे मुकदमे की सुनवाई केवल प्रथम श्रेणी के मजिस्ट्रेट की अदालत में हो सकेगी। (7) विवाह के बाद एक वर्ष बीत जाने पर इस सम्बन्ध में किसी प्रकार की शिकायत पर अदालत विचार नहीं करेगा। (8) अदालत को पूर्वसूचना मिल जाने पर वह उस विवाह को रोकने का आदेश दे सकती है। (9) अदालत द्वारा दिए गए ऐसे आदेशों की अवहेलना करने वाले को तीन महीने का कारावास या एक हजार रुपया जुर्माना अथवा दोनों होगा। (10) इस अधिनियम के अन्तर्गत किसी भी अपराध के लिये स्त्रियों को जेल नहीं भेजा जायेगा।

इस सम्बन्ध में यह उल्लेखनीय है कि भारत सरकार ने उपरोक्त अधिनियम का अब संशोधन कर दिया है। बाल-विवाह अवरोध (संशोधन) अधिनियम 1978 विवाह की न्यूनतम आयु स्त्रियों के लिये 15 से बढ़ाकर 18 वर्ष करने और पुरुषों के लिये 18 से बढ़ाकर 21 वर्ष करने के लिये बाल-विवाह अवरोध अधिनियम, 1929, भारतीय क्रिश्चियन विवाह अधिनियम, 1872 तथा हिन्दू विवाह अधिनियम 1955 में संशोधन करता है। इस संशोधन को 1 अक्तूबर, 1978 से प्रभावी किया गया है।

(5) विशेष विवाह अधिनियम, 1872, 1923, 1954

(Special Marriage Act, 1872, 1923, 1954)

सन् 1872 के 'विशेष विवाह अधिनियम' के द्वारा विवाह के धार्मिक प्रतिबन्धों को दूर करके उन सब लोगों को आपस में विवाह करने का अधिकार दे दिया गया जो किसी धर्म को नहीं मानते हैं। सन् 1923 में यह अधिनियम संशोधित हुआ। इसके अनुसार अन्तर्जातीय विवाह की वैधानिक अड़चनें दूर हो गईं। इसमें तलाक की भी छूट है।

सन् 1954 के 'विशेष विवाह अधिनियम' के द्वारा सन् 1872 का कानून रद्द कर दिया गया। इस कानून का उद्देश्य हिन्दू, मुसलमान, ईसाई आदि विभिन्न धर्मावलम्बियों के बीच विवाह की व्यवस्था करना है। अब प्रत्येक व्यक्ति किसी धर्म या जाति में विवाह कर सकेगा और विवाह करते समय पहले की भाँति अब यह भी घोषणा नहीं करनी होगी कि विवाह करने वाले स्त्री-पुरुष किसी धर्म को नहीं मानते हैं। विवाह के समय किसी भी पक्ष का जीवित जीवन-साथी नहीं होना चाहिये, अर्थात् एक-विवाह आवश्यक होगा। 21 वर्ष से कम आयु होने पर माता-पिता या अन्य संरक्षक की अनुमति आवश्यक होगी। ऐसे विवाह की रजिस्ट्री करानी होगी।

इस अधिनियम के अनुसार पति-पत्नी दोनों को विवाह-विच्छेद (divorce) का भी अधिकार होगा। किसी पक्ष के व्यभिचार होने, तीन वर्ष तक अकारण परित्याग करने तीन वर्ष या इससे अधिक अवधि का कारावास की सजा पा जाने, क्रूरता, कम-से-कम तीन वर्ष से असाध्य पागलपन, गुप्त रोग या विषाक्त कोढ़ से पीड़ित होने, सात वर्ष से जीवित न सुना जाने आदि की अवस्था में दूसरा पक्ष अदालत से विवाह-विच्छेद की आज्ञा प्राप्त कर सकता है। पारस्परिक सहमति द्वारा भी विवाह-विच्छेद किया जा सकता है। परन्तु इसके लिये तीन शर्तों का पूरा होना आवश्यक है—(क) पति-पत्नी एक साल या इससे अधिक समय से एक-दूसरे से अलग रह रहे हैं; (ख) वे एकसाथ रहने में सर्वथा असमर्थ हैं; (ग) उन्होंने विवाह-विच्छेद करने के लिये आपस में समझौता कर लिया है। इस आवेदन-पत्र के देने के एक वर्ष बाद भी यदि दोनों पक्ष अपना विवाह-विच्छेद की आज्ञा चाहते हैं तो अदालत आवश्यक कार्यवाही के पश्चात् विवाह-विच्छेद की आज्ञा दे सकती है। विवाह के बाद प्रथम तीन वर्ष तक विवाह विच्छेद के लिये कोई आवेदन-पत्र नहीं दिया जा सकेगा और विवाह-विच्छेद की आज्ञा प्राप्त हो जाने के एक वर्ष बाद ही पुनर्विवाह हो सकेगा। ये धारायें निम्नलिखित अधिनियम की विवेचना से और स्पष्ट हो जायेंगी।

(6) हिन्दू-विवाह तथा विवाह-विच्छेद अधिनियम, 1955 (Hindu Marriage and Divorce Act, 1955)

यह अधिनियम 18 मई, सन् 1955 से जम्मू तथा काश्मीर को छोड़कर शेष सारे भारत में लागू किया गया। इस अधिनियम द्वारा विवाह-सम्बन्धी सभी हिन्दू-विधान (Hindu Law) रद्द हो गये हैं। 'हिन्दुओं' में हिन्दुओं के अतिरिक्त बौद्ध, जैन और सिक्ख भी सम्मिलित हैं। अनुसूचित जातियों पर यह अधिनियम लागू न होगा। इस अधिनियम की विवेचना निम्नलिखित चार आधारों पर की जा सकती है—

1. हिन्दू-विवाह की शर्तें (Conditions of Hindu Marriage)—हिन्दुओं में विवाह निम्नलिखित शर्तों को पूरा करने से वैध होगा। विवाह के समय—(1) किसी पक्ष का जीवन-साथी (पति या पत्नी) जीवित न हो; (2) कोई पक्ष पागल या मूढ़ न हो; (3) वर की आयु कम-से-कम 21 वर्ष की और वधू की आयु कम-से-कम 18 वर्ष हो; (4) दोनों पक्ष निषेधात्मक सम्बन्धों के अन्तर्गत न हों, बशर्ते कि कोई प्रथा, जिसके द्वारा वे नियन्त्रित होते हैं, इस प्रकार के विवाह की आज्ञा न देती हो; (5) विवाह करने वाले आपस में सपिण्ड न हों, बशर्ते कि कोई प्रथा, जिसके द्वारा वे नियन्त्रित होते हैं, इस प्रकार के विवाह की आज्ञा न देती हो; (6) यदि कन्या की आयु 18 वर्ष से कम है तो संरक्षक की अनुमति विवाह के लिए आवश्यक है।

2. न्यायिक पृथक्करण (Judicial Separation)—न्यायिक पृथक्करण का अर्थ यह है कि इसके द्वारा विवाह का सम्बन्ध नहीं टूटता है, केवल पति-पत्नी को परस्पर एक-दूसरे से दूर रहने का अधिकार मिल जाता है। पति या पत्नी निम्न आधारों पर न्यायिक पृथक्करण के लिए आवेदन-पत्र प्रस्तुत कर सकते हैं—(1) आवेदन-पत्र देने के लगातार दो साल पहले से दूसरे पक्ष ने प्रार्थी को छोड़ दिया हो; (2) प्रार्थी के साथ इतने अधिक अत्याचार का व्यवहार किया गया हो कि प्रार्थी

के विभाग में यह उचित भय हो कि दूसरे पक्ष के साथ रहना प्रार्थी के लिए हानिकारक है; (3) दूसरा पक्ष आवेदन-पत्र देने के एक वर्ष पूर्व से विषाक्त कोढ़ से पीड़ित हो; (4) दूसरे पक्ष ने विवाह के बाद किसी अन्य व्यक्ति से यौन-सम्बन्ध स्थापित कर लिया हो।

3. विवाह-विच्छेद (Divorce)—इस अधिनियम की धारा 13 के अनुसार कोई भी विवाह, चाहे वह इस अधिनियम के लागू होने के पूर्व या बाद में किया गया हो, पति या पत्नी किसी के भी आवेदन-पत्र देने पर निम्नलिखित किन्हीं आधारों पर विवाह-विच्छेद की आज्ञा के द्वारा समाप्त किया जा सकता है—(1) दूसरा पक्ष यदि परव्यक्तिगमन (adultery) का आदी हो; (2) दूसरा पक्ष यदि धर्म-परिवर्तन के कारण हिन्दू न रह गया हो; (3) दूसरा पक्ष यदि आवेदन-पत्र देने के तीन वर्ष पहले से ऐसा पागल हो कि वह इलाज द्वारा ठीक न हो सके; (4) दूसरा पक्ष यदि तीन वर्ष से विषाक्त कोढ़ से पीड़ित हो; (5) दूसरा पक्ष यदि तीन वर्ष से गुप्त रोग से पीड़ित हो; (6) दूसरे पक्ष ने यदि संन्यास ले लिया हो; (7) दूसरा पक्ष यदि सात वर्ष से जीवित न सुना गया हो; (8) दूसरे पक्ष ने यदि न्यायिक पृथक्करण की राजाज्ञा प्राप्त होने के बाद दो वर्ष या उससे अधिक समय से सहवास न प्रारम्भ किया हो; (9) दूसरे पक्ष ने यदि वैवाहिक अधिकारों के प्रत्यास्थापन (restitution of conjugal rights) की राजाज्ञा के बाद दो वर्ष या उससे अधिक समय से उस राजाज्ञा का पालन न किया हो।

पत्नी उपरोक्त 9 आधारों के अतिरिक्त निम्न दो आधारों पर भी विवाह-विच्छेद के लिये आवेदन-पत्र दे सकती है—(1) इस अधिनियम के लागू होने के पूर्व पति ने दूसरा विवाह कर लिया हो या प्रार्थी के विवाह के समय उसकी दूसरी पत्नी जीवित हो; (2) यदि पति विवाह के पश्चात् बलात्कार, अप्राकृतिक व्यभिचार या पशुता का अपराधी हो।

4. सामान्य धाराएँ—(1) विवाह-विच्छेद का आवेदन-पत्र विवाह के कम-से-कम तीन वर्ष बाद ही दिया जा सकता है। विशेष परिस्थितियों में अदालत तीन वर्ष के पहले भी आवेदन-पत्र स्वीकार कर सकती है; (2) यदि अदालत से विवाह-विच्छेद की राजाज्ञा मिलने के एक वर्ष के अन्दर अपील नहीं की जाती तो दोनों पक्षों को पुनर्विवाह करने का अधिकार होगा; (3) अदालत विवाह-विच्छेद के बाद प्रार्थी तथा विपक्षी की आर्थिक दशाओं को देखते हुए प्रार्थी से विपक्षी को जीवन-भर के लिये या जब तक विपक्षी विवाह नहीं करता तब तक का जीवन-निर्वाह का खर्चा दिला सकती है; (4) अदालत बच्चों की पढ़ाई, देखभाल और रहने के सम्बन्ध में भी अन्तरिम या अन्तिम आदेश दे सकती है।

विवाह कानून संशोधन अधिनियम 1976 द्वारा 'हिन्दू विवाह अधिनियम, 1955' तथा 'विशेष विवाह अधिनियम, 1954' को संशोधित कर कन्या को यह अधिकार दिया गया है कि वह बालिग होने से पहले, वचन में की गई अपनी शादी को रद्द कर दे, चाहे वह शादी पूर्ण हुई हो या नहीं। निर्दयता और परित्याग को भी विवाह-विच्छेद का कारण माना गया है और आपसी सहमति से भी विवाह-विच्छेद लिया जा सकता है।

(7) हिन्दू उत्तराधिकार अधिनियम 1956

(The Hindu Succession Act, 1956)

हिन्दू स्त्रियों के साम्प्रतिक अधिकार के सम्बन्ध में यह अधिनियम सबसे अधिक महत्वपूर्ण है। अधिनियम को चार प्रमुख विशेषतायें हैं—(क) उत्तराधिकार से सम्बन्धित दायभाग और मिताक्षरा नियमों को समाप्त कर दिया गया है और समस्त हिन्दुओं के लिये एक-सा कानून हो गया है; (ख) हिन्दू स्त्री की सीमित सम्पत्ति को समाप्त करके उसे सम्पत्ति पर पूर्ण अधिकार दिया गया है; (ग) स्त्री तथा पुरुष उत्तराधिकारियों में किसी प्रकार का भी भेद नहीं रहा, अर्थात् स्त्रियों का सम्पत्ति-पर अधिकार पुरुषों के समान होगा; और (घ) स्त्री को पारिवारिक सम्पत्ति में अधिकार प्रदान किया गया है। इस अधिनियम के अन्तर्गत स्त्री को पुत्री, पत्नी तथा माता के रूप में जो साम्प्रतिक अधिकार मिले हैं, वे निम्न हैं—

(अ) पत्नी के रूप में—पिछले पृष्ठों में उल्लिखित 'हिन्दू स्त्रियों का सम्पत्ति पर अधिकार अधिनियम, 1937' के अनुसार विधवा पत्नी को अपने मृत पति की सम्पत्ति में लड़कों के बराबर हिस्सा मिलता था, पर यह अधिकार सीमित था। विधवा केवल अपने जीवनकाल में इस सम्पत्ति का उपयोग कर सकती थी, दान में या उपहार में वह उस सम्पत्ति को न तो किसी को दे सकती थी और न बेच ही सकती थी। अब सन् 1956 के अधिनियम के अनुसार विधवा स्त्री को भी अपने पति की सम्पत्ति पर सीमित नहीं, पूर्ण अधिकार प्राप्त हो गया है। अब वह जिस प्रकार भी चाहेगी अपने हिस्से की सम्पत्ति का उपभोग कर सकेगी। सन्तान न होने की दशा में पति की सम्पत्ति पर विधवा का अधिकार होगा। अगर यह विधवा पुनर्विवाह कर लेगी तो उस सम्पत्ति पर उसका अधिकार समाप्त हो जाएगा और वह सम्पत्ति पति के परिवार को लौट जाएगी।

(ब) माता के रूप में—भारत के दक्षिण-पश्चिम भाग में प्रचलित 'मरूम-कट्टयम' कानून को छोड़कर भारत की अन्य किसी भी प्रणाली के अन्तर्गत माता का पुत्र की सम्पत्ति में अब तक कोई हिस्सा न था। इससे बहुधा माता को, पुत्र की मृत्यु के बाद अनेक आर्थिक कठिनाइयों का सामना करना पड़ता था। माता को पुत्र-वधू और पौत्र-पौत्रियों की दृष्टि में एक सम्मानित पद प्रदान करने के उद्देश्य से इस अधिनियम में माता को भी पुत्र की सम्पत्ति में उनके पत्नी और बच्चों के समान एक भाग मिलेगा।

(स) पुत्री के रूप में—इस कानून के पास होने के पूर्व न दायभाग और न ही मिताक्षरा उत्तराधिकार प्रणाली के अन्तर्गत पिता की सम्पत्ति में लड़की का कोई भी अधिकार मान्य था। अब यह अधिनियम दायभाग और मिताक्षरा प्रणालियों को समाप्त कर देता है और लड़की को पुत्र के साथ, पुत्र के समान ही पिता की सम्पत्ति पर अधिकार प्रदान करता है।

(8) हिन्दू नाबालिगी तथा संरक्षकता अधिनियम, 1956

(The Hindu Minority and Guardianship Act, 1956)

यह कानून नाबालिग तथा उनके संरक्षकों के सम्बन्ध में है। इस अधिनियम की मुख्य बात निम्नलिखित है—(1) नाबालिग उसे कहेंगे जिससे आयु के 18 वर्ष पूरे न किये हों। पहले 16 वर्ष से कम बच्चों को नाबालिग माना जाता था। अब नए कानून के अनुसार 18 वर्ष की आयु पूरी हो जाने पर व्यक्ति बालिग माना

जाएगा। (2) इस कानून के अनुसार संरक्षकों में पहला स्थान पिता का है और दूसरा माता का। नाबालिग विवाहित लड़की के संरक्षक उसके पति होंगे। (3) पिता के साथ माता को भी यह अधिकार होगा कि वह वसीयत द्वारा अपने नाबालिग बच्चों के लिये संरक्षक (Testamentary Guardians) नियुक्त करे। (4) उपरोक्त प्रकार के संरक्षकों को छोड़कर अन्य सभी प्रकार के संरक्षक न्यायालय द्वारा नियुक्त किए जायेंगे। (5) यदि कोई संरक्षक घमँ परिवर्तन कर लेता है, वानप्रस्थी या संन्यासी हो जायेगा तो वह संरक्षक नहीं रह जाता है। (6) पुराने हिन्दू कानून के अनुसार माता-पिता के अभाव में नाबालिग व्यक्ति का चाचा, ताऊ, दादा, मामा, नाना आदि भी संरक्षक बन सकते थे। वे आवश्यकता पड़ने पर नाबालिग की सम्पत्ति का विक्रय आदि द्वारा हस्तान्तरण (transfer) कर सकते थे। किन्तु इस अधिनियम के द्वारा इन संरक्षकों को समाप्त कर दिया गया है। अब इन्हें सम्पत्ति को हस्तान्तरित करने का भी अधिकार न होगा। ऐसे व्यक्ति यदि किसी नाबालिग की सम्पत्ति का प्रबन्ध करना चाहें तो उन्हें 'Guardians and Wards Act' के अनुसार न्यायालय द्वारा अपने को संरक्षक नियुक्त करवाना होगा। (7) अब न तो स्वाभाविक संरक्षक (माता-पिता आदि) और न ही वसीयत द्वारा नियुक्त किया गया संरक्षक न्यायालय की अनुमति के बिना नाबालिग की किसी स्थावर सम्पत्ति को रेहन रख सकता है, न बेच सकता है या अन्य किसी प्रकार इसका उपहार या इन्तकाल (alienations) कर सकता है और न इसे पाँच वर्ष से अधिक के पट्टे पर दे सकता है। इस प्रकार किया गया कोई भी कार्य या व्यवहार नाबालिग की प्रार्थना पर रह किया जा सकता है। न्यायालय ऐसे कार्य के लिये तभी अनुमति दे सकता है जब उसे यह विश्वास हो कि यह नाबालिग के हित के लिए होगा। (8) इस कानून के खण्ड 13 में यह कहा गया है कि किसी हिन्दू नाबालिग की सम्पत्ति का संरक्षक नियुक्त करते समय न्यायालय के सम्मुख सबसे बड़ा विचार नाबालिग का कल्याण होना चाहिए।

(9) हिन्दू गोद लेना तथा भरण-पोषण का अधिनियम, 1956 (Hindu Adoptions and Maintenance Act, 1956)

(1) इस कानून के अनुसार गोद लेने वाले व्यक्ति में निम्न विशेषतायें होनी चाहिए—(क) उसका मन स्वस्थ हो; (ख) उसकी आयु कम-से-कम 18 वर्ष की होनी चाहिये; (ग) उसका कोई स्वाभाविक या गोद लिया पुत्र, पौत्र या प्रपौत्र नहीं होना चाहिए; (घ) यदि उसकी पत्नी जीवित हो तो गोद लेने के लिये उसकी सहमति भी आवश्यक है, बशर्ते कि वह पागल न हो या संन्यास न ले लिया हो। पहले हिन्दू पुरुष केवल लड़के को ही गोद ले सकता था किन्तु अब 18 वर्ष की आयु पूरी करने वाला स्वस्थ हिन्दू पुरुष अपने औरस पुत्र या पोते के अभाव में पत्नी की सहमति से लड़की को भी गोद ले सकता है।

(2) अब तक गोद लेने का अधिकार पुरुष को ही था, किन्तु अब 18 वर्ष की आयु पूरी करने वाली स्वस्थ मन वाली स्त्री लड़का या लड़की को गोद ले सकती है, बशर्ते कि उसके कोई पुत्र या पुत्री न हो। विवाहित स्त्री को गोद लेने के लिये पति की सहमति लेना आवश्यक है। अविवाहिता, विधवा या तलाकप्राप्त स्त्री भी लड़के या लड़की को उपरोक्त दशाओं में गोद ले सकती है।

(3) दूसरे को गोद लेने के लिये पुत्र या पुत्री देने का अधिकार उसके माता-पिता को है और वे इकलौता बेटा या बेटी भी दे सकते हैं। यदि माता-पिता की मृत्यु

हो गई है या पागल या संन्यासी हो गए हैं तो बच्चे का वसीयत द्वारा नियुक्त अथवा अदालत द्वारा नियुक्त संरक्षक अदालत की स्वीकृति से बच्चे को गोद लेने के लिये दूसरे को दे सकता है।

(4) अब लड़का या लड़की दोनों दत्तक बन सकते हैं। इसके लिये हिन्दू होना, अविवाहित होना, तथा 15 वर्ष की आयु को पूरा करना आवश्यक है। किन्तु यदि कहीं विवाहित तथा 15 वर्ष से अधिक आयु वाले पुत्र को गोद लेने की प्रथा है तो ऐसे व्यक्ति का गोद लिया जाना वैध होगा। एक ही बालक दो व्यक्तियों द्वारा नहीं लिया जा सकता। यदि कोई पुरुष लड़की को गोद लेता है तो वह उससे 21 वर्ष छोटी होनी चाहिए। इसी प्रकार कोई स्त्री लड़के को गोद लेती है तो लड़के की आयु उस स्त्री से 21 वर्ष कम होनी चाहिये।

(5) दत्तक पुत्र की वैधता के लिए यह आवश्यक है कि पुत्र के दान और ग्रहण का कार्य स्पष्ट रूप से किया जाए। यदि उसके लिये केवल इच्छा प्रकट की जाती है, और दत्तक पुत्र देने के लेख-पत्र (deed) की रजिस्ट्री भी करा ली जाती है, किन्तु भौतिक रूप से बच्चे का पिता गोद लेने वाले व्यक्ति को अपने बच्चे को दान देने का कार्य नहीं करता तो यह गोद लेना वैध नहीं होगा।

(6) गोद लिये गये लड़के या लड़की का सम्बन्ध गोद लेने की तिथि से उसे जन्म देने वाले माता-पिता और उसके वंश (कुल) से सर्वथा विच्छिन्न हो जाता है और उसका अपने पिता या परिवार की सम्पत्ति पर कोई अधिकार नहीं रह जाता। वह गोद लेने वाले व्यक्ति की सम्पत्ति का उत्तराधिकारी होता है।

(7) अपने मूल कुल से सम्बन्ध विच्छेद होने पर भी दत्तक पुत्र का सम्बन्ध निम्नलिखित तीन बातों में अपने पुराने कुल से बना रहता है—(क) यदि दत्तक पुत्र ने दत्तक बनने से पहले अपने पितृकुल में कोई सम्पत्ति प्राप्त कर ली है तो दत्तक बनने के बाद भी उस सम्पत्ति पर उसका अधिकार बना रहेगा। (ख) गोद लिया गया पुत्र किसी ऐसे व्यक्ति के साथ विवाह नहीं कर सकता जिसके साथ दत्तक बनने से पहले उसका विवाह नहीं हो सकता था। निषिद्ध पीढ़ियों (prohibited degrees) के सम्बन्धियों से तथा सपिण्ड व्यक्तियों के साथ विवाह नहीं हो सकता। (ग) गोद लिया गया लड़का किसी व्यक्ति से ऐसी सम्पत्ति नहीं ले सकता, जो उसे उसके गोद लिये जाने पूर्व प्राप्त हो चुकी है।

(8) एक वैध रीति से गोद लेने की विधि सम्पन्न होने के बाद इसे गोद लेने वाला व्यक्ति या अन्य कोई व्यक्ति रद्द नहीं कर सकता और न ही गोद लिया गया व्यक्ति फिर से अपने मूल परिवार या पितृकुल में लौट सकता है।

(9) इस कानून के तीसरे अध्याय में भरण-पोषण के नियमों का उल्लेख है। प्रत्येक हिन्दू का यह कानूनी कर्तव्य है कि वह अपनी पत्नी, नाबालिग लड़कों, अविवाहित लड़कियों तथा वृद्ध माता-पिता का पालन-पोषण करे। उसके पास कोई सम्पत्ति हो या न हो, उसे इन व्यक्तियों का भरण-पोषण करना ही पड़ेगा। इस विधान के पास होने से पूर्व भरण-पोषण सम्बन्धी नियम केवल पुत्र या पुरुष पर ही लागू होता था, पर इस अधिनियम के अनुसार वृद्ध या रोगग्रस्त माता-पिता तथा सन्तानों के भरण-पोषण के लिये पुत्र और पुत्री या पुरुष या स्त्री दोनों बाध्य हैं। पति से पत्नी के लिये मिलने वाले भरण-पोषण की मात्रा आदि के सम्बन्ध में एक विस्तृत अधिनियम सन् 1946 में 'हिन्दू विवाहित स्त्रियों के पृथक् निवास तथा भरण-पोषण अधिनियम'

(Hindu Married Women's Right to Separate Residence and Maintenance Act, 1946) के रूप में पास किया गया था। 1956 के उपरोक्त अधिनियम में इसकी व्यवस्थाओं को दोहराते हुए न्यायालयों को पत्नी के भरण-पोषण की मात्रा तय करने का अधिकार दिया गया है।

(10) दहेज निरोधक अधिनियम, 1961

(Dowry Prohibition Act, 1961)

अनेक समाज-सुधारकों के अनुसार दहेज-प्रथा को समाप्त करने के लिये सरकारी कानून का पास होना सुधार की दिशा में पहला कदम है। देश के महिला संगठनों ने भी यही माँग सरकार से की थी। इसी माँग की पूर्ति के लिये एक 'दहेज निरोधक विधेयक' (Dowry Prohibition Bill) लोकसभा तथा राज्यसभा के सम्मुख प्रस्तुत किया गया था। इस विधेयक (Bill) की कुछ धाराओं के सम्बन्ध में लोकसभा तथा राज्यसभा के बीच कुछ मतभेद था। इन मतभेदों को दूर करने के लिये 9 मई सन् 1961 को संसद् के इन दोनों सदनों का एक संयुक्त अधिवेशन आमन्त्रित किया गया था। इस ऐतिहासिक अधिवेशन ने प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप में दहेज माँगने अथवा देने और लेने पर रोक लगाने व दण्ड देने का विधेयक (Bill) स्वीकार कर लिया। संयुक्त अधिवेशन ने निर्णय किया कि विवाह के अवसर पर दिए गए उपहार दहेज नहीं समझे जाएंगे, परन्तु विवाह करते समय माँगे गए उपहारों पर यह बात लागू नहीं होगी। दूसरे शब्दों में, अमुक-अमुक या इतना उपहार देना ही होगा—इस प्रकार की कोई शर्त (condition) विवाह तय करते समय नहीं रखी जा सकेगी और वह दण्डनीय होगी। इस कानून का उल्लंघन करते हुए जो भी कुछ दहेज दिया जाएगा वह सभी पत्नि की सम्पत्ति (trust property) मानी जाएगी और पत्नि को या उसके उत्तराधिकारी को प्राप्त होगी। इस विधेयक को 22 मई, सन् 1961 को राष्ट्रपति की स्वीकृति भी प्राप्त हो गई है और इस प्रकार यह विधेयक अब कानून के रूप में 1 जुलाई सन् 1961 से लागू हो गया है। इस अधिनियम में दस धाराएँ हैं। उस में से कुछ उल्लेखनीय धाराएँ निम्नलिखित हैं—

धारा 3—इस धारा के अनुसार यदि कोई व्यक्ति दहेज देता या लेता है या देने-लेने में मदद करता है तो उसे 6 माह का कारावास और पांच हजार रुपये तक जुर्माना हो सकता है।

धारा 4—इस धारा के अनुसार यदि वर या कन्या के माता-पिता या संरक्षक से प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप में कोई व्यक्ति दहेज माँगता है तो उसे भी उपरोक्त दण्ड दिया जा सकता है।

धारा 5—दहेज लेने-देने से सम्बन्धित किसी भी प्रकार का समझौता गैर-कानूनी होगा।

धारा 6—इस धारा के अन्तर्गत दहेज के उद्देश्य को भी निश्चित कर दिया गया है। दहेज का उद्देश्य केवल विवाह करने वाली कन्या के लाभ के लिए होगा। यदि कन्या के अतिरिक्त कोई दूसरा व्यक्ति विवाह के पहले दहेज स्वीकार करता है तो उसे यह दहेज विवाहित स्त्री को विवाह के एक साल के अन्दर दे देना पड़ेगा। यदि यह दहेज विवाह के समय या विवाह के बाद लिया गया है, तो उस तारीख से एक वर्ष के अन्दर कन्या को दे देना पड़ेगा। यदि वह कन्या दहेज देने के समय नाबालिग है तो उसकी 19 वर्ष की अवस्था तक दे देना होगा। जब तक यह धन

(दहेज) उस कन्या को नहीं दे दिया जाता तब तक वह व्यक्ति जिसके पास वह धन है उसे अपने पास प्रत्यास (trustee) की हैसियत से ही रख सकता है। इस धन को कन्या को न लौटाने वाले व्यक्ति को भी उपरोक्त दण्ड दिया जाएगा। कन्या की मृत्यु के बाद उस दहेज के धन पर उसके उत्तराधिकारी का अधिकार होगा।

धारा 7—इस धारा के अनुसार अदालत इस अधिनियम के अन्तर्गत होने वाले अपराधों पर तभी विचार करेगी जबकि—(क) इस सम्बन्ध में कोई लिखित शिकायत की जाए, (ख) यह शिकायत किसी प्रथम श्रेणी के मजिस्ट्रेट की कोर्ट में की जाए, तथा (ग) दहेज लेने-देने के एक वर्ष के अन्दर ही यह शिकायत कर दी जाए।

(11) मुस्लिम विवाह-विच्छेद अधिनियम, 1939

(Dissolution of Muslim Marriage Act, 1939)

पहले पत्नी को बिना पति की स्वीकृति के विवाह-विच्छेद करने का अधिकार नहीं था। इस नियोग्यता को सर्वप्रथम सन् 1939 में 'मुस्लिम विवाह-विच्छेद अधिनियम' (Dissolution of Muslim Marriage Act, 1939) के द्वारा दूर किया गया। इस अधिनियम के अनुसार एक-मुस्लिम स्त्री को निम्न आधारों पर विवाह-विच्छेद के अधिकार दिए गए हैं—(1) जब चार वर्ष से पति का कोई पता नहीं चल रहा हो। (2) जब पति जान-बूझकर अथवा अपनी असमर्थता के कारण दो वर्ष से पत्नी के भरण-पोषण की व्यवस्था करने में असमर्थ हो। (3) जब पति को 7 वर्ष अथवा उससे लम्बी अवधि की कैद का दण्ड मिल गया हो। (4) जब उचित कारण के बिना पति अपने वैवाहिक कर्तव्यों का पालन तीन वर्ष की अवधि से नहीं कर रहा हो। (5) विवाह के समय से ही पति नपुंसक हो। (6) दो वर्ष की अवधि से पति पागल हो अथवा कोढ़ या विषाक्त गुप्त रोगों से पीड़ित हो। (7) जब 17 वर्ष की आयु से पहले पत्नी का विवाह पिता या संरक्षक के द्वारा किया गया हो और पत्नी ने यौन-सम्बन्ध स्थापित होने से पूर्व तथा अपनी 18 वर्ष की आयु होने के पूर्व विवाह का प्रत्याख्यान कर दिया हो। (8) जब पति की ओर से शारीरिक या आचरण सम्बन्धी क्रूरता हो, या उसका बदनाम स्त्रियों से सम्पर्क हो, या वह बदनाम जीवन व्यतीत करता हो, या पत्नी को अनैतिक जीवन-व्यतीत करने के लिए बाध्य करता हो, या उसकी सम्पत्ति को बेचता हो, या उसे अपनी सम्पत्ति के उपभोग से रोकता हो, या पत्नी के घामिक कार्यों में बाधा पहुंचाता हो या अन्य पत्नियों की तुलना में बराबर का व्यवहार नहीं करता हो। (9) मुस्लिम कानून द्वारा मान्य किसी अन्य आधार पर भी विवाह-विच्छेद हो सकता है।

हाल के विधानों का परिवार तथा विवाह पर प्रभाव

(Impact of Recent Legislations on Family and Marriage)

वर्तमान समय में सम्पूर्ण सामाजिक व्यवस्था न केवल बदल गई है बल्कि उसमें अनेक क्रान्तिकारी परिवर्तन भी घटित हुए हैं। इन नवीन परिस्थितियों के साथ अनुकूलन करने के लिए यह आवश्यक था कि परिवार तथा विवाह से सम्बन्धित प्राचीन शास्त्रीय व्यवस्था में संशोधन किया जाए क्योंकि इसके बिना नए युग के साथ कदम मिलाकर चलना और नवीन आवश्यकताओं की पूर्ति करना परिवार और

विवाह संस्था के लिए सम्भव नहीं था। इसी उद्देश्य से कुछ विधानों को सरकार ने पास किया है। इन विधानों के परिवार तथा विवाह पर अनेक महत्वपूर्ण प्रभाव पड़े हैं जिनकी कि संक्षेप में अब हम विवेचना करेंगे—

1. **हिन्दू-विवाह तथा विवाह-विच्छेद अधिनियम का प्रभाव**—मई, सन् 1955 से लागू होने वाले इस कानून ने हिन्दू-समाज के विवाह की विभिन्न अवस्थाओं पर तथा परिवार पर गहरा प्रभाव डाला है। सबसे पहले हम इस अधिनियम के परिवार पर पड़ने वाले प्रभावों की विवेचना करेंगे। इस अधिनियम का सबसे पहला प्रभाव परिवार पर यह पड़ा है कि इसके पास होने के बाद परिवार में पुरुष की प्रभुता कम हो गई है। इससे पहले परिवार में पति और पिता के रूप में पुरुष को असीमित अधिकार प्राप्त थे। पुरुष अपने मनमाने ढंग से स्त्रियों पर शासन करता था और साथ ही परिवार के मामले में स्त्रियों को कोई भी महत्व नहीं देता था। परन्तु इस अधिनियम के पास होने के बाद स्त्री और पुरुष दोनों के लिए विवाह की कुछ शर्तों को मानना अतिवार्य हो गया है और साथ ही स्त्रियों को भी विवाह-विच्छेद के सम्बन्ध में अधिकार मिल गए हैं। इस अधिकार के फलस्वरूप पुरुष अब स्त्रियों पर उतना अत्याचार करने का साहस नहीं करता है जैसा कि वह पहले करता था। इस अधिनियम का परिवार पर दूसरा प्रभाव यह पड़ा है कि इस अधिनियम के पास हो जाने के बाद हिन्दू परिवार का स्थायित्व प्रभावित हुआ है। इसके पहले विवाह-विच्छेद की आज्ञा नहीं थी। विवाह-बन्धन एक अटूट बन्धन माना जाता था इसलिए परिवार का स्थायित्व भी आजन्म काल के लिए बहुत-कुछ निश्चित था। परन्तु इस अधिनियम ने उस निश्चितता को प्रभावित किया है क्योंकि इस अधिनियम का उपयोग करके अब विवाह-विच्छेद के द्वारा परिवार के स्थायित्व को किसी भी समय चोट पहुंचाई जा सकती है।

इस अधिनियम के अनेक महत्वपूर्ण प्रभाव विवाह संस्था पर भी पड़े हैं जो कि संक्षेप में निम्न हैं—

(क) **एक-विवाह (Monogamy)**—उपरोक्त अधिनियम के पास होने से पहले एक समय में एक से अधिक स्त्रियों से विवाह (बहुपत्नी-विवाह) करने की प्रथा हिन्दू समाज में खूब प्रचलित थी। बंगाल और बिहार में एक-एक कुलीन पुरुष की सी से भी अधिक पत्नियाँ होती थीं और उन्हें अपनी पत्नियों के बारे में याद रखने के लिए रजिस्टर (Register) रखना पड़ता था। परन्तु उपरोक्त कानून ने इस महान् दोष को दूर कर दिया। इस अधिनियम में अब विवाह की पहली शर्त यह है कि विवाह तभी वैध होगा जब विवाह के समय दोनों पक्षों (Parties) में से किसी का भी विवाह-साथी (अर्थात् पति या पत्नी) जीवित न हो। एक-विवाह होने से अब स्त्रियों को केवल सन्तान उत्पन्न करने तथा भोग-विलास का साधन मात्र समझने की प्रवृत्ति पर रोक लग गई है और पारिवारिक जीवन भी सुखी हो गया है।

(ख) **विधवा-पुनर्विवाह (Widow-remarriage)**—परम्परागत रूप में विधवाओं को यह अधिकार नहीं दिया गया कि वे फिर से विवाह करें, क्योंकि यह हिन्दू-विवाह के तथाकथित 'आदर्श' के विपरीत है। उपरोक्त कानून के पास होने से पुनर्विवाह करने के सम्बन्ध में विधवाओं के अधिकारों को फिर से एक बार वैधानिक मान्यता प्राप्त हो गई है, यद्यपि हिन्दू विधवा पुनर्विवाह अधिनियम, 1856 ने ही पुनर्विवाह के विषय में विधवाओं की समस्त नियोग्यताओं को दूर कर दिया था।

हिन्दू विवाह अधिनियम में हिन्दू विवाह की प्रथम शर्त यह है कि विवाह के समय किसी भी पक्ष का विवाह-साथी जीवित न हो। चूँकि विधवाएँ वे स्त्रियाँ हैं जिनके पति का देहान्त हो गया है अर्थात् उनका विवाह-साथी जीवित नहीं होता है, अतः हिन्दू विवाह अधिनियम के अनुसार यदि विधवाएँ विवाह करती हैं तो उनका वह विवाह वैध होगा।

(ग) अन्तर्जातीय विवाह (Intercaste Marriage)—परम्परागत रूप में हिन्दू विवाह की सबसे उल्लेखनीय विशेषता अन्तर्विवाह (Endogamy) है जिसके अनुसार हिन्दू विवाह अपनी ही जाति में विवाह करने का निर्देश देता है। दूसरे शब्दों में हम कह सकते हैं कि हिन्दू विवाह में अन्तर्जातीय विवाह करने की आज्ञा नहीं है। उपरोक्त अधिनियम का हिन्दू विवाह पर एक बहुत महत्वपूर्ण प्रभाव यह पड़ा है कि इस अधिनियम के अनुसार हिन्दू विवाह के अन्तर्विवाह से सम्बन्धित नियम को बाध्यतामूलक न रखकर ऐच्छिक बना दिया गया है अर्थात् यह विवाह करने वाले पक्षों की इच्छा पर निर्भर करेगा कि वे अन्तर्विवाह करें या अन्तर्जातीय विवाह करें। संक्षेप में, इस अधिनियम ने अन्तर्जातीय विवाह सम्बन्धी समस्त वैधानिक व सामाजिक अड़चनों को दूर कर दिया है। 'हिन्दू विवाह अधिनियम' के अन्तर्गत 'हिन्दू' की परिभाषा में हिन्दुओं के अतिरिक्त बौद्ध, जैन तथा सिक्ख भी सम्मिलित हैं। अतः स्पष्ट है कि हिन्दू विवाह का क्षेत्र पर्याप्त विस्तृत कर देना ही इस अधिनियम का एक प्रमुख उद्देश्य है। यह हिन्दू विवाह पर इस अधिनियम का एक उल्लेखनीय प्रभाव है।

(घ) जीवन-साथी का स्वतन्त्र चुनाव (Free Choice of Mates)—हिन्दू विवाह अधिनियम का एक और उल्लेखनीय प्रभाव यह है कि अब विवाह करने वाले दोनों पक्षों को अपने जीवन-साथी का चुनाव करने के सम्बन्ध में स्वतन्त्रता होगी, बशर्ते कि विवाह करने वाले पक्षों की आयु 21 वर्ष से कम न हो। परम्परागत रूप में हिन्दू विवाह के अन्तर्गत विवाह-साथी का चुनाव और अन्तिम निर्णय माता-पिता या संरक्षक के द्वारा ही होता है। माता-पिता या संरक्षकों के इस एकाधिकार को उपरोक्त अधिनियम ने कम कर दिया है। अब अगर युवक व युवती अपने विवाह-साथी का चुनाव स्वयं कर लेते हैं और विवाह करना चाहते हैं, पर यदि माता-पिता ऐसे विवाह की आज्ञा नहीं भी देते हैं, तो भी वे दोनों युवक अपने माता-पिता या संरक्षकों की सहमति के बिना ही रजिस्ट्री करवाकर विवाह कर सकते हैं, बशर्ते कि वे 21 वर्ष से कम आयु के नहीं हैं।

(ङ) बाल-विवाह पर प्रतिबन्ध (Check on Child Marriage)—हिन्दू विवाह के अन्तर्गत परम्परात्मक धारणा यह है कि लड़के-लड़कियों का विवाह बाल्यकाल में ही कर देना उचित होगा। हिन्दू विवाह से सम्बन्धित इस धारणा को सन् 1955 के हिन्दू विवाह अधिनियम में बदलने का प्रयत्न किया गया है। इस अधिनियम के अनुसार विवाह के समय वर की आयु कम-से-कम 18 वर्ष और वधू की आयु कम-से-कम 15 वर्ष होनी चाहिए। सन् 1929 के 'शारदा ऐक्ट' के बाद इस अधिनियम में इस न्यूनतम आयु को दोहराने का सबसे बड़ा तात्पर्य बाल-विवाह को रोकने का फिर से प्रयत्न करना है।

(च) विवाह-विच्छेद (Divorce)—पारसी तथा मुसलमानों में विवाह-विच्छेद मान्य है, परन्तु हिन्दू विवाह के परम्परागत विधान के अन्तर्गत ऐसी कोई

सुविधा प्राप्त नहीं है। विशेषकर ऊँची जातियों में विवाह-विच्छेद के प्रतिकूल धारणा अभी हाल तक बहुत दृढ़ थी। हिन्दू विवाह एक धार्मिक व पवित्र संस्कार माना जाता है, इसलिए यह अटूट है। अतः विवाह-विच्छेद मान्य नहीं था। विवाह-विच्छेद के इन निषेधों के साथ धार्मिक धारणाओं को भी जोड़ दिया गया जैसे विवाह-सम्बन्ध स्वर्ग में ही निश्चित होता है; इसलिए उसे तोड़ने का अधिकार केवल ईश्वर को ही है। साथ ही लड़कियों को बचपन से ही शिक्षा दी जाती थी कि पति देवता है और उसकी सेवा करना ही पत्नी का परम धर्म है। चाहे पति दुश्चरित्र हो, अत्याचारी हो, पत्नी के जीवन को नष्ट कर रहा हो या नपुंसक हो—पत्नी को उसी के साथ ही समस्त जीवन बिताना होगा। किसी भी आधुनिक अर्थ में इसे उचित नहीं माना जा सकता है। अतः स्त्रियों की दशा को उन्नत करने के लिये, पुरुषों के पक्ष में हिन्दू विवाह के एकतरफा नियमों को समाप्त करने के लिए, समानता और सामाजिक न्याय के सिद्धान्तों को मान्यता देने के लिए, दुःखी वैवाहिक जीवन को सुखी बनाने के लिए और विवाह संस्था का गतिशील समाज के साथ अनुकूलन करने में सहायता करने के लिए सन् 1955 का 'हिन्दू विवाह और विवाह-विच्छेद अधिनियम' पास किया गया है। यद्यपि इस अधिनियम में विवाह-विच्छेद सम्बन्धी शर्तें इतनी आसान नहीं हैं कि सरलता से मनचाहे तौर पर विवाह-विच्छेद किया जा सके फिर भी विवाह-विच्छेद की मान्यता देकर इस अधिनियम ने पुरुषों के निरंकुश अधिकार पर अंकुश लगाकर हिन्दू विवाह के परम्परागत आधार को ही बदल दिया है। हो सकता है कि आरम्भ में कुछ परिवार विघटित हो जाएँ, या स्त्रियों के सम्मुख आर्थिक समस्याएँ आ खड़ी हों अथवा बच्चों के पालन-पोषण सम्बन्धी समस्या गम्भीर प्रतीत हो। पर दुनिया के अन्य देशों के अनुभव से आगे चलकर इस सम्बन्ध में विशेष चिन्ता की कोई बात नहीं है।

(छ) इस अधिनियम के अन्य महत्वपूर्ण प्रभाव जो विवाह संस्था पर पड़े हैं इस प्रकार हैं—इस अधिनियम का प्रभाव यह हुआ है कि द्वि-विवाह (Bigamy) को दण्डनीय करार दिया गया है। ऐसा विवाह न केवल कानून की दृष्टि से अवैध है बल्कि उसके लिए उसे दण्ड भी दिया जायेगा। इस अधिनियम का एक और प्रभाव यह हुआ है कि इस अधिनियम के पास हो जाने के बाद विवाह की आवश्यक शर्तें व दशाएँ सुस्पष्ट तथा सरल हो गई हैं। इन शर्तों में विवाह के समय कोई जीवित विवाहित जीवन-साथी न होना, त्रोंई भी पक्ष पगल या मूढ़ न होना, विवाह के समय वर की आयु 18 वर्ष और वधू की 15 वर्ष की होना, वर-वधू निषिद्ध सम्बन्धों के अन्तर्गत न होना इत्यादि विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। साथ ही इस अधिनियम के पास हो जाने के बाद कुछ निश्चित अवस्थाओं के अन्तर्गत न्यायिक पृथक्करण (Judicial Separation) तथा विवाह-विच्छेद अब मान्य हो गया है। यह अधिकार पहले हिन्दू विवाह के परम्परागत नियमों के अन्तर्गत प्राप्त नहीं था।

2. हिन्दू-विधवा-पुनर्विवाह अधिनियम, 1856 का प्रभाव—इस अधिनियम का प्रभाव विवाह संस्था पर पड़ा है। परम्परागत रूप में विधवाओं को पुनर्विवाह करने की आज्ञा न थी। इस अधिनियम ने विधवाओं की इस नियोग्यता को दूर कर दिया है और यह निश्चित कर दिया है कि विधवा का दूसरा विवाह तथा उससे उत्पन्न होने वाली सभी सन्तानें वैध होंगी। साथ ही यदि विधवा बालिग हो गई है तो विवाह के सम्बन्ध में उसकी अपनी स्वीकृति ही काफी होगी।

3. बाल-विवाह-निरोधक अधिनियम, 1929 का प्रभाव—इस अधिनियम का प्रभाव परिवार और विवाह दोनों पर ही पड़ा है। विवाह पर इसका प्रभाव यह है कि इससे द्वारा बाल-विवाह रोकने का प्रयत्न किया गया है तथा यह कहा गया है कि विवाह के समय वर की आयु 18 वर्ष से कम और कन्या की आयु 15 वर्ष से कम की नहीं होनी चाहिए। इस प्रकार का विवाह करने वाले तथा करवाने वालों को दण्ड देने का विधान इस अधिनियम में है। इस अधिनियम का परिवार पर यह प्रभाव पड़ा है कि इस अधिनियम के पास हो जाने पर विवाह की आयु अब ऊँची उठ गई है। इसका परिणाम यह हुआ है कि परिवार में वधू की स्थिति अब पहले से कुछ सुधर गई है और छोटी आयु वाली वधुओं पर पहले जो अत्याचार होते थे वृहत् भी अब कुछ कम हो गये हैं। साथ ही विवाह की आयु बढ़ जाने से लड़कियों को शिक्षा प्राप्त करने का मौका मिला और शिक्षित लड़कियाँ प्रायः संयुक्त परिवार के वातावरण से अपना अनुकूलन नहीं कर पाती हैं, और अपने पति के साथ मिलकर संयुक्त परिवार से अलग हो जाती हैं। इससे संयुक्त परिवार का विघटन होता है।

4. विशेष विवाह अधिनियम, 1954 का प्रभाव—इस अधिनियम का विवाह-संस्था पर प्रभाव पड़ा है। इसके अतिरिक्त अन्तर्जातीय विवाह की वैधानिक अड़चनें दूर हो गई हैं। अब हिन्दू, मुसलमान, ईसाई आदि विभिन्न धर्म के मानने वाले आपस में विवाह कर सकते हैं। विवाह करते समय यह घोषणा करना भी जरूरी नहीं है कि विवाह करने वाले स्त्री-पुरुष किसी धर्म को नहीं मानते हैं।

5. हिन्दू उत्तराधिकार अधिनियम, 1956 का प्रभाव—इस अधिनियम का अत्यधिक महत्वपूर्ण प्रभाव परिवार पर पड़ा है। इस अधिनियम के अनुसार स्त्री को पत्नी के रूप में, माता के रूप में, पुत्री के रूप में पुरुषों के समान साम्प्रतिक अधिकार प्राप्त हो गए हैं। यह अधिकार प्राप्त हो जाने से पारिवारिक सम्बन्ध प्रभावित हुआ है। इसका कारण भी स्पष्ट है। साम्प्रतिक अधिकार मिल जाने से पत्नी, माता और पुत्री के रूप में परिवार में स्त्रियों का आदर बढ़ गया है। साथ ही इस अधिनियम के कारण संयुक्त परिवार के आर्थिक आधार को चोट पहुँचती है। यह अधिनियम पुत्रों को भी समान साम्प्रतिक अधिकार देता है। इससे परिवार की सम्पत्ति का विभाजन होने का अन्देश अधिक होता है। साथ ही यह अधिनियम दायभाग और मिताक्षरा इन दो प्रकार की परिवार प्रणालियों को समाप्त कर देता है।

6. हिन्दू नाबालिगी तथा संरक्षकता अधिनियम, 1956 का प्रभाव—इस अधिनियम का प्रभाव परिवार पर पड़ा है। इस कानून के द्वारा संरक्षकों के स्वरूपों में परिवर्तन कर दिए गए हैं। अब स्वाभाविक संरक्षकों में पहला स्थान पिता को दिया गया है, और दूसरा स्थान माता का है, और नाबालिग विवाहित लड़की का संरक्षक उसके पति को बनाया गया है। पुराने हिन्दू कानून के अनुसार माता-पिता के अभाव में नाबालिग व्यक्ति का चाचा, ताऊ, मामा, दादा, नाना आदि सम्बन्धी भी संरक्षक बन सकते थे और आवश्यकता पड़ने पर नाबालिग की सम्पत्ति का विक्रय आदि के द्वारा हस्तान्तरण कर सकते थे। किन्तु इस कानून द्वारा अब इन संरक्षकों को समाप्त कर दिया गया है और सम्पत्ति को हस्तान्तरित करने का अधिकार

भी छीन लिया गया। इस कानून का यह प्रभाव पड़ा है कि नाबालिगों की सम्पत्ति आदि के सम्बन्ध में पहले जो मज़माने कार्य होते थे, अब उन पर प्रतिबन्ध लग गए हैं।

7. हिन्दू गोद लेना तथा भरण-पोषण अधिनियम, 1956 का प्रभाव—इस अधिनियम का प्रभाव भी परिवार पर पड़ा है। इस अधिनियम के अनुसार हिन्दू लड़के या लड़कियों को गोद लिया जा सकता है। यदि पुरुष किसी बच्चे को गोद ले रहा है तो यह आवश्यक है कि वह कम-से-कम 18 वर्ष का और शुद्ध मन का हो। यदि पत्नी जीवित हो तो उसकी सम्मति भी आवश्यक है। अब पुरुषों की भांति स्त्रियों को भी गोद लेने का अधिकार प्राप्त हो गया है। इन सबका परिणाम यह हुआ है कि गोद लेने के सम्बन्ध में स्त्री-पुरुष दोनों को ही समान अधिकार मिल गए हैं, जिससे कि परिवार में स्त्री-पुरुष की समानता का विचार पनपना सरल हो गया है तथा गोद लिए हुए बच्चों की परिवार में स्थिति भी सुनिश्चित हो गई है। दूसरी ओर गोद लिए गए बच्चे का सम्बन्ध उसे जन्म देने वाले माता-पिता से तथा अपने कुल से हमेशा के लिए विच्छिन्न हो जाता है और वह उस कुल के समस्त अधिकारों से वंचित हो जाता है तथा गोद लेने वाले पिता की सम्पत्ति का उत्तराधिकारी बन जाता है। इस अधिनियम के अनुसार प्रत्येक हिन्दू का यह कानूनी कर्तव्य है कि वह अपनी पत्नी, नाबालिग लड़कों, अविवाहित लड़कियों तथा वृद्ध माता-पिता का पालन-पोषण करे तथा इस विषय में नर और नारी को समान माने। अब पुत्र और पुत्री दोनों ही कानूनी तौर पर बाध्य हैं कि वे अपने वृद्ध व रोगग्रस्त माता-पिता का भरण-पोषण करें। इस अधिनियम के पास होने से पहले यह कर्तव्य केवल पुत्र पर ही लादा जाता था।

8. दहेज-निरोधक अधिनियम, 1961 का प्रभाव—इस अधिनियम का प्रभाव परिवार तथा विवाह संस्था पर पड़ा है। विवाह की शर्त के रूप में वर-मूल्य देना दण्डनीय अपराध है, इसलिये अब लोग वर-मूल्य लेने से डरने लगे हैं; यद्यपि वर-मूल्य देना या लेना अब भी बन्द नहीं हुआ है और लोगों को जो कुछ लेना या देना होता है उसे स्वेच्छा से दी गई मेंट के रूप में लेते या देते हैं। फिर भी विवाह की आवश्यक शर्त व अंग के रूप में वर-मूल्य का स्थान अब अवैधानिक हो गया है। साथ ही, इस अधिनियम के पास हो जाने से परिवार में महिलाओं का सम्मान बढ़ जाने की आशा की जाती है।

निष्कर्ष

(Conclusion)

उपरोक्त विवेचना से यह स्पष्ट है कि भारत में परिवार तथा विवाह संस्था को युग की मांग के अनुसार परिवर्तित करने व सुधारने में हाल ही में पारित सामाजिक विधानों का महत्वपूर्ण योगदान रहा है। परिवार और विवाह का विकास कुछ सामाजिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए हुआ है, पर आज इन सामाजिक आवश्यकताओं में स्वयं ही अनेक क्रान्तिकारी परिवर्तन हो गए हैं। साथ ही, पारिवारिक जीवन के प्रति आज हमारे आदर्श तथा मूल्यों में भी अनेक उल्लेखनीय परिवर्तन देखने को मिलते हैं। यह बड़ी अजीब परिस्थिति होगी यदि परिवार तथा विवाह संस्था इन परिवर्तित मांगों व आवश्यकताओं के साथ अपना अनुकूलन न कर सके। परिवार तथा विवाह की व्यावहारिक उपयोगिता इसी बात पर निर्भर है कि

परिवार तथा विवाह भी इन परिवर्तनों के साथ कदम-से-कदम मिलाकर चलें। इसी उद्देश्य को सामने रखते हुए हाल ही के वर्षों में आवश्यक कानूनों को पारित करके भारतीय परिवार तथा विवाह संस्था को एक गतिशील व प्रगतिशील रूप देने का प्रयत्न किया गया है। यह प्रयत्न सराहनीय है क्योंकि यह नई पीढ़ी की नई आकांक्षाओं व आवश्यकताओं का प्रतिनिधित्व करता है, सूत्रपात करता है उस अहिंसात्मक सामाजिक क्रान्ति का जोकि समाज की बुनियादी नींव—परिवार—से आरम्भ होकर सम्पूर्ण समाज में परिव्याप्त होगी।

भारतीय समाज में नारी की स्थिति

[Status of Women in Indian Society]

भारत में सैद्धान्तिक रूप में आज भी, और हमेशा से ही, नारी की मर्यादा है और उनका आदर हुआ है। कहा जाता है कि समाज में नारी का स्थान और मर्यादा वही है जो पुरुष की है—न कम और न अधिक। हिन्दू आदर्श के अनुसार, स्त्रियाँ अर्द्धाङ्गिनी कही गई हैं। हिन्दू समाज में मातृत्व का आदर है। सर्वनियन्ता भगवान् की शक्तियों का लक्ष्मी, सरस्वती, दुर्गा, काली आदि नारी रूपों में ही वर्णन किया गया है। इस प्रकार नारी शक्ति, धन और ज्ञान का प्रतीक मानी गई है। वह हमारी राष्ट्रीयता की भी प्रतीक है। अपने देश को हम 'भारत माता' कहकर उसके प्रति अपनी श्रद्धा प्रकट करते हैं। परन्तु यह सब-कुछ होते हुए भी व्यावहारिक रूप में भारत में स्त्रियों की स्थिति विभिन्न कालों में उठती और गिरती रही है जैसा कि निम्नलिखित विवेचना से स्पष्ट होगा।

विभिन्न युगों में नारी की स्थिति (Status of Women in Different Ages)

विभिन्न युगों में भारतीय नारी की स्थिति का चित्र निम्नलिखित है—

वैदिक युग (Vedic Age)

सम्भवतः वैदिक युग हिन्दू समाज का स्वर्ण-युग था। इस युग में नारी की स्थिति न केवल अच्छी थी, बल्कि अत्यन्त उन्नत भी। वैदिक साहित्य के अध्ययन से पता चलता है कि उस समय स्त्रियों की स्थिति उनके आत्म विकास, शिक्षा, विवाह, सम्पत्ति आदि के सम्बन्ध में प्रायः पुरुषों के समान थी। पत्नी के रूप में तो उनकी स्थिति बहुत ऊँची थी। घर में उसे 'रानी' की तरह रहने का आशीर्वाद दिया जाता था। ऋग्वेद के अनुसार पत्नी ही घर है। महाभारत के कथनानुसार घर, घर नहीं यदि उस घर में पत्नी नहीं। गृहिणीहीन घर 'जंगल' है। पूर्वमीमांसा का मत है कि पति-पत्नी दोनों सम्पत्ति के स्वामी होते हैं, अतः उन्हें संयुक्त रूप से यज्ञ करना चाहिए। अपत्नीक व्यक्ति को यज्ञ करने का अधिकार नहीं था।

वैदिक युग में लड़कियों की गतिशीलता पर कोई रोक नहीं थी और न ही मेल-मिलाप और शिक्षा प्राप्त करने के सम्बन्ध में कोई प्रतिबन्ध था। उस समय बहुपत्नी-विवाह अवश्य प्रचलित था, परन्तु स्त्रियों को आदर से रखा जाता था। विधवाओं के पुनर्विवाह के सम्बन्ध में कोई विशेष प्रतिबन्ध न था। विधवा अपने देवर या अन्य व्यक्ति के साथ विवाह कर सकती थी। वह सती भी हो सकती थी, यद्यपि सती-प्रथा का विशेष प्रचलन न था।

उत्तर-वैदिक काल (Post-Vedic Age)

वैदिक युग में स्त्रियों की जो ऊँची स्थिति थी, वह अधिक समय तक स्थिर न रह सकी। धर्मसूत्रों में बाल-विवाह का निर्देश दिया गया जिससे कि स्त्रियों की शिक्षा में बाधा पहुँची और उनकी शिक्षा मामूली स्तर पर आ गई। चूँकि उन्हें लिखने-पढ़ने के अवसर प्राप्त न थे इस कारण वेदों का ज्ञान असम्भव हो गया। उनके लिए धार्मिक संस्कार में भाग लेने की मनाही हो गई। उनका प्रमुख कर्तव्य पति-आज्ञापालन हो गया। विवाह स्त्रियों के लिए अनिवार्य कर दिया गया। विधवा-विवाह पर निषेध जारी किया गया। बहुपत्नी-प्रथा का प्रचलन और बढ़ा। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि वैदिक युग की तुलना में उत्तर-वैदिक काल में स्त्रियों की स्थिति नीची थी।

स्मृति युग (Smriti Age)

इस युग में स्त्रियों की स्थिति और ~~नीची~~ गई। उनका जो कुछ भी सम्मान इस युग में होता था, वह केवल माता के रूप में होता था, न की पत्नी के रूप में। इस युग में विवाह की आयु घटाकर 12 या 13 वर्ष कर दी गई। विवाह की आयु घटने से शिक्षा न के बराबर हो गई। इस युग में स्त्रियों के समस्त अधिकारों का अपहरण कर लिया गया। स्मृतिकारों ने यह निर्देश दिया कि स्त्रियों को किसी भी अवस्था में स्वतन्त्र न रखा जाए, बचपन में उन्हें पिता के संरक्षण में, युवावस्था में पति के और वृद्धावस्था में पुत्र के संरक्षण में रखना ही उचित होगा। स्त्रियों का परम कर्तव्य पति की सेवा माना जाता था, चाहे वह पति किसी भी तरह का हो। विधवाओं के पुनर्विवाह पर कठोर निषेध लगा दिए गए। सती होना सर्वोत्तम समझा गया।

मध्यकालीन युग (Medieval Age)

इस युग में, विशेषकर मुगल साम्राज्य की स्थापना के बाद, स्त्रियों की दशा और भी दयनीय हो गई। ब्राह्मणों ने हिन्दू-धर्म की रक्षा, स्त्रियों के सतीत्व तथा रक्त की शुद्धता बनाए रखने के लिए स्त्रियों के सम्बन्ध में नियमों को और भी कठोर बना दिया। ऊँची जातियों में स्त्री-शिक्षा प्रायः समाप्त हो गई। पर्दा-प्रथा की और भी प्रोत्साहन मिला। लड़कियों के विवाह की आयु घटकर 8-9 वर्ष रह गई। इसके फलस्वरूप बचपन से ही उनके ऊपर घर-गृहस्थी का भार लद गया। गृहस्थी ही उनके समस्त कर्म और आशाओं का एक मात्र केन्द्र हो गई। विधवाओं का पुनर्विवाह पूर्ण रूप से प्राप्त हो गया और सती-प्रथा तो इस समय चरम सीमा पर पहुँच गई। संक्षेप में, स्त्रियों के सतीत्व की रक्षा करने के लिए, इस युग में, हिन्दुओं ने उन्हें जन्म से मृत्यु तक पुरुष के अधीन कर दिया और उनके समस्त अधिकार और स्वतन्त्रता को छीन लिया।

इस युग में केवल स्त्रियों के सम्पत्ति पर अधिकार के सम्बन्ध में कुछ सुधार हुआ तथा विधवाओं को पति की सम्पत्ति पर कुछ अधिकार मिला। इसके अतिरिक्त जिन लड़कियों के भाई नहीं थे, उन्हें भी अपने पिता की सम्पत्ति पर उत्तराधिकार मिलने लगा।

उपर्युक्त वर्णन में विभिन्न युगों में स्त्रियों की स्थिति के बारे में जो कुछ भी कहा गया है वह पूरी तरह सभी हिन्दुओं के लिए सही है, यह मान लेना शायद उचित न होगा। वास्तव में ये सभी बातें विशेषतः उच्च जातियों की स्थिति को ही अभिव्यक्त करती हैं, क्योंकि निम्न जातियों की स्त्रियों की स्थिति सदैव ही उच्च जातियों की स्त्रियों की स्थिति से भिन्न रही है, जैसाकि आज भी देखने को मिलता है।

आधुनिक युग (स्वतन्त्रता के पूर्व तक) (Modern Age before Independence)

मध्यकालीन युग में तो स्त्रियों की स्थिति अत्यधिक दयनीय थी ही, पर आधुनिक समय में भी उनकी नियोग्यताएँ कम नहीं हुई, अर्थात् उनकी स्थिति अधिक नहीं सुधरी। स्वतन्त्रता-प्राप्ति तक भारतीय समाज में स्त्रियाँ जिन नियोग्यताओं का शिकार थीं, उनका संक्षिप्त विवरण निम्नलिखित है—

1. सामाजिक नियोग्यताएँ (Social disabilities)—सामाजिक जीवन के सम्बन्ध में कुछ नियोग्यताएँ इस प्रकार थीं—

(अ) शिक्षा (Education)—भारतवर्ष में काफी समय से स्त्रियों को शिक्षा प्राप्त करने का अधिकार नहीं रहा है। इस देश में शिक्षा केवल नौकरी के लिए ही आवश्यक समझी जाती है और चूँकि स्त्रियों के लिए नौकरी करना उचित नहीं समझा जाता, अतः उनके लिए शिक्षा की भी आवश्यकता नहीं समझी गई। बाल-विवाह और पर्दा-प्रथा, ये दोनों भी, इस युग में स्त्रियों की शिक्षा में घोर बाधक थे।

(ब) नौकरी (Employment)—परम्परागत रूप में स्त्रियों का घर से बाहर काम करना पारिवारिक सम्मान के विरुद्ध समझा जाता है। वे माता पहले हैं और उपार्जिका (Earner) बाद में। स्वतन्त्रता से पूर्व तक स्त्रियाँ न के बराबर ही नौकरी करते हुए देखी जा सकती थीं।

(स) समिति और संघ (Association and Union)—लड़कियों द्वारा समिति और संघ बनाना एक नवीन कल्पना है। स्वतन्त्रता-पूर्व तक इसे उचित नहीं समझा जाता था। स्त्रियों में शिक्षा का अभाव और पर्दा-प्रथा का अत्यधिक प्रचलन होने के कारण किसी प्रकार की समिति या संघ का संगठन करना उनके लिए स्वप्न था।

2. आर्थिक नियोग्यताएँ (Economic disabilities)—सन् 1937 से पहले स्त्रियों को सम्पत्ति के सम्बन्ध में कोई भी विशेषाधिकार प्राप्त नहीं थे। संयुक्त परिवार की सम्पत्ति में इनका अधिकार लेशमात्र भी नहीं था। अविवाहित कन्या का भी संयुक्त परिवार की सम्पत्ति में अधिकार नहीं था; पृथक् सम्पत्ति में उसका अधिकार लड़कों और विधवाओं के बाद आता था। विवाहित स्त्री की स्त्रीधन के अतिरिक्त और किसी अन्य प्रकार के सम्पत्ति-सम्बन्धी अधिकार व्यावहारिक रूप में नहीं थे।

3. पारिवारिक नियोग्यताएँ (Familial disabilities)—स्त्रियाँ अपने पारिवारिक जीवन के सम्बन्ध में भी अनेक प्रकार की नियोग्यताओं का शिकार थीं। माता के रूप में स्त्रियों की स्थिति परिवार में कुछ अच्छी थी और वह भी उस अवस्था में यदि पिता का देहान्त न हुआ हो। विधवा माताओं की अवहेलना भारतीय परिवार की एक सामान्य विशेषता रही है। पत्नी के रूप में उनकी स्थिति काफी दयनीय थी। पुश्यों की दृष्टि में वे दासी थीं और पति उन्हें मारना-पीटना तथा उनका अनादर करना अपना जन्मसिद्ध अधिकार समझते थे। इसी प्रकार वधू के वप में भी स्त्रियों की दशा पत्नी के समान ही दयनीय थी। सास-ससुर की सेवा करना उनका परम

कर्तव्य माना जाता था और इस सेवा के बदले में वधू को सास के कटू अत्याचार पुरस्कार रूप में मिलते थे। पुत्री के रूप में तो स्त्रियों की स्थिति और भी चिन्ताजनक थी, उन्हें परिवार का एक बहुत बड़ा भार समझा जाता था और उनका शीघ्र-से-शीघ्र विवाह कर दिया जाता था। विवाह के सम्बन्ध में उनकी स्वीकृति, इच्छा या अनिच्छा का कोई प्रश्न नहीं उठता था। इतना ही नहीं, विधवा के रूप में चाहे वह विधवा वधू हो, लड़की या माँ, स्त्रियों की बहुत ही दुर्गति परिवार में होती थी। उन्हें परिवार में 'नीचे-से-नीचा कार्य करना' पड़ता था और प्रायः दासी की तरह ही जीवन व्यतीत करना पड़ता था।

4. राजनीतिक निर्योग्यताएँ (Political disabilities)—सन् 1919 तक स्त्रियों को वोट (vote) देने का अधिकार भी पूर्णतया प्राप्त नहीं था। 1919 की सुधार योजना में ब्रिटिश पार्लियामेंट ने स्त्रियों को मताधिकार देने का प्रश्न प्रान्तीय परिषद् पर छोड़ दिया। 1935 के विधान (Act) में भी इस सम्बन्ध में कोई विशेष सुधार नहीं हुए और स्त्रियों को मताधिकार केवल उनकी शिक्षा, पति की स्थिति, सम्पत्ति आदि के आधार पर दिया गया।

हिन्दू स्त्रियों की निम्न स्थिति के कारण

(Causes of Lower Position of Hindu Women)

उपर्युक्त विवेचना से यह स्पष्ट है कि वैदिक काल के बाद हिन्दू समाज में स्त्रियों की स्थिति सामान्यतः गिरती ही चली गई जिसका बहुत-कुछ चरम रूप मुसलमानी राज्यकाल में तथा अंग्रेजी शासनकाल की प्रारम्भिक अवस्था में देखने को मिलता है। इस पतन के एकाधिक कारण हैं जिनमें से कुछ निम्नलिखित हैं—

1. ब्राह्मणवाद (Brahmanism)—कुछ विद्वानों के अनुसार हिन्दू धर्म या ब्राह्मणवाद स्त्रियों की स्थिति के पतन का मुख्य कारण है क्योंकि उपनिषद् काल के बाद ब्राह्मणों ने जो सामाजिक व धार्मिक नियम बनाए उनमें स्त्रियों की स्थिति को पुरुषों की अपेक्षा गौण माना गया और धीरे-धीरे उनके अधिकारों को छीन लिया गया। मनु ने पति को गुरु बताया और स्त्रियों का धर्म केवल पति की सेवा बताया। मुसलमानों के राज्य की स्थापना के बाद ब्राह्मणवाद ने एक नया रूप लिया। मुसलमानों के पास स्त्रियों की कमी थी, इस कारण हिन्दू स्त्रियों से विवाह करने में उन्हें कोई संकोच न था। हिन्दू धर्म की रक्षा के लिए, अर्थात् मुसलमान हिन्दू स्त्रियों से विवाह न कर सकें, इस उद्देश्य से ब्राह्मणों ने विवाह-सम्बन्धी नियमों को अत्यधिक कठोर बनाया। एक ओर बाल-विवाह को प्रोत्साहित किया और दूसरी ओर विधवा-पुनर्विवाह पर कठोर प्रतिबन्ध लगाया। साथ ही पर्दा-प्रथा को लागू किया गया और सतीत्व के आदर्श को ऊँचा किया गया। इन सब कारणों से स्त्रियों की दशा गिरती ही चली गई क्योंकि धीरे-धीरे स्त्रियों ने भी ब्राह्मणों के इन आदर्शों को अपने जीवन में लागू करने में ही भलाई समझी।

2. स्त्रियों की आर्थिक पराधीनता (Economic dependency of women)—प्राचीन काल से ही पत्नी भरण-पोषण के लिए अपने पति पर निर्भर रही है, इसीलिए पति 'भर्ता' कहलाता था। इसका मुख्य कारण यह है कि सदैव ही स्त्रियों का घर से बाहर जाकर नौकरी करना पारिवारिक सम्मान के विरुद्ध समझा जाता था। अतः आर्थिक मामलों में स्त्रियों को अपने पति पर ही

निर्भर रहना पड़ता था, जिसके कारण उन पर पुरुषों की प्रभुता अवश्यम्भावी थी। वास्तव में इसी आर्थिक निर्भरता के कारण भी स्त्रियों की स्थिति अति निम्न थी।

3. परिवार का पितृसत्तात्मक स्वरूप (Patriarchal form of family)—प्रारम्भ से हिन्दू परिवारों का पितृसत्तात्मक स्वरूप रहा है। पितृसत्तात्मक परिवार में वृद्धों का वंश-परिचय पिता के परिवार पर निर्भर होता है और विवाह के बाद पत्नी को पति के घर में जाकर रहना होता है। साथ ही, पारिवारिक मामलों में तथा सम्पत्ति के विषय में सम्पूर्ण अधिकार पिता का ही होता है और वह ही परिवार को नियन्त्रित तथा संगठित करता है। परिवार के इस स्वरूप से ही स्पष्ट है कि ऐसे परिवारों में पुरुषों की स्थिति स्त्रियों की अपेक्षा स्वतः ही अधिक ऊँची होगी।

4. कन्यादान का आदर्श (Ideal of Kanyadan)—प्रारम्भ से ही हिन्दू विवाह में कन्यादान के आदर्श को स्वीकार किया गया था। पिता को अपनी इच्छा से चुने हुए वर को अपनी कन्या को दान करना होता था। पिता या अभिभावक द्वारा दिया गया दान ही इस बात का द्योतक है कि पत्नी पर पति की प्रभुता होगी।

5. कुलीन-विवाह (Hypergamy)—कुलीन-विवाह-प्रथा भी स्त्रियों की निम्न स्थिति होने का मुख्य कारण है। इस प्रथा के अन्तर्गत लड़की का विवाह अपने बराबर या ऊँचे कुलों में ही करना होता है जबकि लड़कों को अपने से नीचे कुलों में विवाह करने की छूट है। इस प्रथा के कारण प्रत्येक पिता या अभिभावक अपनी लड़की का विवाह ऊँचे-से-ऊँचे कुल में करना चाहता है जिससे कि ऊँचे कुलों के लड़कों को प्राप्त करने के लिए लोगों में आपस में प्रतियोगिता-सी होने लगती है। यह प्रतियोगिता प्रायः कटु रूप धारण कर लेती है और इस दौड़ में सामान्य दर्जे के माता-पिता को पर्याप्त कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है। फलतः लड़कियों के जन्म से ही लोग सामान्यतः धवराने लगते हैं। यह भावना भी स्त्रियों की स्थिति को नीचे गिराती है।

6. बाल-विवाह (Child marriage)—स्त्रियों की स्थिति के गिरने का एक महत्वपूर्ण कारण हिन्दुओं में बाल-विवाह-प्रथा का अत्यधिक प्रचलन था। कम उम्र में विवाह होने के कारण एक ओर तो वे शिक्षा प्राप्त करने में असफल रहती थीं, दूसरी ओर पति उन पर सरलता से ही अपनी प्रभुता जमा लेने में सफल होते थे। इससे स्त्रियों की स्थिति स्वतः ही गिरती गई।

7. संयुक्त परिवार प्रणाली (Joint family system)—श्री पणिकर के अनुसार स्त्रियों की सामाजिक स्थिति संयुक्त परिवार प्रणाली के कारण भी निम्न है। इसका कारण यह है कि इस प्रणाली के अन्तर्गत स्त्रियों को कोई भी अधिकार नहीं मिला हुआ होता है। पुरुषों को ही सम्पत्ति-सम्बन्धी और अन्य सामाजिक अधिकार मिले होते हैं। स्त्रियों को दब-ढककर रखना पारिवारिक सम्मान समझा जाता है। बाल-विवाह करके कन्यादान का पुण्य प्राप्त किया जाता है। ये सभी बातें स्त्रियों की स्थिति को नीचा गिराने में सहायक होती हैं।

8. अशिक्षा (Illiteracy)—अनेक दिनों से हिन्दू स्त्रियों को शिक्षा देना अनावश्यक मान लिया गया। इस अशिक्षा के कारण स्त्रियों में अपने अधिकारों के सम्बन्ध में कोई जागरूकता उत्पन्न नहीं हो पाई अपितु वे अनेक अन्धविश्वास, कुसंस्कार और सामाजिक परम्पराओं में इस प्रकार जकड़ गईं कि उनसे उनका पीछा छुड़ाना

स्वयं ही एक समस्या हो गया। बचपन से ही स्त्रियाँ पितृगृह में और पतिगृह में, पति की देवता समझने और पूजने के उपदेश सुनती थीं और घर की ही चारदीवारी के बीच रहकर सबकी सेवा करते हुए जीवन बिता देने को ही आदर्श कार्य मानती थीं—यही एकमात्र शिक्षा हिन्दू स्त्रियों को मिलती थी, इसी शिक्षा में उनका लालन-पालन होता था। दो सहस्राब्दियों से हिन्दू नारी इसी परम्परा में पल रही है जोकि उसकी निम्न स्थिति का एक सुदृढ़ कारण बन गया।

वर्तमान भारत में स्त्रियों की स्थिति या उनकी परम्परागत स्थिति में परिवर्तन

(Position of Women in Present India)

उपर्युक्त वर्णित नियोगताओं के कारण अभी कुछ वर्ष पहले तक भी स्त्रियाँ। मध्यकालीन युग की परिस्थितियों में रहती थीं और इनका पर्याप्त शोषण हो रहा था। इसी शोषण के विरुद्ध स्त्रियों का महिला-आन्दोलन प्रारम्भ हुआ और उनके ऊपम लादी गई समस्त परम्परागत नियोग्यताओं को चुनौती दी गई। इसी चुनौती के सन्दी में भारतीय स्त्रियों की स्थिति में अनेक सुधार हुए और वर्तमान समाज में हिन्दू नार की स्थिति परम्परागत स्थिति से कहीं अधिक अच्छी है, जैसाकि निम्नलिखित वर्णन से स्पष्ट है—

1. सामाजिक स्थिति में सुधार (Reformation in social status)—स्वतन्त्रता के पश्चात् स्त्रियों की स्थिति में पर्याप्त सुधार हुआ है। उनमें सामाजिक चेतना की आज एक नई लहर देखने को मिलती है। जो स्त्रियाँ किसी समय घर के बाहर तो दूर, घर के दरवाजे या खिड़की में से बाहर झाँक भी नहीं सकती थीं; वही आज घर के बाहर जाकर नौकरी करती हैं, सिनेमा देखने जाती हैं, समिति और संघों की सदस्या बनती हैं, पार्टियों का आयोजन करती हैं, क्लब जाती हैं, और इसी प्रकार अनेक सामाजिक कार्यक्रमों में भाग लेती हैं। वे रूढ़िवादी विचारों से दूर होती जा रही हैं और नए तार्किक आदर्शों और मूल्यों को भी अपनाती जा रही हैं। पर्दा-प्रथा अब प्रायः समाप्त ही हो गई है। समाज में भी अब उनको आदर की दृष्टि से देखा जाता है। संयुक्त परिवार अब धीरे-धीरे टूट रहे हैं, फिर भी आज के संयुक्त परिवार में उनकी स्थिति परम्परागत स्थिति से कहीं अधिक अच्छी है। संक्षेप में कहा जा सकता है कि सामाजिक क्षेत्र में वर्तमान भारत में स्त्रियों की स्थिति पहले से कहीं अधिक अच्छी है।

2. परिवार और विवाह के सम्बन्ध में उच्च स्थिति (Higher status in relation to marriage and family)—परिवार और विवाह के सम्बन्ध में आज भारतीय नारी की स्थिति कहीं अधिक उच्च है। सन् 1929 के 'बाल-विवाह-निरोधक अधिनियम' (The Child Marriage Restraint Act, 1929) द्वारा बाल-विवाह का अन्त कर दिया गया है। अब कोई भी माता-पिता लड़की का विवाह 15 वर्ष की आयु से पहले नहीं कर सकता। अब भारत सरकार ने इस न्यूनतम आयु को 15 से बढ़ाकर 18 वर्ष कर दिया है। स्वास्थ्य तथा परिवार कल्याण परिषद् ने भी अपने हाल ही के (1 फरवरी 1978) एक सम्मेलन में इस न्यूनतम आयु को 18 वर्ष कर देने की सिफारिश की भी 1961 के 'दहेज-निरोधक अधिनियम' (Dowry Prohibition Act, 1961) के द्वारा दहेज देना अपराध घोषित कर दिया गया है; परन्तु दुःख है कि इस सम्बन्ध में व्यावहारिक रूप में कोई विशेष लाभ नहीं हुआ है। इसी प्रकार

सन् 1955 के 'हिन्दू विवाह तथा विवाह-विच्छेद अधिनियम' (Hindu Marriage and Divorce Act, 1955) और सन् 1954 के 'विशेष विवाह अधिनियम' (Special Marriage Act, 1954) ने स्त्रियों को धार्मिक व अन्य सभी प्रकार के प्रतिबन्धों से दूर विवाह करने की आज्ञा दे दी है। अब बहुपत्नी-विवाह गैर-कानूनी है। अन्तर्जातीय विवाह मान्य है, और स्त्रियों को विवाह-विच्छेद का भी पूरा अधिकार है। इसी कारण विधवा-पुनर्विवाह भी आज कानूनी रूप से मान्य है। इन सभी कारणों से परिवारों के अन्तर्गत भी स्त्रियों की स्थिति काफी सुधरी है। वह अब पति की दासी नहीं, बरन् मित्र है; सास-सुसर की सेविका नहीं, बरन् सम्माननीय वधू है। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि विवाह और परिवार के क्षेत्र में स्त्रियों की स्थिति अपेक्षित उच्च है।

3. उच्च आर्थिक स्थिति (Higher economic status)—आर्थिक दृष्टिकोण से आज स्त्रियों की स्थिति उच्च है। वे अब केवल पति पर ही आश्रित नहीं हैं, वे आज स्वयं भी जीविकोपार्जन कर रही हैं। वर्तमान भारत में स्त्रियाँ प्रायः प्रत्येक व्यवसाय करती हुई देखी जा सकती हैं। वे वकील हैं, प्रोफेसर हैं, एकाउण्टेण्ट हैं, भारतीय प्रशासनिक सेवा अधिकारी हैं, डॉक्टर हैं, नर्स हैं, पुलिस अधिकारी हैं, फैक्ट्री में मैनेजर हैं, जज हैं, और यहाँ तक कि हवाई जहाज चालक भी हैं। आज भारत में विभिन्न मुख्य धन्यों में नौकरी करने वाली स्त्रियों की संख्या 3.17 करोड़ से भी अधिक है। इतना ही नहीं, सन् 1956 के 'हिन्दू उत्तराधिकार अधिनियम' (The Hindu Succession Act, 1956) के द्वारा हिन्दू स्त्रियों को माता, पत्नी और पुत्री के रूप में पुरुषों के समान ही सम्पत्ति-सम्बन्धी अधिकार प्राप्त हो गए हैं। इन सब बातों को देखते हुए यह कहा जा सकता है कि निश्चय ही स्त्रियों की आर्थिक स्थिति में काफी सुधार हुआ है।

4. शिक्षा के सम्बन्ध में सुधार (Reformation in relation to education)—स्त्रियों की शिक्षा के सम्बन्ध में भी वर्तमान समय में पर्याप्त सुधार हुए हैं। पहले बहुत ही कम स्त्रियाँ पढ़ी-लिखी होती थीं, परन्तु आज स्त्रियाँ शिक्षा के क्षेत्र में निरन्तर आगे बढ़ रही हैं। सन् 1951 की जनगणना के अनुसार प्रत्येक 1000 स्त्रियों में केवल 79 स्त्रियाँ शिक्षित थीं परन्तु सन् 1971 की जनगणना से पता चलता है कि प्रत्येक 1000 स्त्रियों में 187 स्त्रियाँ पढ़ी-लिखी थीं। यह संख्या सन् 1980 में किए गए एक गैर-सरकारी अनुमान के अनुसार बढ़कर प्रति 1000 स्त्रियों में 225 हो गई है। आज स्त्रियाँ वैज्ञानिक, सामाजिक, राजनीतिक, व्यवसायिक, सभी प्रकार की शिक्षा प्राप्त कर रही हैं। सरकार भी स्त्री-शिक्षा पर विशेष ध्यान दे रही है। स्त्रियों को निःशुल्क शिक्षा, प्राइवेट शिक्षा देने की सुविधा, छात्रवृत्तियाँ आदि देकर शिक्षा के विषय में प्रोत्साहित किया जा रहा है। उत्तर-प्रदेश सरकार ने तो 1964-65 से दसवीं कक्षा तक लड़कियों की शिक्षा निःशुल्क करके स्त्री-शिक्षा के विस्तार में सहायनीय योगदान दिया है। स्त्रियों की शिक्षा में सुधार का इससे बड़ा प्रमाण क्या हो सकता है कि गत एक वर्ष भारतीय प्रशासनिक सेवा (I.A.S.) की परीक्षा में एक लड़की ने ही अधिकतम अंक प्राप्त किए थे।

5. राजनीतिक क्षेत्र में समानता (Equality in Political field)—जैसा कि कहाँ ही जा चुका है कि स्वतन्त्रता से पूर्व तक सभी स्त्रियों को वोट (vote) देने तक का अधिकार न था परन्तु आज भारत की प्रत्येक नारी को, जिसने कि 21 वर्ष की

आयु प्राप्त कर ली है, वोट देने का तथा स्वयं भी लोकसभा, विधानसभा आदि के सदस्य के लिये उम्मीदवार होने का अधिकार है। इसके फलस्वरूप इस देश में स्त्रियों में पर्याप्त राजनीतिक चेतना आई है। आज स्त्रियाँ लोकसभा की सदस्या भी हैं और मन्त्री भी। और तो और, संसार के महानतम लोकतन्त्र भारत के प्रधानमन्त्री के पद पर श्रीमती इन्दिरा गांधी एक महिला होते हुए, लगभग 11 वर्ष तक आसीन रहीं। और केवल 3 वर्ष के अन्तराल के बाद इस समय फिर वही श्रीमती गांधी देश की प्रधानमन्त्री हैं। स्त्रियों में राजनीतिक चेतनता का इससे बड़ा प्रमाण और क्या हो सकता है ?

उपर्युक्त विवेचना से यह स्पष्ट है कि स्वतन्त्रता-प्राप्ति के पश्चात् भारतीय स्त्रियों की स्थिति में काफी सुधार हुआ है। परन्तु इस सम्बन्ध में यह स्मरणीय है कि भारतीय गाँवों और नगरों के भी अनेक रूढ़िवादी परिवारों में स्त्रियों की स्थिति अब भी अधिक अच्छी नहीं है। वे अब भी पर्दा-प्रथा को उचित समझते हैं और शिक्षा को स्त्रियों को बिगाड़ने वाली चीज। विवाह के सम्बन्ध में रूढ़िवादी परिवारों के अध्यक्ष अब भी लड़की की इच्छा या पसन्द को जानने की आवश्यकता नहीं समझते और लड़की, विशेषकर वधू का घर से बाहर जाकर नौकरी करना अपनी शान के खिलाफ मानते हैं तथा उनके सामाजिक मेल-मिलाप आदि पर अनेक प्रतिबन्ध लगाते हैं। स्त्रियों की उच्च स्थिति का वर्णन करते समय स्त्रियों की स्थिति के इस पक्ष को भी भूलना न चाहिये।

वर्तमान समय में भारतीय स्त्रियों की स्थिति में हुए सुधार या परिवर्तन के कारण

(Causes of Present Changes or Reforms in the Status of India Women)

वर्तमान भारत में स्त्रियों की स्थिति में सुधार या परिवर्तन हुए हैं, उनके कुछ प्रमुख कारण निम्नलिखित हैं—

1. स्त्रियों में शिक्षा का विस्तार (Spread of education among women)—अंग्रेजी राज्य की स्थापना के पश्चात् धीरे-धीरे स्त्रियों में शिक्षा का विस्तार होना प्रारम्भ हुआ। स्वतन्त्रता के पश्चात् केन्द्रीय तथा राज्य सरकारों ने भी इस सम्बन्ध में अनेक प्रयत्न किये। शिक्षा के विस्तार के साथ-साथ स्त्रियों में परम्परागत अन्धविश्वास तथा संकीर्ण मनोभाव दूर होते गये और वे अपने अधिकारों के सम्बन्ध में जागरूक हुईं।

2. पाश्चात्य सांस्कृति (Western culture)—पश्चात्य संस्कृति से हमारा सम्बन्ध बढ़ने के साथ-साथ भारतीय स्त्रियों में एक नई जागृति की लहर आई है, इस बात को शायद कोई भी अस्वीकार नहीं करेगा। पाश्चात्य देशों में स्त्री व पुरुषों को समान अधिकार प्राप्त हैं और वहाँ स्त्रियाँ पुरुषों से कच्चे-से-कच्चा मिलाकर अपने अधिकारों का उपभोग करती हैं। यह सब देखकर यहाँ की स्त्रियाँ भी अपने अधिकारों के सम्बन्ध में जागरूक हुईं। इतना ही नहीं, पाश्चात्य संस्कृति के माध्यम से भारतीय नारी का सम्पर्क अन्य प्रगतिशील देशों के नारी-समाजों, उनमें हुए नारी-आन्दोलनों आदि के साथ सहज ही स्थापित हो सका। इससे जो जागरूकता इस देश की स्त्रियों में उत्पन्न हुई, उसकी भी कीमत कुछ कम नहीं।

3. औद्योगीकरण (Industrialization)—औद्योगीकरण के साथ-साथ

भारत में अगणित उद्योग-धन्धे पनप गये जिसके कारण न केवल पुरुषों के लिये बल्कि स्त्रियों के लिये भी नौकरी के पर्याप्त अवसर बढ़ गए। इसके फलस्वरूप स्त्रियाँ भी पुरुषों की भाँति घर से बाहर जाकर नौकरी करने लगीं, वहाँ उनको पुरुषों के साथ भी काम करना पड़ा। इससे उनकी पुरुषों पर आर्थिक निर्भरता घटी, अन्तर्जातीय और प्रेम-विवाहों को प्रोत्साहन मिला, पर्दा-प्रथा घटी, साथ ही पुरुषों का स्त्रियों के प्रति मनोभाव भी पर्याप्त रूप में बदला।

4. प्रेस और यातायात व संचार साधनों में उन्नति (Development of Press and means of transport and communication)—वर्तमान समय में 'प्रेस' ने काफी उन्नति की है जिसके कारण नाना प्रकार की प्रगतिशील पुस्तकों, पुस्तिकाओं, समाचार-पत्रों आदि का अखिल भारतीय आधार पर मुद्रण और वितरण सम्भव हुआ है। यह वितरण यातायात और संचार साधनों में उन्नति होने के कारण ही सम्भव हुआ है। इसके अतिरिक्त यातायात और संचार के उन्नत साधनों ने देश और दुनियाँ की स्त्रियों को एक-दूसरे से घनिष्ठ सम्बन्ध स्थापित करने में भी सहायता प्रदान की है। इस सबके द्वारा, अर्थात् प्रेस, यातायात व संचार के साधनों के द्वारा नारी-आन्दोलन को चलाने, नारी-समस्या के प्रति स्वस्थ जनमत निर्माण करने, नारी-नेताओं के विचार दूर-दूर तक फैलाने में जो सहायता मिली है वह भारतीय नारी की वर्तमान उन्नत स्थिति का एक महत्वपूर्ण कारक है।

5. अन्तर्जातीय विवाह, (Intercaste marriage)—आधुनिक समय में सहशिक्षा और साथ ही स्त्री-पुरुष को एक साथ नौकरी करने की सुविधा आदि ऐसे कारण हैं जिनके फलस्वरूप प्रेम-विवाह का विस्तार भारत में उत्तरोत्तर होता जा रहा है। इन प्रेम-विवाहों में सामान्यतः जाति-पाँति का कोई बन्धन नहीं होता। इस प्रकार इन अन्तर्जातीय विवाहों से स्त्रियों का एक ओर समाज से सम्पर्क बढ़ता है तो दूसरी ओर वर-मूल्य-प्रथा भी घट जाती है। इससे लड़कियों को परिवार का बोझ समझने की भावना का अन्त होता है और परिवार में स्त्रियों की स्थिति सुधरती है। वैसे भी अन्तर्जातीय विवाह के फलस्वरूप पति-पत्नी में सहयोग और समानता की भावनाएँ पनपती हैं और पुरुष स्त्री को 'दासी' न समझकर 'साथी' समझने लगता है। यह भी स्त्रियों को उन्नत करने की अनुकूल परिस्थिति है।

6. वर-मूल्य-प्रथा (Bridegroom price system)—अत्यधिक वर-मूल्य प्रथा का प्रचलन भी अप्रत्यक्ष रूप से स्त्रियों की स्थिति को सुधारने में सहायक ही हुआ है। मध्यम वर्ग के माता-पिता के सामने वर-मूल्य-प्रथा की वृद्धि ने एक विकट समस्या उत्पन्न कर दी है। इससे एक तो विलम्ब-विवाह हो रहे हैं, दूसरे जब तक लड़की का विवाह नहीं हो जाता, तब तक माता-पिता लड़की को खाली बैठाने की अपेक्षा स्कूल या कॉलेज में शिक्षा प्राप्त करने भेजना उचित समझते हैं। इससे पढ़ी-लिखी लड़कियों को वर भी जल्द मिल जाता है और वर-मूल्य भी कम देना पड़ता है। कभी-कभी कुछ परिवारों में पढ़ी-लिखी लड़कियाँ अपने परिवार की आर्थिक स्थिति को सुधारने के लिये स्वयं नौकरी कर लेती हैं। ये सभी बातें उनकी स्थिति में सुधारक सिद्ध होती हैं।

7. संयुक्त परिवार का विघटन (Disintegration of joint family)—संयुक्त परिवार सामाजिक परम्पराओं का एक अखाड़ा है जहाँ पर कि नाना प्रकार के अन्वविश्वास और धार्मिक विश्वासों में जकड़े बड़े-बूढ़ों का जमघट होता है जो किसी

भी मूल्य पर पुराने तरीकों और विचारों को नहीं त्यागना चाहते हैं। इन बड़े-बूढ़ों के विरोध के कारण भी स्त्रियों की स्थिति में सुधार सम्भव नहीं होता था; साथ ही बाल-विवाह भी एक स्कावट था। पर अब संयुक्त परिवार के धीरे-धीरे टूटने से यह बाधा समाप्त हो रही है।

8. सुधार व राष्ट्रीय आन्दोलन (Reform and national movements)—विभिन्न समयों पर हुये सुधार व राष्ट्रीय आन्दोलनों ने भी स्त्रियों की स्थिति को सुधारने में पर्याप्त योगदान दिया। प्रारम्भ में राजा राममोहन राय, ईश्वरचन्द्र विद्यासागर, केशवचन्द्र सेन, महादेव गोविन्द रानाडे, महर्षि कार्वे, स्वामी विवेकानन्द, स्वामी दयानन्द सरस्वती, डॉ० ऐनी बीसेण्ट आदि के द्वारा चलाये गये आन्दोलन स्त्रियों की स्थिति में सुधार के महत्वपूर्ण कदम थे। इसके अतिरिक्त गांधी जी के नेतृत्व में राष्ट्रीय आन्दोलन में स्त्रियों ने कन्वे-से-कन्धा मिलाकर भाग लिया, अंग्रेजों के अत्याचार सहे और जेल गईं। इससे स्त्रियों में एक नई चेतना, एक नई जागृति और आत्मविश्वास उत्पन्न हुआ जोकि आगे चलकर उनकी स्थिति को नए संच में ढालने में सहायक सिद्ध हुआ।

9. कानूनी सुविधा (Legal facilities)—स्त्रियों की स्थिति को उन्नत करने में कानून की तरफ से भी काफी बढ़ावा मिला है। हिन्दू विधवा-पुनर्विवाह अधिनियम 1856 ; बाल-विवाह अवरोध अधिनियम, 1929 ; विशेष-विवाह अधिनियम, 1954 ; हिन्दू विवाह तथा विवाह-विच्छेद अधिनियम, 1955; हिन्दू उत्तराधिकारी अधिनियम 1956; दहेज-निरोधक अधिनियम, 1961 आदि ने स्त्रियों की स्थिति को ऊँचा करने में पर्याप्त सहयोग दिया है। इसके अतिरिक्त भारत सरकार ने सन् 1971 में गर्भपात को कानूनी मान्यता प्रदान करके स्त्रियों की स्थिति को ऊँचा उठाने की दिशा में एक और महत्वपूर्ण कदम उठाया है।

हिन्दू और मुस्लिम स्त्रियों की स्थिति में तुलना

(Comparison of the Status of Hindu and Muslim Women)

इस्लाम धर्म के अन्तर्गत मुसलमान स्त्रियों को हिन्दू स्त्रियों की तुलना में काफी सन्तोषजनक अधिकार मिले हुए हैं। दूसरे शब्दों में, भारत में हिन्दू स्त्रियों की तुलना में मुस्लिम स्त्रियों की स्थिति कहीं अच्छी है जैसा कि दोनों के निम्नलिखित तुलनात्मक अध्ययन से स्पष्ट है—

(1) मुस्लिम कानून के अनुसार सामान्यतया स्त्रियों का विवाह 15 वर्ष की आयु के बाद ही होना चाहिये, अर्थात् बाल-विवाह की स्वीकृति मुसलमानों में नहीं है। इसके विपरीत परम्परागत रूप में हिन्दुओं में स्त्रियों के विवाह की कोई भी निम्नतम आयु निश्चित नहीं है। धर्मसूत्रों में तो रजोदर्शन से पूर्व ही कन्या का विवाह कर देने का निर्देश है।

(2) इस्लाम धर्म के अनुसार निकाह (विवाह) का समझौता तब तक पूरा नहीं समझा जा सकता जब तक लड़की अपनी स्वीकृति न दे दे, अर्थात् विवाह के लिए लड़की की स्वीकृति आवश्यक है; परन्तु हिन्दू कन्याओं को विवाह के सम्बन्ध में इस प्रकार का कोई अधिकार प्राप्त नहीं है।

(3) विवाह-विच्छेद के सम्बन्ध में मुस्लिम स्त्रियों को कुछ अधिकार इस अर्थ में प्राप्त हैं कि 'खुला' और 'मुबारत' ये दो विवाह-विच्छेद के ऐसे सामाजिक

तरीके हैं जिनमें से प्रथम में पत्नी की इच्छा परे और द्वितीय में पति-पत्नी की पारस्परिक सहमति से विवाह-विच्छेद हो सकता है। इसके विपरीत परम्परागत रूप में हिन्दू स्त्रियों को इस प्रकार का कोई भी अधिकार नहीं दिया गया है। विवाह-विच्छेद के बारे में तो सोचना भी हिन्दू नारी के लिये पापतुल्य समझा जाता है।

(4) मुसलमान लड़की का विवाह करते समय वर-मूल्य चुकाने की आवश्यकता नहीं होती है बल्कि 'महर' के रूप में पति पत्नी को ही कुछ धन देता है। इसलिये मुस्लिम परिवारों में लड़कियाँ भार नहीं समझी जाती हैं। इसके विपरीत हिन्दू लड़की को परिवार पर बोझ माना जाता है क्योंकि विवाह के समय माता-पिता को लड़के वाले को ढेर सारा दहेज (Dowry) देना पड़ता है।

(5) परम्परागत रूप में हिन्दुओं में बहुपत्नी-विवाह (Polygyny) मान्य है और एक पुरुष जितनी भी स्त्रियों से चाहे विवाह कर सकता है। इसके विपरीत मुसलमानों में एक समय में चार से अधिक स्त्रियों से विवाह नहीं किया जा सकता।

(6) मुसलमानों में यदि 15 वर्ष से कम आयु की लड़की का विवाह उसके पिता के अलावा अन्य किसी के द्वारा कर दिया जाता है तो बालिग होने पर उसे मानने या न मानने का पूरा अधिकार लड़की को होता है, जबकि इस प्रकार का कोई भी अधिकार हिन्दू स्त्रियों को प्राप्त नहीं है।

(7) सम्पत्ति पर अधिकार के सम्बन्ध में भी मुस्लिम स्त्रियों की स्थिति कहीं अधिक सन्तोषजनक है। मुसलमान स्त्री को सम्पत्ति पर पुरुषों की भाँति ही अधिकार होता है और माँ, पत्नी व लड़की को लड़के, पति व पिता की सम्पत्ति पर उसका अधिकार होता है। परन्तु परम्परागत रूप में हिन्दू नारी को इस प्रकार के कोई भी साम्पत्तिक अधिकार प्राप्त नहीं हैं।

(8) जहाँ तक पर्दा-प्रथा, शिक्षा प्राप्त करने का अधिकार, नौकरी करने का अधिकार, सामाजिक मेल-मिलाप-सम्बन्धी अधिकारों का प्रश्न है, हिन्दू स्त्रियों और मुस्लिम स्त्रियों की स्थिति प्रायः समान ही है।

उपरोक्त विवेचना से स्पष्ट है कि परम्परागत रूप में मुस्लिम स्त्रियों की स्थिति हिन्दू स्त्रियों की तुलना में अधिक अच्छी है। परन्तु शिक्षा के अभाव और अत्यधिक पर्दा-प्रथा के कारण मुस्लिम स्त्रियाँ अपने अधिकारों को व्यावहारिक रूप में प्रयोग नहीं कर पाती हैं। और इस रूप में वे भी हिन्दू स्त्रियों की भाँति ही अनेक नियोग्यताओं का शिकार बनी हुई हैं। स्वतन्त्रता के पश्चात् हिन्दू और मुस्लिम स्त्रियों को अनेक संवैधानिक सुरक्षाएँ प्राप्त हो गई हैं, उनमें शिक्षा का भी प्रसार हो रहा है। परन्तु मुस्लिम स्त्रियों की स्थिति अब भी धार्मिक कुसंस्कारों व पर्दा-प्रथा के कारण काफी नीची है। हमें उनकी स्थिति को भी ऊँचा उठाना होगा—मुस्लिम युवक भी इसको स्वीकार करने लगे हैं। यह शक्य मंगलमय है !

निष्कर्ष : क्या स्त्रियों का लोक-जीवन में प्रवेश वांछनीय है ?

(Conclusion. Is Female Entrance in Public-life Desirable ?)

उपयुक्त विवेचना से स्पष्ट है कि भारत में स्त्रियों की स्थिति उत्थान-पतन एवं पुनः उत्थान की कहानी है। सुधार आन्दोलनों और सहकारी प्रयत्नों के फलस्वरूप स्त्रियों की स्थिति में अनेक परिवर्तन और सुधार हुए हैं। पर इस सम्बन्ध में अब भी बहुत-से सुधार होने हैं और यह स्थिति सन्तोषजनक नहीं कही जा सकती क्योंकि कानूनी दृष्टि से यद्यपि उन्हें पूर्ण समानता मिल चुकी है लेकिन अब भी सिद्धान्त और

वास्तविकता में पर्याप्त अन्तर है। आज भी अधिकांश भारतीय नारियाँ सामाजिक प्रतिबन्धों तथा नियोग्यताओं में जकड़ी हुई हैं। पश्चिम में परम्परा और न्याय की दृष्टि में नारी और पुरुष दोनों समान हैं, पर यहाँ न्याय और सिद्धान्त भले ही निष्पक्ष हों, परम्परा निश्चय ही स्त्री वर्ग के विरुद्ध है। अतः सामाजिक परिस्थितियों को भी बदलना आवश्यक है। साथ ही, भारत की ग्रामीण स्थिति के जीवन में तो अभी इन सुधारों का हल्का-सा स्पर्श ही हुआ है। श्री अफलातून ने लिखा है, "समाज में नारी का स्थान और महत्व क्या है ? वही जो पुरुष का है। न कम, न अधिक। स्त्री और पुरुष दोनों रथ के पहियों के समान हैं। यदि एक कमजोर और घटिभा हुआ तो समाज का रथ निर्विघ्न आगे नहीं बढ़ सकता। स्त्री और पुरुष नभ में उड़ने वाले पक्षी के दो डैनों के समान हैं। यदि एक डैना छोट्टा या अशक्त रहा तो पक्षी नभ में विचरण नहीं कर सकता।"

इस दृष्टिकोण से यह आवश्यक है कि स्त्रियों को सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक, सांस्कृतिक क्षेत्र में या दूसरे शब्दों में लोक-जीवन में पुरुषों के समान ही प्रवेश करना होगा और पुरुषों के साथ-साथ कन्वे-से कन्वा निलाकर चलना होगा और राष्ट्र की बहुमुखी प्रगति में हाथ बँटाना होगा। परन्तु इस सम्बन्ध में यह स्मरणीय है कि हमारे समाज में एक रूढ़िवादी वर्ग भी है जोकि स्त्रियों के लोक-जीवन में प्रवेश करने के सर्वथा विरुद्ध है। समाज का यह रूढ़िवादी वर्ग स्त्रियों को भारत की प्राचीन परम्परा के अनुरूप महिमान्वित नारी के रूप में देखना चाहता है और सीता, दमयन्ती और द्रौपदी के आदर्शों को स्त्री-जीवन में अपनाने के पक्ष में है। यह वर्ग आगे बढ़ना चाहता है, पर पीछे खिंचाव अर्थात् रूढ़ियों को अस्वीकार न करते हुए। इस प्रकार स्त्रियों के लोक-जीवन में प्रवेश के प्रश्न पर इन दोनों वर्गों के बीच नवीन पीढ़ी एक असन्तुलित व तनाव की स्थिति में से गुजर रही है और अब यह देखना है कि किस प्रकार यह तनाव ढीला पड़ता है तथा इस असन्तुलन का सन्तुलन कैसे होता है। भारत का भविष्य का इतिहास ही इन सब बातों का निर्णय करेगा और करेगा हम सबके ही पक्ष में !

24

सांस्कृतिक समन्वय की समस्याएँ

(The Problems of Cultural Synthesis)

भारतीय समाज जिन अनेक समस्याओं से विरा हुआ है, उनमें सांस्कृतिक समन्वय की समस्या भी एक है। प्रगति के प्रत्येक पग पर भारत का सम्पर्क निरन्तर पाश्चात्य देशों के साथ बढ़ता जा रहा है और उससम्पर्क के फलस्वरूप सांस्कृति तक परिवर्तन की प्रक्रिया भी इस देश में क्रियाशील है। पर समस्या यह है कि बाहर की संस्कृति से कुछ ग्रहण करने के लिये अपनी संस्कृति की कुछ चीजों को या तो त्यागना होता है अथवा उनमें आवश्यक संशोधन करना अनिवार्य हो जाता है। यहीं पर अनुकूलन की समस्या उत्पन्न होती है और इसी समस्या से सामाजिक जीवन में अन्य अनेक समस्याएँ भी। उदाहरणार्थ, पाश्चात्य संस्कृति के सम्पर्क में आने से अब हम अपने जीवन-साथी (पति या पत्नी) का चुनाव स्वयं करना चाहते हैं अर्थात् इस मामले में माता-पिता के हस्तक्षेप को पसन्द नहीं करते। इससे एक ओर भारतीय विवाह संस्था में कुछ न-कुछ परिवर्तन की गति हमें आज देखने को मिलती है और दूसरी ओर माता-पिता का इस परिस्थिति के साथ अनुकूलन न हो सकने के कारण उनके साथ युवा-पीढ़ी के विचारों का 'घर्ष' भी इसी के कारण आज सामने आया है जिसका कि अन्तिम परिणाम पारिवारिक तनाव या विघटन तक हो सकता है। यह भारतीय जीवन में सांस्कृतिक समन्वय की समस्याओं का ही एक उदाहरण है। उसी प्रकार धर्म के क्षेत्र में भी अनेक भारतवासियों ने ईसाई धर्म को ग्रहण कर लिया है। इसके फलस्वरूप अनेक भारतवासियों के जीवन में अनुकूलन की समस्या आज उत्पन्न हो गई है। एक ओर उन्होंने भरसक प्रयत्न किया है 'साहब' बनने का, और दूसरी ओर से अपने मूल भारतीय सांस्कृतिक तत्त्वों का बिल्कुल छोड़ नहीं पाए हैं। इसी भाँति सांस्कृतिक समन्वय की अनेक समस्याओं से आज भारतीय जन-जीवन घिरा हुआ है। पर इस सम्बन्ध में और कुछ विवेचना करने से पूर्व सांस्कृतिक समन्वय के अर्थ को ही समझ लेना आवश्यक होगा।

सांस्कृतिक समन्वय क्या है ?

(What is Cultural Synthesis ?)

मोटे तौर पर कहा जा सकता है कि जब एक या एकाधिक विदेशी सांस्कृतिक समूहों के निरन्तर सम्पर्क में आने के कारण देश की मूल संस्कृति में विदेशी सांस्कृतिक तत्व भी घुलने-मिलने से देश की सम्पूर्ण जीवन-विधि (life-way) में हेर-फेर या परिवर्तन होने लगता है तो उसे सांस्कृतिक समन्वय की प्रक्रिया कहते हैं। रेडफील्ड (Redfield) आदि विद्वानों के अनुसार सांस्कृतिक समन्वय से "उन घटनाओं को समझा जाता है जोकि तब होती हैं जबकि विभिन्न संस्कृति वाले व्यक्तियों के समूह एक-दूसरे के निकट व निरन्तर सम्पर्क में आते हैं जिसके फलस्वरूप उन समूहों में से किसी एक के या दोनों

के मूल सांस्कृतिक प्रतिमान (pattern) में परिवर्तन हो जाते हैं।¹ यद्यपि इस परिभाषा की कटु आलोचना अन्य विद्वानों ने ही नहीं बल्कि उक्त लेखकों ने भी की है, फिर भी इसी परिभाषा का प्रयोग सर्वाधिक होता है।

इस सम्बन्ध में श्री मैलिनोवस्की (Malinowski) का कथन है कि सांस्कृतिक परिवर्तन दो प्रकार के कारकों और शक्तियों के कारण हो सकता है—प्रथम तो वे कारक व शक्तियाँ हैं जोकि आप-से-आप समुदाय के अन्दर ही उत्पन्न होती हैं जिनके फलस्वरूप आविष्कार होता है और सांस्कृतिक जीवन बदल जाता है। दूसरे, सांस्कृतिक परिवर्तन विभिन्न संस्कृतियों के पारस्परिक सम्पर्क और घुल-मिल जाने के कारण भी हो सकता है। इसी दूसरी प्रक्रिया को सांस्कृतिक समन्वय कहते हैं।

श्री थर्नवाल्ल (Thurnwald) ने लिखा है कि किसी बाहरी सांस्कृतिक समूह के निरन्तर सम्पर्क में आने के फलस्वरूप जीवन की कुछ नवीन अवस्थाएँ उत्पन्न हो जाती हैं। जीवन की इन नवीन अवस्थाओं का उद्भव दोनों ही संस्कृति के विभिन्न तत्वों के समन्वय या सम्मिलन से सम्भव होता है। यही सांस्कृतिक समन्वय है। इसके लिए यह आवश्यक है कि—(1) दोनों सांस्कृतिक समूहों में घनिष्ठ तथा निरन्तर (close and continuous) सम्पर्क हो। कभी-कभी के सम्पर्क से सांस्कृतिक समन्वय शायद ही सम्भव हो। (2) दोनों समूहों के सांस्कृतिक प्रतिमानों में कुछ-न-कुछ समानता हो जिससे कि आदान-प्रदान की प्रक्रिया बाधाप्राप्त न हो। (3) एक समूह का शासकीय दबाव भी दूसरे समूह को प्रभावित कर सकता है।

वास्तव में सांस्कृतिक समन्वय की प्रक्रिया का रहस्य मानव के ही विशिष्ट स्वभाव में निहित है। श्री हैलोवेल (Hallowell) ने उचित ही लिखा है कि मानव-जाति की एक प्रमुख विशेषता यह है कि अन्य पशुओं की भाँति मानव की भी अनुकूलन करने की कोई अन्तिम सीमा वंश-नुसंक्रमण (heredity) के द्वारा निश्चित नहीं होती। मनुष्य अपने आविष्कार करने, सीखने तथा प्रतीकों (symbols) के माध्यम से विचारों के आदान-प्रदान करने की क्षमता के कारण अनुकूलन की प्रक्रिया को किसी भी सीमा तक और किसी भी दिशा की ओर ले जा सकता है। मानव-अनुकूलन वास्तव में सांस्कृतिक अनुकूलन ही है। सांस्कृतिक समन्वय उसी अनुकूलन का एक पक्ष है। पर सभी क्षेत्र व अवस्थाओं में अनुकूलन करना समान रूप से सम्भव नहीं होता, और जब नहीं होता है तभी समस्याएँ उत्पन्न होती हैं। भारत में भी ऐसा ही हुआ है। निम्न-लिखित विवेचना से यह बात और भी स्पष्ट हो जाएगी।

भारत में सांस्कृतिक समन्वय की समस्याएँ

(Problems of Cultural Synthesis in India)

1. भाषा से सम्बन्धित समस्याएँ (Problems related to Language)—भारतवर्ष में अंग्रेजों के शासक के रूप में प्रवेश करने के साथ-साथ इस देश में अंग्रेजी भाषा का भी प्रवेश हुआ। वास्तव में ईसाई पादरियों ने इस देश में अंग्रेजी शिक्षा का प्रारम्भ किया। इसके पश्चात् सन् 1835 में लार्ड बेण्टिक के शासनकाल में लार्ड

1, "Acculturation comprehends those phenomena which result when groups of individuals having different cultures come into continuous first-hand contact, with subsequent changes in the original cultural patterns of either or both groups."—Redfield and others' 1936, p. 149.

मेकॉले ने स्कूलों में अंग्रेजी के माध्यम द्वारा शिक्षा देने का विधान किया और सन् 1844 में लार्ड हाइड ने सरकारी अंग्रेजी स्कूलों में शिक्षित व्यक्तियों को राजकीय नौकरियों में प्राथमिकता देने की नीति की घोषणा की। इस अंग्रेजी भाषा के प्रचार का उद्देश्य भारतवासियों में एक क्लर्क या 'बाबू' वर्ग की सृष्टि करना था। इस अंग्रेजी भाषा के माध्यम से हमारा सम्पर्क दुनिया के अन्य प्रगतिशील देशों के साथ स्थापित हो गया और भाषा के साथ-साथ पाश्चात्य विचार, भावनायें, व्यवहार के ढंग आदि को भी हम प्राप्त करते गए। परिणाम यह हुआ कि इस अंग्रेजी भाषा ने हमारा जितना उपकार किया, उतना ही अपकार भी और उनमें सबसे अधिक अहित हुआ है अंग्रेजी भाषा के प्रति उग्र अनुराग के पनपने के फलस्वरूप। बंगाल तथा दक्षिण भारत के कुछ प्रान्तों के साथ अंग्रेजों का सम्पर्क आरम्भ से ही रहा। अतः इन प्रान्तों के लोगों ने मातृभाषा के बाद ही अंग्रेजी भाषा को एक उच्च स्थान प्रदान किया। इसका परिणाम आज हमारे सामने है। बंगाल तथा दक्षिण भारत के लोग आज भी अंग्रेजी भाषा को राष्ट्रभाषा हिन्दी से अधिक अपना समझते हैं और हिन्दी को किसी भी रूप में उन पर लादा जाए यह बात वे सहन नहीं कर सकते। इन क्षेत्रों में हिन्दी-विरोधी आन्दोलन ने कई बार उग्र रूप धारण करके एक विकट समस्या को जन्म दिया है और राष्ट्रीय व भावनात्मक एकता की स्थापना में घोर बाधा को उत्पन्न किया है कि आवश्यकता पड़ने पर स्वदेशी हिन्दी भाषा का त्याग किया जा सकता है, पर विदेशी अंग्रेजी भाषा का त्याग उन्हें स्वीकार नहीं। दूसरी ओर उत्तरी भारत के प्रदेश हिन्दी के प्रति अपने अनुराग को दर्शाने के लिये अंग्रेजी भाषा में लिखित 'नेम प्लेट' या 'साइनबोर्ड' तक को सहन करने को तैयार नहीं। इन दोनों में से कोई भी अवस्था स्वस्थ स्वरूप का प्रतिनिधित्व नहीं करती और विभिन्न समस्याओं को ही जन्म देती है।

2. धर्म से सम्बन्धित समस्याएँ (Problems related to Religion)— अंग्रेज इस देश में केवल राज्य करना ही नहीं चाहते थे अपितु ईसाई धर्म का विस्तार भी चाहते थे। इस उद्देश्य की पूर्ति में उनके प्रमुख सहायक थे ईसाई पादरीगण। इन लोगों ने देश के कोने-कोने में स्कूल, अस्पताल, अनाथ-आश्रम आदि खोले और उन्हीं के माध्यम से ईसाई धर्म का खूब प्रचार किया। ईसाई धर्म को स्वीकार कर लेने पर सरकारी नौकरियाँ, शिक्षा आदि में विशेष सुविधायें प्राप्त हो जाती थीं। इन सब प्रलोभनों में फँसकर हजारों भारतवासियों ने धर्म परिवर्तन करके ईसाई धर्म को स्वीकार कर लिया। इससे अनेक सामाजिक, पारिवारिक एवं व्यक्तिगत समस्याओं का जन्म हुआ। उदाहरणार्थ, ईसाई धर्म को स्वीकार कर लेने के पश्चात् भी ये भारतवासी अपने भारतीय दृष्टिकोण, विश्वास तथा आचरणों का त्याग नहीं कर पाए। इससे उनके व्यक्तित्व में एक तनाव की स्थिति बनी रही और उनका स्वस्थ विकास कभी-कभी बाधाप्राप्त हुआ। उसी प्रकार किन्हीं-किन्हीं परिवारों में केवल दो-एक सदस्यों ने ही ईसाई धर्म को स्वीकार किया जबकि अन्य सभी लोगों ने अपने मूल धर्म पर ही विश्वास बनाये रक्खा और उन सदस्यों का बहिष्कार किया जिन्होंने ईसाई धर्म को स्वीकार कर लिया। इससे पारिवारिक विघटन आरम्भ हुआ। इतना ही नहीं, अनेक परिवारों के लिए एक दूसरी समस्या भी प्रगट हुई। ईसाई धर्म को स्वीकार करने का अर्थ है सम्पूर्ण जीवन-प्रतिमान में भी आवश्यक परिवर्तन। अंग्रेजों जैसे जीवन के उच्च मान (high standard) को बनाए रखना

सांस्कृतिक समन्वय की समस्याएँ

अनेक गरीब परिवारों के लिए सम्भव न हुआ और उनमें आधुनिकता की आड़ में व्यभिचार का ही विस्तार हुआ। इसके अतिरिक्त, ईसाई धर्म के सिद्धान्तों से अत्यधिक प्रभावित होकर कुछ नए धार्मिक संस्थानों का जन्म भारत में हुआ। उनमें ब्रह्म समाज का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। इनके समर्थक ईसाई परम्परा, आदर्श तथा व्यवहार-प्रतिमानों के भी समर्थक बन गए जिसके कारण उनका अनुकूलन मूल हिन्दू समाज से बहुत कठिन हो गया। हिन्दू समाज ने तो ब्रह्मसमाजी को 'हिन्दू' मानने से भी इनकार कर दिया और उनका बहिष्कार किया। ये सभी समस्याएँ आज भी किसी-न-किसी रूप में विद्यमान हैं और इनका परिणाम समाज का और अधिक टुकड़ों में विभाजन है।

3. राजनीति से सम्बन्धित समस्याएँ (Problems related to Politics)—आधुनिक भारतीय राजनीतिक संस्थाओं पर पश्चात्य देशों, विशेषकर इंग्लैण्ड तथा अमेरिका का प्रभाव सुस्पष्ट है। प्रजातन्त्रात्मक शासन-व्यवस्था उसी प्रभाव का एक सर्वोत्तम उदाहरण है। पर दूसरे देशों की भाँति इस देश में स्वस्थ प्रजातन्त्रात्मक परम्पराओं का विकास शायद आज भी नहीं हो पाया है। चुनाव के क्षेत्र में, विधान-सभा या संसद-सभा में, नीति निर्धारण में, विभिन्न पार्टियों के सम्बन्ध के मामले में आज भी हम स्वस्थ परम्पराओं या आचरण-संहिताओं (codes of conduct) को विकसित नहीं कर पाए हैं। प्रजातन्त्रात्मक शासन-व्यवस्था को तो हमने अपना लिया है, पर यह भूल गए हैं कि इस शासन-व्यवस्था की सफलता केवल व्यवस्था को अपना लेने-मात्र में ही निहित नहीं है। उसकी सफलता तो उस व्यवस्था से सम्बन्धित आचरणों व अवस्थाओं के साथ अनुकूलन पर निर्भर करती है। यह अनुकूलन हम नहीं कर पाए हैं। चुनाव (election) के लिए प्रत्याशियों (candidates) का चुनाव (selection) प्रायः उनकी योग्यताओं के आधार पर नहीं अपितु जाति-पाँति, प्रान्तीयता, राजनीतिक ताल-मेल व समूहगत आधारों पर किया जाता है। चुनाव के समय भी धर्म, जाति-पाँति और आपसी भेद-भाव के आधार पर ही वोट माँगे जाते हैं। मन्त्रिमण्डल के गठन में भी दलीय भावनायें व जाति-पाँति महत्वपूर्ण होता है। विधान-सभा में अपना बहुमत बनाये रखने के लिए धन, पद आदि का प्रलोभन देकर दूसरी पार्टियों के विधायकों तोड़ने को प्रयत्न किया जाता है। दल बदलने की प्रवृत्ति पर किसी भी विधायक को धर्म का अनुभव नहीं होता है और न ही मन्त्री बन जाने के बाद अपने ही भाई-भतीजों को ही लाभ पहुँचाने में किसी को कोई हिचकिचाहट होती है। भारत के प्रजातन्त्रात्मक राजनीतिक पार्टियों के कुछ कार्यक्रम तो अवश्य ही होते हैं, पर उनमें से अधिकांश पार्टियों का मुख्य कार्यक्रम सत्ता को हथियाने के लिए किसी अच्छे-बुरे उपायों को अपनाकर दूसरी पार्टियों को नीचा दिखाना है। इसके फलस्वरूप उनकी सारी शक्ति सत्ता के पीछे दौड़ने में खर्च हो जाती है और जन-कल्याण सम्बन्धी कार्यक्रमों को लागू करने का अवसर ही उन्हें नहीं मिल पाता है। कुछ राजनीतिक पार्टियाँ तो राजनीति को धर्म के साथ मिलाकर इस भाँति खिचड़ी पकाने का प्रयत्न करती हैं कि प्रजातन्त्रात्मक राजनीतिक परम्पराओं का शायद दम ही घुटने लगता है। उसी प्रकार कुछ राजनीतिक पार्टियाँ 'भारतीय' होने पर भी उनकी वफादारी भारत के प्रति उतनी नहीं जितनी कि कुछ विदेशों के प्रति अभिव्यक्त होती है। अतः स्पष्ट है कि विदेशी संस्कृति से जिन राजनीतिक परम्पराओं को हमने प्राप्त किया है उनके स्वस्थ स्वरूप को बनाए रखने में हम सफल नहीं हुए हैं।

4. परिवार और विवाह से सम्बन्धित समस्याएँ (Problems related to Family and Marriage)—पाश्चात्य संस्कृति से प्राप्त विचार, मूल्य तथा आदर्शों ने भारतीय परिवार तथा विवाह के क्षेत्र में भी सांस्कृतिक समन्वय की अनेक समस्याओं को जन्म दिया है। उदाहरणार्थ, पाश्चात्य संस्कृति से प्राप्त व्यक्तिवादी आदर्श, स्त्री-शिक्षा व पाश्चात्य शिक्षा ने भारत के लोगों को त्याग और कर्तव्य के पथ से हटाकर व्यक्तिगत अधिकार, सुख और समानता का पाठ पढ़ाया जोकि संयुक्त परिवार व्यवस्था के विघटन का एक प्रमुख आधार बन गया। इसी व्यक्तिवादी पाश्चात्य आदर्शों के कारण भारतीय परिवारों का सहयोगी आधार भी दुर्बल होता जा रहा है और परिवार का प्रत्येक सदस्य सबके लिए कम और अपने लिए अधिक सोचता है। इसका प्रभाव पति-पत्नी के पारस्परिक सम्बन्धों पर भी पड़ा है और पति-पत्नी के पारस्परिक अनुकूलन की समस्या दिन-प्रतिदिन अधिक कटु होती जा रही है। पाश्चात्य मूल्यों तथा आदर्शों के फलस्वरूप ही इस देश में देर से विवाह, अन्तर्जातीय विवाह और प्रेम-विवाह की दरें (rates) दिन-प्रतिदिन बढ़ती जा रही हैं जोकि स्वस्थ पारिवारिक तथा वैवाहिक जीवन के लिए खतरा उत्पन्न करने वाला बन गया है। देर से विवाह करने के पाश्चात्य आदर्श ने इस देश में नैतिक पतन की समस्या को उत्पन्न किया है। यौन-प्रवृत्तियों को बहुत दिनों तक दबाने से बौद्धिक विकास कठिन हो जाता है। उसी प्रकार, अन्तर्जातीय विवाह तथा प्रेम-विवाह में रोमान्स का तत्त्व ही अधिक होता है जोकि स्वस्थ वैवाहिक जीवन के लिए बहुधा घातक सिद्ध होता है। प्रोफेसर बेबर (Baber) ने लिखा है कि रोमांटिक विवाह का अन्त रोमांटिक विवाह-विच्छेद में होता है। विवाह-विच्छेद की बढ़ती हुई दर तो इस देश के पारिवारिक व वैवाहिक जीवन के लिए एक गम्भीर समस्या बन गई है। इसका प्रमुख कारण पाश्चात्य मूल्य तथा आदर्शों का आँख-मूँदकर नकल करना है। साथ ही, उन्हीं आदर्शों के फलस्वरूप आज जीवन-साथी के चुनाव में नवयुवक व युवतीगण माता-पिता के हस्तक्षेप को पसन्द नहीं करते। इसके फलस्वरूप युवा-पीढ़ी तथा पुरानी पीढ़ी के बीच विचार तथा मूल्यों का संघर्ष होता है जिससे पारिवारिक क्लेश, झगड़े तथा तनाव उत्पन्न होते हैं और पारिवारिक विघटन की सम्भावना भी रहती है। ये सभी सांस्कृतिक समन्वय की गम्भीर समस्या के रूप में आज हमारे सामने हैं।

5. सामान्य जीवन से सम्बन्धित समस्याएँ (Problems related to General Life)—सामान्य जीवन में भी सांस्कृतिक समन्वय की अनेक समस्याएँ हमारे सामने हैं। उदाहरण के लिए पोशाक, खान-पान, शिक्षा, मनोरंजन आदि से सम्बन्धित उन समस्याओं का उल्लेख किया जा सकता है जिनका कि जन्म पाश्चात्य संस्कृति के सम्पर्क में आने के फलस्वरूप हुआ है। हॉलीवुड फैशन का जो भूत आज हमारे ऊपर सवार है उसी के फलस्वरूप भारतीय अभिनेता-अभिनेत्रियों से लेकर कॉलेज के छात्र-छात्राओं तक में पोशाक, 'हेयर स्टाइल', आभूषण, चश्मा और जूता तक में पाश्चात्य संस्कृति का उग्र रूप हमें देखने को मिलता है। फैशन की हर चीज हमें चाहिए, चाहे उसके लिए माता-पिता से झगड़ा कर पैसा लेना पड़े, चाहे उधार मांगना पड़े अथवा चाहे उन चीजों को न जुटा सकने पर पति के प्रति पत्नी का व्यवहार रूखा हो जाए या उनमें नित अनबन बनी रहे। उसी प्रकार भारतीय नृत्य तथा संगीत से हमारी रूचि हटकर 'रॉक एन रोल' तथा 'ट्रिस्ट' आदि पर केन्द्रित

हो गई है। उसी प्रकार मनोरंजन के क्षेत्र में सिनेमा, थियेटर, नाइट क्लब, यौन-प्रवृत्तियों से भरपूर नृत्य-संगीत सहित चलने वाले होटल आदि सबका आयोजन व संगठन विदेशी संस्कृति के आधार पर ही किया जाता है। पर मनोरंजन के उन उग्र स्वरूपों से अनुकूलन करने योग्य मानसिक तैयारी हम में आज भी नहीं है। फलतः यह हमारे लिए एक समस्या बन गई है क्योंकि इसका अत्यधिक बुरा प्रभाव लोगों पर, विशेषकर युवक-युवतियों पर पड़ता है और उनमें यौन-व्यभिचार, सामान्य अपराध और बाल-अपराध की प्रवृत्ति बढ़ती है। शिक्षा के क्षेत्र में भी सह-शिक्षा एक वैदिक परम्परा होते हुए भी आधुनिक भारत में इसका प्रचलन पाश्चात्य संस्कृति का ही परिणाम है। सह-शिक्षा से अनेक लाभ हैं, पर उन लाभों को प्राप्त करने के लिए एक नैतिक मान (moral standard) को बनाए रखना जरूरी है। पर दुर्भाग्यवश इस देश के छात्र-छात्राएँ उसे बनाए रखने में सर्वथा सफल नहीं हुए हैं। सफतः शिक्षा-संस्थाओं में छात्र-छात्राओं के पारस्परिक सम्बन्धों को लेकर अनेक अवांछनीय घटनाएँ घटित होती रहती हैं। इसके अतिरिक्त, एक और सामान्य समस्या नवीन व पुरातन के बीच विचार तथा आदर्शों का संघर्ष है। विवाह, पोशाक, खान-पान, शिक्षा, पेशा आदि प्रायः सभी मामलों में बाप-दादों का विचार भारतीय संस्कृति पर एवं नवीन पीढ़ी के विचार विदेशी संस्कृतियों पर आधारित होने के कारण उनमें अक्सर संघर्ष की स्थिति उत्पन्न हो जाती है जोकि सामाजिक जीवन को न केवल तनावपूर्ण बनाता है अपितु अन्य अनेक समस्याओं को जन्म देता है।

6. विसंगति या आदर्शशून्यता की समस्या (The Problem of Anomie)

— सांस्कृतिक समन्वय की एक और समस्या यह है कि उचित समन्वय न होने के कारण इस देश में विसंगति या आदर्शशून्यता की स्थिति भी उत्पन्न हो गई है। श्री राबर्ट निस्बेट (Robert Nisbet) ने विसंगति की एक व्यापक परिभाषा देते हुए लिखा है कि जब सामाजिक मूल्यों में भ्रामक स्थिति उत्पन्न हो जाती है; जब उनका एक-दूसरे के साथ संघर्ष होता रहता है, अथवा जब मनुष्य के लिए उनकी आवश्यकता खत्म हो जाती है तो उस अवस्था में व्यक्ति तथा सामाजिक व्यवस्था दोनों ही प्रभावित होते हैं। फलतः समाज व व्यक्ति के जीवन में एक असन्तुलन की स्थिति उत्पन्न हो जाती है जिसे कि विसंगति (anomie) कहा जा सकता है। भारत में सांस्कृतिक समन्वय के क्षेत्र में आज इस विसंगति की स्थिति को सहज ही देखा जा सकता है। उदाहरणार्थ, आज का सांस्कृतिक मूल्य हमारे सम्मुख यह आदर्श प्रस्तुत करता है कि अपनी योग्यता और प्रयत्नों के द्वारा व्यक्ति के लिए किसी भी उच्चतम लक्ष्य की प्राप्ति सम्भव है—वह लक्ष्यपति बन सकता है, राष्ट्रपति हो सकता है या संसार की सब से सुन्दर युवती को अपनी पत्नी के रूप में पा सकता है। परन्तु इन स्थितियों को प्राप्त करने के उचित और स्वीकृत साधन या प्रणालियाँ उसे अपने समाज में देखने को नहीं मिलती हैं। इसके विपरीत वह यह देखता है कि समाज के अयोग्य सदस्य सिफारिश या पार्टी के बल पर उच्चतर पदों पर आसीन हैं और वास्तविक योग्य व्यक्तियों के लिए खाने तक का भी ठिकाना नहीं है और कष्टों से तंग आकर अन्त में उन्हें आत्महत्या करनी पड़ती है, तो वह व्यक्ति भी समाज की आशाओं पर धूल झोंकता है समाज के आदर्श-नियमों का उल्लंघन करना ही जीवन का आदर्श समझता है, चोरी करता है, डाका डालता है और जालसाजी या गबन करता है। यह समाज में व्याप्त विसंगति की स्थिति की ही उपज होता है।

उसी प्रकार चूँकि आज हमारे देश में सांस्कृतिक समन्वय उचित ढंग से नहीं हो पाया है, इस कारण समाज के प्रमुख पदों (status) से सम्बन्धित कार्यों (roles) का भी उचित व सुनिश्चित निर्धारण नहीं हो पा रहा है। फलतः व्यक्ति के व्यवहार में विसंगति या आदर्शशून्यता पनप रही है। उदाहरणार्थ, आज की भारतीय पत्नी यह निश्चयपूर्वक नहीं जानती है कि पत्नी के पद से सम्बन्धित वास्तविक कार्य या भूमिका क्या है? स्थिति यह है कि परिवार और सास-सुसर यह चाहते हैं कि वह एक आदर्श गृहिणी बने; बच्चों के हितों को अगर देखा जाए तो उसे एक आदर्श माँ बनना चाहिए, पति यह चाहता है कि उसकी पत्नी एक रोचक जीवन-संगिनी की भूमिका को निभाए और समाज की माँग यह है कि वह महिला एक आदर्श नारी बनकर सामाजिक प्रगति में हाथ बँटाए। इनमें से कुछ ऐसी भूमिकाएँ हैं जो परस्पर विरोधी हैं। अधिकांश स्त्रियों के लिए आज इन परस्पर विरोधी भूमिकाओं से अनुकूलन करना एक कठिन समस्या बन गई है। उसी प्रकार नौकरी करने वाली अविवाहित स्त्रियाँ नौकरी के क्षेत्र में अपने को सुप्रतिष्ठित करने में अपनी सुध-बुध इतनी खो बैठती हैं कि पारिवारिक सम्बन्ध या विवाह भी उनके लिए आवश्यक है यह बात उस समय वे स्वीकार ही नहीं करती हैं। इसका कारण यह है कि आर्थिक रूप में अपने को सुसम्पन्न बनाने के सम्बन्ध में आज जो सांस्कृतिक मूल्य प्रचलित है उसी की धुन में ये अविवाहित स्त्रियाँ परिवार व बृहत्तर समाज के प्रति अपने कर्तव्यों को शायद याद नहीं रख पाती हैं। उसी प्रकार भारत का व्यापारी वर्ग जब जमाखोरी करता है, कालाबाजारी करता है या खाने-पीने की चीजें व जीवन-रक्षक दवाइयों व इंजेक्शनों तक में मिलावट करता है तो वह भारतीय संस्कृति में अन्तर्निहित त्याग, दया, सत्य व धर्म के धार्मिक व नैतिक मूल्यों को एकदम ही भूल जाता है। जन-जीवन के सन्दर्भ में इससे बड़ी समस्या भला और क्या होगी! पर इसका कारण यही है कि आज भी हम विभिन्न सांस्कृतिक मूल्यों का उचित समन्वय या सामंजस्य नहीं कर पाए हैं।

निष्कर्ष

(Conclusion)

उपरोक्त विवेचना से यह स्पष्ट है कि इस देश में सांस्कृतिक समन्वय की अनेक समस्याएँ हैं और भारत जैसे एक विकासशील देश के लिये इस प्रकार की समस्याओं का होना बहुत अस्वाभाविक नहीं है। भारत आज हर रूप में—आर्थिक, राजनीतिक तथा सामाजिक-सांस्कृतिक क्षेत्र में—पुनर्निर्माण की एक स्थिति से गुजर रहा है। अभी हाल ही में केन्द्र में 30 वर्ष से लगातार चल रहा कांग्रेस शासन अप्रत्याशित रूप में खत्म हो-गया। इन सबके सन्दर्भ में कुछ या अनेक समस्याएँ कठिन स्थिति का चोतक होते हुए भी बिल्कुल अर्थहीन नहीं हैं। इन समस्याओं से भी हम बहुत-कुछ सीखते हैं और इसीलिये यह आशा करते हैं कि शीघ्र ही एक ऐसा समय आएगा जब कि भारत अपने नवीन एवं समन्वित सांस्कृतिक मूल्यों, आदर्शों, मान्यताओं तथा परम्पराओं सहित एक सुस्थिर, सुव्यवस्थित व सुसम्पन्न समाज के रूप में हमारे सामने उभरकर आएगा। उसी दिन का इन्तजार आज शायद हम सब को है!

इस्लाम तथा ईसाई धर्म का सामाजिक प्रभाव

(The Social Influence of Islam and Christianity)

जिन विदेशी धर्मों ने भारतीय जनजीवन को अत्यधिक प्रभावित किया है उनमें इस्लाम तथा ईसाई धर्म सर्वप्रमुख हैं। मुसलमान और अंग्रेज दोनों ही विदेशी थे और जब शासक के रूप में पहले मुसलमान और बाद को अंग्रेज इस देश में आकर बस गए तो उनके साथ उनके अपने-अपने इस्लाम तथा ईसाई धर्मों का भी इस देश में प्रवेश हुआ। कुछ तो शासक-वर्ग का धर्म होने के कारण और कुछ मुसलमान व अंग्रेज शासकों के प्रयत्नों के कारण इन धर्मों का प्रभाव इस देश के जनजीवन पर पड़ता स्वाभाविक ही था। व्यावहारिक रूप में देखा गया कि इन धर्मों का प्रभाव सामाजिक जीवन के विभिन्न पक्षों पर तो पड़ा ही, साथ ही बहुत से भारतवासियों ने अपने मूल धर्म को भी त्यागकर इस्लाम या ईसाई धर्म को ग्रहण कर लिया। इन दो धर्मों के इस प्रकार के व्यापक प्रभाव को समझने के लिये इनका अलग-अलग विवेचन आवश्यक है।

इस्लाम—एक संक्षिप्त परिचय (Islam—A Short Introduction)

मध्य युग से इस्लाम धर्म भी भारत का एक प्रमुख धर्म बन गया है। 'इस्लाम' का अर्थ होता है समर्पण अथवा उत्सर्ग, जिसका अभिप्राय है अल्लाह की इच्छा के सामने झुकना। इस्लाम केवल कुरान में विश्वास करने का आदेश ही नहीं देता अपितु वह ईश्वरेच्छा के प्रति समर्पण का भाव माँगता है। इस धर्म के संस्थापक मुहम्मद साहब (570-632 ई०) थे, जिनका आविर्भाव अरब में हुआ था। इस्लाम एकेश्वरवादी धर्म है। अल्लाह एक है और उसके अलावा अन्य कोई देवता नहीं है। वह सर्वशक्तिमान्, सर्वज्ञ और करुणामय है। उसने धर्म के सम्बन्ध में पथभ्रष्ट मानव को जागरूक रखने तथा सही मार्ग बताने के लिये समय-समय पर अपने पैगम्बरों को भेजा है और मुहम्मद साहब अन्तिम पैगम्बर (नबी) हैं। यह धर्म भी कर्म के परिणामों पर विश्वास करता है। पाप कर्म करने वाले नास्तिक को मृत्यु के बाद अत्यधिक दुःख झेलना पड़ता है जबकि अच्छे कर्म करने वाले तथा धर्मात्माओं को अनन्त सुख मिलता है। अल्लाह पर अटूट विश्वास रखो और हर काम के बीच उन्हें याद करो—यही इस्लाम का आदेश है। सभी मुसलमान अल्लाह की ही सन्तान हैं, अतः वे सब भाई-भाई हैं। इस प्रकार मुसलमानों में भ्रातृ-भाव पनपाने में इस्लाम का योगदान अनूठा है। इसके अतिरिक्त संयम, परोपकार, त्रिलोभिता, क्षमा, ईमानदारी, निर्धनो की

सहायता के लिये 'जकात' देना—ये सब इस धर्म के प्रमुख नैतिक नियम हैं। 'दिन में पाँच बार नमाज, प्रत्येक शुक्रवार को सामूहिक नमाज; रमजान के महीने में रोजा (दिन का पूर्ण उपवास) और मक्का की तीर्थयात्रा (हज) यही प्रधानतः इस धर्म का क्रिया-पक्ष है। इस्लाम अवतारवाद, मूर्तिपूजा तथा ऊँच-नीच के भेदभाव का घोर विरोधी है। वह मानव-समानता के आदर्श को स्वीकार करता है।

कुरान मुसलमानों का पवित्रतम धर्मग्रन्थ है। कुरान के अनुसार, "सदाचार इसमें नहीं है कि तुम अपने मुँह को पूर्व तथा पश्चिम की ओर करो, बल्कि सदाचार का यह अर्थ है—जो भी ईश्वर, अन्तिम दिन, देवदूत, कुरान तथा पैगम्बर में विश्वास करते हैं और जो ईश्वर के प्रेम के लिए अपना धन अपने भाई-बन्धुओं, अनाथों, निर्धनों यात्रियों तथा भिक्षुओं को और बन्धियों को छुड़ाने के लिए देते हैं और जो प्रार्थना करते हैं और दान देते हैं और जो अपने अनुबन्ध तथा इकरार करते हैं, और जो विपत्ति, कठिनाई तथा अशान्ति के समय धैर्यशील होते हैं, और जो नियमों से डरते हैं, वे सब सदाचारी हैं।"

इस्लाम में एक प्रकार का रहस्यवाद है जिसे सूफी मत कहा गया है। सूफी मत का मूल स्रोत कुरान और मुहम्मद साहब का जीवन है, परन्तु इसमें हिन्दू धर्म, बौद्ध धर्म, ईसाई धर्म आदि का भी प्रभाव है। इस मत ने सभी धर्मों के प्रति सहिष्णुता की भावना रखने का आदेश दिया क्योंकि ईश्वर सभी धर्मों में दृष्टिगोचर होता है। "प्रत्येक सूफी का उद्देश्य ईश्वर में अपनी आत्मा का विलीनीकरण है। वह ईश्वर को अपनी इच्छा समर्पित कर देता है, अपने पापों के लिए पश्चात्ताप करता है, स्वच्छता, प्रार्थना, व्रत, उपवास, दान और तीर्थ-यात्रा के नियमों का पालन करता है, शारीरिक भावनाओं और एकान्तवास व मौत से क्रोध, गर्व, ईर्ष्या आदि दुर्गुणों का दमन करता है। यह सर्वप्रथम अवस्था है। द्वितीय अवस्था में वह आध्यात्मिक ज्ञान प्राप्त करता है। सांसारिक वस्तुओं के प्रति उसमें विरक्ति की भावना हो जाती है। अन्तरात्मा के प्रकाश और अनन्त प्रेम से वह ईश्वर में विलीन होने का प्रयास करता है। प्रत्येक सूफी को आध्यात्मिक गुरु (पीर या शेख) की आवश्यकता होती है जोकि उसके आचार-विचार को नियन्त्रित कर उसकी आध्यात्मिक प्रगति की देखभाल करता है। ध्यान, भजन, नृत्य, गीत और प्रेम से भी सूफी ईश्वर का साक्षात्कार करता है। मोक्ष-प्राप्ति के लिये सूफी मत में साधना की पाँच पीढ़ियाँ मान ली गई हैं—(1) ईश्वर की आराधना जो उसी की आज्ञानुसार हो; (2) भक्ति अर्थात् ईश्वर के प्रति आत्मा का आकर्षण; (3) एकान्त स्थान में ईश्वर का ध्यान; (4) ज्ञान अथवा ईश्वर के गुणादि का दार्शनिक विचार, और (5) भावोद्रेक अर्थात् ईश्वरीय शक्ति तथा प्रेम के पूर्ण प्राप्त हो जाने पर शरीर का भान न रह जाना। वास्तव में सूफी मत गहन भक्ति का धर्म है; प्रेम उसकी तीव्र उत्कण्ठा है; कविता, नृत्य, भजन इसकी पूजा है और ईश्वर में विलीन हो जाना इसका उद्देश्य है।"

इस्लाम का प्रभाव

(Impact of Islam)

भारतीय जनजीवन पर इस्लाम का प्रभाव कोई एक ही रात में पड़ना शुरू नहीं हो गया था। यह प्रभाव तो एक संचयी प्रक्रिया के रूप में उभरकर सामने आया था जिसमें विरोध और समन्वय दोनों ही शामिल थे क्योंकि हिन्दू धर्म और इस्लाम के मूल धार्मिक और सामाजिक आदर्शों में अन्तर था। इस अन्तर के कारण पहले-पहल

इन दोनों धर्मों में एक तनाव की स्थिति उत्पन्न हुई। यह स्थिति उस समय और भी गम्भीर हो गई जबकि कुछ मुसलमान शासकों ने अपने शासक होने की स्थिति से फायदा उठाकर इस्लाम धर्म को हिन्दुओं पर थोपने की चेष्टा की। इसे हिन्दुओं ने अपने धर्म और समाज पर आक्रमण समझा और इससे अपनी रक्षा करने के लिये आवश्यक कार्यवाही की। इस रक्षात्मक प्रवृत्ति के कारण हिन्दू समाज में संकीर्णता और रूढ़िवादिता बढ़ने लगी। ब्राह्मणों ने अपने जातीय नियमों को और भी कठोर किया और तथाकथित रक्त की शुद्धता और पवित्रता को बनाए रखने के लिये विवाह आदि के प्रतिबन्धों को कठोरता से लागू किया, स्त्रियों की गतिशीलता पर रोक लगाई तथा छुआछूत की भावना को और भी बढ़ावा दिया। यही कारण था कि इस युग में एक ओर जातीय संकीर्णता बढ़ी और दूसरी ओर स्त्रियों की स्थिति में और भी पतन हुआ। जातीय कठोरता और संकीर्णता के कारण ही निम्न जातियों के अनेक सदस्यों ने इस्लाम को अपनाया। परन्तु इन संकीर्णताओं की एक स्वस्थ प्रतिक्रिया यह हुई कि कबीर, नानक, रामानन्द, चैतन्य आदि सन्तमहात्माओं द्वारा धर्म तथा समाज को सुधारने के प्रयत्न भी हुये। हिन्दू तथा इस्लाम धर्म के बीच का उपरोक्त तनाव बराबर न बना रहा। कालान्तर में हिन्दुओं और मुसलमानों में सामंजस्य, सहयोग और सहिष्णुता की भावना भी बढ़ने लगी जो धर्म, परिवार और अन्य क्षेत्रों में दृष्टिगोचर होती है। निम्नलिखित विवेचना से यह और भी स्पष्ट हो जाएगा।

धार्मिक जीवन पर प्रभाव

(Impact on Religious Life)

मुसलमानों के आने से पहले हिन्दुओं में धर्म के क्षेत्र में बाह्य आडम्बर और छुआछूत का विचार प्रबल था। साथ ही, हजारों देवी-देवताओं का पूजा-पाठ प्रचलित था। इस सम्बन्ध में मुसलमानों का प्रथम उल्लेखनीय प्रभाव एक ईश्वर की आराधना के प्रति हिन्दुओं का झुकाव था। भारतवर्ष में अद्वैतवाद या एकेश्वरवाद का प्रारम्भ इस्लाम का ही प्रभाव था। इस्लाम में बहु-ईश्वर पर विश्वास, छुआछूत और बाहरी आडम्बर नहीं है, इसी कारण इससे प्रभावित होकर अनेक हिन्दू सन्त-साधुओं ने सब धर्मों की समानता और ईश्वर की एकता पर बल दिया, बाहरी दिखावा और छुआछूत की निन्दा की, जन्म के स्थान पर कर्म को अधिक महत्वपूर्ण माना और धर्म के ठेकेदार ब्राह्मणों के धर्म के नाम पर सामाजिक अन्याय की कटु आलोचना की। इन सन्त-साधुओं में कबीर, नानक, चैतन्य, रामानन्द तुकाराम, रामदास आदि के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। इनके संरक्षण में इस्लाम की भाँति समानता के सिद्धान्त पर बल देने वाले भक्ति-आन्दोलन का विकास हुआ। कुछ इतिहासकारों का कथन है कि इस भक्ति-आन्दोलन के विकास का मूल कारण इस्लाम नहीं था। धर्म के क्षेत्र में भक्ति का मार्ग हिन्दुओं का परम्परागत मार्ग है जिसका कि उल्लेख गीता में भी मिलता है। इस परम्परागत विचार के अनुसार मोक्ष-प्राप्ति अर्थात् जन्म-मरण के बन्धन से मुक्ति के तीन मार्ग हैं—ज्ञान-मार्ग, कर्म-मार्ग। मुसलमान-काल में हिन्दुओं में अनेक ऐसे धार्मिक विचारक हुए जिन्होंने भक्ति को अधिक महत्व दिया और धर्म-सुधार का एक नया आन्दोलन प्रारम्भ किया, यही भक्ति-आन्दोलन था। अतः स्पष्ट है कि भारतीय परम्परा की पृष्ठभूमि में यह आन्दोलन बिल्कुल नया नहीं था। परन्तु यह स्वीकार करना ही पड़ेगा कि मुसलमानों के कारण इस आन्दोलन को प्रेरणा अवश्य ही मिली

क्योंकि मुसलमान शासक इस देश में केवल राज्य ही नहीं करना चाहते थे बल्कि अपने धर्म का भी प्रचार करना उनका उद्देश्य था। साथ ही वे मूर्ति-पूजा के भी विरोधी थे। इस परिस्थिति का प्रभाव भक्ति-आन्दोलन पर अवश्य ही पड़ा। इस दृष्टिकोण से यह आन्दोलन सुधारात्मक और रक्षात्मक दोनों ही था। दूसरे शब्दों में, हम यह कह सकते हैं कि इस आन्दोलन के दो प्रमुख उद्देश्य थे। एक तो यह कि इसके द्वारा उस समय हिन्दू धर्म में उत्पन्न बुराइयों को दूर करने का प्रयत्न किया गया और साथ ही दूसरी ओर इन बुराइयों के दूर हो जाने पर यह आशा की गई कि हिन्दुओं का इस्लाम धर्म के प्रति झुकाव घट जाएगा और वे धर्म-परिवर्तन नहीं करेंगे। इस प्रकार इसका उद्देश्य हिन्दू धर्म की रक्षा करना तथा सामाजिक-धार्मिक बुराइयों को दूर करना था।

इस्लाम की भाँति भक्ति-सम्प्रदाय के अनुसार ईश्वर महान् है। उस महान् ईश्वर से प्रेम करना चाहिये और प्रेम और भक्ति के सहारे उसके पास तक पहुँचना तथा उसको जानने का प्रयत्न करना चाहिये। प्रेम और भक्ति के सहारे ईश्वर पर भी विजय पाई जा सकती है। गीता में भी श्रीकृष्ण ने स्पष्ट ही कहा है कि भक्ति ही उन्हें सर्वाधिक प्रिय है। इसलिये भक्ति-सम्प्रदाय के अनुसार भक्ति का मार्ग ही उत्तम है और भक्ति और प्रेम करने का अधिकार किसी विशेष जाति या समुदाय को नहीं है। इस मार्ग पर प्रत्येक व्यक्ति चल सकता है, चाहे वह ब्राह्मण हो या शूद्र। भगवान् को पाने के लिये बाहरी दिखावे या आडम्बर की आवश्यकता नहीं है। भगवान् के लिये सब समान हैं इसीलिये जाति-पाँति का भेदभाव अन्यायपूर्ण है। प्रत्येक जाति का सदस्य भक्ति-मार्ग का पथिक हो सकता है। साथ-ही-साथ भगवान् के सम्बन्ध में जानकारी प्राप्त करने के लिये या मोक्ष प्राप्त करने के लिये गृहस्थ-जीवन का त्याग भी आवश्यक नहीं है। गृहस्थ-जीवन में रहकर भी भगवान् की प्राप्ति हो सकती है यदि हमारे अन्दर चित्त या भावनाओं की पवित्रता है, सच्ची भक्ति और श्रद्धा है।

भक्ति-आन्दोलन शुरू होने से पहले भारतवर्ष में बाहरी आडम्बर, छुआछूत, धार्मिक अन्धविश्वासों का राज्य था। हिन्दू धर्म अपनी श्रेष्ठता को प्रमाणित करने में लगा था और इस्लाम धर्म अपना सिक्का जमाना चाहता था। इसका परिणाम यह हुआ कि दोनों ही धर्मों के बीच एक गम्भीर तनाव की स्थिति उत्पन्न हो गई थी। भक्ति-आन्दोलन के प्रवर्तकों ने इस तनाव को दूर करने का प्रयास किया, सब धर्मों की समानता और ईश्वर की एकता पर बल दिया, बाहरी दिखावा और छुआछूत की निन्दा की, जन्म के स्थान पर कर्म को अधिक महत्वपूर्ण माना और धर्म के ठेकेदार ब्राह्मणों के धर्म के नाम पर सामाजिक अन्याय की कटु आलोचना की। इसका प्रभाव यह हुआ कि हजारों लोग सन्त कबीर, नानक, चैतन्य, रामानन्द, तुकाराम आदि भक्ति-आन्दोलन के प्रमुख नेताओं या सन्त-साधुओं के अनुयायी हो गए। जिन व्यक्तियों ने कबीर, दादू व नानक के धार्मिक सिद्धान्तों का अनुसरण किया उन लोगों ने अलग-अलग धार्मिक सम्प्रदायों को जन्म दिया और क्रमशः कबीर-पन्थी, दादू-पन्थी तथा नानक-पन्थी कहलाए। इन नए पन्थों का जन्म भक्ति-आन्दोलन का एक महत्वपूर्ण प्रभाव कहा जा सकता है जोकि आज भी भारत की भूमि पर विद्यमान है।

भक्ति-आन्दोलन के सबसे प्रमुख सन्त कबीर थे। कबीर के धार्मिक आन्दोलन पर मुसलमानों के सूफीवाद का काफी प्रभाव पड़ा। सूफीवाद के अनुसार ईश्वर एक

है और सब जगह विशेषकर मनुष्य के हृदय में मौजूद है। कबीर ने इसी के अनुसार झुआछात, जाति-पाँति और हिन्दुओं के धार्मिक दिखावे की कटु आलोचना की और आत्मदर्शन को ही सबसे बड़ा धर्म माना। आपने राम-रहीम, कृष्ण-करीम, काबा-कैलाश और कुरान-पुरान को एक ही बताया। हजारों हिन्दू ही नहीं, मुसलमान भी उनके अनुयायी हो गये।

गुरु नानक के संरक्षण में जिस सिक्ख धर्म का विकास हुआ उस पर भी मुसलमानों का प्रभाव बताया जाता है। गुरु नानक ने अद्वैतवाद को ही सत्य बताया है और कहा कि हिन्दू और मुसलमानों के धर्मों में कोई विशेष अन्तर नहीं। आपने हिन्दू और मुसलमान धर्मों के दोषों को बताते हुये धार्मिक संस्कार के दिखावे और मूर्तिपूजा का विरोध किया। आचरणों की शुद्धता ही नानक के धर्म या उपदेश का मूल-मन्त्र है।

डाक्टर ताराचन्द का कथन है कि महान् धर्म-सुधारक शंकराचार्य पर इस्लामी धर्मशास्त्र का प्रभाव पड़ा था और उन्होंने अपने अद्वैतवाद का सिद्धान्त इस्लाम से ग्रहण किया, परन्तु इस मत से कुछ अन्य इतिहासकार सहमत नहीं हैं। उनका कथन यह है कि यदि शंकराचार्य ने अपना अद्वैतवाद का सिद्धान्त इस्लाम से ग्रहण किया तो उन्होंने मूर्तिपूजा का, जिसके सभी मुसलमान शास्त्रकार कट्टर विरोधी हैं, खण्डन क्यों नहीं किया। कुछ भी हो, कम से कम उत्तर भारत में मुसलमानों की उपस्थिति का हिन्दू धार्मिक विचारों और क्रियाओं पर कोई क्रान्तिकारी प्रभाव पड़ा हो, ऐसा प्रमाण नहीं मिलता और इस युग में देश की आम जनता के धार्मिक विचार तथा अनुष्ठान पूर्णतया अप्रभावित रहे। इसका एक कारण यह भी था कि उस समय यातायात और संचार के साधनों का विकास नहीं हो पाया था और अधिकतर जनता गाँवों में ही निवास करती थी, अतः उन तक नए धर्म और विचारों को पहुँचाना सम्भव न हुआ।

कुछ विद्वानों का यह कथन है कि हिन्दू धर्म पर इस्लाम के दो प्रभाव उल्लेखनीय हैं—पहला, इस्लाम के प्रचार-सम्बन्धी उत्साह ने भारत की जनता की अनुदार प्रवृत्तियों को पुष्ट किया। उनको यह विश्वास हो गया कि धर्म के क्षेत्र में अधिक कट्टर नीति को अपनाए बिना धर्म तथा समाज को इस्लाम में आघात से बचाना सम्भव नहीं है, इसी लिए दैनिक जीवन में धार्मिक नियमों को इस युग में जितनी कठोरता से लागू किया गया उतना पहले कभी नहीं देखा गया। श्रुतियों के आचार-विचार के नये नियम बनाये गये। माघव, विश्वेश्वर आदि विद्वानों ने टीकाएँ लिखीं और जनता के लिये कठोर धार्मिक जीवन का विधान किया; दूसरे, हमारे धार्मिक नेताओं तथा सुधारकों ने इस्लाम के कुछ लोकतान्त्रिक सिद्धांतों को ग्रहण कर लिया और धर्म के क्षेत्र में समानता पर बल दिया और कहा कि धार्मिक समानता मोक्ष के मार्ग में बाधक नहीं हो सकती। भक्ति-आन्दोलन यद्यपि हिन्दू तथा इस्लाम धर्म के सम्बन्ध का प्रत्यक्ष फल नहीं था, फिर भी कुछ हद तक उस पर इस्लाम की उपस्थिति का प्रभाव पड़ा है, इस सत्य को अस्वीकार नहीं किया जा सकता।

इस्लाम पर हिन्दू धर्म का बिल्कुल ही प्रभाव नहीं पड़ा यह कहना उचित न होगा, क्योंकि इन दोनों का पारस्परिक सम्बन्ध इतना घनिष्ठ था कि एक के लिए अपने को दूसरे से पूर्ण अप्रभावित रखना सम्भव न हो सका। जिन हिन्दुओं ने इस्लाम को स्वीकार कर लिया वे अपने साथ अपने पूर्वजों के धार्मिक विचारों, संस्कारों तथा

कृत्यों को लेते गये। मुसलमानों में फकीरों, पीरों तथा मकबूरों की पूजा प्रचलित हो गई। यह हिन्दुओं में प्रचलित स्थानीय तथा जातीय देवताओं की पूजा का ही दूसरा रूप था, जिससे भारतीय मुसलमान छुटकारा न पा सके। कुछ विद्वानों का तो यह भी कथन है कि मुसलमानों के रहस्यवाद, विशेषकर सूफी पन्थ को हिन्दू वेदान्त से प्रेरणा मिली थी। कुछ मुसलमान विद्वानों ने वेदान्त आदि हिन्दू-दर्शन का भी अध्ययन किया। श्री हजरत साज रहमानी जैसे उदार विद्वानों का यह कथन है कि इस्लाम का आधार ही हिन्दू धर्म है और मूलतः हिन्दू धर्म और इस्लाम में वस्तुतः कोई भेद नहीं है, दोनों एक ही हैं। इस्लाम के द्वारा अरबी सभ्यता का अनुकरण होने के कारण ही दोनों परस्पर भिन्न हो गए हैं।

जाति-प्रथा पर प्रभाव

(Impact on Caste System)

इस्लाम के प्रभावों से हिन्दू धर्म की रक्षा के लिये हिन्दुओं ने धर्म सम्बन्धी और जाति-प्रथा सम्बन्धी नियमों को बहुत कठोर बनाया और उन्हें दृढ़ता से लागू किया। इसका प्रभाव यह हुआ कि जातीय संरचना में और भी रूढ़िवादिता व संकीर्णता पनपी। ब्राह्मणों ने अपनी स्थिति को ऊँचा बनाए रखने के लिये भरसक प्रयत्न किया, परन्तु उनका यह प्रयत्न पूर्णतया सफल नहीं हुआ क्योंकि कुछ विरोधी शक्तियाँ भी उस समय क्रियाशील थीं। कुछ जातियों को, विशेषकर कायस्थ, खत्री और क्षत्रियों को मुसलमान शासकों का संरक्षण प्राप्त था जिसके कारण इन जातियों को अपनी स्थिति को ऊँचा करने का अवसर प्राप्त हुआ और वास्तव में सामाजिक जीवन में इनकी प्रतिष्ठा पहले से कहीं ज्यादा बढ़ गई। कुछ विद्वानों का कथन है कि मुसलमान शासकों की संरक्षा के फलस्वरूप ही कायस्थों की स्थिति इतनी ऊँची उठ गई थी कि उनकी गणना ब्राह्मणों के बाद होने लगी जबकि पहले वे केवल एक परिष्कृत गूढ़ जाति थे। उसी प्रकार क्षत्रियों को भी मुसलमानों के राजघरानों में अपना सम्पर्क स्थापित करने का मौका मिला। इनमें से अनेक राजपूत घरानों का वैवाहिक सम्बन्ध मुसलमान राजवंश से स्थापित हो गया, फलतः इनकी सामाजिक प्रतिष्ठा भी शासक-वर्ग के बाद ही मानी गयी है। इस सब हेर-फेर के कारण ब्राह्मणों की स्थिति तथा प्रतिष्ठा को काफी धक्का पहुँचा। जिन रक्षात्मक उपायों को अपनाया गया उनसे जातीय नियम और भी अनुदार एवं कठोर हो गए। डॉ० शर्मा ने लिखा है कि “ब्राह्मणों ने इस्लाम धर्म की प्रभुता के भय से विसंस्कृतिकरण आरम्भ किया। उन्होंने जाति-प्रथा की दृढ़ता और संस्कारों की पूर्णता को बनाए रखने के लिये मुसलमानों के सम्पर्क को रोकने की कोशिश की, पर उनका प्रभाव ब्राह्मणों और वैश्यों के अतिरिक्त अन्य जातियों पर नहीं पड़ा।” इस कथन से दो बातें स्पष्ट हैं—पहली तो यह कि मुसलमानों का प्रभाव किसी-न-किसी रूप में भारतीय जाति-प्रथा के परम्परात्मक स्वरूप पर अवश्य ही पड़ा और दूसरा यह कि इस प्रभाव का फैलाव या विस्तार सभी जातियों में समान रूप से नहीं था अर्थात् मुसलमानों की संस्कृति तथा शासन-व्यवस्था द्वारा सभी जाति के लोग समान रूप से प्रभावित नहीं हुए। ब्राह्मण और वैश्य पर उनका प्रभाव कम रहा जबकि क्षत्रिय, कायस्थ आदि पर यह प्रभाव अधिक स्पष्टतः पड़ा। ब्राह्मणों की अनुदार और कठोर नीति के मुख्य शिकार निम्न जाति के सदस्य थे जिनमें से कुछ ने, जैसा कि पहले उल्लेख किया जा चुका है, इस परिस्थिति से छुटकारा पाने के लिए इस्लाम धर्म को स्वीकार करना ही उचित मार्ग माना। इसका फल यह

हुआ कि निम्न जाति की सदस्यता कुछ कम हुई। हिन्दू जातीय संरचना में यह एक उल्लेखनीय परिवर्तन था जोकि उस काल में हुआ।

दूसरी ओर हिन्दू जाति-प्रथा ने स्वयं मुसलमानों को भी प्रभावित किया। मुस्लिम युग से पहले ही जाति-प्रथा भारत की एक आधारभूत तथा प्रभावशाली संस्था थी। मुसलमान भी इसके पंजे से अपने को विमुक्त नहीं रख पाए। हाँ, यह हो सकता है कि मुसलमानों में जो जाति-प्रथा विकसित हुई, उसका स्वरूप ठीक वैसा न था जैसाकि उस समय हिन्दुओं में था; फिर भी मुसलमानों में भी इस प्रथा का प्रवेश हो चुका था, इसके पक्ष में अनेक ऐतिहासिक प्रमाण प्रस्तुत किए जा सकते हैं। इतिहास के प्रमाणों की बात भी अगर छोड़ दी जाए, तो भी भारतीय मुसलमानों की सामाजिक संरचना के अध्ययन मात्र से ही इसकी सत्यता प्रमाणित हो सकती है। पद्यपि सैद्धान्तिक दृष्टिकोण से सब मुसलमान उस समय भी बराबर थे और अब भी बराबर ही हैं, परन्तु व्यावहारिक रूप में जिस जातीय संस्तरण का प्रारम्भ मुस्लिम युग में हुआ था वह आज भी मौजूद है। इस संस्तरण के भी कुछ स्पष्ट कारण थे। भारत में तुर्कों के साथ ईरानी, अरबी, हबशी तथा मिस्री आदि अनेक प्रजातियाँ तथा जनजातियाँ आई थीं। शासन-सत्ता पूर्ण रूप से इन्हीं विदेशियों के हाथों में थीं। तुर्क लोग इस विदेशी शासक-वर्ग के हितों की रक्षा करने का भरसक प्रयत्न करते थे। 13वीं शताब्दी-भर शक्ति का एकाधिकार उनके हाथों में रहा और उन्होंने एशिया की मुस्लिम जातियों का नेतृत्व किया। उन्हें प्रजातीय भेद की नीति में विश्वास था। इसलिये भारतीय मुसलमानों को उन्होंने अपने समान दर्जे पर कभी न रखा और न ही उन्हें राजशक्ति में हिस्सा दिया। इस प्रकार उसी समय मुस्लिम समाज दो स्पष्ट जातियों (अथवा अधिक उचित रूप में दो वर्गों) में बँटे हुए थे जिनमें की ऊँच-नीच का भेद-भाव या संस्तरण था। ये दो जातियाँ थीं—तुर्क तथा गैर-तुर्क। तेरहवीं शताब्दी के अन्त में जब मध्य एशिया के देशों से असंख्य मुस्लिम शरणार्थी भारत में आए तो शासक-वर्ग की संख्या में अत्यधिक वृद्धि हो गई। इससे विभिन्न मुस्लिम नस्लों तथा जातियों में परस्पर संभिन्नता भी आरम्भ हो गया और अन्तर्जातीय विवाहों के कारण धीरे-धीरे वे एक-दूसरे से पूर्णतया घुलमिल गए। रिक्त की शुद्धता का जिस पर उद्दंड तुर्कों की घमंड था, वह वर्ग समाप्त हो गया और विभिन्न प्रजातीय तथा सांस्कृतिक तत्वों के मिलन से मुसलमानों की एक नई जाति बन गई। दूसरी ओर वे लोग थे जिन्होंने अपना धर्म त्यागकर इस्लाम को स्वीकार कर लिया था। इनकी संख्या मुस्लिम राज्य तथा सत्ता के प्रसार के साथ-साथ बढ़ती गई। उनमें जैसाकि पहले ही कहा जा चुका है, अधिकतर निम्न जातियों के हिन्दू थे। ऐसे लोगों ने मुस्लिम सामाजिक संरचना में एक नई जाति का निर्माण किया, परन्तु इनको शासक-वर्ग की श्रेणी में सम्मिलित नहीं किया गया और न ही आधिक्र तथा सामाजिक विशेषाधिकारों में उन्हें कोई हिस्सा दिया गया। इनकी सामाजिक स्थिति शासक-वर्ग के मुसलमानों से स्पष्टतः नीची बनी रही। यहां तक कि अपने बहुसंख्यक हिन्दू देशवासियों में भी घन, सामाजिक स्थिति तथा स्वाभिमान की दृष्टि से वे कहीं नीचे दर्जे पर थे। हाँ इतना अवश्य था कि शुरु के दिन वे भी शासकों के साथ खड़े होकर मस्जिद में नमाज पढ़ लेते थे। यही परिस्थिति बहुत दिनों तक बनी रही, परन्तु बाद में शाहजहाँ, अकबर आदि उदार मुस्लिम शासकों के समय में कुछ महत्वपूर्ण पदों पर भारतीय मुसलमानों को नियुक्त किया गया, जिससे कि उन्हें भी अपनी सामाजिक प्रतिष्ठा को कुछ ऊपर उठाने का

अवसर प्राप्त हुआ। परन्तु इनकी भी संख्या बहुत सीमित थी और साथ ही विदेशी या मौलिक मुसलमानों ने इन्हें अपने बराबर का दर्जा भी नहीं दिया। फलतः इन लोगों ने बीच के एक वर्ग या जाति का निर्माण किया। इनके ऊपर विदेशी शासक मुसलमान स्वयं थे और इनसे नीचे मुसलमान व्यावसायिक जातियाँ थीं। मध्यम जाति के ये मुसलमान अब भी पश्चिमी उत्तर प्रदेश तथा पंजाब में पाए जाते हैं। जो हिन्दू मुसलमान बन गए और जिन्हें अपनी सामाजिक स्थिति को ऊँचा उठाने का कोई भी अवसर नहीं मिला, उन्होंने छोटे-मोटे उद्योग-धन्धों को अपनाया और मुसलमान व्यावसायिक जातियों का निर्माण किया। इन तीन जातियों के अतिरिक्त कुछ अप्रसृत्य जातियों के हिन्दुओं ने भी इस्लाम धर्म को स्वीकार किया, परन्तु इस धर्म-परिवर्तन के बाद भी उनकी सामाजिक स्थिति में कोई विशेष परिवर्तन नहीं हुआ और उनको सामाजिक संस्तरण में चौथा या सबसे निम्न स्थान मिला। इस प्रकार सम्पूर्ण मुस्लिम समाज चार स्पष्ट जातियों में बँट गया—(1) उच्च जाति के अशरफ मुसलमान जिनमें मूलतः विदेशी शासक मुसलमान लोग ही आते हैं और जोकि अपने को राजवंश से सम्बन्धित होने के कारण सबसे ऊँचा मानते हैं। सैयद, शेख, मुगल, पठान आदि इसी श्रेणी के अन्तर्गत आते हैं। (2) हिन्दुओं की उच्च जातियों से बने भारतीय मुसलमान जोकि मूलतः हिन्दू थे और उच्च जाति के सदस्य भी थे, पर जोकि मुसलमान शासकों के दबाव व प्रभाव से अपने पूर्वजों का धर्म छोड़कर मुसलमान हो गए थे। पर इनकी संख्या बहुत कम थी और अब भी बहुत कम ही है। मुसलमान राजपूत, जाट आदि इसी जाति के अन्तर्गत आते हैं। (3) इसके बाद मुसलमान व्यावसायिक जातियों का स्थान था और अब भी है। इन जातियों के अधिकतर सदस्य मूल रूप से हिन्दू थे और धर्म-परिवर्तन करके मुसलमान बने थे। इनकी संख्या इस देश में सबसे अधिक है। जुलाहा दर्जी, कसाई, नाई, मनहार, घुनिया, तेली, घोबी आदि इसी श्रेणी की विभिन्न जातियाँ हैं। (4) इसके बाद सबसे निम्न जाति का स्थान था और भंगी आदि इसके अन्तर्गत सम्मिलित थे। आज भी भारतीय गाँवों में मुसलमानों की सामाजिक संरचना में सामाजिक या जातीय संस्तरण का यही क्रम पाया जाता है।

उपरोक्त विवेचना से यह स्पष्ट है कि (1) मुसलमानों ने एक ओर अपनी नीति से हिन्दुओं की जाति-प्रथा को प्रभावित किया, जिसके फलस्वरूप जाति-प्रथा के परम्परात्मक स्वरूप में बहुत-कुछ हेर-फेर हुई और (2) दूसरी ओर स्वयं भी जाति-प्रथा से प्रभावित हुए। इन दोनों प्रकार के प्रभावों का थोड़ा-सा विस्तारपूर्वक विवेचन किया जा सकता है। प्रथम प्रकार के प्रभाव अर्थात् मुसलमानों की धार्मिक तथा शासन सम्बन्धी नीतियों का पहला प्रभाव हिन्दू जाति-व्यवस्था पर इस रूप में पड़ा कि जातीय संस्तरण के अन्तर्गत जिस जाति की जो स्थिति पहले थी वह उस रूप में नहीं बनी रही। ऊपर हम कायस्थों की सामाजिक स्थिति के ऊपर उठने की चर्चा कर चुके हैं। उसी प्रकार ब्राह्मण, क्षत्रिय आदि की भी जातिय प्रतिष्ठा में कुछ-न-कुछ हेर-फेर अवश्य ही हुई। इस दिशा में दूसरा उल्लेखनीय प्रभाव यह था कि मुगल साम्राज्य की स्थापना के पश्चात् जाति-प्रथा के अन्तर्गत पाए जाने वाले प्रतिबन्ध दिन-प्रतिदिन दुर्बल होते गये। पेशा परम्परागत अवश्य ही था, पर साथ ही यह जरूरी नहीं था कि सब या अधिकतर जातियाँ उसी के द्वारा अपनी जीविका निर्वाह करें। इस सम्बन्ध में तीसरा उल्लेखनीय प्रभाव यह था कि अकबर ने भारत के इतिहास में सबसे पहले सरकारी स्कूल खोले जिनमें हिन्दू और मुसलमान बच्चों को एकसाथ फारसी के माध्यम

से शिक्षा दी जाती थी। इसका प्रभाव जाति-प्रथा की कट्टरता पर पड़ा और हिन्दू एवं मुसलमानों में एक-दूसरे के प्रति सहनशीलता का मनोभाव बढ़ता गया। इस सम्बन्ध में चौथा प्रभाव यह था कि कबीर, नानक, चैतन्य आदि के निर्देशन में जो भक्ति-आन्दोलन चला उससे जाति-प्रथा के अन्तर्गत पाए जाने वाली कठोरता, छुआ-छूत आदि को काफी धक्का लगा और कुछ सीमा तक वे दुर्बल भी हो गए। इस आन्दोलन का ब्राह्मणों की तानाशाही पर भी स्पष्ट प्रभाव देखने को मिलता है। इसी का एक और प्रभाव यह था कि तेरहवीं शताब्दी के प्रारम्भ में महाराष्ट्र में अनेक शूद्र-सन्त, जैसे नामदेव, तुकाराम आदि का प्रादुर्भाव हुआ। इनके प्रयत्नों से शूद्रों को कुछ अधिकार प्राप्त हुए। इस सम्बन्ध में अन्तिम प्रभाव यह था कि ब्राह्मणों की रक्षा-त्मक प्रवृत्ति के कारण जातीय नियम, विशेषकर विवाह सम्बन्धी नियम, अत्यधिक कठोर हो गए। इसके बारे में विस्तृत विवेचना हम आगे करेंगे।

दूसरे प्रकार के प्रभाव के अन्तर्गत स्वयं मुसलमानों का हिन्दू जाति-व्यवस्था द्वारा प्रभावित होना सम्मिलित किया जा सकता है। दूसरे शब्दों में, हिन्दू जाति-प्रथा का प्रवेश मुसलमानों के सामाजिक जीवन में भी हो गया और उनमें भी जातीय संस्तरण की भाँति सामाजिक स्थितियों का एक चढ़ाव-उतार या 'मर्यादाक्रम' स्पष्टतः देखने को मिला।

विवाह पर प्रभाव

(Impact on Marriage)

हिन्दू धर्म और इस्लाम के मूलभूत धार्मिक और सामाजिक आदर्शों, मूल्यों तथा प्रथा-परम्पराओं में एकाधिक मौलिक अन्तर थे। इससे पहले-पहल दोनों संस्कृतियों में संघर्ष अवश्यम्भावी था। हिन्दुओं ने अपनी रक्षा करने के लिये अपने जाति सम्बन्धी नियमों को पहले से कहीं अधिक जटिल तथा कठोर बनाया। इस सम्बन्ध में विशेष कठोरता विवाह के सम्बन्ध में अपनायी गई। मुसलमान शासकों को सुन्दर हिन्दू लड़कियों को अपनी पत्नियाँ बनाने का शौक था, यहाँ तक कि विधवाओं से भी विवाह-सम्बन्ध स्थापित करने में उन्हें कोई आपत्ति न थी। हिन्दुओं की ओर से इस प्रवृत्ति की सम्भावित प्रतिक्रिया क्या हो सकती है, इसका अनुमान सरलता से ही लगाया जा सकता है। हिन्दू लड़कियों या विधवाओं का विवाह-सम्बन्ध मुसलमानों के साथ स्थापित न हो सके, इस उद्देश्य की पूर्ति के लिये चार उपायों को अपनाया गया—पहला तो यह था कि हिन्दुओं में बाल-विवाह एक सामान्य नियम बन गया और लड़कियों के विवाह की आयु 8-9 वर्ष तक उतर आई। यही नहीं, 'गर्भ-विवाह' का भी प्रचलन इस युग में हुआ। गर्भवती स्त्रियाँ ज्योतिषियों से पूछकर या स्वयं हो होने वाले बच्चों के लिंग के सम्बन्ध में अनुमान लगा लेती थीं और उसी आधार पर जन्म से पहले ही या तो विवाह सम्पादित हो जाता था अथवा लड़की 'वागदत्ता' मान ली जाती थी और बड़े होने पर उसका विवाह उसी पूर्व-निर्धारित लड़के से कर दिया जाता था। दूसरा उपाय उच्च तथा मध्य जातियों में पर्दा-प्रथा का प्रचलन तेजी से किया गया। इसका उद्देश्य लड़कियों की गतिशीलता पर रोक लगाना था ताकि किसी भी रूप में इनका सम्बन्ध मुसलमानों से स्थापित न हो सके और उनके साथ विवाह की कोई सम्भावना उत्पन्न न हो। इस पर्दा-प्रथा का एक स्वाभाविक परिणाम यह हुआ कि कुछ समृद्ध परिवारों को छोड़कर हिन्दुओं में सामान्यतः स्त्री-शिक्षा का पूर्ण अभाव हो गया। इससे भी विवाह के सम्बन्ध में अपने स्वतन्त्र विचार

व्यक्त करने में लड़कियाँ एक प्रकार से असमर्थ हो गईं। तीसरा उपाय विधवाओं के पुनर्विवाह पर कठोर प्रतिबन्ध लगा दिये गए। इसको प्रभावशाली बनाने के लिये इस प्रतिबन्ध के साथ अनेक धार्मिक तथा नैतिक विचारों को जोड़ दिया गया था। इन सबका परिणाम यह हुआ कि उस युग में कुछ नीची जातियों को छोड़कर अन्य लोगों में विधवा-विवाह का विचार ही जाता रहा था, फिर भी यह आशंका की जाती थी कि विधवाओं के पुनर्विवाह को रोकने के ये नियम कुछ मामलों में शायद असफल रहें; विशेषकर जबकि लड़की युवती और सुन्दरी है और उसे शासक-वर्ग के परिवार में उपलब्ध सुख एवं ऐश्वर्य का प्रलोभन दिया जाता है। इस सम्भावना को भी समाप्त करने के लिये एक चौथा उपाय सती-प्रथा के आदर्श को और भी बढ़ा-चढ़ाकर प्रस्तुत किया गया। इसके अन्तर्गत स्त्रियों के दिल और द्विभाग में यह बात भर दी गई कि मृत-पति की चिता में जलकर मर जाना पत्नी के लिये सबसे पुण्य का कार्य है और इससे-सीधे स्वर्ग की प्राप्ति होती है। बहुत-सी स्त्रियों ने इस आदर्श को सहर्ष स्वीकार किया और धीरे-धीरे यह प्रथा एक ऐसी कठोर रुढ़ि के रूप में विकसित हो गई कि जो विधवाएँ अपने मृत-पति के साथ सह-मरण के लिये तैयार नहीं होती थीं उनको जबरदस्ती इस कार्य के लिये बाध्य किया गया।

संक्षेप में हम कह सकते हैं कि मुसलमानों के साथ हिन्दू लड़कियों के विवाह-सम्बन्ध रोकने के लिये तथा रक्त की 'कल्पित' शुद्धता और स्त्रियों के सतीत्व की रक्षा करने के लिये इस युग में बाल-विवाह-प्रथा तथा सती-प्रथा को अत्यधिक व्यापक रूप से प्रचलित किया गया और दूसरी ओर पर्दा-प्रथा को अपनाकर उनकी गतिशीलता पर रोक लगाई गई। विधवा-विवाह के सम्बन्ध में व्रत कठोर नियम बने।

हिन्दूधर्मशास्त्र के निर्देशानुसार उस समय प्रचलित बाल-विवाह का आदर्श तो इतना प्रभावशाली प्रतीत हुआ कि मुसलमानों ने भी इसे अपनाया। वास्तव में मुसलमानों में इसके प्रचलन का कारण यह था कि भारत के अधिकतर मुसलमान मूलतः हिन्दू ही थे और वे मुसलमान बन जाने के बाद भी बाल-विवाह सम्बन्धी अपनी पुरानी प्रथा को न छोड़ सके। फलतः मुसलमानों में भी बाल-विवाह का प्रचलन हो गया। उनके कानून ने इस प्रकार के विवाहों को स्वीकार कर लिया। इस सम्बन्ध में यह भी उल्लेखनीय है कि हिन्दुओं की भाँति कुछ मुसलमानों में दहेज की तरह दूर-मूल्य-प्रथा का भी प्रचार हो गया। परन्तु इसका प्रचलन बहुत ही सीमित है, फिर भी मुसलमानों की वैवाहिक संस्था पर हिन्दुओं की संस्कृति का यह भी एक प्रभाव है।

सामाजिक जीवन के अन्य पक्षों पर प्रभाव

(Impact on other aspects of Social Life)

(क) संयुक्त परिवार—इस्लाम का हिन्दुओं के परिवार के स्वरूप पर कोई उल्लेखनीय प्रभाव नहीं पड़ा। अधिकतर हिन्दू जनता गाँवों में ही निवास करती थी और वहाँ संयुक्त परिवार की ही प्रधानता थी। नगरों में भी आबादी आज जैसी घनी नहीं थी और न ही मकान और स्थान की कमी थी। इसलिये नगरों में भी संयुक्त परिवार बसाना कठिन न था। दूसरी ओर चूँकि अनेक हिन्दू धर्म-परिवर्तन द्वारा मुसलमान बन गये थे इस कारण हिन्दुओं के पारिवारिक जीवन की अनेक विशेषताएँ मुसलमानों के पारिवारिक जीवन में प्रवेश कर गईं। इनमें संयुक्त परिवार

प्रथा भी एक थी जिसे कि मुसलमानों ने अपने सांस्कृतिक प्रतिमान में सम्मिलित कर लिया।

(ख) वेश-भूषा—वेश-भूषा में भी हिन्दू और मुसलमान संस्कृतियों का समन्वय हुआ। मुसलमानों का चूड़ीदार पाजामा तथा अचकन या घेरखानी को हिन्दुओं ने अपना लिया। इनका प्रचलन विशेषकर ऊँची स्थिति वाले राजपूतों तथा कायस्थों में हुआ। मुसलमानों ने हिन्दुओं की पगड़ी को अपनी वेश-भूषा में अपनाया।

(ग) भोजन—मुसलमानों के आने के पूर्व मांसाहारी हिन्दुओं की संख्या बहुत कम थी। परन्तु मुसलमानों के आने के बाद से मांस, मछली, अण्डा आदि का प्रचलन बढ़ता गया, विशेषकर उन हिन्दुओं में जिनका मुसलमानों से घनिष्ठ सम्बन्ध था। मुसलमानों ने भारत में अनेक प्रकार की मिठाइयों को प्रचलित किया जैसे बालूशाही कलाकन्द, गुलाब जामुन, बर्फी, हलवा, इमरती, जलेबी आदि।

(घ) शिक्षा—शिक्षा पर यह प्रभाव पड़ा कि एक ओर पुरुषों में तुलनात्मक दृष्टि से शिक्षा का विस्तार हुआ और दूसरी ओर बाल-विवाह और पर्दा-प्रथा चरम सीमा पर होने के कारण स्त्रियों की शिक्षा बिल्कुल समाप्त हो गई।

स्थापत्य कला पर प्रभाव

(Impact on Architecture)

दिल्ली के सुल्तानों के समय से ही हिन्दू और मुसलमानों की स्थापत्य कला ने एक-दूसरे को प्रभावित करना शुरू किया। सुल्तानों को स्थापत्य कला से बहुत प्रेम था। जिस समय तुर्कों ने हमारे देश को जीता उस समय तक मध्य एशिया की विभिन्न जातियाँ स्थापत्य की एक विशिष्ट शैली विकसित कर चुकी थीं, जोकि वहाँ की स्थानीय शैलियों तथा ट्रान्स-ऑक्सियाना, ईरान, अफगानिस्तान, मैसेपोटामिया, मिस्र, उत्तरी अफ्रीका, दक्षिण-पश्चिमी यूरोप के देशों तथा मुस्लिम अरेबिया की शैलियों के सम्मिश्रण से बनी थीं और इस स्थापत्य कला की मुख्य विशेषतायें गुम्बज, ऊँची मीनारें, मेहराब तथा तहखाना थीं। इसी शैली को तुर्क विजेता अपने साथ भारत में लाए थे और यहाँ पर आने के बाद इसी शैली का भारतीय स्थापत्य कला के साथ समन्वय हुआ। इस समन्वय के तीन प्रमुख कारण थे—

(1) विदेशी शासकों को भवन-निर्माण कार्य में भारतीय कारीगरों को लगाना पड़ा, जिन्होंने कि स्वाभाविक ढंग से हिन्दुओं की स्थापत्य कला को ही भवन-निर्माण में प्रयुक्त किया। हिन्दू स्थापत्य कला की मुख्य विशेषता पतले तथा चौकोर खम्भे, पुष्ते, नोकदार तथा कन्टीलीवर-सिद्धान्त पर बनी हुई मेहराबें तथा सजावट की डिजाइनें थीं और इनको यहाँ के कारीगरों ने विदेशियों की स्थापत्य कला के साथ मिला दिया जिससे कि एक ऐसी स्थापत्य कला का जन्म हुआ जो न तो पूर्णतया विदेशी थी और न शुद्ध देशी।

(2) प्रारम्भिक तुर्क विजेताओं ने यहाँ के हिन्दू तथा जैन मन्दिरों को पहले नष्ट किया और फिर उन्हीं की सामग्री से अपनी मस्जिदों, महलों और-यहाँ तक कि कब्रों का भी निर्माण किया। इस प्रक्रिया में भी दोनों शैलियों का स्वाभाविक रूप में समन्वय हो गया।

(3) मुसलमान विजेताओं ने नए सिरे से मस्जिद आदि बनाने के स्थान पर केवल हिन्दू तथा जैन मन्दिरों की चौरस छतों को तोड़कर उनके स्थान में गुम्बज तथा मीनारें बनाकर उन्हें मस्जिदों का रूप दे दिया। सर जॉन मार्शल के मतानुसार

हिन्दू मन्दिरों तथा मुस्लिम मस्जिदों में एक समानता यह थी कि दोनों में ही एक खुला आंगन होता था जिसके चारों ओर कमरे तथा स्तम्भों की पंक्तियाँ खड़ी होती थीं। इस विशेषता के कारण मन्दिरों को मस्जिदों में बदलना बहुत सरल था और दिल्ली के सुल्तानों ने यही किया।

चित्रकला पर प्रभाव

(Impact on Paintings)

चित्रकला में भी तुर्की, ईरान तथा प्राचीन भारतीय शैलियों, का समन्वय हुआ। मुसलमान बादशाह स्वयं ही कलाप्रिय थे। बाबर स्वयं एक चित्रकार था और अपनी मातृभूमि के पुस्तकालय से टियूराइड चित्रकारी के बहुत-से उत्तम नमूने अपने साथ ले आया था। उसी प्रकार हुमायूँ ने ईरान से मीर सैयद अली तबरिजी और ख्वाजा अब्दुस्समद शीराजी नामक दो निपुण चित्रकारों को बुलाया था। अकबर को भी चित्रकार और शिल्पकारी का बहुत शौक था। अबुल फजल ने लिखा है कि अकबर के जमाने में शाही दरबार से सम्बन्धित सौ से भी अधिक बड़ी-बड़ी चित्रकारी संस्थाएँ चला करती थीं। अकबर के दरबार में 17 प्रमुख चित्रकार थे। उनमें मीर सैयद अली, अब्दुस्समद, फरखबेग और जमशेद प्रसिद्ध ईरानी या विदेशी चित्रकार थे। हिन्दू चित्रकारों में दसवन्त, बसावन, सांवलदास, ताराचन्द्र, मुकुन्द, हरीवंश और जगन्नाथ प्रमुख थे। ये कलाकार मनुष्यों के चित्र बनाने, पुस्तकों को चित्रित करने तथा पशुओं आदि के चित्र बनाने में बहुत ही निपुण थे। इन चित्रकारों से अकबर ने 'चंगेज नामा', 'जफरनामा', 'रामायण', 'महाभारत' आदि ग्रन्थों के तथा बड़े-बड़े अमीरों के चित्र बनवाए। अकबर के समय में हिन्दू तथा चीनी-ईरानी चित्रकला के तत्त्वों का समन्वय देखने को मिलता है। प्रारम्भ में ईरानी प्रभाव अधिक था, पर बाद में वह धीरे-धीरे कम होता गया और भारतीय तत्त्वों की प्रधानता हो गई।

जहांगीर के समय तक मुगल चित्रकला का पूर्ण विकास हो चुका था। अबुलहसन, मंसूर, मुहम्मद नादिर, विशनदास, गोवर्द्धन तथा मनोहर जहांगीर के दरबार के प्रसिद्ध चित्रकार थे। जहांगीर के चित्रकारों ने अकबर के काल के चित्रों से कहीं अधिक उत्तम प्रकार के चित्रों का सृजन किया। मनुष्यों के चित्र बनाने में विशनदास सिद्धहस्त थे जबकि फूल-पत्तियों एवं पशु-पक्षियों के चित्र बनाने में मंसूर और मनोहर की अत्यधिक ख्याति थी। जहांगीर के काल में धार्मिक चित्रों में इस्लाम धर्म-सम्बन्धी चित्रों का अभाव दृष्टिगोचर होता है क्योंकि इस्लाम धर्म चित्रकला का विरोधी है, अतः जहांगीर के समय में रामायण, महाभारत आदि हिन्दू-धर्म-ग्रन्थों के चित्रों को अंकित किया गया। उस समय बने मनुष्यों, पशुओं, वृक्षों, लतापुष्पों, पक्षियों आदि के सभी चित्र बहुत वास्तविक हैं। वास्तविकता या स्वाभाविकता उस समय की चित्रकला की सर्वप्रमुख विशेषता थी। इसकी दूसरी विशेषता रंगों का सुशुद्धपूर्ण समन्वय था। सुनहले, लाल, नीले, हरे, रुपहले आदि रंगों के उपयुक्त समन्वय के कारण चित्र बड़े सजीव बनते थे। जहांगीर के पश्चात् मुगल चित्रकला का पतन प्रारम्भ हुआ। शाहजहां की रचि स्थापत्य कला की ओर अधिक होने के कारण उन्होंने चित्रकला के विकास में कोई विशेष रचि नहीं ली। पर इस काल में भी चित्रकला की परम्परा बनी रही। जहांगीर के समय में धार्मिक देवी-देवताओं की बजाय वास्तविक मनुष्यों, पक्षियों, फूल और पत्तियों का चित्रण अधिक देखने को

मिलता है। इस समय की चित्रकला में ऊपर दिखने वाली सुन्दरता पर अधिक बल दिया गया।

संगीत पर प्रभाव

(Impact on Music)

परम्परागत दृष्टि से संगीत को इस्लाम में बुरा बताया गया था। लेकिन फारस में सूफियों के साथ मुसलमानों का सम्बन्ध होने पर और बाद में संगीत-प्रेमी हिन्दुओं के साथ भी सम्पर्क स्थापित होने के कारण उनके दृष्टिकोण में परिवर्तन हुआ। एक ओर सूफी लोग संगीत की आत्मा से ऊँचा उठाने तथा आध्यात्मिक उन्नति का एक उत्तम साधन समझते थे, दूसरी ओर हिन्दू लोग भी धार्मिक उत्सव के अवसर पर संगीत समारोह का आयोजन करते थे। वैसे भी संगीत का आकर्षण इतना प्रबल था कि पूर्ण रूप से उसका बहिष्कार नहीं किया जा सकता था। इसीलिए दिल्ली के सुल्तानों के समय में ही कुछ उल्लेखनीय गायक हुए जिनमें कवि अमीर खुसरो का प्रथम स्थान था। उन्होंने अपनी कुल कविताओं को भारतीय स्वरों में आबद्ध किया। कहा जाता है कि उन्होंने कुछ रागों का भी आविष्कार किया। कव्वाली, तराना आदि गीत, सितार, तबला आदि वाद्य, सरपरदा, जिल्फ़, खानगीरि आदि राग, साझमरा, आढ़ा चारताल, सूलफाक आदि ताल खुसरो के ही आविष्कार थे। अलाउद्दीन स्वयं संगीत का प्रेमी था। दक्खिन की विजय करके यह दक्खिनी भारत के कई संगीतज्ञों को अपने साथ ले गया था। मुसलमान शासकों की प्रचेष्टा से प्राचीन भारतीय तथा ईरानी संगीत कलाओं का समन्वय हुआ और एक नई शैली का जन्म हुआ। लोचन कवि की 'राग-तरंगिनी' इस काल की रचना है। लोचन का शुद्ध थाट आधुनिक काफ़ी से मिलता-जुलता था। मुसलमानों की उपस्थिति से प्रेरित भक्ति-आंदोलन का प्रभाव संगीत के विकास के लिये हितकर ही सिद्ध हुआ। चैतन्य, मीराबाई और तुलसीदास के उदाहरण से यह बात स्पष्ट हो जाती है : इसी समय में संकीर्तन और नामकीर्तन का प्रारम्भ हुआ।

सम्राट् अकबर के शासनकाल में भारतीय संगीत का विकास और भी तेजी के साथ हुआ। उनके शासनकाल में रागों के ऊपर विदेशी प्रभाव पड़ा जिसके फल-स्वरूप उत्तरी भारत के संगीत के रूप में परिवर्तन हुआ। सम्राट् अकबर को स्वयं संगीत से बहुत प्रेम था और इसीलिए उन्होंने संगीतज्ञों को प्रचुर संरक्षण प्रदान किए। 'आईने अकबरी' में कहा गया है कि अकबर के दरबार में 36 संगीतज्ञ थे। नायक बँजू, गोपाल, नौबत खाँ, तान तरंग खाँ, मसीत खाँ आदि उनमें प्रमुख थे। कृष्णभक्ति के केन्द्र वृन्दावन के हरिदास स्वामी अपने समय के सर्वश्रेष्ठ संगीतकारों में से थे। अकबर के दरबार के प्रसिद्ध संगीतज्ञ तानसेन उन्हीं के शिष्य थे। दरबारी कान्हड़ा, मिराँ-मल्हार, मिराँ की सारंग आदि नए राग आविष्कार करने का श्रेय तानसेन को ही था। ग्वालियर के राजा मानसिंह उस समय संगीत के प्रमुख आश्रयदाताओं में थे। गायन की ध्रुपद शैली की रचना का श्रेय उन्हीं को दिया जाता है। वैसे तो अकबर के समय में ध्रुपद गायन ही प्रमुख था लेकिन ख्याल गायन का भी प्रचार हो रहा था। जौनपुर के सुल्तान हुसैन शर्की ने विलम्बित ख्याल का आविष्कार किया। हुतलय का भी प्रचार उसी जमाने में हुआ। जहांगीर के प्रसिद्ध संगीतज्ञों में विलास खाँ, छतर खाँ, खुर्रमदार, मक्खू और हमजान के नाम उल्लेखनीय हैं। उसी प्रकार शाहजहाँ के भी दरबार में कई प्रसिद्ध संगीतकार थे।

लास खाँ, जगन्नाथ, दिरंग खाँ आदि इनमें प्रमुख थे। मोहम्मद शाह रंगीले (1719) अन्तिम मुगल सम्राट् थे। इनके दरबार के प्रसिद्ध गायक सदारंग और अदारंग के बनाए ह्याल आज भी प्रचलित हैं। हिन्दू और पारसी शैलियों के सम्मिश्रण से इस समय में गायन और संगीत की नई रीतियों का जन्म हुआ। इस प्रकार स्पष्ट है कि मुसलमानों तथा भारतीयों के सम्मिलित प्रयत्नों से संगीत के क्षेत्र में उल्लेखनीय प्रगति हुई जिसकी परम्परा आज भी स्पष्ट है।

ईसाई धर्म—एक संक्षिप्त परिचय

(Christianity—A Short Introduction)

ईसाई धर्म का आदि स्थान प्राचीन पैलेस्टाइन है। इस धर्म को महात्मा ईसा (Jesus Christ) ने प्रतिपादन किया था। उन्होंने ईश्वर की एकता तथा उसकी सर्व-वत्सलता एवं निष्पक्षता को लोगों के सामने रक्खा और प्रेम, कृष्ण, मानव-सेवा, अहिंसा, त्याग और परोपकार का सन्देश दिया। उन्होंने अपने धर्म के माध्यम से सन्तप्त संसार, दुःखी और असहाय जनता के लिए नवीन आशा और जीवन का सन्देश दिया। उन्होंने घोषणा की—“तुम गरीब धन्य हो क्योंकि ईश्वर का राज्य तुम्हारा ही है। इस समय जो लोग भूखे हो सो धन्य हो क्योंकि भविष्य में तुम्हीं को सन्तुष्टि मिलेगी। तुम रोने वाले धन्य हो क्योंकि तुम ही तो हँसोगे।” ईसा मसीह ने दुःखी और असहाय जनता को समझाया कि “सम्पदा में विश्वास करने वाले लोगों का ईश्वर के राज्य में प्रवेश पाना बहुत कठिन है। सुई के छेद में ऊँट का प्रवेश होना वास्तव में बहुत कठिन काम है। परं सुई के छेद में ऊँट का प्रवेश करना ईश्वर के राज्य में धनिकों के प्रवेश पाने से कहीं अधिक सुगम है।” उन्होंने उपदेश दिया, “अपने दुश्मनों को प्यार करो। जो तुमसे घृणा करते हैं, उनसे तुम नम्रता का बर्ताव करो। जो तुम्हें अभिशाप देते हैं, उन्हें तुम वरदान दो और जो तुम्हें गाली देते हैं, उनके लिए दुआएँ करो।.....अपने को पहचानो और अपने शत्रुओं को भी प्यार करो, उन्हें सहायता दो। कभी निराश मत होवो, तुम्हें इसका पुरस्कार अवश्य ही प्राप्त होगा।” ईसा मसीह के अनुसार, “ईश्वर गरीब का है और वह उसी को प्यार करता है। ईश्वर धन और पद देखकर पक्षपात नहीं करता। वह तो प्रेम का भूखा है।” अतः सबसे प्रेम करो—सबके प्रति यह प्रेम-भाव ही ईश्वर-प्रेम में बदल जाएगा और तुम ईश्वर के राज्य में प्रवेश पाने के अधिकारी बन जाओगे।

इस धर्म के अनुसार प्रत्येक व्यक्ति ईश्वर से सीधा सम्पर्क स्थापित कर सकता है और इसके लिए पूजा-पाठ और विधि-निषेधों की कोई आवश्यकता नहीं है। इसीलिए ईसाई धर्म मूर्तिपूजा का विरोधी है। ईसा मसीह का उपदेश है कि एक ईश्वर में विश्वास करो। उसके प्रति एकनिष्ठ और दृढ़ विश्वासी बनो। सबके प्रति सदा सच्चे और ईमानदार बनो। कष्ट और तकलीफों के समय सबका साथ दो। दुःख और सुख में सदा मुस्कराते रहो।

ईसा मसीह के अनुसार सभी मनुष्य उसी परम पिता परमेश्वर की सन्तान हैं और सभी आपस में भाई-भाई हैं तथा समान हैं। उन्होंने ईश्वर के प्रति सेवा, श्रद्धा और प्रेम-भाव की शिक्षा दी और दीन-दुर्वलों व निःसहाय प्राणियों की सेवा को धार्मिक आचार का एक महत्वपूर्ण अंग बताया। अपने अनुयायियों को बर्म के पथ पर रखने तथा उन्हें भ्रष्ट होने से बचाने के लिये ईसाई धर्म उनके सामने अपने ‘दस आदेशों’

(Ten Commandments) को प्रस्तुत करता है जिनके द्वारा मनुष्य के केवल व्यक्तिगत जीवन पर ही नियन्त्रण नहीं किया गया अपितु स्वस्थ सामाजिक सम्बन्ध स्थापित करने के लिए भी आवश्यक निर्देश दिया गया। ईसाई धर्म का परम्परागत रूप कैथोलिक मत है जबकि उसी का आधुनिक रूप प्रोटेस्टेण्ट मत है जिसके अनुसार 'कर्म ही पूजा है' (Work is Worship)। इन दोनों ही मतों को मानने वाले भारत में पाए जाते हैं।

ईसाई धर्म का प्रभाव (Impact of Christianity)

ईसाई धर्म के सामाजिक प्रभावों का उल्लेख करते हुये डॉ० यादव ने लिखा है कि ईसाई धर्म-प्रचारकों ने इस देश के आधुनिकीकरण और नव-विकास में बड़ा योग दिया। शिक्षा के, विशेषकर स्त्री-शिक्षा के प्रचार व विस्तार के क्षेत्र में इनका कार्य बहुत महत्वपूर्ण है। इन्होंने पहले ईसाई धर्म के सन्देशों के प्रचारार्थ मुद्रणालय खोले और हिन्दी, बंगाली, तेलगू, मलयालम, कन्नड़ आदि भाषाओं में बाइबिल के अनुवाद तथा अनेक पत्र-पत्रिकाएँ निकालीं। इससे प्रादेशिक भाषाओं की उन्नति हुई। इन सबके फलस्वरूप विशेषकर अंग्रेजी शिक्षा के प्रसार के फलस्वरूप, लोगों के सामाजिक और राजनीतिक दृष्टिकोण परिवर्तित होने लगे तथा देश में नवीन जागृति आने लगी। प्रायः एक सौ वर्षों से ईसाई धर्म-प्रचारक तथा धार्मिक संस्थाएँ जन-कल्याण व जन-सेवा के कार्य करती रही हैं। हरिजनों तथा अनेक भारतीय जनजातियों (tribes) की सांस्कृतिक उन्नति के लिये ईसाई धर्म-संस्थाओं ने महत्वपूर्ण कार्य किए हैं। कुछ तथाकथित 'अछूत' जातियों को ईसाई धर्म में दीक्षित कर उनकी आर्थिक और सामाजिक स्थिति में भी सुधार ला दिया। ईसाई धर्म के सम्पर्क में तर्कपूर्ण तथा आलोचनात्मक दृष्टिकोण के विकसित होने के कारण धार्मिक अन्धविश्वासों और रूढ़ियों का अन्त होने लगा। भौतिकवाद तथा बुद्धिवाद के प्रभाव के कारण धार्मिक विधियों तथा कर्मकाण्डों का खण्डन होने लगा और कुछ लोगों में धर्म के प्रति श्रद्धा भी कम हो गई। अनेक लोगों ने ईसाई धर्म भी अपना लिया। पर ईसाई धर्म का एक उल्लेखनीय प्रभाव यह रहा कि इसके प्रभाव के कारण कुछ धर्म व समाज-सुधारकों ने हिन्दू धर्म के दोषों को दूर करने के उद्देश्य से नए धार्मिक सम्प्रदायों को विकसित किया। राजा राममोहन राय ने बंगाल में जिस ब्रह्म समाज की स्थापना की वह विशेषतः ईसाई धर्म के सिद्धांतों पर ही आधारित था। ईश्वर एक है तथा सब व्यक्ति समान हैं और आपस में भाई-भाई हैं—ये इस संस्था के प्रमुख सिद्धांत थे। इसने जाति-प्रथा और मूर्ति पूजा का विरोध किया तथा सभी धर्मों के सद्गुणों को अपनाने का आदेश दिया। ब्रह्म समाज के ही समान बम्बई में 'प्रार्थना समाज' की स्थापना सन् 1867 में हुई। ब्रह्म व प्रार्थना समाज के सदस्यों ने स्त्री-शिक्षा, विधवा-पुनर्विवाह तथा अन्तर्जातीय विवाह का खुले आम प्रचार किया। ब्रह्मसमाजी पाश्चात्य धर्म तथा आदर्शों से इतना अधिक प्रभावित थे कि हिन्दू समाज ने उन्हें स्वीकार नहीं किया और बंगाल में ये ब्रह्मसमाजी हिन्दू समाज से अलग हो गए। उसी प्रकार ईसाई धर्म के प्रभावों के प्रति भारतीय प्रतिक्रिया के फलस्वरूप भी कुछ प्रमुख सुधारवादी आंदोलनों का जन्म हुआ। स्वामी दयानन्द सरस्वती द्वारा सन् 1875 में 'आर्य समाज' की स्थापना उन्हीं आंदोलनों में से एक था। स्वामी दयानन्द प्राचीन

और अर्वाचीन युगों के आदर्शों के बीच एक सेतु की तरह थे। उनका उद्देश्य प्राचीन भारतीय आदर्शों को फिर से जाग्रत करना था। परन्तु इन प्रयत्नों के पीछे पाश्चात्य दर्शन, धर्म तथा विचारों का पर्याप्त योगदान रहा है। उसी प्रकार यह ईसाई धर्म व आदर्श का ही प्रभाव था कि स्वामी विवेकानन्द जी ने वेदान्त की एक नवीन और वास्तविक व्याख्या करते हुए धर्म से दूर न जाकर भी धर्म के आधार पर ही भारत को समानता, प्रेम और भ्रातृभाव का एक नया पाठ पढ़ाया। ईसाई धर्म में कहा गया है, “अपने को पहचानो और पड़ोसी से प्रेम करो” (Know thyself, love thy neighbour)। स्वामी विवेकानन्द जी इसी को और विस्तृत रूप में इस प्रकार कहा है, “पुराना धर्म यह कहता है कि वह नास्तिक है जो ईश्वर पर विश्वास नहीं करता, पर नया धर्म यह कहता है कि वह महानास्तिक है जो अपने-आप पर विश्वास नहीं करता।” अतः सर्वप्रथम अपने-आपको पहचानो तो फिर ईश्वर को भी पहचान सकोगे क्योंकि जाग्रत ईश्वर मन्दिर में नहीं, तुम्हारे ही हृदय में रहता है।

जनजातीय जीवन पर प्रभाव (Impact on Tribal Life)

ईसाई धर्म का प्रभाव केवल विकसित (advanced) भारतीयों के जीवन पर ही नहीं, अपितु जनजातीय जीवन पर भी उल्लेखनीय रूप में पड़ा। यह प्रभाव ईसाई मिशनरियों या पादरियों के क्रियाकलापों के माध्यम से देखने को मिला। इन ईसाई मिशनरियों ने अपने कार्य की सुविधा के लिये जो सड़कें आदि बनवाईं, उससे बाहरी संस्कृति से सम्पर्क की प्रक्रिया और भी बढ़ गई। इसका फल यह हुआ कि जनजातियों की ललितकला, धार्मिक विचार व संस्कार आदि धीरे-धीरे परिवर्तित होने लगे। मिशनरियों ने जनजातीय क्षेत्रों में अनेक स्कूल खोले एवं इन स्कूलों में शिक्षा देने के साथ-साथ जनजातीय बच्चों में ईसाई धर्म के उपदेशों का भी खूब प्रचार किया गया। इस प्रकार बचपन से ही उनके जीवन व विचारों को ईसाईपन की ओर मोड़ने का प्रयास किया गया।

ईसाई मिशनरियों के कार्यों के कारण जनजातीय जीवन में अनेक सामाजिक परिवर्तन और समस्याएँ उत्पन्न हुईं। युवागृह की अवनति, मादक वस्तुओं का सेवन, पोशाक से सम्बन्धित समस्याएँ और साथ ही व्यभिचार इन्हीं मिशनरियों के सम्पर्क में आने से बढ़ा। जिन लोगों ने ईसाई धर्म स्वीकार कर लिया, वे लोग कम-से-कम गिरजाघरों में अंग्रेजी पोशाक पहनकर जाने लगे और घर में भी अंग्रेजों की भाँति रहने का प्रयत्न करने लगे। इस प्रकार जनजातीय जीवन में विलासिता को श्रीगणेश इन्हीं ईसाई मिशनरियों के कारण हुआ। आज इसी कारण उनके समाज में काँति-वर्धक औषधियाँ, पाउडर, क्रीम, लिपिस्टिक, तेल इत्यादि की माँग दिन-प्रतिदिन बढ़ती जा रही है।

ईसाई मिशनरियों ने जनजातियों के प्रदेशों में अनेक चिकित्सालय स्थापित किए हैं। परन्तु इस पवित्र कार्य का भी उद्देश्य जनजातियों को ईसाई बनाना था। मध्य प्रदेश सरकार द्वारा प्रकाशित रिपोर्ट में ऐसे अनेक उदाहरण दिए गए हैं जिनमें रोगियों पर ईसाई बनने के लिए दबाव डाले गए। ईसाई मिशनरियों ने असहाय और अनाथ बच्चों का पालन-पोषण करने के लिये अनेक अनाथालय खोले और साथ ही बाढ़, अकाल, मूकम्भ आदि विपत्तियों के समय में उनकी मदद भी की।

समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण से ईसाई प्रचारकों के कार्यों का सबसे महत्वपूर्ण प्रभाव यह है कि जनजातियों में ईसाई धर्म का प्रचार हुआ जिसके कारण उनके सांस्कृतिक और सामाजिक जीवन का विघटन आरम्भ हुआ। इस कारण यह है कि धर्म-परिवर्तन केवल धर्म के बदलने तक ही सीमित नहीं है। इसका प्रभाव धर्म बदलने वाले के आचार-विचार, व्यवहार, प्रथा, परम्परा व रहन-सहन भी पड़ता है, जिसका परिणाम यह होता है कि वह व्यक्ति अपने सांस्कृतिक समूह से विच्छिन्न हो जाता है। जो गोंड या भील ईसाई धर्म को स्वीकार कर लेते हैं वे स्वभावतः ही अपने को अपनी जनजाति के अन्य व्यक्तियों से पृथक् व भिन्न समझने लगते हैं। एक ही जनजाति में नहीं अपितु एक ही परिवार में ईसाई और गैर-ईसाई में भेद होने लगा जिससे सामाजिक विघटन ही नहीं, पारिवारिक विघटन भी प्रारम्भ हो गया।

ईसाई मिशनरी सबसे पहले जनजातीय समाज को मुद्रासहित आर्थिक व्यवस्था से मुद्रासहित आर्थिक व्यवस्था में ले आये, अर्थात् उनमें मुद्रा का प्रचलन किया, जिसका उनके आर्थिक और सामाजिक जीवन पर उल्लेखनीय प्रभाव पड़ा है। इसी मुद्रा-व्यवस्था की आड़ में जनजातीय समाजों में शोषक वर्ग, छोटे-छोटे व्यापारिक तथा मादक वस्तुओं के विक्रेता, उधार देने वाले महाजनों आदि ने प्रवेश किया और जनजातीय लोगों की दयनीय आर्थिक व्यवस्था को और भी दयनीय बना दिया। मुद्रा के प्रचार के कारण ही जनजातियों में सामुदायिक सहयोग की भावना का ह्रास हुआ, अनेक व्यक्ति गौकरी की खोज में अपने गाँव छोड़कर चले गये जिससे पारिवारिक सम्बन्ध में अस्थिरता आ गई और रुपये का ही लालच दिखाकर बाहर के लोगों ने जनजातियों की स्त्रियों को अनैतिक कार्यों के लिये बाध्य किया। अंग्रेजी शिक्षा के प्रसार से जनजातीय लोगों में भी शिक्षित बेकारी की समस्या उग्र हो गई। इस प्रकार ईसाई मिशनरियों के क्रियाकलापों ने भारतीय जनजातीय जीवन के प्रायः प्रत्येक पहलू को प्रभावित किया।

भारतीय समाज पर ईसाई धर्म व पाश्चात्य संस्कृति के सामाजिक प्रभावों का विस्तृत विवेचन हमने अध्याय 30 ('भारत में पश्चिमीकरण') में किया है।

26

आधुनिक सामाजिक सुधार आन्दोलन

[Modern Social Reform Movements]

भारत का इतिहास बहुत पुराना है और उतना ही पुराना है भारत में सुधारवादी आन्दोलन का इतिहास। यदि हम भारत में होने वाले सामाजिक सुधारों के इस इतिहास का सावधानीपूर्वक अध्ययन करें तो हमें पता चलेगा कि समाज की कुरीतियों को सुधारने के सम्बन्ध में इस देश के लोग भी कभी की अन्य देशों के लोगों से पिछड़े हुए नहीं थे। हाँ, हो सकता है कि प्राचीन एवं मध्ययुग का सुधारवादी आन्दोलन वर्तमान सुधारवादी आन्दोलन से बिल्कुल भिन्न हो, पर यह नहीं था कि सुधार के प्रति लोगों की रुचि प्राचीन एवं मध्य युग में न हो। प्राचीनकाल में इसका स्वरूप पारस्परिक सहायता-दान और विश्व-प्रेम के रूप में था। धर्म में भी इस सम्बन्ध में अनेक उपदेश व निर्देशों का समावेश था। डॉक्टर आर० सी० मजमूदार ने लिखा है, “राजा, व्यापारी, जमींदार और अन्य सहायक संगठन अपने साधनों के अनुसार धर्म के पवित्र कार्य के लिये सहायता करने में एक-दूसरे से आगे बढ़ने का प्रयास करते थे।”¹ इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि प्राचीन काल में सुधारवादी आन्दोलन का एक धार्मिक रूप था।

कुलवाक जातक के अनुसार बौद्धकाल में बोधिसत्व के द्वारा समाज-सुधार का काम शुरू किया गया था। युवावस्था में ही उन्होंने गाँव के तीस व्यक्तियों को अपने चारों ओर एकत्र किया और उनको जनता की भलाई व समाज-सुधार के कार्य करने के लिये प्रेरणा दी। उसी प्रकार कौटिल्य के अर्थशास्त्र के अध्ययन से यह पता चलता है कि मौर्य युग में समाज-कल्याण व सुधार का काम गाँव-पंचायतों के द्वारा होता था।

13वीं शताब्दी के बाद भारतीय जनसंख्या में मुसलमान भी सम्मिलित हो गए। कुछ मुगल शासकों ने जाति-पाँति व धर्म के भेदभाव को बुरा करार दिया और उसे दूर करने के लिये प्रयत्नशील हुये, परन्तु कुछ मुसलमान शासकों ने इस्लाम धर्म को प्रधानता दी जिसके फलस्वरूप हिन्दुओं में एक असुखता की भावना पनपी। इसका चरम रूप 18वीं शताब्दी में देखने को मिला।

यदि हम 18वीं शताब्दी के भारतवर्ष का विश्लेषण करें तो हमें ज्ञात होगा कि वह समय अत्यन्त अन्धकारपूर्ण तथा निराशाजनक था। मुगल सिंहासन हिल चुका था और प्रान्तों में विद्रोह की आग भड़क रही थी। ऐसे समय में अंग्रेज भारतीयों की

1. Dr. R. C. Majumdar, *Social Work in Ancient and Medieval India* 1961, p. 22.

आपसी फूट तथा दुर्बलता से लाभ उठाकर इस देश में अपना राज्य कायम कर बैठे तथा आर्थिक व राजनीतिक रूप में उन्होंने भारत का खूब क्षोषण किया। भारतीय समस्याओं और प्रगति के प्रति अंग्रेजों की उदासीन नीतियों के फलस्वरूप उस समय सामाजिक, धार्मिक या सांस्कृतिक क्षेत्र में अव्यवस्था फैली हुई थी। भारतीय समाज अनेक कुप्रथाओं और कुसंस्कारों का शिकार बना हुआ था, लोगों में धार्मिक अन्धविश्वासों की प्रधानता थी और तर्क व विज्ञान से कम सम्पर्क। भारतीय समाज व संस्कृति अंधकार में भटक रही थी। इन सब दशाओं को देखकर 19वीं शताब्दी के कुछ अग्रगण्य भारतीयों ने इस अव्यवस्था को सुधारने के लिये कदम उठाया। उनके प्रयत्नों के फलस्वरूप ही आधुनिक समय में भारत में समाज-सुधार-आन्दोलन का सूत्रपात हुआ परन्तु इस आन्दोलन के सम्बन्ध में कुछ वर्णन करने से पहले स्वयं समाज-सुधार या सामाजिक सुधार के अर्थ को समझ लेना आवश्यक है।

सामाजिक सुधार का अर्थ

(Meaning of Social Reform)

सामाजिक व्यवस्था एक गतिशील व्यवस्था है, न कि एक जड़ या स्थिर व्यवस्था। इसका तात्पर्य यह है कि समाज की व्यवस्था में एक प्रकार की 'गति' (movement) होती है। इस गति के दौरान समाज केवल अच्छे तत्वों को ही नहीं बल्कि बुरे तत्वों को भी अपने में समेट लेता है। ये अच्छे तत्व सामाजिक प्रगति के कारण बन जाते हैं और बुरे तत्व सामाजिक समस्या के रूप में प्रकट होते हैं और समाज के शरीर पर फोड़ों की भाँति रहकर उसे कष्ट देते रहते हैं और उसकी स्वाभाविक गति को रोकते हैं। समाज को स्वस्थ बनाने के लिये इन "फोड़ों" को चीर फाड़ कर समाप्त कर देने की आवश्यकता होती है। समाज को स्वस्थ व प्रगतिशील बनाने के इस कार्य को ही समाज-सुधार या सामाजिक सुधार कहते हैं और जो इन कार्यों को करते हैं उन्हें सामाजिक सुधारक कहकर पुकारा जाता है। स्मरण रहे कि समाज के 'फोड़े' वास्तव में सामाजिक कुरीतियाँ या कुप्रथाएँ धार्मिक अन्धविश्वास, सामाजिक भेदभाव आदि होते हैं और इनकी प्रकृति प्रत्येक समाज तथा प्रत्येक युग में अलग-अलग होती है। इसीलिये इन्हें दूर करने या समाप्त करने के लिये किये गये प्रयत्न भी सभी समाजों में तथा सभी युगों में एकसमान नहीं हुआ करते। इस दृष्टिकोण से यह कहा जा सकता है कि सामाजिक सुधार एक गतिशील अवधारणा (dynamic concept) है।

अतः समाज-सुधार वह गतिशील कार्य का प्रयत्न है जो सामाजिक कुप्रथाओं, धार्मिक अन्धविश्वासों, सामाजिक-सांस्कृतिक भेदभाव आदि को दूर करने के लिये सामूहिक या व्यक्तिगत रूप में किया जाता है और जिसका कि उद्देश्य सामाजिक विकास के किसी भी चरण में समाज के अन्तर्गत व्यक्ति, परिवार एवं समूह के जीवन को अधिक स्वस्थ व प्रगतिशील बनाना है।

समाज-सुधार और समाज-कल्याण में सम्बन्ध (Relationship between Social Reform and Social Welfare)—समाज-सुधार तथा समाज-कल्याण में पारस्परिक सम्बन्ध अत्यन्त घनिष्ठ है। वास्तव में समाज-सुधार का कार्य समाज-कल्याण के पथ को प्रशस्त करता है। समाज-सुधार का सीधा सम्बन्ध उन सामाजिक कुप्रथाओं, रूढ़ियों आदि से होता है जोकि मानवीय साधनों को निर्वल बनाकर समाज के कल्याण के पथ पर रोड़ा बन जाती हैं। समाज-सुधार के कार्यों द्वारा इस बाधा को

या तो समाप्त किया जाता है या उसके प्रभाव को कम किया जाता है। इसके फल-स्वरूप एक ऐसे स्वस्थ जनमत का निर्माण होता है। या निर्माण होने के लिये एक ऐसा अनुकूल वातावरण उत्पन्न हो ता है जिसके अन्तर्गत समाज-कल्याण का कार्य सरल हो जाता है। वैसे समाज-कल्याण का अन्तर्गत विस्तृत है क्योंकि वह सामाजिक सेवाओं और प्रयत्नों का वह संगठित रूप है जिसके द्वारा जनता का सर्वांगीण, कल्याण सम्भव हो। समाज सुधार मुख्यतः सामाजिक कुरीतियों, धार्मिक अन्धविश्वासों तथा सामाजिक भेदभाव को दूर करने का प्रयत्न करता है जोकि अन्तिम रूप में समाज-कल्याण-कार्य का ही एक अनिवार्य अंग बन जाता है। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि समाज-सुधार तथा समाज-कल्याण का सम्बन्ध आन्तरिक तथा आवश्यक है।

भारत में सामाजिक सुधार आन्दोलन की सहायक अवस्थाएँ (Favourable Conditions for Social Reform in India)

(1) आधुनिक यातायात तथा संचार के साधन सहायक कारकों में प्रथम थे। अंग्रेजों ने इस देश में अपने व्यापार तथा वाणिज्य को सुचारु रूप से व्यवस्थित करने के लिये आवागमन के साधनों, तार, टेलीफोन, समुद्री जहाज और अन्य साधनों को विकसित किया। इसके फलस्वरूप अंग्रेजों को पर्याप्त आर्थिक व राजनीतिक लाभ तो हुआ, पर साथ ही इनसे भारत के विभिन्न प्रदेशों की पारस्परिक दूरी दिन-प्रतिदिन घटती गई और सम्पूर्ण भारत में शान्ति तथा राजनीतिक एकता स्थापित हो गई। इससे समाज-सुधार-आन्दोलन चलाने में सहायता मिली क्योंकि अशान्ति व अव्यवस्था के बीच समाज-सुधार की आवश्यकता के प्रति लोगों का ध्यान अधिक आकर्षित नहीं किया जा सकता। साथ ही, आधुनिक यातायात व संचार के साधनों के विकसित हो जाने से समाज-सुधारकों के लिए दूर-दूर के लोगों के विचारों से परिचित होना व उससे लाभ उठाना तथा अपने विचारों को दूर-दूर तक फैलाकर सुदृढ़ जनमत का निर्माण करना सरल हो गया।

(2) पाश्चात्य संस्कृति व आदर्श इस दिशा में दूसरा प्रमुख कारक था। भारत का पाश्चात्य देशों के साथ सम्पर्क बढ़ने के कारण भारतीयों में पश्चिमी संस्कृति तथा ज्ञान-विज्ञान का प्रसार हुआ। इसके फलस्वरूप अनेक भारतीयों की आँखें खुल गई और वे समाज-सुधार-आन्दोलन में भाग लेने लगे। उसी प्रकार, भारत में कुछ अंग्रेज विद्वानों, जैसे सर्वथी डविड हेयर (David Hare), कैरी (Carry), मैकलि (Macaulay) आदि के विचारों से हमारे देश में एकाधिक लोगों के सामाजिक, राजनीतिक तथा धार्मिक विचारों पर बड़ा महत्वपूर्ण प्रभाव पड़ा और उनमें समाज-सुधार की आवश्यकता के प्रति एक प्रकार की जागरूकता का प्रसार हुआ।

(3) ईसाई मिशनरियों के प्रभाव को भी भारतीय समाज-सुधार-आन्दोलन के विकास में अस्वीकार नहीं किया जा सकता। उन्नीसवीं शताब्दी में अनेक मिशनरी यूरोप, कनाडा, अमेरिका आदि से भारत में आए, जिनका मुख्य उद्देश्य इस देश में ईसाई धर्म का प्रचार करना था। इस उद्देश्य को पूरा करने के लिये यह आवश्यक था कि वे भारतीयों के निकट सम्पर्क में आते और उन्हें अपनी सेवाओं द्वारा अत्यधिक प्रभावित करते। इसके लिये उन लोगों ने इस देश के विभिन्न भागों में विद्यालय, चिकित्सालय तथा अनाथालय आदि खोले। इसके दो प्रभाव हुए। प्रथम तो यह कि समाज-सुधार के महत्व को अनुभव किया गया। दूसरा प्रभाव यह हुआ कि ईसाई

मिशनरियों के धर्म सम्बन्धी प्रचारों को भारत के सच्चे सपूत सहन न कर सके और देश के धर्म, विशेषकर हिन्दू धर्म, की रक्षा के लिये एक नवीन आन्दोलन आरम्भ किया, जिसका उद्देश्य हिन्दू धर्म की अच्छाइयों को नए ढंग से जनता के सम्मुख रखना तथा उन्हें भारतीय गौरव की महानता का ज्ञान करवाना था।

(4) भारतीय छापेखानों की प्रगति को इस देश के समाज-सुधार-आन्दोलन को विकसित या विस्तृत करने में महत्वपूर्ण कारण माना जा सकता है। अंग्रेजी शासन-व्यवस्था कायम हो जाने के बाद भारत में छापेखानों का विकास तेजी से हुआ। फलतः समाज-सुधार-कार्य अधिक सरल हो गया क्योंकि इन्हीं छापेखानों की बजह से जो अनेक पत्र-पत्रिकाएँ तथा पुस्तकें प्रकाशित होना आरम्भ हुईं उनके द्वारा भारतीयों को जगाने में काफी सहायता मिली। भारतीय समाज-सुधारकों के विचार देश के कोने-कोने में फैलने लगे और दूर-दूर के देशों तक से उनके विचारों को लेकर उनसे भी जनता को परिचित कराना सम्भव हुआ।

(5) सामाजिक कुप्रथाओं की बहुलता ने भी सुधारकों का ध्यान इस ओर आकर्षित करने में सहायता दी। आधुनिक समाज-सुधार-आन्दोलन जिस समय प्रारम्भ हुआ, उस समय भारत में सती-प्रथा से लेकर देव-दासी प्रथा तक और धार्मिक अन्ध-विश्वासों से लेकर जातीय भेदभाव तक अपने कटु रूप में भारतीयों के जीवन को जर्जरित कर रहे थे। समाज की प्रगति रुक-सी गई थी। इसलिये आवश्यकता इस बात की थी कि इस जड़ता को दूर करने के लिए कुछ प्रयत्न किये जाते। समाज-सुधार-आन्दोलन इन्हीं सबका परिणाम था।

सामाजिक सुधार आन्दोलनों का सामाजिक परिवर्तन लाने में महत्व (Importance of Social Reform Movements in bringing Social Changes)

सामाजिक परिवर्तन लाने में सामाजिक सुधार आन्दोलनों के महत्व को आज कोई भी अस्वीकार नहीं करता है और इसीलिए इस बात पर बल दिया जाता है कि कल्याणकारी समाज में सामाजिक सुधार आन्दोलनों की अत्यन्त आवश्यकता है। इसके समर्थन में निम्नलिखित तर्क प्रस्तुत किया जा सकता है।

एक कल्याणकारी समाज वह है जोकि अपने समस्त नागरिकों की सर्वांगीण उन्नति और विकास को अपना लक्ष्य मानते हुए समानता के आधार पर उनके उचित न्यूनतम जीवन-स्तर को बनाए रखने में सफल हो। पर यह सफलता तभी मिल सकती है जबकि सामाजिक जीवन को जर्जरित करने वाले सामाजिक कुप्रथाओं, धार्मिक अन्ध-विश्वासों, सामाजिक-सांस्कृतिक भेदभाव आदि से सर्वप्रथम समाज को विमुक्त किया जाए। यह काम सामाजिक सुधार-कार्यों के माध्यम से ही सम्भव है। भारतीय उदाहरणों द्वारा इस बात को और भी स्पष्ट किया जा सकता है। भारतवर्ष में आज भी कभी-कभी सती होने का समाचार मिलता है, विधवा-पुनर्विवाह का आज भी लोग दिल से स्वागत नहीं करते हैं, बाल-विवाह खूब होता है, जातिवाद का डंका भी मजे से बज रहा है, पर्दा-प्रथा का प्रचलन आज भी है, दहेज लेना प्रतिष्ठा का एक विषय बन गया है, अस्पृश्यता को केवल कानून बनाकर दूर करने में हम असफल रहे हैं, नशाखोरी आज भी चालू है और धार्मिक अन्धविश्वासों से हम आज भी विमुक्त नहीं हो पाए हैं। ये सभी परिस्थितियाँ हमें व हमारी प्रगति को निरन्तर पीछे की ओर

खींच रही हैं और राष्ट्रीय पुनर्निर्माण के कार्यों में बाधा की सृष्टि कर रही हैं। अतः राष्ट्र के हित में सामाजिक आन्दोलनों द्वारा इन बाधाओं को दूर करने की आवश्यकता आज हम अनुभव करते हैं और इन बाधाओं को दूर किए बिना न तो राष्ट्रीय पुनर्निर्माण सम्भव है और न ही कल्याणकारी समाज की स्थापना। अतः सामाजिक सुधार आन्दोलनों का महत्व व आवश्यकता दोनों ही अत्यधिक हैं। निम्नलिखित विवेचना से यह बात और भी स्पष्ट हो जाएगी—

(1) सामाजिक परिवर्तन लाने में सामाजिक सुधार आन्दोलनों का एक महत्व यह है कि इसके द्वारा विधवा-पुनर्विवाह के अनुकूल जनमत को विकसित किया जा सकता है और ऐसा हो जाने से भारत में पाई जाने वाली 2-32 करोड़ विधवाओं को जीवन में फिर से बसाना सम्भव होगा और वे भी निश्चित होकर राष्ट्रीय पुनर्निर्माण-कार्य में अपना योगदान कर सकेंगी।

(2) समाज सुधार आन्दोलन का एक और महत्व यह है कि इसके द्वारा बाल-विवाह प्रथा को रोका या कम किया जा सकता है। काफी कम आयु में विवाह इस देश में होते हैं। ऐसे विवाहों को सामाजिक आन्दोलन द्वारा रोकने से एक ओर लड़कियों के व्यक्तित्व का उचित विकास सम्भव होगा और दूसरी ओर, जोकि बहुत ही महत्वपूर्ण है, जनसंख्या की समस्या, जोकि समस्त राष्ट्र को आज अत्यधिक पीड़ित कर रही है, का भी हल हो सकेगा।

(3) सामाजिक सुधार आन्दोलन का एक महत्व दहेज-प्रथा को दूर करने से सम्बन्धित है। सुधार आन्दोलन के द्वारा ही दहेज के दुष्परिणामों के सम्बन्ध में लड़कों के माता-पिता को जागरूक किया जा सकेगा।

(4) जातिवाद राष्ट्रीय एकता के लिए घातक है। इस घातक अवस्था को दूर करने के क्षेत्र में सुधार-कार्य का अपना महत्व है। इसे दूर करने के लिए जन-शिक्षा व जनमत की जागृति आवश्यक है और यह काम सुधार आन्दोलन के द्वारा ही सम्भव है।

(5) तथाकथित अस्पृश्य जातियों की जो दयनीय स्थिति भारत में सदियों से बनी रही है उससे तो प्रत्येक भारतवासी परिचित है। आज उनकी अवस्था में काफी सुधार हुआ है और यह सम्भव हुआ है महात्मा गांधी द्वारा चलाए गए अस्पृश्यता निवारण सम्बन्धी आन्दोलन के ही फलस्वरूप। भविष्य में भी इस दिशा में हमें जो कुछ भी सफलता प्राप्त होगी उसमें भी सामाजिक सुधार आन्दोलन का ही महत्व प्रमाणित होगा।

(6) अन्तर्जातीय विवाहों के लिए अधिक अनुकूल वातावरण को विकसित करके राष्ट्रीय एकता व सद्भावना को बढ़ाने के लिए, नशाखोरी के दुष्परिणामों के सम्बन्ध में लोगों को शिक्षित करने के लिए तथा धार्मिक संकीर्णता व साम्प्रदायिकता के पंजों से देशवासियों को छुड़ाकर नवभारत के निर्माण के लिए हमें सामाजिक आन्दोलन के महत्व को स्वीकार करना ही होगा। निम्नलिखित विवेचना से सामाजिक परिवर्तन लाने में सामाजिक सुधार आन्दोलनों का महत्व और भी स्पष्ट हो जाएगा।

सामाजिक सुधार आन्दोलन व सामाजिक परिवर्तन (Social Reform Movement and Social Change)

भारत में विभिन्न सामाजिक सुधार आन्दोलनों के फलस्वरूप अनेक सामाजिक

परिवर्तन हुए हैं। इन परिवर्तनों का क्षेत्र सती-प्रथा की समाप्ति से लेकर हरिजनों की दलित स्थिति में परिवर्तनों तक फैला हुआ है। उन्हीं परिवर्तनों की एक रूपरेखा यहाँ प्रस्तुत कर रहे हैं—

1. सती-प्रथा की समाप्ति—सती-प्रथा जैसी अमानवीय प्रथा की समाप्ति राजा राममोहन राय तथा ईश्वरचन्द्र विद्यासागर जैसे समाज-सुधारकों द्वारा चलाए गए आन्दोलनों का ही परिणाम है। इन आन्दोलनों के कारण ही एक अच्छा परिवर्तन हमारे सामने आया है और सती-प्रथा आज 'न' के समान है। हम तो यह जानते ही हैं कि सती-प्रथा के अन्तर्गत विधवाओं के प्रति समाज का निर्देश है कि वे अपने पति के साथ उसी की चिन्ता में जिन्दा ही जलकर अपने जीवन का अन्त कर दें। पहले यह प्रथा इस देश में अत्यधिक उग्र थी, पर अब यह प्रायः समाप्त हो गई है। फिर भी समाचार-पत्रों में सती होने के समाचार कभी-कभी पढ़ने को मिलते हैं। यह एक अत्यन्त पाशविक प्रथा है जिसके अन्तर्गत विधवाओं की एक अर्थ में हत्या ही की जाती है। यह किसी भी समाज के माथे पर कलंक है कि वह नारी-हत्या को मान्य ठहराए। इस कारण इस सम्बन्ध में और व्यापक आन्दोलन की आवश्यकता है जिससे की सती-प्रथा का विलकुल ही खात्मा हो जाए और किसी भी रूप में इसे फिर दोहराया न जाए।

2. विधवा-पुनर्विवाह—विधवाओं के लिए फिर से विवाह करना हिन्दू समाज में मना है। अनेक धार्मिक तथा सामाजिक आधारों पर इसे उचित ठहराया जाता है। पर आज का कोई भी सम्य समाज इन आधारों को स्वीकार नहीं कर सकता। हिन्दू-परिवार में आज भी विधवाओं की जो दुर्दशा है, उसे वे लोग ही समझ सकते हैं जो ऐसे कुछ परिवारों को जानते हैं जिनमें विधवाएँ पलती हैं। परिवार में उनकी स्थिति एक दासी के समान होती है और साथ ही समस्त सामाजिक प्रतिबन्ध उन्हीं पर लादा जाता है। दूसरों की सेवा करना धर्म है, दूसरों की देख-रेख करना उनका कर्त्तव्य है और अपने समस्त सुख, आशा, आकांक्षा, अपने व्यक्तित्व का विकास करने की इच्छा, अपना एक घर बसाने की अभिलाषा आदि सबको त्याग देना ही उनका आदर्श है। इसका परिणाम यह होता है कि विधवाओं के व्यक्तित्व का विकास नहीं हो पाता है और वे समाज पर एक बोझ बनकर रह जाती हैं। बाल-विधवाओं की दशा और भी दयनीय है। यह अन्याय है कि उन बाल-विधवाओं को वैवाहिक व सामान्य जीवन के समस्त सुख और समृद्धि से वंचित किया जाए जोकि विवाह का अर्थ तक समझने से पहले विधवा हो गई हैं। अतः विधवाओं के पुनर्विवाह को प्रोत्साहित करने के लिए ब्रह्म समाज, आर्य समाज, गांधी जी आदि के द्वारा व्यापक आन्दोलन किया गया और इस स्थिति में परिवर्तन लाया गया है। सभी मानते हैं कि इस परिवर्तन की आवश्यकता है। यह क्यों आवश्यक है, इसका कारण शायद बताने की आवश्यकता नहीं है। विधवाओं की हृदयस्पर्शी अवस्था को देखते हुए, यौन-सम्बन्धी अनाचार को रोकने के लिए, वेश्यावृत्ति तथा धर्म-परिवर्तन को रोकने के लिए विधवाओं के व्यक्तित्व के विकास के लिए तथा उनके बच्चों को वर्गादी से बचाने के लिए विधवा-पुनर्विवाह परमावश्यक है।

3. बाल-विवाह कम होना—आज भी बाल-विवाह प्रथा का प्रचलन भारत में विशेषकर भारतीय गाँवों में, अत्यधिक है। इससे बाल-दम्पति के स्वास्थ्य पर बहुत बुरा प्रभाव पड़ता है, दुर्बल सन्तान उत्पन्न होती है, पति-पत्नी के, विशेषकर पत्नी

के, व्यक्तित्व का विकास नहीं हो पाता है। बच्चे को जन्म देते समय कम आयु की माताओं की मृत्यु अधिक होती है, कम आयु से बच्चा उत्पन्न होना शुरू हो जाने से जनसंख्या बढ़ती है, योग्य जीवन-साथी का चुनाव नहीं हो पाता है तथा बाल-विषवायों की संख्या भी देश में बढ़ती है। इन सब कारणों को देखते हुए ब्रह्म समाज, आर्य समाज आदि ने बाल-विवाहों को रोकने के लिए आन्दोलन चलाया और परिवर्तन लाने में कुछ सफल हुए।

4. पर्दा-प्रथा के प्रति मनोभाव में परिवर्तन—यह प्रथा भारतीय समाज की एक और कुप्रथा है और रोचक बात यह है कि इस प्रथा को सामाजिक प्रतिष्ठा के प्रतीक के रूप में सुप्रतिष्ठित कर दिया गया है। यही कारण है कि इसका प्रचलन भारत की उच्च जातियों में अधिकतर देखने को मिलता है। इस प्रथा का विशेषकर प्रचलन मुसलमानों के आने के बाद हुआ है और मुस्लिम स्त्रियों ने ग्रहण किया है। इस प्रथा की उपयोगिता उस जमाने में शायद कुछ रही हो, पर आज की दुनिया में तो यह बिल्कुल ही अचल है। पर्दा-प्रथा का तात्पर्य है स्त्रियों की गतिशीलता को रोकना और उन्हें परिवार की चारदीवारियों के बीच कैदियों के समान रहने को मजबूर करना। इससे स्त्रियों की शिक्षा बिल्कुल रुक जाती है और थोड़ी मर्यादा के लिए स्त्रियों के व्यक्तित्व का विकास नहीं हो पाता है। इतना ही नहीं, पर्दा-प्रथा से कुछ भयंकर रोग जैसे तपेदिक आदि का विस्तार स्त्रियों में होता है जोकि परिवार व समाज दोनों के लिए ही स्वयं एक समस्या है। इस कारण सामाजिक सुधार आन्दोलनों के माध्यम से इस बात की चेष्टा की गई है कि इस कुप्रथा को सुधारने के लिए क्रियात्मक कदम उठाए जाएँ तथा स्वस्थ जनमत का निर्माण किया जाए। फलतः पर्दा-प्रथा के प्रति लोगों के मनोभाव में आज स्पष्ट परिवर्तन देखने को मिलता है।

5. दहेज-प्रथा में परिवर्तन—भारतीय समाज, विशेषकर हिन्दू समाज जिन कुप्रथाओं का आज भी बुरी तरह शिकार है, उनमें से वर-मूल्य-प्रथा, जिसे लोकप्रिय शब्दों में हम दहेज-प्रथा कहते हैं, एक है। आज भी परिवार में लड़कियों को एक बोझ समझा जाता है, क्योंकि अधिकतर माता-पिता के लिए उस दहेज की रकम को जुटाना सम्भव नहीं होता है जिसे कि लड़कियों के विवाह के समय में उनको चुकाना पड़ता है। इस प्रथा के कारण अनेक लड़कियाँ आत्महत्या करके अपने माँ-बाप की 'दहेज के दानव' से रक्षा करती हैं। दहेज चुकाने के लिए लड़की के माता-पिता महाजन से ऋण लेते हैं अथवा अपनी सम्पत्ति को बेचते या गिरवी रखते हैं, जो माता-पिता उचित वर-मूल्य जुटा नहीं पाते हैं वे अपनी लड़कियों की शादी अयोग्य, बीमार या बूढ़े पुरुष के साथ ही कराकर अपना पीछा छुड़ाते हैं। दहेज की रकम कम होने पर ससुराल में बहू के ऊपर अनेक अत्याचार होते हैं और दो परिवारों में तनाव चलता रहता है। सामाजिक सुधार आन्दोलन द्वारा इस प्रथा के विरुद्ध जनमत का निर्माण करके इसको धीरे-धीरे समाप्त कर देने की दिशा में आज भी प्रयत्न जारी हैं।

6. जातिवाद की घटना—जातिवाद जाति-प्रथा से सम्बन्धित एक भयंकर सामाजिक भावना है जिससे प्रभावित होकर लोग अपनी जाति के हित के सम्मुख अन्य जातियों के सामान्य हितों की अवहेलना और प्रायः हनन करने को तैयार हो जाते हैं। मानव-भावनाओं का एक संकुचित रूप जातिवाद प्रजातन्त्र के विरोध का एक

है क्योंकि यह विभिन्न जातियों को एक-दूसरे से पृथक् करता है; यह श्रमिक-अकुशलता को बढ़ावा देता है क्योंकि नौकरियों की नियुक्ति जाति के आधार पर होती है, न कि कुशलता के आधार पर; जातिवाद से प्रेरित होकर अपनी जाति के सदस्यों को हर प्रकार की सुविधा प्रदान करने के लिये अनेक अनुचित और अन्याय उपायों का सहारा लिया जाता है, जिससे कि नैतिक पतन होता है; साथ ही जातिवाद के आधार पर विभिन्न जातियों के आपस में बँट जाने से राष्ट्रीय एकता तथा प्रगति में बाधा उत्पन्न होती है। इन कारणों को देखते हुए इस प्रथा को दूर करने के लिए सामाजिक सुधार आन्दोलन जारी है और इस दिशा में कुछ परिवर्तन भी हुए हैं।

7. अस्पृश्यता का अन्त—अस्पृश्यता भारतीय जाति-व्यवस्था पर एक काला धब्बा, सबसे बड़ा कलंक है। आज भी इसका भयंकर रूप हमें निरन्तर डरा ही रहा है। अस्पृश्य जातियों को परम्परागत रूप से छुना और देखना तक मना है, समाज में उनकी स्थिति सबसे नीची है। शिक्षा, धर्म पेशे का चुनाव आदि अनेक सामाजिक, धार्मिक तथा आर्थिक नियोग्यताओं का शिकार ये अस्पृश्य जाति के सदस्य हैं। आज भी भारत के गाँव में उनकी दशा सन्तोषजनक नहीं है। छुआछूत की भावना के कारण सामाजिक तथा राजनीतिक एकता स्थापित होने में बाधा उत्पन्न होती है, समाज का एक अच्छा-सा अंश अछूत बनकर इस प्रकार रह जाता है कि वह राष्ट्र की प्रगति में अपना योगदान नहीं कर पाता है; आर्थिक असमानता, निम्न स्वास्थ्य, अशिक्षा और दरिद्रता का शिकार बना रहता है। इन सबका फल यह होता है कि सम्पूर्ण समाज को नुकसान होता है। अतः, सुधार-आन्दोलन के द्वारा इस प्रकार के जनमत को बनाने का प्रयत्न किया गया है एवं किया जा रहा है जिससे अस्पृश्यता का उन्मूलन जल्दी ही हो सके। इस सन्दर्भ में गांधी जी द्वारा चलाया गया अस्पृश्यता उन्मूलन आन्दोलन विशेष रूप से उल्लेखनीय है।

8. अन्तर्जातीय विवाह को प्रोत्साहन—जाति द्वारा नियमित विवाह अन्तर्जातीय विवाह पर रोक लगाता है तथा अन्तर्विवाह का आदेश देता है जिसके अनुसार प्रत्येक व्यक्ति को अपनी ही जाति या उपजाति में विवाह करना पड़ता है। इस प्रथा का प्रभाव यह होता है कि समाज छोटे टुकड़ों में सदा के लिए बँटा रहता है। सामाजिक और राष्ट्रीय एकता में बाधा उत्पन्न होती है, दहेज-प्रथा को प्रोत्साहन मिलता है, योग्य-जीवन-साथी के चुनाव में कठिनाई उत्पन्न होती है। बाल-विवाह या विधवा-विवाह की समस्याएँ बढ़ती जाती हैं तथा एक ही सीमित समूह के अन्दर विवाह करने से उत्तम वंशानुक्रमण के गुण बच्चों में नहीं आ पाते हैं। इन सब कारणों के होने की वजह से यह आवश्यक है कि अन्तर्जातीय विवाह को प्रोत्साहित करने के लिए सामाजिक सुधार आन्दोलन चलाया गया है; फल भी अच्छा मिला है।

9. नशाखोरी पर रोक—भारतवर्ष एक ऐसा देश है जहाँ पर कि नशाखोरी को एक धार्मिक स्वीकृति मिली हुई है या यूँ कहा जा सकता है कि धर्म की आड़ में नशाखोरी के औचित्य को प्रस्तुत किया जाता है। गाँजा-भाँग का सेवन इसलिए किया जाता है कि उसे शंकर जी भी सेवन करते थे। इसलिए आज भी भारत के साधु लोगों में इसका बहुत प्रचार देखने को मिलता है। उसी प्रकार धार्मिक कार्यों के लिए भी शराब आदि का प्रयोग बहुत से समुदायों में प्रचलित है। नशाखोरी व्यक्तिगत जीवन को विषटित करती है, स्वास्थ्य पर बहुत बुरा प्रभाव डालती है, समाज में अपराध बढ़ते हैं, श्रमिकों की कार्यकुशलता घटती है और पारिवारिक

जीवन-नरक के समान हो जाता है। नशाखोरी, व्यक्ति तथा समाज दोनों के लिए ही, हानिकारक है। यही कारण है कि हम नशाखोरी के विरुद्ध सामाजिक सुधार आन्दोलन का समर्थन करते हैं। इस दृष्टि में आर्य समाज, रामकृष्ण मिशन तथा गांधी जी के प्रयत्न सराहनीय हैं।

10. धार्मिक अन्धविश्वास व आडम्बरों का कम होना—अन्त में सामाजिक सुधार आन्दोलन के अन्तर्गत धार्मिक अन्धविश्वासों व आडम्बरों को कम करने के प्रयत्न ब्रह्म समाज, आर्य समाज, प्रार्थना, समाज, रामकृष्ण मिशन तथा गांधी जी के द्वारा किए गए हैं और इस दिशा में वे परिवर्तन लाने में सफल भी हुए हैं। आज भी ऐसे अनेक अन्धविश्वासों के शिकार भारतवासी बने हुए हैं जिनके कारण राष्ट्रीय तथा अन्तर्राष्ट्रीय जीवन में हमें पर्याप्त हानि हो रही है। उदाहरण के लिये हड़डी मिली खाद को अनेक किसान धार्मिक आधारों पर प्रयोग में नहीं लाते हैं, चाहे उन्हें उससे कितनी ही हानि उठानी क्यों न पड़े। उसी प्रकार धार्मिक अन्धविश्वास के कारण ही स्वयं भारतीयों में ही सामाजिक विभेद और तनाव देखने को मिलता है। अतः इसे दूर करने की आवश्यकता है।

इस सम्बन्ध में यह उल्लेखनीय है कि उपरोक्त सामाजिक कुप्रथाओं को दूर करने के लिये विभिन्न सामाजिक विधान पारित किये जा चुके हैं। सती-प्रथा निषेध अधिनियम (1829) सती-प्रथा को दण्डनीय अपराध करार करता है, हिन्दू विधवा पुनर्विवाह अधिनियम-(1856) विधवाओं की पुनर्विवाह सम्बन्धी नियोग्यताओं को दूर करता है, बाल-विवाह निरोधक अधिनियम (1929) बाल-विवाह को रोकने के उद्देश्य से पारित किया गया है, विशेष विवाह अधिनियम (1954) अन्तर्जातीय विवाह की वैधानिक अड़चनों को दूर करता है, दहेज निरोधक अधिनियम (1958) विवाह की शर्त के रूप में दहेज लेने या देने को दण्डनीय अपराध मानता है और अस्पृश्यता अपराध अधिनियम (1955) अस्पृश्यता को बढ़ावा देने वालों को दण्ड देने की व्यवस्था करता है। यह सच है कि ये सब विधान पारित हो चुके हैं, फिर भी समाज-सुधार-आन्दोलन के द्वारा ही जनता के दृष्टिकोण और मनोभावों को एक स्वस्थ दिशा में मोड़कर समाज को इन कुप्रथाओं से मुक्ति दिलवाई जा सकती है; केवल विधान से ही काम नहीं चलता।

भारत में सामाजिक सुधार आन्दोलन का इतिहास (History of Social Reform Movement in India)

भारत में सामाजिक सुधार आन्दोलन का सूत्रपात उसी समय हुआ था जबकि भारत में मुसलमानों की शासन-व्यवस्था थी। मुसलमानों की शासन-नीति धर्म-निरपेक्ष नहीं थी, उन्होंने हिन्दुओं को मुसलमान बनाने का प्रयत्न किया। एक ओर, हिन्दू-धर्म और जाति का दबाव, और दूसरी ओर, मुस्लिम शासकों का दबाव, इन दोनों के बीच आम जनता की अवस्था बहुत ही संकटमय हो गई। ब्राह्मणों की रक्षात्मक प्रवृत्ति के कारण धर्म और जाति-प्रथा के नियम और भी कठोर हो गये। धर्म में कट्टरपन और अन्धविश्वास बढ़ा, बाल-विवाह और सती-प्रथा का प्रचलन तेजी से होने लगा, विधवा-पुनर्विवाह पर कठोर प्रतिबन्ध लगे और छुआछूत की भावना बढ़ी। अतः सुधार की आवश्यकता अनुभव की गई। कबीर, नानक, रामानन्द, चैतन्य आदि सन्तों ने 'भक्ति-आन्दोलन' चलाया जिसका कि उद्देश्य धर्म-सुधार के साथ-साथ समाज-सुधार करना भी था। इस प्रकार भारत में सामाजिक सुधार आन्दोलन में

अर्थिक-आन्दोलन ही प्रथम था, फिर भी इस सुधार-आन्दोलन का कोई स्थायी प्रभाव न पड़ा।

इसके बाद अंग्रेजों का शासन-काल आया। उस समय भी सती-प्रथा, बाल-विवाह, विधवा-पुनर्विवाह पर प्रतिबन्ध, छुआछूत की भावना आदि कुप्रथाओं से भारतीय समाज अत्यधिक पीड़ित था और सुधार-आन्दोलन को फिर से चालू करने की आवश्यकता थी। उस समय की कुछ सामाजिक-आर्थिक परिस्थितियों ने, जिनकी कि विवेचना हम पहले ही कर चुके हैं, इस आन्दोलन के विकास व विस्तार में मदद की; वे परिस्थितियाँ थीं आधुनिक यातायात तथा संचार के साधनों में उत्थति, पाश्चात्य संस्कृति और आदर्शों का प्रभाव, ईसाई मिशनरियों के क्रियाकलाप तथा छापेंखाने की प्रगति। इन परिस्थितियों से लाभ उठाकर भारत में सामाजिक सुधार आन्दोलन फिर से चल पड़ा। यह सुधार-आन्दोलन 19वीं शताब्दी में राजा राममोहन राय ने शुरू किया। राजा राममोहन राय ने विशेष रूप से सती-प्रथा, बाल-विवाह, विधवा-पुनर्विवाह से सम्बन्धित कुप्रथाओं के विरुद्ध सक्रिय आवाज उठाई। इतना ही नहीं, आपने मूर्तिपूजा तथा अन्य अन्धविश्वासों के विरुद्ध संघर्ष छेड़ दिया और 1815 में 'वेदान्त सूत्र' बंगाली में प्रकाशित किया। बाद में उन्होंने उपनिषदों का भी बंगाली तथा अंग्रेजी में अनुवाद किया और एक ही ईश्वर को मानने पर बल दिया। राजा राममोहन राय और श्री ईश्वरचन्द्र विद्यासागर महाशय के ही प्रयत्न थे जिनके फल-स्वरूप सन् 1860 में सबसे पहले बाल-विवाह को रोकने के लिये पहला अधिनियम पास हुआ जिसके अनुसार विवाह के समय कन्या की आयु कम-से-कम 10 वर्ष होनी चाहिये थी।

राजा राममोहन राय के साथ-साथ उस समय बंगाल में श्री ईश्वरचन्द्र विद्यासागर ने विधवा-विवाह सम्बन्धी आन्दोलन किया और कुछ विधवाओं का पुनर्विवाह भी करवाया। पंडित ईश्वरचन्द्र विद्यासागर के प्रयास से ही यह सम्भव हो सका कि सन् 1856 में 'हिन्दू विधवा-पुनर्विवाह अधिनियम' पास किया गया। 1887 में श्री शशिपद बनर्जी ने कलकत्ता के निकट बाहर नगर में एक 'विधवा आश्रम' खोला और सन् 1889 में पंडित रमाबाई ने बम्बई में विधवा स्त्रियों के लिए 'शारदा सदन' खोला। रमाबाई ईसाई थीं और अपने आश्रम की स्त्रियों को ईसाई बना लेती थीं। इसलिए सन् 1896 में श्री कार्वे ने हिन्दू विधवा आश्रम खोला।

राजा राममोहन राय का सबसे उल्लेखनीय कार्य सन् 1828 में ब्रह्म समाज की स्थापना थी। इस समाज की स्थापना उपनिषदों के आदर्शों को सम्मुख रखकर की गई थी। उनकी मृत्यु के बाद महर्षि देवेन्द्रनाथ टैगोर ने ब्रह्म समाज का संचालन करते हुए समाज-सुधार के आन्दोलन को चलाया और खुले रूप से वेद और वेदान्त का प्रचार करना शुरू किया। उन्होंने हिन्दू-समाज को सुधारने के हेतु बहुपत्नी विवाह का विरोध किया और विधवा-पुनर्विवाह व स्त्रियों की शिक्षा का समर्थन किया। ब्रह्म-समाज के संचालक के रूप में सुधार-आन्दोलन को चलाने वालों में श्री केशवचन्द्र सेन 'वामाबोधिनी' नामक पत्रिका प्रकाशित की तथा जाति-भेद को ठुकराकर अन्तर्जातीय विवाह का खुले आम प्रचार किया। आपके नेतृत्व में ब्रह्म समाज का सन्देश बंगाल के गाँव-गाँव में पहुँचा।

इसके पश्चात् सन् 1875 में स्वामी दयानन्द सरस्वती ने 'आर्य समाज' की

स्थापना की। इनका उद्देश्य न केवल हिन्दू धर्म को पुनर्जीवित करना था बल्कि जाति-पाँति के भेदभाव, अन्तर्जातीय विवाह के सम्बन्ध में प्रतिबन्ध, विधवा-पुनर्विवाह पर प्रतिबन्ध आदि के विरुद्ध भी क्रियात्मक आन्दोलन चलाना था। आर्य समाज स्वामी दयानन्द के आदर्शों के अनुसार आज भी इस देश के विभिन्न भागों में समाज-सुधार-कार्य चला रहा है।

सन् 1870 के ही लगभग बंगाल में स्वामी रामकृष्ण परमहंस और बाद में उनके ही शिष्य स्वामी विवेकानन्द के द्वारा समाज-सुधार-आन्दोलन चलाए गए। सुधार-आन्दोलन को और भी क्रियात्मक और ठोस रूप देने के लिये स्वामी विवेकानन्द जी ने मई सन् 1897 में 'रामकृष्ण मिशन' की स्थापना की जिसका उद्देश्य स्वामी रामकृष्ण की शिक्षाओं का वैदान्तिक धर्म के उजाले में प्रचार करना, विभिन्न धर्म के मानने वालों में मित्रता स्थापित करना, जाति-पाँति के भेदभाव को मिटाना और सम्पूर्ण पीड़ित मानव की सेवा करना था।

बंगाल के समाज-सुधारकों द्वारा अपनाए गए तरीकों का देश के अन्य भागों, विशेषकर बम्बई तथा महाराष्ट्र के लोगों ने अनुकरण किया। 'परमहंस सभा' के नाम से सन् 1849 में एक समाज बम्बई में बना जिसका उद्देश्य छुआछूत को मिटाना था। सन् 1860 में इस सभा का अन्त हो गया और उसकी जगह श्री केशवचन्द्र सेन द्वारा प्रेरित होकर एक नया समाज, जिसका कि नाम 'प्रार्थना-समाज' था, सन् 1867 में स्थापित हुआ। इसके उद्देश्य ब्रह्म समाज के अनुरूप मूर्तिपूजा तथा जाति-पाँति का विरोध करना, विधवाओं की पुनर्विवाह में सहायता करना, स्त्रियों में शिक्षा का प्रचार करना आदि-आदि थे। बम्बई के न्यायाधीश रानाडे (1842-1901) एक बहुत बड़े समाज-सुधारक थे। उन्होंने सन् 1861 में एक 'विधवा-विवाह-संघ' (Widow Marriage Association) की स्थापना की और बाद में प्रार्थना-सभा से अपना नाता जोड़ा। इसके बाद सन् 1887 में समाज-सुधार के लिए एक नया संगठन प्रारम्भ किया गया जिसका नाम 'भारतीय समाज सम्मेलन' (Indian Social Conference) रखा गया। इस सम्मेलन का काम बाल-विवाह को रोकना, दहेज-प्रथा को समाप्त करना, विवाहों की अवस्था की उन्नति करना, स्त्री-शिक्षा का प्रचार करना, सामाजिक शुद्धि तथा आत्मसंयम की शिक्षा देना, अन्तर्जातीय विवाह को प्रोत्साहित करना, अछूत वर्गों का सुधार करना तथा हिन्दू-मुस्लिम एकता को बढ़ाना आदि था। यह सम्मेलन श्री रानाडे की अध्यक्षता में सहायनीय कार्य करता रहा।

इसी समय समाज-सुधार के कुछ प्रयत्न मुस्लिम-समाज-सुधारक सर सय्यद अहमद खाँ के द्वारा भी हुए। सन् 1875 में उन्होंने एक शिक्षा संस्था की स्थापना की जोकि बाद में 'अलीगढ़ विश्वविद्यालय' के नाम से विख्यात हुई। सन् 1882 में पंडिता रमाबाई ने पूना में प्रार्थना-समाज के अन्तर्गत हिन्दू-स्त्रियों के समाज-सुधार के लिए 'आर्य महिला समाज' की स्थापना की।

बीसवीं शताब्दी में समाज-सुधार-आन्दोलन को नया रूप प्राप्त हुआ। श्री रानाडे की मृत्यु के पश्चात् श्री चन्द्रावरकर ने उनके कार्यों को संभाला। समाज-सुधार-कार्य को और भी क्तिरुत करने के लिए एक केन्द्रीय समाज-सुधार संघ की स्थापना की गई। सन् 1904 में भारतीय, सभी क्षेत्रों से, मुसलमान, सिक्ख, आर्यसमाजी, ब्रह्म-समाजी, बौद्ध और बुद्धिवादी, एक सम्मेलन में सम्मिलित हुए। इस सम्मेलन में देश-भर के सुधार संघों को एक सूत्र में बाँधने का निर्णय किया गया। सम्मेलन के महिला

वर्ग की बैठक श्रीमती रमाबाई रानाडे के संरक्षण में अलग की गई। सन् 1910 तक इसकी बैठकें लगातार होतीं रहीं। श्री बी० आर० शिन्दे द्वारा सन् 1909 में 'भारत दलित वर्ग मिशन समाज' (Depressed Classes Mission Society of India) की स्थापना बम्बई में शिक्षा-सम्बन्धी सुधार-कार्य करने के लिये की गई, जिसके अध्यक्ष श्री चन्द्रावरकर थे। इसी प्रकार की एक संस्था मद्रास में संगठित की गई है। उसी समय देश-भर में संयम समाज, विवाह-सुधार संघ, जिला तथा प्रान्तीय समाज-सुधार सम्मेलन आदि सम्पूर्ण देश में तेजी से स्थापित होने लगे।

सन् 1904 में धारवाड़ में हुए एक राजनैतिक सम्मेलन में श्री गोखले ने दलित वर्ग के कल्याणार्थ काम करने की अपथ ग्रहण की। सन् 1904 में 'सर्वेन्ट्स ऑफ इण्डिया सोसायटी' (Servants of India Society) की स्थापना हुई। यद्यपि इसका प्राथमिक उद्देश्य राजनीतिक था, फिर भी प्रारम्भ से ही इसके द्वारा समाज-सुधार, शिक्षा-सुधार तथा दलित वर्ग से सम्बन्धित अनेक सराहनीय सुधार-कार्य किए गए। सन् 1911 में श्री चन्द्रावरकर की अध्यक्षता में 'समाज-सेवा संघ' की स्थापना की गई। इस संघ ने बम्बई नगर की सामाजिक दशाओं को सुधारने के लिये कार्य किए। यह संघ बाद में 'सर्वेन्ट्स ऑफ इण्डिया सोसायटी' के साथ मिल-जुलकर कार्य करने लगा।

सन् 1906 और 1912 के बीच देश-भर में बहुत से हिन्दू विधवा आश्रमों की स्थापना हुई जिसमें मैसूर का विधवा-गृह (1907), कलकत्ता का शिल्प आश्रम (1907), बंगलौर का विधवा आश्रम (1910), ढाका का दत्ता विधवा आश्रम, मद्रास का ब्राह्मण विधवा छात्रावास (1912) विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं।

सन् 1909 में स्थापित भारत का दलित वर्ग सम्मेलन (Depressed Classes Conference) सन् 1910 में अखिल भारतीय स्तर पर प्रारम्भ किया गया। 'समाज सेवा सम्मेलन' (Social Service Conference) की पहली बैठक सन् 1917 में हुई। उसी वर्ष सन् 1917 में दो अंग्रेज महिलायें, डॉ० एनी बेसेन्ट और श्रीमती मारगरेट काउन्सिल ने मद्रास में 'महिलाओं के भारतीय संघ' (Women's Indian Association) की स्थापना की। इसके पश्चात् सन् 1955 में राष्ट्रीय स्तर पर 'महिलाओं की राष्ट्रीय सभा' (National Council of Women) की स्थापना की गई। अखिल भारतीय महिला सम्मेलन सन् 1927 में बनाया गया। इसके द्वारा बाल-विवाह, विधवा-विवाह, बहुपत्नी-विवाह, दहेज-प्रथा, स्त्री-शिक्षा आदि से सम्बन्धित सुधार-कार्य चालू किए गए।

जब राजनीतिक क्षेत्र में गांधीजी नेता बने तो सन् 1920 में उन्होंने हरिजन सुधार आन्दोलन को राष्ट्रीय आंदोलन का एक अभिन्न अंग घोषित किया। सन् 1922 में आपने अस्पृश्यता निवारण आंदोलन को चालू किया। हरिजन सेवक संघ, नयी तालीम संघ आदि की स्थापना गांधीजी के ही नेतृत्व का फल था। अपनी 'हरिजन' पत्रिका के माध्यम से गांधीजी ने इस प्रकार के जनमत का निर्माण करने का प्रयत्न किया जिससे छुआछूत, जातिवाद, पर्दा-प्रथा, स्त्री-शिक्षा, विधवा-पुनर्विवाह आदि से सम्बन्धित कुप्रथाओं का अन्त हो सके। अपने जीवन के अन्तिम दिन तक गांधीजी एक महान् सुधारक बने रहे और विशेष रूप से हरिजनों के उत्थान के लिये कलंकित करते रहे।

स्वतन्त्रता के पश्चात् कांग्रेस सरकार ने भारत को कल्याण-राज्य घोषित किया और समाज-सुधार के अनेक उत्तरदायित्वों को अपने ऊपर ले लिया। विशेष

विवाह अधिनियम, 1954', हिन्दू-विवाह तथा विवाह-विच्छेद अधिनियम, 1955', 'वैध निरोधक अधिनियम, 1969', 'अस्पृश्यता (अपराध) अधिनियम, 1955', तथा 'शिशुओं व कन्याओं का अनैतिक व्यापार निरोधक अधिनियम, 1956', भारत सरकार के द्वारा पारित कुछ ऐसे कानून हैं, जिनका प्रत्यक्ष उद्देश्य समाज-सुधार या सामाजिक कुप्रथाओं को रोकने का प्रयत्न करना है। समाज-कल्याण विभाग, राज्य तथा केन्द्रीय समाज-कल्याण मण्डल आदि भी ऐसी राजकीय संस्थाएँ हैं जोकि आज समाज-सुधार-कार्यों में सक्रिय भाग ले रही हैं। समाज-कल्याण मण्डल का प्रमुख कार्य समाज-सुधार के काम में लगी ऐच्छिक संस्थाओं को सहायता देना है। आशा की जाती है कि भविष्य में इस प्रकार की संस्थाओं का अधिकाधिक विस्तार होगा और देश में योग्य तथा निःस्वार्थ समाज-सुधारकों की संख्या में भी उत्तरोत्तर वृद्धि होती रहेगी तथा भारतीय समाज अधिक शीघ्रता से सामाजिक कुप्रथाओं, धार्मिक अन्धविश्वासों तथा जाति-व्यति के भेदभाव से अपने को विमुक्त कर सकेगा।

भारतीय समाज-सुधार-आन्दोलन के प्रमुख नेतागण

(Important Leaders of Indian Social Reform Movement)

उपरोक्त विवेचना से यह स्पष्ट है कि भारतीय समाज-सुधार-आन्दोलन में अनेक महान् व्यक्तियों ने भाग लिया है। उनमें कुछ नेताओं का वर्णन निम्न प्रकार से किया जा सकता है—

(1) राजा राममोहन राय

(Raja Rammohan Roy)

राजा राममोहन राय (1772-1833) एक ऐसे महान् व्यक्ति हुए हैं जिन्हें कि भारतीय सुधार-आन्दोलन का एक अद्वितीय नेता कहा जा सकता है। उस समय धर्म तथा ब्राह्मणों की प्रभुता और साथ ही जाति-नियम इतने कठोर थे कि अबहेलना करके भारत में सुधार-आन्दोलन को जन्म देना और एक विश्वधर्म की स्थापना करना राजा राममोहन राय जैसे महान् और विद्वान् व्यक्ति के ही लिये सम्भव था। उनके समय में प्रचलित सती-प्रथा के हृदयस्पर्शी दृश्य को देखकर राजा राममोहन राय इतने प्रभावित हुए कि उन्होंने इस प्रथा को समाप्त करने की शपथ ली और उन्हीं के प्रयत्नों के फलस्वरूप सती-प्रथा निषेध अधिनियम सन् 1829 में अंग्रेजी शासक विलियम बेण्टिक ने पास करवाया। सन् 1814 के बाद राजा राममोहनराय ने अपना धार्मिक कार्य कलकत्ता में आरम्भ कर दिया। उन्होंने मूर्तिपूजा का विरोध किया और धार्मिक अन्धविश्वासों के विरुद्ध आवाज उठाई। इतना ही नहीं, वेदान्तसूत्र तथा उपनिषदों का बंगला तथा अंग्रेजी में अनुवाद किया और यह प्रचार किया कि एक ही ईश्वर को मानना चाहिये। राजा राममोहन राय के विचारों से कुछ अंग्रेज इतने प्रभावित हुए कि उन्होंने ईसाई धर्म त्यागकर राजा राममोहन राय के विचारों को अपनाया। उन्होंने स्त्री-शिक्षा के प्रचार, स्त्रियों के अधिकार, पिछड़ी हुई जातियों की उन्नति, किसानों का उत्थान तथा काली और गोरी प्रजाति का भेद समाप्त करने के लिये विशेष रूप से प्रयत्न किए। आपने सन् 1828 में ब्रह्म समाज की स्थापना की तथा एक ईश्वर की पूजा करने पर बल दिया। इस कार्य को करने के लिए उन्होंने बड़ी खोज तथा विचार किया और 23 जनवरी, सन् 1830 को आप इस योग्य हो

गए कि उन्होंने First Temple of Universal Worship के द्वार सबके लिये खोल दिये। आपकी मृत्यु सन् 1833 में ब्रिस्टल में हुई।

(2) महर्षि देवेन्द्रनाथ ठाकुर

(Devendra Nath Tagore)

राजा राममोहन राय के बाद ब्रह्म समाज के संचालन का भार सन् 1845 में श्री देवेन्द्रनाथ ठाकुर (1817-1905) ने अपने ऊपर लिया और एक नई प्रेरणा तथा दृढ़ता इस समाज को प्रदान की। इससे भी पहले अक्तूबर 1839 में आपने एक तत्व-बोधिनी सभा की स्थापना की थी। इस सभा का लक्ष्य या सत्य की शिक्षा देना। प्रारम्भ में इसके केवल 10 सदस्य थे, पर बाद में सदस्य-संख्या उत्तरोत्तर बढ़ती रही। श्री ठाकुर 'तत्व-बोधिनी' मासिक पत्रिका के भी सम्पादक रहे। सन् 1847 में इस पत्रिका ने ऋग्वेद का अनुवाद प्रकाशित किया। 1845 में जब श्री देवेन्द्रनाथ ब्रह्म समाज के संचालक बने तो उन्होंने खुले रूप में वेद और वेदान्त का प्रचार करना प्रारम्भ किया। 1847 में श्री देवेन्द्रनाथ स्वयं चार ब्राह्मण विद्यार्थियों के साथ बनारस गए और वेदों के सम्बन्ध में पूर्ण सूचना प्राप्त की और 'ब्रह्म धर्म' नामक पुस्तक प्रकाशित करवाई। इसके पश्चात् आपने हिन्दू समाज को सुधारने के लिये समाज की शैथिल्य कुप्रथाओं और अन्धविश्वासों के प्रति लोगों का ध्यान आकृषित किया। आपने बहुपत्नी-विवाह का विरोध किया और विधवा-विवाह और स्त्री-शिक्षा का समर्थन और उसका प्रचार किया। ब्रह्म समाज में फूट पड़ने के कारण देवेन्द्रनाथ शान्तिनिकेतन आश्रम में चले गये। वहीं पर 1905 में उनका देहावसान हो गया।

(3) श्री केशवचन्द्र सेन

(Shri K. C. Sen)

ब्रह्म समाज द्वारा भारत में चलाए गए सुधार-आन्दोलन के एक और प्रमुख नेता श्री केशवचन्द्र सेन (1838-1884) थे। आपने सन् 1861 में ब्रह्म समाज के कार्य में अत्यधिक सक्रिय भाग लिया तथा अपने नवयुवक साथियों के साथ मिलकर 'संगत सभा' की स्थापना की। भारत में आम शिक्षा का प्रचार करने के हेतु उन्होंने अंग्रेजी सरकार को एक अपील भेजी। सन् 1861 में उन्होंने Indian Mirror नामक पत्रिका प्रकाशित की। इस पत्रिका के द्वारा आपने राजनीतिक और समाज-सुधार आन्दोलन को आगे बढ़ाया। सन् 1863 से उन्होंने स्त्रियों की अवस्थानों को सुधारने के हेतु 'वामाबोधिनी' नामक पत्रिका प्रकाशित की, जिसके द्वारा झूठे जाति-भेद को ठुकराकर अन्तर्जातीय विवाह का खुलेआम प्रचार किया। साथ ही ब्रह्म समाज का संदेश बंगाल के गाँव-गाँव में पहुँचा दिया गया। सन् 1864 में श्री सेन ने मद्रास का भ्रमण करके ब्रह्म समाज के आदर्शों का प्रचार किया। सन् 1865-66 में ब्रह्म समाज में कुछ आंतरिक मतभेद खड़े हो गये। श्री सेन ने जनवरी 1868 में 'भारतवर्ष ब्रह्म समाज' की स्थापना की। एक संकीर्ण पार्टी के द्वारा प्रभुतफेरी में गा-गाकर वह ईश्वर की प्रार्थना और ब्रह्म समाज का प्रचार करती थी। 20 जनवरी, 1883 को श्री सेन ने एक लेख द्वारा अपने विचार इस प्रकार प्रस्तुत किए, मैं एशिया का एक बालक हूँ, इसके सारे कुछ मेरे कुछ हैं तथा इसकी सारी प्रभुताएँ मेरी प्रभुताएँ हैं; एशिया के एक सिरे से दूसरे सिरे तक एक बहुत बड़ा परिवार है और उस परिवार के सभी लोग मेरे सम्बन्धी हैं।" श्री सेन ने कई पुस्तकें लिखीं, जिनमें हिन्दू, बौद्ध, ईसाई, इस्लाम और चीन

की धार्मिक पुस्तकों की अच्छी-अच्छी बातों का समावेश उन्होंने किया। वे बहुत बड़े सुधारक थे और इस सुधारक की मृत्यु 1884 में 46 वर्ष की अवस्था में हुई।

(4) स्वामी दयानन्द सरस्वती

(Swami Dayanand Saraswati)

आर्य-समाज के संस्थापक तथा भारतीय समाज-सुधार-आन्दोलन के महान् नेता स्वामी दयानन्द सरस्वती (1824-1883), जिनका कि मूल नाम मूनशंकर था, का जन्म 1824 में मोरवी नगर (गुजरात प्रदेश) में हुआ। 24 वर्ष की आयु में उन्होंने संन्यास लिया और उसके बाद देश के विभिन्न शहरों में घूमते हुए अपने उपदेशों से जनता को लाभान्वित किया। 1871 से 1173 तक आप गंगा के किनारे-किनारे घूमते तथा धर्म का उपदेश देते हुए पाठशालाओं का प्रबन्ध करते रहे। वे कलकत्ता भी गए और केशवचन्द सेन आदि समाज-सुधारकों से विचार-विनिमय करते रहे। 1874 में मयुरा और वृन्दावन में मूर्तिपूजा का खण्डन कठोर शब्दों में किया और अन्त में 1875 में बम्बई में आर्य-समाज की स्थापना की। सन् 1877 में उन्होंने पंजाब का भ्रमण किया और जगह-जगह पर आर्य-समाज की स्थापना की। स्वामी जी ने जाति-पाँति, बाल-विवाह, विधवाओं के पुनर्विवाह पर रोक, धर्म-परिवर्तित लोगों के लिए गृह-प्रवेश निषेध नीति आदि विषयों के विरोध में अपनी आवाज उठाई। राष्ट्रीय शिक्षा का भी एक कार्यक्रम बनाया गया। इन शिक्षा संस्थाओं के द्वारा आर्य समाज के मूल सिद्धान्तों तथा आदर्शों का प्रचार किया गया। इन शिक्षा संस्थाओं में नैतिक तथा चरित्रिक उन्नति करने के लिए विधवाओं के लिए विशेष उपदेशों की व्यवस्था की गई। इनमें अध्यापक भारतीय ही हो सकते थे तथा विद्यार्थियों को बहुत कम शुल्क में शिक्षा प्राप्त हो सकती थी। स्वामीजी के द्वारा स्थापित दयानन्द वैदिक शिक्षा संस्थायें आज भी देश के विभिन्न भागों में विशेषकर उत्तर प्रदेश तथा पंजाब में शिक्षा प्रसार के क्षेत्र में अपना महत्वपूर्ण योगदान दे रही हैं। स्वामीजी के प्रयत्नों के फलस्वरूप छुआछूत के विरुद्ध एक क्रियात्मक आवाज उठी। अनेक विधवाओं का पुनर्विवाह कराया गया तथा अन्तर्जातीय विवाहों को भी प्रोत्साहन मिला। सन् 1880 के लगभग स्वामीजी ने देश के प्रायः 50 से भी अधिक शहरों में आर्य समाज की स्थापना की। 30 अक्तूबर, सन् 1883, दिन मंगलवार को इस महान् विभूति का देहान्त हो गया।

(5) स्वामी विवेकानन्द

(Swami Vivekananda)

भारतीय समाज-सुधार-आन्दोलन के एक और महान् नेता स्वामी रामकृष्ण के योग्य शिष्य स्वामी विवेकानन्दजी (1863-1902) थे। आपकी ख्याति विशेष रूप से सन् 1893 में शिकागो में होने वाली धार्मिक सभा के होने के पश्चात् अत्यधिक बढ़ गई। वहाँ पर उनके वेदों की शिक्षा सम्बन्धी बातों को सुनकर अमरीका के लोगों को यह विश्वास हो गया कि स्वामी विवेकानन्दजी विश्व धार्मिक सभा में सर्व-और पश्चिम के लोगों को हिन्दू-धर्म तथा वेदों के विषय में बताया। उनके अनुसार ईश्वर एक है और वही पूर्ण सत्य तथा सर्वव्यापक है; वह प्रत्येक जीव में विद्यमान है। जब मनुष्य अपनी इन्द्रियों पर काबू कर लेता है तब वह पूर्ण हो जाता है और

भगवान् को पा लेता है। सम्पूर्ण संसार को चलाने वाली केन्द्रीय शक्ति ही धर्म हैं। धर्म के नाम पर जो लड़ाई-झगड़े होते हैं, वे मनुष्य की मूर्खता, गर्व तथा स्वार्थपरता के ही परिचायक हैं। इस प्रकार स्वामी विवेकानन्द ने एक विश्वधर्म के आदर्श को ही भारतीय तथा संसार के लोगों के सम्मुख रखा और इस बात पर बल दिया कि धर्म की समस्त संकीर्णता से समस्त मानव को जल्दी-से-जल्दी अपने को विमुक्त कर लेना चाहिए। स्वामीजी के विचारों से न केवल भारतवासी बल्कि पश्चिम के लोग भी इतने ज्यादा प्रभावित हुए कि उनके शिष्यों की संख्या दिन-प्रतिदिन बढ़ती ही गई। विदेशी शिष्यों में सिस्टर निवेदिता का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। स्वामीजी जाति-पाँति के भेदभाव और छुआछूत को बहुत ज्यादा बुरा मानते थे और यह चाहते थे कि विभिन्न धर्म और जाति में एकता और मित्रता स्थापित हो। साथ-ही साथ वेदान्त के आदर्शों का वह जनता के सम्मुख प्रस्तुत करना चाहते थे और सभी पीड़ित मनुष्यों की बिना किसी जाति या धर्म-भेद के सेवा करना ही उनकी शिक्षा का मूल तत्त्व था। इसी उद्देश्य से सन् 1897 में स्वामीजी ने रामकृष्ण मिशन की स्थापना की। इस मिशन के द्वारा उन्होंने धर्म की संकीर्णता दूर करने, बाढ़-पीड़ितों की सहायता, शिक्षा का प्रसार, चिकित्सालय, पशु-पालन गृह, अनाथालय, औद्योगिक स्कूल, सामान्य स्कूल तथा कॉलेज आदि की स्थापना के द्वारा शिक्षा तथा सेवा-भाव को देशवासियों में पुनर्जीवित करने तथा जाति-पाँति के भेदभाव को मिटाने का प्रयत्न किया।

(6) महात्मा गांधी

(Mahatma Gandhi)

गांधीजी (1869-1948) एक उच्चकोटि के राजनीतिज्ञ, दार्शनिक, विश्व-शिक्षक तथा समाज-सुधारक थे। डॉ. यादव के अनुसार, उनके जीवन तथा दृष्टिकोण में भारतीय संस्कृति की आध्यात्मिक मान्यताओं तथा पाश्चात्य संस्कृति के स्वस्थ आदर्शों का समन्वय मिलता है। वे एक ओर तो आत्मसंयम, आत्मत्याग, आध्यात्मिकता, सत्यदर्शन, अहिंसा, मानव-सेवा आदि भारतीय सांस्कृतिक आदर्शों के उज्ज्वल प्रतीक थे और दूसरी ओर स्वतन्त्रता, समानता, राष्ट्रीयता तथा मानववाद के पाश्चात्य विचारों के समर्थक थे। सन् 1920 के बाद गांधीजी के भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन में प्रवेश के पश्चात् राष्ट्रीय आन्दोलन एक जन आन्दोलन हो गया और उसी के साथ भारतीय सुधार-आन्दोलन को भी एक नई दिशा प्राप्त हुई। उन्होंने अपने को अस्पृश्यता-निवारण में अधिक रुचि लेने वाला घोषित किया और यह कहा कि जब तक अस्पृश्यता का पूर्णतया नाश नहीं हो जाता है तब तक भारतीय स्वतन्त्रता अर्थहीन है। सन् 1920 में गांधीजी के नेतृत्व में हिन्दू मन्दिरों में हरिजनों के द्वारा प्रवेश के सम्बन्ध में एक स्पष्ट राजनीतिक निर्णय कांग्रेस ने लिया। आपने जब-जब असहयोग आन्दोलन या सत्याग्रह किया, तब-तब सब जाति या धर्म के मानने वालों ने उनका साथ दिया। उनके नेतृत्व में सब जाति के लोगों के कन्धे-से-कन्धा मिलाकर काम करने के फलस्वरूप जाति-पाँति के भेदभाव कम होने लगे। गांधीजी ने अपने राष्ट्रीय आन्दोलन में हिस्सा लेने के लिये स्त्रियों को भी आमन्त्रित किया। इसके फल-स्वरूप स्त्रियों में पर्दा-प्रथा कम होने लगी तथा स्त्रियों से सम्बन्धित कुप्रथाओं जैसे बाल-विवाह, बहुपत्नी-विवाह, दहेज-प्रथा, विधवा-पुनर्विवाह पर रोक आदि के प्रति स्त्रियों में अधिक जागरूकता उत्पन्न हुई और पुरुषों ने भी उनका समर्थन किया।

सन् 1922 में अस्पृश्यता-निवारण के पवित्र कार्य को और भी शक्ति सब मिली जब प्रथम नागरिक अवज्ञा आंदोलन के पश्चात् गांधीजी ने देश के सामने बारादोली कार्य-क्रम रखा जिसमें पहला कार्यक्रम अस्पृश्यता-निवारण ही था। इसके पश्चात् गांधीजी आजीवन काल तक अस्पृश्यता-निवारण आंदोलन को चलाते रहे और बहुत-कुछ उन्हीं के प्रयत्नों का यह फल है कि आज हरिजनों को कम-से-कम वैधानिक तौर पर अन्य नागरिकों के समान प्रत्येक विषय में समान अधिकार मिल गये हैं तथा उनकी स्थिति में भी पर्याप्त उन्नति हुई है।

गांधीजी ने धार्मिक संकीर्णता को दूर करने के लिये धर्म को एक नए रूप में प्रस्तुत किया। गांधीजी का धर्म आत्मबोध है, आत्मज्ञान है। उनके अनुसार, धर्म वह आधार है जोकि हमारा परमसत्य से एकाकार कराता है, जो हृदय को निर्मल, निःस्वार्थ तथा पवित्र बनाता है, जोकि सबसे प्रेम करना सिखाता है और जोकि निर्बल का बल और सबल का मार्ग-दर्शक है। गांधीजी सत्य, अहिंसा के पुजारी थे और उसी आधार पर समाज-सुधार कार्यक्रमों को क्रियान्वित करना चाहते थे। उनका उद्देश्य सबकी भलाई थी, इसीलिये उन्होंने सर्वोदय आन्दोलन को चलाया। 'सर्वोदय' ऐसे वर्ग-विहीन, जातिविहीन और शोषण-विहीन समाज की स्थापना चाहता है जिसमें प्रत्येक व्यक्ति और समूह को सर्वांगीण विकास के साधन और अवसर मिलेंगे। गांधीजी ने लिखा है, "मेरे स्वराज्य का सपना गरीबों के स्वराज्य का है।"

गांधीजी जाति-प्रथा को बुरा नहीं मानते थे, बशर्ते कि यह प्रथा वर्ण-व्यवस्था के आदर्शों को अपना ले और एक-दूसरे का शोषण करने की बजाय दूसरों के साथ सहयोग की भावना पर आधारित हो।

गांधीजी ने स्त्रियों की स्थिति को सुधारने तथा उन्हें परम्परागत कुरीतियों का शिकार बनने से बचाने के लिये भी प्रयत्न किया। सन् 1940 के बाद 'हरिजन' पत्रिका में उन्होंने इस सम्बन्ध में अनेक लेखों को प्रकाशित किया, जिससे स्त्री-पुरुष में असमानता, बाल-विवाह, विधवा-पुनर्विवाह, देवदासी-प्रथा, दहेज-प्रथा आदि के विरुद्ध स्वस्थ जनमत का निर्माण हो सके। विधवा-पुनर्विवाह के सम्बन्ध में उन्होंने यह सुझाव रखा था कि प्रत्येक नवयुवक को यह ठान लेना चाहिये कि वह अपने विवाह में दहेज नहीं लेगा और विधवा से ही विवाह करेगा।

गांधीजी शिक्षा की वर्तमान पद्धति से भी सन्तुष्ट न थे, क्योंकि इससे शरीर, बुद्धि तथा आत्मा तीनों का समान विकास नहीं हो पाता है। इसीलिये गांधीजी ने 1937 में एक नई शिक्षा योजना, जिसे कि बेसिक शिक्षा कहते हैं, राष्ट्र के सम्मुख प्रस्तुत की। इस शिक्षा का आधार बेसिक हस्तकला है, मातृभाषा के माध्यम से इसे लागू किया जाता है और शिक्षा के दौरान विद्यार्थी को आत्मनिर्भरता, नागरिकता, अहिंसा, जाति-पाँति के भेदभाव से मुक्ति तथा स्वतन्त्रता के आदर्शों की शिक्षा दी जाती है।

गांधीजी ने नशाखोरी को बन्द करने के लिये भी अनेक प्रयत्न किए थे। नशाखोरी बन्द करने का आन्दोलन सन् 1926 में गांधीजी के ही नेतृत्व में शुरू हुआ था जिससे कि सन् 1937 में कांग्रेसी मन्त्रिमण्डल ने राजकीय सुधार कार्यक्रम का एक भाग बना लिया। आज भी सरकारी तथा गैर-सरकारी तौर पर यह आन्दोलन चल रहा है।

उपरोक्त विवेचना से यह स्पष्ट है कि सत्य, अहिंसा, शान्ति तथा मानव सेवा के आदर्शों को सामने रखते हुये गांधीजी ने धर्म, सामाजिक जीवन, जाति-प्रथा आदि से सम्बन्धित कुप्रथाओं और अन्धविश्वासों के विरुद्ध जो आंदोलन छेड़ा था वह आज भी सक्रिय रूप में चल रहा है और यह आशा की जाती है कि एक दिन भारतीय समाज इन सब कुप्रथाओं तथा रूढ़ियों से विमुक्त होकर प्रगति के पथ पर अत्यधिक द्रुत-गति से अग्रसर होगा। उसी दिन गांधीजी का राम-राज्य का सपना पूरा होगा।

भारत में सामाजिक सुधार आन्दोलन की संस्थायें (Institutions of Social Reform Movement in India)

भारतीय समाज-सुधार-आन्दोलन के नेतागणों के उपरोक्त विवरण से ही भारत में सुधारवादी आन्दोलन में योगदान देने वाली संस्थाओं के बारे में स्पष्ट आभास हो जाता है। फिर भी इन संस्थाओं का वास्तविक योगदान क्या और कितना था इसका भूल्यांकन करने के लिये उन संस्थाओं की अलग-अलग विवेचना करना भी आवश्यक है। इन सुधारवादी आन्दोलन की संस्थाओं का संक्षिप्त विवरण इस प्रकार है—

भक्ति-आन्दोलन (Bhakti Movement)

भारतीय परम्परा में मोक्ष के तीन मार्गों का उल्लेख है ज्ञानमार्ग, कर्ममार्ग और भक्तिमार्ग। मुसलमानों के भारतवर्ष में आने के पश्चात् जो नवीन परिस्थितियाँ उत्पन्न हुईं उनमें कुछ हिन्दू सन्तों ने भक्तिमार्ग पर अत्यधिक बल दिया और उनके संरक्षण में जिस भक्ति की लोकप्रिय परम्परा का विकास हुआ उसीको भक्ति-आन्दोलन के नाम से पुकारते हैं। इस आन्दोलन के दो प्रमुख उद्देश्य थे। एक तो यह कि इसके द्वारा उस समय हिन्दू-धर्म में उत्पन्न बुराइयों को दूर करने का प्रयत्न किया गया और साथ ही दूसरी ओर इन बुराइयों के दूर हो जाने पर यह आशा की गई कि हिन्दुओं का इस्लाम धर्म के प्रति झुकाव घट जाएगा और वे धर्म-परिवर्तन नहीं करेंगे। इस प्रकार इसका उद्देश्य हिन्दू-धर्म की रक्षा करना तथा सामाजिक, धार्मिक बुराइयों को दूर करना था।

भक्ति सम्प्रदाय के अनुसार ईश्वर महान् है। उस महान् ईश्वर से प्रेम करना चाहिये और प्रेम और भक्ति के सहारे उसके पास तक पहुँचना तथा उसको जानने का प्रयत्न करना चाहिये। प्रेम और भक्ति के सहारे ईश्वर पर भी विजय पाई जा सकती है। गीता में श्रीकृष्ण ने स्पष्ट ही कहा है कि भक्ति ही उन्हें सर्वाधिक प्रिय है। इसलिये भक्ति सम्प्रदाय के अनुसार भक्ति का मार्ग ही उत्तम है और भक्ति और प्रेम करने का अधिकार किसी विशेष जाति या समुदाय को नहीं है। इस मार्ग पर प्रत्येक व्यक्ति चल सकता है, चाहे वह ब्राह्मण हो या शूद्र। भगवान् को पाने के लिये बाहरी दिखावे या आडम्बर की आवश्यकता नहीं है। भगवान् के लिये सब समान हैं इसीलिये जाति-पाति का भेदभाव अन्यायपूर्ण है। प्रत्येक जाति का सदस्य भक्तिमार्ग का पथिक हो सकता है। साथ-ही-साथ भगवान् के सम्बन्ध में जानकारी प्राप्त करने के लिये या मोक्ष प्राप्त करने के लिये गृहस्थ जीवन का त्याग भी आवश्यक नहीं है। गृहस्थ जीवन में रहकर भी भगवान् की प्राप्ति हो सकती है यदि हमारे अन्दर ब्रह्म या भावनाओं की पवित्रता है, सच्ची भक्ति और श्रद्धा है।

भक्ति-आन्दोलन के सबसे प्रमुख प्रवर्तक सन्त कबीर थे। कबीर ने सबसे पहले हिन्दुओं और मुसलमानों के धर्म के भेदों को दूर करने का प्रयत्न किया। उनके अनुसार ईश्वर एक है और ईश्वर का सबसे बड़ा मन्दिर मनुष्य का हृदय है। इसलिये इस हृदय की समस्त संकीर्णता को दूर करने का भरसक प्रयत्न करना चाहिये। इन संकीर्णताओं में ही जाति-भेद का भेदभाव भी एक है। इसलिये यह धार्मिक तथा सामाजिक दोनों ही दृष्टिकोण से बुरा है। इसी आधार पर कबीर ने ब्राह्मणों की झूटछात, जाति-प्रथा और हिन्दुओं के धार्मिक दिखावे से उत्पन्न बुराइयों को दूर करने का प्रयत्न किया।

कबीर की भाँति दादू ने भी विभिन्न धर्मों को मिलाने की कौशिश की। उन्होंने कहा कि सबसे बड़ा धर्म आत्मदर्शन है। इसके लिये हमें अभिमान को दूर करना चाहिये और ईश्वर के सामने आत्मसमर्पण कर देना चाहिए।

गुरु नानक ने अद्वैतवाद को ही सत्य बताया और कहा कि हिन्दू और मुसलमानों के धर्म में कोई विशेष अन्तर नहीं है। धर्म के क्षेत्र में दिखावा तथा मूर्तिपूजा का उन्होंने विरोध किया। आचरण की शुद्धता ही नानक जी के उपदेश का मूलमन्त्र है।

भक्ति-आन्दोलन का भारतीय सामाजिक जीवन पर प्रभाव (Impact of Bhakti Movement on Indian Social Life)—भक्ति-आन्दोलन शुरू होने से पहले भारतवर्ष में बाहरी आडम्बर, झुआझूत, धार्मिक अन्धविश्वासों का राज्य था। हिन्दू धर्म अपनी श्रेष्ठता को प्रमाणित करने में लगा था और इस्लाम धर्म अपना सिक्का जमाना चाहता था। इसका परिणाम यह हुआ कि दोनों ही धर्मों के बीच एक गम्भीर तनाव की स्थिति उत्पन्न हो गई थी। भक्ति-आन्दोलन के प्रवर्तकों ने इस तनाव को दूर करने का प्रयास किया, सब धर्मों की समानता और ईश्वर की एकता पर बल दिया, दिखावा और झुआझूत की निन्दा की, जन्म के स्थान पर कर्म को अधिक महत्वपूर्ण माना और धर्म के ठेकेदार ब्राह्मणों की धर्म के नाम पर सामाजिक अन्याय की कटु आलोचना की। इसका प्रभाव यह हुआ कि इस आन्दोलन को विशेष रूप से नीची जातियों के सदस्यों का सहयोग प्राप्त हो गया और हजारों लोग सन्त कबीर, नानक, चैतन्य, रामानन्द, तुकाराम आदि भक्ति-आन्दोलन के प्रमुख नेताओं या संत साधुओं के अनुयायी हो गए। जिन व्यक्तियों ने कबीर, दादू व नानक के धार्मिक सिद्धांतों का अनुसरण किया उन लोगों ने अलग-अलग धार्मिक सम्प्रदायों को जन्म दिया और क्रमशः कबीर-पंथी, दादू-पंथी तथा नानक-पंथी कहलाए। इन नए पंथों का जन्म भक्ति आंदोलन का एक महत्वपूर्ण प्रभाव कहा जा सकता है जोकि आज भी भारत की भूमि पर विद्यमान है। कबीर-पंथी, नानक-पंथी आदि ने हिन्दुओं की जाति-संरचना को महत्व नहीं दिया जिसके कारण जातीय कटुतरता को धक्का पहुँचा। नानक-पंथियों ने नानक-पंथ के विचारों को इतना अधिक विकसित किया कि उन्होंने सिक्खों या नानक-पंथ के शिष्यों का एक अलग वर्ग बना लिया और जाति-भेद के आधार पर भेदभाव व झुआझूत को अस्वीकार किया तथा जातीय संरचना से अपने को अलग रखा। हिन्दुओं की जाति-व्यवस्था व धर्म इसे सहन नहीं कर सका और ऐसे व्यक्तियों को अपने से पृथक् माना। हिन्दुओं का आपस में इस प्रकार अलग-अलग समूहों में बँट जाना भक्ति-आन्दोलन का एक अन्य महत्वपूर्ण प्रभाव कहा जा सकता है।

भक्ति-आंदोलन का एक और प्रभाव यह था कि इस आंदोलन ने निम्न

जातियों को, विशेषकर अछूतों को, बहुत बड़ा सहारा दिया और इस सहारे से उन्हें काफी राहत मिली। कुछ विद्वानों का कथन है कि हरिजन सुधार आंदोलन का जो रूप बाद में हमें देखने को मिलता है उस आंदोलन का बीजारोपण भक्ति-आंदोलन के दौरान ही हुआ था।

भक्ति-आंदोलन के फलस्वरूप ब्राह्मणों की परम्परागत अज्ञान, जाति-प्रथा तथा धर्म को जो ठेस पहुंची उसके फलस्वरूप ब्राह्मणों ने कुछ रक्षात्मक कदम उठाए। इसका नतीजा यह हुआ कि जातीय तथा धार्मिक नियम और भी कठोर हो गए और उन्हें उतनी ही कठोरतापूर्वक लागू किया गया।

ब्रह्म समाज (Brahma Samaj)

अंग्रेजों के आने के पूर्व भारतवासियों के जीवन में धर्म का अत्यधिक महत्व था। असंख्य अन्धविश्वासों और कुसंस्कारों का राज्य था। इसी कारण धर्म के नाम पर जाति-पाँति का भेदभाव, सती-प्रथा, पर्दा-प्रथा, बाल-विवाह, विधवा-विवाह पर प्रतिबन्ध आदि कुप्रथाओं का बोलबाला था। पाश्चात्य शिक्षा और आदर्शों ने सर्व-प्रथम भारतीय समाज-सुधारकों को इस ओर क्रियात्मक कदम उठाने के लिये प्रोत्साहित किया। पहले राजा राममोहनराय और बाद में श्री महर्षि देवेन्द्रनाथ टैगोर व श्री केशवचन्द्र सेन के संरक्षण में ब्रह्म समाज ने समाज-सुधार-आंदोलन को खुले रूप से वेद और वेदान्त का प्रचार करना प्रारम्भ किया। उन्होंने 'ब्रह्म धर्म' नामक एक पुस्तक भी प्रकाशित की। इसके पश्चात् उन्होंने हिन्दू समाज को सुधारने के हेतु समाज की मौलिक त्रुटियों की कड़ी आलोचना की; बहुपत्नी-विवाह का विरोध किया और विधवा पुनर्विवाह व स्त्रियों की शिक्षा का समर्थन किया तथा उसका प्रचार भी किया।

महर्षि देवेन्द्रनाथ के बाद श्री केशवचन्द्र सेन ने ब्रह्म समाज के सुधार-आन्दोलन को चलाने का उत्तरदायित्व अपने ऊपर ले लिया। उन्होंने सुधार-आन्दोलन चलाने के लिए छोटी-छोटी पुस्तिकाएँ लिखनी प्रारम्भ कीं। इनका कलिंग के विद्या-धियों पर बहुत प्रभाव पड़ा। इसके पश्चात् उन्होंने हिन्दू विधवाओं की अवस्था में सुधार करने के विषय में प्रचार किया जिसमें उन्हें श्री ईश्वरचन्द्र विद्यासागर का पूर्ण सहयोग प्राप्त हुआ। सन् 1861 में श्री सेन ने अपने नवयुवक साथियों के साथ मिलकर 'संगत सभा' की स्थापना की जिसका कार्य आध्यात्मवाद का प्रचार था। उसी प्रकार भारत में आम शिक्षा का प्रचार करने के हेतु उन्होंने अंग्रेजी सरकार को एक अपील भेजी। इस अपील को इंग्लैण्ड की जनता में बाँटा गया जिसका अंग्रेजी सरकार पर बड़ा प्रभाव पड़ा। श्री सेन की अध्यक्षता में ब्रह्म समाज के सदस्यों ने समाज के झूठे जाति-भेद को ठुकराकर अन्तर्जातीय विवाहों का खुलेआम प्रचार किया। ब्रह्म समाज के सन्देश को बंगाल के गाँव-गाँव में पहुंचाया गया। सन् 1868 में आन्तरिक फूटों के फलस्वरूप 'भारतवर्ष ब्रह्मसमाज' की स्थापना की। एक संकीर्तन मण्डल के साथ प्रभात-फेरी में गा-गाकर वे ईश्वर की प्रार्थना और ब्रह्म समाज का प्रचार करते थे। वे कहते थे कि प्रत्येक वर्ग के स्त्री तथा पुरुषों को समान अधिकार हैं और जाति-पाँति के आधार पर समस्त भेदभाव अनुचित हैं।

इस सम्बन्ध में यह उल्लेखनीय है कि ब्रह्म समाज का मूल सिद्धान्त समानता था और समाज-सुधार-आन्दोलन के प्रयत्न ताकिक आधार पर आधारित थे। श्री केशवचन्द्र सेन ने जाति-प्रथा का विरोध वैदिक धर्म के आधार पर नहीं किया बल्कि सामाजिक समानता के तर्कों के आधार पर किया। फिर भी ब्रह्मसमाजी पाश्चात्य धर्म तथा आदर्शों से इतने ज्यादा प्रभावित थे कि हिन्दू समाज ने इन्हें स्वीकार नहीं किया और बंगाल में ये ब्रह्मसमाजी हिन्दू समाज से अलग हो गए।

प्रार्थना-समाज

(Prarthana-Samaj)

ब्रह्म समाज के ही समान बम्बई में प्रार्थना-समाज की स्थापना सन् 1867 में हुई, जिसके नेता सर्वश्री रानाडे तथा भण्डारकर थे। यह समाज भी एक समाज-सुधारक संस्था थी जिसका उद्देश्य जाति-भेद के भेद-भाव को दूर करना तथा समानता के सिद्धान्त के आधार पर सामाजिक कुरीतियों को समाप्त करना था। इस सम्बन्ध में यह उल्लेखनीय है कि ब्रह्म समाज तथा प्रार्थना-समाज के मूल सिद्धान्तों में पर्याप्त समानता होते हुए एक अन्तर भी था और वह यह कि ब्रह्म समाज के नेता विशेषकर श्री केशवचन्द्र सेन ने जाति-प्रथा तथा अन्य सामाजिक कुरीतियों का विरोध वैदिक धर्म के आधार पर नहीं किया बल्कि पाश्चात्य आदर्शों में अन्तर्निहित सामाजिक समानता के तर्कों के आधार पर किया। इसके लिए उन्हें पुरानी परम्परा को तिलांजलि देने में बिल्कुल भी हिचकिचाहट नहीं हुई। इसके विपरीत, प्रार्थना-समाज के महाराष्ट्रीय नेता श्री रानाडे हिन्दू धर्म-सम्प्रादायिकों में सुधार तो चाहते थे परन्तु भारत की प्राचीन परम्परा को भी एकदम त्याग देने के पक्ष में नहीं थे। प्रार्थना-समाज के प्रवर्तकों के लिए इसीलिए यह सम्भव हुआ कि वे हिन्दू समाज के ही अंग बने रहे, परन्तु ब्रह्म समाज के लोगों को हिन्दू समाज ने स्वीकार नहीं किया और उन्हें हिन्दू समाज से अलग कर दिया गया। प्रार्थना-समाज ने एक शिक्षा-अनायालय, विधवाश्रम, कन्या पाठशालाएँ आदि स्थापित कीं और एक दलितोद्धार मिशन भी खोला। इन सब सुधार-प्रयत्नों के फलस्वरूप हिन्दू सामाजिक जीवन में सामाजिक कुरीतियों के प्रति एक विरोध-भाव पनपा जिसके फलस्वरूप भविष्य के समाज-सुधार में पर्याप्त सहायता मिली। प्रार्थना-समाज के कुछ सदस्यों ने मजदूरी के आन्दोलन में भी भाग लिया।

आर्य समाज

(Arya Samaj)

आर्य समाज की स्थापना सन् 1875 में स्वामी दयानन्द सरस्वती के द्वारा हुई थी। इस सम्मज ने भी भारतीय सुधारवादी आन्दोलन में महत्वपूर्ण योगदान किया तथा इसके संरक्षण में एकाधिक सुधार-कार्य किये गये।

आर्य समाज के प्रमुख सिद्धान्त दस हैं—(1) सम्पूर्ण सत्-विद्या और सत्-विद्या से जो पदार्थ ज्ञाने जाते हैं उन सबका यदि मूल परमेश्वर है। (2) ईश्वर सच्चिदानन्द स्वरूप निराकार, सर्वशक्तिमान, न्यायकारी, दयालु, अजन्मा, अनन्त, निर्विकार, अनादि, अनुपम, सर्वधार, सर्वेश्वर, सर्वव्यापक, सर्वान्तर्यामी, अजर, अमर, अमय, निष्काम, पवित्र और सृष्टिकर्ता है। उसी की उपासना करना योग्य है। (3) वेद सत्-विद्याओं की पुस्तक हैं। वेद का पढ़ना, पढ़ाना, सुनना, सब कार्यो का परम धर्म है। (4) सत् को ग्रहण करने और असत् को त्यागने को सर्वदा उचित

रहना चाहिए। (5) सब काम धर्मानुसार अर्थात् सत् और असत् को विचारकर करना चाहिए। (6) संसार का उपकार करना अर्थात् शारीरिक, आत्मिक तथा सामाजिक उन्नति करना आर्य समाज का मुख्य उद्देश्य है। (7) सबसे प्रीतिपूर्वक धर्मानुसार यथायोग्य व्यवहार करना चाहिए। (8) अविद्या का नाश और विद्या की वृद्धि करनी चाहिए। (9) मनुष्य को अपनी ही उन्नति में सन्तुष्ट न रहना चाहिए अपितु सबकी उन्नति में ही अपनी उन्नति समझनी चाहिए। (10) सब मनुष्यों को सर्वथा सामाजिक, सर्वहितकारी नियम पालन में परतन्त्र रहना चाहिए और प्रत्येक हितकारी नियम में सबको स्वतन्त्र रहना चाहिए।

उपरोक्त सिद्धान्तों से ही यह स्पष्ट है कि आर्य समाज का एक प्रमुख उद्देश्य समाज में प्रचलित बुराइयों का सुधार करना है। उदाहरणार्थ, उपरोक्त आठवें सिद्धान्त में यह कहा गया है कि 'अविद्या का नाश तथा विद्या की वृद्धि करनी चाहिए' इस सिद्धान्त के पालनार्थ आर्यसमाजियों ने देश के अनेक भागों में शिक्षा संस्थाओं की स्थापना की है जहाँ कि हजारों विद्यार्थियों को शिक्षा प्राप्त हो रही है। उसी प्रकार स्वामी दयानन्द जी भारत में न केवल वैदिक धर्म की ही स्थापना करना चाहते थे, बल्कि भारतीय सामाजिक ढाँचे को जाति-प्रथा की बजाय वर्ण-व्यवस्था के रूप में बदल देना चाहते थे। उनके अनुसार वर्ण-व्यवस्था कर्म पर आधारित है और जाति-प्रणाली जन्म पर आधारित है। जन्म के आधार पर जाति के स्तरों के निर्णय ने भारतीय सामाजिक ढाँचे में अनेक दोष ला दिए हैं। इन दोषों को दूर करने के लिए कर्म पर आधारित वर्ण-व्यवस्था ही उचित है। अतः जाति-प्राप्ति के आधार पर किये जाने वाले भेदभाव का विरोध इस समाज के द्वारा किया गया। इतना ही नहीं, अन्तर्जातीय विवाहों को भी प्रोत्साहित किया गया। साथ ही, जातीय आधार पर खाने-पीने के सम्बन्ध में कुछ प्रतिबन्धों में साधारण परिवर्तन लाने में आर्य समाज सफल हुआ है।

कुछ विद्वानों का मत है कि आर्यसमाज-आन्दोलनों ने भारतीय सामाजिक जीवन को पूर्णतया संजीवित कर दिया था ('The Arya Samaj Movements had completely revitalized Indian Social Life.'). इस कथन का आधार शायद यही है, जैसा कि ऊपर हम लिख चुके हैं, कि स्वामी दयानन्द सरस्वती भारत में न केवल वैदिक धर्म को फिर से स्थापित करना चाहते थे, बल्कि भारतीय सामाजिक ढाँचे को जाति-प्रणाली के स्थान पर वर्ण-व्यवस्था के रूप में बदल देना चाहते थे। इस सिद्धान्त को लेकर आर्य समाज ने जिस आन्दोलन को चलाया उससे जन्म का महत्व घटा और कर्म की प्रधानता बढ़ गई। व्यक्ति का परिचय इस आधार पर नहीं हुआ कि उसने किस परिवार में जन्म लिया है—वह ब्राह्मण है या शूद्र; पर इस आधार पर हुआ कि जन्म के बाद उसने कैसे कर्मों या कार्यों को किया है। जन्म के आधार पर जाति के स्तरों के निर्णय ने भारतीय सामाजिक ढाँचे में अनेक दोष ला दिए थे। उदाहरणार्थ, जन्म के आधार पर निश्चित जाति-प्रथा में उच्च जाति की तानाशाही थी, जाति के नाम पर ब्राह्मण व अन्य उच्च जाति के लोग निम्न जाति में स्वेच्छाचारी व्यवहार करते थे जिसके कारण हजारों हिन्दुओं ने बाध्य होकर अपने धर्म को त्यागकर ईसाई या मुसलमान धर्म को ग्रहण कर लिया। उसी प्रकार जन्म के आधार पर ही असृश्यता की धारणा को बढ़ावा मिला और एक दूसरे मनुष्य को केवल छूना ही नहीं, देखना भी बुरा मानने लगा। इतना ही नहीं जाति-

रखा के नाम पर दिन-प्रतिदिन स्त्रियों के अधिकारों को एक-एक करके छीन लिया गया। उन्हें शिक्षा नहीं दी गई, उनकी गतिशीलता पर रोक लगाई गई; विवाह क्या है, यह बात समझने से पहले ही उनका विवाह कर दिया गया; विधवा हो जाने पर पुनर्विवाह का अधिकार तक न दिया गया और उन्हें दासी बनाकर घर की चार-दीवारी के बीच बाँधकर रखा गया। आर्य समाज द्वारा चलाए गए आन्दोलनों का उद्देश्य इन सब दोषों को दूर करना है। वैदिक धर्म को आर्य समाज वास्तविक हिन्दू धर्म मानता है और इसके अनुसार वेदों में मूर्तिपूजा, बाल-विवाह, जन्म पर आधारित जाति-पाँति का भेदभाव, विधवा-पुनर्विवाह पर प्रतिबन्ध का विधान नहीं है। इसी आधार पर आर्य समाज ने इन समस्त चीजों या सामाजिक कुरीतियों का विरोध किया और उन्हें दूर करने या सुधारने का प्रयत्न भी किया। संसार का उपकार करना अर्थात् शारीरिक, आत्मिक तथा सामाजिक उन्नति करना आर्य समाज का मुख्य उद्देश्य है। आर्यसमाजियों ने अविद्या का नाश और विद्या का प्रचार करने के लिये देश के विभिन्न भागों में जिन अनेक शिक्षा संस्थाओं को स्थापित किया उनमें स्त्री-शिक्षा का विशेष प्रबन्ध किया गया, जिससे कि परम्परागत रूप में पीड़ित समाज के इस महत्वपूर्ण अंग (अर्थात् स्त्रियों) का उत्थान हो सके। आर्य समाज के मन्दिरों में अनेक अन्तर्जातीय विवाह, विधवा-विवाह आदि अब तक सम्पादित हुए हैं और खाने-पीने के सम्बन्ध में छुआछूत और सामाजिक दूरी को दूर करने के लिए प्रचार-कार्य किए जाते हैं। आर्य समाज द्वारा स्थापित अनाथालयों, विधवाश्रमों आदि में कितने ही दुःखी जनों को आश्रय मिला है और उन्हें भी यह अवसर मिला कि वे अपने व्यक्तित्व का विकास कर सकें। पहले समाज में इनके आत्मविकास के लिए पर्याप्त सुविधाएँ उपलब्ध नहीं थीं। उन सुविधाओं को बढ़ाने का प्रयत्न आर्य समाज ने किया। इतना ही नहीं, अब तक हिन्दू लोग तो ईसाई और मुसलमान बन सकते थे, परन्तु ईसाई या मुसलमान के लिए हिन्दू बनने के सब रास्ते बन्द थे। आर्य समाज ने इस बन्द द्वार को भी खोल दिया और शुद्धि-आन्दोलन चलाया जिसके द्वारा ईसाई तथा मुसलमान लोग भी हिन्दू होने लगे। साथ ही, जो लोग एक बार धर्म परिवर्तन कर चुके थे, अब उनको भी हिन्दू धर्म में फिर से वापस आ जाने में कोई बाधा नहीं रही। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि आर्यसमाज-आन्दोलन ने भारतीय समाज के अनेक दोषों को दूर करके उसे पुनर्जीवित (revitalized) करने के लिए क्रियात्मक प्रयत्नों को किया।

आर्यसमाजियों की सामाजिक स्थिति (status) को किसी भी रूप में निम्न नहीं कहा जा सकता है। हाँ, यह दूसरी बात है कि समाज के रूढ़िवादी अंग इनके बारे में अच्छे विचार नहीं रखते हैं और यह कहते हैं कि आर्य समाज का काम केवल शिक्षा का विस्तार, विधवाओं का पुनर्विवाह तथा अन्तर्जातीय विवाह तक ही सीमित है।

रामकृष्ण मिशन

(Ramkrishna Mission)

रामकृष्ण मिशन की स्थापना स्वामी विवेकानन्द के द्वारा की गई थी। स्वामी जी के अनुसार ईश्वर सर्वव्यापक है और वह प्रत्येक जीव में विद्यमान है। धर्म न तो पुस्तकों में है, न मस्तिष्क सम्बन्धी बातों में और न ही तर्कों में। धर्म प्रत्येक व्यक्ति के शरीर में गहन भाव से विद्यमान है। मनुष्य में ही वास्तविक भगवान् का

निवास है और मनुष्य की सेवा करना भगवान् की सर्वश्रेष्ठ अपराधना है। धर्म के नाम पर जो लड़ाई-झगड़े होते हैं वे मनुष्य की मूर्खता, गर्व, स्वार्थपरता और जंगली-पन के अंश होते हैं। उन्होंने कहा कि आत्मा की आवाज एक होती है परन्तु राष्ट्रों की भाषायें बहुत-सी होती हैं। धर्म का सम्बन्ध आत्मा से है, न कि बाहरी दिखावे से।

स्वामीजी एक महान् समाज-सुधारक भी थे। वे धर्म के क्षेत्र में अन्धविश्वास को सहन नहीं करते थे। नवयुवकों को उनका उपदेश यह था कि वे समस्त आलस्य को त्यागकर अपने को शक्तिमान् बनाने का प्रयत्न करें। माला जपने का समय चला गया है, अब तो कार्य करने का, उद्योग या प्रयत्न करने का समय आया है। उनके अनुसार, "हमारे देश के नौजवानों को पहले शक्तिशाली होना है, धर्म बाद की बात है। हम गीता के माध्यम से नहीं, बल्कि फुटबॉल के माध्यम से स्वर्ग के अधिक निकट पहुँच सकेंगे।" दुर्बलता ही समस्त कष्टों का कारण है, हम दुःखी इसलिये हैं कि हम दुर्बल हैं; हम इसलिए झूठ बोलते, चोरी करते या अन्य प्रकार के अपराध करते हैं क्योंकि हम दुर्बल हैं। हम मरते भी इसलिये हैं कि हम दुर्बल हैं। जहाँ दुर्बलता नहीं है, वहाँ न मौत है और न ही दुःख-दर्द। वेदान्त में पाप नामक किसी चीज को माना नहीं गया है; वह तो केवल गलती को मानता है और वेदान्त के अनुसार सबसे बड़ी गलती यह कहना है कि हम पापी हैं, हम अभागे हैं और हमसे कुछ नहीं हो सकता। शक्तिहीनता ही मृत्यु है। इसलिए समस्त दुर्बलता को त्याग दो, समस्त भेदभाव को त्याग दो और सब एकसाथ मिलकर सेवा-भाव से काम करो। सफलता का यही बीज-मन्त्र है।

स्वामी विवेकानन्द जाति-पाँति के आधार पर सामाजिक भेदभाव तथा छुआछूत को बहुत बुरा मानते थे। आप सामाजिक समानता के पक्ष में थे। उनके अनुसार सर्वश्रेष्ठ ब्राह्मण से निम्नतम शूद्र में एक ही भगवान् का निवास है। इसलिए अस्पृश्यता आदि को अपनाना उस भगवान् की अवमानना है जोकि उस तथाकथित अस्पृश्य में भी निवास कर रहे हैं। उनका उपदेश था कि यह कहो कि प्रत्येक भारतवासी हमारा भाई है, चाहे वह भारतवासी हिन्दू हो, मुसलमान हो, ईसाई हो, सिक्ख हो, पारसी हो या ब्राह्मण, शूद्र, चाण्डाल या और कुछ हो। विश्व-बन्धुत्व यह उपदेश देना स्वामीजी के लिए ही सम्भव था।

स्वामी विवेकानन्द का उपदेश था कि प्रत्येक योग्य भारतवासी का यह कर्तव्य है कि वह देश सेवा या जनसेवा में अपने को नियोग कर दे। जब तक भारत का एक भी आदमी भूखा है, तब तक किसी भी भारतीय को चैन से बैठने का अधिकार नहीं है। गरीबों के लिए जिसका दिल रोता है वही महात्मा है, नहीं तो उसे दुरात्मा ही कहना चाहिये। जब तक भारतवासी भूख और अज्ञानता में निवास कर रहे हैं तब तक वे सभी विश्वास-घातक कहलाएँगे जोकि उन्हीं का खून चूसकर आराम की जिन्दगी बिताते हैं। दरिद्रों में ही नारायण का निवास है इसलिए उन्हें भारतीय परम्परा में दरिद्रनारायण कहा गया है। इन्हीं की सेवा भगवान् की वास्तविक पूजा है। मनुष्य को भूखा रखकर भगवान् को भोग चढ़ाने से पुण्य नहीं, पाप ही मिलता है। जिन्दा भगवान् को भोग चढ़ाओ, मन्दिर के देवता तुम्हें अवश्य ही वरदान देंगे।

स्वामी विवेकानन्द कहते थे कि आत्मशक्ति ही सामाजिक प्रगति व समाज-सुधार की नींव है। अपने पर विश्वास पनपाओ और अपने को पहचानो। पुराना धर्म यह कहता है कि वह नास्तिक है जो ईश्वर में विश्वास नहीं करता; पर नया धर्म यह कहता है कि वह महा-नास्तिक है जो अपने पर विश्वास नहीं करता।

सामाजिक समानता, विश्व-बन्धुत्व, सर्वव्यापक धर्म तथा जनसेवा के इन्हीं सब आदर्शों को मूर्त रूप देने के लिए स्वामी विवेकानन्दजी ने 1899 में 'रामकृष्ण मिशन' की स्थापना की। सन् 1909 में इस मिशन को गवर्नर-जनरल ने कानूनी मान्यता प्रदान की और इसको चलाने के लिए नवीन नियम बनाए गए। रामकृष्ण मिशन ने भारत में सामाजिक सेवा, बाढ़-पीड़ितों की सहायता, दान-कार्य, शिक्षा, चिकित्सालय, शिशुपालन गृह, अनाथालय, कॉलेज, औद्योगिक स्कूल आदि अनेक कार्य केवल भारत में ही नहीं, बल्कि पाकिस्तान, बर्मा, सिलोन, मलाया, फिजी, मोरिशस, उत्तरी तथा दक्षिणी अमेरिका और यूरोप के अनेक देशों में भी किए और आज भी कर रहा है।

उपरोक्त संस्थानों या महान् व्यक्तियों द्वारा किए गए सुधारवादी आंदोलनों के फलस्वरूप भारतीयों में नवीन चेतना जाग उठी। धर्मसुधारकों के प्रचार से हिन्दुओं का धर्म प्राचीन अन्धविश्वास से स्वतन्त्र हो गया और उनमें दूसरे धर्मों के प्रति सहनशीलता की भावना पनपने लगी। इन सुधारवादी आंदोलनों के फलस्वरूप ही लोगों में आत्म-शक्ति पर विश्वास करने की प्रवृत्ति बढ़ती रही और उसका प्रभाव सामाजिक क्षेत्र में ही नहीं बल्कि राजनीतिक क्षेत्र में भी पड़ा और भारतवासियों ने अंग्रेजी शक्ति को भी ललकारकर 'स्वतन्त्रता हमारा जन्मसिद्ध अधिकार है' यह नारा लगाया। साथ ही आर्य समाज तथा रामकृष्ण मिशन ने जो शिक्षा-संस्थाओं को चलाया उससे देश में शिक्षा के विस्तार में काफी सहायता मिली और उसके फलस्वरूप ज्ञान का प्रकाश धीरे-धीरे फैलता रहा और अन्धविश्वास और कुसंस्कार घटता गया। इस 'ज्ञान' का एक और स्वस्थ प्रभाव यह हुआ कि बाल-विवाह, पर्दा-प्रथा, स्त्रियों की गिरी हुई दशा, विधवा-विवाह पर रोक, सती-प्रथा आदि गम्भीर सामाजिक समस्याओं के प्रति भारतवासी अधिकाधिक जागरूक होते गए। फलतः इन समस्याओं के विरुद्ध एक क्रियात्मक आवाज उठ सकी। यह आवाज उन समस्याओं को हल करने में सफल हुई यह दावा नहीं किया जा सकता, पर इतना अवश्य कहा जा सकता है कि इन समस्याओं के प्रति जनता की जागरूकता ने उनके हल का पथ प्रशस्त किया। सामाजिक दृष्टिकोण से इसका भी महत्व कम नहीं है।

सर्वोदय

(Sarvodaya)

भारतीय परम्परा तथा संस्कृति की पृष्ठभूमि में जितने भी सामाजिक विचारकों ने अपने विचार प्रस्तुत किये हैं, उनमें महात्मा गांधी का नाम सर्वप्रमुख है। इनमें ही नहीं, 'भारतीय दृष्टिकोण' से भारतीय समस्याओं का स्पष्टीकरण तथा भारतीय आदर्शों का मूल्यांकन जितने विविध व विस्तृत रूप में गांधीजी के लेखों में मिलता है उतना शायद और कहीं नहीं। शायद ही कोई ऐसी समस्या या आदर्श रह गया हो जिस पर गांधीजी ने अपने विचार प्रकट न किए हों। जनसेवा गांधीजी की विचारधारा का आधार थी। इस विचार को मूर्त रूप देने के लिये उन्होंने 'सर्वोदय' शब्द की रचना की।

सर्वोदय का अर्थ व परिभाषा—गांधीजी के आदर्श समाज या राज्य का अन्तिम ध्येय 'सर्वोदय' होगा। इस 'सर्वोदय' शब्द का इतिहास यह है कि जिन पुस्तकों ने गांधीजी के जीवन में महत्वपूर्ण रचनात्मक परिवर्तन कराए, उनमें सर्व-प्रमुख रस्किन (Ruskin) द्वारा लिखित 'Unto the Last' थी। गांधीजी ने इसका गुजराती में अनुवाद किया और वह 'सर्वोदय' के नाम से छपी।

अपनी आत्मकथा में गांधीजी ने लिखा है कि "मैं सर्वोदय के सिद्धांतों को इस प्रकार समझता हूँ—(1) सबकी भलाई में हमारी भलाई निहित है। (-) वकील और नाई दोनों के काम की कीमत एक-सी होनी चाहिए, क्योंकि आजीविका का अधिकार सबको एकसमान है। (3) सादा—मेहनत-मजदूरी का अर्थात् किसान का जीवन ही सच्चा जीवन है। पहली चीज मैं जानता था। दूसरी को मैं धुंधले रूप में देखता था। तीसरी का मैंने विचार नहीं किया था। 'सर्वोदय' ने मुझे दिये की तरह दिखा दिया कि पहली चीज में दूसरी दोनों चीजें समाई हुई हैं।"

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि 'सर्वोदय' का अर्थ जीवन के सभी पक्षों की सम्पूर्ण प्रगति है। श्री विनोबा के शब्दों में, "सर्वोदय कुछ का या बहुतों का या अधिकतम का उत्थान नहीं चाहता। हम अधिकतम-से-अधिकतम सुख से सन्तुष्ट नहीं हैं। हम तो केवल एक की और सबकी, ऊँचे और नीचे की, सबल और निर्बल की, बुद्धिमान और बुद्धिहीन की भलाई से ही सन्तुष्ट हो सकते हैं। सर्वोदय शब्द एक उत्कृष्ट और सर्वव्यापक भावना को अभिव्यक्त करता है।" इसीलिए गांधीजी उन्नीसवीं शताब्दी के उपयोगितावादियों (utilitarians) के 'अधिकांश लोगों का अधिकतम सुख' के सिद्धांत से सहमत नहीं थे क्योंकि इस सिद्धांत को स्वीकार करने का अर्थ तो यह होगा कि 51 प्रतिशत लोगों के सुख के लिए 49 प्रतिशत लोगों के सुख का बलिदान किया जा सकता है। गांधीजी के अनुसार इस प्रकार यह एक हृदयहीन सिद्धांत है, जिसने मानवता का अपकार किया है। सर्वोदय या सबके अधिकतम हित का सिद्धांत ही सर्वोत्तम है। गांधीजी ने स्पष्ट ही लिखा है कि "बात तो यह है कि अहिंसा का पुजारी उपयोगितावाद (बड़ी-से-बड़ी संख्या का अधिक-से-अधिक हित) का समर्थन नहीं कर सकता। वह तो 'सर्वभूत हिताय' अर्थात् सबके अधिकतम हित के लिये ही प्रयास करेगा और इस आदर्श की प्राप्ति के प्रयत्न में मर जाने के लिए भी तैयार रहेगा। इस प्रकार वह इसलिए मरना चाहेगा कि दूसरे जी सकें। दूसरों के साथ-साथ वह अपनी सेवा भी आप मरकर करेगा। सबके अधिकतम सुख में अधिकांश का अधिकतम सुख भी सम्मिलित है।"

सर्वोदय का आदर्श—सर्वोदय का आदर्श है अद्वैत और उसकी नीति है समन्वय। मानवकृत विषमता का वह निराकरण करना चाहता है और प्राकृतिक विषमता को घटाना चाहता है। सर्वोदय की दृष्टि में जीवन एक विद्या भी है, और एक कला भी। जीवन के लिये, प्राणी मात्र के लिये समादर, प्रत्येक के प्रति सहानुभूति ही सर्वोदय का भाव है। Milk of Human Sympathy, जीव मात्र के लिए सहानुभूति का यह अमृत जब जीवन में प्रवाहित होता है, तो सर्वोदय की लता में सुरभिपूर्ण सुमन खिल उठते हैं। दूसरों को अपना बनाने के लिये प्रेम का विस्तार करना होगा, अहिंसा का विकास करना होगा। सर्वोदय समाज-निरपेक्ष, समान और व्यापक मूल्यों की स्थापना करना और बाधक मूल्यों का निराकरण करना चाहता है। यह कार्य न तो विज्ञान द्वारा सम्भव है और न सत्ता द्वारा।

“सर्वोदय ऐसे वर्ग-विहीन, जाति-विहीन और शोषण-विहीन समाज की स्थापना करना चाहता है, जिसमें प्रत्येक व्यक्ति और समूह को अपने सर्वांगीण विकास के साधन और अवसर मिलेंगे। यह क्रांति अहिंसा और सत्य द्वारा ही सम्भव है। सर्वोदय इसी का प्रतिपादन करता है।” सभी की इस सर्वांगीण उन्नति में गरीबों का विशेष स्थान है। गांधीजी ने लिखा है, “मेरा स्वराज्य का स्वप्न गरीबों के स्वराज्य का है। उनके लिए जीवन की आवश्यक वस्तुयें वैसे ही सुलभ होनी चाहियें जैसे धनिकों और राजाओं को। इसका यह अर्थ नहीं कि उनके लिए राजाओं के सैने महल होने चाहियें। सुखी जीवन के लिए महल आवश्यक नहीं। मैं या तुम (साधारण जन) तो उनमें रास्ता ही मूल जायेंगे। पर जीवन की साधारण सुविधायें धनिकों की भाँति सर्वसुलभ होने चाहियें मैं निःसन्देह कह सकता हूँ कि जब तक ये सुविधायें सर्वसुलभ न हों तब तक स्वराज्य ‘पूर्ण-स्वराज्य’ नहीं होगा।”

इसके अतिरिक्त सर्वोदय का विश्वास राजनीति में नहीं है। “वह लोकनीति का पक्षपाती है। राजनीति में जहाँ शासन मुख्य है, वहाँ लोकनीति में अनुशासन। राजनीति में जहाँ सत्ता मुख्य है, वहाँ लोकनीति में स्वतन्त्रता। राजनीति में जहाँ नियन्त्रण मुख्य है, वहाँ लोकनीति में संयम। राजनीति में जहाँ सत्ता की स्पर्धा, अधिकारों की स्पर्धा मुख्य है, वहाँ लोकनीति में कर्तव्यों का आचरण। सर्वोदय का क्रम यही है कि शासन से अनुशासन की ओर, सत्ता से स्वतन्त्रता की ओर, नियन्त्रण से संयम की ओर, सत्ता और अधिकारों की स्पर्धा से कर्तव्यों के आचरण की ओर बढ़े।” गांधीजी के अहिंसात्मक सर्वोदय समाज में सभी की सर्वांगीण उन्नति की वही दिशा और आदर्श होगा।

समाज में धर्म, व्यवसाय, संगठन तथा सेवा-कार्य इन्हीं के आधार पर उन्नति की कल्पना की जाती है। सम्यता की उन्नति-अवनति का मापदण्ड भी यही है। सर्वोदय समाज में इन चारों की क्या स्थिति होगी इसका संक्षिप्त वर्णन आवश्यक है।

धर्म—विज्ञान के युग में धर्म एक गौण विषय है। प्राचीन समय में यह कहा जाता था कि हमारे देशवासी सम्पूर्ण त्याग कर सकते थे परन्तु धर्म पर आघात नहीं सहन कर सकते थे, परन्तु आज यह प्रवृत्ति बहुत-कुछ बदल गई है। आज धार्मिक संस्थायें समाज में उस दृष्टि से नहीं देखी जाती जैसे हमारे पूर्वज उन्हें देखते थे। समाज आज उस तरफ से काफी उदासीन हो चुका है। आज धर्म को उपेक्षा की दृष्टि से देखा जाता है। इस विरोधाभास का कारण कुछ तो इनकी आंतरिक दुर्बलतायें हैं और कुछ हमारे बदले हुए मनोभाव हैं। भारतीय समाज अपने को जिस धार्मिक सूत्र में बंधा हुआ समझता है वह प्रेम का सूत्र है। उसमें किसी सम्प्रदाय या देशी-विदेशी का भेदभाव नहीं है। मनुष्य होने के नाते हम सबको उस दृष्टि से देखें जिससे सबका कल्याण हो। धर्म व्यक्तिगत विश्वास की वस्तु है। जातीय रुढ़ियों को विजातीय लोगों पर लादने के लिए धर्म की दुहाई देना समाज में कटुता फैलाना है। भारतीय सम्यता के इतिहास में मानव-धर्म के उदाहरण अनेक स्थानों पर पाये जाते हैं।

व्यवसाय—व्यवसाय की व्यवस्था सामाजिक निर्माण में अनिवार्य है। हमारे विचार कितने ही उज्ज्वल क्यों न हों, यदि हमारा व्यवसाय ऊँचा नहीं है तो हमारी क्रियायें विचारों के विरुद्ध होंगी। प्रत्येक मनुष्य अपनी इच्छानुसार कार्य करे यह व्यवस्था सबसे ऊँची और दुर्लभ है। यदि मन के अनुरूप व्यवसाय नहीं मिलता तो

हमारे आध्यात्मिक विकास में सफलता नहीं मिलती। मापदण्ड से एक किसान का जीवन फैक्ट्री के एक बड़े मैनजर से कहीं ऊँचा है : एक का व्यवसाय स्वनिर्मित है और दूसरे का परावलम्बी। सर्वोदय समाज में प्रत्येक व्यक्ति और कुटुम्ब स्वावलम्बी जीवन व्यतीत करेगा। वह दूसरों पर आश्रित न रहकर आवश्यकता की सभी सामग्री का खुद ही उपार्जन करेगा। देश-देशांतरों में व्यवसाय के लिए भ्रमण करने की लालसा उसकी इच्छा के विरुद्ध होगी। उसका ध्येय उत्पादन करना होगा, शोषण करना नहीं।

संगठन—प्रत्येक संगठन में नाना प्रकार के संगठनों का समूह होता है। समुदाय के योग को ही समाज कहते हैं। वे समुदाय विभिन्न उद्देश्यों की पूर्ति के लिए बनाए जाते हैं और पूर्ति होने के पश्चात् उनकी उपयोगिता जाती रहती है। यही कारण है कि समाज में अनेक समुदाय बनते और बिगड़ते रहते हैं। इन्हीं समुदायों से समाज की उन्नति अथवा अवनति का पता चलता है। जब देश में पुस्तकालय, स्कूल, स्वास्थ्य-गृह, अन्वेषण-गृह आदि बढ़ते हैं तो इससे समाज उन्नति के पथ पर अग्रसर होता है। इसके विपरीत राजनीतिक दलबन्दी, अस्त्र-शस्त्र की वृद्धि, व्यावसायिक होड़ तथा अन्य समुदाय समाज को अवनति के गर्त में गिराते हैं। ये समुदाय सभ्यता के विकास के लिए बनने चाहिए। सेवा, त्याग, विचारों की वृद्धि—इनके आधार पर संगठन बनाना सर्वोदय समाज की कल्पना है।

सेवा-कार्य—आज सेवा के नाम पर स्वार्थ-पूर्ति का बोलबाला है। समाज में सेवा की दुहाई दी जाती है। सेवा कठिन कार्य है। इसमें जिस कष्ट और त्याग की आवश्यकता है वह वर्तमान समाज में इने-गिने लोगों में पाया जाता है। सेवा उस समय करनी चाहिये जबकि व्यक्ति अपने स्वार्थ को भूल जाए। इसी सेवा-भाव से प्रेरित होकर महात्मा गांधी ने भारतीय स्वतन्त्रता के संघर्ष में अहिंसा और शांति के साथ एक ऐसे संगठन का निर्माण किया जिसके कारण उसके सदस्य हर प्रकार के कष्ट सहन करते रहे। उन्हीं की त्याग-भावना का परिणाम है जिससे स्ततन्त्रता-प्राप्ति हुई।

सर्वोदय मानवीय विभूति के विज्ञान में विश्वास करता है। वह मानता है कि फल-निरपेक्ष कर्तव्य हमारा धर्म है। उसकी मान्यता है—मेहनत इन्सान की, दौलत भगवान् की। मेहनत करना हमारा कर्तव्य है, फल समाज का। वह पड़ोसी के लिए जीने, पड़ोसी के लिए उत्पादन करने और पड़ोसी का सुख-दुःख बाँटने की कला सिखाता है। वह यह मानता है कि हर बुरे आदमी में अच्छाई होती है। सर्वोदय के इन्हीं आदर्शों को लेकर गांधीजी आजीवन सामाजिक बुराईयों के विरुद्ध संघर्ष करते रहे और हरिजन, विधवा, स्त्री-शिक्षा, बाल-विवाह, पंचायत राज, नशाखोरी आदि से सम्बन्धित अनेक सुधार-आन्दोलनों को सक्रिय बनाया। अब उनके बाद यह काम आचार्य विनोबा भावे कर रहे हैं।

अन्य समाज-सुधारक संस्थाएँ

(Other Institutions of Social Reform)

इस समय भारतवर्ष में एकाधिक समाज-सुधारक-संस्थाएँ कार्य कर रही हैं। उनमें 'हरिजन सेवक संघ' (Harijan Sewak Sangh) तथा 'भारत सेवक संघ' का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। हरिजन सेवक संघ ने हरिजन सुधार आन्दोलन में महत्त्वपूर्ण कार्य किया है। इस संघ की प्रत्येक प्रान्त में शाखाएँ हैं। यह संघ प्रचार

के द्वारा अस्पृश्यता को दूर करने, समानता की भावना को फैलाने तथा हरिजनों के लिए धार्मिक तथा सामाजिक अधिकारों को सुलभ बनाने का प्रयत्न करता है। साथ ही हरिजनों की आर्थिक अवस्था को सुधारने के लिए संघ, व्यवसाय सम्बन्धी प्रशिक्षण देने तथा कुटीर-उद्योगों को पनपाने की व्यवस्था करता है। इसके अतिरिक्त हरिजनों के कल्याण के लिए स्कूल खोलना, चिकित्सा तथा छात्रवृत्तियों की व्यवस्था करना, गरीब बच्चों को पढ़ने-लिखने का सामान मुफ्त देना, हरिजन बस्तियों की सफाई करना आदि कार्य भी यह संघ करता है।

उसी प्रकार भारत सेवक संघ भी एक अखिल भारतीय स्तर का संगठन है जो कि नाना-प्रकार के समाज-सुधार कार्यक्रमों को समस्त भारतवर्ष में चलाता है। इन कार्यक्रमों को चलाने के लिए सरकार की ओर से आर्थिक सहायता मिलती रहती है।

सामाजिक सुधार आन्दोलन के परिणाम (Consequences of Social Reform Movement)

उपरोक्त समाज-सुधारकों तथा संस्थाओं के सक्रिय प्रयत्नों के कुछ उल्लेखनीय परिणाम हुए हैं जो निम्नलिखित हैं—

(1) भारत में सामाजिक सुधार आन्दोलन का एक परिणाम यह हुआ कि धर्म के सम्बन्ध में अनेक अन्धविश्वास भारतीयों के मस्तिष्क से दूर हो गए। इस दिशा में स्वामी विवेकानन्द, स्वामी दयानन्द तथा महात्मा गांधी की देन उल्लेखनीय है। स्वामी विवेकानन्द जी के प्रचार से धर्म की एक नवीन व्याख्या न केवल भारत को बल्कि संसार को मिली। उन्होंने हिन्दुओं को सारे धर्मों का आदर करना सिखाया और उन्हें यह बताया कि उन्हें अपनी प्राचीन संस्कृति से लज्जित नहीं होना चाहिए, बल्कि तर्क तथा वैज्ञानिक अनुसन्धान के द्वारा उसे ऊँचा उठाना चाहिए। गांधीजी ने तो धर्म और सत्य को एकाकार कर दिया और सभी धर्मों को समान आदर दिया। 'ईश्वर अल्लाह एक ही नाम' की अमर वाणी ने न केवल गांधीजी को अमर बनाया बल्कि हिन्दू धर्म की सहिष्णुता को भी अमर बनाया।

(2) सामाजिक सुधार आन्दोलन का दूसरा प्रभाव यह हुआ कि इस आन्दोलन ने भारत की राष्ट्रीय भावना को भी जागृत किया। यद्यपि सन् 1885 में भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की स्थापना हो चुकी थी, फिर भी 20 वीं शताब्दी के आरम्भ में सुधार-आन्दोलन के कारण एक दृढ़ तथा वास्तविक संकल्प-भाव भारतीयों के मन में सामाजिक, राजनीतिक तथा आर्थिक सुधार के हेतु नवीन जोश के साथ उत्पन्न हुए। रामकृष्ण मिशन तथा आर्य समाज द्वारा खोली गई शिक्षा-संस्थाओं ने राष्ट्रीयता के विकास में पर्याप्त योगदान दिया। गांधीजी ने तो समाज-सुधार आन्दोलन तथा स्वतन्त्रता आन्दोलन को अभिन्न अंग माना। इससे भी देश में एक नई जागृति की लहर आई।

(3) सामाजिक सुधार आन्दोलन के फलस्वरूप देश के विभिन्न भागों में शिक्षा का भी तेजी से प्रसार होने लगा। इस आन्दोलन का विशेष प्रभाव स्त्री-शिक्षा के प्रसार पर पड़ा। रामकृष्ण मिशन तथा आर्य समाज द्वारा स्थापित शिक्षा-संस्थाओं, विशेषकर कन्या पाठशालाओं का इस दिशा में अत्यधिक महत्वपूर्ण प्रभाव रहा। शिक्षा के क्षेत्र में ही विज्ञान की खोज के प्रति भारतीयों की बढ़ती हुई रुचि भी उल्लेखनीय है। सर्वश्री जगदीशचन्द्र बोस, मेघनाथ शाह तथा सी० वी० रमन ने

विज्ञान के क्षेत्र में इतना कार्य किया कि पश्चिमी देशों के वैज्ञानिकों ने भी उनकी खोजों को आदर दिया ।

(4) सामाजिक सुधार आन्दोलन के फलस्वरूप अनेक सामाजिक कुप्रथाएँ या तो प्रायः समाप्त हो गई या आंशिक रूप में प्रभावहीन हो गई । प्रायः समाप्त हो जाने वाली कुप्रथाओं में सती-प्रथा का नाम उल्लेखनीय है । उसी प्रकार पर्दा-प्रथा, बाल-विवाह प्रथा, विधवा-विवाह पर रोक, नशाखोरी, अस्पृश्यता आदि अब पहले से काफी प्रभावहीन हो गए हैं ।

(5) सामाजिक सुधार आन्दोलन का एक और महत्त्वपूर्ण प्रभाव यह हुआ है कि इसके फलस्वरूप सरकार सामाजिक कुप्रथाओं के प्रति उत्तरोत्तर सचेत होती गई और उसी के फलस्वरूप सती-प्रथा, बाल-विवाह, अन्तर्जातीय-विवाह, दहेज-प्रथा, विधवा-पुनर्विवाह, अस्पृश्यता आदि से सम्बन्धित सामाजिक अधिनियम पारित किए गए, जिससे इन कुप्रथाओं को दूर करने में सुधारकों को एक वैधानिक शक्ति प्राप्त हो गई ।

अगर सामाजिक सुधार आन्दोलन स्वस्थ आधार पर और सुचारु ढंग से चलता रहा तो यह आशा की जाती है कि भारतीय समाज के लिए प्रगति के पथ पर अग्रसर होना कहीं अधिक सरल हो जाएगा । भारतवासी प्रगतिशील व समृद्धशाली हो सकेंगे तथा भारत विश्व के दरबार में उच्चतम स्थिति को प्राप्त करेगा । तभी सामाजिक सुधार आन्दोलन के नेताओं व सुधारकों के सभी प्रयत्न व परिश्रम सार्थक होंगे ।

समकालीन सामाजिक वर्ग— अल्पसंख्यक तथा नवीन भारतीय अभिजात वर्ग

(Contemporary Social Classes—
The Minorities and New Indian Elite)

परम्परागत रूप में भारत को जाति-प्रथा द्वारा আবদ্ধ समाज (caste-bound society) कहा जाता है क्योंकि पहले भारतीय समाज-व्यवस्था का आधार वर्ण या फिर जाति ही था। जाति के आधार पर न केवल व्यक्ति की सामाजिक स्थिति (status) का निर्धारण होता था, अपितु विवाह, पेशे का चुनाव, खान-पान आदि से सम्बन्धित व्यक्ति का व्यवहार भी जाति के द्वारा ही नियन्त्रित होता था। परन्तु आधुनिक युग में औद्योगीकरण व नगरीकरण, शिक्षा, धार्मिक व राजनीतिक आन्दोलन आदि के कारण जाति-प्रथा दिन-प्रतिदिन निर्बल होती जा रही है और उनके स्थान पर नए-नए वर्गों का उदय, विकास व विस्तार होता जा रहा है। इस रूप में आधुनिक भारतीय समाज का एक महत्वपूर्ण आधार वर्ग-व्यवस्था ही है। साधारणतया मनुष्य को एक 'सामाजिक प्राणी' ही कहा जाता है, पर आधुनिक समाज के सन्दर्भ में उसे अगर 'वर्ग प्राणी' भी कहा जाए तो शायद गलत न होगा। आज का भारतवासी भी किसी-न-किसी वर्ग का जैसे श्रमिक वर्ग, कृषक वर्ग, शिक्षक वर्ग, मिल-मालिक वर्ग, व्यापारी वर्ग, शासक वर्ग, लेखक वर्ग आदि का न केवल सदस्य हैं अपितु उसका सक्रिय हिस्सेदार (Active partner) भी है। पर इस सम्बन्ध में अधिक विवेचना करने से पूर्व 'वर्ग' के वास्तविक अर्थ को समझ लेना आवश्यक होगा।

सामाजिक वर्ग की परिभाषा (Definition of Social Class)

सर्वथी मैकाइवर और पेज (MacIver and Page) के अनुसार, "सामाजिक वर्ग एक समुदाय का कोई भाग है जो सामाजिक स्थिति के आधार पर शेष भाग से पृथक् दृष्टिगोचर होता है।"¹

सर्वथी ऑगबर्न और निमकॉफ (Ogburn and Nimkoff) के शब्दों में, "एक सामाजिक वर्ग उन व्यक्तियों का योग है जिनकी कि आवश्यक रूप से एक

1. "A social class is any portion of a community marked off from the rest by social status"—R.M. MacIver and C.H. Page, *Society*, The Macmillan and Company Ltd., London, p. 348.

समाज विशेष में एक-सी सामाजिक स्थिति हो।¹²

श्री रिचर्ड लैपीयर (R. T. Lapiere) ने भी बहुत-कुछ इसी प्रकार की परिभाषा प्रस्तुत की है। आपके मतानुसार, 'एक सामाजिक वर्ग सांस्कृतिक आधार पर परिभाषित वह समूह है जिसे सम्पूर्ण जनसंख्या में एक निश्चित स्थिति प्राप्त हो।'¹³

उपरोक्त परिभाषाओं से यह स्पष्ट है कि प्रत्येक सामाजिक वर्ग को सम्पूर्ण समुदाय में एक निश्चित सामाजिक पद या स्थिति प्राप्त होती है जिसके आधार पर एक वर्ग को दूसरे वर्ग से पृथक् किया जा सकता है। परन्तु इस सम्बन्ध में यह स्मरणीय है कि सामाजिक चेतनता (social consciousness) के बिना वर्ग का निर्माण सम्भव नहीं। जब समुदाय के किसी एक भाग के सदस्य सामाजिक विभेदों (चाहे वे विभेद सम्पत्ति, शिक्षा, व्यवसाय आदि किसी से सम्बन्धित हों) के सम्बन्ध में जागरूक या चेतन हो जाते हैं और उसी चेतना के आधार पर अपने को दूसरों से पृथक् समझने लगते हैं, तभी वर्ग का जन्म होता है। इसीलिये एक अन्य समाजशास्त्री ने अति वैज्ञानिक ढंग से समाजिक वर्ग की परिभाषा करते हुए लिखा है कि "सामाजिक वर्ग समाज का वह भाग है जिसके सदस्यों की कुछ ऐसी विशिष्ट और सामान्य सामाजिक स्थितियाँ तथा कार्य होते हैं जिनके आधार पर उनमें यह जागरूकता पनप जाती है कि वे समाज के अन्य समूह से भिन्न हैं।"

कुछ विशेषताओं के वर्णन से सामाजिक वर्ग का यह विवरण और भी स्पष्ट हो जाएगा।

भारत में सामाजिक वर्ग की विशेषतायें

(Characteristics of Social Class in India)

उपयुक्त विवेचना के आधार पर हम भारतीय समाज में पाए जाने वाले सामाजिक वर्गों की कुछ निम्नलिखित विशेषताओं का उल्लेख कर सकते हैं—

1. स्थिति-समूहों का उतार-चढ़ाव (Hierarchy of Status Groups)—सामाजिक वर्ग की इस विशेषता का अर्थ यह है कि भारत में वर्गों का एक संस्तरण है जिसमें सबसे ऊपर उच्चतम वर्ग और उससे नीचे क्रम से निम्नतर और निम्नतम वर्ग हैं। इस प्रकार सामाजिक ढाँचा (social structure) एक तराशे हुये पिरामिड (truncated pyramid) की भाँति बन गया है जिसके सबसे नीचे के भाग में निम्नतम सामाजिक वर्ग के सदस्यों की संख्या सबसे अधिक होती है और सबसे उच्च वर्ग के सदस्यों की संख्या सबसे कम होती है। जैसे आर्थिक दृष्टिकोण से भारत में टाटा-बिड़ला इने-गिने ही हैं जबकि साधारण श्रमिक-वर्ग के सदस्य असंख्य हैं। इस विशेषता का एक दूसरा अर्थ यह है कि इस देश में एक से अधिक वर्ग हैं क्योंकि जब तक दूसरे वर्ग नहीं होंगे, तब तक अलग-अलग स्थिति वाले समूहों का भी निर्माण नहीं हो सकता। यदि एक समाज में केवल एक ही वर्ग है तो वह वर्गहीन (classless) समाज होगा। भारत वर्गहीन समाज नहीं है।

2. "A social class is the aggregate of persons having essentially the same social status in a given society."—W. F. Ogburn and M. F. Nimkoff, *A Handbook of Sociology*, Routledge and Kegan Paul Ltd., London, p. 211.

3. "A social class is a culturally defined group that is accorded a particular position or status within population as a whole." —R. T. Lapiere.

2. ऊँच-नीचे की भावना (Superiority-inferiority feeling)—यहाँ एक वर्ग के सदस्य दूसरे वर्गों के सदस्यों के प्रति श्रेष्ठता अथवा हीनता की भावना रखते हैं और उसे प्रदर्शित भी करते हैं। उदाहरण के लिये धनी और निर्धन वर्ग को ही ले लीजिये। धनी वर्ग के सदस्यों में यह भावना स्पष्ट रूप में पाई जाती है कि वे निर्धन वर्ग के सदस्यों से श्रेष्ठ हैं। उसी प्रकार निर्धन वर्ग के सदस्य धनी वर्ग को देखते हुये हीन-भाव का पोषण करते हैं अर्थात् यह समझते हैं कि उनकी स्थिति धनी वर्ग के सदस्यों से नीचे है।

3. वर्ग-चेतना (Class-consciousness)—यह वर्ग की आधारभूत विशेषता है। वर्ग-चेतनता से तात्पर्य यह है कि प्रत्येक वर्ग इस बात के सम्बन्ध में चेतन होता है कि उसका सामाजिक पद और प्रतिष्ठा दूसरे वर्गों की अपेक्षा ऊँचा या नीचा है। यही चेतना एक वर्ग के सदस्यों के व्यवहारों को निश्चित करती है और विभिन्न वर्गों के पारस्परिक सम्बन्धों को भी तय करती है। उदाहरण के लिये मालिक और नौकर वर्ग की ही ले लीजिये। नौकर वर्ग का सदस्य इस बात के सम्बन्ध में चेतन है कि उसका पद, प्रतिष्ठा या आदर मालिक वर्ग से कम है। इसीलिये जब वह अपने मालिक से बातें करता है तो उसके व्यवहार में विनय-भाव, नम्रता आदि होती है। जिनमें यह चेतना बहुत उग्र रूप में होती है वे अपने मालिक के सामने जाते ही उनके पैर छूते हैं और फिर दूर हटकर हाथ जोड़कर खड़े होकर बातें करते हैं। उसी प्रकार मालिक वर्ग का सदस्य भी चेतन है कि उसकी स्थिति नौकर से श्रेष्ठ है। इसलिये नौकर के प्रति उसके व्यवहार में कटुता, क्रोध, घमकी आदि प्रकट होते हैं या हो सकते हैं। अगर यह चेतनता न हो तो किसी भी वर्ग के कार्यों या व्यवहारों में कोई उल्लेखनीय विशेषता ही न रहे।

4. सीमित सामाजिक सम्बन्ध (Restricted social relations)—उपरोक्त विवेचना से यह स्पष्ट ही है कि सामाजिक वर्गों में आपसी सम्बन्ध एक तरह का नहीं होता है। एक वर्ग के लोग अपने वर्ग के सदस्यों के साथ विशेष घनिष्ठ सम्बन्ध रखते हैं और अन्य वर्गों से सामाजिक दूरी (social distance) बनाये रखते हैं। केवल उच्च वर्ग निम्न वर्ग से दूर का सम्बन्ध नहीं रखते बल्कि निम्न वर्ग भी उच्च वर्ग से सामाजिक दूरी बनाये रखते हैं। विभिन्न सामाजिक वर्गों में उठने-बैठने, मिलने-मिलाने तथा विवाह आदि के सम्बन्धों में कुछ-न-कुछ प्रतिबन्ध होते ही हैं।

5. मुक्त द्वार (Open door)—वर्ग की एक और उल्लेखनीय विशेषता यह है कि वर्ग-व्यवस्था में पर्याप्त खुलापन होता है। इसका तात्पर्य यह है कि आज यदि कोई व्यक्ति निम्न वर्ग का सदस्य है तो यह आवश्यक नहीं कि वह जीवन-भर उसी निम्न वर्ग का सदस्य बना रहे। वह अपनी योग्यता, शिक्षा, सफलता-असफलता, संयोग आदि से किसी भी समय अपने वर्ग से ऊँचे या नीचे वर्ग में जा सकता है। आज एक व्यक्ति गरीब होने के कारण निम्न वर्ग का सदस्य है, कल उसे लाटरी में सात लाख रुपया मिल सकता है, जिसके फलस्वरूप वह उच्च वर्ग का सदस्य हो सकता है। उसी प्रकार आज एक व्यक्ति उच्च वर्ग का सदस्य है, कल सट्टेबाजी में वह अपना सब धन हारकर भिखारी वर्ग में आ सकता है।

6. जन्म का महत्त्व नहीं (No importance of birth)—भारतीय

जाति-व्यवस्था की भाँति वर्ग-व्यवस्था का कोई भी सम्बन्ध जन्म से नहीं होता है। एक व्यक्ति किस वर्ग का सदस्य होगा, यह इस बात पर निर्भर नहीं कि उसका जन्म किस परिवार में हुआ है। वर्ग की सदस्यता तो व्यक्ति की अपनी कुशलता, योग्यता, शिक्षा, धन आदि के आधार पर निश्चित होती है।

7. कम स्थिर (Less stable)—वर्ग-व्यवस्था एक अस्थिर धारणा है क्योंकि इसके आधार भी अस्थिर ही होते हैं। धर्म, शिक्षा, धन, व्यवसाय आदि सभी, जो कि वर्ग के आधार हैं, स्थिर नहीं होते हैं। आज जो धनी है, कल वह निर्धन हो सकता है; आज जो अशिक्षित है, कुछ वर्षों में ही उच्च कोटि का विद्वान् हो सकता है। चूँकि वर्ग-व्यवस्था के आधार स्वयं ही अस्थिर हैं, इस कारण वर्ग का कम स्थिर होना भी स्वाभाविक ही है।

8. उप-वर्ग (Sub-classes)—सामाजिक वर्ग की एक और विशेषता यह है कि प्रत्येक वर्ग के अन्तर्गत अनेक उपवर्ग होते हैं। उदाहरण के लिए धनी वर्ग को ही लिया जा सकता है—इसमें करोड़पति वर्ग, लक्षपति वर्ग आदि अनेक उपवर्ग धन के अधिकार के आधार पर होते हैं।

भारत में वर्ग-निर्माण के आधार (Basis of Class-formation in India)

यह उचित है कि आधुनिक भारत में धन या सम्पत्ति का अधिक महत्त्व है, फिर भी आर्थिक आधार को ही वर्ग-निर्माण का एकमात्र आधार मानना उचित न होगा। भारतीय समाज में वर्ग-निर्माण के निम्नलिखित छः आधारों का उल्लेख किया जा सकता है—

1. सम्पत्ति, धन और आय (property, Wealth and Income)—आधुनिक धन-प्रधान भारत में वर्ग-निर्माण का यह आधार सबसे महत्त्वपूर्ण है। धन, सम्पत्ति या आय व्यक्ति को एक निश्चित सामाजिक स्थिति प्रदान करती है और साथ ही उसे विभिन्न मात्रा में सामाजिक सुविधायें उपलब्ध होती हैं जिसके अनुसार प्रत्येक व्यक्ति एक निश्चित वर्ग का सदस्य बन जाता है। इसीलिए एक व्यक्ति का जिस मात्रा में या जितना अधिक अधिकार सम्पत्ति, धन या आय पर होगा उसे उतने ही उच्च वर्ग की सदस्यता प्राप्त हो जाती है। इसी कारण भारतीय समाज में एक ओर जहाँ बड़े-बड़े मिल-कारखानों का मालिक करोड़पति वर्ग है, वहाँ दूसरी ओर फुटपाथ पर जिन्दगी बिताने वाला भिखारी वर्ग भी है।

2. राजनीतिक सत्ता (Political authority)—भारतीय समाज में वर्गों के निर्माण का एक उल्लेखनीय आधार राजनीतिक सत्ता है। इस आधार पर दो स्पष्ट वर्गों का आज यहाँ दर्शन होता है—पहला तो शासक वर्ग (ruling class) और दूसरा विरोधी वर्ग (opposition class)। जब इस देश में कांग्रेस का विभाजन हुआ तब इसी राजनीतिक सत्ता के आधार पर ही कांग्रेस का एक भाग शासकीय कांग्रेस कहलाया। शासक वर्ग अपने को विरोधी वर्ग से श्रेष्ठ समझता है, उसमें शासक होने की चेतनता होती है तथा वह विरोधी दल के सदस्यों के साथ सीमित सामाजिक सम्बन्ध रखता है। इसीलिए इस देश में राजनीतिक सत्ता को हथियाने के लिए अच्छे-बुरे सभी उपायों को अपनाया जाता है। 'इन्दिरा-विरोधी' नारा उन्हीं उपायों में से एक है।

3. निवास का स्थान (Location of residence)—भारतीय गाँवों एवं शहरों में समुदाय को विभिन्न मोहल्लों में बाँट दिया जाता है और इनके विकास की भाँति ही इन मोहल्लों के प्रति भी एक विशेष दृष्टिकोण पनप जाता है। फलतः विभिन्न मोहल्लों में एक ऊँच-नीच का संस्तरण देखने को मिलता है और उसी संस्तरण के अनुसार उन मोहल्लों में रहने वाले व्यक्तियों की सामाजिक स्थिति भी निर्धारित होती है। उदाहरणार्थ, शहर के 'सिविल लाइन्स' या 'माल रोड' या 'चौरंगी' आदि मोहल्लों के साथ एक अभिजात्य की भावना जुड़ी होती है और इसलिए ऐसे मोहल्लों में रहने वालों को उच्च-वर्ग से सम्बन्धित माना जाता है। उसी प्रकार मुख्य आबादी से बाहर 'कैण्ट' (Cantonment) क्षेत्र में रहने वालों को अधिक प्रतिष्ठा दी जाती है, पर शहर की 'लेबर कॉलोनी' में रहने वालों को मुख्यतः निम्न वर्ग से ही सम्बन्धित मान लिया जाता है। ऐसा इसलिए होता है क्योंकि निवास स्थान का चुनाव करने के सम्बन्ध में लोगों की प्रवृत्ति होती है कि वे उसी क्षेत्र या मोहल्ले को चुनते हैं जहाँ कि उसी हैसियत या स्थिति वाले अधिकांश लोग रहते हैं। अतः निवास के स्थान के आधार पर वर्ग का निर्धारण कोई कठिन कार्य नहीं होता।

4. व्यवसाय की प्रकृति (Nature of occupation)—भारत में सर्वत्र विभिन्न पेशों या व्यवसाय के बीच ऊँच-नीच का एक संस्तरण या कम-से-कम विभेद देखने को मिलता है। चिकित्सक का पेशा निश्चय ही मैला साफ करने वालों के पेशे से अगल माना जाता है। अतः व्यवसाय की प्रकृति के आधार पर विभिन्न वर्गों का उदय स्वाभाविक ही है क्योंकि प्रत्येक व्यवसाय में लगे सभी व्यक्तियों में कम-से-कम व्यवसाय के आधार पर समानता पनप जाती है। इतना ही नहीं, यदि एक समाज में विभिन्न पेशों में ऊँच-नीच की भावना जुड़ी हुई है तो उसी के अनुसार विभिन्न वर्गों की भी स्थिति ऊँची या नीची हो जाती है। इसीलिए रिक्शा-चालक वर्ग, ड्राइवर वर्ग, क्लर्क वर्ग डॉक्टर, वर्ग, किसान वर्ग, व्यापारी वर्ग, वकील वर्ग, शिक्षक वर्ग, इन्जीनियर वर्ग आदि व्यवसाय की प्रकृति के आधार पर बने असंख्य वर्गों का दर्शन आधुनिक भारत में होता है।

5. शिक्षा (Education)—शिक्षा, चाहे वह किसी भी प्रकार की क्या न हो, व्यक्ति की बौद्धिक योग्यता या उपलब्धि को द्योतक है। अतः इससे सम्बन्धित क्षमता या अक्षमता के आधार पर व्यक्ति को एक निश्चित स्थिति प्राप्त होती है और शिक्षा के दृष्टिकोण से एक ही स्थिति वाले लोग एक वर्ग का निर्माण करते हैं। इस आधार पर दो मोटे वर्गों—शिक्षित वर्ग व अशिक्षित वर्ग—का उल्लेख हम प्रायः करते हैं, पर इनमें से प्रत्येक वर्ग के अन्तर्गत अन्य अनेक वर्ग हो सकते हैं। उदाहरणार्थ, सामान्य शिक्षा (general education) और तकनीकी शिक्षा (technical education) दो अलग-अलग क्षेत्र से सम्बन्धित शिक्षायें हैं; अतः इन दो प्रकार की शिक्षा के आधार पर दो पृथक् वर्गों का निर्माण हो सकता है और हुआ भी है।

6. धर्म (Religion)—भारत जैसे समाजों में जहाँ धर्म का सामाजिक महत्त्व अत्यधिक है, उनमें विभिन्न धार्मिक विश्वासों के आधार पर अलग-अलग वर्गों का निर्माण होते देखा जाता है। पर आधुनिक भारत में धर्म का महत्त्व कुछ कम होने के कारण वर्ग-निर्माण के आधार के रूप में धर्म की प्रधानता कुछ कम हो गई है। हाँ, इतना अवश्य है कि धर्म पर विश्वास होने या न होने के आधार पर हम

समाज के लोगों को दो महान् वर्गों—आस्तिक वर्ग और नास्तिक वर्ग—में बाँट सकते हैं।

आधुनिक भारत में नवीन अभिजात वर्ग व उनकी भूमिकाएँ (New Elites and Their Roles in Modern India)

भारत में आधुनिक अर्थ-व्यवस्था तथा सांस्कृतिक व राजनीतिक परिस्थितियों ने अनेक नवीन वर्गों को जन्म दिया है। यह प्रक्रिया अंग्रेजी शासनकाल से ही स्पष्टतः प्रारम्भ हो गई थी जबकि नवीन सामाजिक एवं आर्थिक व्यवस्था का श्रीगणेश हुआ, नवीन शासन-प्रणाली इस देश में लागू की गई तथा एक धर्मनिरपेक्ष शिक्षा (अंग्रेजी शिक्षा) का विस्तार इस देश में हुआ। फलतः नए वर्गों का उदय सम्भव हुआ। ये वर्ग परम्परागत प्राचीन भारतीय समाज में नहीं पाए जाते थे। इन नवीन वर्गों का उदय सम्पूर्ण भारत में इस कारण सम्भव हुआ कि एक समय अंग्रेजी शासन-व्यवस्था सम्पूर्ण देश में छा गई एवं सारा देश एक सामान्य (common) राजनीतिक व आर्थिक व्यवस्था के अन्तर्गत आ गया। उदाहरणार्थ, अंग्रेजी शासनकाल में ही इस देश में औद्योगीकरण की प्रक्रिया प्रारम्भ हुई और उसी के साथ-साथ समाज में दो नए वर्गों—श्रमिक व पूँजीपति वर्ग—का उद्भव हुआ। ये दोनों ही वर्ग आर्थिक स्वार्थों पर आधारित विशिष्ट वर्ग हैं और उन्हीं आर्थिक स्वार्थों के आधार पर ही ये दोनों वर्ग एक-दूसरे से पृथक् बने रहे। उसी प्रकार पाश्चात्य शिक्षा से शिक्षित होकर आधुनिक बुद्धिजीवी वर्ग का उदय सम्भव हुआ। स्मरण रहे कि इन नए सामाजिक वर्गों के निर्माण में पूर्व-ब्रिटिश सामाजिक आर्थिक संरचना का भी महत्वपूर्ण योगदान रहा। उदाहरणार्थ, अंग्रेजों के शासन-काल से पहले भी भारत में व्यापार और उद्योग से सम्बन्धित कार्य बनिये लोग ही अधिकांशतः करते थे और अंग्रेजी शासनकाल में भी इन्हीं लोगों ने सबसे पहले पूँजीपति वर्ग का निर्माण किया। इसी प्रकार अंग्रेजी शासनकाल में ही जमींदार वर्ग, कृषक वर्ग, पूँजीपति वर्ग, श्रमिक वर्ग, व्यापारी वर्ग, दुकानदार वर्ग, डॉक्टर, वकील, शिक्षक, क्लर्क आदि अनेक वर्गों का उदय हुआ। स्वतन्त्रता-प्राप्ति के बाद अंग्रेज शासक वर्ग के रूप में इस देश से चले गए और एक नए पूर्णतया भारतीय शासक वर्ग का इस देश में उदय हुआ और उसी के साथ उभरकर आए वे सभी राजनीतिक वर्ग या दल जोकि सत्ता पर कब्जा करने में असफल रहे। ये लोग ही राज्य विधानसभा या लोकसभा में विरोधी दल कहलाते हैं। आइए, अब हम आधुनिक भारत के आठ प्रमुख नवीन अभिजात वर्गों व उनकी भूमिकाओं की संक्षेप में विवेचना करें—

1. बुद्धिजीवी वर्ग (Intellectual class)—आधुनिक भारत में पाश्चात्य संस्कृति व शिक्षा के प्रभाव से विवेकवाद (rationalism), जनतन्त्रवाद, विज्ञानवाद, आदि मूल्यों पर आधारित नए बौद्धिक वर्गों का उदय हुआ है। इसमें राजा राम-मोहन राय व उनके द्वारा स्थापित ब्रह्म समाज का 'बौद्धिक' वर्ग अग्रणी था। वास्तविकता यह थी कि इस देश में आधुनिक शिक्षा व वैज्ञानिक ज्ञान का जैसे-जैसे विस्तार होता गया उसी के साथ-साथ बुद्धिजीवी वर्ग का आकार भी बढ़ गया। फलतः आज शिक्षकों, सामाजिक विचारकों, दार्शनिकों, वैज्ञानिकों, शोधकर्त्ताओं, पत्रकारों आदि के एक विशाल बुद्धिजीवी वर्ग को इस देश में देखा जा सकता है, यद्यपि देश की विशाल जनसंख्या को देखते हुये बुद्धिजीवी-वर्ग की विशालता उल्लेखनीय नहीं है। कुछ भी

हो, इस बुद्धिजीवी वर्ग से भारतीय समाज-व्यवस्था को संगठित व स्वस्थ रूप देने में अपना महत्वपूर्ण योगदान किया है। स्मरण रहे कि इस देश में सभी समाज-सुधार व धर्म-सुधार, यहाँ तक कि राजनीतिक राष्ट्रीय आन्दोलन इसी बुद्धिजीवी वर्ग के द्वारा ही प्रारम्भ किए गये। इसी वर्ग के सदस्यों ने राष्ट्रीयता व स्वतन्त्रता की भावना को शिक्षा-प्रसार और स्वस्थ जनमत-निर्माण के माध्यम से समस्त देश में फैलाया। यह इसी वर्ग का योगदान है कि आज देश में बाल-विवाह, पर्दा-प्रथा, दहेज-प्रथा, धार्मिक संकीर्णता, प्रान्तीयता, अस्पृश्यता आदि सामाजिक कुरीतियों के प्रतिकूल जनमत जहाँ एक ओर जागृत होता जा रहा है, वहीं राष्ट्रीय एकीकरण, धर्मनिरपेक्षता, राष्ट्रीयता एवं जनतन्त्र के अनुकूल प्रवृत्तियों व मूल्यों का प्रसार हो रहा है। इसी वर्ग में से महान् वैज्ञानिकों, पत्रकारों, सहित्यिकों, इतिहासकारों, समाजशास्त्रियों, दार्शनिकों एवं अर्थशास्त्रियों का उदय हुआ है और हो रहा है जोकि नए-नए आविष्कार कर रहे हैं, नए साहित्य का सृजन कर रहे हैं, सामाजिक समस्याओं के व्यावहारिक हलों को ढूँढ़ रहे हैं और सम्पूर्ण राष्ट्र के नव-निर्माण की योजनाएँ बना रहे हैं।

2. शासक वर्ग (Ruling class)—शासक वर्ग के रूप में अंग्रेजों के इस देश से चले जाने के बाद कांग्रेस-जन शासक वर्ग के रूप में इस देश में उभरकर सामने आये। स्वतन्त्रता-प्राप्ति के बाद से लेकर अब तक अधिकांश राज्यों में अधिकतम समय के लिये एवं केन्द्र में सन् 1947 से मार्च 1977 तक अर्थात् 30 वर्ष की लम्बी अवधि में इसी शासक वर्ग का ही अधिकार रहा। इसी शासक वर्ग के शासनकाल में 'विशेष विवाह अधिनियम, 1954', 'हिन्दू विवाह व विवाह-विच्छेद अधिनियम, 1955', 'दहेज-निरोधक अधिनियम, 1961' आदि पारित किये गये जिनके फलस्वरूप भारतीय परिवार तथा विवाह से सम्बन्धित अनेक परम्परागत कुरीतियों व समस्याओं को हल करने की दिशा में वैधानिक अडचनें दूर हुई। उसी प्रकार 'अस्पृश्यता (अपराध) अधिनियम, 1955' के पास हो जाने से अस्पृश्यता के कलंक को इस देश के माथे से मिटाना सरल हो गया। इसी शासक वर्ग ने पंचवर्षीय योजनाओं को चालू करके देश के आर्थिक व सामाजिक विकास को गति प्रदान करने का प्रयास किया और इसी वर्ग ने समाजवाद और 'गरीबी हटाओ' जैसे नारों को भी बुलन्द किया। इस सत्य को कोई इन्कार नहीं करता कि इस शासक वर्ग में अच्छे व सुयोग्य लोगों की कमी नहीं थी, पर भ्रष्ट, चरित्रहीन और सुविधावादी, कुछ लोगों के कारण यह वर्ग आशानुरूप कार्य नहीं कर सका। इस शासक वर्ग ने एक राजनीतिक भूल शायद उस समय की जब इसने 25 जून, 1975 को आपात स्थिति (Emergency) की घोषणा कर दी और जनता के अधिकारों को अनदेखी कर दी। दूसरी ओर अफसर शाही व कुछ तथाकथित नेताओं द्वारा सरकारी नीतियों का गलत तरीके से प्रयोग होने के कारण परिवार नियोजन और नगर सौन्दर्यकरण के नाम पर जनता को अनेक कष्ट व असुविधायें सहन करने पड़े। इससे इस शासक वर्ग की लोकप्रियता घट गई और मार्च 1977 में लोकसभा चुनाव में भारी पराजय के बाद इसे सत्ता से हट जाना पड़ा और उसके स्थान पर जनता पार्टी के नेतागणों ने शासक वर्ग का स्थान ग्रहण किया। भारतीय राजनीतिक इतिहास में एक नये शासक वर्ग का उदय हुआ। पर यह शासक वर्ग विभिन्न विरोधी विचारधारा वाले राजनीतिक पार्टियों की एक 'खिचड़ी' था जिन्होंने कि कुछ दिनों के बाद ही आपस में लड़ना और एक दूसरे

को नीचा दिखाने का खतरनाक खेल खेलना आरम्भ कर दिया। इस आपसी मतभेदों और अन्तर्द्वन्द्वों के कारण ही इस शासक वर्ग का भी मात्र तीन वर्ष के बाद ही पतन हो गया और उसे सत्ता से हट जाना पड़ा एवं लोक सभा चुनाव व विधान सभा चुनावों में भारी बहुमत से विजयी होकर सन् 1980 में फिर एक बार इन्दिरा कांग्रेस ने प्रधानमंत्री श्रीमती इन्दिरा गांधी के नेतृत्व में सत्ता पर अपना कब्जा जमा लिया है। इस प्रकार सम्भवतः शासक वर्ग का चक्रिय परिभ्रमण का चक्र पूरा हुआ।

3. पूँजीपति वर्ग (Capitalist class)—यह बड़े-बड़े उद्योगों, मिल-कारखानों, खानों आदि के मालिकों का वर्ग है। यह वर्ग सम्पूर्ण देश की अर्थ-व्यवस्था की कुंजी को अपनी मुट्ठीयों में बन्द रखता है और इसी कारण देश के आर्थिक क्रिया-कलापों, उत्पादन, वितरण आदि पर इनका पूर्ण नियन्त्रण होता है, यहाँ तक कि सरकार की आर्थिक नीतियों का भी दिशा-निर्धारण इन्हीं के इशारों पर होता है। इसी कारण कुछ कटु समालोचक यहाँ तक कहते हैं कि इस देश में इन्दिरा जी का राज्य नहीं वास्तव में टाटा, बिड़ला, जे० के० का राज्य है। यह सम्भवतः अति-शयोक्ति है, पर इतना सच है कि अपनी विशाल आर्थिक शक्ति के कारण इस वर्ग में सरकार पर अनुचित दबाव तक डालने की क्षमता होती है। श्री कार्ल मार्क्स ने इसी वर्ग को 'शोषक वर्ग', श्रमिक वर्ग का खून चूसने एवं उसकी गाड़ी मेहनत की कमाई का अधिकांश भाग स्वयं हड़पने वाला वर्ग' कहा है। यह विलासी वर्ग भी है, खूब ऐश-आराम की जिन्दगी बिताता, दृष्टि-आकर्षक उपभोग और बरबादी भी करता है। यही वर्ग चुनाव के समय अपनी स्वार्थसिद्धि के लिये चुनाव फण्ड में बहुत बड़ी रकम चन्दे में देता है और यह वर्ग करोड़ों रुपये के आय-करो व सम्पत्ति-करो की चोरी करता है।

4. श्रमिक वर्ग (Labour class)—यह भारत का सबसे विशाल वर्ग है। देश की कुल जनसंख्या का 33 प्रतिशत इसी वर्ग के सदस्य हैं। यह मेहनतकश, सर्व-हारा लोगों का वर्ग है जिनके पास रोटी-रोजी कमाने के लिये अपने 'श्रम' के अलावा कुछ भी नहीं होता। इसलिये इस वर्ग के सदस्य मिल और कारखानों में काम करते हैं, खानों (mines) एवं चाय-बागानों में दिन-रात मेहनत करते हैं, रिक्शा, टैला, टैक्सी या बस चलाते, खेतों में काम करते अथवा राज-मजदूरों के रूप में मकान या रास्तों अथवा रेल-लाइनों को बनाते हैं। भारत में आर्थिक तौर पर इनकी स्थिति बहुत ही गिरी हुई है। इन्हें न तो उचित भोजन मिलता है, न पूरे कपड़े और न ही समुचित निवास। इस वर्ग के असंख्य सदस्य गन्दी बस्तियों में रहते हैं, रूखा-सूखा कभी पेट-भर तो कभी आधा पेट खाते हैं तथा किसी तरह से तन को उल्टे-सीधे कपड़ों से ढँककर सम्यता की खिल्लियां उड़ाते हैं; पर इसी वर्ग के सदस्य अपने खून-पसीने को एक करके उत्पादन-कार्य करते हैं, उत्पादित वस्तुओं को ढोते और लादते हैं, यातायात और संचार के साधनों को ठीक रखते हैं तथा मकान व गोदामों को बनाकर माल और मालिक दोनों को सुरक्षित रखते हैं।

5. कृषक वर्ग (Cultivator class)—यद्यपि इस वर्ग को भी उपरोक्त श्रमिक वर्ग का ही एक उपभाग माना जा सकता है, फिर भी भारतीय समाज के सन्दर्भ में इस वर्ग का पृथक् उल्लेख इस कारण जरूरी है क्योंकि भारत एक कृषि-प्रधान देश है और आज भी इस देश की कुल जनसंख्या की 80 प्रतिशत जनता गाँवों

में निवास करती है एवं देश के कुल श्रमिकों (workers) का 43.34 प्रतिशत लोग कृषक (cultivators) हैं। खेती करना ही इस वर्ग के सदस्यों का मुख्य पेशा है। यह वर्ग पहले भी था, आज भी है, परन्तु आधुनिक भारत में इसके स्वरूप व प्रकृति में पर्याप्त परिवर्तन हो गया है। दूसरे शब्दों में, यन्त्रीकरण, आधुनिकीकरण, लौकिकीकरण एवं राजनीतिकरण का कुछ-न-कुछ प्रभाव ग्रामीण समुदायों में रहने वाले इस वर्ग के सदस्यों पर पड़ा है, फिर भी यह वर्ग भारतीय अर्थ-व्यवस्था की प्राण-शक्ति है। इस वर्ग के सदस्य यदि एक ओर अपने खेतों में आधुनिक खादों को प्रयोग करता है, अपने बच्चों को शिक्षा प्राप्त करने हेतु शहर भेजता है और ट्रैक्टर आदि को उपयोग में लाता है और चुनाव भी लड़ता-लड़वाता है, तो दूसरी ओर संस्कारों में खूब फिजूल खर्च करता है, बाल-विवाह करता है, भूत-चुड़ैल से डरता है और परिवार-नियोजन से दूर भागता है।

6. व्यापारी वर्ग (Business class)—यह उत्पादित वस्तुओं के वितरण, खरीदने व बेचने से सम्बन्धित कार्य में लगा हुआ वर्ग है। इसके अन्तर्गत खुदरा व थोक दोनों ही प्रकार के व्यापारी आते हैं जोकि वस्तुओं के उत्पादक व उपभोक्ता के बीच एक कड़ी का काम करते हैं। इसीलिये इस वर्ग के अनेक उप-भाग हैं। इस देश का व्यापारी वर्ग सुविधावादी एवं आर्थिक तौर पर अत्यधिक स्वार्थी होता है। अपने आर्थिक हितों की रक्षा के लिये यह वर्ग कुछ भी कर सकता है। जमाखोरी, मुनाफा-खोरी तथा कालाबाजारी इस देश के व्यापारी वर्ग के तीन 'नैतिक नियम' हैं जिन पर अमल करना अधिकांश व्यापारी अपना 'कर्तव्य' (या वर्ण-धर्म) समझते हैं। इसीलिये इस देश में मिलावट करना और नकली चीजों को बेचना व्यापारी वर्ग के लिये नीति-विरुद्ध नहीं है, और न ही कृत्रिम कमी (artificial scarcity) को उत्पन्न करना उनके लिये कोई गलत काम है।

7. स्वतन्त्र पेशों में लगा वर्ग—इस वर्ग के अन्तर्गत डाक्टर, वकील, कलाकार आदि आते हैं जोकि किसी के नौकर के रूप में काम न करके स्वतन्त्र रूप में अपने कार्य व कर्तव्यों को करते रहते हैं। यह वर्ग किसी-न-किसी रूप में जनसेवा कार्य में लगा रहता है। किन्तु देश के सामान्य नैतिक पतन का प्रभाव इस वर्ग पर भी पड़ा है और इसके भी अधिकांश सदस्य सस्ते व आसान ढंग से पैसा कमाने की फिराक में रहते हैं। इसका सामाजिक महत्व अत्यधिक है क्योंकि यह भी बुद्धिजीवी वर्ग का ही एक अंग है। स्वतन्त्र व्यवसाय में लगा एक विशिष्ट वर्ग तस्करों (smugglers) का है जो कि चोरी-छिपे सोना, कपड़ा, विदेशी मुद्रा, फिल्म आदि असंख्य चीजों को विदेश से इस देश में और इस देश से विदेश को ले आते व ले जाते हैं। इस वर्ग का संगठन अत्यन्त ही मुहढ़ सुव्यवस्थित एवं गोपनीय है। ये करोड़ों का सौदा करते हैं और इनका उच्चतम नेता एक सम्राट से कम हैसियत का नहीं होता। कहते हैं कि इस देश में इस वर्ग ने सरकार के समान्तर (parallel) अर्थ व्यवस्था को चला रक्खा है और अन्तर्राष्ट्रीय आधार पर इनका कारोबार चलता रहता है। यह तस्करों का वर्ग देश का सबसे बड़ा दुश्मन है।

8. नौकरशाह वर्ग (Bureaucrats)—आधुनिक शासन-प्रणाली के अन्तर्गत सरकारी काम-काज या शासन-प्रबन्ध को चलाने के लिये सरकारी कर्मचारियों की जो 'सेना' आज क्रियाशील है, उसी को नौकरशाह वर्ग कहते हैं। यह वर्ग उन

संगठित कर्मचारियों का बोध करवाता है जोकि सरकार के एक स्थायी अंग के रूप में निरन्तर शासन-प्रबन्ध से सम्बन्धित कार्यों को करता जाता है और सरकार के बदल जाने पर भी उस पर कोई आंच नहीं आती। वास्तव में नौकरशाह वर्ग एक प्रकार का संस्तरणात्मक संगठन है। जिसका प्रमुख उद्देश्य बड़े पैमाने पर प्रशासनिक कार्य (administrative work) को चलाने के लिये अनेक व्यक्तियों व विशेषज्ञों के कार्यों में तर्कसंगत रूप में समन्वय करना-होता है। सरकारी सचिवालय (secretariat) के कर्मचारी, अथवा जिला स्तर पर जिलाधीश आदि नौकरशाह वर्ग के ही सदस्य होते हैं। भारत में इस वर्ग का प्रशासनिक कार्यों को चलाने में महत्वपूर्ण योगदान होता है। इनके बिना आज प्रशासन को चलाने का सपना भी नहीं देखा जा सकता।

अल्पसंख्यक समुदाय (The Minorities)

जैसाकि इस पुस्तक के प्रथम दो अध्यायों में हमने यह स्पष्ट किया है कि भारत एक विभिन्नताओं का देश है और इन विभिन्नताओं का विकास इसी कारण हुआ है कि अति प्राचीन काल से ही इस देश में विदेशी समुदाय आते रहे और बसते भी रहे हैं। भारत की सदा यह महानता रही है कि उसने किसी को भी त्यागा नहीं, सभी को अपने में आश्रय दिया, अपनों जैसा उनका 'लालन-पालन' किया। व सब बाहर से आये थे, पर बाहर के न रहे, अपने और सगे बन गये। पर अपनों में भी विभाजन हुआ, फर्क भी बताया गया, पर 'परिवार', यह भारत राष्ट्र टूटा नहीं। कुछ हिन्दू, ईसाई या मुसलमान बन गये और कुछ सिक्ख, बौद्ध या जैनी कहलाए—पर सब रहे भारतीय ही। जो इस प्रकार बिखर गये, अलग हो गये वे सम्पूर्ण भारतीय जनसंख्या के दृष्टिकोण से बहुत अधिक न थे अर्थात् संख्या में कम या अल्प थे। इसी-लिये वे भारत के 'अल्पसंख्यक' कहलाये। अल्पसंख्यक कोई बाहर के लोग नहीं, हम में से ही कुछ हैं। आइये, इन अल्पसंख्यकों के बारे में कुछ तथ्यों को जान लें।

भारतीय जनसंख्या में हिन्दू लोग बहुसंख्यक हैं क्योंकि सन् 1971 की जन-गणना के अनुसार देश की कुल जनसंख्या का लगभग 82.72 प्रतिशत लोग हिन्दू हैं, और भी स्पष्ट रूप में भारत के कुल 54.82 करोड़ लोगों में से 45.34 करोड़ व्यक्ति ऐसे हैं जोकि हिन्दू धर्म को मानते हैं। इसमें अगर सिक्ख, बौद्ध और जैन धर्म को मानने वालों को भी सम्मिलित कर लिया जाय तो लगभग 47.02 करोड़ हो जायगा। इनकी बात अगर न भी कि जाय तो भी यह कहा जा सकता है कि इस देश में कुछ अल्प-संख्यक वर्गों जैसे मुसलमान, ईसाई, पारसी आदि का भी निवास है। इनमें से दो प्रमुख अल्पसंख्यक समुदाय मुसलमान तथा ईसाई का संक्षिप्त वर्णन इस प्रकार है—

अल्पसंख्यकों में मुसलमानों की संख्या सबसे अधिक है। भारत की कुल जन-संख्या का लगभग 11 प्रतिशत लोग मुसलमान हैं। 1971 की जनगणना के अनुसार भारत में 6,14,18,269 मुसलमान निवास करते हैं। इनकी सबसे अधिक संख्या उत्तर प्रदेश में है जहाँ कि 1,36,76,533 मुसलमान रहते हैं। इसके बाद क्रमशः पश्चिमी बंगाल (90,64,338), बिहार (75,94,173), महाराष्ट्र (42,33,023), केरल (41,62,718), असम (35,92,124), आन्ध्र प्रदेश (35,20,166), कर्नाटक (31,13,298), जम्मू-कश्मीर (30,40,129), गुजरात (22,49,055), तामिलनाडु (21,03,899), मध्य प्रदेश (18,15,685), राजस्थान (17,78,275) आदि राज्यों

का स्थान है। सिक्किम में सबसे कम संख्या में सिर्फ 335 मुसलमान निवास करते हैं। मुस्लिम परिवार, विवाह तथा विवाह-विच्छेद के बारे में हमने अध्याय 21 में तथा इनके धर्म के बारे में अध्याय 25 में विस्तारपूर्वक विवेचना कर चुके हैं। इस कारण उन्हें फिर यहाँ दोहराने की आवश्यकता नहीं है।

अल्पसंख्यकों में मुसलमानों के बाद ईसाईयों का स्थान है। भारत की कुल जनसंख्या का लगभग 2.60 प्रतिशत लोग ईसाई हैं। 1971 की जनगणना के अनुसार इस देश में कुल (1,42,25,045) ईसाई रहते हैं। इनकी सर्वाधिक संख्या केरल राज्य में है जहाँ (44,94,089), ईसाई लोग निवास करते हैं। इसके बाद क्रमशः तमिल-नाडु (23,67,749), आन्ध्र प्रदेश (19,23,436), महाराष्ट्र (7,17,174), बिहार (6,58,717), कर्नाटक (6,13,026), मेघालय (4,75,267), असम (3,81,010), उड़ीसा (3,78,888), नागालैण्ड (3,44,798), मिजोरम (2,86,141), मध्य प्रदेश (2,86,072), मणिपुर (2,79,243), गोवा, दमण व दीव (2,72,509), पश्चिम बंगाल (2,51,752), पंजाब (1,62,202), उत्तर प्रदेश (1,31,810) आदि का स्थान है। लक्षद्वीप में केवल 239 ईसाई लोग रहते हैं जबकि सिक्किम में इनकी संख्या 1,663 है। इनके धर्म के बारे में हम अध्याय 25 में लिख चुके हैं। इनके परिवार तथा विवाह का संक्षिप्त विवरण इस प्रकार है—

ईसाई परिवार (Christian Family)

परिवार एक सार्वभौम संगठन है। प्रत्येक काल और समाज में परिवार का दर्शन हमें होता है यद्यपि इसका रूप या स्वरूप प्रत्येक समाज व युग में समान नहीं होता है। ईसाई सांस्कृतिक प्रतिमान भी कुछ निश्चित आदर्शों तथा मान्यताओं पर टिका हुआ है और इसीलिए ईसाई परिवार भी एक निश्चित स्वरूप को प्रस्तुत करता है। निम्नलिखित विवेचना से यह बात और भी स्पष्ट हो जायेगी।

ईसाई परिवार की आधारभूत विशेषतायें (Fundamental characteristics of Christian Family)

ईसाई परिवार की कुछ प्रमुख विशेषतायें निम्नलिखित हैं—

1. छोटा आकार—ईसाई परिवार का आकार अधिक बड़ा नहीं होता है। अर्थात् ईसाईयों में परिवार प्रथा का प्रचलन बहुत कम है। इसका कारण भी स्पष्ट है। ईसाई लोग पाश्चात्य सभ्यता व आदर्शों द्वारा अत्यधिक प्रभावित हैं। फलतः व्यक्तिवादी आदर्शों तथा वैयक्तिक स्वतन्त्रता पर वे अधिक बल देते हैं। ये दोनों ही कारक संयुक्त परिवार प्रथा के विरोधी हैं। इसीलिये ईसाई लोगों के परिवारों का आकार छोटा होता है।

2. सम्मिलित सम्पत्ति व आय का न होना—संयुक्त परिवार के अभाव के कारण ही ईसाई परिवार में सम्मिलित सम्पत्ति व आय भी नहीं होती है। इसका तात्पर्य यह है कि पिता की मृत्यु के तुरन्त बाद ही सम्पत्ति का बँटवारा बच्चों में हो जाता है और प्रत्येक सन्तान अपनी आय से केवल अपने ही परिवार के भरण-पोषण का उत्तरदायित्व संभालती है।

3. व्यक्तिवादी विचारधारा—ईसाई परिवार में व्यक्तिवादी विचारधारा देखने को मिलती है। स्पष्टतः यह पाश्चात्य संस्कृति की देन है। परिवार की

सामाजिक स्थिति को निर्धारित करने में धन व व्यक्तिगत गुणों का महत्व ईसाई समाज में अत्यधिक होता है। जन्म या जाति कोई विशेष महत्व नहीं रखती।

4. समानता का सिद्धान्त—पारिवारिक सम्बन्ध व स्थिति के निर्धारण में समानता का सिद्धान्त ईसाई परिवारों की एक प्रमुख विशेषता है। पति और पत्नी एक-दूसरे के जीवन-साथी होते हैं और व्यक्तिगत मामलों में उन्हें समान अधिकार प्राप्त होता है। उसी प्रकार पुत्र और पुत्रियों के बीच कोई विशेष भेदभाव देखने को नहीं मिलता है। यहाँ तक की पिता-पुत्र के सम्बन्ध में भी समानता की ही झलक देखने को मिलती है।

5. परिवार में स्त्रियों की उन्नत स्थिति—हिन्दू या मुस्लिम परिवारों की तुलना में ईसाई परिवारों में स्त्रियों की सामान्य स्थिति अधिक उन्नत होती है। इसका एक प्रमुख कारण यह है कि उनमें शिक्षा का अधिक प्रसार देखने को मिलता है। पर्दा-प्रथा ईसाई परिवारों में नहीं होती है, बाल-विवाह का प्रचलन नहीं है, बहुपत्नी-विवाह उनमें प्रायः नहीं होता है। इस सबका प्रभाव परिवार में स्त्रियों की स्थिति को उन्नत करने पर पड़ता है। सम्पत्ति के सम्बन्ध में भी नारी और पुरुष के अधिकार समान होते हैं। स्त्रियाँ घर से बाहर नौकरी करने खूब जाती हैं जिसके फलस्वरूप उनमें आर्थिक आत्मनिर्भरता होती है। यह भी उनकी स्थिति को उन्नत करने में सहायक होता है।

ईसाई परिवार के उद्देश्य

(Aims of Christian Family)

श्री एम० पी० जॉन० (M. P. John) ने ईसाई परिवार के निम्नलिखित चार उद्देश्यों का उल्लेख किया है—

1. सन्तानों को जन्म देना—अन्य परिवारों की भाँति ईसाई परिवार का भी एक प्रमुख उद्देश्य सन्तानोत्पत्ति है। किसी भी समाज की निरन्तरता के लिये यह आवश्यक है कि परिवार इस कार्य को सच्चाई से करता रहे क्योंकि समाज में जो लोग मर जाते हैं उनके रिक्त स्थानों को भरने के लिये नई सन्तानों की आवश्यकता तो होती ही है।

2. व्यभिचार से बचना—परिवार का एक महत्वपूर्ण उद्देश्य यौन-इच्छाओं की सन्तुष्टि करना और लोगों को यौन-सम्बन्धी पाप व व्यभिचार से दूर रखना है। यौन-इच्छाओं की तृप्ति के लिये परिवार समाज द्वारा मान्य कुछ निश्चित परिस्थितियों को प्रस्तुत करता है और साथ ही अपने सदस्यों को सतर्क करता है कि उन नियमों को तोड़ने पर उन्हें समाज द्वारा दण्ड दिया जायेगा। इसी डर से लोग यौन-व्यभिचार से दूर रहने का प्रयत्न करते हैं। इस दिशा में परिवार के सदस्यों पर सामान्य नियन्त्रण भी अत्यन्त प्रभावपूर्ण सिद्ध होता है।

3. पारस्परिक सहयोग—परिवार का एक और प्रमुख उद्देश्य एक-दूसरे की सहायता करना है जिससे सबको लाभ पहुँचे। कोई भी व्यक्ति स्वयं पूर्ण नहीं होता है। उसे अपने व्यक्तित्व का उचित विकास करने के लिये दूसरों के सहयोग की आवश्यकता होती है। परिवार में यह सहयोग अधिक प्रभावशाली होता है क्योंकि परिवार एक अत्यन्त घनिष्ठ समूह होता है। परिवार में सहयोग के साथ जब प्रेम, स्नेह व सद्भावना भी मिल जाती है तो व्यक्तित्व के विकास की प्रक्रिया में चार चाँद लग जाते हैं।

4. पारस्परिक आराम—परिवार में जो पारस्परिक सहयोग, त्याग व एक-दूसरे के लिये कष्ट सहन करने की भावना होती है उसके फलस्वरूप सभी सदस्यों को आराम मिलता है। यदि पिता के कारण पुत्र को आराम मिलता है तो कुछ मामलों में पुत्र के कारण पिता को भी आराम मिल सकता है।

ईसाई विवाह

(Christian Marriage)

परिभाषा

(Definition)

उत्तर भारत के संयुक्त चर्च United (Church) के अनुसार, “ईसाई-विवाह समाज में एक पुरुष और एक स्त्री के बीच एक ऐसा समझौता है जो सामान्य रूप से सारे जीवन-भर चलता रहता है और जिसका कि उद्देश्य यौन-सम्बन्ध, पारस्परिक संसर्ग और परिवार की स्थापना है।”

उपरोक्त परिभाषा से ईसाई विवाह की कुछ विशेषतायें स्पष्ट हैं—

(1) ईसाई विवाह का आदर्श एक-विवाह (monogamy) है अर्थात् एक स्त्री या एक पुरुष का एक ही पुरुष या स्त्री से विवाह ईसाइयों में मान्य है।

(2) ईसाई विवाह एक समझौता (contract) मात्र है। अर्थात् हिन्दू विवाह की भाँति ईसाई विवाह एक धार्मिक संस्कार नहीं है।

(3) ईसाई विवाह में यह समझौता सामान्यतः सारे जीवन-भर के लिये होता है। अर्थात् ईसाई विवाह अनिवार्य रूप में हिन्दू विवाह की भाँति सारे जीवन-भर के लिए एक बन्धन नहीं है। इसका तात्पर्य यही है कि ईसाई विवाह में विवाह-विच्छेद मान्य है। विवाह का समझौता आवश्यकता पड़ने पर तोड़ा जा सकता है।

उद्देश्य

(Aims)

उपरोक्त परिभाषा से ईसाई विवाह के तीन उद्देश्य भी स्वतः ही स्पष्ट होते हैं। वे उद्देश्य इस प्रकार हैं—

(अ) यौन-सम्बन्ध—यह एक सामान्य उद्देश्य है और वह इस अर्थ में कि समाज द्वारा मान्यता प्राप्त तरीके से विवाह-सम्बन्ध के अन्तर्गत यौन इच्छाओं की पूर्ति करना केवल ईसाइयों के विवाह का ही नहीं अपितु सभी समाजों में प्रायः सभी प्रकार के विवाहों का उद्देश्य होता है। ईसाइयों में यौन-सम्बन्ध को विवाह का प्रथम उद्देश्य मानने के दो कारण हैं—प्रथम तो यह कि यौन-इच्छाओं की संतुष्टि विवाह सम्बन्ध के अन्तर्गत हो जाने से समाज में व्यभिचार और पाप फैल नहीं पाता है और ईश्वरीय महिमा पर कलंक को छाप लग नहीं पाती है। द्वितीयतः यौन-सम्बन्ध के द्वारा बच्चों का जन्म और समाज की निरन्तरता सम्भव होती है। कहा जाता है कि सन्तानोत्पत्ति के द्वारा ईसाई लोग ईश्वर की सृजनात्मक क्रिया में भाग लेते हैं जबकि बच्चों के पालन-पोषण में ईश्वर की पालक शक्ति को वे प्रतिबिम्बित होते देखते हैं।

(ब) पारस्परिक संसर्ग (Mutual companionship)—ईसाई विवाह का उद्देश्य दो स्त्री-पुरुष को एक-दूसरे के निकट लाना है और उन्हें एक-दूसरे का इस प्रकार, साथी बना देना है कि वे एक-दूसरे के व्यक्तित्व के विकास में सहायक सिद्ध हों।

(स) परिवार की स्थापना—विवाह का एक और उद्देश्य परिवार बसाना है। समाज और व्यक्ति के जीवन में परिवार का अत्यधिक महत्व है और विवाह वही साधन है जिसके द्वारा परिवार की स्थापना सम्भव होती है।

विवाह संस्कार (Marriage Ritual)

ईसाइयों में जीवन-साथी का चुनाव युवक-युवती अपनी पसन्द के अनुसार स्वयं करते हैं अथवा यह काम माता-पिता आदि पर छोड़ दिया जाता है। विवाह अत्यन्त निकट सम्बन्धियों (जैसे सगे भाई-बहनों में या चचेरे, फुफेरे या ममेरे भाई बहनों में) में नहीं हो सकता यद्यपि कुछ अत्यन्त विशेष परिस्थिति में ऐसे विवाहों को भी मान्यता दी जा सकती है। दहेज आदि का प्रचलन ईसाइयों में नहीं है। वर या वधू का चुनाव हो जाने के बाद सगाई या मंगनी होती है। इसके लिए चर्च के पादरी को सूचना देनी पड़ती है। वर पक्ष कुछ मेंट (मिठाई, अंगूठी आदि) लेकर लड़की के घर जाता है। वर-वधू को एक-दूसरे के सामने बैठकर पादरी वाईबिल के कुछ अंश पढ़ता है। फिर पादरी अंगूठियों को वर-वधू को पहना देता है और मंगनी (engagement) की घोषणा करता है। मंगनी के बाद लड़के-लड़की दोनों को ही चर्च की सदस्यता व चरित्र की शुद्धता का प्रमाण-पत्र (certificate) तथा विवाह के लिए एक प्रार्थना-पत्र (application) विवाह-तिथि से तीन सप्ताह पूर्व चर्च के अधिकारी को देना पड़ता है। चर्च का अधिकारी इस प्रार्थना-पत्र को प्रकाशित करता है और कोई विरोध न होने पर विवाह के लिए एक प्रमाण-पत्र देता है। विवाह चर्च में होता है जहाँ कि दोनों ही पक्ष के आमन्त्रितगण उपस्थित रहते हैं। पादरी तथा उपस्थित लोगों के सामने लड़का व लड़की विवाह बन्धन को निभाने का वचन देते हैं और फिर वे अपनी अंगूठियाँ बदल लेते हैं। फिर पादरी यह घोषित करता है कि ये दोनों व्यक्ति अब पति और पत्नी हो गए हैं। अन्त में पादरी प्रार्थना करते और दोनों को आशीर्वाद देते हैं। यह सब कुछ न होकर विवाह (सिविल मैरेज) अदालत में भी रजिस्ट्री करवा कर हो सकता है।

विवाह-विच्छेद (Divorce)

ईसाई धर्म पुस्तक वाईबिल विवाह-विच्छेद की मान्यता नहीं देती है। फिर भी सामान्य रूप में ईसाइयों में विवाह-विच्छेद मान्य है। भारतीय ईसाइयों का विवाह-विच्छेद 'भारतीय विवाह-विच्छेद अधिनियम, 1869' (The Indian Divorce Act, 1869) के अनुसार नियमित होता है। इस अधिनियम में निम्नलिखित सुविधाएँ प्राप्त हैं—

1. विवाह-विच्छेद (Dissolution of Marriage)—उपरोक्त अधिनियम की धारा 10 के अन्तर्गत उन कारणों या अवस्थाओं का उल्लेख है जिसके अन्तर्गत पति या पत्नी विवाह-विच्छेद के लिए प्रार्थना-पत्र प्रस्तुत कर सकते हैं। पति अपनी पत्नी के व्यभिचारिणी होने पर प्रार्थना-पत्र दे सकता है जबकि पत्नी निम्नलिखित 7 आधारों में से किसी एक के आधार पर विवाह-विच्छेद का आवेदन-पत्र दे सकती है—(1) पति ने ईसाई धर्म त्याग दिया है। (2) पति ने निषिद्ध व्यक्तियों के साथ यौन-सम्बन्ध स्थापित कर लिया हो। (3) पति ने दूसरी शादी कर ली हो। (4) पति बलात्कार आदि अपराध से अपराधी है। (5) पति ने किसी दूसरी स्त्री के साथ

अनुचित मैनून किया हो। (6) पति बहु-विवाह व्यभिचार का अपराधी हो। (7) पति ने पत्नी का कम-से-कम दो साल से परित्याग किया हो।

2. विवाह की अवैधता (Nullity of Marriage)—उपरोक्त अधिनियम की धारा 18 व 19 के अनुसार कोई भी पति या पत्नी अपने विवाह को अवैध घोषित करने के लिए प्रार्थना-पत्र निम्नलिखित अवस्थाओं में प्रस्तुत कर सकते हैं—(क) प्रतिवादी नपुंसक है। (ख) पति-पत्नी एक-दूसरे के निषेधात्मक रक्त-सम्बन्धी या विवाह-सम्बन्धी हैं। (ग) प्रतिवादी पागल या मूढ़ है। (घ) विवाह के समय किसी भी पक्ष का पूर्व पति या पत्नी जीवित थी।

3. न्यायिक पृथक्करण (Judicial Separation)—व्यभिचार, क्रूरता या परित्याग की अवस्था में न्यायिक पृथक्करण के लिए प्रार्थना-पत्र दिया जा सकता है जिसका कि उल्लेख धारा 22 के अन्तर्गत किया गया है।

4. सुरक्षा आज्ञा (Protection Order)—ऐसी कोई भी पत्नि जो भारतीय उत्तराधिकार अधिनियम के अन्तर्गत नहीं आती है, अपने पति द्वारा परित्याग के बाद अपने पति तथा उसके लेनदारों के विरुद्ध सुरक्षा आज्ञा प्राप्त कर सकती है तथा अपने साम्प्रतिक अधिकारों को सुरक्षित रख सकती है।

5. वैवाहिक अधिकारों का पुनःस्थापन (Restitution of Conjugal Rights)—धारा 32 के अनुसार पति या पत्नी वैवाहिक अधिकारों को फिर से प्राप्त करने के लिए प्रार्थना-पत्र प्रस्तुत कर सकते हैं। धारा 36 के अनुसार पत्नी अरण-पोषण की मांग अपने पति से कर सकती है। धारा 58 और 59 के अनुसार किसी भी पादरी को विवाह करने के लिये बाध्य नहीं किया जा सकता।

उपरोक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि ईसाई परिवार तथा विवाह की अपनी कुछ प्रमुख विशेषतायें होती हैं। पर भारतवर्ष में उन पर हिन्दू तथा मुस्लिम परिवार तथा विवाह के भी कुछ-न-कुछ प्रभाव स्पष्टतः देखने को मिलते हैं और यह स्वाभाविक भी है।

अल्पसंख्यक आयोग की नियुक्ति

(Appointment of Minorities Commission)

15 जनवरी, 1978 को केन्द्रीय सरकार ने देश-भर में भाषायी एवं धार्मिक अल्पसंख्यकों के हित की रक्षा के लिये एक अल्पसंख्यक आयोग की नियुक्ति की घोषणा एक अधिसूचना जारी करके की है। एक सरकारी विज्ञप्ति के अनुसार अल्पसंख्यक आयोग की यह नियुक्ति भारतीय संघ की धर्म-निरपेक्ष (secular) परम्पराओं की रक्षा करने, राष्ट्रीय एकीकरण (national integration) को बढ़ावा देने तथा अल्पसंख्यकों के दिल व दिमाग से असमानता एवं भेदभाव की भावना को समाप्त करने की दिशा में एक कारगर कदम है।

सरकारी विज्ञप्ति के अनुसार यह आयोग इस प्रकार की संस्थागत व्यवस्थाएँ (institutional arrangements) उपलब्ध कराएँगी जिनके माध्यम से अल्पसंख्यकों को संविधान में, केन्द्र तथा राज्य सरकारों द्वारा पारित कानूनों में तथा समय-समय पर क्रियान्वित सरकारी नीतियों व प्रशासनिक योजनाओं में उनको (अल्पसंख्यकों को) प्रदत्त सुरक्षाओं को उचित रूप में लागू तथा प्रभावशील बनाया जा सके।

अल्पसंख्यक आयोग में एक अध्यक्ष तथा दो अन्य सदस्य होंगे जिनका

कार्यकाल सामान्य तौर पर तीन वर्ष से अधिक न होगा। संविधान के अनुच्छेद 350 (बी) के अन्तर्गत नियुक्त विशेष अधिकारी (Special Officer) इस आयोग के सचिव (Secretary) के रूप में कार्य करेगा। आयोग का मुख्यालय दिल्ली में होगा।

इस आयोग के प्रमुख कार्य इस प्रकार होंगे—

(1) संविधान में तथा केन्द्र एवं राज्य सरकारों द्वारा पारित कानूनों के अन्तर्गत अल्पसंख्यकों के लिए उपलब्ध विभिन्न संरक्षणों (safeguards) की क्रियाशीलता (working) का मूल्यांकन करना;

(2) उपरोक्त सभी संरक्षणों एवं कानूनों की प्रभावी ढंग से लागू करने व उन्हें अधिक कारगर बनाने के सम्बन्ध में सुझाव देना;

(3) केन्द्र और राज्य सरकारों द्वारा अल्पसंख्यकों के लिए बनाई गई नीतियों के कार्यान्वयन की समीक्षा (review) करना;

(4) अल्पसंख्यकों को प्रदत्त सुरक्षाओं और अधिकारों से वंचित किये जाने सम्बन्धी विशेष शिकायतों पर ध्यान देना;

(5) अल्पसंख्यकों के साथ किये जाने वाले भेदभाव को दूर करने के प्रश्न से सम्बन्धित सभी विषयों का अध्ययन, शोध व विश्लेषण कार्य करना;

(6) केन्द्र या राज्य सरकारों द्वारा किसी भी अल्पसंख्यकों के मामले में अपनाये जाने वाले उचित वैधानिक और कल्याणकारी कदम के सम्बन्ध में सुझाव देना;

(7) अल्पसंख्यकों की वर्तमान अवस्थाओं (conditions) से सम्बन्धित सूचनाओं के मामले में एक राष्ट्रीय आदान-प्रदान केन्द्र (national clearing house) के रूप में कार्य करना; एवं

(8) सरकार को एक निर्धारित अवधि के बाद समय-समय पर रिपोर्ट देना।

आयोग अपने उपरोक्त कर्तव्य-कर्मों के निर्वाह हेतु स्वयं ही अपनी कार्यविधि को निश्चित करेगा। भारत सरकार के समस्त मन्त्रालय एवं विभाग आयोग के लिए उन सभी सूचनाओं व कागजातों को उपलब्ध करायेंगे एवं इस प्रकार के सभी आवश्यक सहयोग देंगे जिनकी कि माँग आयोग समय-समय पर करे।

भारत सरकार को यह आशा है कि सभी राज्य सरकारें तथा केन्द्रशासित प्रशासन एवं अन्य सम्बन्धित संस्थायें आयोग को अपना पूर्ण सहयोग व सहायता प्रदान करेंगे।

आयोग अपने कार्यों (activities) तथा सुझावों के सम्बन्ध में राष्ट्रपति को एक वार्षिक रिपोर्ट देगा। इसके अतिरिक्त आवश्यकता पड़ने पर आयोग अपने कार्य-क्षेत्र के अन्तर्गत आने वाले किसी भी विषय के सम्बन्ध में कभी भी सरकार को रिपोर्ट दे सकता है। आयोग द्वारा प्रस्तुत वार्षिक रिपोर्ट एक ज्ञापन (memorandum) के साथ संसद् के दोनों सदनों में प्रस्तुत की जाएगी। ज्ञापन में इस बात का खुलासा होगा कि आयोग के सुझाव पर क्या कार्यवाही की गई और यदि किसी सुझाव को स्वीकार नहीं किया गया है तो इसका कारण क्या है;

इस अल्पसंख्यक आयोग की नियुक्ति की आवश्यकता सरकार इस कारण अनुभव करती है क्योंकि संविधान में तथा प्रचलित कानूनों में उपलब्ध संरक्षणों के बावजूद अल्पसंख्यकों में यह भावना बनी हुई है कि उनके साथ असमानता का व्यवहार किया

जाता है। इस प्रकार की भावना राष्ट्रीय एकीकरण को पनपाने तथा धर्मनिरपेक्षता की परम्परा को बनाये रखने में घोर बाधक है। अतः सरकार इस बात को अत्यन्त महत्वपूर्ण मानती है कि अल्पसंख्यकों को संविधान व कानून के अन्तर्गत जो भी सुरक्षाएँ उपलब्ध हैं, उन्हें कारगर व प्रभावी ढंग से लागू करने के लिए संस्थागत व्यवस्थाएँ की जाएँ ताकि अल्पसंख्यकों के मन में नये विश्वास, नई आशाएँ उत्पन्न हो सकें। सबको साथ लेकर चलने पर ही 'दूसरी स्वतन्त्रता' के बाद नव-भारत के नव-निर्माण का कार्य पूरा हो सकेगा।

भारतीय समाज व संस्कृति में समकालीन परिवर्तन

(Contemporary Changes In Indian Society And Culture)

भारतीय समाज व संस्कृति का इतिहास अति प्राचीन है। पर प्राचीनता के साथ-साथ भारतीय समाज व संस्कृति में निरन्तरता भी देखने को मिलती है। यूनान, रोम, मिश्र और सुमेर की प्राचीन संस्कृतियाँ समय के प्रवाह में बह चुकी हैं, आज वहाँ निवास करने वाले लोगों के जीवन में उस प्राचीन संस्कृति का कोई सूत्र नहीं रह गया है। पर प्राचीन भारतीय संस्कृति, उसका समाज व संस्थाएँ आज भी जीवित हैं और उसकी परम्पराएँ आज भी भारतीय जीवन में विद्यमान हैं। अर्थात् प्रायः 5000 वर्ष से भारतीय समाज व संस्कृति की निरन्तरता बराबर बनी हुई है।

पर इस निरन्तरता का अर्थ जड़ता अथवा गतिशीलता का अभाव नहीं है। यदि भारतीय समाज व संस्कृति में निरन्तरता है, तो परिवर्तनशीलता या गतिशीलता में भी है। भारतीय सामाजिक व सांस्कृतिक जीवन का इतिहास अनेक चढ़ाव-उतार, अनेक उत्थान-पतन, अनेक परिवर्तन-परिवर्द्धन और अनेक लेन-देन का इतिहास है। परिवर्तन प्रकृति का नियम है और उस नियम से भारतीय समाज भी अछूता नहीं रह पाया है। यही कारण है कि वैदिक युग के समाज और आधुनिक भारतीय समाज में जमीन-आसमान का फर्क है। परन्तु इससे पूर्व कि हम इस सम्बन्ध में और कुछ विवेचना करें, यह उचित होगा कि हम भारत में सामाजिक परिवर्तन के कारकों को समझ लें।

भारत में सामाजिक परिवर्तन के कारक (Factors of Social Change in India)

भारत एक विशाल देश है और यहाँ विभिन्न प्रकार के खान-पान, रहन-सहन, जलवायु, राजनीतिक पार्टियाँ, भाषा आदि देखने को मिलती हैं। फिर भी इन भिन्नताओं के बीच इस देश में कुछ समानताएँ व एकता भी देखने को मिलती है। यही कारण है कि इस देश में सामाजिक परिवर्तन के कुछ सामान्य कारणों को भी ढूँढा जा सकता है। वे कारण इस प्रकार हैं—

1. **पाश्चात्य सभ्यता व संस्कृति (Western Civilization & Culture).—** भारतीय समाज में परिवर्तन की एक प्रभावशाली शक्ति पाश्चात्य सभ्यता व संस्कृति है। आधुनिक भारत में रहन-सहन, पोशाक, खान-पान, गीत, नृत्य, अभिवादन के ढंग, मकानों के डिजाइन, मकान बनाने के ढंग आदि असंख्य विषयों में जो परिवर्तन हो गये हैं या हो रहे हैं वे सभी पाश्चात्य सभ्यता व संस्कृति के कारण ही काफी सीमा तक प्रभावित हुए हैं। उसी प्रकार पाश्चात्य शिक्षा ने हमारा सम्बन्ध दुनिया के अन्य समाजों के साथ जोड़ दिया है। उस पारस्परिक सम्पर्क के कारण भी भारतीय समाज में अनेक प्रकार के परिवर्तन हुए हैं। 'हिप्पी संस्कृति' आज भारतीय समाज में कितनी

अधिक छापी हुई है और किस सीमा तक भारतीय नवयुवक व युवतियों के जीवन-प्रतिमान (life pattern) में परिवर्तन लाती जा रही है, इस सत्य को हम सभी लोग जानते हैं। डॉ० एम० एन० श्रीनिवास का विचार है कि भारत में अंग्रेजी शासन की स्थापना से लेकर अब तक इस समाज में पश्चिमीकरण (westernization) की जो प्रक्रिया चल पड़ी है उसके फलस्वरूप भारतीय समाज में अनेक परिवर्तन हुए हैं और आज भी हो रहे हैं। डॉ० श्रीनिवास ने लिखा है, “अंग्रेजी शासन के कारण भारतीय समाज व संस्कृति में बुनियादी और स्थायी परिवर्तन हुए। यह काल भारतीय इतिहास के पिछले सभी कालों से भिन्न था क्योंकि अंग्रेज अपने साथ नई प्रौद्योगिकी, संस्थाएँ, ज्ञान, विश्वास और मूल्य (values) लेकर आए थे। नई प्रौद्योगिकी और उसके कारण संचार साधनों में होने वाली क्रान्ति की सहायता से अंग्रेजों ने देश का ऐसा एकीकरण किया जैसा पहले उसके इतिहास में कभी नहीं हुआ था।”

2. औद्योगीकरण व नागरीकरण (Industrialization and Urbanization) — अंग्रेजी शासन की स्थापना के बाद से भारत में औद्योगीकरण व नागरीकरण की जो लहर आई है उसके कारण भारतीय समाज में अनेक महत्वपूर्ण परिवर्तन हुए हैं। औद्योगीकरण ने यदि एक ओर बड़े पैमाने में उत्पादन कार्य को आरम्भ करके इस देश में पूँजीवादी अर्थ-व्यवस्था का श्रीगणेश किया है तो दूसरी ओर गन्दी बस्ती (slums), औद्योगिक झुण्डे व तनाव, श्रमिक संघ, बीमारी, बेकारी व गृह-उद्योगों का विनाश आदि परिणामों व परिवर्तनों को भी उत्पन्न किया है। नगर व उद्योग-धन्धे अपने अनेक आकर्षणों व प्रलोभनों द्वारा गाँव के लोगों को अपनी ओर खींचते हैं जिसके फलस्वरूप गाँव के घरेलू उद्योग व संयुक्त परिवार टूटता है और साथ ही गाँव का सम्पर्क नगरों से घनिष्ठ हो जाने के कारण गाँव का जीवन-प्रतिमान भी तेजी से परिवर्तित हो जाता है। बड़े-बड़े औद्योगिक केन्द्रों में घनी आबादी होने के कारण व होटल, जलपान-गृह, कैप्टीन आदि में साथ-साथ बैठकर खाने-पीने के कारण जाति-प्रथा के खान-पान, विवाह, पेशा आदि से सम्बन्धित नियमों व प्रतिबन्धों में अनेक परिवर्तन हो जाते हैं और हो भी गए हैं। परम्परागत भारतीय सामाजिक संगठन के तीन आधार-स्तम्भों—जाति-प्रथा, संयुक्त परिवार व पंचायत—में अनेक क्रान्तिकारी परिवर्तन लाने में औद्योगीकरण व नागरीकरण की प्रक्रिया ने अत्यन्त महत्वपूर्ण योगदान किया है।

2. संस्कृतीकरण (Sanskritization) — डॉ० एम० एन० श्रीनिवास (M. N. Srinivas) ने भारतीय समाज में, विशेषकर जातीय संरचना में होने वाले अनेक परिवर्तनों का कारण संस्कृतीकरण माना है। संस्कृतीकरण की व्याख्या करते हुए आपने लिखा है, “संस्कृतीकरण वह प्रक्रिया है जिसके द्वारा कोई निम्नस्तरीय हिन्दू जाति या कोई जनजाति अथवा अन्य समूह किसी उच्चस्तरीय और प्रायः ‘द्विज’ जाति का अनुकरण करता हुआ अपने रीति-रिवाज, कर्मकाण्ड, विचारधारा और जीवन-पद्धति को बदलता है। आमतौर पर ऐसे परिवर्तनों के बाद वह जाति अपने परम्परागत जातीय स्थान से ऊँचे स्थान का दावा करने लगती है। साधारणतः बहुत दिनों तक और वास्तव में एक-दो पीढ़ियों तक दावा किये जाने के बाद उच्च स्थान की स्वीकृति मिलती है।” संस्कृतीकरण की इस प्रक्रिया द्वारा निम्न जाति के लोगों की केवल जातीय स्थिति, प्रथाओं व आदतों में ही नहीं अपितु विचारों व मूल्यों में भी परिवर्तन हो जाते हैं। इस प्रकार, डॉ० श्रीनिवास के अनुसार, आधुनिक भारत में

संस्कृतीकरण की प्रक्रिया के द्वारा निम्न जातियों में अनेक उल्लेखनीय परिवर्तन होते जा रहे हैं जिसके फलस्वरूप एक ओर उनमें नए विचारों, मूल्यों व आदतों का श्रीगणेश हो रहा है और दूसरी ओर उनके मन से हीनता की भावना का भी लोप होता जा रहा है।

4. कल्याण राज्य की स्थापना (Establishment of Welfare State)—स्वतन्त्रता-प्राप्ति के बाद भारत में कल्याण राज्य की स्थापना की दिशा में निरन्तर प्रयास चल रहा है जिसके फलस्वरूप राज्य का कार्य-क्षेत्र दिन-प्रतिदिन बढ़ता जा रहा है और सामाजिक परिवर्तन की प्रक्रिया को अधिक गति (speed) प्राप्त होती जा रही है। भारत में केन्द्रीय तथा राज्य सरकार इस बात का प्रयत्न कर रहे हैं कि सामान्य हितों की वृद्धि के लिये व्यापारियों से उपभोक्ता की, पूँजीवादी शोषण से श्रमिकों की और बड़े उद्योगों से छोटे व गृह-उद्योगों की रक्षा की जाए, स्वस्थ वैज्ञानिक साधनों को काम में लाकर जीवन की भौतिक परिस्थितियों का सुधार किया जाए, प्राकृतिक साधनों की रक्षा करते हुए उनके उचित प्रयोग के साधनों की व्यवस्था की जाए, शिक्षा तथा स्वास्थ्य के क्षेत्र में आम जनता के लिये अधिकतम सुविधाओं को सुलभ बनाया जाए, संस्कृति के विकास के लिये राष्ट्रीय संग्रहालयों की स्थापना तथा वैज्ञानिक अनुसंधान व शोध-कार्य की सहायता की जाए; सब वर्गों विशेषकर पिछड़े वर्गों के हितों को ध्यान में रखकर कृषि, उद्योग तथा व्यापार की उन्नति व आवश्यकतानुसार राष्ट्रीयकरण किया जाय तथा राष्ट्रीय धन के समान वितरण की व्यवस्था की जाए। स्वतन्त्रता-प्राप्ति से अब तक इस 31 वर्ष की अवधि में इन सब क्षेत्रों में सरकार की उपलब्धियाँ वास्तव में बहुत कम हैं, फिर भी प्रयत्न जारी हैं और उन प्रयत्नों के फलस्वरूप भारत में सामाजिक परिवर्तन भी हो रहे हैं।

5. कृषि व्यवसाय का मशीनीकरण व आधुनिकीकरण (Mechanization and Modernization of Agriculture)—भारत गाँवों का देश है और यहाँ के लोगों का मुख्य व्यवसाय कृषि ही है। मशीनों के आविष्कार होने तथा शहरों के निकट सम्पर्क में आने एवं कृषि के सम्बन्ध में नवीनतम खोजों से धीरे-धीरे परिचित होने के फलस्वरूप भारतीय गाँवों में कृषि व्यवसाय का उत्तरोत्तर मशीनीकरण व आधुनिकीकरण होता जा रहा है। फलतः यह देश अनेक वर्षों तक खाद्यान्न आदि के विषय में विदेशों पर निर्भरशील रहने के बाद अब धीरे-धीरे आत्म-निर्भर की स्थिति पर पहुँच गया है। भारतीय आर्थिक जीवन में यह एक उल्लेखनीय परिवर्तन व उपलब्धि है। इस मशीनीकरण व आधुनिकीकरण के फलस्वरूप भारतीय किसानों की आर्थिक स्थिति में परिवर्तन हुआ है और साथ ही उनके विचार, मूल्य, आदर्श व रहन-सहन भी बदला है।

6. राजनीतिक संगठन (Political Organization)—भारत में सामाजिक परिवर्तन लाने में विभिन्न राजनीतिक पार्टियों ने भी अपनी भूमिका अदा की है। पहले भारतीय जनता में राजनीतिक चेतनता का अत्यन्त अभाव था। अपने अधिकारों के सम्बन्ध में, सामाजिक कर्तव्यों के सम्बन्ध में एवं समाज की विविध समस्याओं के सम्बन्ध में वे अधिक जागरूक नहीं थे। राजनीतिक पार्टियाँ ने अपने-अपने आदर्शों व उद्देश्यों के अनुसार अपने-अपने ढंग के प्रचार द्वारा जनता में राजनीतिक व सामाजिक जागृति लाने में सफल हुई हैं। इन्हीं राजनीतिक दलों के क्रिया कलापों व प्रचारों के फलस्वरूप अनेक महत्वपूर्ण परिवर्तन हुए हैं। चुनाव में अधिक दिलचस्पी, ग्रामीण जनता में एक विशेष राजनीतिक पार्टी को अच्छा मानने की प्रवृत्ति, गुवा पीढ़ी के द्वारा देश के नेतृत्व में उत्तरोत्तर प्रवेश, महिलाओं का राजनीतिक व सामाजिक क्षेत्र

में कार्य करना व नेतृत्व करना आदि महत्वपूर्ण परिवर्तन राजनीतिक दलों के क्रिया-कलापों व विचारों का ही परिणाम है।

7. महिला शिक्षा (Female Education)—भारत में सामाजिक परिवर्तन लाने में महिला शिक्षा भी एक उल्लेखनीय कारण है। महिलायें भारतीय समाज की अत्यन्त पिछड़ी व रूढ़िवादी अंग रही हैं और उनका जीवन परिवार की चार दीवारों के अन्दर खाना बनाने, बच्चों को जन्म देने व पति एवं बच्चों की देख-रेख करते हुए ही बीत जाता था। पर आज उन्हें शिक्षा प्राप्त करने की जो सुविधायें प्राप्त हो रही हैं, उसके कारण उनमें एक नवीन जागृति आ गई है और वे अपने अधिकार व कर्तव्यों के सम्बन्ध में पहले से अब कहीं ज्यादा जागरूक हो गई हैं। महिला शिक्षा ने उनकी रूढ़िवादिता को बहुत कम कर दिया है, वे अब घर से बाहर निकलकर न केवल नौकरी करती हैं, अपितु पार्टी व क्लब जाती हैं, पिकनिक पर निकलती हैं, महिला संगठनों को बनाती हैं, समाज-सेविका के रूप में कार्य करती हैं, राजनीति में भी खुलकर हिस्सा लेती हैं और कोर्ट में जाकर 'लव मैरिज' (Love marriage) करके जाति-पाति के भेदभाव को चुनौती देती हैं। ये सभी परिवर्तन काफी हद तक महिला शिक्षा के विस्तार के कारण ही सम्भव हुए हैं। क्योंकि अन्य कारकों की क्रियाशीलता भी शिक्षा के स्तर पर ही निर्भर करती है।

8. सामाजिक विधान (Social Legislation)—भारतीय समाज में अनेक महत्वपूर्ण परिवर्तन लाने में सरकार द्वारा पारित सामाजिक विधानों की सहायनीय सहयोग रहा है। कुछ उदाहरणों द्वारा इस बात को सिद्ध किया जा सकता है। 'विशेष विवाह अधिनियम, 1954' ने जाति-पाति के भेदभाव को दूर करके अन्तर्जातीय विवाह (Intercaste marriage) के द्वार को खोल दिया है, जबकि हिन्दू विवाह अधिनियम, 1955' एक-विवाह को अनिवार्य करते हुए कुछ निश्चित अवस्थाओं में विवाह-विच्छेद की आज्ञा प्रदान करता है जोकि हिन्दू-समाज में इससे पहले कदापि सम्भव न था। उसी प्रकार 'बाल-विवाह-निरोधक अधिनियम, 1929, विवाह की आयु में परिवर्तन लाने में सहायक सिद्ध हुआ है और 'दहेज निरोधक अधिनियम, 1961' के पास हो जाने से वर-मूल्य प्रथा की कटुता में परिवर्तन होने की सम्भावनायें बढ़ गई हैं। 'हिन्दू उत्तराधिकार अधिनियम, 1956' के पास हो जाने के बाद न केवल पत्नी व माता को बल्कि पुत्री को भी परिवार की सम्पत्ति पर अधिकार प्राप्त हो गया है जोकि हिन्दू लड़कियों के आर्थिक अधिकार के क्षेत्र में एक अत्यन्त महत्वपूर्ण परिवर्तन है। उसी प्रकार 'हिन्दू विधवा-पुनर्विवाह अधिनियम, 1856' के द्वारा जो अधिकार पुनर्विवाह करने के सम्बन्ध में विधवाओं को मिला है उससे विधवाओं की स्थिति में परिवर्तन आ गया है। इतना ही नहीं, 'अस्पृश्यता (अपराध) अधिनियम, 1955' के पास हो जाने के बाद हरिजनों पर परम्परागत रूप में हजारों वर्षों से लादे गए खाने-पीने, सामाजिक सहवास, पेशों के चुनाव तथा छुआछूत सम्बन्धी प्रतिबन्धों में अनेक परिवर्तन आज देखने को मिलते हैं। अतः स्पष्ट है कि भारत में सामाजिक परिवर्तन का एक महत्वपूर्ण कारक सामाजिक विधान हैं।

9. बढ़ती हुई जनसंख्या (Increasing Population)—भारतीय समाज में बढ़ती हुई जनसंख्या के कारण भी अनेक परिवर्तन हुए हैं। सन् 1941 में भारत की जनसंख्या प्रायः 32 करोड़ थी वह 1971 में बढ़कर 55 करोड़ हो गई थी। सन् 1981 में यह जनसंख्या करोड़ तक पहुँच गई है। जनसंख्या के इस विस्फोट

के कारण ही पिछले पच्चीस वर्षों में राष्ट्रीय आय बढ़कर चौगुनी हो जाने पर भी प्रति व्यक्ति आय मूल्य-वृद्धि को देखते हुए बहुत ही मामूली बढ़ी है। जनसंख्या की वृद्धि के कारण ही सन् 1960 में श्रमिकों से सम्बन्धित जो उपभोक्ता मूल्य सूचकांक 100 था, वह फरवरी, 1980 में बढ़कर 378 हो गया। इसी जनसंख्या के विस्फोट के कारण देश में बेरोजगारी की संख्या प्रथम पंचवर्षीय योजना के अन्त में 80 लाख से बढ़कर छठी योजना के अन्त तक 386 लाख हो जाने का अनुमान है। एक अनुमान के अनुसार इस समय देश में 7.5 करोड़ लोग बेरोजगार हैं। सन् 1968 में प्रति 5150 व्यक्तियों पर एक डॉक्टर था, जबकि सन् 1978 में प्रति 3000 व्यक्तियों पर एक डॉक्टर उपलब्ध है। इस प्रगति के बावजूद अस्पतालों में लम्बी कतारें देखने को मिलती हैं और अनेक भारतवासियों को एक बूढ़े दवा या उचित चिकित्सा के बिना ही अन्तिम सांस तोड़ना पड़ता है। आजादी के समय हमारे देश में केवल दो करोड़ लोग लिखना-पढ़ना जानते थे, आज उनकी संख्या बढ़कर लगभग 11 करोड़ तक जा पहुँची है; परन्तु जनसंख्या के अनुपात में शिक्षा का प्रतिशत अभी से ज्यादा नहीं है। अत्यधिक जनसंख्या के कारण ही इस देश में प्रति व्यक्ति दवाइयों पर केवल 4 रुपये खर्च किए जाते हैं; जबकि अमेरिका में 193 रुपये, फ्रांस में 167 रुपये और जापान में 117 रुपये खर्च किए जाते हैं। इस देश में कपड़ों के उत्पादन में भी वृद्धि हुई है; फिर भी लोग नंगे क्यों?—इस प्रश्न का उत्तर भी बढ़ती हुई जनसंख्या में ही ढूँढा जा सकता है। बढ़ती हुई जनसंख्या के कारण ही इस देश में छठी योजना शुरू होने से पूर्व 1.26 करोड़ (45 लाख शहरी क्षेत्र में और 81 लाख ग्रामीण क्षेत्रों में) मकानों की कमी होगी और औद्योगिक शहरों में सामान्य आदमी के लिए गन्दी बस्तियाँ, झोपड़े और फुटपाथ ही नसीब होते हैं। हर साल 20 लाख मकानों की दर से इस कमी में और वृद्धि होती है। जनसंख्या में अत्यधिक वृद्धि के कारण ही इस देश में निर्धनता, बेरोजगारी, गम्भीर प्रकार के रोग, मूखमरी आदि की समस्याएँ एक दयनीय स्थिति पर पहुँच गई हैं। अतः स्पष्ट है कि भारत में अनेक सामाजिक परिवर्तन जनसंख्या में अत्यधिक वृद्धि के कारण हुए हैं।

10. नियोजन (Planning)—भारतीय समाज में कुछ पूर्व निश्चित परिवर्तनों को लाने में सरकार द्वारा बनाए गए नियोजन का बहुत बड़ा हाथ रहा है। सम्पूर्ण समाज के सामाजिक-आर्थिक ढाँचे को किस रूप से परिवर्तित किया जाए कि उन परिवर्तनों से आम जनता का अधिकतम कल्याण सम्भव हो एवं समाज प्रगति की ओर बढ़े, यह नियोजन द्वारा ही निर्धारित किया जाता है, भारत सरकार के योजना आयोग (Planning Commission) ने लिखा है, “नियोजन वास्तव में सुनिश्चित सामाजिक लक्ष्यों की दृष्टि से अधिकतम लाभ उठाने के लिए अपने साधनों को संगठित करने तथा उपयोग में लाने की पद्धति है।” इसी प्रकार का नियोजन हमारे देश में पंचवर्षीय योजनाएँ हैं। पंचवर्षीय योजनाओं द्वारा मुख्यतः आर्थिक जीवन में और सामान्य रूप में सामाजिक व सांस्कृतिक जीवन में नियोजित परिवर्तन लाने के प्रयत्न किए जाते हैं। कृषि उत्पादन, बड़े उद्योग-धन्धे, व्यापार वाणिज्य, यातायात व संचार, ग्रामीण उद्योग, आवास, श्रम-कल्याण, पिछड़ी जातियों, जनजातियों तथा वर्गों का कल्याण आदि क्षेत्रों में जो परिवर्तन आज हमें देखने को मिलते हैं उनकी रूपरेखा पंचवर्षीय योजनाओं में ही निर्धारित की गई है। उसी प्रकार सामुदायिक विकास योजनाओं के द्वारा भारतीय ग्रामीण जीवन में बहुमुखी परिवर्तन

लाया गया है। इसका भी लेखा-जोखा हमें पंचवर्षीय योजनाओं में देखने को मिलता है। परन्तु इन योजनाओं के अतिरिक्त एक और नियोजन—परिवार नियोजन (Family Planning)—के द्वारा भारतवर्ष में जन्मदर को परिवर्तित करने अर्थात् जन्मदर को घटाने का प्रयास किया गया है। परिवार नियोजन का उद्देश्य तात्क्षिक जन्मदर, जो 1969 में 39 प्रति हजार थी, को घटाकर पाँचवीं योजना तक 0 और 1983-84 तक 25 प्रति हजार करना है। यद्यपि उस उद्देश्य की पूर्ति अभी तक नहीं हुई है, पर जन्मदर घटने की ओर परिवर्तन निरन्तर जारी है। 1951-60 में जन्मदर (प्रति हजार) 41.7 थी जोकि 1978-79 में घटकर 33 प्रति हजार हो गई। इससे पता चलता है कि परिवार नियोजन का प्रभाव हुआ है। इसे और भी प्रभावशाली बनाने के लिए प्रजनन वय वाले लगभग 4 करोड़ दम्पतियों को परिवार नियोजन के किसी उपयुक्त तरीके से, प्रजनन करने से रोकना चाहिए। अब तक 2.65 करोड़ दम्पति इसके अन्तर्गत आ चुके हैं। इन सब तथ्यों से यह स्पष्ट है कि भारत में सामाजिक परिवर्तन लाने में नियोजन महत्वपूर्ण कारक है।

उपरोक्त विवेचना से यह स्पष्ट है कि भारत में सामाजिक परिवर्तन के अनेक कारक हैं और इनमें से किसी भी कारण की आवश्यकता से अधिक महत्व देना उचित न होगा। वास्तव में ये सभी कारक भारतीय समाज में मिलजुलकर क्रियाशील हैं और एक कारक दूसरे कारक का पूरक बना हुआ है। विभिन्न कारकों के इस प्रकार लेन-देन के दौरान ही परिवर्तन की प्रक्रिया को वास्तव की गति प्राप्त होती है और सामाजिक परिवर्तन होता है।

भारत में सामाजिक परिवर्तन (Social Change in India)

सौ वर्ष पहले के भारत के साथ यदि आज के भारत की तुलना की जाए तो भारतीय समाज के हर दिशा में हुए असंख्य परिवर्तनों को देखकर हमें स्वयं ही आश्चर्य होगा। ये परिवर्तन इतने विविध हैं कि उनकी सम्पूर्ण व्याख्या प्रस्तुत करना यदि असम्भव नहीं तो कठिन अवश्य है। इसका कारण भी स्पष्ट है और वह यह कि आधुनिक भारत में नागरिकरण, औद्योगीकरण, सांस्कृतिकरण, पश्चिमीकरण, लौकिकीकरण (Secularization), सामाजिक तथा आर्थिक नियोजन एवं सामाजिक आन्दोलन के फलस्वरूप इस देश में परिवर्तन को न केवल गति (speed) मिली है अपितु बहुमुखी परिवर्तन भी आज उभरकर सामने आए हैं। अतः इन सभी परिवर्तनों का विश्लेषण शायद एकसाथ सम्भव न हो, फिर भी उन असंख्य परिवर्तनों में से कुछ प्रमुख परिवर्तनों को हम यहाँ प्रस्तुत कर सकते हैं जोकि निम्नवत् है।

सामाजिक जीवन में परिवर्तन (Change in Social Life)

आधुनिक समय में भारतीय सामाजिक जीवन के प्रत्येक पक्ष में अनेक उल्लेखनीय परिवर्तन देखने को मिलते हैं जिन्हें कि संक्षेप में इस प्रकार प्रस्तुत किया जा सकता है।

1. **परिवारिक जीवन में परिवर्तन (Changes in Family Life)**—वर्तमान युग में परिवार के परम्परागत कार्यों में परिवर्तन आता जा रहा है। व्यक्ति के ऊपर से परिवारिक नियन्त्रण धीरे-धीरे समाप्त होता जा रहा है। परिवार के बड़े-बूढ़ों के प्रति मन में श्रद्धा व सम्मान की भावना क्रमशः कम होती जा रही है। शिक्षा का उत्तरदायित्व परिवार से स्कूल और कॉलेज को मिलता जा रहा है। पहले परिवार के कुछ आर्थिक कार्य भी होते थे। औद्योगीकरण के कारण कल-कारखाने खुलने से अब परिवार के आर्थिक कार्य भी मिल व कारखानों के द्वारा बड़े पैमाने में किए जा रहे हैं। इससे परिवार का आर्थिक महत्त्व धीरे-धीरे कम होता जा रहा है। पहले मनोरंजन का केन्द्र परिवार था, परन्तु आज मनोरंजन करवाने का कार्य बाहरी समितियों के द्वारा पूरा होता है। इस प्रकार अनेकों परिवर्तनों ने परिवार के ढाँचे को पूर्णतः बदल दिया है।

2. **संयुक्त परिवार का विघटन (Disorganization of Joint Family)**—आज निरन्तर संयुक्त परिवार का विघटन हो रहा है। पहले कृषि-युग में परिवार के सदस्यों को एक स्थान से दूसरे स्थान पर नहीं जाना पड़ता था और सभी सदस्य एक स्थान पर एकसाथ रहकर खेती-बाड़ी करते थे। परन्तु औद्योगीकरण के कारण यह एकता नष्ट हो गई क्योंकि इसके फलस्वरूप नौकरी का क्षेत्र अब सारे देश में फैल गया और लोग अपना घर छोड़कर नौकरी की खोज में अलग-अलग स्थानों में जाकर बसने लगे। साथ ही औद्योगीकरण के कारण गाँवों से गृह-उद्योग नष्ट हो गए और इनमें लगे अनेक कारीगर बेकार हो गए और नौकरी की खोज में गाँव से शहर में आकर बस गए। इससे भी संयुक्त परिवार व्यवस्था का विघटन हुआ। नगरों में मकानों की समस्या गम्भीर होने के कारण जो लोग शहर में घर बसाते भी हैं वे भी केवल अपनी पत्नी एवं बच्चों के साथ ही रहते हैं। इस कारण भी संयुक्त परिवार का निरन्तर विघटन हो रहा है।

3. **जाति-प्रथा में परिवर्तन (Changes in Caste System)**—जाति-प्रथा हिन्दू समाज की एक महत्त्वपूर्ण संस्था है। आधुनिक युग में इस प्रथा में परिवर्तन उत्पन्न होता जा रहा है। जातिवाद की भावना अब धीरे-धीरे समाप्त होती जा रही है। पहले जाति में जो खान-पान सम्बन्धी प्रतिबन्ध पाए जाते थे वे आज धीरे-धीरे शिथिल होते जा रहे हैं। अब लोग साथ बैठकर खाना खाते हैं। इस कारण जाति-प्रथा सम्बन्धी नियम ढीले होते जा रहे हैं।

जाति-प्रथा की दूसरी विशेषता यह भी थी कि प्रत्येक जाति के निश्चित श्रेणियाँ होती थी, जैसे धोबी का काम कपड़े धोना, नाई का काम बाल बनाना इत्यादि। परन्तु आधुनिक युग में शिक्षा के कारण या लोगों के दृष्टिकोण में परिवर्तन होने एवं औद्योगीकरण के साथ-साथ असंख्य प्रकार के पेशों के पनप जाने के कारण जाति के परम्परागत पेशों में आज क्रान्तिकारी परिवर्तन हो गया है। आज पेशे जाति के आधार पर नहीं, बल्कि योग्यता के आधार पर किए जाते हैं, चाहे वह पेशा उनकी जाति के अनुसार हो अथवा नहीं।

जाति-प्रथा द्वारा नियन्त्रित हिन्दू समाज अनेक जातियों और उपजातियों में बँटा हुआ है। यह विभाजन ऊँच-नीच के संस्तरण के आधार पर है। ऊँची जाति नीची जाति से घृणा करती है। परन्तु आज जातीय आधार पर ऊँच-नीच का भेद-भाव धीरे-धीरे कम होता जा रहा है। आज हरिजनों को भी समाज में समान स्थान

दिया जा रहा है। लोगों की स्थिति आज जाति के आधार पर नहीं बल्कि धन और व्यक्तिगत योग्यता के आधार पर निर्धारित होती है।

जाति-प्रथा की अन्य विशेषता अन्तर्विवाह है अर्थात् एक जाति अपनी ही जाति के सदस्यों में विवाह स्थापित कर सकती है। परन्तु आज यह नियम ढीला पड़ता जा रहा है। आज शिक्षा के प्रसार के कारण तथा औद्योगीकरण व नागरीकरण के फलस्वरूप विभिन्न जातियों के बीच की दूरी कम हो जाने से अन्तर्जातीय विवाह को बुरा नहीं माना जाता है। इसी कारण आज काफी मात्रा में विभिन्न जातियों में अन्तर्जातीय विवाह हो रहे हैं। सरकार ने भी नियम बनाकर या कानून पास करके ऐसे विवाहों को मान्यता प्रदान की है।

4. बाल-विवाह के प्रति दृष्टिकोण में परिवर्तन (Changes in attitudes towards Child Marriages)—हिन्दू विवाह प्रथा में बाल-विवाह प्रथा का एक प्रमुख स्थान है। बाल-विवाह प्रत्येक समाज के लिए एक अभिशाप है। बाल-विवाह नगरों की अपेक्षा ग्रामों में अधिक देखने को मिलते हैं। परन्तु आज नगर के साथ-साथ ग्रामीण युवक भी बाल-विवाह से सम्बन्धित बुराइयों को समझने लगे हैं, इस कारण यह प्रथा निरन्तर घटती जा रही है। यदि ग्रामवासियों के दृष्टिकोण इसी भाँति परिवर्तित होते गये तो एक समय ऐसा आएगा जब यह प्रथा देश से समाप्त हो जाएगी। सरकार ने भी बाल-विवाह प्रथा की हानियों को देखते हुए बाल-विवाह निषेध कानून बनाए। इनमें 'शारदा एक्ट, 1930' (Sharda Act, 1930) सबसे प्रमुख है। इसके अतिरिक्त 'हिन्दू-विवाह व तलाक अधिनियम, 1955' (Hindu Marriage and Divorce Act 1955) ने भी बाल-विवाह पर पूर्ण निषेध लगा दिया। इसके अन्तर्गत शादी के समय लड़के व लड़की की आयु क्रमशः कम से कम 18 व 15 वर्ष होनी चाहिए। अब सरकार ने इस आयु को क्रमशः 21 एवं 18 कर दिया है। कानून का उल्लंघन करने वाले को कारावास या जुर्माना या दोनों दण्ड देने का विधान है।

5. विधवा-पुनर्विवाह के सम्बन्ध में परिवर्तित दृष्टिकोण (Changing attitudes in relation to Widow Re-marriages)—वैसे तो विधवा-विवाह भारतीय समाज में धर्म के प्रतिकूल अपशकुन माना या समझा जाता रहा है परन्तु आधुनिक समय में विधवा-विवाह के सम्बन्ध में लोगों के दृष्टिकोण में परिवर्तन होता जा रहा है। विधवा स्त्री समाज में अभागिनी मानी जाती रही है, इसी कारण उन्हें नाना प्रकार की सामाजिक नियोग्यताओं का शिकार बनकर दुःखद जीवन व्यतीत करना पड़ता था। इस स्थिति से इस देश की 2.92 करोड़ विधवाओं को मुक्ति दिलाने के लिये सन् 1856 में विधवा-पुनर्विवाह अधिनियम पास किया गया। इसके अतिरिक्त अनेक नैतिक आधारों पर भी विधवा-विवाह को उचित ठहराया जाता है; और इसी लिये आज काफी संख्या में विधवा-पुनर्विवाह हो रहे हैं जोकि वास्तव में भारतीय समाज में एक महत्वपूर्ण परिवर्तन है।

6. दहेज-प्रथा के प्रति परिवर्तित दृष्टिकोण (Changing attitudes towards Dowry System)—हिन्दू-विवाह की अनेक समस्याओं में से एक समस्या दहेज-प्रथा की भी है। दहेज-प्रथा एक विकट समस्या है। इसके कारण समाज में अनेक दुष्परिणाम उत्पन्न हो गये हैं। आज पढ़े-लिखे शिक्षित लोग इस प्रथा को घृणा की दृष्टि से देखते हैं। आज दहेज-प्रथा के प्रति उनका दृष्टिकोण परिवर्तित होता जा

रहा है। सरकारी कानूनों ने इस दिशा में काफी सहायता की है। इस प्रकार धीरे-धीरे दहेज-प्रथा के उन्मूलन की आशा की जा सकती है।

7. सामुदायिक जीवन का ह्रास (Decline of Community Life)—भारत की सामाजिक संरचना में एक महत्वपूर्ण परिवर्तन यह हुआ है कि अब निरन्तर सामुदायिक भावना का ह्रास होता जा रहा है। आज औद्योगीकरण व नागरीकरण के फलस्वरूप समूह के आकार में अत्यधिक वृद्धि हो रही है। जैसे-जैसे नगरों का आकार बढ़ रहा है वैसे-वैसे वैयक्तिक सम्बन्ध भी कम होते जा रहे हैं। अवैयक्तिक सम्बन्धों का अर्थ है घनिष्ठ सम्बन्ध या 'हम' की भावना का अभाव। जब समुदाय में 'हम' की भावना समाप्त हो जाती है तो प्रत्येक समूह या व्यक्ति अपने-अपने स्वार्थों की पूर्ति में लग जाता है और उस अवस्था में उसे समाज के सामान्य स्वार्थों का नहीं अपितु केवल अपने ही स्वार्थों का ध्यान रहता है। सामुदायिक जीवन में यह एक महत्वपूर्ण परिवर्तन है।

8. स्त्रियों की स्थिति में परिवर्तन (Changes in the Status of Women)—आज भारतीय सामाजिक संरचना में एक महत्वपूर्ण परिवर्तन स्त्रियों की स्थिति के सम्बन्ध में हुआ है। आज पहले की तरह स्त्री, पुरुष की दासी न होकर उसकी प्रिय बान्धवी है। वर्तमान समय में नौकरी के अवसर केवल पुरुष को न होकर स्त्रियों को भी उपलब्ध हैं। स्त्रियाँ भी पढ़-लिखकर इस लायक हो गई हैं कि वे नौकरी कर सकें। इसका परिणाम यह हुआ कि स्त्रियाँ घर से बाहर काम करने को जाती हैं और पैसा कमाती हैं। इसके फलस्वरूप अब स्त्रियाँ आर्थिक तथा अन्य मामलों में परिवार पर कम निर्भर हो गई हैं। उनमें आत्म-विश्वास तथा आत्म-सम्मान की भावना पनपी है। स्वतन्त्र होने या रहने की इच्छा ने पारिवारिक प्रतिबन्धों से उनको विमुक्त कर दिया है, पर्दा-प्रथा कम हो गई है और स्त्रियों को आत्म-विकास का अवसर मिला है। आज वे राष्ट्रीय जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में अपना महत्वपूर्ण योगदान कर रही हैं।

9. प्रेम-विवाह, अन्तर्जातीय-विवाह, विलम्ब-विवाह और तलाकों का आधिक्य (More Love marriages, Intercaste marriages, Late marriages and Divorce)—पाश्चात्य संस्कृति के सम्पर्क में आने, शिक्षा के प्रसार व प्रौद्योगिकीय परिवर्तनों के फलस्वरूप जो नवीन परिस्थितियाँ उत्पन्न हुई हैं उनमें युवक-युवतियों को साथ-साथ पढ़ने-लिखने, कारखानों या दफ्तरों में साथ-साथ काम करने तथा स्वतन्त्रतापूर्वक मेल-मिलाप करने का अवसर प्राप्त हुआ है। फलतः प्रेम-विवाह व अन्तर्जातीय-विवाह के अनुकूल परिस्थितियाँ उत्पन्न हुई हैं। विभिन्न अध्ययनों से पता चला है कि प्रेम-विवाह प्रायः असफल रहते हैं क्योंकि उसमें रोमांस व उद्वेग का तत्व अधिक होता है। यदि प्रेम-विवाह अन्तर्जातीय-विवाह हुआ और यदि पति-पत्नी की सांस्कृतिक पृष्ठभूमि में अत्यधिक विभेद हुआ तो वे एक-दूसरे से अनुकूलन करने में बहुधा असफल रहते हैं और परिवार विवाह-विच्छेद द्वारा या तो टूट ही जाता है या फिर पारिवारिक जीवन में कलह-तनाव आदि के तत्वों का राज्य होता है; उसी प्रकार आज लड़कियों तथा लड़कों को शिक्षा प्राप्त करने, नौकरी करने तथा अन्य प्रकार से आत्म-विकास करने का जो अवसर प्राप्त है उसके फलस्वरूप आज विलम्ब-विवाह करने की ओर लोगों की प्रवृत्ति अधिक देखने को मिलती है। यह सभी विवाह के क्षेत्र में महत्वपूर्ण परिवर्तन हैं।

आर्थिक जीवन में परिवर्तन (Changes in Economic Life)

विज्ञान के आविष्कार, प्रौद्योगिकी, औद्योगीकरण और नागरीकरण ने भारतीय समाज के आर्थिक जीवन में क्रान्तिकारी परिवर्तन कर दिए हैं। इनमें से कुछ परिवर्तनों का वर्णन इस प्रकार किया जा सकता है—

1. पूँजीवाद का विकास (Development of Capitalism)—पहले इस देश में कृषि अर्थ-व्यवस्था थी, पर अब अनेक प्रकार के प्रौद्योगिकीय परिवर्तनों के फलस्वरूप देश में पूँजीवाद का विकास हुआ है। आज आर्थिक उत्पादन गृह-उद्योगों में नहीं अपितु बड़े-बड़े मिल और कारखानों में मशीनों द्वारा बड़े पैमाने पर होता है। इसके लिये काफी धन की आवश्यकता होती है और इस कारण आर्थिक उत्पादन के साधनों पर उन्हीं का अधिकार हो गया है जिनके पास काफी पूँजी है अर्थात् उत्पादन के साधनों पर पूँजीपतियों का अधिकार हो गया है और अन्य सभी पूँजीहीन व्यक्तियों के लिये जीविका पालन का केवल एक ही रास्ता रह गया है और वह यह कि वे अपने श्रम को बेचकर पेट पालें। इस पूँजीवाद के विकास के फलस्वरूप भारतीय समाज में दो आर्थिक वर्ग विकसित हो गये हैं—पूँजीपति वर्ग और श्रमिक वर्ग।

2. ग्राम-उद्योगों का ह्रास (Decline in Village Industries)—भारत में औद्योगीकरण के फलस्वरूप ग्रामीण उद्योगों का बुरी तरह ह्रास हुआ है, क्योंकि इस देश में ग्रामों के कुटीर उद्योगों और शहरों के बड़े-बड़े उद्योगों के बीच न तो कोई समन्वय है और न ही किसी प्रकार का श्रम-विभाजन। फलतः बड़े पैमाने में मशीन द्वारा जिन सस्ती चीजों का उत्पादन होता है, उनसे प्रतियोगिता करना ग्रामीण उद्योगों में बनी चीजों के लिये सम्भव नहीं होता है। इससे ग्रामीण उद्योगों का निरन्तर ह्रास ही होता जा रहा है, यद्यपि सरकारी प्रयत्न ग्राम-उद्योगों को प्रोत्साहित करने की दिशा में ही है।

3. जीवन-स्तर में परिवर्तन (Changes in standard of living)—भारतीय समाज के आर्थिक जीवन में एक महत्वपूर्ण परिवर्तन भारतीयों के जीवन-स्तर से सम्बन्धित है। आज इस परिवर्तन से सम्भवतः कोई ही भारतवासी अछूता न हो। आज मोटरसाइकिल, रेडियो, पक्के मकान, सोफासेट ग्रामों तक में देखने को मिलते हैं जोकि पहले बड़े-बड़े शहरों में देखने को मिलते थे। स्कूटर व साइकिल तो अब आम चीज हो गई है। पहनने-ओढ़ने के दृष्टिकोण एवं खाने-पीने के सम्बन्ध में भी अब काफी परिवर्तन आते जा रहे हैं। आज गाँव वाला भी पैंट व बुशर्ट या सूट पहनता है, साथ ही कुर्सी व मेज पर खाना अधिक पसन्द करता है। वास्तव में यह सभी उच्च जीवन-स्तर के ही परिचायक हैं।

4. आय में वृद्धि (Increase in Income)—आर्थिक जीवन में एक महत्वपूर्ण परिवर्तन भारतीयों की आय में अत्यधिक वृद्धि का होना है। आज प्रति व्यक्ति औसत आय पहले से कहीं अधिक बढ़ गई है। चालू मूल्यों के आधार पर प्रति व्यक्ति आय सन्-1960-61 में 305 7 रु० थी जोकि सन् 1976-77 में बढ़कर अनुमानतः 1048-6 रु० हो गई। यदि भारतीय कृषक की आय को ही लिया जाए तो देखा जाएगा कि उसकी आय में भी महत्वपूर्ण वृद्धि हुई है। इसका कारण मुख्यतः विज्ञान की देन है। कृषि के वैज्ञानिक तरीकों ने उसके कृषि उत्पादन को बढ़ा दिया है। अब

भारतीय समाज व संस्कृति में समकालीन परिवर्तन

वह थोड़े समय में अधिक उत्पादन कर सकता है और बचे हुये समय को किसी अन्य धन्ये में लगा देता है। कृषि, उद्योग, व्यापार और वाणिज्य के क्षेत्र में देश जैसे-जैसे प्रगति करता जा रहा है, यहाँ के लोगों की आय में भी वैसे-वैसे वृद्धि हो रही है। यही कारण है कि इस देश में राष्ट्रीय आय में भी अत्यधिक वृद्धि हुई है। चालू मूल्यों के आधार पर सन् 1970/71 में राष्ट्रीय आय 34,235 करोड़ थी जोकि सन् 1971/72 में बढ़कर प्रायः 90,173 करोड़ ६० हो गई है।

5. औद्योगीकरण (Industrialization)—भारतीय सामाजिक संरचना के आर्थिक पक्ष का एक महत्वपूर्ण परिवर्तन औद्योगीकरण है। इस औद्योगीकरण ने तो भारतीय समाज के महत्वपूर्ण आधारों व संस्थाओं को भी बदल दिया है। औद्योगीकरण के फलस्वरूप यदि एक ओर देश का उत्पादन बढ़ा है, बड़े पैमाने पर उत्पादन होने लगा है और देश की आय बढ़ी है तो दूसरी ओर अनेक समस्याओं ने भी जन्म लिया है। आज इसके कारण ही, निवास-स्थानों की कमी तथा गन्दी बस्तियों का विकास हुआ है। क्योंकि औद्योगीकरण से उद्योग-धन्धों का विकास होता है और उससे शहरों की जनसंख्या जिस गति से बढ़ती है, उस अनुपात से नगरों में रहने वालों के लिये नये मकान नहीं बन पाते हैं। इसका परिणाम यह हुआ है कि नगरों में निवास-स्थानों की नितान्त कमी है और इसीलिये इस कमी को पूरा करने के लिए गन्दी बस्तियों का विकास हुआ है। इन गन्दी बस्तियों में रहने वालों का केवल स्वास्थ्य ही नहीं विगड़ता बल्कि नैतिक पतन भी होता है और साथ ही उनमें अन्य अपराधी-आदतें भी पनपती रहती हैं। अभी हाल में ही प्रकाशित एक समाचार में कहा गया है कि पांचवीं पंचवर्षीय योजना के प्रारम्भ में भारत में नगरों में 38 लाख मकानों की कमी थी और हर साल 20 लाख मकानों की दर से इस कमी में और वृद्धि होती जा रही है। मकानों की इस कमी को पूरा करने के लिये प्रायः सभी बड़े औद्योगिक नगरों में अहाता (कानपुर), बस्ती (कलकत्ता), चोल (बम्बई), चेरी (मद्रास) आदि गन्दी बस्तियाँ विकसित हो गई हैं।

इतना ही नहीं, औद्योगीकरण के फलस्वरूप वर्ग-संघर्ष और औद्योगिक झगड़ों को भी प्रोत्साहन मिला है, क्योंकि औद्योगीकरण से पूँजीवादी व्यवस्था पनपी है जिससे कि श्रमिकों का अत्यधिक शोषण हुआ है। पहले-पहले श्रमिक वर्ग अत्यन्त असंगठित, अज्ञानी और अशिक्षित था, इस कारण उसे पूँजीपतियों के अन्याय व अत्यचारों की चुपचाप सहन करना पड़ता था, पर जैसे-जैसे वे संगठित होने लगे और उनमें अपने अधिकार के सम्बन्ध में जागरूकता उत्पन्न हुई वैसे-वैसे औद्योगिक झगड़े भी बढ़ने लगे। सन् 1980 में हड़तालों और तालाबन्दी के कारण 3,12,70,000 कार्य-दिवसों की क्षति हुई जबकि सन् 1973 में यह संख्या 2,06,30,000 थी। ये सभी महत्वपूर्ण परिवर्तनों के सूचक हैं।

6. महंगाई व बेरोजगारी में वृद्धि (Increasing dearness and unemployment)—भारतीय आर्थिक जीवन में आज निर्धनता एवं बेरोजगारी में वृद्धि हो रही है। यह ठीक है कि औसतन प्रति व्यक्ति आय बढ़ी है, परन्तु यह भी ठीक है कि असम्भव रूप से बढ़ती हुई महंगाई ने आम जनता की कमर तोड़ दी है। सन् 1949 की तुलना में अब प्रायः सभी आवश्यक चीजों की कीमत कई गुना ज्यादा हो गई है। साथ ही बेरोजगारी ने भी भयंकर रूप धारण किया है। आज शिक्षित लोग भी बेकारी अत्यधिक बढ़ रही है। वैज्ञानिक तथा औद्योगिक अनुसंधान परिषद् द्वारा

जारी किये गये आंकड़ों के अनुसार सन् 1975 के अन्त में हर 5 शिक्षित भारतीयों में 1 बेरोजगार है। इस समय इस देश में कुल बेरोजगारों की संख्या 7.5 करोड़ हो जाने की आशा है।

7. कृषि उत्पादन में उन्नति (Development in agricultural production)—भारत में कृषि उद्योग में पर्याप्त उन्नति हुई है। इसका कारण प्रमुख रूप से कृषि कार्यों में वैज्ञानिक ख़ाद, मशीनों तथा कृषि के आधुनिक तरीकों का उपयोग है। आज हमारी सरकार का यह प्रयत्न जोरों से चल रहा है कि कृषि को वैज्ञानिक ढंग से किया जाए। नए तरीकों से खेती करने से उत्पादन भी अधिक होगा और साथ ही समय की भी बचत होगी; इस बचे समय को किसान अन्य किसी कार्य में लगा सकेगा। आज सहकारिता खेती के भी महत्वपूर्ण फल प्राप्त हो रहे हैं; कई गुना पैदावार भी बढ़ गई है। अनाज के मामले में भारत आज आत्मनिर्भर है।

राजनीतिक जीवन में परिवर्तन (Changes in Political Life)

भारत में अंग्रेजी शासन की स्थापना और भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के उद्भव के बाद से भारतवासियों के राजनीतिक जीवन में द्रुत परिवर्तन देखने को मिलता है। सन् 1857 के 'सिपाही विद्रोह' को दबा तो दिया गया लेकिन राजनीतिक चेतनता की आग राख के नीचे-ही-नीचे सुलगती रही। देश के सर्वमान्य नेता श्री गोखले तथा तिलक के नेतृत्व में भारतीय स्वतन्त्रता संग्राम शुरू हुआ। लोकमान्य तिलक ने स्वराज्य मन्त्र को बुलन्द आवाज से दोहराया और कहा, "स्वराज्य हमारा जन्मसिद्ध अधिकार ही नहीं, कर्तव्य भी है।" राष्ट्रीय स्तर पर यह राजनीतिक जागरूकता भारतीय राजनीतिक जीवन में एक अनूठा परिवर्तन था। यह परिवर्तन और भी द्रुत हुआ जब गांधीजी ने भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस का नेतृत्व संभाला। सोई हुई जनता जाग उठी, जाग उठी स्वतन्त्रता प्राप्ति की दिशा में एक नए अस्त्र से शक्तिशाली अंग्रेज शासकों से टक्कर लेने के लिए। वह नया शस्त्र था सत्य और अहिंसा पर आधारित गांधीजी द्वारा सुझाया हुआ सत्याग्रह का अस्त्र। केवल भारत के ही राजनीतिक जीवन में नहीं, विश्व के इतिहास में, जैसा कि श्री श्रीमन्नारायण ने लिखा है, यह एक बेमिसाल प्रयोग था जिसने कि भारतीय राजनीतिक जीवन में क्रान्तिकारी परिवर्तन उत्पन्न कर दिया; सन् 1940 व्यक्तिगत सत्याग्रह और फिर अगस्त 1942 में 'भारत छोड़ो' नारे के साथ 'क्रो या मरो' का मन्त्र देश में आवाल-वृद्ध, स्त्री-पुरुष, गरीब-अमीर के हृदयों में घर कर दिया। दूसरी ओर देश में क्रान्तिकारी राष्ट्रवाद का प्रादुर्भाव सबसे पहले बंगाल में हुआ, और लोगों को ललकारा गया—“अपना जीवन दे दो परन्तु उससे पहले एक अंग्रेज की जान ले लो। देवी की पुजा पूर्ण नहीं होगी यदि तुम स्वतन्त्रता के मन्दिर में बिना शत्रु का रक्त बहाए अपने जीवन की बलि चढ़ा देते हो।” यह क्रान्तिकारी राष्ट्रवाद बंगाल से महाराष्ट्र, पंजाब, उत्तर प्रदेश आदि में फैल गया और शहीद भगतसिंह, चन्द्रशेखर आज़ाद आदि ने अपनी जान तक की बाजी लगा दी। फिर नेताजी ने इस क्रान्तिकारी जागृति को एक नई दिशा दिखाई और वैदेश में 'आज़ाद हिन्द फौज' की स्थापना करके लोगों का आह्वान किया—“तुम मुझे खून दो, मैं तुम्हें आज़ादी दूंगा।” एक ओर अहिंसात्मक सत्याग्रह और दूसरी ओर रक्तरेजित क्रान्तिकारी आन्दोलन के फलस्वरूप अन्ततः 15 अगस्त 1947 को अंग्रेजों ने ही 'यूनियन जैक' को स्वयं उतारकर उसके स्थान पर भारतीय तिरंगा झंडा

फहरा दिया। भारतीय राजनीतिक जीवन में यह कितने महत्व का परिवर्तन है यह जानते हैं जोकि स्वतन्त्रता के महत्व को अनुभव करते हैं। इसके बाद मार्च 1977 में केन्द्र में 30 वर्ष से लगातार चलती आ रही कांग्रेस सरकार की चुनाव में भारी पराजय व जनता सरकार की स्थापना इस शताब्दी का एक और क्रान्तिकारी राजनीतिक परिवर्तन है। फिर 1979-80 में उसी जनता सरकार का पतन और एक बार फिर इन्दिरा कांग्रेस का सत्ता में लौट आना भी एक महाने राजनीतिक परिवर्तन का सूचक है।

आधुनिक समय में राजनीतिक जीवन में जो परिवर्तन हुए हैं उनमें इस देश में लोकतान्त्रिक गणराज्य की स्थापना सबसे महत्वपूर्ण है। इस गणराज्य का अपना एक संविधान है जिसका कि मूल उद्देश्य लोक-कल्याण है। राजनीतिक तौर पर सर्व-प्रथम इस संविधान के अन्तर्गत जनता को कुछ मौलिक अधिकार प्राप्त हो गए हैं। उनमें सर्वप्रमुख यह है कि "प्रत्येक नागरिक को कानून के समक्ष समानता तथा कानून के संरक्षण का समान अधिकार होगा और राज्य की ओर से धर्म रक्त, जाति, लिंग जन्म-स्थान आदि किसी बात के कारण किसी नागरिक के साथ कोई भेदभाव नहीं किया जाएगा।" राजनीतिक क्षेत्र में भारतवासियों के लिए यह एक अत्यन्त महत्वपूर्ण है।

हाल ही में यह प्रयत्न किया जा रहा है कि देश में लोकतान्त्रिक समाजवाद की स्थापना की जाये जिसमें किसी भी प्रकार का भेदभाव न हो, नागरिकों को समान अधिकार व सुविधायें प्राप्त हों, उत्पादन के साधनों पर समाज का स्वामित्व हो।

इस सम्बन्ध में एक और उल्लेखनीय परिवर्तन ग्रामीण जनता में राजनीतिक जागृति का आना है। विभिन्न राजनीतिक पार्टियों के क्रियाकलापों के फलस्वरूप अब भारतीय ग्रामीण जनता में भी राजनीतिक जागरूकता दिन-प्रतिदिन बढ़ती जा रही है और वे राजनीतिक मामलों में अधिक सक्रिय भाग लेते जा रहे हैं।

शिक्षा के क्षेत्र में परिवर्तन

(Changes in the field of Education)

वर्तमान समय में शिक्षा के क्षेत्र में भी अनेक महत्वपूर्ण परिवर्तन देखने को मिलते हैं। इस देश में जिस शिक्षा-पद्धति का आज प्रचलन है वह धर्मनिरपेक्ष है। दूसरे शब्दों में यह कहा जा सकता है कि पहले शिक्षा का जो धार्मिक आधार था वह अब नहीं रहा है। पहले जहाँ निम्न जातियों को शिक्षा प्राप्त करने के अधिकारों से वंचित किया जाता था वहाँ आज सभी जाति के बच्चों को समान रूप से शिक्षा ग्रहण करने का अधिकार प्राप्त है। केवल-इतना ही नहीं, पिछड़ी जातियों के बच्चों को अधिकाधिक शिक्षित करने के उद्देश्य से उन्हें आज नाना प्रकार की सुविधाएँ दी जा रही हैं। आज शिक्षा के उद्देश्यों को भी फिर से परखा जा रहा है और उसके अनुसार शिक्षा को केवल किताबी शिक्षा तक ही सीमित न रखकर उसको उत्तरोत्तर व्यावहारिक बनाने का प्रयत्न किया जा रहा है। इस सम्बन्ध में गाँधीजी द्वारा प्रस्तुत वैसिक शिक्षा योजना को लागू करने के सम्बन्ध में प्रयत्नशीलता बढ़ रही है।

शिक्षा के धार्मिक आधारों में परिवर्तन हो जाने के फलस्वरूप आज वैज्ञानिक व तकनीकी शिक्षा पर अधिक बल दिया जाता है। नाना प्रकार के अनुसन्धान-कार्यों को आज प्रोत्साहित किया जाता है।

शिक्षा के प्रसार व प्रचार में सरकार का उत्तरदायित्व अत्यधिक बढ़ जाना भी इस दिशा में एक महत्वपूर्ण परिवर्तन है। इसीलिए सरकार की ओर से शिक्षा के विस्तार के लिये अनेक प्रयत्न किए जा रहे हैं जैसे उत्तर प्रदेश में प्रारम्भिक शिक्षा को निःशुल्क कर देने की योजना लागू कर दी गई है और साथ ही बेसिक शिक्षा का राष्ट्रीयकरण कर दिया गया है।

इस सम्बन्ध में एक और उल्लेखनीय परिवर्तन स्त्री-शिक्षा का विस्तार है। परम्परागत रूप में यह माना जाता था कि स्त्रियों का स्थान परिवार में है अतः उनके लिये शिक्षा निरर्थक है। परन्तु अब इस विचारधारा में उल्लेखनीय परिवर्तन हो गया है। अब केवल उच्च जाति के लोग ही नहीं वल्कि निम्न जाति के लोग; और वे लोग जिनमें कि अत्यधिक पर्दा-प्रथा थी, अपनी लड़कियों और स्त्रियों को स्कूल, कॉलेज व विश्वविद्यालय में पढ़ने के लिये भेजते हैं। गाँव में भी इस दिशा में परिवर्तन आज देखने को मिलता है। सरकार की ओर से स्त्रियों को निःशुल्क शिक्षा, प्राइवेट शिक्षा देने की सुविधा, छात्रवृत्तियाँ आदि देकर शिक्षा के विषय में प्रोत्साहित किया जा रहा है। उदाहरण के लिये उत्तर प्रदेश सरकार ने दसवीं कक्षा तक लड़कियों की शिक्षा निःशुल्क कर दी है।

सारक्षरता आन्दोलन या प्रौढ़ शिक्षा आन्दोलन शिक्षा के क्षेत्र में एक और उल्लेखनीय परिवर्तन है। रात्रि-पाठशाला आदि में प्रौढ़ों को शिक्षित करने की दिशा में अनेक क्रियात्मक कदम सरकारी तथा गैर-सरकारी तौर पर उठाये जा रहे हैं।

स्वतन्त्रता प्राप्ति के पूर्व भारत के अधिकांश ग्रामवासी निरक्षर ही थे परन्तु अब इस अवस्था में काफी परिवर्तन देखने को मिलता है और धीरे-धीरे गाँवों में निरक्षरता का प्रतिशत कम होता जा रहा है। ग्रामवासियों की शिक्षा में रुचि हो रही है और शिक्षा पर होने वाले खर्च को अब वे फिजूल खर्च नहीं समझते हैं।

सांस्कृतिक जीवन में परिवर्तन

(Changes in Cultural Life)

आज की परिवर्तित परिस्थितियों में सांस्कृतिक जीवन में भी अनेक परिवर्तन हो गये हैं। इन परिवर्तनों को संक्षेप में हम निम्नलिखित ढंग से प्रस्तुत कर सकते हैं—

1. धार्मिक जीवन में परिवर्तन (Changes in Religious Life)—वर्तमान समय में धर्म के परम्परागत कट्टरपन में परिवर्तन हो गया है। धार्मिक कट्टरपन अब दिन-पर-दिन कम होता जा रहा है। आज धर्म की तर्कों के आधार पर समझने की प्रवृत्ति बढ़ रही है। फलतः आज धर्म की परम्परागत मान्यताओं में काफी परिवर्तन हो गया है। उदाहरण के लिये हरिजनों को मन्दिर में प्रवेश का अधिकार देने के सम्बन्ध में अब बहुत कम विरोध सामने आता है।

परम्परागत रूप में धार्मिक कर्मकाण्ड में जो आडम्बर व जटिलता थी उनमें भी अब आवश्यकतानुसार परिवर्तन किए जा रहे हैं। उदाहरणार्थ, विवाह, यज्ञोपवीत आदि संस्कारों से सम्बन्धित धार्मिक क्रियायें जो पहले बहुत लम्बे समय में की जाती थीं उन्हें आज-दो-चार-घण्टों में ही पूरा कर दिया जाता है।

धार्मिक क्षेत्र में भी व्यावसायिक मनोभाव का विकास इस दिशा में एक महत्वपूर्ण परिवर्तन है। आज लोग धर्म को आजीविका का एक साधन बना लेते हैं। तीज-त्यौहारों में उल्टा-सीधा मन्त्र पढ़कर एक घण्टे की धार्मिक क्रिया को कुछ ही मिनटों में निबटाकर अधिकाधिक जजमानों के यहाँ से दक्षिणा बटोरना आज पुजारी

और पण्डितों का एक बंधा बन गया है। प्रायः सभी तीर्थ-स्थानों में भी-पण्डों में यही व्यावसायिक मनोभाव देखने को मिलता है। बड़ी-बड़ी धर्मशालाओं में यात्रियों से किराया वसूल करना तो एक सामान्य विषय है। अनेक तीर्थ-यात्राओं का आयोजन व्यावसायिक आधार पर अधिकाधिक मुनाफा कमाने के लिए संगठित एजेंसियों के द्वारा किया जाता है।

धर्म में लौकिकरण (Secularization) इस दिशा में एक और उल्लेखनीय परिवर्तन है। डॉ० श्रीनिवास के अनुसार, "लौकिकीकरण वह सामाजिक प्रक्रिया है जिसके अन्तर्गत हम धार्मिक, परम्परागत या प्रथागत व्यवहारों को व्यावहारिक स्तर पर उतारकर तात्त्विक आधार पर उसे अधिक उपयोगी बनाने का प्रयत्न करते हैं। धार्मिक चीजों को अब अलौकिक शक्ति व परलोक से जोड़ने के बजाय तात्त्विक आधार पर उन्हें इस लोक के व्यावहारिक जीवन से जोड़ने का प्रयत्न करते हैं। उदाहरण के लिये आज नामकरण संस्कार को एक धार्मिक क्रिया न मानकर एक सामाजिक अवसर माना जाता है जबकि इष्ट-मित्र व नाते-रिश्तेदार एक साथ मिलकर खाते-पीते और हंसी-खुशी का एक दिन बिताते हैं।

आधुनिक समय में धर्म के क्षेत्र में एक और महत्वपूर्ण परिवर्तन यह हो रहा है कि मनोरंजन के साधन के रूप में इसका महत्व बढ़ता जा रहा है। उदाहरण के लिये धार्मिक उत्सवों को धार्मिक आधार पर उतना महत्वपूर्ण नहीं माना जाता है जितना कि एक मनोरंजक अवसर व सामाजिक सम्मेलन (social gathering) के रूप में, जबकि लोगों को एकसाथ मिलकर खुशियाँ मनाने का मौका मिल जाता है। उसी प्रकार आजकल लोग तीर्थ-स्थानों पर धार्मिक उद्देश्य से उतना नहीं जाते जितना कि घूमने-फिरने तथा मनोरंजन करने।

2. पश्चिमीकरण (Westernization) — डॉ० एम० एन० श्रीनिवास (Srinivas) के अनुसार, "पश्चिमीकरण शब्द को ब्रिटिश राज्य के डेढ़ सौ वर्ष के शासन के परिणामस्वरूप भारतीय समाज और संस्कृति में उत्पन्न हुये परिवर्तनों के लिये प्रयोग किया जाता है।" भारत के सांस्कृतिक जीवन का आज विश्लेषण करने पर यह स्पष्ट होगा कि इसके सभी पक्षों पर पश्चिमी संस्कृति की छाप पड़ी है और उसके फलस्वरूप महत्वपूर्ण परिवर्तन हुये हैं। उदाहरण के लिये जाति-पाँति और छुआछूत के सम्बन्ध में, विधवा-पुनर्विवाह या अन्तर्जातीय विवाह के सम्बन्ध में हमारे मूल्यों तथा आदर्शों में अनेक परिवर्तन हो गये हैं। उसी प्रकार पश्चिमी प्रभाव से प्रभावित होकर आर्य समाज, ब्रह्म समाज, प्रार्थना समाज, रामकृष्ण मिशन आदि अनेक संगठनों का न केवल विकास हुआ है बल्कि उनके द्वारा सामाजिक सुधार आंदोलनों को क्रियात्मक रूप दिया गया है। पश्चिमीकरण के फलस्वरूप ही आज हमारे विचार, भावनाओं, आदर्शों, मूल्यों तथा सिद्धांतों में अनेक परिवर्तन देखने को मिलते हैं।

3. व्यक्तिवादी आदर्शों का विकास (Development of Individualistic Ideals) — आज सांस्कृतिक जीवन में जो परिवर्तन हुये हैं उनमें व्यक्तिवादी आदर्शों का विकास अत्यन्त महत्वपूर्ण है। प्रौद्योगिक विकास के साथ-साथ एक ओर धन का महत्व बढ़ा है और दूसरी ओर व्यक्तिगत कुशलता का। प्रत्येक व्यक्ति आज यह जानता है कि वर्तमान समाज में उसकी प्रतिष्ठा जाति या परिवार गौरव पर उतनी अधिक निर्भर नहीं करती जितनी कि धन तथा व्यक्तिगत गुणों पर। इस कारण

प्रत्येक व्यक्ति आज केवल अपने लिये ही सोचता है और अपने व्यक्तित्व का अधिकतम विकास चाहता है। फलतः आज व्यक्तिगत हितों के सामने सामूहिक हितों की बलि चढ़ जाती है और समाज में विघटनात्मक तत्त्व क्रियाशील हो जाते हैं। परिवार से लेकर राजनीति तक आज इसी व्यक्तिवादी आदर्शों का बोलबाला है। सत्ता या पद के लालच से लोग समूह के हितों की कुछ भी परवाह नहीं करते।

4. नैतिक जीवन में परिवर्तन (Changes in Morality).—आज नैतिक जीवन में भी अनेक महत्वपूर्ण परिवर्तन देखने को मिलते हैं। पहले लोग नैतिक नियमों का पालन करना अपना पवित्र कर्तव्य समझकर कहते थे, पर अब व्यक्तिवाद के विकास के साथ-साथ नैतिकता धीरे-धीरे दुर्बल होती जा रही है। उदाहरण के लिए आज एक विधायक बिना किसी नैतिक सिद्धान्त की परवाह किए केवल सत्ता के लालच से अपने दल को छोड़कर दूसरी पार्टी में जा मिलता है, सार्वजनिक स्वास्थ्य का कुछ भी ध्यान न रखते हुए आज एक भारतीय व्यापारी आटे के साथ खड़िया मिट्टी मिला देने में या मलाई में प्लास्टिक पेपर की तह लगा देने में कुछ भी संकोच नहीं करता है, या एक दवा-फरोश नकली दवाओं को बेचकर कितने ही अमूल्य जीवनो के साथ आज खिलवाड़ करने से सकुचाता नहीं। नैतिकता के इस पतन के कारण ही आज भारतीय समाज में अपराध, व्यभिचार, अप्रवाच और झूठ का अधिक बोलबाला है। केवल शहर के लोग ही इस नैतिक पतन के शिकार नहीं हैं अपितु भारतीय गाँव में भी यह मर्ज फैल चुका है। आज वे भी दूध से क्रीम निकालकर शहर में दूध बेचने आते हैं या खोये में शकरकन्दी व मैदा की, देशी घी में डालडा तथा दूध में पानी की मिलावट करने में अपनी शान समझते हैं। नैतिकता का पतन नाइट क्लबों के ऐश-आरामों में, नग्न नृत्यों में, शरीर को अर्द्धनग्न रखने वाली पोशाकों में तथा पुरुष के साथ-साथ भारतीय स्त्रियों के द्वारा भी केवल शराब व सिगरेट ही नहीं बल्कि सुलफा और कोकीन आदि का भी डटकर उपभोग करने में देखने को मिलता है। भारतीय परम्परा व संस्कृति को देखते हुए नैतिकता के क्षेत्र में ये सभी परिवर्तन उल्लेखनीय होते हुए भी वास्तव में चिन्तनीय व दयनीय हैं।

उपरोक्त विवरण से यह स्पष्ट है कि भारतीय समाज आज द्रुत परिवर्तन के दौर से गुजर रहा है। अंग्रेज जिस भारत को छोड़कर गए थे, वह था अनेक समस्याओं से जर्जरित भारत। स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद सामाजिक पुनर्निर्माण का जो बीड़ा हमने उठाया है वह अनेक प्रयत्नों व प्रचेष्टाओं से भरपूर है। इन प्रयत्नों व प्रचेष्टाओं के कारण भी भारतीय समाज में होने वाले परिवर्तन की प्रक्रिया को अच्छी गति (speed) प्राप्त हुई है। शिक्षा के प्रसार, ज्ञान व विज्ञान के क्षेत्र में हुई प्रगति तकनीकी कुशलता में वृद्धि आदि कारक भी इस दिशा में सहायक सिद्ध हुए हैं। इन सबके कारण भारतीय समाज में अनेक परिवर्तन—अच्छे और बुरे परिवर्तन—उभरकर सामने आए हैं। इस उभार को रोक नहीं जा सकता, उसे तो हमें स्वीकार करना ही होगा। स्वीकार करना होगा इस विश्वास के साथ कि बुरे परिवर्तनों को भी अच्छी दिशा की ओर मोड़ देने की क्षमता हममें है। इस विश्वास में ही भारत के भविष्य की समस्त सम्भावनाएँ छिपी हैं !

समाजशास्त्रीय साहित्य में 'संस्कृतीकरण' की संकल्पना (concept) को लाने का श्रेय डॉ० एम० एन० श्रीनिवास (M. N. Srinivas) को है। इस संकल्पना द्वारा आपने भारतीय जाति-प्रथा की संरचना व संस्तरण में होने वाले परिवर्तनों को समझाने का प्रयत्न किया है। उन्होंने यह दर्शाने का प्रयत्न किया है कि आधुनिक भारत में निम्न जाति के सदस्य प्रायः ऊँची जातियों के संस्कारों व जीवन के ढंग (way of life) का अनुकरण कर रहे हैं और साथ ही जातीय संस्तरण (stratification) में उच्च स्थान या स्थिति को प्राप्त करने का प्रयत्न कर रहे हैं एवं उस प्रयत्न में सफल भी हो रहे हैं। इसके फलस्वरूप समाज में तथा निम्न जातियों की जातीय स्थिति (caste status) व जीवन के ढंग में काफी परिवर्तन हो जाता है। भारतीय समाज में होने वाले परिवर्तनों की इस विशिष्ट प्रक्रिया का और भी स्पष्टीकरण निम्नलिखित विवेचना से हो सकेगा।

संस्कृतीकरण—जाति-प्रथा के अन्तर्गत क्रियाशील एक प्रक्रिया (Sanskritization A—Process within Caste System)

उपरोक्त भूमिका से ही यह स्पष्ट है कि संस्कृतीकरण मुख्य रूप से जाति-प्रथा के अन्तर्गत क्रियाशील परिवर्तन की एक प्रक्रिया है। इस प्रक्रिया के द्वारा निम्न जाति के लोग उच्च जाति की स्थिति पर पहुँचने व उस उच्च जाति के संस्कारों व जीवन के ढंग को अपनाने में सफल होते हैं। सामान्य तौर पर हमें यह विश्वास नहीं होता कि ऐसा होना भी सम्भव है क्योंकि जाति-प्रथा की प्रमुख विशेषता ही यह है कि जाति-प्रथा जन्म पर आधारित होने के कारण श्री केंतकर (Ketkar) के अनुसार एक जाति की सदस्यता केवल उन व्यक्तियों तक ही सीमित होती है जोकि उस जाति विशेष के सदस्यों से ही पैदा हुए हैं।¹ सर्वश्री मजूमदार व मदान (Majumdar and Madan) ने भी लिखा है, "जाति एक बन्द वर्ग है।"² यहाँ बन्द (closed) शब्द का प्रयोग सम्भवतः यह दर्शाने के लिए ही किया गया है कि वर्ग-व्यवस्था के अन्तर्गत सदस्यों के लिए वर्ग की सीढ़ी पर ऊपर से नीचे की ओर अथवा नीचे से ऊपर की ओर जाने के सम्बन्ध में जो खुलापन होता है, वह खुलापन जाति-प्रथा में नहीं होता अर्थात् जाति-प्रथा में एक जाति के सदस्यों को जातीय सीढ़ी पर ऊपर से नीचे की ओर या नीचे से ऊपर की ओर जाने की छूट नहीं होती है। जाति-प्रथा की इसी विशेषता का उल्लेख करते हुए श्री एन० के० दत्ता (N. K. Dutta) ने तो

1. ".....membership is confined to only those who are born of members....."—S. V. Ketkar: *History of Caste in India*, New York, 1909, p. 15.

2. "Caste is a closed class."—Majumdar and Madan, *Introduction to Social Anthropology*, 1965, p. 115.

स्पष्ट ही लिखा है, "जन्म ही एक व्यक्ति की जाति को सारी जिन्दगी के लिए निश्चित करता है, केवल जाति के नियमों को तोड़ने पर उसे जाति से बहिष्कृत किया जा सकता है, नहीं तो एक जाति से दूसरी जाति में जाना सम्भव नहीं है।" इस कथन से यह स्पष्ट है कि जाति एक बन्द व्यवस्था (closed system) है।

पर क्या वास्तव में कभी जाति-प्रथा 'पूर्णतया बन्द' थी या वैसा होना सम्भव है? इसका उत्तर निश्चय ही 'ना' होगा। इसी बात को स्पष्ट करते हुए प्रो० रॉबर्ट बीरस्टेड्ट (Robert Bierstedt) ने लिखा है कि "एक पूर्णतया खुली वर्ग-प्रथा एवं एक पूर्णतया बन्द जाति-प्रथा, ये दो सम्पूर्ण विपरीत छोर हैं और यह सन्देहयुक्त है कि किसी भी समाज में इस प्रकार के उग्र रूप पाए जाते हैं। समस्त वास्तविक समाजों में सामाजिक गतिशीलता के सम्बन्ध में कुछ प्रतिबन्ध अवश्य ही होते हैं, चाहे वे कितने ही उदार क्यों न हों। उसी प्रकार प्रत्येक वास्तविक समाज में कुछ सामाजिक गतिशीलता भी होती है, चाहे उसे प्रोत्साहित भले ही न किया जाए।" अतः वास्तविकता यह है कि जाति-प्रथा भी पूर्णतया बन्द नहीं है और आधुनिक सामाजिक शक्तियों (वैज्ञानिक ज्ञान, शिक्षा, औद्योगीकरण, नागरीकरण, धन का महत्व, महिला तथा राजनीतिक आन्दोलन, सरकारी कानून आदि) की क्रियाशीलता के कारण जाति-प्रथा के लिये पूर्णतया बन्द रहना सम्भव भी नहीं है। इसीलिये निम्न जातियों के लिए यह सम्भव होता है कि वे धीरे-धीरे अपने से उच्च जाति की स्थिति को प्राप्त कर लें और उनके संस्कारों तथा जीवन के ढंग को भी ग्रहण कर लें। इसी प्रक्रिया को संस्कृतीकरण कहा गया है। अतः स्पष्ट है कि संस्कृतीकरण मुख्यतः जाति-प्रथा के ही अन्तर्गत क्रियाशील एक प्रक्रिया है। यद्यपि यह प्रक्रिया जनजाति तथा अन्य समूहों में भी देखी जा सकती है। परन्तु इस सम्बन्ध में और कुछ विवेचना करने से पहले संस्कृतीकरण के वास्तविक अर्थ को और भी स्पष्ट कर लेना उचित होगा।

संस्कृतीकरण का अर्थ

(Meaning of Sanskritization)

संस्कृतीकरण की व्याख्या करते हुए डॉ० एम० एन० श्रीनिवास M. N. Srinivas) ने अपनी पुस्तक *Social Change in Modern India* में लिखा है, "संस्कृतीकरण वह प्रक्रिया है जिसके द्वारा कोई निम्न हिन्दू जाति या कोई जनजाति अथवा अन्य समूह किसी उच्च और प्रायः द्विज जाति की दिशा में अपने रीति-रिवाज, कर्मकाण्ड, विचारधारा और जीवन-मन्यता को बदलता है।" आम तौर पर

3. "A completely open class system and a completely closed caste system, of course are limiting cases. Polar opposites as it were and it is doubtful if these extremes are represented by any society, In all actual societies there are some barriers to vertical social mobility, no matter how famous they may be, and in all actual societies too there is some vertical mobility, even though it may not be encouraged."—Robert Bierstedt, *The Social Order*, McGraw-Hill Book Co., New York, 1957, p. 407.

4. "Sanskritization is the process, by which a 'low' Hindu caste, or tribal or other group, changes its customs, rituals, ideology any way of life in the direction of a high, and frequently, 'twice born' caste."—M. N. Srinivas, *Social Change in Modern India*, University of California Press, 1956, p. 6

ऐसे परिवर्तन के बाद वह जाति, स्थानीय समाज में परम्परागत रूप में जातीय सोपान में जो स्थान या स्थिति (status) उसे मिला हुआ है, उससे ऊँचे स्थान का दावा करने लगती है। साधारणतः बहुत दिनों तक, और वास्तव में एक-दो पीढ़ियों तक, दावा किए जाने के बाद ही उसे स्वीकृति मिलती है।

डॉ० श्रीनिवास ने यह भी लिखा है कि “संस्कृतीकरण का अर्थ केवल नवीन प्रथाओं व आदतों को ग्रहण करना ही नहीं, अपितु पवित्र एवं लौकिक जीवन से सम्बन्धित नए विचारों एवं मूल्यों को भी प्रकट करना है जिनका वितरण संस्कृत के विशाल साहित्य में बहुधा देखने को मिलता है। कर्म, धर्म, पाप, माया, संसार, मोक्ष आदि संस्कृत के कुछ अत्यन्त लोकप्रिय आध्यात्मिक विचार हैं और जब लोगों का संस्कृतीकरण हो जाता है तब वे अपनी बातचीत में इन शब्दों का बहुधा प्रयोग करने लगते हैं।”

शाब्दिक दृष्टिकोण से भी अगर देखा जाए तो यह स्पष्ट होगा कि संस्कृतीकरण नवीन एवं अधिक उत्तम विचार, आदर्श, मूल्य, आदत तथा कर्मकाण्डों को अपनाकर अपनी जीवन-स्थिति को अधिक उन्नत व परिमाजित बनाने की ही एक प्रक्रिया है क्योंकि संस्कृतीकरण वास्तव में ‘संस्कृत’ या ‘संस्कृति’ शब्द से सम्बन्धित है। ‘संस्कृति’ शब्द संस्कार का रूपान्तर है। एक हिन्दू को अपने जीवन को परिमाजित करने के लिये अनेक प्रकार के संस्कारों को करना पड़ता है और उसके बाद कहीं वह ‘संस्कृत’ (परिमाजित या Cultured) कहा जाता है। इस प्रकार एक हिन्दू की जीवन-स्थिति को परिशुद्ध व परिमाजित करने के लिये आवश्यक कृत्यों या संस्कारों की योजना को ‘संस्कृति’ मान लिया जा सकता है। इस दृष्टिकोण से विवेचना करने पर भी यह स्पष्ट है कि संस्कृतीकरण वह प्रक्रिया है जिसके द्वारा निम्न जाति या समूह के लोग अपनी जातीय या सामाजिक स्थिति को परिशुद्ध, परिमाजित व उन्नत करने के उद्देश्य से उच्च जाति के आदर्शों, मूल्यों, विचारों, कृत्यों, तथा संस्कारों को ग्रहण कर लेते हैं।

संस्कृतीकरण की प्रक्रिया व सामाजिक परिवर्तन (The Process of Sanskritization and Social Change)

उपरोक्त विवेचना से यह स्पष्ट है कि आधुनिक भारत में संस्कृतीकरण की प्रक्रिया के द्वारा निम्न जातियों, जनजातियों या अन्य समूहों की सामाजिक स्थिति, रीति-रिवाज, आदर्श, मूल्य, कर्मकाण्ड, विचार आदि में उल्लेखनीय परिवर्तन हो रहा है। निम्नलिखित विवेचना से यह बात और भी स्पष्ट हो जाएगी—

(1) संस्कृतीकरण की प्रक्रिया के माध्यम से कोई भी जाति, जनजाति या समूह अपने से उच्च जाति (विशेषतः द्विज जाति) के रीति-रिवाज, कर्मकाण्ड, विचार-धारा और मूल्यों को अपनाने का प्रयत्न करता है जिसके कि फलस्वरूप निम्न जाति,

5. “Sanskritization means not only the adoption of new customs and habits, but also exposure to new ideas and values which have found frequent expression in the vast body of Sanskrit literature, sacred as well as secular. Karma, dharma, papa, maya, sansara and moksha are examples of some of the most common Sanskrit theological ideas, and when a people become sanskritized these words occur frequently in their talk.”—M. N. Srinivas, *Ibid.*, p. 48.

जनजाति या समूह के रीति-रिवाज आदि में अनेक उल्लेखनीय परिवर्तन हो जाते हैं।

(2) संस्कृतीकरण के द्वारा निम्न स्तर की जाति, जनजाति या समूह सामाजिक सोपान में या उतार-चढ़ाव के क्रम में अपनी वर्तमान स्थिति से उच्च स्थिति (higher status) प्राप्त करने का प्रयास करता है। फलतः जातीय या सामाजिक संस्तरण (stratification) और संरचना (structure) में भी उसी के अनुरूप परिवर्तन हो जाता है।

(3) हम यह जानते हैं कि संस्कृतीकरण की प्रक्रिया निम्न जाति या समूह द्वारा उच्च जाति या अनुकरण करने से चलती है। इसका परिणाम यह होता है कि उच्च जाति की विशिष्टता और प्रभुत्व धीरे-धीरे परिवर्तित होता जाता है। सामान्य रूप से संस्कृतीकरण एक जाति को जातीय संस्तरण में ऊँचा पद प्राप्त करने योग्य बनाता है और उस योग्यता के प्राप्त होने का अर्थ यही होता है कि उच्च जाति की अपनी विशिष्टताएँ अपने पृथक् अस्तित्व को बनाए रखने में असफल रहती हैं। इसका सरल अभिप्राय यही है कि संस्कृतीकरण जातीय आधारों में खुलापन लाता है और जातीय गतिशीलता को सम्भव बनाता है। इसे एक उल्लेखनीय परिवर्तन कहा जा सकता है जो कि संस्कृतीकरण के कारण ही सामने आता है।

(4) संस्कृतीकरण की प्रक्रिया केवल जाति में ही नहीं अपितु जनजाति अथवा अन्य समूहों में भी देखी जा सकती है। इससे यह बात स्पष्ट है कि संस्कृतीकरण केवल जातीय संरचना व संस्तरण में ही नहीं अपितु सामाजिक संरचना व संस्तरण (social structure and stratification) में भी उल्लेखनीय परिवर्तन ला सकता है और लाता भी है। यह परिवर्तन जीवन के ढंग (way of life) से लेकर सामाजिक स्थिति तक हो सकता है।

(5) संस्कृतीकरण के द्वारा सामाजिक संरचना में ऊँचे पद या स्थिति का दावा किया जाता है जिसके फलस्वरूप निम्न जाति, जनजाति या सामाजिक समूहों की नीचे से ऊपर की ओर गतिशीलता बढ़ जाती है। इस गतिशीलता का प्रभाव सामाजिक परिवर्तन पर भी अवश्य ही पड़ता है। यह परिवर्तन केवल जाति-प्रथा द्वारा नियमित (controlled) हिन्दू समाज में ही नहीं अपितु जनजातीय समाजों (tribal societies) में भी देखा जा सकता है। उदाहरणार्थ, राजस्थान के भीलों में मध्य भारत के गोण्डों और ओरावों में तथा हिमालय की पहाड़ी जनजातियों में भी संस्कृतीकरण की प्रक्रिया क्रियाशील दिखलाई पड़ती है। संस्कृतीकरण के फलस्वरूप ही बहुत सी भारतीय जनजातियाँ (tribes) हिन्दू जाति होने का दावा करती हैं और अपने व्यवहारों को उसी के अनुरूप ढालने का प्रयत्न करती हैं। इसी से स्पष्ट है कि संस्कृतीकरण से सामाजिक परिवर्तन कैसे होता है। वास्तव में संस्कृतीकरण के अन्तर्गत मुख्यतः ब्राह्मण जाति को और सामान्य रूप में द्विज जातियों (ब्राह्मण, क्षत्रीय व वैश्य) को निम्न जातियों, जनजातियों तथा अन्य सामाजिक समूहों के सदस्य 'आदर्श' के रूप में मानते हैं और इसीलिये उनके साथ हर विषय में समरूपता (identity) स्थापित करने में गौरव का अनुभव करते हैं। डॉ० श्रीनिवास ने स्वीकार किया है कि ब्राह्मण आदर्श के अतिरिक्त क्षत्रीय, वैश्य एवं शूद्र आदर्श भी संस्कृतीकरण के आदर्श हो सकते हैं। उदाहरणार्थ, अनेक निम्न जाति के शूद्र अपने को कायस्थ होने का दावा करते हैं और कायस्थों के जीवन-प्रतिमान के साथ समरूपता

स्थापित करके अपनी सामाजिक प्रतिष्ठा व पद को ऊँचा उठाने का प्रयत्न करते हैं। इस प्रकार के सभी, प्रयत्नों का परिणाम अन्ततः सामाजिक परिवर्तन हो जाता है।

संस्कृतीकरण में सहायक अवस्थाएँ

(Favourable Conditions in Sanskritization)

आधुनिक समय में भारतीय समाज में कुछ ऐसी अवस्थाएँ हैं जिनके कारण संस्कृतीकरण की प्रक्रिया की क्रियाशीलता सरल हो जाती है। वे सहायक अवस्थाएँ निम्नवत् हैं—

1. आधुनिक शिक्षा (Modern Education)—अंग्रेजों के आने के पहले भारतवर्ष में प्रचलित शिक्षा की दो प्रमुख विशेषताएँ थी—प्रथम तो यह कि शिक्षा का आधार मूल रूप से धार्मिक था या कम-से-कम शिक्षा में धार्मिक तत्व स्पष्ट रूप में शामिल था। द्वितीयतः शिक्षा का संगठन परम्परागत रूप में ब्राह्मणों के हाथों में था। फलतः शिक्षा के माध्यम से भी लोगों को अपने वर्ण-धर्म का पालन करने का ही उपदेश दिया जाता था और लोग जातीय सोपान में ऊँचे उठने का सपना भी कभी नहीं देखते थे। पर अंग्रेजों ने भारत में ऐसी शिक्षा का प्रचलन किया जो कि धर्म-निरपेक्ष (secular) थी और समानता के सिद्धान्तों पर आधारित थी। अतः 16वीं शताब्दी तक जो शिक्षा ब्राह्मणों, क्षत्रियों तथा कायस्थों तक ही सीमित थी वह आज सभी जातियों तक फैल चुकी है और लोगों को अपनी-अपनी स्थिति को उन्नत करने के लिये प्रेरित कर रही है। यह आधुनिक शिक्षा का ही परिणाम है कि लोग यह जानते हैं कि समाज में ऊँचा पद या स्थान प्राप्त करने के लिये जातीय नियमों का पालन उतना आवश्यक नहीं है जितना कि शिक्षा के आधार पर व्यक्तिगत योग्यता को बढ़ाना। साथ ही, आधुनिक शिक्षा के आधार पर ही आज प्रजातन्त्रीय व समानता के सिद्धान्तों की लोकप्रियता बढ़ती जा रही है। ये सिद्धान्त इस बात पर बल देते हैं कि कि जन्म और परिवार के आधार पर ऊँच-नीच का विभाजन उचित नहीं और प्रत्येक व्यक्ति को अपनी व्यक्तिगत उपलब्धियों के आधार पर अपनी सामाजिक स्थिति को ऊँचा उठाने का अधिकार है। अतः स्पष्ट है कि संस्कृतीकरण की प्रक्रिया में आधुनिक शिक्षा का महत्वपूर्ण सहयोग रहा है।

2. नगरों का विकास (Development of Cities)—आधुनिक भारत में प्रौद्योगिक उन्नति के साथ-साथ नगरों का भी विकास होता जा रहा है। मोटे तौर पर नगर वह समुदाय है जिसमें कि सामाजिक विभिन्नता, घनी आबादी, पेशों की बहुलता, अवैयक्तिक सामाजिक सम्बन्ध, सामाजिक गतिशीलता व द्वितीयक (secondary) समितियों एवं नियन्त्रण की प्रधानता होती है। नगरों की आबादी घनी होती है और इसीलिये वहाँ कोई किसी को व्यक्तिगत रूप में नहीं जानता-पहचानता है। साथ ही, जातीय भेदभाव के बारे में नगर के लोग अधिक सचेत भी नहीं होते हैं। इन परिस्थितियों से बहुत से लोग लाभ उठाते हैं और अपनी वास्तविक जाति को छिपाकर अपने को किसी ऊँची जाति का सदस्य कहने लगते हैं। वे व्यक्ति अपरिचित होते हैं, अतः वे सच कह रहे हैं या झूठ, इसे जाँचा नहीं जा सकता। वास्तव में नगरों में अगर निम्न जाति या समूह के कुछ लोग उच्च जाति के रीति-रिवाज, मूल्य आचार-व्यवहार को अपना भी लेते हैं तो कोई इसकी परवाह तक नहीं

करता क्योंकि वहाँ के लोग कम रुढ़िवादी होने के कारण सामाजिक जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में पर्याप्त खुलापन (openness) देखने को मिलता है। अतः स्पष्ट है कि नगरों के विकास से संस्कृतीकरण की प्रक्रिया को सहायता मिली है।

3. धन का महत्व (Importance of Money)—आधुनिक भारत अपने परम्परागत आध्यात्मिक रास्ते से हटकर उत्तरोत्तर भौतिकवादी होता जा रहा है जिसके कारण आज हमारे समाज में धन का महत्व अत्यधिक बढ़ गया है। इसीलिये धन के बल पर सामाजिक सोपान में उच्च स्थिति को भी प्राप्त करना सरल हो गया है। एक धनी व्यक्ति से उसकी जाति के सम्बन्ध में भला आज कौन प्रश्न करता है? यही कारण है कि जिसके पास धन है उसके लिये उच्च जाति के रहन-सहन, रीति-रिवाजों और मूल्यों को अपनाने में कोई परेशानी नहीं होती है। यह इसलिये सम्भव होता है क्योंकि नवीन अर्थ-व्यवस्था में धन कमाने के अवसर भी सभी जाति के सदस्यों के लिये समान रूप से उपलब्ध हैं। फलतः प्रत्येक जाति के सदस्य आज अपनी योग्यता, शिक्षा, कुशलता आदि के आधार पर अधिकाधिक धन कमाने का प्रयत्न करते हैं और उसी के बल पर अपनी सामाजिक या जातीय स्थिति को ऊँचा उठाते हैं।

4 यातायात और संचार के साधनों में उन्नति (Development of the means of Transport and Communication)—आधुनिक भारत में यातायात और संचार के साधनों में तेजी से उन्नति होती जा रही है जिसके फलस्वरूप यहाँ एक ओर सामाजिक गतिशीलता दिन-प्रतिदिन बढ़ती जा रही है और दूसरी ओर नये-नये नगरों, उद्योगों, व्यवसायों मिल और कारखानों की भी उत्पत्ति और विकास होता जा रहा है। परिणामस्वरूप विभिन्न प्रकार के जाति, धर्म, प्रदेश और देश के लोगों का पारस्परिक सम्पर्क और विचार-विनिमय का क्षेत्र बढ़ता जा रहा है। इससे संकुचित विचारधारा और दृष्टिकोण का अन्त होता है और उसी के साथ जाति-पाति की कठोरता भी। इससे संस्कृतीकरण की प्रक्रिया को मदद मिलती है। साथ ही, यातायात और संचार के साधनों में उन्नति होने से जनजातीय लोगों का सम्पर्क हिन्दू समाज व संस्कृति से हुआ और बहुत से जनजातीय लोग तो आस-पास के नगरों में विकसित उद्योग-धन्धों में काम भी करने लगे; स्वतः ही हिन्दुओं के उन्नत सांस्कृतिक मान (cultural standard) के प्रति वे आकृष्ट हुए और उन्हें अपनाने के लिये प्रयत्न किये। इससे जनजातीय लोगों में संस्कृतीकरण की प्रक्रिया प्रारम्भ हुई।

5. राजनीतिक सत्ता (Political Authority)—आधुनिक भारत ने प्रजा-तन्त्रात्मक शासन-व्यवस्था को अपनाया है। इस व्यवस्था के अन्तर्गत प्रत्येक व्यक्ति, चाहे उसकी सामाजिक या जातीय स्थिति कुछ भी हो, अपनी योग्यता, कार्यकुशलता, बागडोर को हथिया सकता है। और एक बार शासन की बागडोर हाथ में आ जाने पर जातीय स्थिति को भला कौन पूछता है। ऐसी अवस्था में इन लोगों के लिए यह सम्भव होता है कि उच्च जाति के सांस्कृतिक प्रतिमान को सरलता से अपना लें और जातीय सोपान में अपनी स्थिति को भी ऊँचा उठा लें। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि राजनीतिक सत्ता भी संस्कृतीकरण की प्रक्रिया में एक सहायक अवस्था है।

6. सामाजिक तथा धार्मिक आन्दोलन (Social and Religious Movement)—कुछ सामाजिक व धार्मिक आन्दोलनों ने भी भारत में संस्कृतीकरण की प्रक्रिया को बढ़ावा दिया। उदाहरणार्थ, भक्ति-आन्दोलन के कारण निम्न जाति के कुछ व्यक्ति धार्मिक नेता बन सके। इनमें से हरिजन लोग भी थे। अनेक भक्त महिलाएँ भी सन्तों की कोटि में गिनी जाने लगीं। इस सम्बन्ध में गांधी जी द्वारा चलाया गया 'हरिजन आन्दोलन' भी विशेष रूप में उल्लेखनीय है। इस आन्दोलन के फलस्वरूप अब तक 'अछूत' कहलाने वाले लोगों को अपनी जातीय स्थिति को उन्नत करने और उच्च जाति के सांस्कृतिक प्रतिमान को अपनाने में अवश्य ही मदद मिली है। उसी प्रकार बंगाल में ब्रह्म समाज, बम्बई में प्रार्थना समाज तथा पंजाब व उत्तर प्रदेश में आर्य समाज द्वारा चलाए गए धार्मिक आन्दोलनों के अन्तर्गत जाति-पाँति के भेदभाव को दूर करने तथा निम्न जातियों के उत्थान के लिए उल्लेखनीय प्रयत्न किए गए। इन प्रयत्नों से निम्न जाति के अनेक लोगों ने लाभ उठाया और अपनी जातीय स्थिति को सुधारने की दिशा में कदम उठाया।

7. सामाजिक अधिनियम (Social Legislations)—भारत में कुछ सामाजिक अधिनियम भी संस्कृतीकरण की प्रक्रिया में सहायक सिद्ध हुए हैं। उदाहरणार्थ 'अस्पृश्यता अपराध अधिनियम, 1955' (The Untouchability Offences Act, 1955) के अन्तर्गत 'अस्पृश्यता' का अन्त कर दिया गया और यह निर्देश दिया गया कि तथाकथित 'अछूत' जातियों के साथ किसी भी प्रकार का भेदभाव करना अपराध होगा जो कानून के अनुसार दण्डनीय होगा। इससे इन जातियों के लिए उच्च जाति के सांस्कृतिक प्रतिमान को अपनाने में मदद मिली है। उसी प्रकार सन् 1954 के 'विशेष विवाह अधिनियम' (The Special Marriage Act, 1954) ने अन्तर्जातीय विवाहों की वैधानिक अड़चनों को दूर करके विवाह के माध्यम से निम्न जातियों के सदस्यों के लिए उच्च जातियों की 'दुनिया' में प्रवेश को सरल बना दिया है।

संस्कृतीकरण की प्रक्रिया

(The Process of Sanskritization)

डॉ० श्रीनिवास के अनुसार सामान्य रूप से संस्कृतीकरण एक जाति को जातीय संस्तरण में ऊँचा पद प्राप्त करने योग्य बनाता है। संस्कृतीकरण की प्रक्रिया के अन्तर्गत केवल उच्च जाति के रीति-रिवाजों और आदतों को ही नहीं बल्कि उनके विचारों, मूल्यों तथा आदर्शों को भी ग्रहण करना आता है। वंश-समूह के क्षेत्र में संस्कृतीकरण वंश के गृहत्व पर जोर देता है और इसीलिए उच्च वंश के साथ समरूपता स्थापित करना भी संस्कृतीकरण की प्रक्रिया में आता है।

संस्कृतीकरण की प्रक्रिया को बहुधा निम्न जाति या जनजातियों की ऊपर की ओर गतिशीलता के रूप में देखा जाता है। इस गतिशीलता के परिणामस्वरूप सामाजिक या जातीय व्यवस्था में स्थिति (status) या पद-मूलक परिवर्तन होते हैं।

संस्कृतीकरण की प्रक्रिया में एक जाति विशेष को 'आदर्श' मान लिया जाता है और जो निम्न जाति या जनजाति उसे आदर्श मानती है वह अपनी उस आदर्श जाति के ही रीति-रिवाज, कर्मकाण्ड, विचारधारा व जीवन-पद्धति को अपनाने का प्रयत्न करती है। बहुधा यह आदर्श जाति द्विज जातियाँ अर्थात् ब्राह्मण, क्षत्रिय एवं वैश्य ही होते हैं जिनका कि यज्ञोपवीत संस्कार होता है। इनमें ब्राह्मण आदर्श सबसे श्रेष्ठ होता है क्योंकि द्विजों में ब्राह्मण सर्वश्रेष्ठ है। परन्तु आधुनिक भारतीय समाज में ब्राह्मण आदर्श के अतिरिक्त क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र आदर्श भी संस्कृतीकरण के 'आदर्श'

हो सकते हैं। उदाहरणार्थ, एक हरिजन ब्राह्मण बनने का सपना न देखकर शूद्र आदर्श को ही अपना लक्ष्य मान सकता है।

संस्कृतीकरण की प्रक्रिया का एक स्थानीय स्वरूप हो सकता है। ब्राह्मणों की तुलना में क्षत्रिय, वैश्य व शूद्रों की संस्कृति में स्थानीय (local) सांस्कृतिक तत्व अधिक देखने को मिलते हैं। इसीलिये देश के विभिन्न भागों में क्षत्रिय या वैश्य होने का दावा करने वाली जातियों में परस्पर गहरी भिन्नतायें मौजूद हैं। यह बात शूद्रों के विषय में और भी स्पष्ट रूप में लागू होती है। इसलिये शूद्रों में कुछ उपजातियों की जीवन-पद्धति का अत्यधिक संस्कृतीकरण स्थानीय स्वरूप के अनुसार हुआ है।

भारतीय ग्रामीण समुदायों में संस्कृतीकरण की प्रक्रिया में प्रमु जाति की भूमिका भी महत्वपूर्ण है। प्रमु जाति होने के लिये किसी भी जाति में निम्नलिखित तीन विशेषतायें आवश्यक हैं—(1) स्थानीय समुदाय में उपलब्ध कृषि योग्य भूमि में से एक बड़े भाग पर उस जाति का स्वामित्व हो; (2) उस जाति की सदस्य-संख्या काफी हो; और (3) स्थानीय सोपान में उस जाति को उच्च स्थान प्राप्त हो। भारतीय गाँवों में प्रमुता स्थापित करने में भूमि का मालिक होना एक बड़ा निर्णायक तत्व है। भूमि पर स्वामित्व से केवल आर्थिक शक्ति ही नहीं अपितु सामाजिक प्रतिष्ठा भी बढ़ती है और इसीलिये वह प्रमु जाति के रूप में उभरता है और संस्कृतीकरण की प्रक्रिया में एक आदर्श जाति के रूप में मान लिया जाता है, चाहे जातीय सोपान में उसकी स्थिति नीची ही क्यों न हो। उदाहरणार्थ, पंजाब के कुछ भागों में जाट भूस्वामी ब्राह्मणों को अपना सेवक समझते हैं और पूर्वी उत्तर प्रदेश में माधोपुर गाँव में किसी समय प्रमुतासम्पन्न ठाकुर अपने गुरुओं और पुरोहितों के अतिरिक्त अन्य किसी ब्राह्मण के हाथ का बना भोजन नहीं खाते थे। कुछ भी हो, प्रमु जाति की अपनी एक स्थानीय प्रतिष्ठा होती है और अन्य जाति के लोग उस प्रमु जाति के व्यवहार, जीवन के ढंग आदि का अनुकरण करने का प्रयत्न करते हैं। इस प्रकार यदि स्थानीय प्रमु जाति ब्राह्मण है तो वहाँ संस्कृतीकरण की प्रवृत्ति ब्राह्मण आदर्श की ओर होगी और यदि वह प्रमु जाति राजपूत या बनिया हो तो क्षत्रिय, या वैश्य आदर्श की ओर। प्रत्येक स्थानीय प्रमु जाति की ब्राह्मण, क्षत्रिय या वैश्य आदर्शों की अपनी-अपनी अलग धारणा होती है।

संस्कृतीकरण की प्रक्रियों में ब्राह्मण आदर्श को प्रायः सभी लोग सर्वश्रेष्ठ मानते हैं क्योंकि इसके साथ धार्मिक तथा शुद्धतावादी आदर्श की धारणा जुड़ी हुई है। यही कारण है कि क्षत्रिय तथा अन्य मदिरासेवी और मांसाहारी समूह भी इस आदर्श की श्रेष्ठता को स्वीकार करते हैं। अधिकतर क्षेत्रों में मांसाहारी व मदिरासेवन निम्न जातियों के चिन्ह माने जाते हैं। ब्राह्मण पुरोहित शाकाहारी होते हैं। इस प्रकार शाकाहार और मदिरात्याग के शुद्धतावादी आदर्श को जाति-व्यवस्था में सदैव ही अन्य आदर्शों से ऊँचा माना जाता रहा है। संस्कृतीकरण इसी ऊँचे आदर्शों की ओर क्रियाशील होता है।

डॉ० श्रीनिवास के अनुसार संस्कृतीकरण के लिये किसी विशेष आर्थिक स्तर की आवश्यकता नहीं है और न उसका किसी समूह की आर्थिक स्थिति पर कोई अनिवार्य प्रभाव पड़ता है, यद्यपि यह सच है कि आर्थिक स्तर ऊँचा होने से संस्कृतीकरण में सहायता अवश्य ही मिलती है। इसके अलावा राजनीतिक सत्ता प्राप्त होने से,

शिक्षा का स्तर बढ़ने से और नेतृत्व का अवसर मिलने से संस्कृतीकरण में सहायता मिलती है।

डॉ० श्रीनिवास ने इस सत्य को स्वीकार किया है कि यह जरूरी नहीं कि संस्कृतीकरण के माध्यम से किसी भी जाति को जातीय संस्तरण में ऊँचा स्थान मिल ही जायेगा। यह बात हरिजनों पर विशेष रूप से लागू होती है। डॉ० श्रीनिवास के शब्दों में, “किसी अस्पृश्य जाति का संस्कृतीकरण कितना भी पूर्ण क्यों न हो वह अस्पृश्यता की बाधा को पार करने में असमर्थ है।” और शायद इसलिये एक हरिजन को क्षत्रिय, वैश्य या ब्राह्मण की स्थिति को प्राप्त करने हम नहीं देखते।

डॉ० श्रीनिवास ने लिखा है कि संस्कृतीकरण की प्रक्रिया भारतीय समाज में बहुत पहले से ही चलती आ रही है। हाँ, इतना अवश्य है कि पहले जमाने में संस्कृतीकरण का ब्राह्मणों द्वारा वैधीकरण आवश्यक था। मध्ययुगीन भारत के अध्येता श्री वर्टन स्टीन ने लिखा है कि दक्षिणी भारत में विजय नगर राज्य के शक्तिशाली शासकों को भी ब्राह्मणों की वैधतादायी क्षमता को मानना और उसका मूल्य चुकाना पड़ता था। यदि किसी भी जाति का कोई व्यक्ति राजा बनने के बाद अपने को उच्च जाति का घोषित करना चाहता था तो यह तभी सम्भव था जबकि ब्राह्मण किसी संस्कार के द्वारा उसके दावे को स्वीकार करके वैधता प्रदान करे। भारतीय इतिहास में इस प्रकार के बहुत से उदाहरण मिलते हैं जबकि निम्न जाति के किसी व्यक्ति ने अपनी सैनिक शक्ति के आधार पर सत्ता की स्थापना की और ब्राह्मणों ने उसका राज्याभिषेक संस्कार करके उसे क्षत्रिय जाति का घोषित किया।

संस्कृतीकरण की संकल्पना में दोष

(Defects in the Concept of Sanskritization)

(1) स्वयं डॉ० श्रीनिवास ने स्वीकार किया है कि संस्कृतीकरण एक उपयोगी संकल्पना (concept) होते हुए भी बहुत स्पष्ट संकल्पना नहीं है। उन्हीं के शब्दों में, “संस्कृतीकरण निःसन्देह एक बेतुका (awkward) शब्द है, फिर भी कई कारणों से वह ब्राह्मणीकरण (Brahmanization) से बेहतर पाया गया।” इस संकल्पना की जटिलता व ढीलेपन के कारण ही भारतीय समाज के विश्लेषण में इसकी उपयोगिता बहुत ही सीमित है। इसी बात को मानते हुए डॉ० श्रीनिवास ने लिखा है, “संस्कृतीकरण एक अत्यन्त जटिल और विषम संकल्पना है। वास्तव में इसे एक अकेली संकल्पना मानने की अपेक्षा अनेक संकल्पनाओं का एक ढेर मानना अधिक उपयोगी होगा। यह एक विस्तृत सामाजिक-सांस्कृतिक प्रक्रिया के लिये केवल एक नाम मात्र है।”

(2) संस्कृतीकरण की संकल्पना का दूसरा दोष यह है कि यह प्रक्रिया सार्व-देशिक नहीं है अर्थात् इस प्रक्रिया का दर्शन देश के सभी भागों में देखने को नहीं मिलता है। संस्कृतीकरण के अन्तर्गत नीची जातियाँ ऊँची जातियों की संस्कृतियों को क्रमशः ग्रहण करती हैं यद्यपि जाति-प्रथा में इसका निषेध है। डॉ० श्रीनिवास के शब्दों में, “संक्षेप में, नीची जाति ने जहाँ तक सम्भव हो सका ब्राह्मणों की प्रथाओं, संस्कारों और विश्वासों को ग्रहण कर लिया, और इस भाँति एक नीची जाति द्वारा ब्राह्मणों के जीवन के तरीकों को अपना लेना बहुधा दिखाई देने वाली एक प्रक्रिया होते हुए

भी सैद्धान्तिक तौर पर निषिद्ध है।”⁶ पर इस प्रकार निम्न जाति द्वारा उच्च जाति या ब्राह्मण संस्कृति को अपनाने की प्रक्रिया किसी विशेष मुदाय या देश के किसी विशेष भाग में भले ही सच हो किन्तु सम्पूर्ण देश पर लागू नहीं की जा सकती। जैसा कि डॉ० मजूमदार (D. N. Majumdar) ने मोहाना राव के अध्ययन में यह दर्शाया कि नीची जातियों में ऊँची जातियों की संस्कृति को ग्रहण करने की कोई प्रवृत्ति नहीं दिखलाई पड़ती और न ही किसी नीची जाति के आचार-विचार में परिवर्तन होने से उसको सामाजिक संस्तरण में कोई ऊँचा स्थान मिल जाता है। यदि कोई चमार ब्राह्मण के समान आचार-व्यवहार करने लगे तो क्या वह ब्राह्मण बन जायेगा या उसे ब्राह्मण जैसी स्थिति मिल जायेगी? कभी नहीं। इसीलिये डॉ० मजूमदार का प्रश्न है, “यदि संस्कृतीकरण एक प्रक्रिया है तो वह कहाँ रुकती है और क्यों रुकती है?” आपने यह दर्शाया है कि सामाजिक संस्तरण में जातियों की प्रगति ऊर्ध्वोन्मुख (vertical) या ऊपर की ओर न होकर क्षैतिज (horizontal) अर्थात् एक ही जाति की विभिन्न उपजातियों में होती है। यह एक सत्य है कि प्रत्येक जाति में अनेक उपजातियाँ होती हैं जिनका कि जातीय संस्तरण में एक ही स्थान होते हुए भी जो परस्पर एक-दूसरे को ऊँचा-नीचा मानती हैं। उदाहरणार्थ, सभी ब्राह्मणों का स्थान जातीय संस्तरण में एक-सा होते हुए भी इनमें गौड, कान्यकुब्ज, सारस्वत आदि भिन्न-भिन्न उपजातियाँ हैं जो एक-दूसरे को ऊँचा-नीचा मानती हैं अर्थात् इनमें ऊँच-नीच का एक संस्तरण है। जो नीची स्थिति पर है वह यह प्रयत्न करता है कि वह ऊँची स्थिति पर पहुँच जाये। केवल ब्राह्मणों में ही नहीं, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र, यहाँ तक कि अस्पृश्य जातियों में भी इसी प्रकार की उपजातियाँ होती हैं और उनमें ऊँच-नीच का संस्तरण देखने को मिलता है और इनमें सामान्य प्रवृत्ति यह है कि अपनी ही मूल जाति (ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र आदि) में जो ऊँच-नीच का संस्तरण या सोपान है उसमें नीची स्थिति से ऊँची स्थिति को प्राप्त करने का प्रयास किया जाये। इस प्रकार परिवर्तन या प्रगति जातीय संस्तरण के अन्तर्गत ऊर्ध्वोन्मुखी न होकर क्षैतिज होती है। डॉ० श्रीनिवास द्वारा प्रस्तुत संस्कृतीकरण की संकल्पना इस सत्य को प्रकट नहीं करती है।

(3) संस्कृतीकरण की संकल्पना का एक और उल्लेखनीय दोष यह है कि यह संकल्पना इस सत्य को भी छिपा जाती है कि संस्कृतीकरण की एक विपरीत प्रक्रिया भी भारतीय समाज में क्रियाशील है। डॉ० मजूमदार ने यह प्रमाणित करने का प्रयत्न किया है कि भारत के सभी भागों में संस्कृतीकरण से कहीं अधिक असंस्कृतीकरण (Desanskritization) दिखलाई पड़ता है जिसके अन्तर्गत स्वयं ऊँची जातियाँ ही अपने विशिष्ट आचार-विचार, रीति-रिवाज, वेश-भूषा को आज छोड़ती जा रही हैं। उदाहरणार्थ, कश्मीरी पण्डितों में बहुत से लोगों ने अपने परम्परागत आचार-विचार और रीति-रिवाजों को छोड़ दिया है। असंस्कृतीकरण का एक दूसरा उदाहरण ऊँची जातियों के द्वारा नीची जातियों के व्यवसाय को अपनाना है। आज बहुत से ब्राह्मण और क्षत्रिय व्यापार-वाणिज्य करते देखे जा सकते हैं। इस प्रकार डॉ० मजूमदार का निष्कर्ष यही है कि भारतीय समाज में संस्कृतीकरण की अपेक्षा असंस्कृतीकरण की प्रक्रिया अधिक स्पष्ट है।

6. “In short, it took over, as far as possible, the customs, rites and beliefs of the Brahmins. and the adoption of Brahmanic way of life by a low caste seems to have been frequent, though theoretically forbidden.”

आधुनिक भारत में सामाजिक परिवर्तन लाने में जिन प्रक्रियाओं व सामाजिक शक्तियों का महत्वपूर्ण योगदान रहा है उनमें पश्चिमीकरण की प्रक्रिया विशेष रूप से उल्लेखनीय है। वैसे 'सुजला सफला शस्य श्यामला भारत' अति प्राचीनकाल से ही अनेक विदेशी आक्रमणों का शिकार बनता रहा है। परन्तु अंग्रेजों ने अपने लम्बे शासनकाल में भारत का घनिष्ठ परिचय पश्चिमी या पाश्चात्य संस्कृति से न केवल कराया अपितु इस ढंग से शासन-व्यवस्था को व्यवस्थित किया कि भारतीय समाज में अनेक उल्लेखनीय परिवर्तन स्वतः ही उत्पन्न हो गए। इस प्रकार पश्चिमीकरण की प्रक्रिया ने सम्पूर्ण भारतीय जनजीवन को प्रभावित किया और परिवर्तनों को गति प्रदान की। वैसे तो परिवर्तन सदा ही होता रहता है, पर पश्चिमीकरण के फलस्वरूप भारतीय समाज में परिवर्तन की गति अत्यन्त तेज हो गई और सामाजिक जीवन के सभी क्षेत्रों में महत्वपूर्ण परिवर्तन उभरकर सामने आये। ये परिवर्तन अच्छे थे या बुरे, यह दूसरा प्रश्न है, वास्तविक तथ्य यह है कि पश्चिमीकरण ने भारत में द्रुत सामाजिक परिवर्तन उत्पन्न करने में महत्वपूर्ण भूमिका अदा की है। पर इस सम्बन्ध में और कुछ विवेचना करने से पूर्व पश्चिमीकरण के अर्थ को समझ लेना आवश्यक होगा।

पश्चिमीकरण का अर्थ

(Meaning of Westernization).

डॉ० एम० एन० श्रीनिवास (Dr. M. N. Srinivas) ने पश्चिमीकरण की व्याख्या करते हुए लिखा है, "मैंने 'पश्चिमीकरण' शब्द को ब्रिटिश राज्य के डेढ़ सौ वर्ष के शासन के परिणामस्वरूप भारतीय समाज व संस्कृति में उत्पन्न हुए परिवर्तनों के लिये प्रयोग किया है, और यह शब्द विभिन्न स्तरों जैसे औद्योगिकी, संस्थाओं, विचारधारा, मूल्य आदि में घटित होने वाले परिवर्तनों का द्योतक है।"¹

भारत में अंग्रेजी शासन-व्यवस्था के कायम हो जाने के बाद से ही हमारा सम्पर्क पश्चिमी या ब्रिटिश संस्कृति से स्थापित हुआ और दिन-पर-दिन घनिष्ठ होता गया। चूँकि अंग्रेज शासक वर्ग थे और उनका उद्देश्य भारतीयों को भी अपने सांस्कृतिक मायाजाल में फँसाना था, अतः हमारे लिये स्वयं को उनकी संस्कृति के प्रभावों से विमुक्त रखना सम्भव न हुआ। साथ ही उस पश्चिमी संस्कृति में कुछ अच्छाइयाँ

1. "I have used the term 'Westernization' to characterise the change brought about in Indian society and culture as a result of over 150 years of British rule, and the term subsumes changes occurring at different levels: technology, institutions, ideology and values."—M. N. Srinivas, *Social Change in Modern India*, University of California Press, 1966, p. 47.

अनेक आधुनिक व प्रगतिशील तत्व एवं असंख्य प्रलोभन भी थे। साथ ही अंग्रेजों का दबाव व प्रभाव भी हमारे ऊपर था। अतः हम उनकी संस्कृति के प्रति आकर्षित हुए और उन्हें अपनाया। फलतः प्रौद्योगिकी (Technology) से लेकर हमारी जाति-प्रथा, संयुक्त परिवार, विवाह, धर्म, कला, प्रथा, परम्परा, साहित्य, संगीत, विचार, आदर्श, लक्ष्य और मूल्य सभी में पश्चिमी संस्कृति की एक अमिट छाप लग गई, हम पश्चिम के रंग में काफी हद तक रंग गए। परिवर्तन की इस प्रक्रिया को ही 'पश्चिमीकरण' की संज्ञा दी जाती है।

अतः हम कह सकते हैं कि पश्चिमीकरण परिवर्तन की उस प्रक्रिया का द्योतक है जोकि भारतीय जनजीवन, समाज व संस्कृति के विभिन्न पक्षों में उस पश्चिमी संस्कृति के सम्पर्क में आने के फलस्वरूप उत्पन्न हुई जिसे की अंग्रेज शासक अपने साथ लाए थे।

• परन्तु इससे पूर्व कि पश्चिमीकरण की प्रक्रिया के विषय में हम अधिक कुछ विवेचना करें, यह उचित होगा कि भारत में अंग्रेजी शासन की स्थापना के फलस्वरूप पश्चिमी संस्कृति के साथ हमारा जो सम्पर्क स्थापित हुआ था उसकी ऐतिहासिक पृष्ठभूमि को हम समझ लें।

ऐतिहासिक पृष्ठभूमि (Historical Background)

पिछले 400 वर्षों के अन्दर पाश्चात्य सभ्यता और संस्कृति का प्रसार विश्व के विभिन्न देशों में हुआ है। 1500 ई० तक पूर्व और पश्चिम की जीवन-विधि में कोई महान् अन्तर नहीं था, पर बाद में विज्ञान के विकास तथा मशीनों के विस्तार के कारण पाश्चात्य संस्कृति व सभ्यता में अनेक महत्वपूर्ण विलक्षणताएँ उत्पन्न हो गई। कालान्तर में उसका प्रभाव विश्व के कौने-कौने में फैला; भारत भी उन देशों में से एक है।

भारत का पश्चिमी या यूरोपीय देशों से प्रत्यक्ष और नियमित सम्पर्क सन् 1498 से प्रारम्भ हुआ जब श्री वास्कोडिगामा ने आग्ना अन्तरीप से होकर भारत के लिए समुद्री मार्ग खोज निकाला। पहले-पहल पुर्तगालियों, डचों, फ्रांसीसियों तथा अंग्रेजों में व्यापार-सम्बन्धी अधिकार प्राप्त करने के लिये आपस में प्रतियोगिता होती रही। इन व्यापारियों ने भारत के शासक मुगल बादशाहों से आज्ञा लेकर इस देश से व्यापार करना प्रारम्भ किया और प्रत्येक ने इस बात का प्रयत्न किया कि वह दूसरे से व्यापार के मामले में आगे निकल जाए। कुछ भी हो, उस समय (सन् 1973) तक भारत के साथ इन पाश्चात्य देशों का केवल व्यापार-सम्बन्धी सम्पर्क ही बना रहा। जिसके कारण उनका प्रभाव भारतीय संस्कृति व सभ्यता पर ना के समान ही रहा। परन्तु व्यापार करते-करते यूरोपीय देश के निवासी यहाँ पर राज्य करने का सपना भी देखने लगे। अतः उन देशों के व्यापारियों में राजनीतिक भक्ति एवं प्रभुत्व के लिए भी संघर्ष हुआ और इसकी प्रथम अभिव्यक्ति इस रूप में हुई कि पुर्तगाल के वाइसराय अलबुर्क ने भारतीयों तथा पुर्तगालियों की मिथित जनसंख्या वाली कुछ दस्तियाँ स्थापित कीं। बस्तियों के स्थापित हो जाने के बाद पश्चिम के साथ भारत का केवल व्यापारिक ही नहीं बल्कि सांस्कृतिक आदान-प्रदान का सम्बन्ध भी स्थापित हो गया। भारतीयों ने पुर्तगालियों से युद्ध के नए तरीकों तथा खेती

करने की सुधरी हुई प्रविधियों (techniques) को सीखा। परन्तु यह सब प्रभाव कोई उल्लेखनीय सीमा तक नहीं पहुँच पाया।

31 दिसम्बर, सन् 1600 की सम्राज्ञी एलिजाबेथ ने पूर्व के देशों के साथ व्यापार करने के लिये ईस्ट इण्डिया कम्पनी को आज्ञा-पत्र दिया। उसके लगभग 21 वर्ष पूर्व 1579 ई० में एक यूरोपियन जहाज गोआ तट पर आया और एक अंग्रेज श्री टामस स्प्युनिस इस जहाज से उतरा। भारत-भूमि पर वह प्रथम अंग्रेज ईसाई पादरी था। लगभग 30-40 वर्ष तक वह भारत में रहा। इस बीच उसने जो पत्र अपने स्वदेश को भेजे उनमें भारत के हीरे, जवाहरात तथा सोना-चाँदी आदि का विवरण दिया। इन्हीं सब विवरणों से आकर्षित होकर ईस्ट इण्डिया कम्पनी ने भारत से व्यापार करने का निश्चय किया। सन् 1608 ई० में शहंशाह जहाँगीर की आज्ञा लेकर इस कम्पनी ने सूरत में अपने माल की सुरक्षा के लिये गोदाम तथा दफ्तर किराये पर लिये। यही शुरुआत थी। इसके बाद अंग्रेज व्यापारियों ने भारत में व्यापारिक आय को बढ़ाना आरम्भ कर दिया। अंग्रेजों की देखा-देखी फ्रांसीसियों ने भी सन् 1664 ई० में फ्रेंच ईस्ट इण्डिया कम्पनी की स्थापना की। लेकिन भारत में उन्हें शक्ति बढ़ाने का अधिक अवसर प्राप्त न हो सका, क्योंकि अंग्रेजी ईस्ट इण्डिया कम्पनी प्रत्येक दृष्टिकोण से अत्यन्त शक्तिशाली थी। फलतः फ्रांसीसियों का प्रभाव इस देश के पाँडिचेरी, माही और कारीकल प्रान्तों तक ही सीमित रहा। भारत के अन्य भाग इनसे अप्रभावित ही रहे।

उधर 18वीं शताब्दी के मध्य काल तक भारत के एक विस्तृत भू-भाग तथा बर्मा पर अंग्रेजों का शासन स्थापित हो गया। इसका क्या कारण था, इस प्रश्न का उत्तर देते हुये श्री कार्ल मार्क्स ने 22 जुलाई 1853 ई० के 'न्यूयार्क ट्रिब्यून' (New York Tribune) में लिखा है कि "मुगलों का वैभव अत्यन्त महत्व का था जिसे मुगल सूबेदारों ने टुकड़े-टुकड़े कर दिया और सूबेदारों की शक्ति को मरहटों ने विध्वंस किया और मरहटों का अफगानों ने विनाश किया, और ठीक उसी समय जबकि ये शक्तियाँ आपस में एक-दूसरे को निगल रही थीं, अंग्रेजों ने झपटकर सबको अपने अधिकार में कर लिया।" विश्व के इतिहास में यह एक अनोखा उदाहरण है कि ईस्ट इण्डिया कम्पनी इस देश में 150 वर्ष तक व्यापार करते-करते इतनी सफल हो गई कि सन् 1757 में प्लासी के युद्ध में बंगाल के नवाब सिराजुद्दौला को मैदान छोड़ना पड़ा और इस देश में अंग्रेजी राज्य की नींव पक्की पड़ गई। इसके फलस्वरूप 18वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध से ही पाश्चात्य संस्कृति का प्रभाव बंगाल के सामाजिक मूल्यों तथा आदर्शों पर पड़ना शुरू हो गया।

वैसे भी 18वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में मध्यकालीन भारतीय संस्कृति पतनोन्मुख हो गई थी। कम्पनी का शासन देश को और भी जर्जरित कर रहा था। उस समय की अवस्था का वर्णन करते हुये अपनी पुस्तक *Consideration on Indian Affairs* में श्री विलियम बोल्ट्स (William Bolts) ने लिखा है, "भूमि, इसका लगान, न्यायालय और इन स्थानों की आन्तरिक सरकार पूर्णरूप से ईस्ट इण्डिया कम्पनी के हाथ में है। बादशाह, जिसको लोग मुगल महान् कहते हैं, इनके हाथों की कठपुतली हैं बंगाल और बिहार के नकली नवाब वास्तव में ईस्ट इण्डिया कम्पनी के वेतनभोगी नौकर हैं।..... देश के आन्तरिक व्यापार पर कम्पनी का पूर्ण एकाधिकार है। यह अत्यधिक दुराचारपूर्ण तथा विनाशकारी है जिसकी नींव छल-कपट पर

आधारित है। न्याय का अन्त हो रहा है। लाखों व्यक्ति कुछ लोगों की दया पर जीवित हैं जो जनता को लूटकर लूटे हुए घन को आपस में बाँट लेते हैं। जनसंख्या बढ़ रही है, उद्योग-धन्धे नष्ट हो रहे हैं और मालगुजारी गिर रही है। वही बंगाल जो अभी कुछ वर्ष पूर्व तक दसियों लाख नकद पूँजी नजराने के रूप में दिल्ली भेजा करता था, अब पैसे-पैसे को लाचार है।”

धीरे-धीरे कम्पनी राज्य इस देश में पक्के तौर पर स्थापित हो गया। उस समय भारत की सामाजिक दशा अत्यन्त ही शोचनीय थी। बाल विवाह का प्रचलन बड़े जोर-शोर से था। यह एक प्रचलित दशा थी कि 12 वर्ष की लड़की माँ बन जाती थी और उसकी गोद में बच्चा खेलता था। बाल-विवाह का एक सामान्य प्रभाव यह होता था कि इस देश में विधवाओं की संख्या अत्यधिक थी और उनमें बाल-विधवाओं की संख्या भयंकर थी। इसके अतिरिक्त पर्दा-प्रथा भी एक समस्या थी। इसमें मुसलमान स्त्रियाँ विशेष रूप से तथा हिन्दू स्त्रियाँ आम तौर पर पर्दा किया करती थीं। ऊँचे परिवार की स्त्रियाँ अधिकतर ढकी हुई डोलियों में आया-जाया करती थीं। इसके फलस्वरूप वे बहुधा क्षय रोग (T.B.) तथा हिस्टीरिया आदि रोगों से पीड़ित रहती थीं। डॉ॰ आर्थर लंकैस्टर ने अपनी पुस्तक में यह सिद्ध किया है कि पर्दा करने वाली स्त्रियों में क्षय रोग से अधिक मृत्यु होती है। 19वीं शताब्दी में भारत में 4 करोड़ से भी अधिक हिन्दू व मुसलमान स्त्रियाँ पर्दा करती थीं। स्त्री-शिक्षा ना के समान थी। जाति-प्रथा और अस्पृश्यता की भावना अपने-अपने स्थान पर भयंकर रूप लिये पैर जमाये खड़ी थी। अस्पृश्य जातियों की दशा वास्तव में बड़ी दयनीय थी। साधारण जनता निर्धन तथा मितव्ययी थी। श्री गुलाम हुसैन ने अपनी पुस्तक (1783) में लिखा है कि अंग्रेजों ने भारतीय व्यापार और गृह उद्योग को न केवल नष्ट किया बल्कि भारतीय जनता के जीवन-निर्वाह के लिये कुछ न छोड़ा। जमींदारा प्रथा का प्रचलन किया गया और जुआ, शराब तथा भोग-विलास सम्बन्धी कार्यकलापों को अधिक बढ़ावा दिया गया।

यह सच है कि उस समय भारतीय जीवन व संस्थाओं की एक शोचनीय अवस्था थी, फिर भी विलियम् वेण्टक, लार्ड मैकाले जैसे शासकों ने समाज सुधार में सक्रिय भाग लिया। इनके काल में अंग्रेजी भाषा के माध्यम से शिक्षा और राज्य-कार्य चलाने का निश्चय किया गया। इसके फलस्वरूप इस देश में अंग्रेजी शिक्षा का प्रसार होने लगा जिससे सांस्कृतिक सम्पर्क बढ़ाने का विशेष अवसर मिला। लार्ड डलहौजी की नीति के फलस्वरूप अनेक भारतीय राजाओं के राज्य अंग्रेजी शासन के अधीन हो गये। इसका प्रभाव भारत के सांस्कृतिक व आर्थिक जीवन पर पड़ा। ये भारतीय राजा अपने-अपने राज्य में अनेक पाठशालाओं, गायकों, कवि तथा कलाकारों का संरक्षण व पालन करते थे जिनका अब कोई ठिकाना न रहा। इससे आम जनता में असन्तोष फैलने लगा। असन्तोष फैलने का अन्य सामान्य कारण भारतीयों के प्रति अंग्रेजों का दुर्व्यवहार तथा उन्हें ईसाई बनाने का प्रयत्न था। ईस्ट इण्डिया कम्पनी के चैयरमैन मिस्टर मंगलस (Mangles) ने 1857 में ब्रिटिश पार्लियामेण्ट के सामने कहा था कि “ईश्वर ने भारत का शानदार राज्य इंग्लैण्ड को इसलिये सौंपा है ताकि भारत के एक कोने से दूसरे कोने तक हरजत ईसा मसीह की विजय का झण्डा लहराने लगे। हम में से प्रत्येक को इस कार्य को पूरा करने के लिये पूरी शक्ति लगा देनी चाहिये।” इतना ही नहीं, अंग्रेजों का भारतीय सिपाहियों के प्रति व्यवहार भी अच्छा न था। इससे उनमें असन्तोष की भावना थी।

इन्हीं सब असन्तोष की आय सन् 1857 की क्रान्ति के रूप में भड़की। इस क्रान्ति ने अंग्रेजी राज्य को हिला दिया। सर विलियम हावर्ड रसेल (Sir William Howard Russell) ने लिखा है, "वह एक ऐसा युद्ध था जिसमें जनता अपने धर्म के नाम पर और अपने राष्ट्र के नाम पर बदला लेने के लिए और अपनी आशाओं को पूर्ण करने के लिए उठी थी। उस युद्ध में सारे राष्ट्र ने अपने सिर से विदेशियों के जुए को उतार फेंककर उसके स्थान पर देशी शासकों और देश के धर्मों को पुनः पूर्णरूपेण शक्तिशाली बनाने का निश्चय कर लिया था।" और श्री मैलीसन (Malleson) के अनुसार, "अगर ठीक समय निश्चित तिथि के अनुसार, एकसाथ एक ही तारीख को सम्पूर्ण भारत में उस स्वतन्त्रता के संग्राम का आरम्भ हुआ होता तो भारतवर्ष में एक भी अंग्रेज न बचता और भारत में से अंग्रेजी शासन उठ गया होता।"

परन्तु यह स्वतन्त्रता संग्राम सफल न हुआ और अनेक परिणामों को साथ लाया, जिनमें से सर्वप्रथम तो यह था कि नवम्बर सन् 1858 को महारानी विक्टोरिया की घोषणा के बाद कम्पनी की सरकार समाप्त हो गई और अंग्रेजी राज्य, पक्की तौर पर इस देश में स्थापित हो गया। इस घोषणा में यह कहा गया कि अंग्रेजी सरकार भारत के किसी भी धार्मिक रीति-रिवाजों में किसी प्रकार का हस्तक्षेप नहीं करेगी और सारे भारतीयों के साथ ठीक उसी प्रकार का व्यवहार किया जाएगा जैसाकि अंग्रेजों के साथ किया जाता था। पर वास्तव में इस घोषणा का पालन नहीं किया गया। अंग्रेज शासक भारतीयों को सन्देह और घृणा की दृष्टि से देखने लगे और भारतीय प्रगति के प्रति जान-बूझकर उदासीन बने रहे। अपने राष्ट्र के स्वार्थ को अंग्रेजों ने उच्चतम प्राथमिकता दी। साथ ही, स्वतन्त्रता संग्राम के दौरान में भारत के हिन्दू और मुसलमानों में जो अटूट एकता व भाईचारे का नाता था उसे अंग्रेजों ने तोड़ने का प्रयत्न किया। आरम्भ में उन्होंने हिन्दुओं का पक्ष लिया किन्तु कुछ समय पश्चात् जब हिन्दुओं ने अंग्रेजों के विरुद्ध राष्ट्रीय आन्दोलन आरम्भ किया तो अंग्रेजों ने मुसलमानों का पक्ष लिया जिससे कि उन्हें राष्ट्रीय आन्दोलन से दूर रक्खा जाए और हिन्दुओं व मुसलमानों को धर्म के नाम पर बाँटा जाए। फिर भी राष्ट्रीय आन्दोलन रुका नहीं और उसकी प्रगति व विस्तार के साथ-साथ भारत में ऐसे लोगों की संख्या धीरे-धीरे बढ़ती गई जो पाश्चात्य संस्कृति के संस्कृतीकरण का विरोध करते थे। फिर भी पाश्चात्य संस्कृति व विचारों के प्रभाव देश में आते रहे। 19वीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध तक ये प्रभाव व्याप्त होते गए। फलस्वरूप इन्होंने मध्यकालीन भारतीय संस्कृति को एक चुनौती दी। 19वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध से पाश्चात्य सांस्कृतिक तत्त्वों को भारतवासियों ने एक तरफ स्वीकार किया और दूसरी तरफ उन तत्त्वों का भारतीय सांस्कृतिक तत्त्वों के साथ इस प्रकार सामंजस्य स्थापित करने का प्रयत्न किया जिससे कि भारतीय संस्कृति व संस्थाओं में घुसे हुए दोष दूर हो सकें और उनका पुनरुत्थान सम्भव हो। स्वीकरण, सामंजस्य तथा पुनरुत्थान की यह प्रवृत्तियाँ समाज के सभी वर्गों व जातियों में समान रूप में विद्यमान नहीं थीं, फिर भी इन प्रवृत्तियों के कारण एक नवीन युग का उदय हुआ जिसे 'आधुनिक काल' कहते हैं।

डॉ० ब्रजनाथ सिंह यादव ने लिखा है कि "पाश्चात्य सांस्कृतिक प्रभावों के स्वीकरण, उनके तथा भारतीय सांस्कृतिक विचारों, आदर्शों एवं प्रथाओं के समन्वय, तथा सांस्कृतिक क्षेत्र में भारतीय पुनरुत्थान की प्रवृत्तियों का युग अभी तक चलता

जा रहा है। पाश्चात्य सभ्यता का भारत में प्रवेश कुछ तो अंग्रेजी शासन के कारण हुआ और कुछ काल-क्रम के प्रभाव से हुआ। उसका व्यापक प्रभाव सांस्कृतिक प्रथाओं, विचारों तथा जीवन के विविध अंगों पर दृष्टिगोचर होता है।”

पश्चिमीकरण के लक्षण

(Characteristics of Westernization)

डॉ० श्रीनिवास ने पश्चिमीकरण के कुछ लक्षणों का भी उल्लेख किया है जो कि निम्नवत् हैं—

1. नैतिक रूप से तटस्थ—पश्चिमीकरण की प्रक्रिया में नैतिकता के तत्व होना कोई जरूरी नहीं है अर्थात् पश्चिमीकरण के परिणाम अच्छे भी हो सकते हैं और बुरे भी। भारतीय समाज में पश्चिमीकरण केवल अच्छी दिशा में ही हुआ है, यह बात नहीं है। इस प्रकार यह प्रक्रिया नैतिक रूप से तटस्थ होती है।

2. अंग्रेज द्वारा लाई गई पश्चिमी संस्कृति—पश्चिमीकरण का तात्पर्य केवल उन सांस्कृतिक तत्वों (cultural traits) को ग्रहण करना नहीं है जोकि पश्चिमी देशों में उत्पन्न हुए हैं। इसके अन्तर्गत समस्त सांस्कृतिक तत्वों का प्रभाव सम्मिलित है जिसे कि अंग्रेज शासक अपने साथ लाए थे और इस देश में प्रचलित किया था। हम यह जानते हैं कि पाश्चात्य संस्कृति के सभी तत्व पश्चिम में उत्पन्न नहीं हुए हैं। उदाहरणार्थ, ईसाई धर्म की उत्पत्ति एशिया में हुई; दशमलव पद्धति भारतवर्ष में उत्पन्न हुई, और अरब से होते हुए यूरोप पहुँची। वारुद, छापाखाना और कागज का आविष्कार चीन में हुआ। ये सब पाश्चात्य संस्कृति के महत्वपूर्ण अंग हैं, परन्तु ये पश्चिम की उपज नहीं हैं। फिर भी इन्हें भारतीय समाज में लोकप्रिय बनाने का श्रेय अंग्रेजों को ही है। उसी प्रकार ‘पश्चिमी देश’ इस शब्द से जिन अनेक देशों का जैसे अमेरिका, ग्रेट ब्रिटेन, फ्रांस, जर्मनी, इटली आदि का बोध होता है उनमें स्वयं आपस में भारी सांस्कृतिक अन्तर है। भारतवर्ष में सामाजिक परिवर्तन के एक कारक के रूप में पश्चिमीकरण की जो प्रक्रिया क्रियाशील है, वह वास्तव में पाश्चात्य संस्कृति के उस स्वरूप का प्रभाव है जिसे कि अंग्रेज शासक अपने साथ लाए और भारतवासियों को उससे परिचित कराया।

3. व्यापक, जटिल एवं बहुस्तरीय अवधारणा—पश्चिमीकरण एक अत्यन्त व्यापक व जटिल अवधारणा (concept) है क्योंकि इसमें वे सभी परिवर्तन आते हैं जोकि पाश्चात्य संस्कृति के उन तत्वों के फलस्वरूप उत्पन्न हुए हैं जिनका कि प्रसार इस देश में अंग्रेजी शासन के स्थापित होने के कारण हुआ। साथ ही, पश्चिमीकरण एक ऐसी संकल्पना है जिससे कि भारतीय समाज या संस्कृति में होने वाले बहुस्तरीय परिवर्तनों का बोध होता है। अर्थात् पश्चिमीकरण के फलस्वरूप भारतीय समाज या संस्कृति के किसी विशेष पक्ष में ही केवल परिवर्तन हुआ है, यह सोचना गलत है। परिवर्तन तो सभी पक्षों और स्तरों में देखने को मिलता है। पश्चिमीकरण के फलस्वरूप यदि जातीय संरचना के सभी स्तरों पर परिवर्तन हुआ है तो कला, संगीत, धर्म रीति-रिवाज, आचार व मूल्य भी उसके प्रभाव से अछूता नहीं रह पाया है; यहाँ तक कि भोजन करने का ढंग और अभिवादन का तरीका भी बदल गया है।

4. चेतन-अचेतन प्रक्रिया—पश्चिमीकरण केवल एक चेतन प्रक्रिया ही नहीं अपितु अचेतन प्रक्रिया भी है। दूसरे शब्दों में, पश्चिमीकरण की प्रक्रिया द्वारा भारत में सामाजिक परिवर्तन केवल सचेत रूप में ही हुआ है, ऐसी बात नहीं है। अंग्रेजों

द्वारा लाए गए अनेक पश्चिमी सांस्कृतिक तत्वों को हमने अनायास ही कब ग्रहण कर लिया है वह शायद स्वयं हमें भी मालूम नहीं। वे तो अचेतन रूप में हमारे जल-जीवन में समा गए हैं और परिवर्तन को घटित किया है।

पश्चिमीकरण के परिणाम

(Consequences of Westernization).

डॉ० श्रीनिवास के अनुसार पश्चिमीकरण के परिणाम अर्थात् पश्चिमीकरण की प्रक्रिया के फलस्वरूप भारत में जो महत्वपूर्ण परिवर्तन हुए हैं उन्हें संक्षेप में इस प्रकार प्रस्तुत किया जा सकता है—

(1) संस्थाओं में परिवर्तन पश्चिमीकरण का प्रथम परिणाम है। पश्चिमीकरण के फलस्वरूप भारतीय समाज की परम्परागत व प्रभावशाली संस्थाओं जैसे, जाति-प्रथा, संयुक्त परिवार, विवाह, पंचायत आदि में उल्लेखनीय परिवर्तन हुए हैं। दूसरी ओर प्रेस, मतदान, ईसाई मिशनरी जैसी नई संस्थाओं का भी जन्म हुआ है।

(2) मूल्यों का परिवर्तन पश्चिमीकरण का एक और अत्यन्त महत्वपूर्ण परिणाम है। पश्चिमीकरण के फलस्वरूप जहाँ एक ओर व्यक्तिवादी मूल्यों को बढ़ावा मिला है वहाँ दूसरी ओर समानता, लोकतन्त्र व लोकिकवाद से सम्बन्धित मूल्यों का भी महत्व बढ़ता गया है। कानून के सामने सब समान हैं—यह सामाजिक मूल्य पश्चिमीकरण की ही देन है। उसी प्रकार सती-प्रथा व बाल-विवाह के विपरीत मूल्यों का विकास, अन्तर्जातीय विवाह, प्रेम-विवाह, विधवा-पुनर्विवाह के अनुकूल मूल्यों का भी विकास पश्चिमीकरण के फलस्वरूप ही हुआ है। शिक्षा प्राप्त करने का अधिकार सबको है, धर्म तथा जाति के आधार पर भेदभाव या छुआछूत की भावना अर्थहीन है, स्त्रियों को दासी समझना एक सामाजिक अन्याय है तथा भाग्यवादी होने रहना अपने ही साथ धोखा करना है—आदि अनेक परिवर्तित सामाजिक मूल्यों का विकास पश्चिमीकरण का ही परिणाम है।

(3) राज्य के कार्य-क्षेत्र में अत्यधिक विकास पश्चिमीकरण का एक और उल्लेखनीय परिणाम है। अब राज्य का कार्य-क्षेत्र केवल अपराधों को दण्ड देने और देश की सुरक्षा तक ही सीमित न रहकर जन-कल्याण या समाज-कल्याण तक विस्तृत हो गया। शिक्षा, स्वास्थ्य, ग्रामीण उन्नति, श्रम-कल्याण, बाल व स्त्री कल्याण, अकालों की रोकथाम, पिछड़े वर्गों की उन्नति आदि असंख्य कार्यों को अब राज्य का कर्तव्य-कर्म माना जाने लगा।

(4) हिन्दू धर्म की पुनः व्याख्या पश्चिमीकरण का एक महत्वपूर्ण परिणाम है। पश्चिमी आदर्शों, सिद्धान्तों व मूल्यों से प्रेरणा लेकर ही इस देश में ब्रह्म समाज, प्रार्थना समाज, आर्य समाज, रामकृष्ण मिशन आदि धार्मिक संस्थाओं का जन्म व विकास हुआ जिन्होंने कि हिन्दू धर्म की फिर से व्याख्या की और इसमें उत्पन्न गन्दगी को दूर करने के लिये क्रियात्मक कदम उठाए। इस कार्य में राजा राममोहन राम, ईश्वरचन्द्र विद्यासागर, महर्षि दयानन्द, स्वामी रामकृष्ण परमहंस, स्वामी विवेकानन्द, विश्व कवि रवीन्द्रनाथ, श्री अरविन्द, महात्मा गांधी आदि ने उल्लेखनीय प्रयत्न किए। इन प्रयत्नों के फलस्वरूप धार्मिक आडम्बर, जाति-पाति का भेदभाव, छुआछूत की भावना आदि को लोग बुरा मानने लगे।

(5) अनेक राजनीतिक व सांस्कृतिक आन्दोलनों का सुत्रपात भी पश्चिमीकरण

के ही परिणामस्वरूप हुआ। कांग्रेस द्वारा चलाई गया भारतीय स्वतन्त्रता आन्दोलन उन्हीं में से एक है।

(6) शिक्षा का प्रसार व स्त्री-शिक्षा पर बल पश्चिमीकरण का सबसे प्रभावपूर्ण परिणाम है। शिक्षा प्राप्त करने का अधिकार सबको है एवं सबको शिक्षा संस्थाओं में प्रवेश पाने का समान अवसर मिलना चाहिए यह विचार पश्चिमीकरण का ही वरदान है। अंग्रेजों के आने के बाद इस देश में शिक्षा का, जिसमें स्त्री-शिक्षा भी सम्मिलित है, विस्तार तेजी से हुआ। ज्ञाना प्रकार के स्कूल, कॉलेज, विश्वविद्यालय आदि खोले गए। मेडिकल व इन्जीनियरिंग कॉलेजों की स्थापना इस दिशा में अत्यन्त महत्वपूर्ण कदम था। देश में साक्षरता आन्दोलन बढ़ा और एक-एसे शिक्षित वर्ग का विकास हुआ जिसने दासता की जंजीर से जकड़े हुए भारत के भाग्य को फिर से पलट देने का उत्तरदायित्व अपने ऊपर ले लिया।

उपरोक्त विश्लेषण के सन्दर्भ में पश्चिमीकरण के फलस्वरूप भारतीय समाज व संस्कृति में जो मुख्य-मुख्य परिवर्तन हुए हैं उनकी अब हम विस्तारपूर्वक विवेचना करेंगे।

पश्चिमीकरण व भारतीय समाज एवं संस्थाओं में परिवर्तन (Westernization and Changes in Indian Society and Institutions)

जैसाकि पहले ही कहा गया है, पश्चिमीकरण के फलस्वरूप भारतीय सामाजिक व सांस्कृतिक जीवन में क्रान्तिकारी परिवर्तन हुए हैं। श्री कार्ल मार्क्स के अनुसार अंग्रेजों को भारत में दो प्रकार की सेवा करनी थी—प्रथम, विध्वनात्मक (destructive) और द्वितीय रचनात्मक (constructive) अर्थात् पुराने भारतीय समाज को नष्ट-भ्रष्ट करना तथा पश्चिमी संस्कृति व सभ्यता की नींव जमाना। श्री मार्क्स ने लिखा है, “विजेताओं में अंग्रेज प्रथम थे जिन्होंने हिन्दू संस्कृति..... को नष्ट कर दिया तथा यहाँ के उद्योग-धन्वों की जड़ें काट दीं और भारतीय समाज में जिन वस्तुओं को आदर और उच्चता प्राप्त थी उनके उत्कर्ष को छीन लिया।..... नष्टता की पराकाष्ठा में निर्माण की नींव कुछ कठिनाई से ही पड़ती है, किन्तु इसका प्रारम्भ हो चुका है।” श्री मार्क्स के अनुसार भारत में अंग्रेजों के रचनात्मक कार्य इस प्रकार हैं—(क) राजनीतिक एकता—मुगलकालीन शासकों की अपेक्षा अंग्रेजों के समय में राजनीतिक एकता अधिक संगठित व विस्तृत होती जा रही थी। अंग्रेजी शासनकाल में यातायात और संचार के साधनों में हुई प्रगति ने इस कार्य में अधिक सहायता दी। (ख) देशी सेना—अंग्रेजों ने भारत की सैनिक शक्ति को बढ़ाने के लिये भी प्रयत्न किए, यद्यपि सन् 1857 के स्वतन्त्रता संग्राम के बाद सेना में एक-तिहाई सैनिक अंग्रेज होते थे। (ग) समाचार-पत्रों की स्वतन्त्रता अंग्रेजी राज्यकाल में ही स्वतन्त्र समाचार-पत्र भारतीय समाज में प्रथम बार प्रकाशित होने लगे। यह उस समय की बात है जब 1835 ई० में भारत में प्रेस की स्वतन्त्रता की घोषणा की गई थी किन्तु 1873 ई० में भारत में प्रेस की स्वतन्त्रता की घोषणा की गई थी किन्तु 1873 ई० के पश्चात् प्रेस और समाचार-पत्रों की स्वतन्त्रता पर निरन्तर आघात होता रहा। (घ) भूमि पर व्यक्तिगत अधिकार की प्रथा—इस प्रथा का एशियाई समाज में इससे पूर्व प्रचलन नहीं था। (ङ) बुद्धिजीवी वर्ग—भारत का एक शिक्षित वर्ग जो प्रारम्भ में अत्यन्त अल्प संख्या में था, अब अंग्रेजी शिक्षा के प्रसार के कारण धीरे-धीरे आकार

में बड़ा होकर स्पष्ट हो गया। यह वर्ग प्रशासन करने की योग्यता और यूरोपीय वैज्ञानिक विचारों में रुचि रखता था। (च) शासन संगठन—अंग्रेजों ने इतने बड़े देश पर शासन करने के लिये शासन सम्बन्धी एक विशाल संगठन को विकसित किया जिसके फलस्वरूप भारत में नौकरशाही (bureaucracy) की स्थापना हुई। (छ) नई राजनीतिक संस्थाएँ—अंग्रेजों ने व्यवस्थापिका सभा तथा कार्यकारिणी एवं स्थानीय सरकार (local government) आदि को भी विकसित किया। (ज) अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध—अंग्रेजों के माध्यम से भारत का विश्व के साथ एक नवीन ढंग से सम्बन्ध स्थापित हुआ। भारतवासियों के सामाजिक सहवास का क्षेत्र अब सम्पूर्ण जगत हो गया। (झ) बाह्य तथा आन्तरिक सुरक्षा मुसलमानों के राज्यकाल में आन्तरिक विद्रोह आदि एक नियमित घटना थी, पर अंग्रेजी राज्य संगठन के कारण अन्दरूनी तथा बाहरी सुरक्षा अधिक बढ़ गई। (ञ) नवीन विचार; आदर्श व मूल्य—अंग्रेजों की सबसे बड़ी देन यह है कि भारतीय समाज का उन्होंने नवीन विचार आदर्श तथा मूल्यों से परिचय करवाया, एक नवीन आत्मा का संचार किया। इसके फलस्वरूप भारतीय कला, साहित्य तथा अन्य क्षेत्रों में पुनर्जागरण हुआ।

परन्तु उपरोक्त विवेचना से पाश्चात्य संस्कृति के साथ सम्पर्क स्थापित होने के फलस्वरूप भारतीय संस्कृति व संस्थाओं में होने वाले परिवर्तनों का पर्याप्त स्पष्टीकरण नहीं होता है। इसलिये उन परिवर्तनों की अब हम विस्तारपूर्वक विवेचना करेंगे।

(1) सामाजिक जीवन और संस्थाओं में परिवर्तन (Changes in Social Life and Institutions)

(क) जाति-प्रथा—अंग्रेजों के शासनकाल से पूर्व जाति-प्रथा अपने समस्त प्रतिबन्धों तथा नियमों के साथ हिन्दू जीवन को घेरे हुए थी। मुसलमान शासकों के डर से ब्राह्मण नाना प्रकार से हिन्दू धर्म तथा समाज की रक्षा करने हेतु जाति-प्रथा के नियमों को उत्तरोत्तर कठोर बनाते जा रहे थे। सन्त कबीर, चैतन्य आदि ने इस बात का प्रयत्न किया था कि जाति-प्रथा की कठोरता और छुआछूत के भेदभाव को दूर करके समानता के आधार पर हिन्दू समाज को पुनः संगठित किया जाए, पर उनके प्रयत्नों का विशेष आशाप्रद परिणाम नहीं हुआ था। परन्तु अंग्रेजी शासनकाल में कुछ इस प्रकार के कारकों या शक्तियों का इस देश में विकास हुआ जिनके कारण जाति-प्रथा के संरचनात्मक तथा संस्थात्मक दोनों ही पहलुओं में क्रान्तिकारी परिवर्तन हो गये। अंग्रेजी शासनकाल में औद्योगीकरण के साथ-साथ गाँवों की आत्म-निर्भरता टूट गई और वहाँ से हजारों की संख्या में श्रमिक नगरों में आकर रोजी कमाने के लिये बस गए। नगरों का पर्यावरण जाति-प्रथा की रूढ़िवादिता को कम करने में सहायक सिद्ध हुआ क्योंकि नगरों में विभिन्न जातियों के लोगों को एक साथ काम करना, रहना, उठना-बैठना और खाना-पीना करना ही पड़ता है। इतना ही नहीं, अंग्रेजों ने इस देश में मुद्रा-व्यवस्था का संगठित प्रचलन किया जिसके फलस्वरूप धन का महत्व बढ़ा। इसका परिणाम यह हुआ कि जन्म के साथ-साथ व्यक्तिगत या सामाजिक प्रतिष्ठा के निर्धारण में धन भी महत्वपूर्ण हो गया। इससे जाति-प्रथा की नींव हिल गई। इतना ही नहीं, अंग्रेजों ने केवल नये उद्योग-धन्धे, व्यापार व वाणिज्य का विस्तार करके ही नहीं अपितु शासन-सम्बन्धी नवीन व्यवस्था का विकास करके असंख्य नए पेशों को पनपाया और लोगों को उन्हें चुनने का अवसर दिया। प्रत्येक जाति का सदस्य अपनी व्यक्तिगत योग्यता, कुशलता व शिक्षा के

अनुसार किसी भी पेशे को चुन सकता था। इससे जाति के आधार पर पेशों का निर्धारण समाप्त हो गया। इतना ही नहीं, अंग्रेजी शासनकाल में आधुनिक यातायात तथा संचार के साधनों का विकास हुआ। इनसे, श्री मार्क्स के अनुसार, भारतीय उद्योगों का विकास हुआ और वंशानुगत पेशे नष्ट हो गए। साथ-ही-साथ रेलगाड़ी, मोटर, ट्राम आदि पर विभिन्न जातियों के सदस्यों को साथ-साथ बैठकर यात्रा करनी पड़ती है जिससे छुआछूत की भावना कम हो गई। इसके अतिरिक्त इन यातायात के साधनों ने विभिन्न जातीय समूहों को एक-दूसरे के निकट लाने में मदद की जिससे उनकी पारस्परिक दूरी कम हो गई। जाति-प्रथा में क्रांतिकारी परिवर्तन लाने में एक अन्य प्रभावशाली कारण पाश्चात्य शिक्षा भी है। भारतीय परम्परात्मक शिक्षा का संगठन ब्राह्मणों के हाथ में था जिसके कारण वह धर्म-प्रधान उच्च जातियों के लिये ही थी। परन्तु पाश्चात्य शिक्षा पूर्णरूप में धर्मनिरपेक्ष (secular) है, साथ ही शिक्षा सबके लिए है। इसके फलस्वरूप शिक्षा का विस्तार निम्न जातियों में भी होने लगा और शिक्षित व्यक्तियों में धर्म, जाति आदि के प्रति अन्धविश्वास भी बहुत कम हो गया। साथ ही अंग्रेजी शिक्षा प्रजातन्त्रवाद, समानता, स्वतन्त्रता और बन्धुत्व के पाश्चात्य मूल्यों की भी विद्यार्थियों के मस्तिष्क में भर देती है। फलतः जाति-प्रथा दुर्बल होती जा रही है। आधुनिक पाश्चात्य शिक्षा व्यक्तिगत योग्यता पर बल देती है, न कि जन्म पर। साथ ही, इस शिक्षा के माध्यम से विज्ञान और वैज्ञानिक विचारों के साथ घनिष्ठ सम्पर्क पनपा और जाति-पाँति के चक्कर से विमुक्त होने की प्रवृत्ति बढ़ी। साथ-ही-साथ अंग्रेजी शासन तथा पाश्चात्य मूल्यों ने समानता व स्वतन्त्रता की जिन भावनाओं को विकसित किया उससे देश में स्वाधीनता प्राप्त करने के लिए राजनीतिक आन्दोलन प्रारम्भ हुआ। इन आन्दोलनों में सभी जाति, वर्ग तथा सम्प्रदाय के लोगों ने कन्धे-से-कन्धा मिलाकर काम किया जिसके फलस्वरूप जातीय आधार पर पनपी हुई सामाजिक दूरी समाप्त हो गई। इतना ही नहीं, पाश्चात्य संस्कृति व शिक्षा ने इस देश में इस प्रकार की परिस्थितियाँ उत्पन्न कर दीं जिनमें स्त्रियों तथा पुरुषों को साथ-साथ पढ़ने, नौकरी करने तथा मेल-मिलाप को बढ़ाने का अवसर मिला। इससे इस देश में प्रेम-विवाह का प्रचलन बढ़ा और ऐसे विवाहों में जाति का प्रश्न गौण हो गया। इस प्रकार के अन्तर्जातीय विवाह के प्रचलन से जाति-प्रथा के सबसे प्रमुख आधार अन्तर्विवाह का नियम दुर्बल होता गया। इसके अतिरिक्त पाश्चात्य प्रभावों के कारण इस देश में उद्योग-धन्वों, व्यापार-वीणिज्य, राजनीतिक संगठन आदि में जो प्रगति हुई उसके साथ-साथ नगरों का भी विकास हुआ। नगरों में विभिन्न जातियों का एक ऐसा घनिष्ठ जमघट होता है कि जातीय दूरी को बनाये रखा नहीं जा सकता। नगरों में विभिन्न जाति के सदस्यों को साथ-साथ रहकर मिल, कारखानों आदि में काम करना पड़ता है जिसके फलस्वरूप जाति के नियम ढीले पड़ जाते हैं। नगरों में होटल, जलपान-गृह आदि के प्रभाव के कारण खाने-पीने के सम्बन्ध में जाति के प्रतिबन्ध टूट जाते हैं। नगरों में बस, रेल, ट्राम, रिक्शा आदि में लोगों को पास-पास बैठकर यात्रा करनी पड़ती है, इससे भी छुआछूत की भावना घटती है। साथ ही, नगरों की आबादी अधिक और घनी होती है जिसके कारण यहाँ कोई किसी को व्यक्तिगत रूप में नहीं पहचानता है। फलतः बहुत से लोगों के लिये अपनी जाति को बदल देने या छिपाने में भी कोई कठिनाई नहीं होती है। शायद नागरिक पर्यावरण का इसी पृष्ठभूमि को ध्यान में रखते हुए बंगाल के एक कहावत प्रचलित है कि

“जाति मारले तीन सेने - स्टेसेन, विलसेने आर केशवसेने ।” अर्थात् तीन ‘सेन’ लोगों ने जाति प्रथा को समाप्त किया—स्टेशन अर्थात् रेलवे स्टेशन ने, विलसन अर्थात् कलकत्ता के एक प्रसिद्ध होटल के मालिक ने तथा श्री केशवचन्द्र सेन ने जो कि ब्रह्म समाज के एक सुप्रसिद्ध नेता थे। यह सभी पाश्चात्य संस्कृति की ही देन कहा जा सकता है।

(ख) अस्पृश्यता (Untouchability)—अस्पृश्यता को समाप्त करने के विचार का जन्म पाश्चात्य संस्कृति के ही प्रभाव के कारण सम्भव हो सका। पाश्चात्य शिक्षा और मूल्यों ने समानता के सिद्धान्त को भारत के सामाजिक वातावरण में पैदा किया। साथ ही, नगरों में इस प्रकार के पर्यावरण की सृष्टि हुई कि छुआछूत के नियमों का पालन न हो सका। दूसरी ओर यातायात के साधनों में उन्नति और नगरों की उन्नत सामाजिक परिस्थितियों ने अछूतों को भी उनके अधिकार के सम्बन्ध में सचेत किया। इस जागरूकता को आर्य समाज, ब्रह्म समाज, रामकृष्ण मिशन और विशेषकर पूज्य बापू ने और भी सक्रिय किया। इन सबके ऊपर पाश्चात्य संस्कृति का प्रभाव स्पष्ट था।

(ग) विवाह (Marriage)—सहशिक्षा, स्त्री-पुरुषों का एकसाथ काम करने का अवसर, राजनीतिक और सामाजिक जीवन में नर-नारियों का बढ़ता हुआ सम्पर्क, पाश्चात्य आदर्शों और मूल्यों के प्रभाव के कारण जाति-प्रथा का अन्तर्विवाह (endogamy) का नियम दिन-प्रतिदिन निर्बल होता गया और देर से विवाह, प्रेम-विवाह और अन्तर्जातीय विवाह के अनुकूल वातावरण की सृष्टि लेने लगी। साथ ही, बहु-पत्नी-विवाह, बाल-विवाह आदि की बुराइयों के प्रति जागरूकता बढ़ती गई। उसी प्रकार विधवा-पुनर्विवाह के सम्बन्ध में किये गये प्रयत्न भी पाश्चात्य मूल्यों और आदर्शों द्वारा प्रेरित हुये थे।

(घ) स्त्रियों की स्थिति (Status of Women)—पाश्चात्य संस्कृति ने स्त्रियों की स्थिति और विचारों को पुरुषों से अधिक प्रभावित किया है। पाश्चात्य आदर्शों और शिक्षा ने उनमें एक नई जागृति पैदा की। समानता और स्वतन्त्रता की प्रगतिवादी विचारधारा ने, नवीन सामाजिक तथा आर्थिक परिस्थितियों ने उनमें आन्दोलन की एक भावना को जगया जिसके फलस्वरूप आज उन्हें समस्त विषयों में पुरुषों के समान अधिकार प्राप्त हो गये हैं। वह दिन, जब स्त्री को केवल माँ या घर की दासी बनाने को लाया जाता था, आज नहीं रहा। आज उनका कार्यक्षेत्र पति के जीवन के प्रत्येक पहलू में ही नहीं बल्कि राष्ट्रीय जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में विस्तृत हो चुका है। यह पाश्चात्य संस्कृति की ही देन है।

(ङ) रीति-नीति और प्रथा (Usages and Customs)—पाश्चात्य संस्कृति ने धीरे-धीरे भारतीय रहन-सहन, रीति-रिवाज और प्रथाओं को भी प्रभावित किया। वेश-भूषा, खान-पान, बोलने तथा अभिवादन करने के तरीकों में क्रान्तिकारी परिवर्तन हुये। कोट पैण्ट, हैट, टाई, जैकेट, कप केक-बिस्कुट, आइस्क्रीम, सोडा वाटर से लेकर ‘गुड मॉर्निंग’ और ‘टा-टा’ तक सभी पाश्चात्य संस्कृति की ही देन हैं। अनेक भारतीयों में ‘मेम’ और ‘साहब’ बनने की इतनी उत्कट अभिलाषा जागृत हुई कि नौकरों को सिखाया गया कि अपने मालिक और मालकिन को ‘साहब’ और ‘मेम साहब’ कहकर पुकारें; बच्चों को सिखाया गया कि वे अपने माँ और बाप को ‘ममी’ और ‘डैडी’ कहकर पुकारें, अंग्रेजी में बातचीत करें, टेबल-चेयर पर खाना खाएँ और

अंग्रेजी स्कूल में पादरियों के संरक्षण में ईसाई धर्म के गुणगान गुनते हुये वास्तविक 'आदमी' बनने की तथाकथित ट्रेनिंग प्राप्त करें। एक नहीं, हजारों ऐसे उदाहरण हर शहर में आज भी मिल सकते हैं।

(च) राष्ट्रीयता (Nationality)—पाश्चात्य संस्कृति, शिक्षा और विचार-धाराओं ने हमें न केवल दुनिया के राष्ट्रीय जीवन के सम्पर्क में ही ला दिया बल्कि देश के अन्दर विभिन्न विपरीत समूहों में एक सांस्कृतिक समानता को भी उत्पन्न किया। इस सांस्कृतिक समानता और अन्य विदेशी राष्ट्रों को देखकर भारतीय जीवन में एकता और राष्ट्रीयता की नवीन लहर दिखाई दी। उन्नतिशील संदेशवाहन और यातायात के साधनों के कारण राष्ट्रीय नेताओं को भी राष्ट्र को संगठित करने का अवसर मिला।

(छ) संयुक्त परिवार (Joint Family)—पाश्चात्य आदर्शों ने भारत के लोगों को त्याग और कर्तव्य के पथ से हटाकर व्यक्तिगत अधिकार, सुख और समानता का पाठ पढ़ाया जोकि स्वतः ही संयुक्त परिवार को विघटित करने वाले तत्व हैं। आज के नवयुवक पाश्चात्य शिक्षा प्राप्त करने के पश्चात् व्यक्तिगत अधिकार और स्वतन्त्रता पर अधिक बल देने लगते हैं, जबकि उनके माता-पिता उन्हें परिवार के प्रति उत्तरदायी, परिवार के अन्य सदस्यों के लिये त्याग स्वीकार करने की भावना से भरपूर तथा माता-पिता के प्रति अपने कर्तव्यों के विषय में जागरूक देखना चाहते हैं। ऐसी अवस्था में नई और पुरानी पीढ़ी के विचारों और कार्यों में कोई भी समंजस्य स्थापित नहीं हो पाता बल्कि उनमें संघर्ष ही अधिक होता है। यह स्थिति संयुक्त परिवार को विघटित करने में सहायक सिद्ध हुई है। पाश्चात्य आदर्श और शिक्षा संयुक्त परिवार के अनुकूल नहीं है। उसके अनुसार तो पति-पत्नी और दो बच्चों का एक छोटा परिवार ही आदर्श परिवार है। इससे संयुक्त परिवार के प्रति अश्रद्धा पनपती गई। उसी प्रकार पाश्चात्य संस्कृति और शिक्षा संस्था का एक प्रमुख परिणाम व्यक्तिवाद का विकास है। व्यक्तिवाद संयुक्तपरिवार के समष्टिवाद के विपरीत है। व्यक्तिगत के कारण परिवार के सामूहिक हितों की ओर किसी का ध्यान नहीं जाता है। इस मनोवृत्ति के कारण भी संयुक्त परिवार का विघटन हुआ है। परन्तु इस दिशा में पाश्चात्य संस्कृति की सबसे प्रभावशाली देन औद्योगीकरण है। औद्योगीकरण ने नौकरी के क्षेत्रों को सारे देश में विस्तृत किया, ग्रामीण उद्योग-धन्धों को नष्ट किया, नगरों का विकास तथा मकानों की समस्या को उत्पन्न किया, स्त्रियों को नौकरी करने का अवसर देकर उन्हें आर्थिक मामलों में परिवार पर निर्भर रहने से स्वतन्त्र किया, परिवार के कार्यों को घटाया तथा उसके महत्व को बढ़ाकर व्यक्तिवादी विचारों को बढ़ा बनाया। फलतः संयुक्त परिवार की नींव दिन-प्रतिदिन दुर्बल होती गई।

(2) धार्मिक जीवन में परिवर्तन

(Changes in Religious Life)

इस देश में पाश्चात्य संस्कृति के विस्तार के पूर्व भारतवासियों के जीवन में धर्म का अत्यधिक महत्व था। धर्म से सम्बन्धित असंख्य अन्धविश्वास और कुसंस्कार उनको चारों तरफ से घेरे हुए थे। इसी कारण जाति-पाँति के भेदभाव, सती-प्रथा, पर्दा-प्रथा, बाल-विवाह, विधवा-पुनर्विवाह पर प्रतिबन्ध आदि सभी कुप्रथाओं को एक धार्मिक आवरण देकर उचित ठहराया जाता था। पाश्चात्य शिक्षा, धर्म तथा आदर्शों

ने इस धार्मिक आवरण को निकाल फेंकने में भारतीय समाज-सुधारकों की अत्यन्त सहायता की। डॉ० यादव के अनुसार तर्कपूर्ण तथा आलोचनात्मक दृष्टिकोण के विकसित होने के कारण धार्मिक अन्धविश्वासों और रूढ़ियों का अन्त होने लगा। भौतिकवाद तथा बुद्धिवाद के प्रभाव के कारण धार्मिक विधियों तथा कर्मकाण्ड का खण्डन होने लगा और कुछ लोगों में धर्म के प्रति श्रद्धा भी कम हो गई। कुछ लोग ईसाई धर्म भी अपनाने लगे। इसके विपरीत कुछ धर्म व समाज-सुधारकों ने हिन्दू धर्म के दोषों को दूर करने के उद्देश्य से नये धार्मिक सिद्धान्तों को जनता के सम्मुख प्रस्तुत किया। राजा राममोहन राय ने बंगाल में ब्रह्म समाज की स्थापना की जिसका उद्देश्य समाज-सुधार तथा धर्म-सुधार था। राजा राममोहन राय के बाद महर्षि देवेन्द्रनाथ ठाकुर तथा श्री केशवचन्द्र सेन ने ब्रह्म समाज के संचालन का काम अपने ऊपर लिया। श्री ठाकुर ने खुले रूप से वेद और वेदान्त का प्रचार करना प्रारम्भ किया और हिन्दू-समाज को सुधारने के हेतु समाज की मौलिक त्रुटियों की कड़ी आलोचना की। सन् 1861 में श्री सेन ने अपने नवयुवक साथियों के साथ मिलकर 'संगत सभा' की स्थापना की जिसका कार्य अध्यात्मवाद का प्रचार करना था। ब्रह्म समाज के ही समान बम्बई में 'प्रार्थना समाज' की स्थापना सन् 1867 में हुई जिसके नेता रानाडे मंडारकर थे। ब्रह्म समाज के सदस्यों ने समाज के झूठे जाति-भेद तथा धार्मिक कुसंस्कारों को ठुकराकर अन्तर्जातीय विवाह का खुलेआम प्रचार किया। ब्रह्म-समाजी पाश्चात्य धर्म तथा आदर्शों से इतना अधिक प्रभावित थे कि हिन्दू-समाज ने उन्हें स्वीकार नहीं किया और बंगाल में यह ब्रह्मसमाजी हिन्दू-समाज से अलग हो गये।

उसी प्रकार स्वामी दयानन्द सरस्वती ने सन् 1875 में आर्य समाज की स्थापना की तथा शुद्धि-आन्दोलन का सूत्रपात किया। आर्य समाज के प्रमुख दस सिद्धान्तों में प्रथम दो सिद्धान्त यह हैं कि (1) सम्पूर्ण सत्-विद्या और सत्-विद्या से जो पदार्थ जाने जाते हैं उन सबका आदि मूल परमेश्वर है; तथा (2) ईश्वर सच्चिदानन्दस्वरूप निराकार, सर्वशक्तिमान, सर्वव्यापक, न्यायकारी, दयालु, अभय, नित्य, पवित्र और सृष्टिकर्ता है। उसी की उपासना करना योग्य है। स्वामी दयानन्द भारत में न केवल वैदिक धर्म की ही स्थापना करना चाहते थे, बल्कि भारतीय सामाजिक ढाँचे को जन्म पर आधारित जाति-प्रथा के बजाय कर्म पर आधारित वर्ण-व्यवस्था के रूप में बदल देना चाहते थे। स्वामी दयानन्द के प्रयत्नों से हिन्दू धर्म में शक्ति का संचार हुआ, परन्तु इन प्रयत्नों के पीछे पाश्चात्य दर्शन, धर्म तथा विचारों का पर्याप्त योगदान रहा है। उसी प्रकार, यह पाश्चात्य आदर्श, मूल्य तथा धर्म का ही प्रभाव था कि स्वामी विवेकानन्द जी ने वेदान्त, की एक नवीन और वास्तविक व्याख्या करते हुये धर्म से दूर न जाकर भी धर्म के आधार पर ही भारत को समानता, प्रेम और भ्रातृभाव का एक नया पाठ पढ़ाया। उनके प्रयत्नों के फलस्वरूप वेदान्त-दर्शन के सन्देश की ओर विश्व का ध्यान आकृष्ट हुआ। स्वामी जी के अनुसार देश-सेवा और जन-सेवा ही वास्तविक अर्थ में धर्म का पालन करना है। दरिद्रों की सेवा भगवान् की वास्तविक पूजा है। स्वामी विवेकानन्द का सन्देश था कि आत्मशक्ति ही सामाजिक प्रगति व समाज-सुधार की नींव है। "पुराना धर्म यह कहता है कि वह नास्तिक है जो ईश्वर पर विश्वास नहीं करता; पर नया धर्म यह कहता है कि वह महा-नास्तिक है जो अपने पर विश्वास नहीं करता।" सामाजिक समानता, विश्व-

बन्धुत्व, सर्वव्यापक धर्म तथा जन-सेवा से इन्हीं सब आदर्शों को मूर्त रूप देने के लिये स्वामी विवेकानन्द जी ने सन् 1899 में 'रामकृष्ण मिशन' की स्थापना की। सन् 1909 में इस मिशन को गवर्नर-जनरल ने कानूनी मान्यता प्रदान की।

(3) राजनीतिक जीवन में परिवर्तन

(Changes in Political Life)

राजनीतिक क्षेत्र में भी अंग्रेजी साम्राज्य स्थापित होने के पश्चात् क्रान्तिकारी परिवर्तन हुए। शासन-व्यवस्था में आमूल परिवर्तन किया गया। अंग्रेजों के आने से पहले भारतीय शासन-व्यवस्था की तीन मुख्य विशेषतायें थीं—प्रथम गाँव पंचायतों की राजनीतिक इकाइयों के रूप में स्वतन्त्र सत्ता; द्वितीय शासन-व्यवस्था में धार्मिक सिद्धान्तों की मान्यता, और अन्तिम विभिन्न प्रान्तों में विभिन्न शासकों द्वारा भिन्न-भिन्न शासन-व्यवस्था। अंग्रेजों ने इन तीनों तत्वों को जड़ से उखाड़ फेंका; पंचायतों के अधिकारों को छीन लिया, शासन-प्रबन्ध के क्षेत्र से धर्म का बहिष्कार किया और सारे देश में समान शासन-व्यवस्था स्थापित की। राजनीतिक मामलों में उनकी विभाजन और शोषण की नीति को अगर अलग निकालकर विवेचना की जाए तो सामान्य रूप से यह कहा जा सकता है कि भारत को एक समान शासन-सूत्र में बाँधकर शान्ति और सुरक्षा स्थापित करने का श्रेय अंग्रेजों को ही है। इस प्रकार ब्रिटिश शासनकाल में देश का राजनीतिक एकीकरण हुआ। सन् 1857 की क्रान्ति से अंग्रेजों ने एक उत्तम पाठ सीखा था, और इसीलिए उसके बाद से उन्होंने अपनी सैनिक शक्ति को पर्याप्त बढ़ बना लिया था, जिसके फलस्वरूप बाह्य तथा आन्तरिक शान्ति एवं सुरक्षा की स्थापना हुई। इतना ही नहीं, ब्रिटिश शासनकाल में भारत का अन्य अनेक देशों के साथ राजनीतिक सम्बन्ध स्थापित हुआ। साथ ही अंग्रेजी शासनकाल में यातायात तथा संचार के साधनों में जो प्रगति हुई उसके फलस्वरूप भारत के विभिन्न प्रान्त, जाति तथा धर्म के लोगों को एक-दूसरे के निकट सम्पर्क में आने में काफी सुविधा हुई और देश में राष्ट्रीय एकता पनपने लगी। पश्चिम की राष्ट्रीय नीतिक प्रभुता, कूटनीति व अन्याचार ने इस देश के अनेक व्यक्तियों में राष्ट्रीयता की भावना को विकसित किया। सर्वश्री वाशिंगटन, क्रामवेल, मैजिनी, मैरीबाल्डी आदि से इसकी प्रेरणा मिली। इस प्रकार, भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन के जन्म और विकास में पाश्चात्य शिक्षा, संस्कृति, आदर्श, सामाजिक मूल्य, शासन-व्यवस्था इत्यादि ने आदि से अन्त तक सहायता की। पाश्चात्य शिक्षा और आदर्शों से ही शक्तिमान होकर भारतीय नेताओं ने जो आघात अंग्रेजी शासकों पर किया उससे इंगलिस्तान का मुहूर्त राजसिंहासन भी डगमगा उठा और अन्त में एक ऐसा दिन भी आया जबकि उन्हें इस देश को ही सदैव के लिये छोड़ जाना पड़ा। फिर भी इस देश से चले जाने के पूर्व ही ब्रिटिश कूटनीति साम्प्रदायिकता और पृथक् निर्वाचन के आधार पर इस देश के हिन्दुओं तथा मुसलमानों के बीच जिस विभेद की सृष्टि करने में सफल हुई उसी का प्रत्यक्ष फल देश का विभाजन और हिन्दुस्तान तथा पाकिस्तान का बनना है।

पाश्चात्य प्रभाव के कारण ही इस देश में लोकतन्त्रीय तथा प्रजातन्त्रीय संस्थाओं का भी विकास होने लगा। ब्रिटिश शासन-व्यवस्था पूँजीवादी आदर्शों पर आधारित थी जोकि स्वयं अनेक सामाजिक दोषों से संयुक्त है। इन दोषों की प्रक्रिया

के फलस्वरूप साम्यवादी, समाजवादी और व्यक्तिवादी राजनीतिक विचारों व सिद्धांतों का प्रसार भी इस देश में हुआ।

पाश्चात्य आदर्श तथा मूल्यों के प्रभाव के कारण वैधानिक क्षेत्र में भी महत्वपूर्ण परिवर्तन व प्रगति हुई। देश के विधान को जाति, धर्म या वर्ण-स्वार्थ से ऊपर उठाकर सर्वोपरि महत्व व स्थान देने की भावना का विकास हुआ। कानूनी मामले में ब्राह्मण या मुल्लाओं को जो पहले विशेष सुविधायें प्राप्त थीं वह अब समाप्त कर दी गई। अब 'कानून के सामने सब समान हैं' यह भावना पनप जाने से जाति, धर्म तथा वंश के आधार पर प्राप्त समस्त विशेषाधिकारों की वैधानिक मान्यता समाप्त हो गई। पाश्चात्य विधान के प्रभाव से व्यक्ति की स्वतन्त्रता का क्षेत्र भी विस्तृत हुआ।

(4) साहित्य के क्षेत्र में परिवर्तन

(Changes in the field of Literature)

विभिन्न भारतीय भाषाओं के साहित्य पर भी पाश्चात्य शिक्षा और संस्कृति का प्रभाव पड़ा है। अंग्रेजी साहित्य ससार के सब आधुनिक साहित्यों में काफी समृद्ध माना जाता है। इस अंग्रेजी साहित्य तथा यूरोप की अन्य भाषाओं के भी साहित्य को पढ़ने तथा समझने एवं उससे लाभ उठाने का अवसर भारतीय विद्वानों तथा लेखकों को अंग्रेजी भाषा ने प्रदान किया। इससे हिन्दी के साथ-साथ अन्य सभी प्रान्तीय भाषाओं के साहित्य में पाश्चात्य साहित्यिक शैली, सामग्री तथा विचारों का समावेश होने लगा और उनका आधुनिकीकरण हुआ।

अंग्रेजों के राज्य की भारत में स्थापना होने के बाद भी भारत में खड़ी बोली और ब्रजभाषा का गद्य अपनी प्रारम्भिक दशा में था। खड़ी बोली इस समय काव्य भाषा थी किन्तु स्थान-स्थान पर इसका रूप भिन्न था। कलकत्ता में जब 'फोर्ट विलियम कॉलेज' की स्थापना की गई तब हिन्दी को भी बढ़ावा मिला और श्री जॉन गिल-क्राइस्ट ने कॉलेज में अलग से एक हिन्दी विभाग की स्थापना की। इस प्रकार से हिन्दी भाषा और साहित्य पर पश्चिमी संस्कृति का प्रभाव पर्याप्त रूप से पड़ने लगा। इसी काल में ईसाई पादरियों में श्री विलियम केरी की म्हायता से बाइबिल तथा अन्य पुस्तकों का हिन्दी में अनुवाद किया गया। सन् 1829 में राजा राममोहन राय ने 'बंगदूत' नामक हिन्दी पत्रिका भी निकाली तथा सन् 1856 में पं० जुगलकिशोर ने हिन्दी समाचारपत्र 'उदण्ड मार्तण्ड' निकाला। इन सब प्रयत्नों का फल यह हुआ कि गद्य-साहित्य का विकास होने लगा। इस प्रकार अंग्रेजी साहित्य तथा शिक्षा का सबसे प्रथम प्रभाव यह हुआ कि विभिन्न प्रान्तीय भाषाओं में गद्य-साहित्य में एक नवजागरण हुआ और गद्य-साहित्य का जो अभाव अब तक था वह धीरे-धीरे दूर होने लगा; और केवल गद्य ही नहीं, नाटक, उपन्यास और कविता-साहित्य भी नव-पथ की ओर अग्रसर हुआ। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने हिन्दी साहित्य की एक नव-पथ प्रदान किया। आपके साहित्य पर अंग्रेजी तथा बंगाली साहित्य का प्रभाव स्पष्टतः देखने को मिलता है। गद्य-साहित्य में उपन्यास तथा छोटी कहानी का विकास अंग्रेजी साहित्य के प्रभाव से तेजी से होने लगा। बंगाली साहित्य के क्षेत्र में पहले पं० ईश्वरचन्द्र विद्यासागर (सन् 1820-1891) तथा बाद में सर्वश्री रवीन्द्रनाथ टैगोर, बंकिमचन्द्र चटर्जी, शरत्चन्द्र चटर्जी ने बंगाली उपन्यास तथा कहानी के विकास में अपनी अनुपम देन दी। इनके उपन्यास व कहानियों में हिन्दू समाज की प्रमुख समस्याओं को

स्थान मिला, जोकि अंग्रेजी साहित्य का ही प्रभाव था। 19वीं शताब्दी के अन्तिम चरण में अंग्रेजी शासन तथा शिक्षा से प्रभावित होकर बंगाल के कुछ लेखकों ने समाज सुधार और राष्ट्रीय जोश की बातें अपने साहित्य में लिखीं। उनमें श्री बंकिम-चन्द्र चटर्जी द्वारा लिखित 'आनन्द मठ' को भारतीय राष्ट्रीयता की बाइबिल माना जाता है। इसी पुस्तक में आपने 'बन्दे मातरम्' का राष्ट्रीय गीत भी लिखा है।

भारतीय नाट्य-साहित्य पर सर्वश्री शेक्सपीयर, इब्सन, गाल्सवर्दी, बर्नाड शॉ आदि पाश्चात्य नाटककारों का प्रभाव पड़ा। समस्या-नाटकों तथा एकांकी नाटकों का प्रादुर्भाव हुआ। नाटकों की विषय-वस्तु के रूप में भारतीय सामाजिक समस्याओं को ग्रहण करने की प्रवृत्ति बढ़ी तथा रंगमंच के लिये विस्तृत संकेतों का प्रयोग होने लगा। सर्वश्री लक्ष्मीनारायण मिश्र, गोविन्द बल्लभ पन्त आदि नाटककारों की कृतियों में पाश्चात्य प्रभाव की स्पष्ट झलक देखने को मिलती है। निबन्ध-साहित्य तथा आलोचना-साहित्य में भी पाश्चात्य तत्त्वों को अत्यधिक ग्रहण किया गया। कविता के क्षेत्र में 'चतुर्दश पादरियों' और 'सम्बोधन गीतों' का प्रचार होने लगा जिनके पीछे अंग्रेजी के सॉनेट (Sonnet) और ओड (Ode) की प्रेरणा विद्यमान थी। नव-विकसित खड़ी बोली की कविता भी पश्चिमी साहित्य से प्रभावित थी। अतुकान्त कविताओं (Blank Verses) का भी प्रचार अंग्रेजी कविता के प्रभाव से ही हुआ। श्री मधुसूदन दत्त ने बंगाली में तथा निराला जी ने हिन्दी में अतुकान्त कविताओं की रचना की। अंग्रेजी की ही भाँति देशी भाषाओं में भी गीतों और छायावादी कविताओं की रचना होने लगी। श्री जयशंकर प्रसाद से हिन्दी में छायावाद का प्रारम्भ होता है। अन्य छायावादी कवियों में सर्वश्री सुमित्रानन्दन पन्त, सूर्यकान्त त्रिपाठी, महादेवी वर्मा आदि हैं जिन पर पाश्चात्य साहित्य का प्रभाव अस्वीकार नहीं किया जा सकता।

“ईसाई धर्म प्रचारकों ने बाइबिल के संदेश के प्रचारार्थ देशी भाषाओं में किताबें लिखीं और उनके लिये मुद्रणालय खोले। उन्होंने देशी भाषाओं के शब्दकोश तथा व्याकरण भी बनाये। पश्चिमी विद्वानों ने इन भाषाओं का इतिहास भी लिखा। 19वीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में ही बंगाली, गुजराती और हिन्दी के समाचारपत्र भी निकलने लगे।”

डॉ० यादव ने आगे और लिखा है, “भारत की प्राचीनतम भाषा संस्कृत के अध्ययन का पुनरुद्धार अंग्रेजी के माध्यम से विदेशी विद्वानों द्वारा ही हुआ। सर्वश्री बिल्किस, विलियम जोन्स, कोलबुक, विल्सन, मॉनियर विलियम्स, मैक्समूलर आदि पाश्चात्य विद्वानों ने संस्कृत का संकलन तथा अनुवाद किया तथा संस्कृत साहित्य के महत्त्व की ओर लोगों का ध्यान आकर्षित किया। अंग्रेज, जर्मन तथा अन्य विदेशी विद्वानों के प्रयत्नों के फलस्वरूप संस्कृत साहित्य में निहित प्राचीन भारतीय दर्शन, धर्म, कला तथा अन्य श्रेष्ठ विचारों की निधि की पुनर्प्राप्ति हुई।” इसके फलस्वरूप न केवल भारत की मर्यादा दुनिया की नजरों में बढ़ गई, अपितु अंग्रेजी जानने वाले लोगों में संस्कृत साहित्य के प्रति रुचि उत्पन्न हुई और “भारतीयों ने अपने प्राचीन गौरव के ज्ञान के साथ-साथ राष्ट्रीय भावना का विकास होने लगा।”

(5) सलित कला में परिवर्तन

(Change in Fine Arts)

सलित कला के क्षेत्र में भी पाश्चात्य संस्कृति का प्रभाव स्पष्ट है। वर्तमान-काल में भारतीयों को अपनी सलित कला के गौरव के सम्बन्ध में सचेत करने का

यि पाश्चात्य विद्वानों को ही है। सर्वश्री फर्ग्युसन, हैवेल, पर्सीब्राउन, सिस्टर निवेदिता आदि ने भारतीय कला के प्रधान तत्त्वों का मूल्यांकन कर उन्हें विश्व के सागने रखा।

स्थापत्य-कला—भारतीय ललित कला पर पाश्चात्य संस्कृति का प्रभाव बहु-मुखी था। जब अंग्रेज इस देश में आए तो उन लोगों ने यहाँ अनेक इमारतें बम्बई, मद्रास और कलकत्ता में बनवाई जिसमें गॉथिक (Gothic), रोमन तथा इंग्लैण्ड के विक्टोरियन युग की स्थापत्य-कला का सम्मिश्रण था। भारतीय नरेशों ने भवन बनवाने में इस स्थापत्य-कला का अनुसरण किया जिसके फलस्वरूप यूरोपियन स्थापत्य-कला का प्रचार हुआ। अंग्रेज शासकों ने एक सार्वजनिक निर्माण विभाग (Public Works Department) की स्थापना की। इस विभाग में अनेक अंग्रेजी स्थापत्य-कला के विशेषज्ञ भी काम करते थे। इस कारण अंग्रेजी शासन में पाश्चात्य ढंग की भवन-निर्माण-कला को प्रोत्साहन मिला। कलकत्ता का विक्टोरिया मेमोरियल पाश्चात्य स्थापत्य-कला का एक जीता-जागता प्रतीक है। उदयपुर, जयपुर जोधपुर, बीकानेर मैसूर, दिल्ली आदि में जो इमारतें और मन्दिर बने उनमें पाश्चात्य और भारतीय स्थापत्य कला का अच्छा समन्वय देखने को मिलता है। मद्रास में सर्वो चिशोल्म (Chisholm) तथा इरविन (Irwin) ने इमारतें बनवाई जिनमें पाश्चात्य तथा भारतीय स्थापत्य-कलाओं का मिश्रण किया गया। पंजाब में सरदार रामसिंह ने नवीन स्थापत्य-कला का रूप प्रस्तुत किया। लाहौर का सीनेट हाल इसी समन्वय का नमूना है। उत्तर-प्रदेश में श्री एफ० सी० ओर्टेल (F. C. Oertel), बंगाल में श्री ई० बी० हैवेल (E. B. Havell) तथा बम्बई में श्री जी० विटेट (जिन्होंने गेट वे ऑफ इण्डिया और प्रिंस ऑफ वेल्स म्यूजियम बनाया) आदि ने प्राचीन भारतीय तथा पश्चिमी स्थापत्य-कला का समन्वय किया। बम्बई सरकार ने स्थापत्य-कला के समन्वय में एक केन्द्र की स्थापना की जिसमें नवीन ढंग के भवनों के चित्र तथा नमूने वर्तमान समय की समन्वयात्मक विचारधारा को महत्व देते हुए प्रस्तुत किए गए। इसी प्रकार का एक केन्द्र कलकत्ता विश्वविद्यालय में खोला गया जिसमें विद्यार्थियों को स्थापत्य-कला के विषय में प्रशिक्षित किया जाता है।

चित्रकला—19वीं शताब्दी के मध्य के उपरान्त जब अंग्रेजी सरकार ने भारतीयों की शिक्षा की ओर ध्यान दिया तो उन्होंने बम्बई, मद्रास तथा कलकत्ता में कला-केन्द्रों की भी स्थापना की। इन केन्द्रों में पश्चिमी कला की परम्पराओं के अनुसार ड्राइंग, मॉडल तथा चित्र बनाने की शिक्षा दी जाती थी। इसका परिणाम यह हुआ कि भारतीय चित्रकला पाश्चात्य चित्रकला से प्रभावित होती रही। केरल के एक चित्रकार रवि वर्मा ने हिन्दू धार्मिक विचारों और पुराणों की कथाओं के दृश्य पश्चिमी ढंगों तथा पद्धतियों के आधार पर प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया। 20वीं शताब्दी में भारतीय चित्रकला के क्षेत्र में एक नवीन जागृति की लहर आई जिसमें अंग्रेजों का बड़ा हाथ था। कलकत्ता कला-केन्द्र के प्रधानाचार्य श्री ई० बी० हैवेल (E. B. Havell) की देन इस सम्बन्ध में विशेष उल्लेखनीय है। अपने आपने लेखों द्वारा भारतीय चित्रकला का पुनर्निर्माण किया। इसका परिणाम यह हुआ कि भारतीय शास्त्रीय-चित्रकला की पुनः जागृति तथा सुधार के हेतु एक आन्दोलन बंगाल के भारतीय चित्रकला केन्द्र में श्री अबनीन्द्र नाथ टैगोर के नेतृत्व में आरम्भ हुआ। सन् 1903-4 में श्री अबनीन्द्र नाथ ने एक नवीन कला-शैली को जन्म दिया जिसमें भारतीय तथा पाश्चात्य चित्रकला की शैलियों का सुन्दर समन्वय किया। इसका नाम बंगाली-

शैली पड़ा। बंगाल-शैली के एक अन्य प्रमुख कलाकार श्री नन्दलाल बोस हैं। बंगाल की भाँति गुजरात में चित्रकला के पुनर्जागरण का श्रेय श्री रविशंकर रावल को दिया जाता है जिन्होंने अहमदाबाद में एक कला-केन्द्र खोला। श्री कनु देसाई जैसे महान् चित्रकार इसी केन्द्र से शिक्षित हुये। आपने फिल्म तथा प्रिंटिंग में अनेकों पद्धतियों को विकसित किया। इसी प्रकार, पाश्चात्य स्वाभाविक शैली (academic or naturalistic style) की परम्परा में भी अनेक भारतीय चित्रकार उत्पन्न हुए। इनमें बम्बई के श्री हल्डनकर तथा बंगाल के जे० पी० गंगोली प्रमुख हैं।

नृत्य तथा संगीतकला—सन् 1900 से पूर्व भारत में संरक्षण और प्रोत्साहन की कमी के कारण कुछ रिस्सायतों और संगीत के कुछ घरानों को छोड़कर नृत्य तथा संगीत का अधिक प्रसार नहीं था। किन्तु सन् 1900 के बाद पाश्चात्य संस्कृति के प्रभाव के कारण नृत्य व संगीत में जागृति आई। इस नवोत्थान में बंगाल के टैगोर परिवार ने सबसे महत्वपूर्ण योगदान दिया। उदाहरणार्थ, श्री रवीन्द्रनाथ टैगोर ने 'भाव-संगीत' का विकास किया। उन्होंने नाटक तथा नृत्य को प्रस्तुत करने के नवीन ढंगों को जनता के सम्मुख रक्खा। आपने संगीत में इतनी प्रसिद्धि प्राप्त की कि इसको जनता 'रवीन्द्र संगीत' की संज्ञा देने लगी। 'रवीन्द्र संगीत' ने भारतीय संगीत के प्रयोगात्मक और साहित्यिक पक्ष को उज्ज्वल किया। भारतीय शास्त्रीय संगीत पर पाश्चात्य संगीत का प्रभाव नहीं के बराबर है क्योंकि इन दोनों में असीम भिन्नता है। परन्तु पाश्चात्य संगीत ने भारत के सामान्य संगीत पर इतना प्रभाव डाला है कि इसे भिन्न करना असम्भव है। इस सम्बन्ध में बम्बई का फ़िल्मी संगीत सबसे आगे है। इन संगीतों में पाश्चात्य संगीत की गतें तथा धुनें परिष्कृत कर प्रयोग की जा रही हैं। आज बम्बई, मद्रास आदि की फ़िल्मों में आर्कस्ट्रा तथा 'रॉक एण्ड रोल' का इतना अधिक प्रयोग किया जा रहा है कि भारतीय पृष्ठभूमि में वे बेलुके-से लगते हैं; परन्तु संगीत निर्देशक स्वर्गीय श्री एस० डी० बर्मेन (S. D. Burman) ने बम्बई के फ़िल्मी संगीतों में 'भाटियाली', 'बाऊल' आदि बंगाल के परम्परागत ग्रामीण संगीतों को मर्यादा प्रदान करने तथा उन्हें लोकप्रिय बनाने की दिशा में महत्वपूर्ण योगदान किया है। परन्तु अन्य बम्बई और मद्रास के संगीत निर्देशक पाश्चात्य संगीत तथा नृत्य को आँख मीं कर नकल करते जा रहे हैं। इस 'छूत की बीमारी' से बंगाल के फ़िल्म निर्देशक कुछ सीमा तक अपने को बचाने में सफल हुये हैं और उनमें सर्वश्री सत्यजीन राँय, रविशंकर आदि का नाम सर्वप्रमुख है। नृत्य-कला के क्षेत्र में भी पाश्चात्य प्रभाव देखने को मिलता है। अंग्रेजों के भारत में आने के पश्चात् उनके क्लबों में पाश्चात्य नृत्यों का आयोजन होता था जिसका प्रभाव धीरे-धीरे भारतीय नृत्य-कला पर भी पड़ा। आज की अधिकतर फ़िल्मों में जो नृत्य देखने को मिलते हैं वह इस बात की साक्षी हैं। बंगाल में टैगोर परिवार ने अवश्य ही भारतीय नृत्य-कला को पुनः जीवित किया। शान्ति निकेतन में नृत्य-शिक्षा की व्यवस्था की गई। शास्त्रीय परम्परा पर आधारित आधुनिक नृत्यों में भारत नाट्यम्, कथाकली, कथक और मणिपुरी सर्वाधिक प्रसिद्ध हैं।

(6) शिक्षा के क्षेत्र में परिवर्तन

(Changes in the field of Education)

पाश्चात्य संस्कृति का एक महत्वपूर्ण तथा उल्लेखनीय प्रभाव शिक्षा के क्षेत्र में देखने को मिलता है। इतने बड़े देश के शासन-प्रबन्ध का काम चलाने के लिये

अनेक व्यक्तियों की आवश्यकता थी जोकि नौकरशाही शासन-व्यवस्था के अन्तर्गत दफ्तर आदि में काम कर सकें। इतने अधिक लोगों को न तो अंग्रेज अपने देश से ला सकते थे और न ही लाना सम्भव था। इसलिये यहीं के कुछ लोगों को शिक्षित करना आवश्यक था। इस शिक्षा-प्रसार का उद्देश्य अपने स्वार्थों की पूर्ति थी न कि भारतीयों का कल्याण; इसीलिये यह शिक्षा किताबी शिक्षा मात्र थी जिसका कि कोई सम्बन्ध तकनीकी शिक्षा से न था। फिर भी शिक्षा के क्षेत्र में पाश्चात्य संस्कृति के प्रभावों को अस्वीकार नहीं किया जा सकता। जैसाकि डॉ० यादव ने लिखा है— ईसाई धर्म-प्रवर्तकों ने इस देश में अंग्रेजी शिक्षा का प्रारम्भ किया। सन् 1835 में लार्ड वैण्टिक के शासनकाल में लार्ड मेकाले ने स्कूलों में अंग्रेजी के माध्यम द्वारा शिक्षा देने का विधान किया। इससे शिक्षा के क्षेत्र में एक क्रान्तिकारी परिवर्तन हुआ। अंग्रेजी स्कूलों की संख्या भी बढ़ने लगी। सन् 1844 में लार्ड हाडिंग ने सरकारी अंग्रेजी स्कूलों में शिक्षित व्यक्तियों को राजकीय नौकरी में प्राथमिकता देने की नीति की घोषणा की। इससे अंग्रेजी शिक्षा का प्रसार बढ़ने लगा। इसके दस वर्ष बाद कलकत्ता, बम्बई तथा मद्रास में विश्वविद्यालयों की स्थापना हुई। 19वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में सरकार ने स्त्री-शिक्षा को भी प्रचुर प्रोत्साहन दिया। साथ ही, यह भी मानना पड़ेगा कि अंग्रेजी शिक्षा प्रगतिशील शिक्षा थी क्योंकि प्रथमतः यह धर्म-निरपेक्ष और उदार थी तथा सब जातियों व धर्मों के व्यक्तियों के लिए समान थी, और द्वितीयतः यह शिक्षा तार्किक, वैज्ञानिक और प्रजातन्त्रवादी विचारधाराओं से ओत-प्रोत थी। इसका परिणाम यह हुआ कि अंग्रेजी शिक्षा के कारण भारतवासियों के विचारों, दृष्टिकोणों तथा रहन-सहन में अनेक परिवर्तन होने लगे क्योंकि अंग्रेजी भाषा के माध्यम द्वारा भारतीयों का सम्बन्ध विश्व से स्थापित हो गया। अंग्रेजी शिक्षा के कारण ही जाति-पाँति का भेदभाव, अस्पृश्यता की भावना, धार्मिक कट्टरपन व अन्ध-विश्वास, सामाजिक कुरीतियाँ आदि कम होने लगीं। “कुछ लोगों ने पाश्चात्य विचारों तथा परम्पराओं का अन्धानुकरण करना आरम्भ किया, कुछ ने पाश्चात्य एवं भारतीय आदर्शों के समन्वय का प्रयत्न किया तथा कुछ के हृदय में पाश्चात्य प्रभावों के कारण तथा पाश्चात्य दृष्टिकोण के आधार पर भारत के प्राचीन श्रेष्ठ आदर्शों के पुनर्स्थान की भावना जागृत हुई। इस प्रकार 19वीं शताब्दी की बौद्धिक क्रान्ति के परिणामस्वरूप राष्ट्रीय पुनर्जागरण के युग का सूत्रपात हुआ और भारत का आधुनिकीकरण होने लगा।” दूसरी ओर पाश्चात्य शिक्षा का एक बहुत ही बुरा प्रभाव यह हुआ कि भारतीय जनता में एक ‘बाबू वर्ग’ या ‘क्लर्क वर्ग’ का सृजन हुआ और तब भी सन् 1931 तक केवल 8 प्रतिशत भारतवासी ही साक्षर हो सके। परन्तु इसी शिक्षा के कारण राष्ट्रीयता की भावना और स्वतन्त्रता की इच्छा दिन-प्रतिदिन प्रबल होती गई। जहाँ अंग्रेजी स्कूल-कॉलेज की ‘फैक्ट्रियों’ से लाखों की संख्या में ‘बाबू’ निकलते रहे वहीं उन स्कूलों-कॉलेजों में कुछ अमूल्य रत्नों का भी जन्म हुआ। अंग्रेजी की शिक्षा-फैक्ट्रियों में उत्पन्न ये अमूल्य रत्न हैं—महात्मा गांधी, तिलक, लाला लाजपत राय, गोखले, वीर सुभाष और लाल जवाहर जिन्होंने अंग्रेजी शिक्षा या पाश्चात्य बौद्धिक शक्ति से अपने को शक्तिवान बनाकर अंग्रेजी शिक्षा के विरुद्ध आन्दोलन किया, भारत को स्वतन्त्र बनाया, स्वयं अमर बन गए और मातृ-भूमि को भी अमर बना गए।

(7) आर्थिक जीवन में परिवर्तन

(Changes in Economic Life)

अंग्रेजी राज्य की स्थापना के बाद भारत के आर्थिक ढाँचे में भी क्रान्तिकारी परिवर्तन हुआ। इसके पहले प्रत्येक गाँव आत्मनिर्भर था और अपनी समस्त आर्थिक आवश्यकताओं की पूर्ति स्वयं कर लेता था। साथ ही जो कुछ अनाज पैदा होता था वह अपने और आस-पास के नगर की आवश्यकता की पूर्ति के लिये होता था। अंग्रेजों के आ जाने के बाद एक ओर यातायात के साधनों में उन्नति हुई और दूसरी ओर औद्योगीकरण बढ़ता गया। परिणामतः गाँव की आर्थिक आत्मनिर्भरता धीरे-धीरे समाप्त होने लगी और खेती का व्यापारीकरण शुरू हो गया अर्थात् अब खेती की उपज दूर-दूर बाजारों में बेची जाने लगी, विशेषकर उद्योग से सम्बन्धित कच्चे माल जैसे कपास आदि का बाजार दिन-प्रतिदिन विस्तृत होता गया। गाँव के आर्थिक जीवन पर दूसरा प्रभाव ग्रामीण उद्योगों का क्रमशः विनाश था, क्योंकि गृह-उद्योग मशीन-उद्योग की प्रतियोगिता में न टिक सके। साथ ही, गाँव में प्रचलित पुरानी भूमि-प्रणाली को समाप्त कर दिया गया और जमींदारी प्रथा का विकास किया गया। जमींदार कृषकों पर हर तरह से अत्याचार करने लगे और कृषकों की अवस्था तेजी से गिरती गई।

जहाँ तक शहर के आर्थिक जीवन में परिवर्तनों का सम्बन्ध था, सबसे महत्वपूर्ण परिवर्तन औद्योगिक विकास और पूँजीवादी व्यवस्था का श्रीगणेश था। बड़ी-बड़ी मिलों और फैक्ट्रियों की स्थापना हुई, मशीनों का प्रयोग दिन-प्रतिदिन बढ़ता गया तथा उत्पादन बड़े पैमाने पर होने लगा। यातायात के साधनों में उन्नति होने के कारण न केवल अन्तर्प्रान्तीय व्यापार ही बढ़ा, अपितु अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार भी। इससे देश के व्यापार और वाणिज्य में भी उन्नति हुई। उद्योग, व्यापार और वाणिज्य के क्षेत्र में प्रतियोगिता दिन-प्रतिदिन बढ़ती गई। परन्तु औद्योगीकरण तथा नागरीकरण के साथ-साथ अनेक श्रमिक-समस्याएँ भी उत्पन्न हुईं। उन समस्याओं में श्रमिकों के काम करने की दशाओं की समस्या, श्रम-आवास की समस्या, स्त्री तथा बाल-श्रमिकों की समस्या, मजदूरी की समस्या, श्रमिकों के स्वास्थ्य एवं कार्यकुशलता की समस्याएँ प्रमुख हैं। पूँजीपति या मालिक वर्ग ने प्रत्येक प्रकार से श्रमिकों का शोषण करना प्रारम्भ किया जिसके फलस्वरूप औद्योगिक झगड़ों का सूत्रपात हुआ और देश के औद्योगिक संस्थानों में हड़तालें तथा तालाबन्दियाँ शुरू हो गईं। इतना ही नहीं, श्रमिकों ने अपनी स्थिति को सुधारने तथा अपनी माँगों की पूर्ति के लिये श्रमिक संघों (Trade Unions) को स्थापित किया और मालिक वर्ग ने 'मालिक संघ' बनाए। भारत के श्रमिक संघ आंदोलन में पाश्चात्य देशों का प्रभाव स्पष्टतः देखने को मिलता है। साथ ही सरकार की ओर से श्रमिकों की दशाओं को सुधारने के लिये श्रम अधिनियम, सामाजिक सुरक्षा व श्रम कल्याण सम्बन्धी अधिनियम पास किये गये। इन अधिनियमों की रूपरेखा के निर्धारण में पाश्चात्य देशों का कुछ भी प्रभाव न था, ऐसा कहना गलत होगा। इसके अतिरिक्त अंग्रेजों की पूँजीवादी अर्थव्यवस्था की एक विपरीत प्रतिक्रिया हुई जिसके कारण भारत में साम्यवादी तथा समाजवादी अर्थव्यवस्था के आदर्शों तथा विचारों के प्रसार में मदद मिली, विशेषकर श्री कार्ल मार्क्स के क्रान्तिकारी व साम्यवादी आर्थिक विचारों का प्रभाव भारतवासियों पर भी पड़ा। फलतः आर्थिक शोषण के विरुद्ध आवाज उठी और यह आवाज बारम्बार गूँज

उठी तथा उसने सरकार व मालिक को बाध्य किया कि वे श्रमिक व श्रमिक-समस्याओं के प्रति उदासीन न बने रहें—श्रमिकों से सब कुछ लेने के बदले में कुछ देने का दिल भी रखें। श्रमिकों में जागरण की एक लहर आई; मानो समूचा राष्ट्र ही जाग उठा, जाग उठी राष्ट्र की प्रगति की सम्भावनायें।

8. निष्कर्ष : भारतीय संस्कृति का भविष्य

(Conclusion : Future of Indian Culture)

तीव्र गति से क्रियाशील पश्चिमीकरण की प्रक्रिया को देखकर भारतीय संस्कृति के भविष्य के सम्बन्ध में अनेक सन्देह उत्पन्न हो सकते हैं। इस सम्बन्ध में तीन धारणायें प्रमुख हैं—

(1) प्रथम परम्परात्मक दृष्टिकोण है, जिसके अनुसार भारत अपने अतीत सांस्कृतिक रूप को फिर से प्राप्त करने में सफल होगा और जो कुछ भी अन्य अनुकरण की भेद्य-मालायें भारतीय संस्कृति के रवि पर छाई हुई हैं, वे क्रमशः विलीन हो जायेंगी और भारतीय संस्कृति का भास्कर फिर से जाग उठेगा। इस मत के अनुसार भारतीय संस्कृति और पाश्चात्य संस्कृति का मिलन कदापि सम्भव नहीं क्योंकि एक का आधार अध्यात्मवाद है जबकि दूसरे का भौतिकवाद है। इस विचारधारा को श्री किप्लिंग (Kipling) ने इस प्रकार व्यक्त किया है—“पूर्व, पूर्व है और पश्चिम, पश्चिम है और ये दोनों कभी नहीं मिलेंगे।”² परन्तु इस कथन के मानने वाले यह भूल जाते हैं कि प्रत्येक युग की अपनी आवश्यकतायें और आधार हुआ करते हैं और उसी के अनुसार उसकी संस्कृति में परिवर्तन अनिवार्य है। उन्हें यह समझना चाहिये कि आज भारतीय समाज की वह परिस्थिति नहीं है जो पिछले दिनों थी। तब और अब के सामाजिक, राजनीतिक और आर्थिक जीवन में आकाश-पाताल का अन्तर है। इन नवीन परिस्थितियों में उन अतीत संस्कृतियों को फिर से कैसे दुहराया जा सकता है ? साथ ही यातायात और संचार के साधनों में उन्नति होने से और अन्य परिवर्तनों के कारण आज अन्तर्राष्ट्रीय जीवन ही प्रत्येक समाज का आधार है। भारतीय समाज और उसकी संस्कृति भी उससे परे नहीं है। इस कारण भारत के लिये अपने को बिल्कुल पृथक् रखना न तो आज सम्भव है और न ही उचित होगा। वास्तविकता तो यह है कि “पश्चिम पूर्व से मिल चुका है। इस समय केवल इतनी आवश्यकता और है कि पश्चिमी भौतिकवाद और भारतीय आध्यात्मिकता का विवेकपूर्ण सम्मिश्रण हो।”³

(2) दूसरा दृष्टिकोण यह है कि भारतीय संस्कृति वर्तमान परिस्थितियों में बिल्कुल ही बिलुप्त हो जाएगी और उसके लिये अपने अस्तित्व को बनाए रखना कदापि सम्भव नहीं होगा। भारतीय संस्कृति अपने स्वतन्त्र अस्तित्व को खो बैठेगी क्योंकि जिस गति से हम अन्धों की भाँति पाश्चात्य संस्कृति का अनुकरण करते जा रहे हैं उसे किसी भी अर्थ में लाभकारी या स्वस्थ नहीं कहा जा सकता। इस विचारधारा से भी सहमत होना हमारे लिये कठिन है, क्योंकि भारत के अतीत का इतिहास

2, “East is East and West is West and never the twain will meet”

—Rudyard Kipling.

3. “The West has met the East. What is required at the moment is the judicious blend of Western materialism and Indian spirituality.”—Quoted from ‘Agra University Exam.’ 1952, Sociology, I Paper.

इस बात का साक्षी है कि अनेक विद्वर्मी और विदेशी संस्कृतियों के सम्पर्क में आकर और हर तरह के आक्रमणों और अत्याचारों को सहकर भी भारतीय संस्कृति आज अजेय है और अपने व्यक्तित्व को पूर्ण रूप से नहीं खो बैठी है।

(3) तीसरी विचारधारा उपरोक्त दो दृष्टिकोणों के मध्य की है। इस मत के अनुसार भारतीय संस्कृति अपने व्यक्तित्व और आधार को बनाए रखते हुए भी बदलते हुए युग के अनुसार और आवश्यकताओं के आधार पर अपना अनुकूलन पाश्चात्य संस्कृति से करने में सफल होगी। यह विचारधारा वैज्ञानिक ही नहीं बल्कि सम्भावित भी प्रतीत होती है और इसके पक्ष में अनेक ऐतिहासिक प्रमाण दिए जा सकते हैं। यद्यपि भारतीय संस्कृति के भविष्य के सम्बन्ध में कोई निश्चित बात नहीं कही जा सकती, तथापि सांस्कृतिक परिवर्तन की प्रक्रिया के अध्ययन से कुछ अनुमान अवश्य ही लगाया जा सकता है और उसी के आधार पर हम इस मत से सहमत नहीं हो पाते हैं कि भारतीय संस्कृति के मौलिक तत्त्व बिल्कुल समाप्त हो जायेंगे। भारतीय संस्कृति में जिस प्रकार वैदिक, वैदांतिक और जनजातीय से लेकर मुस्लिम सांस्कृतिक तत्त्वों को स्थान मिलता है उसी प्रकार यह आशा की जा सकती है कि पाश्चात्य सांस्कृतिक तत्त्वों को भी उचित स्थान मिल रहा है और मिलेगा भी। भारतीय संस्कृति की विशिष्टता सबको अपनी गोद में बुलाना ही है, और पाश्चात्य संस्कृति भी उस स्नेह-आह्वान से वंचित न होगी। उदाहरणार्थ, हिन्दू-मुस्लिम संस्कृति के पारस्परिक मिलन को ही लीजिये—हिन्दू तपस्वी हैं, इस कारण उनकी भारतीय संस्कृति की देन है वेद और उपनिषद् की; मुसलमान कलाकार हैं, इस कारण उनकी देन है रंगमहल और ताजमहल की; हिन्दू साधक हैं, इस कारण उन्होंने दिया दर्शन; मुसलमान प्रेमी हैं, इस कारण उन्होंने दिया संगीत; हिन्दुओं को गर्व है अपनी तपस्या और त्याग पर; मुसलमानों को नाज है दिल और मोहब्बत पर। इन सभी को मिलाकर, हिन्दू और मुसलमान को लेकर बना था भारत के भूतकाल या अतीत का इतिहास और इन्हीं दोनों को लेकर बनना है भारत का भविष्य-भाग्य।

लौकिकीकरण व सामाजिक परिवर्तन

[Secularization and Social Change]

भारतीय सामाजिक संरचना में आज तेजी से परिवर्तन हो रहा है; और हो भी क्यों न ? परिवर्तन तो अन्ततः प्रकृति का नियम है ही। चूंकि समाज या सामाजिक संरचना भी उसी प्रकृति का एक अंग है, इस कारण सामाजिक परिवर्तन भी प्राकृतिक या स्वाभाविक है। हाँ, यह बात दूसरी है कि परिवर्तन की प्रक्रिया समाज के किसी विशेष क्षेत्र में तेजी से चल रही हो तो किसी क्षेत्र में धीमी गति से। भारतीय सामाजिक जीवन के एक महत्त्वपूर्ण क्षेत्र में, ब्रिटिश काल से ही, परिवर्तन की एक विशेष प्रक्रिया क्रियाशील हुई है जोकि जन-जीवन के दिन-प्रतिदिन के कार्यकलापों में दृष्टिगोचर होती है। वह महत्त्वपूर्ण क्षेत्र है 'धर्म' और उसमें प्रक्रिया का नाम है 'लौकिकीकरण'। आज भारतीय जनता विशेषकर नगरों के डाक्टरों, वकीलों, मजदूरों, क्लर्कों, दुकानदारों आदि के दैनिक जीवन पर दृष्टि डालने से यह स्पष्ट होता है कि उनके जीवन में धर्म का महत्त्व काफी कम हो गया है। अधिकतर व्यक्ति अपने कार्यों या व्यवहारों को धार्मिक उद्देश्य से न करके व्यक्तिगत लाभ या अन्य उद्देश्यों से करते हैं। अनेक प्राचीन प्रथाओं, परम्पराओं या रीति-रिवाजों का पालन धार्मिक अभिमति के कारण नहीं, बल्कि व्यावहारिक लाभों के कारण किया जाता है। इसको यों भी कहा जा सकता है कि व्यक्ति के व्यवहार में कुछ तार्किकता (rationality) आ गई है या जीवन में निरन्तर धार्मिकता का ह्रास होता जा रहा है। व्यक्तिगत व्यवहारों व कार्यों में तार्किकता का समावेश या धार्मिकता का ह्रास ही लौकिकीकरण है। औद्योगीकरण, उन्नत संचार साधन, नगरों का विकास, स्वतन्त्रता, पाश्चात्य संस्कृति, सामाजिक गतिशीलता, दो विश्वयुद्ध, सुधार आन्दोलनों आदि अनेक कारकों ने भारतीय जन-जीवन में लौकिकीकरण की प्रक्रिया को अत्यधिक प्रोत्साहित किया है। इस सम्बन्ध में एक बात विशेष रूप से स्मरणीय है, और वह यह है कि इस प्रक्रिया से हिन्दू धर्म जितना अधिक प्रभावित हुआ है उतना शायद कोई अन्य दूसरा धर्म नहीं। परन्तु इससे पूर्व कि हम यह अध्ययन करें कि लौकिकीकरण ने जीवन को किस रूप में प्रभावित किया है, इसके अर्थ को समझना अनुपयुक्त न होगा।

लौकिकीकरण का अर्थ एवं परिभाषा

(Meaning and Definition of Secularization)

जैसाकि उपरोक्त विवेचना से स्पष्ट है कि लौकिकीकरण को उस सामाजिक प्रक्रिया के रूप में समझा जा सकता है जिसके द्वारा धार्मिक, प्रथागत या परम्परागत व्यवहारों में धीरे-धीरे तार्किकता का समावेश होता जाता है। दूसरे शब्दों में जन-जीवन के व्यवहारों का उद्देश्य धार्मिक न होकर व्यावहारिक उपयोग होता है। फलतः

पहले जो वस्तु पारलौकिक समझी जाती थी, अब उसकी व्याख्या लौकिक सन्दर्भ में होने लगती है। और भी स्पष्ट रूप में कहा जा सकता है कि पारलौकिक, परम्परागत, दैवीय या धार्मिक आदर्शों की मानवीय, सामाजिक, व्यावहारिक या तार्किक व्याख्या ही लौकिकीकरण है।

डॉ० एम० एन० श्रीनिवास (Dr. M. N. Srinivas) ने लौकिकीकरण की सबसे उपयुक्त परिभाषा की है। आपके शब्दों में, "लौकिकीकरण शब्द का यह अर्थ है कि जो कुछ पहले धार्मिक माना जाता था, वह अब वैसा नहीं माना जा रहा है। इसका तात्पर्य विभेदीकरण की एक प्रक्रिया से भी है। जोकि समाज के विभिन्न पहलुओं—आर्थिक, राजनीतिक, कानूनी और नैतिक—के एक-दूसरे से अधिक-पृथक् होने में दृष्टिगोचर होती है।¹

लौकिकीकरण का यह अर्थ इसके कुछ प्रमुख तत्वों से और भी स्पष्ट हो जाएगा।

लौकिकीकरण के प्रमुख तत्व

(Important Elements of Secularization)

लौकिकीकरण के कुछ प्रमुख तत्व निम्नलिखित हैं—

1. धार्मिकता का ह्रास (Lack of Religiousness)—जैसाकि पहले ही स्पष्ट किया जा चुका है कि लौकिकीकरण का एक प्रमुख तत्व उसकी वृद्धि के साथ-साथ धार्मिकता का ह्रास है। जैसे-जैसे जन-सामान्य के जीवन में लौकिकीकरण की वृद्धि होती जाती है, धार्मिकता का ह्रास होता है। फलतः व्यक्तियों के विचारों में परिवर्तन होते जाते हैं और उनका स्थान सामाजिक उद्देश्य या व्यावहारिक लाभ ले लेते हैं।

2. तार्किकता (Rationality)—लौकिकीकरण का एक प्रमुख तत्व तार्किकता है। इसके अन्तर्गत सभी विश्वासों, विचारों अथवा चीजों में तर्क का समावेश होता है। जीवन में आने वाली प्रत्येक समस्या पर तर्क और विवेक के आधार पर विचार किया जाता है, न कि धर्म के सन्दर्भ में। दूसरे शब्दों में, परम्परागत विश्वासों व विचारों को आधुनिक ज्ञान के आधार पर बदलना है, तार्किकता है। तार्किकता का बढ़ना ही लौकिकीकरण है।

3. विभेदीकरण की प्रक्रिया (Process of Differentiation)—अन्त में, लौकिकीकरण के एक अति महत्वपूर्ण तत्व या लक्षण के रूप में विभेदीकरण की प्रक्रिया का भी उल्लेख किया जा सकता है। लौकिकीकरण में विभेदीकरण की प्रक्रिया का तात्पर्य यह है कि समाज में विभेदीकरण बढ़ता है। समाज के विभिन्न पहलु—आर्थिक, राजनीतिक, सामाजिक, धार्मिक, नैतिक, कानूनी आदि एक-दूसरे से पृथक् होते जाते हैं। इन सभी क्षेत्रों में धर्म का महत्त्व या प्रभाव कम होता जाता है। उदाहरण के

1. "The term 'Secularization' implies that what was previously regarded as religious is now ceasing to be such, and it also implies a process of differentiation which results in the various aspects of society, economic, political, legal and moral, becoming increasingly discrete in relation to each other."—Dr. M. N. Srinivas, *Social Change in Modern India*, Allied Publishers, Bombay, p. 119.

लिए राज्य को ले लीजिये। पहले राजा पुरोहित के भी नीचे होता था, परन्तु आज धर्म और राज्य अलग-अलग हो गये हैं। स्पष्ट ही है कि इस प्रक्रिया के अन्तर्गत जीवन के विभिन्न क्षेत्रों में धर्म का बन्धन समाप्त होता जाता है।

लौकिकीकरण के कारण

(Factors of Secularization)

प्रत्येक प्रक्रिया के कोई-न-कोई कारण या कारक अवश्य ही होते हैं। भारत-वर्ष में भी जो लौकिकीकरण की प्रक्रिया आज चल रही है, उसके भी कुछ विशेष कारण रहे हैं। यद्यपि इस प्रक्रिया के सभी कारणों पर प्रकाश डालना कठिन है, फिर भी अध्ययन की सुविधा की दृष्टि से कुछ महत्वपूर्ण कारणों को निम्नलिखित रूप में प्रस्तुत किया जा सकता है—

1. नागरीकरण (Urbanization)—लौकिकीकरण की प्रक्रिया में नागरीकरण का अत्यधिक योगदान रहा है। यह तथ्य तो इसी से स्पष्ट है कि नगरों में ही लौकिकीकरण सर्वाधिक हुआ है। नगरों में अत्यधिक भीड़-भाड़, उन्नत यातायात व सन्देशवाहन के साधनों के साथ, उन्नत शिक्षा, फैशन, भौतिकवाद, विवेकवाद, व्यक्तिवाद आदि सभी कारक मौजूद होते हैं। जैसाकि आगे के विवेचन से स्पष्ट होगा ये सभी कारण लौकिकीकरण में अत्यधिक सहायता प्रदान करते हैं।

2. आधुनिक शिक्षा (Modern Education) लौकिकीकरण का शायद सबसे महत्वपूर्ण कारण आधुनिक शिक्षा है। आधुनिक शिक्षा का यहाँ अभिप्राय विशेष रूप से पाश्चात्य शिक्षा से है। वास्तव में आज जो शिक्षा-पद्धति भारतवर्ष में अपनाई जा रही है उसमें बहुत-कुछ पाश्चात्य पुट है। इसके अतिरिक्त करीब 100 वर्षों से भारत पूर्णतया पाश्चात्य शिक्षा पाता रहा है। इसका एक स्वाभाविक परिणाम यह हुआ है कि यहाँ की संस्कृति में पाश्चात्य मूल्यों (values) ने प्रवेश पा लिया है। इससे स्पष्टतः ही यहाँ के धर्मों पर, विशेष रूप से हिन्दू धर्म पर प्रभाव पड़ा है। यदि एक ओर, इससे व्यक्ति के विचारों में परिवर्तन आया है तो दूसरी ओर हिन्दुओं को अपने धर्म के प्रति एकबारगी कुछ सोचने को मजबूर होना पड़ा है। इस शिक्षा से ही उनका विवेक जागृत हुआ है अपने धर्म के कठोर एवं अन्धाविश्वासी नियमों व बन्धनों का फिर से मूल्यांकन करने के लिये। इसके अतिरिक्त उनके अन्दर वैज्ञानिक मनोवृत्ति और तर्क-शक्ति ने जन्म लिया है। अब वे केवल धर्म के नाम पर ही व्यवहारों को नहीं करते, बल्कि उनमें कुछ व्यावहारिकता का भी पुट देखते हैं। इतना ही नहीं आधुनिक शिक्षा ने सहशिक्षा (Co-education) का अवसर प्रदान कर यदि एक ओर अन्तर्जातिय विवाहों को प्रोत्साहित किया है तो दूसरी ओर 'छुआछूत, अस्पृश्यता' पवित्रता-अपवित्रता, आदि भावनाओं को निरुत्साहित किया है। कहना न होगा कि ये सभी लौकिकीकरण के ही लक्षण हैं जोकि आधुनिक शिक्षा का ही प्रत्यक्ष परिणाम हैं।

3. सामाजिक व धार्मिक आन्दोलन (Social and Religious Movements)—अनेक सामाजिक और धार्मिक आन्दोलनों ने भी लौकिकीकरण में पयोष्ठ सहयोग प्रदान किया है। विदेशी शासनकाल से इस देश में सर शैयद अहमद खा, राजा राममोहन राय, केशवचन्द्र सेन, स्वामी दयानन्द, गोविन्द रानाडे, महात्मा गांधी आदि नेताओं ने अनेकों सामाजिक व धार्मिक आन्दोलनों का सूत्रपात किया। इन आन्दोलनों ने हिन्दू धर्म के कुविश्वासों व कमियों की ओर संकेत किया और उसमें

अपनी आवाज से पर्याप्त सुधार भी किये। इन आन्दोलनों में आर्य समाज, प्रार्थना समाज, ब्रह्म समाज, रामकृष्ण मिशन, थियोसोफिकल समाज, सर्वोदय आन्दोलन आदि प्रमुख रूप से उल्लेखनीय हैं। यदि एक ओर ब्रह्म समाज, आर्य समाज, प्रार्थना समाज न, जो कि पाश्चात्य सामाजिक मूल्यों और ईसाई धर्म के समानता के सिद्धांत से प्रभावित थे, छुआछूत, पवित्रता-अपवित्रता, भेदभाव और ब्राह्मणों की उच्च स्थिति का कट्टरता से विरोध किया, तो दूसरी ओर पूज्य बापू ने भी अस्पृश्य लोगों को 'हरिजन' नाम देकर उनका उद्धार करने का प्रयत्न किया। इससे भी धार्मिक पवित्रता अपवित्रता व छुआछात के भेदभावों में पर्याप्त परिवर्तन आये। इससे स्पष्ट है कि विभिन्न सामाजिक और धार्मिक आन्दोलनों ने भी लौकिकीकरण की प्रक्रिया को प्रोत्साहित किया है।

4. यातायात और संचार के साधनों में उन्नति (Development of the means of Transport and Communication)—आवागमन व संचार के साधनों में उन्नति होने से सामाजिक गतिशीलता (social mobility) ही नहीं बढ़ती बल्कि नए-नए नगरों, उद्योगों, व्यवसायों, मिलों और कारखानों की भी उत्पत्ति एवं विकास होता है। इससे विभिन्न प्रकार के धर्म, जाति, प्रदेश और देश के लोगों का एक-दूसरे के साथ सम्पर्क स्थापित और विचार-विनिमय होता है। व्यक्तियों में समानता की भावना जागृत होती है और साथ ही विभिन्न धर्मों की तार्किक आलोचना की प्रवृत्ति भी बढ़ती है। इसके अतिरिक्त उनकी संकुचित विचारधारा और दृष्टिकोण का अन्त होता है और उसी के साथ जाति-पाँति की कठोरता का भी। साथ ही रेल, बस आदि में सभी जाति व धर्मों के लोगों का एक साथ यात्रा करना भी पवित्रता-अपवित्रता और छूतछात के विचारों को शिथिल बनाने में सहायक होता है।

5. पाश्चात्य संस्कृति (Western Culture)—भारत में अंग्रेजी राज्य स्थापित होने से पहले मुसलमानों का राज्य था और शासक-वर्ग के रूप में उनका प्रभाव व दबाव दोनों ही भारतवासियों पर था। परिणामतः यहाँ के लोगों के जीवन पर मुस्लिम संस्कृति का प्रभाव स्पष्टतः देखने को मिलता है। परन्तु भारतीय संस्कृति पर, पाश्चात्य संस्कृति का प्रभाव और भी अधिक व्यापक तथा प्रभावशाली रहा है। पाश्चात्य संस्कृति ने भारतीय जीवन के समस्त पहलुओं विशेषकर धर्म, कला, साहित्य, सामाजिक और पारिवारिक जीवन में क्रान्तिकारी परिवर्तनों को उत्पन्न किया। इससे जाति-प्रथा के नियमों में पर्याप्त ढीलाई आई, छुआछूत और पवित्रता-अपवित्रता के आधार पर भेदभावों में कमी आई, और व्यक्तिवाद, भोगवाद, अधार्मिकता, भौतिकवाद आदि प्रवृत्तियों को प्रोत्साहन मिला। शायद यह कहने की आवश्यकता नहीं कि ये सभी लौकिकीकरण को बढ़ाने में सहायक हैं।

6. धार्मिक संगठनों का अभाव (Lack of Religious Organizations)—लौकिकीकरण के विकास में धार्मिक संगठनों के अभाव ने भी पर्याप्त योगदान किया है। इस सम्बन्ध में विशेषकर हिन्दू-धर्म का नाम लिया जा सकता है। वास्तव में हिन्दू-धर्म के अतिरिक्त प्रायः अन्य सभी धर्म अत्यधिक संगठित हैं—जैसे, मुस्लिम, सिक्ख, ईसाई आदि सभी धर्म के अनुयायी अपने धर्म के प्रति अत्यधिक कट्टर हैं, साथ ही उनमें पर्याप्त धार्मिक संगठन भी हैं। खेद है कि हिन्दू-धर्म में इस प्रकार की बात देखने को नहीं मिलती। एक तो हिन्दू-धर्म में ही अनेकों मत तथा सम्प्रदाय हैं; दूसरे, सम्पूर्ण हिन्दू-धर्म का कोई अच्छा संगठन भी नहीं है। इसके अतिरिक्त इस धर्म में

विभिन्न मत होने के कारण एक हिन्दू दूसरे हिन्दू की धार्मिक आधार पर ही कड़ी आलोचना करता है—एक हिन्दू अपने ही एक भाई का धार्मिक गेला घोटता है। इन सबका प्रभाव स्वभावतः ही हिन्दू-धर्म पर पड़ा है। जहाँ एक ओर अनेक हिन्दुओं ने ब्राह्मणों के अत्याचारों से पीड़ित होकर अन्य धर्मों को अपनाया है, वहाँ दूसरी ओर पढ़े-लिखे हिन्दू धार्मिक कट्टरता से दूर होते जा रहे हैं। वे हिन्दू-धर्म के विश्वासों, मतों, आदर्शों व कट्टरता का पर्याप्त विरोध कर रहे हैं। ये सभी लौकिकीकरण के आधार ही हैं।

7. भारतीय संस्कृति का लौकिकीकरण (Secularization of Indian Culture)—यद्यपि भारतीय संस्कृति को मूल रूप में धार्मिक ही कहा जाता है, परन्तु आज इसी धर्म-प्राण संस्कृति का स्वयं ही लौकिकीकरण होता जा रहा है। यह प्रक्रिया अत्यन्त तीव्र है। पाश्चात्य संस्कृति के प्रभाव में आकर यहाँ की संस्कृति में पर्याप्त लौकिकीकरण हुआ है। इसके अतिरिक्त यहाँ की संस्कृति के लौकिकीकरण में चल-चित्र, समाचार-पत्र, रेडियो, टेलीविजन आदि का पर्याप्त योगदान रहा है। इन सभी साधनों से विभिन्न धर्म, जाति, सम्प्रदाय एक-दूसरे की अच्छाई-बुराईयों का ज्ञान करते हैं और एक-दूसरे के सम्पर्क में आते हैं। चूँकि भारत स्वयं एक धर्म-निरपेक्ष गणराज्य (Secular Republic) है, अतः प्रचार के उपरोक्त सभी साधन भी लौकिकीकरण के पक्ष में क्रियाशील बन पाते हैं।

8. सरकारी प्रयत्न (Governmental Efforts)—लौकिकीकरण को बढ़ाने में सरकारी प्रयत्नों का शायद सबसे अधिक योगदान रहा है—इसमें कोई दो मत नहीं हो सकते। सन् 1850 में 'जाति निर्योग्यता उन्मूलन अधिनियम' (Caste Disabilities Removal Act, 1850) जाति-प्रथा के प्रभावों को रोकने के लिए सरकार का प्रथम कदम था। सन् 1829 में 'बंगाल सती नियम' (Bengal Sati Regulation, 1829) पास हुआ था। सन् 1856 में 'हिन्दू-विधवा-पुनर्विवाह अधिनियम' (Hindu Widow's Remarriage Act, 1856) पास किया गया जिसमें लड़कियों के विवाह की आयु कम-से-कम दस वर्ष रखी गई। सन् 1872 में 'विशेष विवाह अधिनियम' (Special Marriage Act, 1872) पास किया गया जिससे अन्तर्जातीय विवाहों को अनुमति मिल गई। इसके उपरान्त स्वतन्त्र भारतीय संविधान ने भारत को एक लौकिक या धर्म-निरपेक्ष राज्य (Secular State) घोषित किया। सन् 1949 में 'हिन्दू-विवाह वैधकरण अधिनियम' (Hindu Marriage Validating Act, 1949) पास हुआ। इसने इस अधिनियम के पास होने के पहले और बाद में होने वाले विवाहों को वैध कर दिया है। सन् 1954 में फिर 'विशेष विवाह अधिनियम' (The Special Marriage Act, 1954) पास हुआ, जोकि सन् 1872 के अधिनियम का ही विस्तृत रूप है। इसके अतिरिक्त अस्पृश्यता दूर करने के लिए सन् 1955 का 'अस्पृश्यता अपराध अधिनियम' (Untouchability Offences Act, 1955) सबसे प्रथम कानूनी कदम है जिसके द्वारा अछूतों की समस्त निर्योग्यताओं को दूर करने का प्रयत्न किया गया है। इन सबके अतिरिक्त, भारत में कानून के समक्ष सभी को समान माना गया है। संविधान के अनुच्छेद 15 के अनुसार राज्य किसी भी नागरिक के विरुद्ध केवल धर्म, जाति मूल-वंश, लिंग, जन्मस्थान अथवा इनमें से किसी के आधार पर कोई विभेद नहीं करेगा। ये सभी सरकारी प्रयत्न देश में लौकिकीकरण के लिए हैं।

कीकरण बढ़ाने में कहीं तक सहायक हुए हैं यह बात शायद समझाने की आवश्यकता नहीं।

उपरोक्त वर्णन से स्पष्ट है कि भारतवर्ष में लौकिकीकरण की प्रक्रिया में अनेक कारक उत्तरदायी व सहायक कारकों के रूप में रहे हैं। इस सम्बन्ध में एक बात आवश्यक रूप से समझ लेनी चाहिए, कि सभी कारक इस प्रक्रिया में अत्यधिक महत्वपूर्ण रहे हैं, न कि कोई कम और कोई अधिक। वास्तव में लौकिकीकरण की प्रक्रिया ब्रिटिश शासनकाल में आरम्भ हुई और अनेक अन्य कारकों ने उसको सहयोग प्रदान कर उसका विकास किया।

भारतीय समाज में लौकिकीकरण से सामाजिक परिवर्तन (Secularization and Social Change in Indian Society)

जैसा कि लौकिकीकरण के उपरोक्त कारणों से स्पष्ट है कि लौकिकीकरण की प्रक्रिया अंग्रेजी शासनकाल में कुछ विशेष परिस्थितियों में विकसित हुई और उसके बाद अनेक प्रकार के आन्दोलनों, नागरीकरण, औद्योगिकरण आदि के बढ़ने के साथ यह प्रक्रिया अत्यधिक तीव्र हो गई, यहाँ तक कि आज यह जन-जीवन के अनेक महत्वपूर्ण पहलुओं को प्रभावित कर रही है। इसका एक स्वाभाविक परिणाम यह हुआ है कि समाज भी काफी सीमा तक परिवर्तित दृष्टिगोचर होता है। डॉ० एम० एन० श्रीनिवास (Dr. M. N. Srinivas) ने लौकिकीकरण के सन्दर्भ में हुए अनेक महत्वपूर्ण परिवर्तनों को अपनी प्रसिद्ध पुस्तक 'Social Change in Modern India' में अति सुन्दर रूप में प्रस्तुत किया है। उसी प्रस्तुतीकरण के आधार पर भारतीय समाज में लौकिकीकरण के फलस्वरूप होने वाले सामाजिक परिवर्तन के प्रमुख क्षेत्रों को इस प्रकार वर्णित किया जा सकता है—

1. अपवित्रता व पवित्रता की धारणा में परिवर्तन एवं लौकिकीकरण

(Changes in the concept of Pollution and Purity and Secularization)

भारतीय जीवन और धर्म, विशेषकर हिन्दू-धर्म में पवित्रता और अपवित्रता की धारणा का महत्वपूर्ण स्थान रहा है। प्रायः प्रत्येक भारतीय भाषा में पवित्रता और अपवित्रता की धारणा अवश्य विद्यमान है। अपवित्रता को गन्दगी, मलिनता व अस्वच्छता और यहाँ तक कि पाप के अर्थ में भी प्रयुक्त किया जाता है, और पवित्रता को स्वच्छता, धार्मिकता या शुद्धता आदि के अर्थों में प्रयोग किया जाता है।

भारत में विभिन्न जातियों के बीच संरचनात्मक दूरी को पवित्रता और अपवित्रता की भावना से ही परिभाषित किया जा सकता है। एक उच्च जाति एक निम्न जाति से 'पवित्र' होती है। जो जातियाँ ऊँची स्थिति प्राप्त करना चाहती हैं वे संस्कृतीकरण के द्वारा अपने को अधिक पवित्र बनाने का प्रयास करती हैं और अपवित्र जातियों से गोन, भोजन व खान-पान एवं विवाह आदि सम्बन्धों में पर्याप्त अलगत्व बनाए रखती हैं। जाति-संस्तरण में विभिन्न जातियों के व्यवसाय, भोजन व जीवन-शैली (life style) आदि भी इसी पवित्रता और अपवित्रता की धारणा पर आधारित होते हैं। ऊँची जातियाँ शाकाहारी होती हैं और पवित्र व्यवसायों को ही करती हैं। उनका रहन-सहन भी अधिक पवित्र होता है। इसके विपरीत निम्न जातियाँ मत्स्य, बकरे, सूअर आदि का मांस व मच्छी जैसे गन्दे पदार्थ सेवन करती हैं;

मंगी, चमार आदि अपवित्र व्यवसाय करते हैं, व उनका रहन-सहन भी गन्दा होता है।

जाति-व्यवस्था के अतिरिक्त रक्त-सम्बन्धों के सम्बन्ध में भी पवित्रता और अपवित्रता की भावना महत्वपूर्ण स्थान रखती है। परम्परागत रूप में, जन्म, मृत्यु और मासिक-धर्म इत्यादि के समय किए जाने वाले कार्य अपवित्र होते हैं। इन्हीं में भी जन्म की तुलना में मृत्यु के समय किए गए कार्य अधिक अपवित्र माने जाते हैं। तीर्थ-यात्रा के दौरान यौन-सम्बन्धों पर प्रतिबन्ध होता है क्योंकि पूजा-पाठ आदि में पवित्रता की भावना होती है। दिन-प्रतिदिन जीवन में भी पवित्रता और अपवित्रता की भावना का स्थान महत्वपूर्ण रहा है। एक मनुष्य को पवित्र होने के लिए स्नान करना पड़ता है, पवित्र कपड़े धारण करने पड़ते हैं तथा अपवित्र व्यक्तियों से अलग रहना पड़ता है, चाहे वह अपवित्र व्यक्ति उसके परिवार का ही सदस्य क्यों न हो। इसके अतिरिक्त किसी विशेष त्यौहार या श्राद्ध के दिन कर्त्ता (subject) पवित्र रहने के लिए उस समय तक पानी भी नहीं पी सकता, जब तक वह श्राद्ध या त्यौहार पूर्ण न हो जाए। परम्परागत रूप में, एक व्यक्ति न तो स्वयं अपनी हजामत ही बना सकता है और न ही हजामत के पश्चात् नहाने के वर्तनों को स्वयं छू ही सकता है। केवल नाई ही उसकी हजामत बना सकता है और हजामत बनवाने के बाद कोई अन्य व्यक्ति उसके मुँह और हाथों को धुलाएगा और तब वह व्यक्ति वर्तनों को छू पाएगा। वास्तव में स्त्रियाँ, विशेष रूप में विधवाएँ इस अशुद्धता के विचार को अधिक मानती रही हैं। धार्मिकता को शुद्धता समझा जाता रहा है और पाप व दुराचरण को अशुद्धता। सम्भवतः यही कारण है कि पवित्र नदी में प्रतिदिन स्नान, मन्दिरों में पूजा-पाठ, धार्मिक कथाओं का श्रवण, धार्मिक व्यक्तियों से सत्संग, उपवास आदि को लौकिक तत्त्वों से ऊपर धार्मिक संसार की वस्तुएँ माना जाता रहा है।

पिछले वर्षों में लौकिकीकरण की प्रक्रिया की क्रियाशीलता के फलस्वरूप पवित्रता और अपवित्रता की भावना लौकिक घरातल पर आ गई है। आज व्यवसाय जाति अथवा पवित्रता और अपवित्रता के आधार पर नहीं, योग्यता के आधार पर अपनाए जा सकते हैं। आजकल ब्राह्मण भी व्यवसाय का प्रयोग करते हैं और एक चमार मन्त्री-पद पर भी रहता है। इसके अतिरिक्त आधुनिक समय में व्यवसायों की ऊँचाई-निचाई नापने के लिए शुद्धता और अशुद्धता आदि आधारों की अपेक्षा धन, सत्ता आदि को स्वीकार किया जा रहा है। आज पुरोहिती का व्यवसाय एक अफसर-गीरी के व्यवसाय से नीचे दर्जे का है। इसी प्रकार भोजन, खान-पान व विवाह सम्बन्धी नियमों में भी लौकिकीकरण होता जा रहा है। नगरों में तो भोजन के सम्बन्ध में शुद्धता व अशुद्धता के विचार को क्रियाशील करना अगर असम्भव नहीं तो कठिन अवश्य ही है। आज ब्राह्मण, शूद्र सभी एक ही होटल में साथ-साथ बैठकर खाते हैं। खाने-पीने की आदतें आज शुद्धता या जाति की भावनाओं से हटकर सफाई या आरोग्यता पर जाने लगी हैं। आज यदि कोई ब्राह्मण गन्दे कपड़े पहनकर खाना बनाता है तो उसका बनाया हुआ खाना लोगों के द्वारा उतना पसन्द नहीं किया जाएगा जितना कि एक स्वच्छ कपड़े पहनकर किसी अन्य जाति के सदस्य द्वारा बनाए गए भोजन को। स्त्रियाँ भी आज रसोई-घर, मासिक-धर्म, गर्भ स्थिति आदि के सन्दर्भ में पुराने विचारों को छोड़ती जा रही हैं। आज की शिक्षित पत्नी शुद्धता

से अधिक स्वास्थ्य का ध्यान रखती है। एकाकी परिवार होने के कारण मासिक-धर्म के समय अनेक निषेधों का पालन भी सम्भव नहीं है। आज रसोई-घर में कोयले से लाइन खींचकर जमीन पर बैठकर भोजन नहीं किया जाता है बल्कि जूते पहने हुए ही मेज-कुर्सी पर आज भोजन किया जाता है। यद्यपि अनेक परम्परागत बातों को आज भी माना जाता है, परन्तु उन्हें इसलिए नहीं माना जाता कि वे पवित्र हैं या उनका धार्मिक विधान है बल्कि इसलिए कि वे व्यावहारिक दृष्टि से उपयोगी हैं। स्पष्ट ही है कि पवित्रता और अपवित्रता के विचारों का पर्याप्त लौकिकीकरण हो गया है और निरन्तर हो भी रहा है।

2. जीवन-चक्र व संस्कारों में लौकिकीकरण द्वारा परिवर्तन

(Changes by Secularization in Life-cycle and Rituals)

भारतीय जीवन में विशेषकर हिन्दू-धर्म में संस्कारों को प्रमुख महत्व दिया जाता रहा है। पूरे जीवन-चक्र में अनेकों संस्कार करने होते हैं जैसे गर्भाधान, चौल, नागकरण, उपनयन, समावर्तन, विवाह, अंत्येष्टि आदि। ये सभी संस्कार हिन्दू-धर्म में अत्यधिक महत्वपूर्ण स्थान रखते हैं। उदाहरण के लिये उपनयन संस्कार किए बिना कोई भी द्विज नहीं हो सकता। इसी प्रकार अन्य संस्कारों का भी महत्व है। लौकिकीकरण की प्रक्रिया इन सभी संस्कारों के महत्व को कम करती जा रही है। यहाँ तक कि कुछ संस्कार तो बिल्कुल ही समाप्त हो गए हैं जैसे गर्भाधान, चौल, समावर्तन आदि। नामकरण संस्कार को भी आज संस्कार के रूप में न मानकर एक सामाजिक अवसर माना जाता है जिस पर कि मित्रगण और नातेदार मिलकर हंसी-खुशी मनाते व खाते पीते हैं। विवाह-संस्कार सम्बन्धी नियमों का भी आज उतनी कठोरता से पालन नहीं किया जाता जितना कि पहले किया जाता था। पहले विवाह-संस्कार 5 या 6 दिन में सम्पन्न होता था, आज एक रात में अथवा 2 या 3 घण्टे में भी यह संस्कार सम्पन्न हो जाता है। इसके अतिरिक्त विवाह के अन्तर्गत भी अब अनेकों उप-संस्कार केवल नाममात्र के लिए ही सम्पन्न किए जाते हैं। केवल होम, सप्तपदी और कन्यादान का ही अधिक महत्व रह गया है। इसके अतिरिक्त वाराती व मित्रगण सभी केवल दावत (Feast) व 'जयमाल' में ही अधिक रुचि दिखाते हैं; होम, सप्तपदी और कन्यादान के समय तो बहुत घनिष्ठ सम्बन्धी ही उपस्थित रहते हैं। इस प्रकार विवाह आज एक धार्मिक संस्कार न रहकर एक सामाजिक उत्सव का अवसर बन गया है। विवाह-संस्कार में लौकिकीकरण का प्रभाव आज दहेज-प्रथा (Dowry system) के महत्व के दिन-प्रतिदिन बढ़ने से ही स्पष्ट है। आज विवाह-सम्बन्धों में दहेज पर अधिक दबाव दिया जाता है, न कि धार्मिक बातों पर।

विवाह की आयु बढ़ने के कारण आज एक लड़की को शिक्षा पाने का अवसर प्राप्त हुआ है और इससे अनेक परम्परागत बातों में ढील उत्पन्न हो रही है जैसे रसोईघर की पवित्रता बनाये रखना, जाति व पवित्रता के नियमों का ज्ञान, सास-नेत्रियों के विचारों में क्रान्तिकारी परिवर्तन ला दिये हैं और उनको नया उत्साह प्रदान किया है। आज ब्राह्मणों की भी ऐसी बहुत कम लड़कियाँ होती होंगी जोकि शिक्षा न प्राप्त करती हों। इतना ही नहीं, लड़कियाँ आज नर्स, क्लर्क, शिक्षक, डॉक्टर, इंजीनियर आदि पदों पर कार्य करती हैं।

धार्मिक जीवन में भी अत्यधिक लौकिकीकरण बढ़ रहा है। कार्यालय या दुकान जाते समय जल्दी के कारण पूजा-पाठ के आसन पर घण्टों बैठने के बजाय स्नान करते समय या कपड़े पहनते-पहनते ही पूजा-पाठ कर लिया जाता है। शिक्षित व्यक्ति आज तीर्थ करने, स्वर्ग-प्राप्ति के दृष्टिकोण से नहीं अपितु मनोरंजनार्थ घूमने-नए-नए स्थानों में नई-नई बातें व दृश्य देखने के उद्देश्य से जाते हैं। इसी प्रकार आज भजनों, हरि-कथाओं आदि को आकाशवाणी द्वारा आधुनिक ढंग से जनता के समक्ष प्रस्तुत किया जाता है। अखिल भारतीय साधु-रामाज का निर्माण भी एक प्रकार से धार्मिकता का लौकिकीकरण ही है। आज लोग पण्डितों को दान देने के बजाय शिक्षा-संस्थाओं, चिकित्सालयों आदि को दान देना अधिक प्रसन्न करते हैं। विश्व-हिन्दू-परिषद् की रचना भी लौकिकीकरण का अनुपम उदाहरण है।

3. जाति संरचना में परिवर्तन और लौकिकीकरण (Changes in Caste-structure and Secularization)

लौकिकीकरण का जो प्रभाव जाति-प्रथा पर पड़ा है वह हम पहले ही लिख चुके हैं। यहाँ पर केवल ब्राह्मणों की स्थिति में परिवर्तन का वर्णन किया जा सकता है। जैसा कि सर्वविदित ही है कि जाति-संस्तरण (Caste hierarchy) में ब्राह्मणों की स्थिति सर्वमान्य रूप से सबसे ऊपर है। परन्तु आर्थिक और राजनीतिक शक्ति की महत्ता का वर्तमान युग में बोलवाला होने के कारण परम्परा के आधार पर आधारित ब्राह्मणों की सत्ताओं का घटना स्वाभाविक ही है। औद्योगिकीकरण और नागरीकरण ने अनेक नये व्यवसायों को जन्म दिया है जिनमें व्यक्तिगत कुशलता या योग्यता को अधिक महत्व दिया जाता है। फलतः निम्न जाति के लोगों को भी अपनी योग्यता के अनुसार उन्नति करने तथा सामाजिक स्थिति को ऊँचा उठाने के अवसर प्राप्त हुए हैं। इससे जन्म के आधार पर आधारित ब्राह्मणों की परम्परागत प्रभुता को काफी धक्का पहुँचा है। ब्राह्मणों का धार्मिक क्रियाओं के सम्बन्ध में भी अत्यधिक लौकिकीकरण हुआ है। आज ब्राह्मणों को भी चोटी न रखे हुए देखा जा सकता है। अनेक ब्राह्मण आज जनेऊ भी धारण करना पसन्द नहीं करते क्योंकि जनेऊ के कठोर नियमों का वे पालन करने में अपने को असमर्थ पाते हैं। कहीं-कहीं तो कोई विशेष संस्कार कराते हुए ब्राह्मणों को पेण्ट व बर्शट पहने हुए भी देखा जा सकता है। इसके अतिरिक्त सामान्य रूप से भी नगरों में पूजा-पाठ, संस्कार आदि काफी कम होते हैं, इस कारण भी पुरोहित-ब्राह्मणों का महत्व अत्यधिक घटा है; वे अन्य नए व्यवसायों व नौकरियों को अपनाने लगे हैं।

जाति-प्रथा में लौकिकीकरण के प्रभाव में आकर एक अन्य महत्वपूर्ण परिवर्तन सबसे नीची जाति की स्थिति में सुधार होना है। आज हरिजनों की स्थिति पहले जैसी नहीं है। व्यक्ति जन्म पर आधारित समाज के विभाजन को अवैज्ञानिक मानने लगे हैं। इसका वास्तव में सम्पूर्ण श्रेय पूज्य बापू को ही देना चाहिए। आपके हरिजन आन्दोलन ने न केवल स्वस्थ जनमत का निर्माण किया, अपितु सरकार को भी हरिजनों के उत्थान के सम्बन्ध में प्रयत्नशील बनाया। आज सामाजिक, राजनीतिक, धार्मिक और आर्थिक सभी क्षेत्रों में उन्हें राज्य की ओर से केवल समान अधिकार ही प्राप्त नहीं है बल्कि प्रत्येक प्रकार की नौकरियों, विधानमण्डलों, मन्त्रिमण्डलों आदि में उनके लिये स्थान भी सुरक्षित कर दिये गए हैं। जाति-प्रथा पर यही है—लौकिकीकरण के कुछ प्रमुख प्रभाव।

परिवार पर लौकिकीकरण का प्रभाव (Effect of Secularization on Family)

सामाजिक जीवन में परिवार एक महत्वपूर्ण सामाजिक संस्था का स्थान रखता है। भारतीय समाज में तो इसका और भी महत्व है। यहाँ की प्रमुख विशेषता 'संयुक्त परिवार व्यवस्था' (Joint Family System) रही है। वास्तव में संयुक्त परिवार एक अति प्राचीन संस्था है और इस देश की परिस्थितियों को देखते हुए यह उचित भी था। भारत एक कृषि प्रधान देश है, खेती ही यहाँ के अधिकतर लोगों का प्रमुख व्यवसाय रहा है। खेती का काम परिवार के आधार पर (on family basis) होता है और साथ ही इसके लिये कुछ लोगों की भी आवश्यकता होती है। प्राचीन-काल में जनसंख्या की तुलना में प्रति परिवार पर जमीन भी काफी थी। इसीलिए परिवार के आधार पर कृषि-कार्य को ठीक करने के लिये यह आवश्यक था कि प्रति परिवार काम करने योग्य सदस्यों की संख्या भी अधिक हो। इसीलिये पिता, उसने भाई, उनकी पत्नी व बच्चे सब एकमात्र सम्मिलित रूप में एक ही परिवार में रहते और संयुक्त परिवार प्रणाली को बनाये रखते थे। आज परिस्थितियाँ बदल रही हैं और इसीलिये संयुक्त परिवार का भी निरन्तर विघटन हो रहा है। परिवार के अनेक कार्य अन्य समितियों और संस्थाओं को हस्तान्तरित होते जा रहे हैं। आज परिवार में बड़े-बूढ़ों की पुरानी बातों को बहुत कम माना जाता है और मजे की बात तो यह है कि बड़े-बूढ़े भी नई पीढ़ी को देखते हुए अपने विचारों में धीरे-धीरे परिवर्तन ला रहे हैं। परिवार में परम्परागत त्यौहार अब भी मनाये जाते हैं परन्तु केवल नाममात्र के लिये। इसके अतिरिक्त उनको धार्मिक त्यौहार न समझकर, एक सामाजिक अवसर अधिक माना जाता है। इस प्रकार परिवार के धार्मिक कार्यों में भी काफी कमी हुई है। पूजा-पाठ, कथा, माधु-सन्तों में विश्वास आदि सभी बातों में लौकिक बातों का समावेश हो रहा है। स्पष्ट ही है कि परिवार पर लौकिकीकरण का अत्यधिक प्रभाव पड़ा है।

5. ग्रामीण समुदाय में लौकिकीकरण

(Secularization in Village Community)

जहाँ एक ओर नगरों में पर्याप्त लौकिकीकरण हुआ है, वहाँ दूसरी ओर ग्रामीण समुदाय भी इस प्रक्रिया से अप्रभावित नहीं हैं। आज ग्रामीण समुदायों में निरन्तर जाति-पंचायतों की शक्ति घटती जा रही है और उनका स्थान जनता द्वारा चुने हुए प्रतिनिधियों द्वारा संगठित पंचायतों ने ले लिया है। एक अर्थ में, जैसाकि डॉ० श्रीनिवास ने भी कहा है कि, ग्रामीण समुदायों में राजनीतिकरण (Politicization) की प्रक्रिया चल रही है। आज ग्रामों में प्रत्येक व्यक्ति राजनीति में सक्रिय भाग लेने का इच्छुक है। देश-विदेश की राजनीतिक बातों का ज्ञान करने की सभी की उत्कट इच्छा रहती है। शाम को चौपाल पर अब धार्मिक या सामाजिक विषयों पर विचार करने की बजाय, राजनीतिक बातों पर वहस होती है। ग्रामीण जीवन में अब एकतन्त्र की बजाय प्रजातन्त्र का राज्य है क्योंकि अब जमींदार और साहूकार के राजनीतिक अधिकार समाप्त हो गए हैं। पढ़न का ग्रामवासी जितना भोला-भाला, सीधा-सरल और दबल होता था, आज उतना ही अपने अधिकारों के प्रति जागरूक होता जा रहा है।

इतना ही नहीं, ग्रामीण समुदाय के आर्थिक, सामाजिक और धार्मिक जीवन में भी पर्याप्त लौकिकीकरण हो रहा है। ग्रामों में भी आज अन्तर्जातीय विवाह देखने को

मिलते हैं, उनका जीवन-स्तर ऊँचा हो रहा है, उनमें से बाल-विवाह की प्रथा समाप्त होती जा रही है, विधवा-विवाह से सम्बन्धित दृष्टिकोणों में भी परिवर्तन आ रहा है। इसके अतिरिक्त जाति-प्रथा और संयुक्त परिवार का भी विघटन हो रहा है। इसी प्रकार आर्थिक जीवन में भी आज पहले जैसी कठोरता का पालन नहीं किया जाता है। विज्ञान के प्रभाव में आकर धर्म का महत्व भी ग्रामीण समुदाय में अत्यधिक कम हुआ है। पहले ग्रामवासी धर्म, पूजा-पाठ इत्यादि को जीवन का एक अभिन्न अंग मानते थे, परन्तु आज उनके दृष्टिकोणों में पर्याप्त संशोधन व परिवर्तन आ रहा है। वे पहले की तरह अब अन्धविश्वासी और रूढ़िवादी नहीं रहे, साथ ही वे धार्मिक बातों को अब उतना महत्व नहीं देते हैं जितना कि पहले देते थे।

यही है भारतीय जीवन में लौकिकीकरण की प्रक्रिया की एक विनम्र रूप-रेखा।

जाति-प्रथा के अन्तर्गत चार प्रमुख वर्ण या जातियाँ—ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र हैं। इन चारों के अतिरिक्त एक 'पंचम वर्ण' भी है जिसके सदस्यों को परम्परागत रूप में अस्पृश्य या अछूत जाति कहा जाता था, पर आज उन्हें 'हरिजन' या 'अनुसूचित जाति' कहते हैं। 1971 की जनगणना के अनुसार इसकी कुल संख्या 8,24,80,251 है, अर्थात् भारत की कुल जनसंख्या का 14.60 प्रतिशत लोग अनुसूचित जातियों के हैं। इन तथाकथित अछूत जातियों के प्रति उच्च जातियों के सदस्यों द्वारा अपनाये गये छुआछूत की भावना व भेदभावपूर्ण व्यवहार को ही अस्पृश्यता कहा जाता है। अस्पृश्यता को महात्मा गांधी ने हिन्दुओं की वर्ण-व्यवस्था पर एक काला घन्टा—सबसे बड़ा कलंक—कहा है।

अस्पृश्यता का अर्थ

(Meaning of Untouchability)

अस्पृश्यता उस परम्परागत मनोभाव तथा व्यवहार-प्रतिमान का द्योतक है जिसके अनुसार पंचम वर्ण के सदस्य अछूत या न छूने योग्य हैं और इसीलिये उनसे एक सामाजिक दूरी बनाये रखना न केवल उच्च जातियों का कार्य है अपितु अस्पृश्य जातियों का भी कर्तव्य है कि वे उच्च जाति के सदस्यों से दूर रहें और उन्हें न छूएँ। 'अस्पृश्यता' नाम से ही स्पष्ट है कि यह छुआछूत की भावना भेदभाव पर आधारित है। यह भेदभाव लोगों के व्यवहारों में प्रगट होता है। यह माना जाता था कि पंचम वर्ण के लोग निकृष्ट व अपवित्र होते हैं। अतः उन्हें छूना मना था और छू जाने पर नहाना अनिवार्य था। साथ ही, चूँकि वे 'अछूत' थे, इसलिये उनके साथ उठना-बैठना, खाना-पीना या अन्य सामाजिक सम्बन्ध रखने का प्रश्न ही नहीं उठता था और न ही उन्हें मन्दिर में प्रवेश तक का अधिकार दिया जाता था क्योंकि अछूत अपवित्र होने के कारण मन्दिर जैसे पवित्र स्थान में प्रवेश पाने के अधिकारी हो ही नहीं सकते। जहाँ उच्च जाति के लोग रहते थे वहाँ वे रह नहीं सकते थे, जैसी पोशाक उच्च जाति के सदस्य पहनते थे वैसी पोशाक उनके लिये वर्जित थी, जिस तालाब, कुआँ या नदी को उच्च जाति के लोग व्यवहार करते थे, उन्हें अछूत लोग छू भी नहीं सकते थे, इत्यादि। तथाकथित अछूत जातियों के प्रति समस्त मनोभाव तथा व्यवहार-प्रतिमान को ही अस्पृश्यता कहा जाता है। पर स्मरण रहे कि अस्पृश्यता के अन्तर्गत केवल अछूत जातियों के प्रति उच्च जातियों के मनोभाव तथा व्यवहार-प्रतिमान (behaviour pattern) ही सम्मिलित नहीं हैं, अपितु उच्च जातियों के प्रति अछूत जातियों के मनोभाव व व्यवहार-प्रतिमान भी सम्मिलित हैं। अछूत जाति के सदस्य भी उच्च जाति के लोगों को श्रेष्ठ मानते थे, उनका आदर करते थे, उनके प्रकोप से डरते थे, उनके प्रति श्रद्धापूर्वक व्यवहार करते थे, उनसे दूरी बनाये रखते थे, उन्हें छूते नहीं थे; और वे 'अछूत' हैं इस सम्बन्ध में सचेत रहते थे।

अस्पृश्यता—ऐतिहासिक पृष्ठभूमि

(Untouchability—Historical Background)

वैदिक ग्रन्थों में चाण्डाल, निषाद आदि शब्दों का प्रयोग मिलता है। ये लोग समाज के सबसे नीचे स्तर के लोग समझे जाते थे। पर वे अस्पृश्य थे या नहीं, इसका स्पष्ट पता नहीं चलता है। डॉ० घुरिये (Ghurye) के अनुसार उत्तर-वैदिक काल में यज्ञ, धर्म आदि से सम्बन्धित शुद्धता या पवित्रता की धारणा अत्यन्त प्रखर थी, परन्तु अस्पृश्यता की धारणा आज जिस रूप में है उस युग में नहीं थी। स्मृति-काल में चाण्डाल आदि के रहने की व्यवस्था गाँव के बाहर थी। धर्मशास्त्र-युग में अस्पृश्यता की भावना सबसे पहले स्पष्ट हुई और एक ब्राह्मण नारी और एक शूद्र पुरुष से उत्पन्न सन्तानों को, जिन्हें चाण्डाल कहकर सम्बोधित किया गया, सबसे घृण्य समझा गया। मनु के युग में ऐसे अस्पृश्य लोगों को न केवल गाँव से निकाल दिया गया, बल्कि उन्हें ऐसे कार्यों और कर्त्तव्यों को सौंपा गया जिससे यह स्पष्ट हो जाए कि वे मनुष्य-जाति के सबसे अधम नमूने हैं।¹ जैन और बौद्ध धर्म से प्रभावित लोगों ने इनकी दयनीय अवस्था से आकर्षित होकर इनकी अवस्था को सुधारने का प्रयत्न किया। परन्तु इस सम्बन्ध में मुसलमानों की राज्य स्थापना होने तक कोई विशेष उन्नति नहीं हो पाई। नानक, चैतन्य, कबीर आदि के प्रयत्न इस दिशा में विशेष उल्लेखनीय हैं। उच्च जातियों के अत्याचारों से पीड़ित होकर हजारों अस्पृश्यों ने अपने को इस्लाम धर्म में परिवर्तित कर लिया। अंग्रेजों के आने के बाद अस्पृश्य जातियों की नियोग्यताएँ धीरे-धीरे कम होती गईं। आज हमारी सरकार इस सम्बन्ध में विशेष प्रयत्नशील है।

अस्पृश्यता की उत्पत्ति

(Origin of Untouchability)

1. प्रजातीय व्याख्या (Racial Explanation)—अस्पृश्यता की उत्पत्ति के सम्बन्ध में जो विभिन्न धारणाएँ हैं उनमें प्रजातीय व्याख्या एक है। सर्वश्री रिजले (Risley), मजूमदार (Majumdar) और घुरिये (Ghurye) प्रजातीय व्याख्या प्रस्तुत करते हैं। डॉ० घुरिये के अनुसार इण्डो-आर्यन लोगों ने यहाँ के मूल निवासियों को घृणा की दृष्टि से देखा और 'दास' के नाम से सम्बोधित करते हुए उन्हें समाज में सबसे नीचा स्थान दिया और अपनी धार्मिक पूजा-संस्कार आदि से उन्हें बिल्कुल अलग रखा। डॉ० घुरिये (Ghurye) के शब्दों में, "पवित्रता का विचार, चाहे वह व्यवसाय या संस्कार सम्बन्धी हों, जोकि जाति की उत्पत्ति का एक कारण माना जाता है, अस्पृश्यता के विचार और आचरण की आत्मा है।"² डॉ० मजूमदार ने लिखा है कि तथाकथित 'दलित' जातियों की नियोग्यताएँ संस्कार सम्बन्धित नहीं हैं, बल्कि इसका आधार सम्भवतः प्रजातीय और सांस्कृतिक भिन्नताएँ

1. "In the age of Manu they were not only excluded from the village but were assigned duties and perquisites which clearly show that they were looked upon as vile specimens of humanity."—G. S. Ghurye, *Caste, Class and Occupation*, Bombay, 1961, p. 219.

2. "Idea of purity, whether occupational or ceremonial, which are found to have been a factor in the genesis of caste are the very soul of the idea and practice of untouchability."—G. S. Ghurye, *Ibid*, p. 214.

हैं।³ इन भिन्नताओं के कारण पृथक्ता की धारणा धीरे-धीरे इतनी कटु हो गई कि कुछ लोगों को छूना भी उचित न समझा गया जिसके फलस्वरूप वे 'अछूत' कहलाए।

2. **व्यावसायिक व्याख्या (Occupational Explanation)**—श्री नेसफील्ड (Nesfield) ने पेशे के आधार पर अस्पृश्यता को समझाने का प्रयत्न किया है। आपके अनुसार घृणित या गन्दे पेशे ही अस्पृश्यता की उत्पत्ति के प्रमुख कारण हैं। वे लोग जो ऐसे पेशे करते हैं, जो कि सामाजिक दृष्टिकोण में गन्दे या अपवित्र हैं, उनसे छुआछूत मानी जाती है। इसका उदाहरण आज भी मिलता है। एक चमार भी घोड़ी में छुआछूत मानता है क्योंकि घोड़ी स्त्रियों के मासिक-धर्म (menstruation) से गन्दे कपड़े तक धोता है। इस प्रकार गन्दे पेशों को करने वाले व्यक्ति या समूह गन्दे या अछूत माने गए।

3. **'माना' का सिद्धान्त (Theory of Mana)**—श्री हट्टन (Hutton) ने 'माना' और दूसरे सामाजिक निषेधों के आधार पर अस्पृश्यता को समझाने का प्रयत्न किया है। आपके मतानुसार 'माना' के आधार पर अपरिचित व्यक्ति और घृणित या गन्दे पेशों के करने वालों से अकल्याण होने या नुकसान पहुँचने के डर से लोगों में छुआछूत की धारणा पनपी। नागा जनजाति इसका एक उत्तम उदाहरण है। श्री हट्टन के सिद्धान्त में धार्मिक पहलू भी आ जाता है। मंगल-कलश, पवित्र जानवर, धर्म-गुरु आदि की धारणाएँ भी अस्पृश्यता की धारणा को पनपाने में काफी सहायक सिद्ध हुईं।

4. **परम्परागत व्याख्या (Traditional Explanation)**—मनु के विधान के अनुसार प्रतिलोम विवाह को ही अस्पृश्यता की उत्पत्ति का कारण मानना चाहिए। ऐसे विवाह से उत्पन्न सन्तानों को 'वर्ण-संकर' माना गया और चूँकि इन्हें माता-पिता में से किसी का भी कुल नहीं मिला इस कारण उन्हें हिन्दू समाज से अलग रखा गया जिससे अछूत जाति का निर्माण हुआ। मनु ने एक ब्राह्मण लड़की और एक क्षत्र लड़के से उत्पन्न सन्तान को चाण्डाल बतलाया है।

5. **गांधीजी के विचार (Views of Gandhiji)**—महात्मा गांधी के मतानुसार, अस्पृश्यता का मूल उद्गम धर्म नहीं है। उच्चता के छोटे अहंकार ने ही अस्पृश्यता को जन्म दिया है। अस्पृश्यता की उत्पत्ति के सम्बन्ध में गांधीजी का मत है कि हिन्दू समाज तथा धर्म के क्रमिक विकास में एक समय ऐसा था जबकि गाय की रक्षा करना धर्म का एक अंग हो गया और इसीलिए गाय को 'गऊमाता' कहकर माना जाने लगा। समाज की इस अवस्था में कुछ लोग ऐसे भी थे जो कि उस समय भी अधिक-सुखमय न थे और गऊ का मांस खाते थे। स्वभावतः ऐसे लोगों से, समाज की अधिकांश जनता, जो कि गाय को माता के रूप में पूजती थी, कोई भी सम्पर्क नहीं रखती थी। उस समय सामाजिक नियम बहुत कठोरता से लागू किया जाता था। फलतः गऊमांस खाने वालों को समाज से निकाल दिया गया। यह सामाजिक-पाप पिता से पुत्र को पीढ़ी-दर-पीढ़ी हस्तान्तरित होता चला गया। इस प्रकार सामाजिक बहिष्कार का वह नियम, जो कि प्रारम्भ में अच्छे उद्देश्य से लागू किया गया था, धीरे-धीरे परम्परागत और कटु होता गया और स्थायी रूप से ही सामाजिक

3. "The disabilities of the so-called 'depressed' castes are not ceremonial but probably founded on racial and cultural differences....."—D. N. Majumdar, *Races and Cultures of India*, Bombay, 1958, p. 327.

जीवन में जड़ पकड़कर विष-वृक्ष की भाँति विष-फल ही उत्पन्न करता गया और समाज के एक लाभकारी बड़े अंग को 'अस्पृश्य' बनाए रखा।

उपर्युक्त पाँच व्याख्यानों में आंशिक सत्यता होते हुए भी उन्हें सम्पूर्ण नहीं कहा जा सकता है क्योंकि अस्पृश्यता जाति-प्रथा का ही एक अंग होने के कारण एक जटिल धारणा है, और इसकी उत्पत्ति किसी एक विशिष्ट कारण से नहीं बल्कि अनेक कारणों से हुई है। सांस्कृतिक और प्रजातीय भिन्नताएँ, धर्म से सम्बन्धित पवित्रता की धारणा, सामाजिक निषेध, गन्धे और घृणित पेशों के प्रति सामाजिक मनोवृत्ति आदि सभी कारणों ने मिलकर अस्पृश्यता को जन्म दिया है। ठीक ही कहा गया है कि "बहिष्कृत जातियों के स्तर की उत्पत्ति अंशतः प्रजातीय, अंशतः धार्मिक और अंशतः सामाजिक प्रथा का परिणाम है।"⁴

अस्पृश्य जातियों की निर्योग्यतायें (Disabilities of Untouchable Castes)

डॉ० मजूमदार (Majumdar) ने स्पष्ट ही लिखा है, "अस्पृश्य जातियाँ वे हैं जो अनेक सामाजिक और नैतिक निर्योग्यताओं का शिकार हैं; इनमें से अनेक निर्योग्यताएँ उच्च जातियों द्वारा परम्परात्मक तौर पर निर्धारित और सामाजिक-तौर पर लागू की गई हैं।"⁵ भारत के स्वाधीन होने के बाद अस्पृश्यता को वैधानिक रूप से समाप्त कर दिया गया है और अस्पृश्य जातियों को आज अन्य नागरिकों की भाँति समस्त अधिकार दे दिए गए हैं। स्वतन्त्रता के पश्चात् अस्पृश्य जातियों के स्तर में यह महान् परिवर्तन है। यह सब सच है और यह भी अस्वीकार नहीं किया जा सकता है कि इन जातियों की वैधानिक निर्योग्यताएँ दूर हो गई हैं, परन्तु जैसा कि श्री पनिकर (Panikkar) का कथन है, यह मान लेना सर्वथा गलत होगा कि अस्पृश्यता समाप्त हो जाने की घोषणा कर देने से ही अस्पृश्यों की सामाजिक निर्योग्यताएँ भी दूर हो गई हैं।⁶ इस सम्बन्ध में किसी भी निष्कर्ष पर आने से पहले इन अस्पृश्य जातियों की समस्त निर्योग्यताओं का विस्तृत ज्ञान आवश्यक है। वे निम्न हैं—

(1) आर्थिक निर्योग्यतायें (Economic Disabilities)

इसमें लेश मात्र भी सन्देह नहीं कि आर्थिक कारण किसी भी समूह के सुख और प्रगति का सबसे प्रमुख कारण है और इसलिए कहा जाता है कि राजनीतिक

4. "The origin of the position of exterior castes is partly racial, partly religious and partly a matter of social custom."

5. "The untouchable castes are those who suffer from various social and political disabilities, many of which are traditionally prescribed and socially enforced by the higher castes."—D. N. Majumdar, *op. cit.*, p. 326.

6. "While all this is true and it is undeniable that legal disabilities have vanished, it would be absurd to hold that the social disabilities of the untouchables have ceased to exist with the proclamation of the abolition of untouchability."—K. M. Panikkar, *Hindu Society at cross Roads*, Asia Pub. House, Bombay, 1956, pp. 27-28.

स्वतन्त्रता आर्थिक समानता के बिना केवल एक कल्पना मात्र है। इस सम्बन्ध में हरिजनों की समस्या सबसे गम्भीर है।

(क) पेशों को चुनने की स्वतन्त्रता नहीं (No freedom of choosing occupations)—अपने परम्परात्मक पेशों को छोड़कर हरिजनों को यह अधिकार नहीं था कि वे ऊँची जातियों के पेशों को स्वतन्त्रतापूर्वक चुन सकें। अस्पृश्यता की धारणा के कारण अभी हाल तक उन्हें सब तरह के पेशों को करने की छूट न थी। एक मंगी के लिए क्लर्क होना असम्भव था। इस नियोग्यता के कारण हरिजनों की आर्थिक स्थिति आज भी बहुत दयनीय है और वे निर्धनता से सम्बन्धित सभी कष्टों को झेल रहे हैं।

(ख) भूमिहीन कृषक (Landless Labour)—भारत के अधिकतर भाग में खेती करना ऊँची जातियों का एकाधिकार माना जाता है। इस कारण यह नहीं हो सकता कि हरिजनों का भूमि पर अधिकार हो। वे अधिकतर भूमिहीन श्रमिक हैं। यह कहा जाता था कि यह उनका सौभाग्य होगा अगर उन्हें ऊँची जाति के लोग केवल अपने खेत में ही काम करने का अधिकार दे दें। जमींदारी-प्रथा के समाप्त होने से पूर्व इनसे गुलामों की तरह बेगार ली जाती थी। श्री पनिक्कर ने उचित ही कहा है कि उस समय जब अस्पृश्यता की धारणा अपने परम्परात्मक रूप में कार्य कर रही थी, अस्पृश्यों की स्थिति गुलामों से भी गई-बीती थी। गुलाम कम-से-कम अपने मालिक की चल-सम्पत्ति होने के कारण मालिकों से कुछ व्यक्तिगत सम्बन्ध रखते थे और उनकी आर्थिक महत्ता के कारण उनके साथ बर्बरता का व्यवहार अधिक नहीं किया जाता था। पर हरिजन लोगों के मामले में इसका भी अभाव था। यह एक प्रकार का "गुलामों पर सामुदायिक अधिकार" (communal slave holding) था। प्रत्येक व्यक्ति का पृथक्-पृथक् गुलाम न होकर प्रत्येक गाँव में उनकी सेवा करने के लिए अनेक अस्पृश्य परिवार होते थे जो कि 'सामुदायिक गुलामी' का द्योतक है।

(ग) सबसे कम वेतन (Least wage)—निःसन्देह हरिजन लोग समाज के लिए सबसे आवश्यक और मूल्यवान सेवा करते हैं। गांधीजी के शब्दों में, "डाक्टर यदि डाकटरी छोड़ दे तो उसके रोगी का सर्वनाश हो जाये। किन्तु यदि अच्छा अपना काम बन्द कर दे तो जगत् का ही विनाश हो जाये।" परन्तु इस काम का पारिश्रमिक उन्हें सबसे कम मिलता है, यहां तक कि उनको तन ढकने को कपड़ा और पेट भरने को अन्न भी नहीं मिल पाता है। वे आधे पेट खाकर, आधे नंगे रहकर जीवन व्यतीत करते रहते हैं और अन्त में पशुओं की भांति एक घूँट दवा के बिना ही मरते हैं।

(घ) श्रम-विभाजन में निम्नतम स्थान (Lowest position in division of labour)—अस्पृश्यता की धारणा के कारण मिल, फैक्टरी आदि में उनको अच्छे पदों पर काम करने का अवसर ही नहीं मिल पाता है। उन्हें केवल वे काम ही मिलते हैं जो कोई नहीं करता है। योग्यता होने पर भी उचित काम न मिलने से उत्पादन को काफी घटका पहुंचता है और उनकी आर्थिक स्थिति गिर जाती है।

(2) सामाजिक निर्योग्यतायें (Social Disabilities)

सामाजिक क्षेत्र में भी हरिजनों की निर्योग्यतायें अनेक हैं जिनके कारण

उनकी समस्या न केवल गम्भीर ही है बल्कि दयनीय भी। ये सामाजिक नियोग्यतायें निम्न हैं—

(अ) समाज में निम्नतम स्थिति (Lowest status in society)—अस्पृश्यता की कारण ने हरिजनों को समाज में निम्नतम स्थिति प्रदान की है। इसी कारण ऊँची जातियों के सभी व्यक्ति उन्हें घृणा की दृष्टि से देखते हैं। उनके स्पर्श से ही केवल बचा नहीं जाता है बल्कि उनके दर्शन और छाया तक भी उन्हें अपवित्र करती है। एक मानव का दूसरे मानव के द्वारा ही इतना अपमान उनकी नियोग्यता का चरम कटु रूप है। इससे बड़ी नियोग्यता और क्या होगी ?

(ब) शिक्षा सम्बन्धी नियोग्यतायें (Disabilities relating to education)—अभी हाल तक अछूतों के लड़के-लड़कियों को स्कूल और कॉलेज में भर्ती होने से रोका जाता था। उन्हें शिक्षा प्राप्त करने की स्वतन्त्रता नहीं थी। इसका फल यह था कि प्रायः शत-प्रतिशत हरिजन अशिक्षित थे और इसी कारण हर प्रकार के दुःख-दर्द भी इन्हीं के हिस्से में आते थे।

(स) अन्य सामाजिक नियोग्यतायें (Other social disabilities)—अनेक स्थानों में हरिजन उन सड़कों पर चल नहीं सकते थे जिन पर ऊँची जाति के लोग चलते थे। उनके लिये अलग सड़क थी। उसी प्रकार वे उन कुओं से पानी नहीं भर सकते थे या उन तालाबों को व्यवहार में नहीं ला सकते थे जिन्हें ऊँची जाति के लोग व्यवहार में लाते थे। छात्रावासों में रहने, होटल, जलपान-गृह आदि में घुसने के सम्बन्ध में अनेक नियोग्यतायें उन पर लाद दी गई थीं। दक्षिण भारत में उनकी स्थिति इन सम्बन्धों में सचमुच ही दयनीय थी। जिस प्रकार हरिजनों को बाल बनवाने, साफ कपड़े पहनने, सोने के जेवर आदि व्यवहार करने और गांव में रहने की आज्ञा नहीं थी, उसी प्रकार ऊँची जातियों के किसी भी व्यक्ति के निकट आने पर सम्मानपूर्वक खड़े हो जाना उनके लिये अनिवार्य था।

(द) निवास-स्थान सम्बन्धी नियोग्यतायें (Disability relating to residence)—हरिजनों को प्रायः शहरों में भी उन मुहल्लों में रहने नहीं दिया जाता है जिनमें ऊँची जाति के लोग रहते हैं। उनके लिये अलग बास्तियाँ होती हैं जहाँ वे पशुओं से भी खराब अवस्था में रहते हैं। गांव में यह नियोग्यता और भी कटु है। हरिजनों को प्रायः गांव में रहने नहीं दिया जाता है। गांव से बाहर उनकी बस्ती बनती है।

(य) अछूतों में भी अछूतों की नियोग्यतायें (Untouchability among untouchables)—आश्चर्य की बात तो यह है कि हरिजनों में आपस में ही छुआछूत की भावना है जिसके फलस्वरूप अनेक हरिजनों की नियोग्यतायें और कटु प्रतीत होती हैं। अछूतों का भी अपना एक जातीय संगठन है और हिन्दुओं की भांति उनमें भी असंख्य उपजातियाँ हैं जिनमें से प्रत्येक अपने को श्रेष्ठ प्रमाणित करने का प्रयत्न कर सकती है।¹⁷⁸ एक मोची एक घोबी को या एक घोबी एक मेहतर को कभी नहीं छूता है। इससे भी आश्चर्य की बात यह है कि दक्षिण भारत में ऐसे भी स्थान हैं

3. "But the strange thing was that the untouchables themselves lived within a caste organization of their own.....Among them no less than among caste Hindus, there was an infinite gradation of sub-castes each claiming superiority over the other."—K. M. Panikkar, *Ibid.*, p. 30.

जहां न केवल ब्राह्मण लोग ही हरिजनों के स्पर्श से बचने की कोशिश करते हैं बल्कि हरिजन लोग भी ब्राह्मणों के पास जाना या उन्हें देखना अच्छा नहीं समझते हैं।⁹⁹ सामाजिक नियोग्यता का वास्तव में यह एक अनोखा रूप है।

(3) धार्मिक नियोग्यतायें (Religious Disabilities)

धार्मिक दृष्टिकोण से भी हरिजनों की नियोग्यताएँ अनेक हैं। कुछ साल पहले तक हरिजनों को मन्दिर में प्रवेश करने का अधिकार नहीं था। कानून द्वारा आज इस नियोग्यता को दूर कर दिया गया है। फिर भी गांवों में कहीं-कहीं यह नियोग्यता आज भी पाई जाती है।

इसके अतिरिक्त धार्मिक पुस्तकों के पढ़ने और धार्मिक संस्कारों में भाग लेने के सम्बन्ध में भी नियोग्यताएँ थीं। हरिजन लोग धार्मिक उपदेशों को सुन नहीं सकते और न ही श्मशान घाटों में अपने मुर्दों को जला सकते थे। ब्राह्मण इनके धार्मिक संस्कारों में पुरोहित नहीं करते हैं।

उपयुक्त नियोग्यताओं में मन्दिर में प्रवेश या देवी-देवताओं के पूजन सम्बन्धी नियोग्यताएँ ही सबसे प्रमुख हैं, क्योंकि धर्म के माध्यम से नैतिक उन्नति ही नहीं होती वरन् सामाजिक एकता की भावना भी बढ़ती है। इस कारण इन नियोग्यताओं से हरिजनों के नैतिक स्तर को ही नहीं बल्कि राष्ट्रीय एकता को भी काफी धक्का पहुँचा है।

(4) राजनीतिक नियोग्यतायें (Political Disabilities)

हरिजनों जातियों की राजनीतिक नियोग्यताएँ भी अनेक हैं। साधारण नागरिक के रूप में जो सामान्य अधिकार प्राप्त होने चाहिये थे उनमें से अधिकतर इन हरिजनों को नहीं प्राप्त थे। वोट देने का अधिकार न देना, शिक्षा प्राप्त करने का अधिकार न देना, नौकरी में नियुक्ति सम्बन्धी और वेतन सम्बन्धी समान अधिकार न देना इत्यादि राजनीतिक नियोग्यताओं के अन्तर्गत आते हैं। वर्तमान सरकार से पहले इस सम्बन्ध में सरकारी सुरक्षा या कानून के बराबर था।

उपयुक्त विवेचना से स्पष्ट है कि 'तथाकथित अछूतों की समस्या मुख्य रूप से सामाजिक और आर्थिक है, न कि धार्मिक या राजनीतिक।'¹⁰⁰

नियोग्यताओं के प्रभाव (The Consequences of Disabilities)

1. सामाजिक एकता में बाधा (Hindrance to Social Solidarity)—
उपयुक्त नियोग्यताओं के कारण अनेक हरिजनों ने मुसलमान और ईसाई धर्म को स्वीकार कर लिया है, क्योंकि वे इन धर्मों के समानता के सिद्धान्त से आकर्षित हुए,

9. "We are told by competent authorities that it is not the Brahmins alone who avoid the Holiyas, but the latter must not approach the former without being sure that his influence has become innocuous so far as himself and material possessions are concerned."—C. N. Majumdar, *op. cit.*, p. 288.

10. "The problem of the so-called untouchables is mainly social and economic and not religious or political."

व्यावहारिक रूप से समानता हो या न हो, इतना अवश्य था कि ऊँची जातियों का अत्याचार ही अछूतों के धर्म परिवर्तन का एक प्रमुख कारण बन गया।

2. राजनीतिक फूट (Political Disunity)—ऊँची जातियों के द्वारा लादा हुआ नियोग्यताओं का दूसरा प्रभाव राजनीतिक फूट था। इन नियोग्यताओं के कारण हरिजनों के मन में एक यह धारणा क्रमशः बढ़ होती रही कि वे हिन्दू समाज के कोई नहीं हैं। उन्होंने अपने को हिन्दू समाज का एक अंग मानने से इनकार कर दिया और प्रायः अपने को हिन्दू कहना तक छोड़ दिया। इसके फलस्वरूप राजनीतिक एकता को भारी धक्का पहुँचा। 13 नवम्बर 1931 को द्वितीय गोलमेज सम्मेलन (Round Table Conference) में डॉ॰ अम्बेदकर की इस माँग का, कि हरिजनों को पृथक् राजनीतिक अधिकार मिलना चाहिये, विरोध करते हुए महात्मा गांधी ने जोरदार शब्दों में कहा था कि “जो लोग अछूतों के राजनीतिक अधिकारों की बात करते हैं, वे भारत को नहीं पहचानते, और हिन्दू समाज आज किस प्रकार बना हुआ है, इसे नहीं जानते। इसीलिये मैं अपनी पूरी शक्ति से यह कहूँगा कि इस बात का विरोध करने वाला यदि मैं अकेला भी रहूँ, तो मैं अपने प्राणों की बाजी लगाकर इसका विरोध करूँगा।”

3. आर्थिक असमानताएँ (Economic Inequalities)—आर्थिक नियोग्यताओं के कारण अन्य लोगों की तुलना में हरिजनों की आर्थिक असमानताएँ बढ़ती ही गईं। इसने समाज के एक बड़े भाग को अपना आर्थिक उत्थान करने से रोका जिसका प्रभाव पूरे समाज की आर्थिक दशा पर पड़ा। आर्थिक मामलों में हरिजनों की उपेक्षा हमारे लिये कितनी हानिप्रद है, इस सम्बन्ध में गांधीजी ने कहा था, “पश्चिम के वैज्ञानिक इस निर्णय पर पहुँचे हैं कि समाज के सेवकों की उपेक्षा करने से, उनकी देख-भाल न करने से समाज की भारी आर्थिक हानि होती है।”

4. स्वास्थ्य का नीचा स्तर (Lower standard of Health)—अस्पृश्यता की सामाजिक नियोग्यताओं ने उनको शहर या गांव के ऐसे कोने में बसने को बाध्य किया जहाँ पर स्वास्थ्य सम्बन्धी कोई भी सुविधा प्राप्त नहीं है जिसके फलस्वरूप इतनी बड़ी जनसंख्या का स्वास्थ्य-स्तर बहुत ही नीचे हो गया है। यह पूरे समाज की प्रगति के रास्ते में बहुत बड़ी बाधा है।

5. अशिक्षा और दरिद्रता (Illiteracy and Poverty)—अस्पृश्यता जातियों की शिक्षा सम्बन्धी नियोग्यता के कारण ही भारतवर्ष की इतनी बड़ी जनसंख्या अज्ञानता के अन्धकूप में पड़ी सड़ती रही है। इतना ही नहीं, श्रम-विभाजन की कठिनाई, उच्च वर्ग की शोषण नीति, श्रमिक गतिशीलता में बाधा आदि के कारण हरिजन निर्धनता के निम्न स्तर पर निवास करती रही है।

सुधार आन्दोलन (Reform Movement)

सुधार आन्दोलन के चार पहलू (Four Aspects of Reform Movement)

हरिजन की दशा को सुधारने के लिये जो आन्दोलन हुआ और हो रहा है उसे चार भागों में विभाजित किया जा सकता है—

1. प्रारम्भिक सुधार आन्दोलन (Preliminary Reform Movement)—

हरिजन सुधार आन्दोलन का श्रीगणेश दक्षिण भारत में हुआ जहाँ पर कि इनकी दशा वास्तव में बहुत ही दयनीय थी। इस प्रारम्भिक आन्दोलन के प्रथम नेता पूना के श्री ज्योतिबा फूले (Jyotiba Phule) थे।¹¹ श्री वी० आर० शिंदे (V. R. Shinde) के अनुसार सन् 1865 में बंगाली ब्राह्मण शशिपद बंद्योपाध्याय ने बरानगर (बंगाल) में काम करने वाले अस्पृश्य श्रमिकों की अवस्था सुधारने का प्रयत्न किया था।¹² इनके बाद के प्रयत्नों में श्री शिंदे के द्वारा स्थापित बम्बई में 'दलित वर्ग मिशन' का नाम उल्लेखनीय है।¹³ इसके बाद डाक्टर अम्बेदकर के नेतृत्व में आन्दोलन ने और भी जोर पकड़ा और 'अखिल भारतीय दलित संघ' (All India Depressed Union) तथा 'अखिल भारतीय दलित वर्ग फेडरेशन' (All India Depressed Class Federation) नामक समितियाँ बनीं। सन् 1914 में सबसे पहले ट्रावनकोर में अछूतों ने अपने धार्मिक अधिकार को प्राप्त करने के लिये आंदोलन किया और कुछ सफलता भी प्राप्त की।

सन् 1931 के गोलमेज सम्मेलन के पश्चात् गांधीजी ने अपना अनशन प्रारम्भ किया। बम्बई में इस सम्बन्ध में एक परिषद् का निर्माण किया गया। गांधीजी के उपवास भंग करने के बाद ही परिषद् ने बम्बई में एक सभा की। इसमें एक प्रस्ताव के द्वारा 'हरिजन सेवक संघ' (Har Jan Sewak Sangh) के नाम से एक विख्यात संस्था की स्थापना की गई। इस परिषद् ने पंडित मदन मोहन मालवीय की अध्यक्षता में सर्वसम्मति से यह प्रस्ताव स्वीकृत किया कि "यह परिषद् निश्चय करती है कि अब भविष्य में हिन्दू-जाति में किसी को जन्म से अस्पृश्य न समझा जाएगा, और जिन्हें अब तक अस्पृश्य समझा जाता रहा है उन्हें अन्य हिन्दुओं की भाँति ही मन्दिरों, कुओं, पाठशालाओं, सड़कों और अन्य सार्वजनिक संस्थाओं के उपयोग का अधिकार रहेगा।"

2. हरिजन सेवक संघ आदि के द्वारा आयोजित सुधार आन्दोलन (Reform Movement by Harijan Sewak Sangh)—जिन समितियों ने हरिजन सुधार आन्दोलन में महत्वपूर्ण कार्य किये हैं, उनमें 'हरिजन सेवक संघ' का नाम सबसे प्रमुख है। इस संघ की प्रत्येक प्रान्त में शाखाएँ हैं। यह संघ प्रचार के द्वारा अस्पृश्यता को दूर करने, समानता की भावना को फैलाने तथा हरिजनों के लिए मन्दिर में प्रवेश आदि के अधिकारों को प्राप्त करने का प्रयत्न करता है। साथ ही अस्पृश्य जातियों की आर्थिक अवस्था को सुधारने के लिए संघ की ओर से व्यवसाय सम्बन्धी ट्रेनिंग देने की व्यवस्था भी है। कुटीर उद्योगों को पनपाने और दवा आदि की सहायता अधिक-से-अधिक प्रदान करने की ओर भी यह संघ प्रयत्नशील है। इसके अतिरिक्त इस संघ ने हरिजनों के कल्याण के लिये स्कूलों को खोलना, छात्र-वस्तियों और पढ़ने की सामग्रियों को गरीब बच्चों को मुफ्त देना तथा हरिजन-वस्तियों की सफाई, कुओं को खोदना आदि कल्याण-कार्यों को संगठित किया है। इस संघ के प्रयत्नों से दक्षिण भारत के अनेक मन्दिरों के द्वार हरिजनों के लिये खोल दिये गये और मद्रास सरकार ने इस सम्बन्ध में एक कानून भी पास किया है। यह संस्था

11. G. S. Ghurye, *op. cit.*, p. 231.

12. *Ibid*, p. 231.

13. *Ibid*, p. 231.

अपने प्रचारकों, पोस्टरों, पच्चों, नाटकों, भजन मण्डलियों, क्रीतनों, सभाओं, मेलों तथा अन्य साधनों द्वारा अस्पृश्यता निवारण का प्रयत्न करती है।

अखिल भारतीय स्तर पर कार्य करने वाली दो अन्य संस्थाएँ 'भारतीय दलित वर्ग संघ' (Bharatiya Depressed Classes League) तथा 'भारत दलित सेवक संघ' (Bharat Dalit Sewak Sangh) हैं। इन संघों में भी अनेक शाखाएँ हैं जो कि देश के विभिन्न स्थानों में फैली हुई हैं। ये संस्थाएँ अस्पृश्यता विरोधी आन्दोलन में सक्रिय भाग लेती हैं। इनका मुख्य कार्य प्रचारात्मक है। इनके प्रचारकों के प्रयत्नों से हरिजनों को मन्दिरों, धर्मशालाओं तथा होटलों आदि में प्रवेश करने तथा कुओं व नलों से पानी भरने के अधिकार प्राप्त हो गये हैं। अस्पृश्यता की भावना को मिटाने के लिये ये संघ विभिन्न जातियों के सामुदायिक भोज भी संगठित करते हैं। इन सब कार्यों के लिए सरकार उन्हें आर्थिक तथा अन्य प्रकार की सहायता प्रदान करती है।

3. अन्य समितियों द्वारा सुधार कार्य (Reform work by other Associations)—इसके अन्तर्गत हम सवर्ण हिन्दुओं के प्रयत्नों को सम्मिलित कर सकते हैं। इस प्रकार की समितियों या संगठनों में ब्रह्म समाज, आर्य समाज, रामकृष्ण मिशन आदि के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। इन संगठनों ने व्यक्तिगत स्वतन्त्रता और समानता के आधार पर हरिजनों को सामाजिक क्षेत्र में ऊँचा उठाने का प्रयत्न किया है जिसके फलस्वरूप नगरों में इनकी अनेक प्रमुख सार्वजनिक नियोगिताएँ दूर हो गई हैं। सरकारी स्कूलों में शिक्षा पाने, मन्दिरों में प्रवेश करने, सार्वजनिक कुओं से पानी भरने आदि के अधिकार हरिजनों को इन संगठनों ने दिलाए हैं।

4. स्वतन्त्रता के पूर्व सरकारी प्रयत्न (Pre-independence Efforts)—कांग्रेस के साथ अन्य समितियों के द्वारा किये गये सुधार आन्दोलन के फलस्वरूप सन् 1930 में अंग्रेजी सरकार ने सार्वजनिक क्षेत्र में इनके उत्थान के लिए कुछ कदम उठाए। सार्वजनिक स्कूलों में शिक्षा की व्यवस्था और नौकरी में विशेष सुविधाएँ दी गई, पर ये प्रायः न के बराबर थीं।

सन् 1935 के विधान में हरिजनों की एक अनुसूची (Schedule) तैयार की गई जिसका मुख्य उद्देश्य उनको कुछ विशेष सुविधाएँ प्रदान करके, उनकी अवस्थाओं को सुधारना था। परन्तु इसमें भी अधिक सफलता प्राप्त न हो सकी। सन् 1936 में जब विभिन्न प्रान्तों में लोकप्रिय कांग्रेसी मन्त्रिमण्डल स्थापित हुआ तो इस लोकप्रिय सरकार ने विभिन्न योजनाएँ हरिजनों की अवस्था को सुधारने के लिये बनाई। मद्रास सरकार ने सबसे पहला कदम उठाया और 'मालाबार मन्दिर प्रवेश अधिनियम' आदि पास किए गये। सन् 1936 से सन् 1940 के बीच सरकार ने हरिजनों के स्वास्थ्य और शिक्षा सम्बन्धी उन्नति के लिये आर्थिक सहायता प्रदान की। सन् 1936 में उत्तर प्रदेश सरकार ने पालियामेंटी सेक्रेटरी के दो पदों को हरिजनों के लिये सुरक्षित कर दिया। पुलिस विभाग में हरिजनों की भर्ती की विशेष व्यवस्था की गई। हरिजन विद्यार्थियों के लिये छात्रवृत्तियाँ भी दी गईं। साथ ही सहकारी समितियाँ भी इनकी आर्थिक सहायता के लिए खोली गईं।

स्वतन्त्रता के पश्चात् सरकारी प्रयत्न : संवैधानिक तथा कानूनी संरक्षण
(Post-independence Governmental Efforts :
Constitutional and Legal Protections)

(क) संवैधानिक रक्षा (Constitutional Safeguards)—स्वतन्त्रता के पश्चात् हरिजनों के उत्थान के लिये किए गये प्रयत्नों में सर्वप्रथम उल्लेखनीय उनके लिए संवैधानिक रक्षा है। स्वतन्त्र भारत के संविधान में उनकी अनेक नियोग्यताओं को दूर करने के सम्बन्ध में नियम रखे गये हैं, जैसे—

अनुच्छेद 15 (Article 15)—(1) राज्य किसी नागरिक के विरुद्ध केवल धर्म, मूलवंश, जाति, लिंग, जन्म-स्थान अथवा उनमें से किसी के आधार पर कोई विभेद नहीं करेगा। (2) केवल धर्म, मूलवंश, जाति, लिंग, जन्म-स्थान अथवा इनमें से किसी के आधार पर कोई नागरिक—(क) दुकानों, सार्वजनिक भोजनालयों, होटलों तथा सार्वजनिक मनोरंजन के स्थानों में प्रवेश के; अथवा (ख) पूर्ण या रूप में राज्य-निधि से पोषित अथवा साधारण जनता के उपयोग के लिये समर्पित कुओं, तालाबों, स्नानघाटों, सड़कों तथा सार्वजनिक समागम स्थानों के उपभोग के बारे में किसी भी नियोग्यता, प्रतिबन्ध या शर्त के अधीन न होगा।

अनुच्छेद 16 (Article 16)—राज्याधीन नौकरियों या पदों पर नियुक्ति के सम्बन्ध में समस्त नागरिकों के लिये अवसर की समानता होगी। केवल धर्म, मूलवंश, जाति, लिंग, जन्म-स्थान, निवास अथवा इनमें से किसी के आधार पर किसी नागरिक के लिए राज्याधीन किसी नौकरी या पद के विषय में न अपात्रता होगी और न विभेद किया जायेगा।

अनुच्छेद 17 (Article 17)—‘अस्पृश्यता’ का अन्त किया जाता है और इसका किसी भी रूप में आचरण निषिद्ध किया जाता है। अस्पृश्यता से उत्पन्न किसी नियोग्यता को लागू करना अपराध होगा जो कानून के अनुसार दण्डनीय होगा।

अनुच्छेद 29 (Article 29)—राज्यनिधि द्वारा पोषित अथवा राज्यनिधि से सहायता पाने वाली किसी शिक्षा संस्था में प्रवेश से किसी भी नागरिक को केवल धर्म, मूलवंश, जाति, भाषा अथवा इनमें से किसी के आधार पर वंचित न किया जायेगा।

अनुच्छेद 38 (Article 38)—राज्य ऐसी सामाजिक व्यवस्था की भरसक कार्यसाधन रूप में स्थापना और संरक्षण करके लोक-कल्याण की उन्नति का प्रयास करेगा जिसमें सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक न्याय राष्ट्रीय जीवन की सभी संस्थाओं को अनप्रमाणित करे।

अनुच्छेद 40 (Article 46)—राज्य जनता के दुर्बलतम विभागों की, विशेष-तया अनुसूचित जातियों तथा अनुसूचित जनजातियों की शिक्षा तथा अर्थ सम्बन्धी हितों की विशेष सावधानी से उन्नति करेगा तथा सामाजिक अन्याय व सब प्रकार के शोषण से उनका संरक्षण करेगा।

(ख) अस्पृश्यता (अपराध) अधिनियम 1955 (The Untouchability Offences Act, 1955)—केन्द्रीय सरकार ने संविधान के अनुच्छेद 15 को विस्तार-पूर्वक लागू करने के लिये इस अधिनियम को पास किया और यह कानून के रूप में 1 जून सन् 1955 से लागू हुआ। इस अधिनियम की मुख्य धाराएं निम्नवत् हैं—

धारा 3 (Clause 3)—(अ) प्रत्येक व्यक्ति को किसी भी सार्वजनिक पूजा के स्थान में प्रवेश करने की स्वतन्त्रता होगी; (ब) प्रत्येक व्यक्ति किसी प्रकार से पूजा प्रार्थना या दूसरे धार्मिक संस्कार करने में स्वतन्त्र होगा; (स) प्रत्येक व्यक्ति को धर्म सम्बन्धी पवित्र नदी, तालाब आदि में नहाने या पानी देने की स्वतन्त्रता होगी; (द) इन नियमों का पालन न करने पर सरकार द्वारा दी गई कोई भी सहायता बन्द की जा सकती है या जमीन छीनी जा सकती है।

धारा 4 (Clause 4)—प्रत्येक व्यक्ति को (क) किसी दुकान, जलपान-गृह, होटलों या सार्वजनिक मनोरंजन के स्थान में प्रवेश करने और धर्मशालाओं या मुसाफिरखानों के बर्तनों तथा अन्य चीनों को व्यवहार में लाने की स्वतन्त्रता होगी; (ख) किसी भी पेशे, व्यापार या उद्योग को चुनने और करने की स्वतन्त्रता होगी; (ग) किसी भी नदी, कुएँ, नल, घाट, श्मशान या कब्रिस्तान के स्थानों को व्यवहार में लाने की स्वतन्त्रता होगी; (घ) साधारण जनता के लिये बनाई गई धर्माथ संस्थाओं के लाभ और सेवाओं को उपभोग करने का पूर्ण अधिकार होगा; (ङ) किसी भी मुहल्ले में जमीन खरीदने, मकान बनवाने और रहने की स्वतन्त्रता होगी; (च) किसी भी धर्मशाला, सराय आदि से लाभ उठाने का पूर्ण अधिकार होगा; (छ) किसी भी सामाजिक या धार्मिक संस्कार या प्रथा को अपनाने की स्वतन्त्रता होगी; (ज) किसी भी प्रकार के जेवर या अन्य चीजों को पहनने की स्वतन्त्रता होगी।

धारा 5 (Clause 5)—(अ) प्रत्येक व्यक्ति को किसी भी सार्वजनिक चिकित्सालय, औषधालय, शिक्षा संस्था या छात्रावास में प्रवेश करने का अधिकार होगा और वहाँ प्रत्येक के साथ समान व्यवहार किया जायेगा। (ब) अस्पृश्यता के आधार पर कोई भी दुकानदार किसी भी व्यक्ति को कोई भी चीज बेचने या सेवा करने से इन्कार नहीं कर सकता है।

धारा 7 (Clause 7)—इस कानून के किसी भी नियम को न मानने या अस्पृश्यता को बढ़ावा देने वालों को दण्ड दिया जायेगा। ये दण्ड 6 माह की कैद या 500 रु० के जुर्माने या दोनों हो सकते हैं।

अस्पृश्यता विरोधी आन्दोलन

(Campaign against Untouchability)

भारत सरकार सन् 1954 से अस्पृश्यता उन्मूलन आन्दोलन के लिये आर्थिक सहायता देती आ रही है। इस कार्य के लिये सरकारी तथा गैर-सरकारी दोनों प्रकार की संस्थाओं का उपयोग किया जा रहा है। राज्य सरकारों ने भी अपने जिला-धिकारियों तथा अन्य अधिकारियों को, जिनका सम्पर्क जनता से है, यह आदेश दिया है कि वे इस कुरीति का अन्त करने पर विशेष बल दें। जनता का ध्यान इस ओर आकर्षित करने तथा उसका सहयोग प्राप्त करने की दृष्टि से प्रायः सभी राज्यों में 'हरिजन दिवस' तथा 'हरिजन सप्ताह' मनाए जाते हैं। इसके अतिरिक्त अधिकांश राज्यों में 'अस्पृश्यता अपराध अधिनियम, 1955' को लागू करने के लिये छोटी-छोटी समितियाँ नियुक्त कर दी गई हैं। इस कार्य के लिये पुस्तक-पुस्तिकाओं, विज्ञापन और अन्य दृश्य-श्रव्य (Audio-visual) साधनों का उपयोग किया जा रहा है। अस्पृश्यता सम्बन्धी एक फिल्म भी बनाई गई है।

अस्पृश्यता-विरोधी कार्य में 'हरिजन सेवक संघ, भारतीय दलित वर्ग संघ,

भारत दलित सेवक संघ तथा इलाहाबाद के हरिजन आश्रम जैसे स्वयंसेवी संगठनों का सहयोग तथा सहायता प्राप्त की जा रही है। पहली योजना की अवधि में इन संगठनों को सहायता-अनुदान के रूप में 61,50,746 रु० दिया गया था, जिसमें से केन्द्रीय सरकार ने 14,77,200 रु० दिया था। दूसरी पंचवर्षीय योजना की अवधि में इस कार्य में गैर-सरकारी संस्थाओं की सहायता करने के लिए केन्द्र तथा राज्यों में कुल मिलाकर लगभग 208 लाख रु० व्यय करने का लक्ष्य सामने रखा गया था। इसमें से राज्य सरकारों द्वारा 138 लाख तथा केन्द्रीय सरकार द्वारा 70 लाख रु० व्यय होना था। द्वितीय पंचवर्षीय योजना काल में केन्द्रीय सरकार द्वारा अखिल भारतीय स्तर पर कार्य करने वाले स्वयंसेवी संगठनों को 69.26 लाख रु० सहायता-अनुदान के रूप में दिया गया था जिसमें 36.53 लाख रु० अस्पृश्यता निवारण के हेतु था। इन संगठनों को तृतीय पंचवर्षीय योजना काल में 1.05 लाख रु० आर्थिक सहायता देने की व्यवस्था थी। पाँचवी योजना में यह घनराशि प्रायः 4 लाख रु० थी।

नागरिक अधिकार संरक्षण कानून, 1976

(The Protection of Civil Rights Act, 1976)

केन्द्रीय सरकार के प्रयासों के फलस्वरूप अस्पृश्यता के अपराध के लिये कड़े दण्ड के प्रावधान का नया कानून भूतपूर्व प्रधानमन्त्री श्रीमती इन्दिरा गांधी के जन्म-दिन 19 नवम्बर 1976 से लागू कर दिया गया है। जैसाकि उपरोक्त विवेचना से स्पष्ट है कि अस्पृश्यता की सामाजिक बुराई को संविधान की धारा 17 द्वारा समाप्त कर दिया गया था। 1955 में अस्पृश्यता अपराध कानून बनाया गया। परन्तु समय-समय पर यह शिकायत होती रही है कि अस्पृश्यता को रोकने में यह कानून समझ नहीं है।

आलोचनाओं को देखते हुए केन्द्र सरकार ने श्री एल० इल्यापेरू की अध्यक्षता में एक समिति का गठन किया जिसने 1969 में अपनी रिपोर्ट दे दी।

नया कानून इस कमेटी की सिफारिशों पर आधारित है। इसे संसद ने पिछले वर्षाकालीन अधिवेशन में पारित किया था तथा राष्ट्रपति ने 13 सितम्बर 1976 को इस पर अपनी स्वीकृति दे दी थी।

नागरिक अधिकार संरक्षण कानून, अस्पृश्यता अपराध कानून 1955 में किए गए संशोधन से अस्तित्व में आया है। इसके अन्तर्गत अस्पृश्यता के अपराध के लिये दंडित लोग संसद और विधानसभा के चुनाव में खड़े नहीं हो सकेंगे।

अस्पृश्यता बरतने के अपराध में जुर्माना और कैद दोनों तरह की सजा की व्यवस्था की गई है। पहली बार अपराध पर एक माह से छह माह तक की कैद और एक सौ रु० से लेकर 500 रु० तक जुर्माना किया जा सकेगा। किन्तु दुबारा अपराध करने पर छह माह से एक वर्ष तक की कैद और दो सौ रु० से लेकर 500 रु० तक जुर्माना किया जा सकेगा। तीसरी बार अपराध करने पर एक वर्ष से दो वर्ष तक का कैद और एक हजार रु० तक जुर्माने की व्यवस्था है।

अस्पृश्यता के सभी अपराधों में पुलिस बिना शिकायत के कार्रवाई कर सकेगी किन्तु अभी तक बादी और प्रतिवादी को समझौता करके मामले को समाप्त करने की जो छूट थी वह नए कानून में नहीं रहेगी।

पहली बार यह प्रावधान किया जा रहा है कि कोई भी सरकारी कर्मचारी

यदि अस्पृश्यता के अपराध को जाँच के काम की जानबूझकर उपेक्षा करेगा, तो उसे अपराध को प्रोत्साहन देने के आरोप में दंडित किया जाएगा।

पूजा के निजी स्थानों पर जहाँ जनता आमतौर पर जाती रहती है अस्पृश्यता वरतना दण्डनीय होगा।

किसी भी अपराध पर अस्पृश्यता का प्रचार करना या उसे न्यायोचित ठहराना भी अपराध होगा। किसी को अस्पृश्यता वरतने के लिए मजबूर करना दण्डनीय अपराध होगा।

नए कानून में राज्य सरकारों को अस्पृश्यता का अपराध करने वाले किसी इलाके के लोगों पर सामूहिक जुर्माना करने का अधिकार होगा।

अस्पृश्यता को प्रभावशाली ढंग से रोकने के लिए कानून में राज्य सरकारों और केन्द्र सरकार को कुछ विशेष दायित्व दिए गए हैं। राज्य सरकारें अस्पृश्यता से प्रभावित लोगों को पर्याप्त कानूनी सहायता उपलब्ध करने की व्यवस्था करेंगी। कानून के उल्लंघन के मामलों में अपराधी को दण्ड दिलाने की कार्रवाई के लिये विशेष अधिकारी नियुक्त किये जायेंगे। कानून के अन्तर्गत अपराधों की सुनवाई के लिये विशेष न्यायालयों का गठन किया जाएगा।

विभिन्न स्तरों पर कमेटियाँ गठित की जायेंगी जो कानून के प्रावधानों को लागू करने के सम्बन्ध में राज्य सरकारों की मदद करेंगी।

कानून में केन्द्र सरकार को राज्य सरकारों द्वारा किये जाने वाले उपायों को समन्वित करने के लिये उचित कदम उठाने का निर्देश दिया गया है।

केन्द्र सरकार कानून के प्रावधानों के अन्तर्गत की गई कार्रवाईयों का विवरण प्रतिवर्ष संसद के दोनों सदनों में पेश करेगी।

हरिजन-कल्याण कार्य

(Harijan Welfare Activities)

विधानमण्डलों में प्रतिनिधित्व

(Representation in Legislature)

संविधान के अनुच्छेद 330 तथा 332 के अनुसार राज्यों की अनुसूचित जातियों की जनसंख्या के अनुपात में इन लोगों के लिये लोकसभा तथा राज्यों की विधानसभाओं में स्थान सुरक्षित रखे गये हैं। आरम्भ में यह व्यवस्था केवल 10 वर्ष तक के लिए थी, पर अब संविधान में संशोधन करके यह व्यवस्था 25 जनवरी 1980 तक बढ़ा दी गई है। लोकसभा में 78 स्थान तथा विधानसभा में 538 स्थान इस समय अनुसूचित जातियों के लिये सुरक्षित हैं। पंचायती राज्य लागू होने के बाद इसके लिए ग्राम पंचायतों तथा अन्य स्थानीय निकाइयों में भी स्थान सुरक्षित रखने की व्यवस्था की गई है।

सरकारी नौकरियों में प्रतिनिधित्व

(Representation in Government Services)

खुली प्रतियोगिता द्वारा अखिल भारतीय आधार पर की जाने वाली नियुक्तियों में 15 प्रतिशत तथा अन्य प्रकार से की जाने वाली नियुक्तियों में 16½ प्रतिशत स्थान अनुसूचित जातियों के लिये सुरक्षित होते हैं। तीसरी और चौथी श्रेणियों में सीधी

नियुक्ति के लिये भी अनुसूचित जातियों की आबादी के अनुपात में स्थान सुरक्षित किए जाते हैं। दूसरी, तीसरी तथा चौथी श्रेणियों में विभागीय परीक्षाओं के आधार पर तथा तीसरी व चौथी श्रेणी में चयन के आधार पर होने वाली पदोन्नति के सम्बन्ध में भी अनुसूचित जातियों के लोगों के लिये 15 प्रतिशत स्थान सुरक्षित रखे जाते हैं, बशर्ते इन श्रेणियों में सीधी भर्ती 66 $\frac{2}{3}$ प्रतिशत से अधिक न होती हो। वरिष्ठता के आधार पर उपयुक्त व्यक्तियों की प्रथम, द्वितीय, तृतीय एवं चतुर्थ श्रेणियों में पदोन्नति के लिये भी 27 नवम्बर 1972 से अनुसूचित जातियों के लिये स्थान सुरक्षित रखने की व्यवस्था की गई है, बशर्ते उन पदों में 66 $\frac{2}{3}$ प्रतिशत से अधिक सीधी भर्ती न होती हो। इन जातियों को नौकरी पाने में पर्याप्त अवसर देने के लिये कुछ रियायतें भी दी जाती हैं जैसे (अ) आयु-सीमा में छूट, (ब) उपयुक्तता के मापदण्ड में छूट, (स), पदों के लिये चयन यदि वे अनुपयुक्त न हों। राज्य सरकारों ने भी इन वर्गों के लिए पद सुरक्षित करने के सम्बन्ध में नियम बनाए हैं तथा राज्य की नौकरियों में इन्हें अधिक स्थान दिलाने की दिशा में कदम उठाया है। 1 जनवरी 1979 को केन्द्रीय सरकार के अधीन अनुसूचित जातियों तथा जनजातियों के प्रायः 5,90,962 व्यक्ति विभिन्न नौकरियों में नियुक्त थे। अनुसूचित जातियों को केन्द्रीय सेवाओं में अधिक-से-अधिक स्थान देने के लिये 13 नवम्बर 1976 को प्रधानमंत्री की अध्यक्षता में हुई उच्चस्तरीय स्थायी समिति ने अनेक निर्णय किये ताकि इन जातियों के लोगों की केन्द्रीय सेवाओं के उच्च पदों पर, सार्वजनिक उद्योगों, न्यायालयों आदि में अधिक नियुक्तियाँ हो सकें। इसके लिये कुछ परीक्षाओं में उन्हें छूट देने का भी निर्णय लिया गया।¹⁴

कल्याण तथा सलाहकार संस्थाएँ (Welfare and Advisory Agencies)

संविधान के अन्तर्गत अनुसूचित जातियों की सुरक्षा-सम्बन्धी व्यवस्थाओं की जाँच-पड़ताल करने एवं इन व्यवस्थाओं के परिपालन के सम्बन्ध में राष्ट्रपति को अवगत कराने के लिये अगस्त 1978 में एक आयोग की स्थापना की गई थी जिसमें एक चैंयरमैन और चार सदस्य थे एवं जिसमें एक विशेष अधिकारी की नियुक्ति की गई थी जिसे अनुसूचित जातियों एवं जनजातियों का आयुक्त (Commissioner for Scheduled Castes and Scheduled Tribes) कहा जाता है। भारत सरकार के गृह मन्त्रालय के अन्तर्गत पिछड़े वर्गों के कल्याण से सम्बन्धित संगठन के महानिदेशक (Director General of Backward Classes Welfare) इन वर्गों के कल्याण हेतु योजनाएँ बनाने और उनके क्रियान्वयन के लिये उत्तरदायी हैं और इस सम्बन्ध में राज्यों से सम्बन्ध भी बनाये रखते हैं। भारत सरकार ने इन जातियों के कल्याण से सम्बन्धित संवैधानिक व्यवस्थाओं के कार्यान्वयन की जाँच करने के लिये तीन संसदीय समितियाँ (Parliamentary Committees) सन् 1968, 1971 एवं 1973 में नियुक्त कीं। राज्य सरकारों तथा केन्द्रशासित क्षेत्रों की शासन-व्यवस्थाओं में इन जातियों के हितों की देखरेख के लिये अलग विभाग होते हैं। अब संसद् की एक स्थायी समिति

14. Hereafter the entire matter is based on India 1979, Government of India, Publication Division, New Delhi, 1979 (Hindi Edition). pp. 161-170.

बना दी गई है, जिसके सदस्यों का कार्यकाल एक वर्ष का होता है। इस समिति के 30 सदस्य होते हैं 20 लोक सभा से और 10 राज्य सभा से।

बहुत-से स्वैच्छिक संगठन (Voluntary organizations) भी अनुसूचित जातियों के कल्याण के लिये काय करते हैं। ऐसे अखिल भारतीय स्तर के महत्वपूर्ण संगठन हैं—अखिल भारतीय हरिजन सेवक संघ, दिल्ली; भारतीय दलित वर्ग संघ, नई दिल्ली; ईश्वर शरण आश्रम, इलाहाबाद; भारतीय रेड क्रॉस सोसाइटी, नई दिल्ली; हिन्दू स्वीपर्स सेवक संघ, नई दिल्ली; रामकृष्ण मिशन, नरेन्द्रपुर, पश्चिम बंगाल। पूना की सर्वेण्ट्स ऑफ इण्डिया सोसाइटी और अखिल भारतीय पिछड़ा वर्ग संघ, दिल्ली भी पिछड़े वर्गों के हितों की देखभाल करते हैं। भारत सरकार राष्ट्रीय स्वैच्छिक संगठनों की विशिष्ट योजनाओं के अन्तर्गत पिछड़े वर्गों के कल्याण के लिये अनुदान देती है।

पंचवर्षीय योजनाओं के अन्तर्गत व्यय

(Expenditures during Five-Year Plans)

केन्द्रीय और राज्य सरकारों ने अनुसूचित जातियों व जनजातियों के कल्याण पर विशेष ध्यान दिया है। इनके कल्याण के लिये प्रत्येक पंचवर्षीय योजना में विशेष कार्यक्रम चलाये गये। इन कार्यक्रमों पर पहली योजना में 30.04 करोड़ रु०, दूसरी में 79.41 करोड़ रु०, तीसरी में 100.40 करोड़ रु०, चौथी में 172.70 करोड़ रु० एवं पांचवीं योजना में 288.88 करोड़ रु० व्यय किये गये। इसके अलावा राज्य सरकारें भी अपने गैर-योजना बजटों में इन वर्गों के कल्याण पर काफी राशि व्यय करती रहीं हैं। पांचवीं योजना में इन जातियों के उत्थान के लिये नई नीति अपनायी गई है। पिछड़े वर्गों के विकास के लिये आम क्षेत्र (general sector) की उपयोगिता पर अधिक बल दिया जाएगा। न्यूनतम आवश्यकता कार्यक्रम (Minimum Needs Programme) का लाभ इन जातियों को अधिक मिलेगा और इन कार्यक्रमों में उनको प्राथमिकता दी जायेगी। इसके लिये उन्हें आम नियमों में छूट दी जायेगी। पांचवीं योजना में यह निश्चय किया गया था कि पिछड़े वर्गों के विकास के लिये आम क्षेत्र की उपयोगिता पर अधिक बल दिया जाये। साथ ही, न्यूनतम आवश्यकता कार्यक्रम का लाभ अनुसूचित जातियों को अधिक मिले। छठी

योजना में इन जातियों के कल्याण कार्य पर २४० करोड़ रु० व्यय किये जाने का प्रस्ताव है।

प्रशिक्षण व शिक्षण कार्यक्रम

(Training and Coaching Programme)

अनुसूचित जातियों को रोजगार-प्राप्त करने में सहायता करने के उद्देश्य से परीक्षा-पूर्व प्रशिक्षण केन्द्र (Pre-examination Training Centres) एवं शिक्षण व पथ-प्रदर्शन केन्द्र (Coaching-cum Guidance Centres) नामक दो कार्यक्रम चलाये गये हैं। पहले कार्यक्रम के अन्तर्गत इंदौराबाद, केन्द्र इलाहाबाद, दिल्ली, (एक निजी प्रशिक्षण केन्द्र के जरिये), शिलांग, जयपुर, मद्रास और पटियाला में हैं जो सघन सेवा आयोग द्वारा संचालित अखिल भारतीय सेवा परीक्षाओं के लिये शिक्षण (coaching) देते हैं। उम्मीदवारों को राज्यों की सेवाओं के लिए परीक्षा-सम्बन्धी शिक्षण देने के लिए भी आन्ध्र प्रदेश, बिहार, गुजरात, हरियाणा, कर्नाटक, केरल, मध्य प्रदेश, उड़ीसा, उत्तरप्रदेश, पश्चिमी बंगाल और दिल्ली में शिक्षण केन्द्र खोले गये हैं। इलाहाबाद तथा तिरुचिरापल्लि में इन्जीनियरी सेवाओं की परीक्षाओं के लिये दो

अन्य केन्द्र भी खोले गये हैं। चार शिक्षण व पथ-प्रदर्शन केन्द्र दिल्ली, कानपुर, जबलपुर और मद्रास में रोजगार कार्यालयों में स्थापित किये गये हैं।

छात्रवृत्तियाँ एवं शिक्षा-सम्बन्धी अन्य सुविधाएँ

(Scholarships and Other Facilities)

शिक्षा के क्षेत्र में अनुसूचित जातियों के बच्चों को आगे बढ़ाने के लिये उन्हें बनेक सुविधायें दी जाती हैं। उदाहरणार्थ, मैट्रिकोत्तर (Post-matric) छात्रवृत्ति कार्यक्रम के अन्तर्गत अनुसूचित जातियों के विद्यार्थियों के लिये -उदार साधन परीक्षा (Liberal Means Test) के अनुसार छात्रवृत्तियाँ दी जाती हैं। इसके अन्तर्गत उन विद्यार्थियों को छात्रवृत्तियाँ नहीं दी जाती हैं जिनके परिवार की मासिक आय 500 रुपये से अधिक है। अनुसूचित जातियों के सुपात्र 10 विद्यार्थियों को विदेशों में अध्ययन करने के लिये प्रतिवर्ष छात्रवृत्तियाँ सन् 1955 से केन्द्रीय सरकार द्वारा दी जा रही हैं।

राज्य-क्षेत्र की योजनाएँ

(State-Sector Schemes)

अनुसूचित जातियों के कल्याण हेतु राज्य-क्षेत्र के कार्यक्रम को, जिसे केन्द्र सरकार द्वारा खण्ड-अनुदान (block grants) तथा ऋणों के रूप में सहायता दी जाती है, तीन समूहों में बाँटा जा सकता है—शिक्षा, आर्थिक विकास एवं स्वास्थ्य, आवास व अन्य योजनाएँ। (1) शिक्षा कार्यक्रम के अन्तर्गत मैट्रिकोत्तर छात्रवृत्तियाँ एवं बज़ीफे, ट्यूशन तथा परीक्षा-शुल्क में छूट, शिक्षा-सम्बन्धी उपकरणों की व्यवस्था, दोपहर के भोजन की व्यवस्था, आश्रम स्कूलों की स्थापना तथा स्कूल भवनों व छात्रावासों के निर्माण के लिये अनुदान देने की व्यवस्था है। (2) आर्थिक विकास कार्यक्रम के अन्तर्गत भूमि तथा सिंचाई की व्यवस्था, बैल, कृषि-उपकरण, खाद तथा बीज की आपूर्ति, कुटीर उद्योगों का विकास, संचार-व्यवस्था का विकास आदि सम्मिलित हैं। (3) स्वास्थ्य, आवास एवं अन्य कार्यक्रमों के अन्तर्गत अनुसूचित जातियों को चिकित्सा सुविधायें देना, पेय-जल योजनाएँ, बने-बनाए घर देने तथा घर बनाने के लिये जमीन देने की व्यवस्था, कानूनी सहायता की व्यवस्था तथा राज्य स्तर पर अनुसूचित जातियों के कल्याण हेतु काम करने वाली गैर-सरकारी संस्थाओं को अनुदान देने की व्यवस्था सम्मिलित है।

अस्पृश्यता को दूर करने के लिये केवल कानून पर्याप्त नहीं

(Only Legislation is not enough for eradicating Untouchability)

“अस्पृश्यता की समस्या को सुलझाने में सामाजिक कानून सहायक होते हैं, परन्तु के पूर्ण रूप से अस्पृश्यता की समस्या को सुलझा नहीं सकते।”¹⁵ दूसरे शब्दों में अस्पृश्यता की बुराई केवल कानून के द्वारा ही नहीं की जा सकती। इसका कारण भी स्पष्ट है। अस्पृश्यता एक सामाजिक समस्या है और इसकी जड़ें पिछली शताब्दियों में बहुत गहरी बैठ गई हैं। अस्पृश्यता की उत्पत्ति की विवेचना करने से यह पता चलता है कि अस्पृश्यता अंशतः प्रजातीय, अंशतः धार्मिक तथा अंशतः सामाजिक-सांस्कृतिक कारकों का परिणाम है। इसका तात्पर्य यह है कि प्रजातीय भिन्नता के

15. “Social legislations are helpful but they cannot completely solve the problem of untouchability.”

साथ जब धार्मिक विचार, पवित्रता की धारणा आदि का मेल हुआ और उन्हें सामाजिक प्रथा व नियमों के द्वारा लागू किया गया तभी समाज का एक अन्य बहिष्कृत हुआ और अस्पृश्य कहलाया। भारतवर्ष में धर्म का महत्व अत्यधिक है और यहाँ प्रथा व परम्परायें लोगों पर राज्य करती हैं। पवित्रता की धारणा भारतीय जन-जीवन को नियन्त्रित करती है और यह सदियों से होता आ रहा है। इसका परिणाम यह हुआ है कि भारतवर्ष में अस्पृश्यता के सम्बन्ध में एक सामाजिक व धार्मिक वातावरण ने अपनी जड़ें खूब गहरी जमा ली हैं। भारतवर्ष में देश की कुल जनसंख्या की प्रायः 81 प्रतिशत जनता आज भी भारत के विभिन्न गाँवों में निवास कर रही है। ये लोग अधिकांशतः अशिक्षित व नाना प्रकार के अन्धविश्वासों से घिरे हुये हैं। अतः उनके लिये धार्मिक व सामाजिक नियमों की अपेक्षा कानून को तोड़ना अधिक सरल है। चूँकि अस्पृश्यता को धर्म, पवित्रता आदि का आवरण दे दिया गया है, इसलिये उसे एकाएक पूर्णतया त्याग देना लोगों के लिये सम्भव नहीं हो रहा है। अस्पृश्यतानिवारण-सम्बन्धी जो कानून बनाए गए हैं उनसे हरिजनों की सामाजिक-राजनीतिक स्थिति (status) को एक सम्मानजनक स्वीकृति मिली है और नगरों में कुछ अनुकूल जनमत का भी निर्माण हुआ है। इस दृष्टिकोण से यह कहा जा सकता है कि अस्पृश्यता की समस्या को सुलझाने के लिये सामाजिक कानून सहायक होते हैं, परन्तु वे पूर्णरूप से अस्पृश्यता की समस्या को सुलझा नहीं सकते। उनके लिये तो विशेष-कर ग्रामीण क्षेत्रों में स्वस्थ जनमत की आवश्यकता है; और वैसा जनमत तभी जागृत हो सकता है जबकि धीरे-धीरे प्रचार के द्वारा, सामाजिक शिक्षा के द्वारा, धर्मनिरपेक्ष उपदेशों के द्वारा तथा पवित्रता की सही व्याख्या के अधिकाधिक प्रचार के द्वारा समाज के लोगों को और उनके हृदय व मस्तिष्क को इस भाँति तैयार किया जाए कि वे अस्पृश्यता को वास्तव में बुरा समझें; तभी अस्पृश्यता की समस्या को सुलझाना सम्भव होगा। कानून बनाकर हरिजनों को कुछ सामाजिक अधिकार दिये जा सकते हैं, नौकरियों में उनके लिए स्थान सुरक्षित किया जा सकता है, पढ़े-लिखे लोगों को अस्पृश्यता की बुराइयों को समझाया जा सकता है, परन्तु भारत की अधिकांश जन-संख्या—ग्रामवासियों—को सही रास्ते पर लाया नहीं जा सकता। उनके लिये तो काफी समय व सतत प्रयत्नों की आवश्यकता है। यह बात निम्नलिखित विवेचना से और भी स्पष्ट हो जाएगी—

वर्तमान भारत में छुआछूत बरतना कानूनी तौर पर अपराध है और उस कानून को दृढ़ता से लागू करने का प्रयत्न किया जा रहा है। साथ ही, इस अभिशाप (अस्पृश्यता) के विरुद्ध ठोस जनमत तैयार करने के लिये प्रचार-कार्यों पर हर साल लाखों रुपये व्यय होते हैं। इस देश में कानून को कुछ भी सफलता नहीं मिली है, यह कहना अनुचित होगा; परन्तु यह कहना भी अनुचित न होगा कि ग्रामीण क्षेत्रों में (जहाँ कि भारत की 80 प्रतिशत जनसंख्या निवास करती है) आशानुरूप सफलता प्राप्त नहीं हो सकी। कानून बनाकर वैधानिक रूप से हरिजनों की निर्याग्यताओं को समाप्त किया जा सकता है, अन्य नागरिकों की भाँति उन्हें समान अधिकार भी दिए जा सकते हैं, और छुआछूत बरतना कानूनी आधार पर दण्डनीय हो सकता है; फिर भी हजारों वर्षों से रूढ़ियों, प्रथाओं, संस्थागत नियमों और धर्म के कठोर व निर्दयी 'शासक' द्वारा शासित हिन्दुओं के मनोभाव, विचार व दृष्टिकोण को दो, चार या दस

वर्ष में केवल कानून पास करके बदला नहीं जा सकता। उनके लिये अन्य उपायों को भी अपनाना पड़ेगा। वे उपाय निम्नलिखित हो सकते हैं—

अस्पृश्यता के उन्मूलन के लिए कुछ सुझाव

(Some Suggestions for the eradication of Untouchability)

अस्पृश्यता का उन्मूलन करके हरिजनों की स्थिति में और अधिक सुधार करने के लिए निम्नलिखित सुझाव दिए जा सकते हैं—

1. जाति-प्रथा के स्वरूप में परिवर्तन—अस्पृश्यता वास्तव में जाति-प्रथा का अभिशाप है, परन्तु जाति-प्रथा को समाप्त करना कोई आसान काम नहीं है। इसे कानून द्वारा न तो समाप्त किया जा सकता है और न ही यह उचित होगा। शिक्षा और प्रचार के द्वारा जाति-प्रथा के संरचनात्मक और संस्थात्मक स्वरूपों में जो दोष आ गए हैं, उन्हें दूर करने का प्रयत्न करना होगा। अस्पृश्यता की धारणा उन दोषों में सर्वप्रमुख है।

2. नए आधार पर ग्रामीण समुदाय के सामाजिक आदर्शों का निर्माण—हरिजनों की दशा गाँव में अधिक दयनीय है। सामुदायिक योजना, शिक्षा, प्रौढ़ और सामाजिक शिक्षा के विस्तार के द्वारा ग्रामीण जनता के विचारों और अन्धविश्वासों को बदलना सबसे अधिक आवश्यक है। गाँव में रहने वाली अधिकतर हरिजनों भूमिहीन श्रमिक हैं और उनका उच्च-जाति के द्वारा खूब शोषण होता है। अतः आवश्यकता यह कि हरिजनों के प्रति इस मनोभाव को बदला जाए; इसके लिए भी प्रचार आदि के द्वारा निरन्तर प्रयास की आवश्यकता है।

3. गन्दे पेशों को समाप्त करना—हरिजनों के पेशों की गन्दगी को मशीनों की सहायता से दूर करने का प्रयत्न होना चाहिये। मंगियों और चमारों के पेशे विशेष रूप से गन्दे हैं। इसी प्रकार टोकरियों में सिर पर मैला ढोने की कुप्रथा समाज का कलंक है, इसीलिए इस प्रथा उन्मूलन हमारा लक्ष्य होना चाहिए। मेहतरों को बन्द गाड़ियाँ, बन्द बाल्टियाँ तथा मैलों को साफ करने के लिए उचित मशीन आदि दी जानी चाहियें।

4. शारीरिक श्रम के प्रति श्रद्धा—शारीरिक श्रम को ऊँची जातियाँ घृणा की दृष्टि से देखती हैं जिससे अस्पृश्यता या ऊँच-नीच की भावना और भी कटु होती है। इस मनोभाव को जनमत और प्रचार के द्वारा दूर करना चाहिए।

5. शिक्षा : सामान्य और औद्योगिक—किसी भी सुधार का एक प्रमुख आधार शिक्षा होती है। विशेषकर हरिजनों से सम्बन्धित प्रत्येक आर्थिक और सामाजिक सुधार तब ही हो सकता है जब उनको अज्ञानता के अन्धकार से मुक्त कर दिया जाए। इनके अन्धविश्वासों को दूर करने के लिए, इनको अच्छे नौकरियों में नियुक्त करने के लिए, साथ ही इनकी औद्योगिक कुशलता को बढ़ाने के लिए इनकी सामान्य और औद्योगिक शिक्षा दोनों की ही व्यवस्था होनी चाहिए।

6. उचित निवास-स्थान—हरिजनों की बस्तियाँ वास्तव में मनुष्य के रहने योग्य नहीं हुआ करती हैं। इसका बहुत बुरा प्रभाव उनके स्वास्थ्य-स्तर और नैतिक उन्नति पर पड़ता है, इस कारण उनके निवास-स्थान की उचित व्यवस्था अनिवार्य है। इस सम्बन्ध में सरकारी प्रयत्न सबसे अधिक होने चाहियें, परन्तु इस कार्य में महानगरपालिकाओं नगरपालिकाओं आदि के भरपूर प्रयत्नों की आवश्यकता है।

7. उचित वेतन सम्बन्धी कानून—हरिजनों की आर्थिक दशा को सुधारने के लिये भी यह आवश्यक है कि उनको अपनी सेवाओं के लिए उचित वेतन मिले। इस दिशा में भी सरकारी प्रयत्न सबसे प्रमुख है। महानगरपालिकाओं तथा नगरपालिकाओं के अधीन जो मेहतर आदि कार्य करते हैं उनके वेतन में भी आवश्यक सुधार की अत्यधिक जरूरत है और यह काम उन्हीं नगरपालिकाओं के द्वारा ही किया जाना चाहिए।

8. स्वस्थ मनोरंजन—हरिजनों को अन्वविश्वासों के प्रजे से छुड़ाने के लिये, इनकी नशाखोरी की आदत को मिटाने के लिए और इनके नैतिक स्तर को ऊँचा उठाने के लिए यह आवश्यक है कि इनके लिए स्वस्थ मनोरंजन की समुचित व्यवस्था हो। ग्रामीण क्षेत्रों में सामुदायिक खेल-कूद, भजन-मण्डली, कीर्तन, सभा, प्रदर्शन, मेला आदि के द्वारा मनोरंजन आदि की व्यवस्था की जा सकती है। यह काम सामुदायिक विकास योजना के अन्तर्गत और भी विस्तृत रूप में लागू होना चाहिए। साथ-ही-साथ शिक्षाप्रद सिनेमा आदि के माध्यम से इनको वैज्ञानिक तरीके से उपलब्ध मनोरंजन के साधनों के सदुपयोग के सम्बन्ध में शिक्षित करने का प्रयत्न करना होगा।

9. सामाजिक सुरक्षा—हरिजनों के जीवन में आर्थिक और स्वास्थ्य सम्बन्धी आवश्यकतायें सबसे अधिक हैं, इस कारण इनके लिए सामाजिक सुरक्षा का विस्तृत आयोजन होना चाहिए। इस सम्बन्ध में सरकारी प्रयत्न सबसे अधिक होना चाहिए क्योंकि सामाजिक सुरक्षा सम्बन्धी योजनाओं को बनाने तथा उन्हें लागू करने के पर्याप्त साधन सरकार को ही अधिक उपलब्ध हैं।

इस सम्बन्ध में दिल्ली में जातिवाद और अस्पृश्यता के निवारण के लिये जो सेमिनार हुआ था उसकी सिफारशें भी उल्लेखनीय हैं—(क) हरिजन देश में सबसे अधिक निर्धन हैं। इसलिये सरकारी योजनाओं द्वारा उनकी आर्थिक दशा को सुधारने का सबसे पहले प्रयत्न किया जाए। धरेलू उद्योग-धन्धों के विकास के साथ-साथ इस बात का ध्यान रखना चाहिये कि कहीं जाति-प्रथा का वंशानुगत पेशों वाला पहलू न बना रहे (ख) जहाँ-कहीं भी आवश्यक हो वहाँ सामाजिक कुरीतियों को दूर करने के लिये सामाजिक कानून बनाने चाहियें, पर शिक्षा और प्रचार का कार्यक्रम कानूनों से पहले चलाया जाए या उनके साथ-साथ चलाया जाए। (ग) सरकार की ओर से या किसी सार्वजनिक संस्था की ओर से जहाँ-कहीं भी मकान बनाने की व्यवस्था हो वहाँ ऊँची जातियों के साथ-साथ हरिजनों को मकान मिलने चाहियें। (ख) शहरों में जातियों के आधार पर कोई भी छात्रावास नहीं रहना चाहिये और हरिजन विद्यार्थियों को सामान्य छात्रावास में अन्य जातियों के विद्यार्थियों के साथ ही रहने की सुविधा मिलनी चाहिये। (ङ) प्राइमरी स्कूलों में सब जातियों के बच्चों को कुछ समय तक नियमित रूप से कैम्प में एकसाथ रखकर तथा अन्य प्रयत्नों से जातीय भेदभाव को जड़ से मिटाने का प्रयत्न करना चाहिये।

निष्कर्ष

(Conclusion)

समाज एवं हरिजन कल्याण निदेशालय द्वारा प्रसारित विज्ञापन में प्रायः यह कहा जाता है कि प्रत्येक नागरिक को जानना चाहिये, अस्पृश्यता क्या है? 'अस्पृश्यता मानव का अपमान एवं सामूहिक मूर्खता का प्रतीक है; अस्पृश्यता दण्डनीय है,

अस्पृश्यता समाज के शरीर में विष है और राष्ट्र-शक्ति की शृंखला में एक कमजोर कड़ी है तथा अस्पृश्यता समाज-कल्याण के प्रयत्नों का उपहास एवं राष्ट्रद्रोह है। गांधीजी भी बार-बार कहा करते थे कि "छुआछूत घमं का अंग नहीं है, बल्कि वह उसमें पैदा हुई सड़न है, वहम है, पाप है और उसको दूर करना हर एक का कर्त्तव्य है।" राष्ट्रपिता गांधी से प्राप्त प्रेरणा व आधार के अनुसार ही सरकार, जैसा कि उपरोक्त विवेचना से स्पष्ट है, हर प्रकार से सचेष्ट है कि शैक्षिक, आर्थिक एवं सामाजिक दृष्टि से हरिजनों की दशा सुधरे, उनमें अपने प्रति सम्मान और स्वाभिमान की भावना जागे और समाज में उनका आदर बढ़े। छुआछूत बरतना कानूनी तौर पर अपराध है और इसे दूर किया जा रहा है।

जाति-प्रथा से सम्बन्धित एक सामाजिक समस्या जातिवाद है जो एक अर्थ में विभिन्न जातियों के बीच पाई जाने वाली खाई को और भी चौड़ा करती है तथा एक दूसरे के प्रति घृणा, द्वेष या प्रतिस्पर्धा आदि के रूप में अभिव्यक्त होती है। अपनी ही जाति के स्वार्थ को सर्वोपरि समझना जातिवाद का सबसे सामान्य रूप है जोकि इस भावना पर आधारित है कि एक जाति के सदस्यों का पहले अपनी जाति के प्रति नैतिक कर्त्तव्य है, फिर कहीं अन्य लोगों के प्रति उस प्रकार के कर्त्तव्य निभाने का प्रश्न उठता है। पर इस सम्बन्ध में और कुछ विवेचना करने से पूर्व जातिवाद के अर्थ को और भी स्पष्ट रूप में समझ लेना उचित होगा।

जातिवाद की परिभाषा और अर्थ

(Definition and Meaning of Casteism)

जातिवाद एक जाति के सदस्यों की वह भावना है जो अपनी जाति के हित के सम्मुख अन्य जातियों के सामान्य हितों की अवहेलना और प्रायः हनन करने को प्रेरित करती है। किस प्रकार केवल अपनी जाति का ही कल्याण और प्रगति हो—यही चिन्ता उन्हें देश या समाज या जातियों के सामान्य हितों का ध्यान नहीं रखने देती है। मानवभावनाओं का यह संकुचित रूप ही जातिवाद है।

डॉ० कैलाशनाथ शर्मा के शब्दों में, “जातिवाद या जाति-भक्ति एक जाति के व्यक्तियों की वह भावना है जो देश के या समाज के सामान्य हितों का ध्यान न रखते हुये केवल अपनी जाति के सदस्यों के उत्थान, जातीय एकता और जाति की सामाजिक प्रस्थिति (Status) को बढ़ाने के लिये प्रेरित करती हो।”

उपरोक्त परिभाषाओं से यह स्पष्ट है कि जातिवाद के दो स्पष्ट पहलू—भावना और कर्म—हैं। पहला मनोवैज्ञानिक है और दूसरा व्यावहारिक। मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण से जातिवाद से प्रभावित व्यक्ति अपनी भावनाओं को अपनी ही जाति में केंद्रित कर देता है और उन्हीं के कल्याण के लिये चिन्ता करता है। यह चिन्ता या इस प्रकार की भावनायें संकुचित हैं क्योंकि यह समग्र समाज के सामान्य हितों का ध्यान नहीं रखता है। इस कारण यह सामान्य या जनकल्याण के लिये घातक है। इस दृष्टिकोण से जातिवाद को समाज-विरोधी (anti-social) भी कहा जा सकता है। जातिवाद का दूसरा पहलू क्रियात्मक या व्यावहारिक है। इसका तात्पर्य यह है कि जातिवाद से प्रेरित व्यक्ति अपनी ही जाति के कल्याण के लिए सोचते-विचारते ही नहीं हैं, बल्कि उसी के अनुसार कार्य भी करते हैं अर्थात् अपने विचारों व भावनाओं को एक व्यावहारिक रूप भी देते हैं। इसी का परिणाम यह होता है कि एक जाति के लोग कुछ ऐसे भी कार्य करते हैं जिनसे कि उस जाति के सदस्यों का कल्याण

हो। जातीय शिक्षा संस्थान आदि खोलकर या अस्पताल बनवाकर या नौकरी के लिये भर्ती करने के समय पक्षपातपूर्ण व्यवहार करके अपनी जाति के व्यक्तियों को काम पहुंचाने के लिए जो भी काम किए जाते हैं वे सभी जातिवाद के क्रियात्मक या व्यावहारिक पहलू के अन्तर्गत ही आते हैं। अतः स्पष्ट है कि जातिवाद में आन्तरिक भावनायें भी पर्याप्त नहीं हैं, अपनी जाति के सदस्यों के हितों को ध्यान में रखते हुए उन भावनाओं की वास्तविक क्रियाओं के रूप में बाहरी अभिव्यक्ति भी आवश्यक है। व्यावहारिक रूप में तथा मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण से आन्तरिक भावनायें ही बाहरी क्रियाओं को करने की प्रेरक शक्ति बन जाती हैं।

जातिवाद के विकास के कारक

(Factors in the growth of Casteism)

1. विवाह सम्बन्धी प्रतिबन्ध (Marriage restrictions)—जाति-प्रथा के अन्तर्गत अपनी ही जाति में विवाह करने का निर्देश है और इसका पालन भी हजारों वर्गों से होता आ रहा है। अन्तर्विवाह (endogamy) सम्बन्धी यह जातीय नियम व्यावहारिक रूप में केवल अपनी ही उपजाति में विवाह करने की अनुमति देता है और एक उपजाति की सदस्य-संख्या भी सीमित ही होती है। इसका परिणाम यह हुआ है कि प्रत्येक जाति या उपजाति का एक वैवाहिक समूह बन गया है जिसमें प्रत्येक सदस्य एक-दूसरे से किसी-न-किसी रूप में विवाह-सम्बन्धों के द्वारा सम्बन्धित हो गया है। इस प्रकार के नाते-रिश्तेदार एक-दूसरे के हितों का अधिक ध्यान रखते हैं और उसी के अनुसार काम भी करते हैं। इसी से जातिवाद का विकास होता है।

2. प्रचार व यातायात के साधनों में वृद्धि (Development of the means of transport and propaganda)—यातायात और प्रचार के साधनों के अभाव से प्राचीनकाल में जातिवाद पनप नहीं पाता था। पर आज वह कमी दूर हो गई है और बिखरे हुए एक जाति के सदस्यों में नाता दृढ़तर होता जा रहा है। जहाँ एक ओर यातायात के साधनों में उन्नति होने से एक जाति के सदस्य देश के विभिन्न भागों में बिखर गए, वहाँ दूसरी ओर उन्हीं साधनों ने उन्हें संगठित करने में सहायता भी दी। आज देश के विभिन्न भागों में और विभिन्न समयों में जातीय सम्मेलन होते हैं और उनमें देश के कोने-कोने से उस जाति के सदस्य भाग लेने आते हैं और अपने सामान्य हितों की रक्षा करने के उपायों को सोचते तथा उसी के अनुसार प्रयत्न करते हैं। साथ ही समाचार-पत्रों एवं जातीय पात्रिकाओं के द्वारा जातिवाद की भावनाओं का प्रचार अब सरल हो गया है।

3. नागरीकरण (Urbanization)—नागरीकरण से प्रत्येक नगर में विभिन्न जातियों का एक अच्छा-खासा जमघट सम्भव हुआ है। इसके फलस्वरूप प्रत्येक जाति को यह मौका मिला है कि वह अपने हितों की रक्षा करने के लिए अपने एक विशेष संगठन का निर्माण करे। वास्तव में नगर की परिस्थितियाँ ही इस प्रकार की हैं कि उनमें विशेषीकरण की आवश्यकता होती है। इसीलिये यह देखा जाता है कि जीवन के विभिन्न पहलुओं से सम्बन्धित विशिष्ट समीति और संस्थाएँ नगरों में विद्यमान हैं। श्रमिकों के स्वार्थों की रक्षा के लिए एक विशिष्ट संगठन श्रमिक संघ है मालिकों के हितों के रक्षार्थ मालिकों का अपना संगठन है। उसी प्रकार वकील संघ, दुकानदार संघ, हलवाई संघ, यहाँ तक कि रिक्शाचालक संघ भी विभिन्न वर्गों के स्वार्थों की रक्षा के लिये नगरों में पनप गए हैं। इस पर्यावरण के बीच जाति ही क्यों पिछड़ी रहे। नगर

की यह परिस्थिति प्रत्येक जाति को इस बात के लिए प्रेरित करती है कि वह भी एक विशिष्ट संगठन के द्वारा अपने स्वार्थों को रक्षा करे और नागरिक समुदाय में अपनी जाति के सदस्यों की प्रतिष्ठा की उन्नति करने के लिए उन्हें हर प्रकार की सुविधायें प्रदान करे।

4. अपनी जाति की प्रतिष्ठा बढ़ाने के लिए (To improve one's Caste status) आज के संसार ने समानता का द्वार सबके लिए खोल दिया है। पर जाति की प्रतिष्ठा इसी आधार पर स्थिर रह सकती है कि इस सुविधा से लाभ उठकर एक जाति के अधिक-से-अधिक व्यक्ति अपनी स्थिति को ऊँचा-उठावें। इसके लिए आज नये ढंग से प्रयत्न करने की आवश्यकता होती है, क्योंकि जैसा कि पहले ही बताया जा चुका है, सामाजिक स्थिति को निर्धारित करने वाले आधार बदल गए हैं। आज यह आवश्यक है कि एक जाति के अधिकाधिक सदस्य शिक्षित हों, धनी हों, अच्छे पदों पर नियुक्त हों या राजनीतिक सत्ता के अधिकारी हों; तब कहीं उस जाति की स्थिति सामाजिक जीवन में ऊँची उठ सकती है। इसलिए प्रत्येक जाति इस सम्बन्ध में प्रयत्नशील है कि अपने सदस्यों को अधिकाधिक सुविधा प्रदान करे, ताकि उनकी सामाजिक स्थिति ऊँची उठ सके।

5. औद्योगिक विकास (Industrial Development)—आधुनिक औद्योगिक विकास के साथ-साथ असंख्य नए पेशों का जन्म हुआ और उन पेशों में काम करने के लिए सभी को समान अवसर प्रदान किये गये। अर्थात् जातीय आधार पर उन पेशों का न तो विभाजन किया गया और न ही ऐसा करना सम्भव था। इसका परिणाम यह हुआ कि अनेक पेशों के दृष्टिकोण से सभी जाति के सदस्य एक स्तर पर आ खड़े हुए और उन पेशों की नियुक्ति के सम्बन्ध में उनमें पर्याप्त प्रतिस्पर्धा बढ़ी। फलतः प्रत्येक जाति के लिये यह आवश्यक हो गया कि वह इन पेशों में नियुक्ति के सम्बन्ध में अपने सदस्यों को कुछ संरक्षण प्रदान करे क्योंकि अनुभव के आधार पर यह समझा गया कि केवल व्यक्तिगत योग्यता पर निर्भर करना ही उचित न होगा, व्यक्तिगत प्रयत्नों की भी आवश्यकता है, अर्थात् एक और जाति की ओर से सदस्यों के व्यक्तिगत गुणों के विकास के लिए शिक्षा आदि की सुविधा होनी चाहिये, साथ ही उस जाति के जो लोग उच्च पद पर हैं, वे व्यक्तिगत रूप से यह भी प्रयत्न करें कि नौकरी में नियुक्ति के सम्बन्ध में भी उनका अपनी ही जाति के सदस्यों को अधिक अवसर मिले, चाहे उनकी व्यक्तिगत योग्यता कम ही क्यों न हो, क्योंकि खुली प्रतिस्पर्धा (open competition) में उनसे भी योग्य व्यक्ति आ सकते हैं और आते हैं।

औद्योगिक विकास ने एक दूसरे रूप में भी जातिवाद के पनपने में मदद की है। आज औद्योगीकरण के फलस्वरूप असंख्य नौकरी का क्षेत्र सारे देश में फैल गया और लोगों को नौकरी करने के लिए छोड़कर अन्य स्थानों में जाकर बसना पड़ा। साथ ही औद्योगीकरण ने गाँव के गृह-उद्योगों को नष्ट कर दिया और इनमें लगे अनेक कारीगर बेकार हो गए और नौकरी की खोज में गाँव से शहर में आकर बसने लगे। इन सब कारणों से संयुक्त परिवार का विघटन हुआ और लोगों को अब तक पारिवारिक आधार पर जो सुरक्षा मिलती थी उसका बहुत हद तक अन्त हो गया। अतः इस बात की आवश्यकता अनुभव की गई कि औद्योगिक विकास के फलस्वरूप

उत्पन्न होने वाली नवीन परिस्थितियों में किसी नए रूप में ही अपनी जाति के सदस्यों को सुरक्षा प्रदान की जाए। इस तरह जातिवाद का विकास हुआ।

जातिवाद के परिणाम

(Consequences of Casteism)

(क) जातिवाद प्रजातन्त्र के लिए घातक (Casteism is a danger to Democracy)—जातिवाद और प्रजातन्त्र दोनों एक-दूसरे के विरोधी हैं। अनेक पेशेवर नेता राजनीतिक क्षेत्र में इस जातिवाद से लाभ उठाते हैं और चुनाव के समय जाति के नाम पर ही वोट मांगते हैं और सफल भी होते हैं। इससे प्रायः ऐसे व्यक्ति चुन लिए जाते हैं, जो अपनी ही जाति के हितों के सम्मुख समाज के सामान्य हितों की बलि दे देते हैं। समानता का नारा लगता है, पर व्यावहारिक रूप से जातिवाद का ही डंका बजता रहता है।

(ख) औद्योगिक कुशलता में बाधा (Hindrance to technical efficiency)—चूँकि सरकारी तथा अन्य प्रकार की नौकरियों में नियुक्ति जाति के आधार पर होती है इस कारण प्रायः ऐसे ही लोगों की भरमार होती है जो अयोग्य और निकम्मे होते हैं। इसका परिणाम यह होता है कि योग्य और कुशल व्यक्तियों को मौका ही नहीं मिलता है। विभिन्न उद्योगों में काम करने वाले श्रमिकों के सम्बन्ध में जो अध्ययन हुए हैं, उससे यह पता चलता है कि जातिवाद के कारण सैकड़ों क्षमता-शाली कुशल श्रमिक शहर में बेकार घूम रहे हैं और नौसिखिए, अयोग्य और अकुशल श्रमिक बहुत बड़ी संख्या में उद्योगों में लगे हुए हैं।

(ग) नैतिक पतन (Moral degeneration)—जातिवाद से प्रेरित होकर अपनी जाति के सदस्यों को हर प्रकार की सुविधा प्रदान करने के लिए अनेक अनुचित और अनैतिक उपायों का सहारा लिया जाता है। इससे जातिवाद के नाम पर नैतिक पतन भी होता है। नैतिकता सभी प्रकार की-संकीर्णता की विरोधी है, परन्तु जातिवाद यही सिखाता है कि अपनी जाति के हित के सम्मुख अन्य जातियों के सामान्य हितों की या समग्र समाज के कल्याण की अवहेलना, यहाँ तक कि हनन भी किया जा सकता है। मानव-भावनाओं का यह संकुचित रूप जब जातिवाद के रूप में प्रकट होता है तो नैतिक-पतन सम्भवतः हो ही जाता है।

(घ) राष्ट्रीयता के विकास में बाधा (Hindrance to the growth of Nationality)—जातिवाद स्वस्थ राष्ट्रीयता के विकास में बाधक है। एक तो जाति-प्रथा ने स्वयं ही भारतीय समाज को अनेक भागों में बाँट दिया है उस पर जातिवाद के आधार पर इन विभिन्न भागों के बीच जब तनाव या संघर्ष कटु हो जाता है, सामुदायिक भावना का जो संकुचित रूप दिखाई देता है वह वास्तव में भयंकर और अहितकर है। राष्ट्रीयता के विकास के लिए यह आवश्यक है कि स्वस्थ सामुदायिक भावना का विकास हो, पर जातिवाद उस स्थिति को उत्पन्न होने ही नहीं देता। यह राष्ट्रीय एकता और प्रगति के लिए कितना घातक है, यह शायद सरकार जाति-पाँति के भेदभाव को दूर करने में प्रयत्नशील है और जहाँ भारतीय संविधान किसी भी जाति के विरुद्ध केवल धर्म, मूलवंश, जाति, जन्मस्थान अथवा इनमें से किसी भी आधार पर कोई विभेद न करती का विधान देता है, वहाँ जातिवाद अपने संकुचित क्षेत्र के अन्तर्गत कुछ संकुचित आदर्शों को प्रस्तुत करता है और

उन आदर्शों की प्राप्ति के लिए प्रयत्नशील रहता है। यह अवस्था देश और जनहित के लिए घातक है। जाति राष्ट्र से बड़ी नहीं है और न ही उसका स्थान राष्ट्र से ऊँचा है, इस सत्य को भी जातिवाद के प्रवर्तक क्यों भूल जाते हैं—यह एक गहन मनोवैज्ञानिक अध्ययन का विषय है।

जातिवाद तथा समाजवाद परस्पर विरोधी हैं

(Casteism and Socialism are opposite to each other)

यह कथन वास्तव में सच है कि जातिवाद और समाजवाद परस्पर विरोधी हैं। यह बात जातिवाद और समाजवाद की परिभाषा से ही स्वतः स्पष्ट हो सकती है। डॉ० शर्मा के अनुसार, “जातिवाद या जाति-भक्ति एक जाति के सदस्यों की वह भावना है जो देश के या समाज के सामान्य हितों का ख्याल न रखते हुए केवल अपनी जाति के सदस्यों के उत्थान, जातीय एकता और जाति की सामाजिक स्थिति (status) को बढ़ाने के लिए प्रेरित करती हो।” इसके विपरीत, जैसा कि पूज्य बापू ने लिखा है, “समाजवाद एक सुन्दर शब्द है और जहाँ तक मुझे मालूम है समाजवाद में समाज के सब सदस्य बराबर होते हैं; न कोई नीचा होता है और न कोई ऊँचा। यही समाजवाद है।” समाजवादी समाज में प्रत्येक व्यक्ति काम करेगा—काम करेगा केवल अपने लिए नहीं, अपितु दूसरों के लिए। ऐसे समाज में केवल अपने या अपने वर्ग के लिए धन-सम्पत्ति एकत्रित करना सम्भव नहीं, क्योंकि राष्ट्रीय धन का समान वितरण होता है; उत्पादन, विभाजन व वितरण पर समाज का अधिकार, पूँजीपति, राजा व जमींदारों का उन्मूलन, “प्रत्येक को उसकी आवश्यकता-नुसार और प्रत्येक से उसकी योग्यतानुसार” यही मूल-नीति होती है और लिंग (sex), जाति, जन्म, प्रजाति आदि के आधार पर किसी प्रकार के भेदभाव को पन-पने नहीं दिया जाता है। इस अर्थ में समाजवाद अत्यन्त व्यापक है और सम्पूर्ण समुदाय के सभी सदस्यों के अधिकतम हितों की पूर्ति इसका उद्देश्य या लक्ष्य है। इसके विपरीत जातिवाद अत्यन्त संकुचित है क्योंकि यह एक जाति के सदस्यों को इस बात के लिए प्रेरित करता है कि वे अपने देश या समाज के सामान्य हितों की बलि चढ़ाकर भी अपनी ही जाति के सदस्यों के कल्याण व प्रगति को सर्वोच्च प्राथमिकता प्रदान करें। जातिवाद का यह संकुचित रूप आज धार्मिक, राजनीतिक और सामाजिक जीवन के सभी क्षेत्रों में देखने को मिलता है। जाति के नाम पर शिक्षा संस्थाएँ और अस्पताल खोले जाते हैं; मन्दिरों का निर्माण होता है, विविध नौकरियों में नियुक्ति होती है और यहाँ तक कि चुनाव के समय जाति के नाम पर ही बोट तक मगि जाते हैं। आज जबकि जन्म और जाति दोनों का ही महत्व घट रहा है और सामाजिक प्रतिष्ठा या उच्च स्थिति, शिक्षा, धन, सत्ता, सम्मानजनक नौकरी आदि के आधार पर निश्चित हो रही है, तो ऐसी स्थिति में यदि एक जाति के लोग अपनी सामाजिक स्थिति को ऊँचा बनाए रखने के लिए संगठित रूप में अपनी जाति की सहायता नहीं लेते हैं तो निश्चय ही उनकी स्थिति दिन-प्रतिदिन गिरती जाएगी। इसलिए आवश्यकता इस बात की है कि जातीय संगठन और मनो-वृत्तियाँ (attitudes) इस भाँति आयोजित हों कि अपनी ही जाति के सदस्यों के लिए अधिकाधिक सामाजिक, आर्थिक एवं शिक्षा सम्बन्धी सुविधाएँ सुलभ हों ताकि एक जाति-विशेष के सदस्यों को शिक्षा, धन एवं सत्ता, सम्मानजनक नौकरी आदि प्राप्त होते रहें और उनकी सामाजिक स्थिति भी उत्तरोत्तर ऊपर उठती रहे, चाहे

उससे समाज के अन्य लोगों को कितनी ही हानि क्यों न हो। जातिवाद इसी उद्देश्य पर आधारित और इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए आयोजित होता है। इसी जातिवाद के फलस्वरूप एक जाति विशेष के सदस्यों को ही अधिक शिक्षा सम्बन्धी सुविधाएँ मिलती हैं, चुनाव के समय जाति के नाम पर बोट माँगकर ऐसे व्यक्तियों को चुनाव में सफल बनाया जाता है जो अपनी जाति के हितों के सम्मुख समाज के सामान्य हितों को पैरों तले कुचलते रहते हैं, नौकरियों में अपनी ही जाति के सदस्यों को प्राथमिकता देने से निकम्मे और अयोग्य व्यक्तियों को ही भरमार हो जाती है, आत्म-त्याग, सहनशीलता, स्नेह, राष्ट्रीयता की भावना आदि सद्गुणों का विकास नहीं हो पाता है; जबकि समाजवाद हर आम और खास की प्रगति, कल्याण व सुख-समृद्धि के सिद्धान्तों व लक्ष्यों पर आधारित होता है। अतः स्पष्ट है कि जातिवाद तथा समाजवाद परस्पर विरोधी हैं।

जातिवाद के निराकरण के उपाय

(Measures for the eradication of Casteism)

1. जाति-प्रथा को समाप्त करना— जातिवाद को समाप्त करने के लिए प्रायः यह सुझाव दिया जाता है कि जाति-प्रथा को ही समाप्त कर दिया जाए। भारतीय संविधान में जाति-पाति के भेदभाव को मिटाने के आदर्श को सामने रखा गया है। सरकारी तौर पर कुछ कानून भी पास किए गए हैं। इन सबके आधार पर यह विश्वास दिलाया जाता है कि भारत में शीघ्र ही जाति-विहीन समाज बनेगा। परन्तु इस प्रकार की कल्पना वास्तव में व्यावहारिक नहीं है क्योंकि भारतीय समाज में जाति-प्रथा की जड़ इतनी गहरी बैठ चुकी है कि दो-चार कानून पास करके उसे समाप्त नहीं किया जा सकता। वास्तव में इससे भी कुछ व्यावहारिक उपायों को हमें ढूँढ़ निकालना होगा। निम्नलिखित विवेचना से यही बात और भी स्पष्ट होगी—

2. 'जाति' शब्द का कम-से-कम प्रयोग—जैसाकि ऊपर ही कहा जा चुका है जातिवाद का हल कानून बनाकर या दो-चार दिनों के प्रयत्नों से सम्भव नहीं, इसके लिए तो निरन्तर प्रयत्न की आवश्यकता है और इस बीच 'जाति' शब्द का कम-से-कम प्रयोग होना चाहिए, जिससे अल्प आयु के बच्चों के मन में उसका कोई अवशेष न रह जाए। शिक्षा संस्थाओं और सरकारी कार्यालयों को इस सम्बन्ध में विशेष सचेत होना होगा और किसी भी रूप में 'जाति' शब्द का उल्लेख करवाकर जाति के महत्व को बढ़ावा नहीं देना चाहिए।

3. अन्तर्जातीय विवाह को बढ़ावा—डॉक्टर धरिये ने जातिवाद की समस्या को हल करने में अन्तर्जातीय विवाह को लोकप्रिय करने की आवश्यकता पर अधिक बल दिया है। अन्तर्जातीय विवाह से विभिन्न जाति के दो लड़के और लड़कियों को ही नहीं बल्कि बहुधा उन दोनों के दो परिवारों को भी एक-दूसरे के निकट आने का अवसर प्राप्त होता है। इस रूप में जाति-प्रथा उपेक्षित होगी और विभिन्न जातियों के बीच जो खाई है वह नष्ट हो जाएगी और जातिवाद के विरोध में क्रियात्मक आवाज उठने लगेगी। वे व्यक्ति जो जाति के बन्धनों को तोड़कर विवाह करते हैं, केन्द्रल जातिविहीन वातावरण की ही सृष्टि नहीं करेंगे बल्कि एक ऐसी पीढ़ी का भी पोषण करेंगे जो जाति-प्रथा की कट्टर विरोधी होगी। ऐसी अवस्था में जातिवाद के बीज को पनपने का मौका ही नहीं मिल पाएगा। परन्तु इस सम्बन्ध में आवश्यकता इस बात की है कि समाज में उन अनुकूल परिस्थितियों को उत्पन्न किया जाए जिनसे

कि अन्तर्जातीय विवाह को प्रोत्साहन मिल सके। आज भी ऐसे विवाहों के लिए इस देश में सामाजिक परिस्थितियाँ अनुकूल नहीं हैं और जो लोग इस प्रकार के विवाह कर लेते हैं, उन्हें काफी परेशानी उठानी पड़ती है। सामान्यवश इस दिशा में परिवर्तन शुरू हो गया है और यही कारण है कि ज्यों-ज्यों इस प्रकार के विवाहों को प्रोत्साहन मिलेगा, त्यों-त्यों उसका कुछ-न-कुछ प्रभाव जातिवाद की निराकरण प्रक्रिया पर अवश्य पड़ेगा।

4. आर्थिक और सांस्कृतिक समानता—विभिन्न जातियों में आर्थिक और सांस्कृतिक असमानता उनमें पारस्परिक द्वेष और प्रतियोगिता को जन्म देती है जिसका आधार आगे चलकर जातिवाद ही होता है। इसे समाप्त करने के लिए उनमें आर्थिक और सांस्कृतिक समानता लानी होगी ताकि इस समानता के आधार पर ही वे एक-दूसरे के निकट आ सकें। यह कार्य सामाजिक और आर्थिक प्रगति के द्वारा ही किया जा सकता है जिससे कि औद्योगिक दृष्टि से परिपक्व समाज का निर्माण किया जा सके और एक ऐसी सामाजिक व्यवस्था स्थापित की जा सके जिसमें सभी नागरिकों को समान अवसर प्राप्त हों।

5. उचित शिक्षा—जातिवाद को समाप्त करने के लिए एक महत्वपूर्ण आवश्यकता उचित शिक्षा की है। शिक्षा संस्थाओं में मनोरंजन के विभिन्न साधनों आदि के माध्यम से ऐसी व्यवस्था होनी चाहिए कि एक ओर बच्चों के मन में जाति-पाँति का भेदभाव उत्पन्न ही न हो सके और दूसरी ओर जातिवाद के विरुद्ध स्वस्थ जनमत पनप सके। इसके लिए सामूहिक शिक्षा (mass education) की आवश्यकता है और इस कार्य में सभी संस्थाओं व साधनों का सहयोग भी आवश्यक है। इस प्रकार की शिक्षा के द्वारा समाज में नई मनोवृत्तियों और व्यवहारों को विकसित करने का प्रयत्न करना होगा। तब कहीं जातिवाद को निर्मूल किया जा सकेगा।

6. नये प्रकार के सामाजिक व सांस्कृतिक संगठन—कुछ विद्वानों का मत यह है कि जाति-प्रथा और इससे सम्बन्धित भावनाएँ भारत के सम्पूर्ण वातावरण में छाई हुई हैं और यहाँ के प्रत्येक व्यक्ति की नस-नस में समाई हुई हैं। इसलिये जातीय भावनाओं को किसी-न-किसी रूप में अभिव्यक्त करना ही उनके लिये स्वाभाविक है। इसकी अभिव्यक्ति को दबाना उचित न होगा। अधिक वैज्ञानिक तरीका यह होगा कि इस अभिव्यक्ति के क्षेत्र को बदल दिया जाय। इसके लिये यह आवश्यक है कि नये प्रकार के सामाजिक व सांस्कृतिक समूहों का संगठन किया जाय और इन संगठनों में सभी जाति के लोगों की सदस्यता हो। इस प्रकार के संगठन बन जाने से लोगों को अपनी जातीय भावनाओं को व्यक्त करने का एक आधार प्राप्त होगा, परन्तु इस आधार से किसी एक जाति की नहीं बल्कि एकाधिक जातियों के हितों की रक्षा व सामान्य प्रगति सम्भव होगी। परन्तु स्मरण रहे कि इस प्रकार के समूह कहीं कोई विशिष्ट समूह-स्वार्थ की पूर्ति के लिये संगठित न हो जायें। यह हो सकता है कि एकसमान आर्थिक या धार्मिक स्वार्थ रखने वाले व्यक्ति एक साथ मिलकर एक संगठन का निर्माण करें और कालान्तर में यह संगठन इतना शक्तिशाली हो जाये कि सामान्य स्वार्थों को आघात लगे। वह परिस्थिति जातिवाद का ही एक दूसरा रूप या उससे भयंकर रूप हो सकता है। नये प्रकार के सामाजिक व सांस्कृतिक विषयों का विकास करते समय इस बात का ध्यान रखना परमावश्यक है।

मोटे तौर पर साम्प्रदायिकता भारतीय राजनीतिक दांव-पेचों की ही एक उपोत्पाद (by-product) है, और इसका जन्म एवं लालन-पालन भी भारतीय राजनीतिक रंगमंच पर ही हुआ है। वह रंगमंच आज भी उस साम्प्रदायिकता का पोषण बहुत कुछ खुले तौर पर, शायद बिना किसी हिचक के साथ, कर रहा है। इसका उत्तरदायित्व किस पर है? यह दूसरा प्रश्न है, पर समस्या यह है कि इस साम्प्रदायिकता के कारण भारतीय जनकल्याण, राष्ट्रीय एकता और संगठन को आज कितना भयंकर खतरा पैदा हो गया है, जिसका कि लाभ हमारे पड़ोस के दुश्मन तक उठाने की ताक में बैठे हैं। अपने उग्र रूप में यह साम्प्रदायिकता कितनी भयंकर हो सकती है, वह तो विभक्त भारत माँ अपने कटे अंगों सहित हमें हर पल दिखा रही है, और अपनी मर्म-व्यथा को मर्मन्तक मुक शब्दों में व्यक्त कर रही है। देश विभाजन की वह महान् क्षति आज भी पूरी नहीं हो पाई है जबकि कुछ समय पहले हुए काश्मीर, रांची, बनारस तथा अलीगढ़ के साम्प्रदायिक दंगों ने उस घाव पर और भी नमक छिड़क दिया है। और साथ ही समाजशास्त्र के प्रत्येक विद्यार्थी को इसके लिये बाध्य किया है कि वह साम्प्रदायिकता को वास्तविक रूप में समझ लें, और इस विषाक्त फोड़े को भारतीय जन-जीवन से सदा के लिए काट फेंकने के हेतु कुछ रचानात्मक एवं व्यावहारिक उपायों को प्रस्तुत करे। प्रस्तुत अध्याय इसी दिशा में एक सामान्य प्रयत्न है।

साम्प्रदायिकता का अर्थ (Meaning of Communalism)

'साम्प्रदायिकता' शब्द का प्रयोग कभी-कभी बहुत ही अस्पष्ट एवं अनिश्चित अर्थों में किया जाता है, जैसा कि इस तथ्य से प्रगट है कि कुछ लोग इसके जन्म तथा विकास का स्रोत हिन्दु-पुनर्जागरण में देखने का प्रयास करते हैं और लाला लाजपत राय, पंडित मदनमोहन मालवीय तथा लोकमान्य तिलक जैसे राष्ट्रवादी नेताओं को सम्प्रदायवादी कहकर पुकारते हैं। वास्तव में इससे भारी भ्रम उत्पन्न होने की आशंका रहती है। अतः हम सर्वप्रथम इसके अर्थ को स्पष्ट एवं निश्चित करने का प्रयास करेंगे।

वास्तव में साम्प्रदायिकता के अन्तर्गत वे सभी भावनाएँ व क्रियाकलाप आ जाते हैं जिनमें किसी धर्म अथवा भाषा के आधार पर किसी समूह-विशेष के हितों पर बल दिया जाए और उन हितों को राष्ट्रीय हितों के ऊपर भी प्राथमिकता दी जाये तथा उस समूह में पृथक्ता की भावना उत्पन्न की जाये या उसको प्रोत्साहन दिया जाय। पारसियों, बौद्धों तथा ईसाइयों के अपने-अपने संगठन हैं, साथ ही वे अपने सदस्यों के हितों की साधना में लिप्त रहते हैं। परन्तु ऐसे संगठनों को सामान्यतः साम्प्रदायिक नहीं कहा जाएगा क्योंकि वे किसी पृथक्ता की भावना से प्रेरित नहीं हैं। इसके विपरीत मुस्लिम लीग, हिन्दू महासभा,

तथा अन्य कुछ संस्थाओं को साम्प्रदायिक कहा जाएगा क्योंकि वे धार्मिक अथवा भाषा-समूहों के अधिकारों तथा हितों को राष्ट्रीय हितों के भी ऊपर रखते हैं। संक्षेप में, हम श्री स्मिथ (W. C. Smith) के शब्दों में कह सकते हैं कि "एक साम्प्रदायिक व्यक्ति (अथवा व्यक्ति-समूह) वह है जो कि प्रत्येक धार्मिक अथवा भाषायी समूह को एक ऐसी पृथक् सामाजिक तथा राजनीतिक इकाई मानता है, जिसके हित अन्य समूहों के पृथक् होते हैं और उनके विरोधी भी हो सकते हैं। ऐसी ही व्यक्तियों अथवा व्यक्ति-समूहों की विचारधारा को साम्प्रदायवाद या साम्प्रदायिकता कहा जाएगा।"

सामान्यतः एक सम्प्रदायवादी का दृष्टिकोण समाज-विरोधी होता है। उसको समाज-विरोधी इसलिये कहा जा सकता है क्योंकि वह अपने समूह के संकीर्ण हितों को पूरा करने के लिये अन्य समूहों के और सम्पूर्ण देश के भी हितों की अवहेलना करने से पीछे नहीं हटता।

इस सम्बन्ध में एक अन्य महत्वपूर्ण बात यह भी है कि एक साम्प्रदायिक संस्था का उद्देश्य शासकों के ऊपर दबाव डालकर अपने सदस्यों के लिये अधिक सत्ता, प्रतिष्ठा तथा राजनीतिक अधिकार प्राप्त करना होता है। और भी स्पष्ट शब्दों में एक साम्प्रदायिक संगठन एक दबाव डालने वाला समूह होता है। इस प्रकार के समूहों का जन्म हमारे देश में अंग्रेजी काल में हुआ था, और वे आज भी उपस्थित हैं, यद्यपि उनकी कार्यपद्धति में काफी अन्तर आ गया है।

साम्प्रदायिकता का जन्म तथा विकास (Origin and Development of Communalism)

अधिकांशतः व्यक्ति यह स्वीकार करते हैं कि साम्प्रदायिकता का बीज अंग्रेज सरकार ने बोया जिसने कि भारत में 'फूट डालो और शासन करो' (Divide and Rule) की नीति अपनायी। प्रो० अब्दुल मजीद खाँ ने अपनी पुस्तक 'कम्युनलिज्म इन इण्डिया, इट्स ओरिजिन एण्ड ग्रोथ' (Communalism in India, its Origin and Growth) में इस बात के अनेक प्रमाण दिये हैं। सन् 1885 में स्थापित भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की राष्ट्रवाद की बढ़ती हुई बाढ़ को रोकने के लिये अंग्रेज सोच रहे थे कि भारत की मुख्य दो जातियों—हिन्दुओं व मुसलमानों—के बीच एक दरार उत्पन्न करना आवश्यक है। लार्ड कर्जन द्वारा बंगाल का विभाजन, और उसके उत्तराधिकारी लार्ड रिडो द्वारा मुसलमानों के पृथक् निर्वाचक मण्डलों की प्रणाली अपनाना—यह दो इस दिशा में जघन्य कार्य थे। सन् 1909 में इस प्रणाली को तत्कालीन भारतमन्त्री लार्ड जॉर्ज मार्ल की इच्छा के विरुद्ध लागू भी कर दिया गया। अतः सन् 1906 में मुस्लिम लीग भी बन गई और इसने भारतीय मुसलमानों में साम्प्रदायिक दृष्टिकोण एवं भावना को उत्पन्न करने और उसे तीव्र बनाने में एक अत्यन्त महत्वपूर्ण भूमिका अदा की। सुप्रसिद्ध सर्वोदयी विचारक श्री सुरेश राम ने हाल ही में (11 अप्रैल, 1973) प्रकाशित अपनी एक रचना में लिखा है कि "मुस्लिम लीग के कारनामों से देश का बच्चा-बच्चा बाँफ़ है, साम्प्रदायिकता ही इसका आधार है, वह सिद्धांत की दृष्टि से हिन्दु और मुसलमानों को केवल दो अलग-अलग धर्म ही नहीं, दो अलग-अलग राष्ट्र मानती है, उसने ही भारत के बँटवारे की आवाज उठाई और इसी के परिणामस्वरूप पाकिस्तान बना।"

अपनी पुस्तक 'The Communal Triangle in India' में श्री अशोक मेहता ने भी यह मत व्यक्त किया है कि साम्प्रदायिकता की समस्या भारत में अंग्रेज शासकों द्वारा जान-बूझकर उत्पन्न की गई। अपनी रचना 'The Problem of Minorities' में डॉ० के० बी० कृष्ण भी इसी निष्कर्ष पर पहुंचे हैं।

साम्प्रदायिकता—वर्तमान भारत में (Communalism—in Modern India)

उपरोक्त वर्णन से यह स्पष्ट है कि पुराने भारत में या दूसरे शब्दों में स्वाधीनता से पहले भारत में साम्प्रदायिकता मुख्य रूप में अंग्रेजों की 'फूट डालो और शासन करो' नीति की ही एक उपज थी। अंग्रेजों ने ही उसको उकसाया। इतना ही नहीं, अंग्रेजों ने साम्प्रदायिकता के कड़वे विष को सम्पूर्ण भारत में फैलाने के लिये कोई कसर नहीं उठा रखी। यह तथ्य इसी बात से स्पष्ट हो जाता है कि अंग्रेजों ने सदैव ही मुस्लिम लीग, जो कि मुस्लिमानों की एक मुख्य रूप से साम्प्रदायिकता को बढ़ाने वाली संस्था थी, को आगे बढ़ने का प्रोत्साहन दिया। साथ ही हिन्दू महासभा को सदैव ही हितोत्साहित किया जिसको कि हिन्दुओं की ओर से एक साम्प्रदायिक संस्था कहा जा सकता है। और सम्भवतः इसी का भयंकर परिणाम, जो कि 1947 में हमें देखने को मिला—वह था अखण्ड भारत का खण्डित होना। भारत के दो भाग हो गये—'हिन्दुस्तान' और 'पाकिस्तान'।

आज भारत में अब भी कुछ संस्थायें ऐसी हैं जो कि किसी-न-किसी रूप में साम्प्रदायिक कही जा सकती हैं, जिसमें कि मुस्लिम लीग, जमायते इस्लामी, मुस्लिम मजलिस, तामीरे-मिल्लत, इत्तेहाद-उल-मुसलमीन, हिन्दू महासभा और राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ आदि का नाम लिया जा सकता है। इनमें से कुछ संस्थायें राजनीतिक दल के रूप में भी हैं, परन्तु उन्हें राजनीतिक क्षेत्र में कोई विशेष सफलता प्राप्त नहीं हुई है। अतः ये संस्थायें अप्रत्यक्ष रूप से ही राजनीति में भाग लेती रहती हैं।

श्रीनगर (काश्मीर), रांची, अलीगढ़, बनारस, मुरादाबाद, बड़ौदा, मरठ आदि स्थानों में हुए हिन्दू-मुस्लिम साम्प्रदायिक दंगों को देखते हुये यह कहा जा सकता है कि अब भी भारत में साम्प्रदायिकता का बोलबाला कम नहीं है। अभी हाल में ही रामपुर में हुए 'मजलिस-मुशावरत' के सम्मेलन में 'मुस्लिमानों' के हितों की मांग की गई है। हिन्दू महासभा और राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ भी अपने-अपने उद्देश्यों को लेकर अपनी-अपनी मांगों का नारा लगाते ही हैं। अतः यह कहना कि स्वाधीनता के बाद भारत में साम्प्रदायिकता कम हुई है, उचित नहीं है। वास्तव में अभी भी उसकी जड़ अत्यधिक मजबूत है।

साम्प्रदायिकता के दुष्परिणाम (Evil Consequences of Communalism)

1. आपसी द्वेष—साम्प्रदायिकता से विभिन्न वर्गों में आपसी द्वेष को बढ़ावा मिलता है। केवल बढ़ावा ही नहीं, बल्कि आपसी द्वेष का एक बहुत बड़ा कारण ही साम्प्रदायिकता है। जब हिन्दू और मुसलमान अपने-अपने हितों के लिये एक ही सरकार से लड़ते हैं, तो आपस में द्वेष, वैमनस्य हो जाना स्वाभाविक ही है। यही द्वेष की भयंकर रूप धारण कर समाज में आतंक फैला देता है; यही द्वेष समाज की शान्ति भंग कर देता है और यही द्वेष समाज के सदस्यों में मार-काट फैला देता है।

2) आर्थिक हानि—साम्प्रदायिकता के कारण गम्भीर आर्थिक हानि भी होती है। न जाने कितनी दूकानें लूटी जाती हैं, न जाने कितनी राष्ट्रीय सम्पत्ति नष्ट की जाती है, और न जाने कितने व्यक्ति कार्य नहीं कर पाते ॥ इतना ही नहीं, साम्प्रदायिक संस्थाओं पर न मालूम कितना धन व्यय किया जाता है। यदि वही धन जनता की भलाई के लिये व्यय किया जाये तो जनता अधिक सुखी एवं समृद्ध हो सकती है।

13. प्राणहानि—शायद इस सत्य को अधिक स्पष्ट करने की आवश्यकता नहीं कि साम्प्रदायिकता के कारण प्राणहानि भी अत्यधिक होती है। शायद ही ऐसा कोई साम्प्रदायिक दंगा हुआ हो जिसमें कुछ व्यक्तियों की जानें न गई हों ॥ रांची (बिहार), श्रीनगर, बनारस, अलीगढ़ आदि के साम्प्रदायिक दंगों का उदाहरण सामने है। इन दंगों में अनेकों व्यक्तियों की जानें तो गईं ही, साथ ही अनेकों व्यक्ति जीवन व मृत्यु का संघर्ष करने के लिये घायलावस्था में पड़े रहे।

4. राजनीतिक अस्थिरता—साम्प्रदायिकता का एक दुष्परिणाम राजनीतिक अस्थिरता भी है। साम्प्रदायिकता वह परिस्थितियाँ उत्पन्न कर देती है, या उन परिस्थितियों को उत्पन्न करने में सहायक होती है, जिससे कि देश में राजनीतिक अस्थिरता आ जाती है ॥ रांची के साम्प्रदायिक दंगों के फलस्वरूप संयुक्त विधायक दल के विरोधी दल अपनी-अपनी तरह से जनता को फुसला रहे थे और जनता को भी एकबारगी सरकार में सन्देह होने लगा था। काश्मीर के साम्प्रदायिक झगड़ों की ओर दृष्टिपात करने से भी इसी तथ्य की पुष्टि होती है। अभी हाल ही में हुए रामपुर के 'मजलिस-मुशावरत' के अधिवेशन में डॉ० अब्दुल जलील फरीदी ने सरकार से मुसलमानों के सही प्रतिनिधित्व की माँग की है। वास्तव में इन सब बातों से, प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से साम्प्रदायिक राजनीतिक अस्थिरता को प्रोत्साहन ही प्राप्त होता है।

5. राष्ट्रीय एकता में बाधा—साम्प्रदायिकता राष्ट्रीय एकता की गम्भीर शत्रु है। यह दोनों तो परस्पर विरोधी ही हैं। राष्ट्रीय एकता का तात्पर्य है सभी लोग आपस में एक होकर रहें, सबके हित को अपना हित मानें। जबकि साम्प्रदायिक इसके बिल्कुल विरुद्ध हैं—इनका लक्ष्य है कि विभिन्न साम्प्रदायों के व्यक्ति अपने-अपने हितों के लिये संघर्ष करें ॥ और जब यह संघर्ष विद्यमान होगा, तो फिर राष्ट्रीय एकता कैसी ?

6. राष्ट्रीय सुरक्षा को खतरा—भारत एक बहु-सम्प्रदायवादी देश है। इसमें अनेक अल्पसंख्यक एवं बहुसंख्यक व्यक्ति निवास करते हैं और इन्हीं अल्पसंख्यक व बहुसंख्यक के बीच जो साम्प्रदायिक झगड़े या तनाव पैदा होते हैं, उनसे भारत की राष्ट्रीय सुरक्षा को गम्भीर खतरा पैदा हो सकता है। विनोबा भावे ने कहा है कि, 'हमारे यहाँ जो मुसलमान, ईसाई वगैरह अल्पसंख्यक हैं, उनका उत्तम रक्षण होना चाहिए। प्रेम से उनका बचाव करना चाहिए। यह वृत्ति अगर नहीं होगी, तो आप लाख कोशिशें करें, तो भी आपकी आजादी नहीं रहेगी—यह आप लिख लीजिये ॥' अपने ही कुछ पड़ोसी देश भारत में साम्प्रदायिकता की भावना को फैलाकर भारत-

1. आचार्य विनोबा भावे, 'अल्पसंख्यकों की रक्षा पर आजादी निर्भर' नामक लेख, 'सर्वोदय सामयिकी' से उद्धृत, सर्वे सेवा संघ प्रकाशन, बनारस, पृ० 10।

वासियों विशेषकर हिन्दुओं और मुसलमानों में फूट पैदा करने का सतत प्रयत्न करते रहते हैं। स्पष्ट ही है कि साम्प्रदायिकता से राष्ट्रीय सुरक्षा को भी एक गम्भीर खतरा है।

उपरोक्त दुष्परिणामों के अतिरिक्त भी कई अन्य अप्रत्यक्ष दुष्परिणाम हो सकते हैं। जैसे साम्प्रदायिकता से देश में आर्थिक उन्नति व औद्योगिक विकास में भी बाधा पड़ती है। अन्य राष्ट्रों से भारत के सम्बन्ध पर भी साम्प्रदायिकता का बुरा प्रभाव पड़ता है। कुछ भी हो, साम्प्रदायिकता मानवता का एक भयंकर शत्रु है।

साम्प्रदायिकता को दूर करने के सुझाव

(Suggestions for eradicating Communalism)

जैसा कि उपरोक्त वर्णन से स्पष्ट है साम्प्रदायिकता मानवता के लिए एक गम्भीर अभिशाप है और भारत जैसे देश में तो यह और भी घातक है। हमें इसे किसी भी कीमत पर समाप्त करना होगा। मानवता की भयंकर शत्रु साम्प्रदायिकता को मिटाना ही होगा। साम्प्रदायिकता को दूर करने के लिये कांग्रेस महासमिति ने एक प्रस्ताव भी पास किया था। इसके अतिरिक्त गांधीजी, आचार्य विनोबा भावे एवं बाबू जयप्रकाश नारायण ने भी अनेक सुझाव प्रस्तुत किए हैं। (आचार्य विनोबा भावे के इस सम्बन्ध में कुछ सुझाव निम्नलिखित हैं) —

(1) सर्वत्र इस भावना को प्रोत्साहन दिया जाये कि सब-धर्मों के लोग मिल-जुलकर रोज मौन प्रार्थना करें। सार्वजनिक अथवा व्यक्तिगत स्थानों पर, जहाँ प्रार्थना आदि के कार्यक्रम होते हैं, ऐसा वातावरण बनाया जाए।

(2) शिक्षण में आध्यात्मिक मूल्यों का समावेश किया जाये। साम्प्रदायिक या मजहबी क्रिया-कर्म भिन्न चीज है।

(3) किसी भी सार्वजनिक क्षेत्र में बहुमत के आधार पर कोई प्रवृत्ति पैदा न की जाए। सारा कार्य ऐसे ढंग से हो, कि अल्पसंख्यकों को अपने अल्पसंख्यक होने का भान ही न रहे।

(4) धर्म विशेष से सम्बन्ध न रखने वाले (सेक्यूलर) व्यक्तिगत और सार्वजनिक उत्सव-प्रसंगों में सब लोग मिल-जुलकर सहयोग करें।

(5) विभिन्न धार्मिक तथा सांस्कृतिक उत्सवों में सब धर्मों के लोगों को सम्मिलित किया जाये। आपस में विचारों का आदान-प्रदान किया जाये और इस प्रकार एक-दूसरे के प्रति भय के वातावरण को दूर किया जाये।

(6) विभिन्न धर्म वालों को, विचार वालों को और विशेषतः मुसलमानों को अध्ययन-मण्डल या विचार गोष्ठियाँ (स्टडी सर्किल) चलानी चाहिए, और उनमें विभिन्न धर्मों के उम्तों (सिद्धान्तों) का अध्ययन-चिन्तन हो।

(7) ग्रामदान, शान्ति सेना तथा खादी सम्बन्धी जो त्रिविध कार्यक्रम बना है, वह सारे देश में बिना किसी भेदभाव के फैलाया जाये।

उपरोक्त सुझावों के अतिरिक्त भी कुछ अन्य सुझाव इस प्रकार दिये जा सकते हैं—

2. आचार्य विनोबा भावे, 'सर्वोदय सप्तयित्री', सर्व सेवा संघ प्रकाशन, बनारस, परिशिष्ट 2, पृ. 35।

(1) सरकार को सदैव ही इस-बात का ध्यान रखना चाहिये कि उसके द्वारा ऐसा कोई भी कार्य न होने पाये जिसके द्वारा साम्प्रदायिकता को प्रोत्साहन मिलता हो ।

(2) सरकार को सदैव ही इस प्रकार के कानूनों का निर्माण करना चाहिए, जो कि हर व्यक्ति पर समान रूप से लागू होते हों । कानून लागू होने में किसी भी प्रकार का जाति, लिंग धर्म, भाषा एवं सम्प्रदाय सम्बन्धी भेदभाव नहीं होना चाहिये ।

(3) सरकार को इस सम्बन्ध में प्रचार भी करना होगा । कहने का तात्पर्य है कि भारत में विभिन्न सम्प्रदायवादी रहते अवश्य हैं परन्तु यदि भारत सरकार इनके आपस के भेदभाव मिटाना चाहती है तो जनता को यह विश्वास दिलाना होगा कि हम सब एक हैं ।

(4) भारत में विभिन्न समयों पर अनेक सम्प्रदाय सरकार में अपने विशेष प्रतिनिधित्व की मांग करते हैं । सरकार को इन सबके इस प्रस्ताव को 'केवल साम्प्रदायिकता' के आधार पर ठुकराना होगा और उन्हें 'एक राष्ट्र' का सबर देना होगा क्योंकि इनसे भी साम्प्रदायिकता को बढ़ावा मिलता है ।

(5) भाषा के सम्बन्ध में भी भारत सरकार को अपनी नीति ठीक करनी होगी । यह भी भारत में साम्प्रदायिकता का एक बहुत बड़ा कारण है ।

साम्प्रदायिक सौहार्द के लिये 7-सूत्री कार्यक्रम, 1976

(7-Point Action Programme for Communal Harmony, 1976)

राष्ट्रीय एकीकरण पर कार्यदल (The Working Group on National Integration) ने साम्प्रदायिक सौहार्द उपलब्ध करने के लिये 28 नवम्बर, 1976 को एक 7-सूत्री कार्यक्रम बनाया तथा राष्ट्रीय सौहार्द की शक्तियों को मजबूत बनाने के लिये अन्य अनेक दूरगामी निर्णय लिये । दल की कार्यवाही की अध्यक्षता तत्कालीन गृहमन्त्री श्री ब्रह्मानन्द रेड्डी ने की । दल की सिफारिशें इस प्रकार हैं—

साम्प्रदायिक सौहार्द (Communal Harmony)—समाज के कुछ वर्गों पर उपरधियों तथा सुधार-विरोधी तत्वों की पकड़ को तोड़ा जाये तथा इसके लिये प्रचार माध्यम को पूरी तरह सक्रिय किया जाए ।

आधुनिकता (modernity) के सकारात्मक तत्वों (positive elements) को जीवन के सभी क्षेत्रों में प्रोत्साहित किया जाये तथा गुमराह तत्वों को धर्मोन्मत्त तत्वों की पकड़ से निकाला जाये ।

अल्पसंख्यकों के प्रति बहुसंख्यक समुदाय के रवये में एक रचनात्मक परिवर्तन हो, ताकि अल्पसंख्यक अपनी सारी भ्रान्तियों को त्यागकर राष्ट्र की मुख्य धारा में सम्मिलित हो जाएँ ।

विभिन्न धार्मिक विश्वासों तथा पेशों वाले लोगों के बच्चों में मुक्त मेल-जोल को प्रोत्साहित किया जाए । सभी प्रकार का बिरादरीवाद समाप्त हो तथा इस कार्य में प्रगतिशील नेताओं की सेवाओं का उपयोग किया जाये ।

छात्र हिंसा (Student Violence)—छात्रों को गैर-शैक्षिक (Non-academic) गतिविधियों में लिप्त करने से राजनीतिक दलों को बाज रहना चाहिए । शिक्षा के क्षेत्र में छात्रों की उचित मांगों पर विचार करके उन्हें पूरा किया जाना चाहिए ।

औद्योगिक सम्बन्ध (Industrial Relations)—यद्यपि प्रबन्धकों और श्रमिकों के संयुक्त परिषद् की स्थापना करने एवं हड़ताल व तालाबन्दी को रोकने सम्बन्धी अधिनियमों के पारित करने से अच्छे परिणाम मिले हैं; फिर भी उत्पादन बढ़ाने एवं हिंसा को मिटाने के उद्देश्य से एक उद्योग में एक ही श्रमिक यूनियन बनाने के लिये प्रयत्न किया जाना चाहिये।

उग्रपंथी हिंसा (Extremist Violence)—आदिवासी क्षेत्रों के विकास पर नये सिरे से बल दिया जाये तथा इन क्षेत्रों में अपर्याप्त विकास से निपटने के लिये विशेष कदम उठाए जायें। पुलिस व प्रशासनिक तन्त्र को पर्याप्त रूप से संगठित करके हर प्रकार की हिंसा, चाहे वह साम्प्रदायिकता हो या उग्रपंथी, से निपटने के लिये दीर्घ-कालीन समाधान निकाले जायें।

अल्पसंख्यक तथा उनका रोजगार (Minorities and their employment)—अल्पसंख्यक समुदायों के छात्रों को प्रतिष्ठित एवं प्रगतिशील शिक्षा संस्थाओं में दाखिले के अवसर प्रदान किए जाएं तथा विशेष समुदायों की आवश्यकताओं की पूर्ति करने वाली शिक्षा संस्थाओं से उन्हें दूर रक्खा जाए। इन छात्रों की सहायता के लिये गैर-साम्प्रदायिक संगठनों को प्रोत्साहित किया जा सकता है। बहुसंख्यक समुदायों के लोगों के उद्योगों में अल्पसंख्यकों की भर्ती हो सके, ऐसे नियम लागू किये जाएं। स्कूल-कॉलेजों में अल्पसंख्यकों के प्रति भेदभाव पर कड़ी कार्रवाई की जाए।

हरिजनों पर अत्याचार—इस दिशा में अब तक उठाये गये विभिन्न कदमों के फलस्वरूप हरिजनों की आर्थिक तथा सामाजिक स्थिति सुधर रही है। जरूरत इस बात की है कि लोगों के परम्परागत रवैये में परिवर्तन के लिए प्रचार माध्यम को तेज किया जाये एवं हरिजनों पर होने वाले अत्याचारों से निपटने के लिये कठोर व प्रभावशाली कदम उठाये जायें।

वास्तव में मानव-जाति का भविष्य एकता में है। विज्ञान और मानवता, दोनों का यही संकेत है। हर वह चीज, जो इस रास्ते में बाधा बनकर आएगी, चाहे वह राष्ट्र हो, जाति हो, भाषा हो, धर्म हो या सम्प्रदाय ही क्यों न हो, उसे हटाना ही होगा। भारत को तो इस सम्बन्ध में अपना विशेष पार्ट अदा करना है, क्योंकि विश्ववन्धुत्व और मानवता यहां की विशेष परम्परा रही है। भारत में तो अनेक जाति, अनेक धर्म, अनेक भाषा और सम्प्रदाय के व्यक्ति निवास करते हैं। अतः यहाँ तो एकता पैदा करना और भी महत्वपूर्ण है, और हाल के साम्प्रदायिक दंगों ने तो हमें इस विषय में और भी सचेत कर दिया है।

आधुनिक भारत में जिन अवधारणाओं ने सामाजिक-राजनीतिक जीवन में अपना प्रभाव विस्तृत किया है उनमें क्षेत्रीयता (Regionalism) भी एक है। इस क्षेत्रीयता या क्षेत्रवाद का जन्म कब और कैसे हुआ यह बताना तो कठिन है, पर इतना अवश्य कहा जा सकता है कि आज इसका जो उग्र रूप प्रगट हुआ है वह राष्ट्रीय एकता की समस्या को और भी गम्भीर बना देता है। स्वतन्त्रता-प्राप्ति के समय देश-विभाजन के फलस्वरूप भारत की अखण्डता पर जो कुठाराघात हुआ था वह क्षेत्रवाद के कारण और भी भयंकर हो गया है। इस क्षेत्रीयता की भावना का जन-जीवन में जड़ पकड़ने के कारण आज हमारा यह देश केवल हिन्दुस्तान और पाकिस्तान में ही नहीं अपितु एकाधिक क्षेत्रों में बँट गया है और प्रत्येक क्षेत्र के लोग दूसरों पर अपनी श्रेष्ठता को प्रमाणित करने का बीड़ा उठा चुके हैं। पर इस सम्बन्ध में और कुछ लिखने से पूर्व क्षेत्रीयता के वास्तविक अर्थ को समझ लेना आवश्यक है।

क्षेत्रीयता का विस्तृत अर्थ

(Wider Meaning of Regionalism)

श्री लुण्डबर्ग (Lundberg) ने लिखा है कि “क्षेत्रीयता उस अध्ययन से सम्बन्धित है जिसमें कि एक भौगोलिक क्षेत्र तथा मानव-व्यवहार के बीच पाये जाने वाले सम्बन्ध पर बल दिया जाता है। इस रूप में क्षेत्रीयता एक प्रकार का विश्व-परिस्थिति-विज्ञान है क्योंकि इसकी रूचि विभिन्न क्षेत्रों के बीच तथा एक ही क्षेत्र के विभिन्न अंगों के बीच पाए जाने वाले प्रकार्यात्मक सावयवी सम्बन्धों (functional organic relationships) में है।”¹

उपरोक्त परिभाषा में श्री लुण्डबर्ग ने क्षेत्रीयता को विज्ञान की एक शाखा के रूप में देखा है जिसका कि अध्ययन-विषय दूसरे क्षेत्रों के संदर्भ में एक क्षेत्र-विशेष के लोगों का सामाजिक व्यवहार है। इस दृष्टिकोण से क्षेत्रीयता भी मानव-व्यवहार की एक विशेष अभिव्यक्ति है और इस अभिव्यक्ति की उल्लेखनीय विशेषता यह है कि यह अपने क्षेत्र की परिस्थितियों द्वारा प्रभावित और निर्देशित होती रहती है। अर्थात् इसमें एक क्षेत्र-विशेष की परिस्थितिगत अवस्थाओं की झलक सुस्पष्ट रूप में देखने को मिलती है। क्षेत्रीयता इस बात की द्योतक है कि लोगों का एक ‘क्षेत्रीय चरित्र’

1. “Regionalism refers to any study of social behaviour in which the emphasis is on the relation between the geographical area and the behaviour in question. So understood regionalism is a sort of world ecology, in that its interests extend to the functional, organic relationships between regions as well as between parts of each region.”—George A. Lundberg, *Regionalism in Transitsm*, p. 132.

(regional character) होता है और उसी के संदर्भ में उनके व्यवहारों को वास्तविक अर्थ में समझा जा सकता है।

प्रो० बोगार्डस (Bogardus) ने लिखा है कि यदि किसी भौगोलिक क्षेत्र का आर्थिक साधन इस भाँति विकसित हो जाए कि उनके लिए अपनी विलक्षणता को बनाए रखना सम्भव हो तो वहाँ के लोगों में सामूहिक हितों का विकास और इस प्रकार क्षेत्रीय आदर्शों का विकास हो सकता है।² यहीं से क्षेत्रीयता की नींव पड़ती है। प्रो० बोगार्डस ने यह भी लिखा है कि क्षेत्रीयता में एक सांस्कृतिक समग्रता निहित होती है (Regionalism involves a cultural wholeness)।³ एक क्षेत्र के सांस्कृतिक लक्षणों में कुछ-न-कुछ समानता होती है। एक क्षेत्र का अपना एक सांस्कृतिक इतिहास होता है। इसी के आधार पर उस क्षेत्र के लोगों के विचारों, भावनाओं, क्रियाओं, तथा व्यवहारों में एक समानता या विलक्षणता पनप जाती है और उसे बनाए रखने का भी प्रयत्न किया जाता है। फिर भी इन क्षेत्रीय आदर्शों तथा स्वार्थों को इतना अधिक बढ़ने या उग्र रूप धारण करने नहीं दिया जाता कि वह राष्ट्रीय हित का हनन कर सके। इसलिए डॉ० मुकरजी (R. Mukherjee) ने लिखा है कि क्षेत्रीयता राष्ट्रीयता के अधीन है (Regionalism is subordinate to nationalism)।⁴

उपरोक्त विवेचना के आधार पर यह कहा जा सकता है कि क्षेत्रीयता एक क्षेत्र-विशेष में निवास करने वाले लोगों के अपने क्षेत्र के प्रति वह विशेष लगाव व अपनेपन की भावना है जिसे कि कुछ सामान्य (common) आदर्श, व्यवहार, विचार तथा निवास के रूप में अभिव्यक्त किया जाता है।

क्षेत्रीयता का संकीर्ण अर्थ

(Narrow Meaning of Regionalism)

विस्तृत अर्थ में क्षेत्रीयता राष्ट्रीयता के अधीन है अर्थात् इसके अन्तर्गत इस प्रकार की किसी भी क्रिया, भावना या विचार को सम्मिलित नहीं किया जाता है जो कि राष्ट्रीय स्वार्थों के लिए या राष्ट्रीय एकता के लिए घातक सिद्ध हो। पर क्षेत्रीयता का यह विस्तृत रूप बहुधा विकृत हो जाता है और उसमें इस प्रकार के संकीर्ण मनोभाव पनप जाते हैं कि एक क्षेत्र के लोग केवल अपने ही क्षेत्र के स्वार्थों को सर्वोपरि मानते हुए उनकी रक्षा करने का प्रयत्न करते हैं। इस संकीर्ण रूप में क्षेत्रीयता का अर्थ उन आदर्श, व्यवहार, विचार तथा कार्यक्रमों से होता है जो कि एक क्षेत्र-विशेष के लोगों के मन में मिथ्या गौरव व श्रेष्ठता की भावना को पनपाते हैं और उसी आधार पर वे अपने लिए समस्त राजनीतिक तथा आर्थिक सुविधाओं को

2. "A geographic area whose economic resources permit the development of a distinctive economy provides the basis for developing a community of interests on the part of the residents, and hence, a regional ideology."
—Emory S. Bogardus, *Sociology*, The Macmillan Company, New York, 1957, p, 579.

3. *Ibid.*, p. 148.

4. R. Mukherjee, *Regional Sociology* (The Century Company, 1926), or one of the earliest treatises of its kind and for one with an oriental approach.

प्राप्त करने के लिए इस भाँति तत्पर हो जाते हैं कि विस्तृत राष्ट्र के स्वार्थों तथा राष्ट्रीय एकता की आवश्यकताओं को भी वे मुला देते हैं। क्षेत्रीयता का यह रूप उस क्षेत्र के लोगों में यह भावना भर देता है कि उनकी भाषा, उनकी संस्कृति, उनका इतिहास तथा सामाजिक परम्पराएँ ही श्रेष्ठ हैं और इसीलिए उस क्षेत्र के सर्वांगीण विकास के लिए हर सम्भावित सुविधाओं का होना आवश्यक है तथा वे सुविधायें उन्हें उनके अधिकार के रूप में ही उपलब्ध होनी चाहिए। माँग यह होती है कि उस क्षेत्र को प्रशासनीय अधिकार अधिकाधिक प्राप्त हों, उनकी समस्याओं पर पहले ध्यान दिया जाए, उनकी भाषा को राष्ट्रीय आधार पर मान्यता प्राप्त हो तथा समस्त राष्ट्रीय विषयों के सम्बन्ध में उनके महत्व को अवश्य ही स्वीकार किया जाए। इन सबके लिए यदि उन्हें सम्पूर्ण राष्ट्र से अपना नाता ढीला भी करना पड़े तो उसके लिए भी वे तैयार रहते हैं। इस अर्थ में क्षेत्रीयता पृथक्ता की नीति की समर्थक भी बन सकती है।

क्षेत्रीयता की प्रकृति

(Nature of Regionalism)

विस्तृत अर्थ में क्षेत्रीयता या क्षेत्रवाद एक 'क्षेत्र' में पाए जाने वाली कुछ सामाजिक, सांस्कृतिक, आर्थिक समानताओं पर आधारित होता है। यह क्षेत्र एक ही राष्ट्र या समाज का एक अंग हो सकता है अथवा इसके अन्तर्गत एकाधिक छोटे-मोटे ऐसे राष्ट्रों का भी समावेश हो सकता है जोकि अपनी भौगोलिक स्थिति, आर्थिक साधन, भाषा, धर्म तथा धर्म-स्वार्थों के सम्बन्ध में समान हों।¹ परन्तु क्षेत्रीयता का उग्र व संकुचित रूप कुछ दूसरा ही होता है जिसके अन्तर्गत क्षेत्रीय स्वार्थों को राष्ट्रीय स्वार्थों से भी अधिक महत्वपूर्ण मान लिया जाता है। कुछ भी हो, क्षेत्रीयता की वास्तविकता को समझने के लिए हमें निम्नलिखित बातों को ध्यान में रखना चाहिए—

1. क्षेत्रीयता स्थानीय देशभक्ति तथा क्षेत्रीय श्रेष्ठता की भावना को बल देती है (Regionalism strengthens local patriotism and regional ethno-centrism)—एक क्षेत्र-समूह की अपनी एक सामान्य संस्कृति होती है और उसी समानता के आधार पर वहाँ के निवासियों में कुछ सामान्य आदर्श भावनाएँ, धारणाएँ तथा विचार पनप जाते हैं और साथ ही यह विश्वास भी लोगों के दिल में घर कर जाता है कि ये आदर्श, भावनाएँ व धारणाएँ यदि अन्य क्षेत्रों के आदर्श, भावनाओं व धारणाओं से कहीं अधिक अच्छी या श्रेष्ठ हैं। साथ ही, उस क्षेत्र में पाई जाने वाली समान भाषा, सामान्य सांस्कृतिक परम्परा, सामान्य ऐतिहासिक घटनाएँ तथा समान सामाजिक, आर्थिक व राजनीतिक समस्याएँ वहाँ के लोगों में स्थानीय देशभक्ति अर्थात् अपने उस क्षेत्र के प्रति विशेष लगाव को पवपाने में सहायक होती हैं। यह विशेष लगाव और श्रेष्ठता की भावना अन्य क्षेत्रों के साथ तनाव की स्थिति को उत्पन्न करने में सहायक सिद्ध होती है।

2. क्षेत्रीयता एक सीखा हुआ व्यवहार है (Regionalism is a learned

5. "In a more extended sense, regionalism may be represented by an integration of a number of nations, especially small ones, which are located continuously, whose economic resources are similar, who have the same language and religion, and whose other interests are similar."—Emory S. Bogardus, *op. cit.*, pp. 579-580.

behaviour) — एक क्षेत्र-समूह के सदस्यों में अपने क्षेत्र के प्रति जो विशेष लगाव होता है और उनमें अपने क्षेत्र की सांस्कृतिक विरासत को अन्य क्षेत्र की तुलना में श्रेष्ठ समझने की जो भावना देखने को मिलती है वह सब सीखा हुआ व्यवहार होता है। प्रजातीय या शारीरिक विशेषताओं की भाँति क्षेत्रीयता की भावना प्रजनन या वंशानुसंक्रमण की प्रक्रिया के माध्यम से व्यक्ति को प्राप्त नहीं होती, अपितु वह तो भाषा व अन्य प्रतीकों के माध्यम से विचारों के आदान-प्रदान के द्वारा तथा सामाजिक अन्तःक्रियाओं के दौरान एक व्यक्ति से दूसरे व्यक्ति को हस्तान्तरित होती रहती है और इसी भाँति क्षेत्रीयता की भावना की निरन्तरता बनी रहती है। अपनेपन को न केवल विकसित करती है अपितु उसकी सांस्कृतिक, सामाजिक व आर्थिक विरासत (heritage) में अपने को एक सक्रिय हिस्सेदार समझने तथा उसी सन्दर्भ में व्यवहार करने को भी प्रेरित करती है।

3. क्षेत्रीयता की मात्रायें अनेक हो सकती हैं (Regionalism is of many degrees) — क्षेत्रीयता की इस प्रकृति को दो पृथक् दृष्टिकोण से समझाया जा सकता है — प्रथम तो यह कि क्षेत्रीयता की मात्रा उदार से उग्र तक हो सकती है अर्थात् क्षेत्रीयता का स्वरूप इतना उदार हो सकता है कि वह कई समान राष्ट्रों को अपनी बाहों में समेट ले और सदा राष्ट्रीय हितों को ध्यान में रखते हुए क्रियाशील हो। इसके विपरीत क्षेत्रीयता का रूप इतना उग्र हो सकता है कि वह अपने क्षेत्र को ही सर्वोपरि मानकर अपने हितों के सम्मुख राष्ट्रीय हितों की बलि चढ़ाने में तनिक भी संकोच न करे। इन दोनों विपरीत छोरों के बीच क्षेत्रीयता का रूप या स्वरूप कम-ज्यादा उदार या उग्र भी हो सकता है। दूसरे अर्थ में, क्षेत्रीयता की भावना विभिन्न क्षेत्रों के लोगों में अथवा एक ही क्षेत्र के सभी लोगों में समान न होकर अलग-अलग होती है। उदाहरणार्थ, भारत के उत्तरी क्षेत्र के लोग अपनी क्षेत्रीय विरासत (regional heritage) के सम्बन्ध में जितना अधिक जागरूक हैं, उतनी जागरूकता मध्य भारत के क्षेत्र के लोगों में न भी हो सकती है अथवा उनकी वह जागरूकता दक्षिणी क्षेत्र के लोगों की उग्र जागरूकता के सामने फीकी लगती हो। उसी प्रकार यह नहीं कहा जा सकता कि दक्षिण क्षेत्र के सभी लोगों में अपनी क्षेत्रीय विरासत के प्रति समान सचेतता है। विभिन्न लोगों में यह सचेतता कम या अधिक, उदार या उग्र हो सकती है और व्यावहारिक तौर पर होती भी है।

4. नकारात्मक (संकीर्ण) क्षेत्रीयता के फलस्वरूप क्षेत्रीय स्वशासन, यहाँ तक कि राजनीतिक पृथक्करण की माँग प्रस्तुत की जा सकती है (Negative regionalism may lead to demand for regional autonomy or even political separatism) — अपनी क्षेत्रीय विलक्षणता व श्रेष्ठता को बनाये रखने की धुन में वहाँ के लोग क्षेत्रीय स्वशासन की माँग कर सकते हैं। ऐसी अवस्था में विभिन्न क्षेत्रों के लोगों में आर्थिक तथा राजनीतिक अधिकारों को हथियाने के लिये आपस में एक उग्र प्रतिस्पर्धा चलती रहती है जिसके फलस्वरूप विभिन्न क्षेत्रों के बीच कटु-भाव उत्तरोत्तर बढ़ता रहता है। यह स्थिति न तो राष्ट्रीय एकता के लिये और न ही राष्ट्रीय प्रगति के लिये हितकर सिद्ध होती है।

5. क्षेत्रीयता से मनोभाव की संकीर्णता ही अभिव्यक्त होती है (Regionalism reflects the narrowness of outlook) — अपने उग्र रूप में क्षेत्रीयता कभी भी लोगों में विस्तृत मनोभाव को पनपाने में सहायक सिद्ध नहीं हो सकती क्योंकि

यह तो उस मनोभाव का प्रतिनिधित्व करती है जिसके अनुसार अपने ही क्षेत्र की सांस्कृतिक परम्पराओं, धर्म, भाषा, आदर्श, सिद्धान्त तथा आचारों को अन्य क्षेत्रों की तुलना में कहीं अधिक श्रेष्ठ माना जाता है और उसी रूप में उन्हें प्रस्थापित करने के लिये हर उचित-अनुचित पग उठाये जाते हैं। इसीलिये अपने क्षेत्र में बसे अन्य क्षेत्रों के लोगों के साथ पक्षपातपूर्ण व्यवहार किया जाता है और कभी-कभी तो उन्हें सामाजिक-आर्थिक अन्याय का शिकार तक बना लिया जाता है और साथ ही क्षेत्रीय भक्ति (regional patriotism) तथा क्षेत्रीय वफादारी (regional loyalty) के नाम पर इन सब पक्षपातपूर्ण अन्यायों का कोई-न-कोई औचित्य भी ढूँढ़ लिया जाता है।

क्षेत्रीयता के विकास के कारक (Factors in the emergence of Regionalism)

1. भौगोलिक कारक (Geographical factors)—बहुधा भौगोलिक कारक क्षेत्रीयता के विकास का एक अत्यन्त प्रभावपूर्ण कारक बन जाता है। भारत इसका एक उत्तम उदाहरण है। भारत चार स्पष्ट भौगोलिक क्षेत्रों में स्वाभाविक रूप से विभक्त है और वे क्षेत्र हैं उत्तर का पर्वतीय प्रदेश, गंगा-सिन्धु का विशाल मैदान, दक्षिणी पठार तथा मध्य भारत का रेगिस्तानी क्षेत्र। इन चारों क्षेत्रों की भौगोलिक दशाएँ अलग-अलग ही नहीं, कुछ विषयों में एक-दूसरे के बिल्कुल विपरीत भी हैं। फलतः विभिन्न क्षेत्रों या प्रदेशों में जो विभाजन हुआ उसका प्रभाव जीवन के प्रत्येक पक्ष पर पड़ा और एक क्षेत्र के सामाजिक, धार्मिक रीति-रिवाज, भाषा, सांस्कृतिक परम्पराएँ, पोशाक, आभूषण, प्रकृति, खान-पान, रहन-सहन आदि दूसरे क्षेत्रों से भिन्न रहे। इस भिन्नता ने क्षेत्रीयता के विकास में महत्वपूर्ण योगदान दिया।

2. ऐतिहासिक कारक (Historical factors)—भौगोलिक कारकों की भाँति ऐतिहासिक कारक भी क्षेत्रीयता के विकास में सहायक सिद्ध हो सकते हैं। इस देश की विशालता और विभिन्न क्षेत्रों के होने से भारत प्राचीन और मध्यकाल में विस्तृत प्रादेशिक राज्यों का देश रहा। यद्यपि कुछ शक्तिशाली महत्वाकांक्षी राजाओं ने ऐसे साम्राज्य स्थापित किये जिनमें सारा भारत था, फिर भी देश की विशालता और यातायात के साधनों के अभाव से एक अखण्ड केन्द्रीय राज्य अधिक दिनों तक भारत में बना न रह सका। जब कभी भी केन्द्रीय सम्राट् शक्तिहीन और अस्थिर हुआ तभी अधीनस्थ प्रदेशों और सामन्तों ने अपनी स्वतन्त्रता की घोषणा कर दी और स्थानीय स्वशासन को चालू कर दिया। भारत के ऐतिहासिक विकास के दौरान एक बार नहीं, असंख्य बार ऐसा ही हुआ जिसके फलस्वरूप क्षेत्रीय स्वशासन को स्थापित करने की इच्छा इस देश की एक राजनीतिक परम्परा बन गई। उसी परम्परा के हस्तान्तरण के कारण ही शायद आज नागालैंड, तमिल प्रदेश, पंजाबी सूबा, आन्ध्र विभाजन आदि की माँग रखी गई है।

3. राजनीतिक कारक (Political factors)—अनेक राजनीतिक कारक भी क्षेत्रीयता के विकास में अपना महत्वपूर्ण योगदान करते हैं। भार में कुछ राजनीतिक संगठन या पार्टियाँ ऐसी हैं जोकि क्षेत्रीयता की भावना को बढ़ाकर लोकप्रिय होने का प्रयत्न करती हैं और साथ ही अपने संकीर्ण स्वार्थों की सिद्धि करने में सफल होती हैं। ये पार्टियाँ कभी-कभी तो धार्मिक और भाषा-सम्बन्धी जामा भी पहने होती हैं जिससे कि लोगों की लोकप्रिय भावनाओं को उकसाना उनके लिये सरल हो जाए।

धर्म और भाषा की आड़ लेकर यह दल एक क्षेत्र के लोगों को यह लालच दिखलाते रहते हैं कि उनके अपने प्रदेशों को शीघ्र ही एक स्वतन्त्र सत्ता प्राप्त होने वाली है जिसके बाद वे अपने क्षेत्र के समस्त खोए हुए गौरव व परम्पराओं को पुनर्जीवित करने में सफल होंगे। इस प्रकार क्षेत्रीय दल (regional parties) क्षेत्रीयता के विकास के एक महत्वपूर्ण कारक बन जाते हैं। इतना ही नहीं, क्षेत्रीय नेताओं का भी इस दिशा में पर्याप्त सहयोग रहता है। ये क्षेत्रीय नेता खूब प्रभावशाली व्यक्ति होते हैं और केन्द्रीय सरकार पर न केवल अपना प्रभाव विस्तृत किये होते हैं अपितु अपने क्षेत्रीय स्वार्थों की सिद्धि के मामले में केन्द्रीय सरकार की उपेक्षा करने तक को नहीं हिचकिचाते हैं। ये नेता केवल अपने ही क्षेत्र के विषय में सोचते हैं और अन्य क्षेत्रों के स्वार्थों को कुचल देने में उन्हें संकोच नहीं होता।

4. सांस्कृतिक कारक (Cultural factors)—क्षेत्रीयता के विकास में सांस्कृतिक कारक भी कम महत्वपूर्ण नहीं हैं। भारत की भौगोलिक परिस्थितियों ने भारत को न केवल कुछ भौगोलिक क्षेत्रों में अपितु उतने ही सांस्कृतिक क्षेत्रों में भी बांट दिया है। इसका तात्पर्य यह है कि प्रत्येक भौगोलिक क्षेत्र का अपना एक विशिष्ट सांस्कृतिक जीवन-प्रतिमान (life pattern) है और उस प्रतिमान से एक अजीब लगाव उस क्षेत्र के लोग पनपा चुके हैं। यह लगाव कभी-कभी इतना स्पष्ट व एकतरफा हो जाता है कि एक क्षेत्र के लोग अपने सांस्कृतिक प्रतिमान को अन्य क्षेत्रों की तुलना में कहीं अधिक श्रेष्ठ समझने लगते हैं। उदाहरणार्थ, उत्तरी क्षेत्र के लोगों को यह कहते हुए गर्व होता है कि उन्हीं के क्षेत्र में वैदिक सभ्यता और संस्कृति का उदय हुआ। उनका दावा है कि सिन्धु घाटी की सभ्यता और आर्य सभ्यता सम्पूर्ण भारत को नया प्रकाश देने वाली थी और उन्हीं का क्षेत्र भारतीय संस्कृति, ललित कला, साहित्य, यहाँ तक कि राजनीति का सर्वप्रमुख केन्द्र रहा और अब भी है। हिन्दी भाषा इसी क्षेत्र की मूल भाषा है और स्वतन्त्र भारत के सभी प्रधानमंत्री इसी क्षेत्र के हैं। दूसरी ओर भारत के दक्षिणी क्षेत्र के लोगों का यह दावा है कि प्राचीन भारतीय संस्कृति के अनेक मौलिक तत्व उनके ही क्षेत्र में विद्यमान हैं। उनका क्षेत्र द्राविड़ सभ्यता, संस्कृति और भाषाओं का आदि-स्थान है। इस अर्थ में आदि-भारत का सच्चा रूप तो उनका ही क्षेत्र है। इस रूप का दर्शन भारत के अन्य किसी भी क्षेत्र में नहीं हो सकता। साथ ही वहाँ के लोग सदा से ही बलिष्ठ, परिश्रमी, साहसी और स्वतन्त्रता प्रिय हैं और उस स्वतन्त्रता की रक्षा के लिये वे अपना सब-कुछ बलिदान करने में भी कभी न हिचकिचाये। यही उनका परम्परागत गौरव है। स्पष्ट है कि उत्तरी या दक्षिणी क्षेत्र के लोगों के ये सभी दावे (claims) झूठे न होते हुए भी क्षेत्रीयता के विकास में सहायक ही सिद्ध होते हैं।

5. भाषावाद (Linguism)—सांस्कृतिक कारकों में क्षेत्रीयता के विकास का एक महत्वपूर्ण कारक भाषावाद भी है। भारत में स्थिति यह है कि एक उप-सांस्कृतिक क्षेत्र (sub-cultural region) के मुख्य समूह के सदस्य एक विशेष भाषा को बोलते तथा लिखते हैं। इसे क्षेत्रीय या प्रादेशिक भाषा (regional language) कहा जाता है। प्रत्येक प्रादेशिक भाषा के बोलने वालों का अपनी भाषा के प्रति अत्यधिक संवेगात्मक (emotional) लगाव होता है जिसके फलस्वरूप वे यह मान बैठते हैं कि उनकी ही भाषा की शैली, शब्दावली, साहित्यिक समृद्धि तथा गहनता, अन्य सभी भाषाओं से कहीं अधिक आकर्षक व श्रेष्ठ प्रकृति की है। केवल अपनी ही भाषा को इस प्रकार

श्रेष्ठ समझना और अन्य सभी प्रादेशिक भाषाओं को हेय मान लेना प्रादेशिक दूरी को बढ़ाता है और क्षेत्रीयता का विकास करता है।

क्षेत्रीयता के दुष्परिणाम

(Evil Consequences of Regionalism)

1. विभिन्न क्षेत्रों के बीच संघर्ष तथा तनाव (Conflict and tension between different regions)—संकीर्ण क्षेत्रवाद का जो सर्वप्रथम दुष्परिणाम हमें भारत में देखने को मिलता है वह यह है कि इसके कारण विभिन्न क्षेत्रों के बीच आर्थिक, राजनीतिक, यहां तक कि मनोवैज्ञानिक संघर्ष और तनाव दिन-प्रतिदिन बढ़ता जा रहा है। इसका कारण यह है कि प्रत्येक क्षेत्र अपने स्वार्थों या हितों का सर्वोच्च स्थान दे बैठता है और उसे यह चिन्ता नहीं होती कि उससे दूसरे क्षेत्रों को कितना नुकसान होगा। आज विभिन्न प्रदेशों के बीच सीमा सम्बन्धी झगड़ा उत्पन्न होता है, 'एक विश्वविद्यालय अमुक क्षेत्र में न खोलकर हमारे क्षेत्र में खोला जाए' इस बात को लेकर उस क्षेत्र के लोग आन्दोलन करते हैं, इस्पात प्रोजेक्ट (Steel Plant Project) की स्थापना का विषय भी घोर आन्दोलन का विषय बन जाता है, यहाँ तक कि लोकसभा की सब बैठकें उत्तरी क्षेत्र में ही क्यों हों, क्यों न दक्षिणी क्षेत्र में भी लोकसभा की बैठकें हों—यही वाद विवाद का अच्छा विषय बन जाता है और विभिन्न क्षेत्रों के बीच कटु भावना को पनपाता है।

2. राज्य सभा केन्द्रीय सरकार के बीच सम्बन्धों का विकृत होना (Deformation of Centre-State relations)—भारत में क्षेत्रीयता के कारण केन्द्रीय सरकार तथा राज्य सरकार के बीच का सम्बन्ध कभी-कभी अत्यन्त कटु रूप धारण कर लेता है। प्रत्येक क्षेत्र के स्वार्थ-समूह, क्षेत्रीय नेतागण, बड़े-बड़े उद्योगपति तथा राजनीतिज्ञ अपने-अपने क्षेत्र के स्वार्थों को सर्व रूप में प्राथमिकता देते हैं और केन्द्रीय सरकार का ध्यान अपनी ओर आकर्षित करने का प्रयत्न करते हैं। केन्द्रीय सरकार जिसकी तरफ भी थोड़ा-सा झुक गई वही विवाद बन जाता है और केन्द्रीय तथा राज्य सरकारों का पारस्परिक सम्बन्ध, सौहार्दपूर्ण नहीं रह पाता है।

3. स्वार्थी नेतृत्व व संगठन का विकास (Emergence of self-centred leadership and organization)—क्षेत्रीयता का एक और दुष्परिणाम यह होता है कि इसके फलस्वरूप अलग-अलग क्षेत्र में कुछ इस प्रकार के नेतृत्व व संगठनों का विकास हो जाता है जोकि जनता की भावनाओं को उभारकर अपने संकीर्ण स्वार्थों की पूर्ति करना चाहते हैं। इस प्रकार के नेताओं व संगठनों को न तो क्षेत्रीय हितों और न ही राष्ट्रीय हितों का तनिक भी ख्याल रहता है, उनका समस्त ख्याल तो अपनी लोकप्रियता को बढ़ाकर अपने ही स्वार्थों को सिद्ध करने पर केन्द्रित हो जाता है। ये नेतागण कभी तो भाषा के प्रश्न को लेकर हंगामा मचाते हैं और कभी केन्द्रीय सरकार के पक्षानुपूर्ण व्यवहार के विरुद्ध नारा लगाने के लिये सामने आ खड़े होते हैं, चाहे इनमें से कोई भी समस्या वास्तविक हो या काल्पनिक। ऐसे नेताओं और संगठनों से किसी का कुछ भी भला नहीं होता, फिर भी क्षेत्रीयता की आड़ में इन्हें पतन के आच्छा मौका मिला जाता है।

4. भाषा की समस्या का अधिक जटिल होना (Language problem becomes more complex)—क्षेत्रीयता का एक और बुरा प्रभाव यह होता है कि क्षेत्रीय वफादारी (regional loyalty) भाषा की समस्या को सुलझाने में सहायक

होने के स्थान पर उसे और भी जटिल बनाने में मदद करती है। क्षेत्रीय वफादरी का सीधा सम्बन्ध क्षेत्रीय या प्रादेशिक भाषा के प्रति विशेष लगाव से होता है जिसके कारण प्रादेशिक भाषा को आवश्यकता से अधिक महत्व प्रदान करने की गलती उस क्षेत्र के लोग कर बैठते हैं। परिणाम यह होता है कि अन्य किसी भाषा के प्रति सहिष्णुता की भावना बिल्कुल ही नहीं रह जाती और विभिन्न भाषाभाषी क्षेत्रों के बीच भाषा के प्रश्न को लेकर ही कटुता बढ़ती चली जाती है। क्षेत्रीयता का यह परिणाम जनकल्याण और राष्ट्रीय प्रगति के दृष्टिकोण से अत्यन्त घातक सिद्ध होता है।

5. राष्ट्रीय एकता को चुनौती (Challenge to National Integration)

—संकीर्ण क्षेत्रीयता राष्ट्रीय एकता के लिये एक चुनौती बन जाती है। भारत आज एक संक्रमण काल (transitional period) से गुजर रहा है जबकि शताब्दियों पुरानी परम्पराओं को त्यागकर आधुनिकीकरण की ओर बढ़ रहा है। इस नाजुक दौर पर सामाजिक, सांस्कृतिक राजनीतिक तथा आर्थिक क्षेत्रों में परिवर्तन की गति एक समान नहीं है। अतः देश की सामाजिक व्यवस्था में असन्तुलन की स्थिति विद्यमान होनी स्वाभाविक ही है। ऐसी अवस्था में क्षेत्रीयता के फलस्वरूप विभिन्न क्षेत्रों के बीच जो तनाव और संघर्ष की स्थिति उत्पन्न हो जाती है वह राष्ट्रीय एकता की समस्त धारणाओं और भावनाओं पर तुषारापात करती है। क्योंकि क्षेत्रीयता के फलस्वरूप विभिन्न क्षेत्रों के लोगों में कभी क्षेत्रीय स्वार्थों को लेकर, कभी राजनीतिक स्वशासन या पृथक् राज्य के प्रश्न को लेकर, तो कभी प्रादेशिक भाषा के प्रश्न को लेकर जो झगड़े तथा मन, मुटाब खड़े हो जाते हैं वे राष्ट्रीय एकता के लिए घातक सिद्ध होते हैं।

क्षेत्रीयता को रोकने के उपाय

(Measures for checking Regionalism)

राष्ट्रीय जीवन के लिये क्षेत्रीयता कोई अच्छी चीज नहीं है। इस पर रोक लगाना ही उचित है। इस सम्बन्ध में निम्नलिखित उपायों को सुझाया जा सकता है—

(1) केन्द्रीय सरकार की नीति कुछ इस प्रकार की होनी चाहिये कि सभी उप-सांस्कृतिक क्षेत्रों (sub-cultural regions) का संतुलित आर्थिक विकास सम्भव हो जिससे कि विभिन्न क्षेत्रों के बीच आर्थिक तनाव कम-से-कम हो।

(2) सभी क्षेत्रों के लोगों को समान आर्थिक सुविधायें प्रदान की जायें जिससे कि अनावश्यक प्रतिस्पर्धा व ईर्ष्या की भावना पनप न सके।

(3) जहाँ तक सम्भव व व्यावहारिक हो उप-सांस्कृतिक क्षेत्रों की उचित आकाक्षाओं की पूर्ति की जाये यदि उनका कोई बुरा प्रभाव राष्ट्रीय जीवन व संगठन पर न पड़ता हो।

(4) भाषा सम्बन्धी झगड़ों का हल शीघ्र ही ढूँढ़ लिया जाये। इस सम्बन्ध में सबसे उचित हल यह है कि सभी क्षेत्रीय भाषाओं को समान मान्यता प्रदान की जाये।

(5) हिन्दी भाषा को किसी भी क्षेत्रीय समूह पर जबरदस्ती लादा न जाये। अपितु इस भाषा का प्रचार व विस्तार इस ढंग से किया जाये कि विभिन्न क्षेत्रीय समूह स्वतः ही इसे सम्पर्क-भाषा (link language) के रूप में स्वीकार कर लें।

(6) पर सभी उत्साह तथा साधन केवल हिन्दी भाषा के विकास में ही न

लगाये जायें अपितु सुनिश्चित योजनायें बनाकर सभी प्रादेशिक भाषाओं को, उनकी अपनी विशिष्टताओं के अनुसार, विकसित होने का समान अवसर प्रदान किया जाए।

(7) प्रचार के विभिन्न साधनों के माध्यम से विभिन्न क्षेत्रों के सांस्कृतिक लक्षणों के विषय में लोगों के सामान्य ज्ञान को बढ़ाया जाये जिससे कि एक क्षेत्र के लोग दूसरे क्षेत्र के प्रति अधिक सहनशीलता की भावना को पनपा सकें।

(8) केन्द्रीय मन्त्रिमण्डल में सभी क्षेत्रों के नेताओं का संतुलित प्रतिनिधित्व हो जिससे की क्षेत्रीय पक्षपातपूर्ण नीतियों का खण्डन हो सके और केन्द्रीय सरकार के इरादों पर किसी को भी सन्देह न रहे।

(9) केन्द्रीय सरकार तथा राज्य सरकारों के बीच पारस्परिक सम्बन्धों को अधिकाधिक सौहार्द्रपूर्ण बनाने के लिये दोनों ही पक्षों को इस प्रकार की नीति तथा आचारसंहिता को अपनाना चाहिये कि पारस्परिक विश्वास टूट न जाये और ऐसे अवसर कभी न आयें कि उन्हें एक दूसरे पर कीचड़ उछालने की आवश्यकता हो। संकीर्ण मनोभाव वाले स्वार्थी नेतागण इसी प्रकार के अवसरों की राह ताकते रहते हैं और मौका मिलते ही क्षेत्रीयता की भावना को भड़काने का प्रयत्न करते हैं। राज्य सरकारों और विशेषकर केन्द्र सरकार को इस प्रकार का मौका क्षेत्रीय नेताओं को कभी नहीं देना चाहिये।

स्मरण रहे कि उपरोक्त सभी उपाय एक-दूसरे के पूरक हैं और उसी रूप में उन्हें अपनाया जाना चाहिये। पर क्षेत्रीयता का वास्तविक हल तब तक सम्भव नहीं जब तक प्रत्येक भारतवासी के मन में यह भावना जड़ न पकड़ ले कि हमारा अपना क्षेत्र तो अपना है ही, पर उससे भी कहीं विशाल एक क्षेत्र—भारत—उससे कहीं अधिक अपना है। हमारा अपना क्षेत्र तो एक नदी मात्र है, पर भारत तो एक महा-समुद्र है—नदी की सार्थकता तो उस समुद्र की विशालता में विलीन हो जाने में ही है। यही उसकी परम गति, परम मुक्ति है। उस मुक्ति का सन्देश भारत के हर घर तक पहुँचाना है।

36

समकालीन राजनीतिक परिवर्तन

[Contemporary Political Changes]

15 अगस्त सन् 1947 को प्रायः 200 वर्षों की अंग्रेजों की दासता से मुक्ति भारतीय जन-जीवन में सम्भवतः सबसे बड़ा समकालीन राजनीतिक परिवर्तन था। इसी के साथ समाप्त होता है विदेशी शासन और स्थापित होता है राज्यों का संघ, एक सम्पूर्ण प्रभुत्वसम्पन्न लोकतन्त्रात्मक गणराज्य का जिसमें संसदीय प्रणाली की सरकार है, जिसका राष्ट्रीय झंडा तिरंगा है, जिसका राज-चिह्न अशोक-स्तम्भ सहित धर्मचक्र है और जिसका राष्ट्र-गान 'जन-गण-मन अधिनायक' व राष्ट्रीय गीत 'वन्दे मातरम्' है। यह गणराज्य उस संविधान की व्यवस्थाओं के अनुसार प्रशासित होता है जो 26 जनवरी 1949 को संविधानसभा द्वारा स्वीकृत किया गया एवं 26 जनवरी 1950 से लागू हुआ और जिसकी प्रस्तावना में कहा गया है कि "हम भारत के लोग, भारत को एक सम्पूर्ण प्रभुत्वसम्पन्न लोकतन्त्रात्मक गणराज्य बनाने के लिये, तथा उसके समस्त नागरिकों को सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक न्याय प्राप्त कराने के लिए इस संविधान को अधिनियमित तथा आत्मार्पित करते हैं।" वस्तुतः संविधान की यह प्रस्तावना हमारे संविधान का सार है; यही उसकी प्रेरणा और आधारशिला है। भूतपूर्व न्यायमूर्ति श्री हिदायतुल्ला के शब्दों में, "भारतीय संविधान की प्रस्तावना समूचे संविधान की आत्मा है, शाश्वत और अपरिवर्तनीय। प्रस्तावना में सदैधानिक जीवन के वैविध्य का भी उल्लेख मिलता है और भविष्य-दर्शन भी।" पर भविष्य ने उस आत्मा को कितना प्रस्फुटित किया और कितना संकुचित, इसी का एक विनम्र विश्लेषण है यह अध्याय जोकि स्वतः ही भारत में समकालीन राजनीतिक परिवर्तनों को दर्शाता है।

भारत में आधुनिक राजनीतिक परिवर्तन

(Modern Political Changes in India)

स्वतन्त्रता प्राप्ति से लेकर आज तक भारत में जो राजनीतिक परिवर्तन हुए हैं वे वास्तव में हमारे राजनीतिक जीवन के क्रम-विकास को ही दर्शाते हैं और उनका निवेदन बहुत-कुछ उसी रूप में किया जा सकता है। सच तो यह है कि ये परिवर्तन इतने विस्तृत व विविध हैं कि इनका समुचित वर्णन किसी पुस्तक के केवल एक अध्याय में करना यदि असम्भव नहीं तो कठिन तो अवश्य ही है। फिर भी हम अपने ढंग से प्रयास अवश्य ही करेंगे और उस प्रयास का परिणाम सम्भवतः निम्नवत् है—

लोकतन्त्रात्मक गणराज्य की स्थापना

(Establishment of Democratic Republic)

एक देश प्रायः 200 वर्ष तक विदेशी शासक के अधीन रहा हो, उसी देश में

1 For detailed discussion see B L. Pharia, *Indian Govt. and Politics*, Saraswati Sadan Delhi-7, (1977).

लोकतन्त्रात्मक गणराज्य की स्थापना सम्भवतः एक सर्वाधिक क्रांतिकारी राजनीतिक परिवर्तन है, विशेषतः इस दृष्टिकोण से कि यह परिवर्तन रक्तपात के द्वारा नहीं अपितु अहिंसा व सत्याग्रह के आधार पर लड़े गए स्वतन्त्रता संग्राम के माध्यम से घटित हुआ। इस गणराज्य के संविधान का ढांचा एकात्मक विशेषताओं के साथ संघात्मक है और भारत का राष्ट्रपति संघ की कार्यपालिका का संवैधानिक प्रमुख होता है। राष्ट्रपति को उनके कार्य-संचालन में सहायता करने तथा उसे परामर्श देने के लिये प्रधानमन्त्री के नेतृत्व में एक मन्त्रिपरिषद् होती है। इस प्रकार कार्यपालिका की वास्तविक शक्ति प्रधानमन्त्री के नेतृत्व में घटित मन्त्रिपरिषद् में निहित है जो सामूहिक रूप से लोकसभा के प्रति उत्तरदायी है। इसी प्रकार राज्यों में राज्यपाल की स्थिति राज्य की कार्यपालिका के प्रधान की होती है परन्तु यथार्थ में मुख्यमन्त्री के नेतृत्व में मन्त्रिपरिषद्, जो सामूहिक रूप में राज्य की विधानसभा के प्रति उत्तरदायी है, कार्यपालिका की शक्ति का प्रयोग करती और सरकार चलाती है। संविधान के अन्तर्गत केन्द्र और राज्यों के अधिकार-क्षेत्र बांट दिये गये हैं। भारत में संसदीय शासन-प्रणाली वयस्क मताधिकार पर आधारित है, जिसके अन्तर्गत भारत के वे सभी नागरिक जो 21 वर्ष से कम उम्र के न हों और जो निवासहीनता, पागलपन और भ्रष्ट तरीकों जैसे निश्चित मापदण्डों के कारण अयोग्य करार न दिये गये हों, लोकसभा और राज्य विधानसभाओं के किसी भी निर्वाचन में मतदान (वोट) देने का अधिकार रखते हैं। अब समूचे देश में सभी स्तरों पर न्यायपालिका को कार्यपालिका से अलग कर दिया गया है। अंग्रेज शासकों के लिये जो भारतवासी दास मात्र थे, उन्हीं के जीवन में अब यह परिवर्तन आया है कि वे अब न केवल स्वतन्त्र हैं, अपितु संविधान से उन्हें व्यक्तिगत रूप से और सामूहिक रूप से कुछ मूल अधिकार (fundamental rights) भी प्राप्त हुए हैं। इस प्रकार के अधिकार मोटे तौर पर सात हैं :

- (1) समता का अधिकार—कानून के समक्ष समता, धर्म, मूलवंश, जाति, लिंग यथ जन्म-स्थान के आधार पर भेदभाव का प्रतिरोध और रोजगार के विषय में अवसर की समानता;
- (2) विचार अभिव्यक्त करने, संघ बनाने, भारत के किसी भी स्थान पर जाने, सम्पत्ति का अर्जन व विक्रय करने आदि की स्वतन्त्रता;
- (3) शोषण से रक्षा का अधिकार;
- (4) अन्तःकरण की प्रेरणा तथा धर्म को निर्बाध रूप से मानने, आचरण करने और प्रचार करने की स्वतन्त्रता का अधिकार;
- (5) अल्पसंख्यकों का अपनी संस्कृति, भाषा और लिपि का संरक्षण करने तथा अपनी पसन्द की शिक्षा प्राप्त करने एवं शिक्षा संस्थाओं की स्थापना करने और उन्हें चलाने का अधिकार;
- (6) सम्पत्ति का अधिकार और (7) मूल अधिकारों को लागू करने के लिए न्यायालय की शरण लेने का अधिकार। इसके अतिरिक्त संविधान में राज्यनीति के कुछ निदेशक सिद्धांतों (Directive Principles of State Policy) का भी उल्लेख है जिसमें कहा गया है—“सरकार ऐसी समाजिक व्यवस्था की भरसक कारगर रूप में स्थापना करके और उसका संरक्षण करके लोक-कल्याण को प्रोत्साहन देने का प्रयास करेगी जिसमें राष्ट्रीय जीवन के सभी क्षेत्रों में सामाजिक, आर्थिक तथा राजनीतिक न्याय का पालन हो।” सरकार ऐसी नीति का निर्देशन करेगी कि सबको जीवन-यापन के यथेष्ट और समान अवसर मिलें, सबको काम और शिक्षा पाने का अवसर हो, बूढ़े, बीमार और अपाहिजों को वित्तीय सहायता मिले तथा समाज के दुर्बल तथा पिछड़े लोगों को अपने भरपूर विकास के लिये पर्याप्त अवसर व सुविधा

प्राप्त हो। भारतवासियों के राजनीतिक जीवन में इस प्रकार के अवसरों व अधिकारों को पाने का आश्वासन बहुत बड़ा परिवर्तन है।

स्वतन्त्र व निष्पक्ष न्यायपालिका का उदय

(Emergence of Free and Impartial Judiciary)

स्वतन्त्र और सम्य राष्ट्र की प्रथम पहचान स्वतन्त्र और निष्पक्ष न्यायपालिका है। भारत को यह गौरव प्राप्त है कि इस देश में, भारतीय संविधान-निर्माता के आदर्श-लक्ष्य के अनुरूप, स्वतन्त्रता के बाद स्वतन्त्र व निष्पक्ष न्यायपालिका का उदय हुआ है। यह हमारे राजनीतिक जीवन में कितना बड़ा व महत्वपूर्ण परिवर्तन है इस बात को वे लोग जानते हैं जिन्होंने कि अन्याय, अत्याचार, भ्रष्टाचार के विरुद्ध तथा अपने मूल अधिकारों की रक्षा के लिये न्यायालय की शरण ली एवं वहां से सच्चा न्याय पाकर ही लौटे। 12 जून 1975 को 'श्री राजनारायण बनाम श्रीमती इन्दिरा नेहरू गांधी' के चुनाव दाचिका सम्बन्धी मुकदमे में इलाहाबाद हाईकोर्ट के न्यायमूर्ति श्री जगमोहन लाल सिन्हा ने अपना जो ऐतिहासिक निर्णय खुली अदालत में सुनाया उसके फलस्वरूप देश के राजनीतिक जीवन में एक तूफान-सा उठा और सारे विश्व ने यह अनुभव किया कि भारत की न्यायपालिका वास्तव में संसार के स्वतन्त्रतम व निष्पक्षतम न्याय-प्रक्रिया में एक है, किसी से भी कम नहीं है। उसी प्रकार मूल अधिकारों के संरक्षक के रूप में भी इस देश की न्यायपालिका ने अपनी भूमिका को निष्ठापूर्वक निभाया है। उदाहरणार्थ, 'गोपालन बनाम मद्रास राज्य' के मुकदमे में सर्वोच्च न्यायालय ने निवारक निरोध अधिनियम के खण्ड 14 को अवैध माना। 'ब्रजभूषण बनाम दिल्ली राज्य' के मामले में सर्वोच्च न्यायालय ने समाचार-पत्रों की स्वतन्त्रता का समर्थन किया और कहा कि सामान्य शांतिकालीन स्थिति में प्रेस को नियंत्रित करना अनुचित है। 'बम्बई राज्य बनाम बम्बई शिक्षा समाज' के मुकदमे में न्यायालय ने अल्पसंख्यकों के सांस्कृतिक तथा शैक्षणिक अधिकारों की सुरक्षा के लिए निर्णय दिए। उसी प्रकार स्वयं संविधान के संरक्षक के रूप में सर्वोच्च न्यायालय ने अनेक महत्वपूर्ण निर्णय लिए हैं। उदाहरणार्थ, 'गोलकनाथ बनाम पंजाब राज्य' के बहुचर्चित विवाद में सर्वोच्च न्यायालय ने 6 : 5 के बहुमत के आधार पर यह निर्णय दिया कि (अ) संविधान के मूल अधिकारों में संशोधन का कोई भी कानून, अगर वह संविधान के भाग तीन अनुच्छेद 13 (2) का पालन नहीं करता, तो वह अवैध होगा; (ब) राज्य कोई ऐसा कानून नहीं बनाएगा जो इस भाग द्वारा दिए गए अधिकारों को छीने या उसमें कटौती करे; (स) संविधान के अनुच्छेद 368 में संविधान के संशोधन करने का अधिकार नहीं दिया गया है, वह तो केवल संशोधन करने की विधि ही स्पष्ट करता है। अतः स्पष्ट है कि इस देश में स्वतन्त्र व निष्पक्ष न्यायपालिका का उदय व विकास आधुनिक समय में हमारे राजनीतिक जीवन का एक अत्यन्त उल्लेखनीय परिवर्तन है।

लोकतान्त्रिक विकेन्द्रीकरण व पंचायती राज की स्थापना

(Democratic Decentralization and Establishment of P. Raj)

आधुनिक समय में भारत में जो राजनीतिक परिवर्तन हुए हैं उनमें लोक-तान्त्रिक विकेन्द्रीकरण एवं पंचायती राज की स्थापना उल्लेखनीय है। अंग्रेजी शासन-व्यवस्था के अन्तर्गत शासन-सत्ता शासक वर्ग के हाथों में अत्यधिक केन्द्रित थी और

वे मनमाने ढंग से शासन करते थे। अब इस स्थिति को बदलने के प्रयास तेजी से चल रहे हैं। वस्तुतः हमारा जनतन्त्र इस बुनियादी धारणा पर आधारित है कि शासन के प्रत्येक स्तर पर जनता अधिक-से-अधिक शासन-कार्यों में हाथ बंटाये और अपने पर राज करने का उत्तरदायित्व ले। इसके लिए शासन-सत्ता का बंटवारा केवल केन्द्र और राज्य सरकारों के बीच ही नहीं अपितु नगर स्तर पर नगरपालिका या नगर महापालिका, जिला स्तर पर जिला-परिषद् तथा गांव स्तर पर गांव पंचायतों में भी हो। इस प्रकार की स्थानीय सरकारों का गठन अब लोकतान्त्रिक ढंग से वयस्क मताधिकार के आधार पर स्थानीय जनता द्वारा चुने गए प्रतिनिधियों के द्वारा ही होता है, जोकि अपने में एक आधारभूत राजनीतिक परिवर्तन है। प्रो० लास्की के अनुसार, "हम प्रजातंत्र सरकार का पूरा लाभ तब तक नहीं उठा सकते जब तक कि हम यह मानकर नहीं चलते कि सब समस्याएँ केन्द्रीय समस्याएँ नहीं हैं और ऐसी समस्याएँ जो केन्द्रीय नहीं हैं उनका हल उस स्थान पर एवं उन लोगों द्वारा होना आवश्यक है जिन लोगों द्वारा वे अधिक अनुभव की जाती हैं। स्थानीय स्वराज्य के बिना जनता को सार्वजनिक मामलों में कोई रुचि नहीं रहती और न ही उनमें राजनीतिक जागृति पैदा होती है।" साथ ही, जैसा कि प्रो० फाइनर ने लिखा है, "स्थानीय सरकार केन्द्रीकरण के बढ़ते हुये खतरे के विरुद्ध प्रतिक्रिया है।" यह प्रतिक्रिया आज हमारे राजनीतिक जीवन में स्पष्ट रूप में देखने को मिल रही है।

चूँकि भारत गांवों का देश है, इस कारण लोकतान्त्रिक विकेन्द्रीकरण का वास्तविक लाभ तभी मिल सकता है जबकि देश के गांव अपना शासन-प्रबन्ध स्वयं चलाए। इसी आधार पर गांधीजी ने 'ग्रामीण गणराज्य' (Village Republic) की कल्पना की थी। गांधीजी के आदर्श अहिंसात्मक समाज में प्रत्येक गांव एक गणराज्य होगा और राष्ट्रीय सरकार इन्हीं ग्रामीण गणराज्यों के ठोस आधार पर आधारित होगी; वह एक ऐसा वृत्त (circle) होगा जिसका केन्द्र व्यक्ति होगा। इस सम्बन्ध में उन्होंने हरिजन (28-7-1946) में लिखा था, "स्वतन्त्रता नीचे से प्रारम्भ होनी चाहिये। इस प्रकार, प्रत्येक गांव एक गणराज्य अथवा पंचायत का राज्य होगा। उसके पास पूरा उत्साह व ताकत होगी। इसका अर्थ यह है कि प्रत्येक गांव को आत्मनिर्भर होना होगा—अपनी आवश्यकताएँ स्वयं पूरी कर लेनी होंगी ताकि वह अपना सारा प्रबन्ध स्वयं चला सके; यहां तक कि वह सम्पूर्ण संसार के विरुद्ध अपनी रक्षा स्वयं कर सके।" गांधीजी की इसी अपेक्षा की पूर्ति के लिये इस देश के कोने-कोने में पंचायती राज की स्थापना सन् 1959 से आरम्भ कर दी गई है जोकि भारतीय ग्रामीण जनता के राजनीतिक जीवन में एक महान् परिवर्तन का सूचक व एक नए अध्याय का आरम्भ है। भारतीय संघ के अधिकांश राज्यों ने पंचायती राज संस्थाओं के गठन के लिये अधिनियम पारित किये हैं। इस समय देश में 2,19,892 पंचायतें, 3,863 पंचायत समितियाँ एवं 201 जिला परिषदें हैं। पंचायती राज के अन्तर्गत अब मेघालय, नागालैण्ड तथा बिहार के 31 जिलों में से 23 को छोड़कर सभी राज्य हैं। पंचायती राज संस्थाओं का ढाँचा तीन स्तरों पर आधारित है। ग्राम सभा और ग्राम पंचायत निम्नतम स्तर पर हैं, जबकि जिला-परिषद उच्चतम स्तर पर। इन दोनों के बीच पंचायत समितियाँ हैं जिन्हें कुछ राज्यों में जनपद पंचायतें भी कहा जाता है। पिछड़े वर्गों, स्त्रियों आदि को इन संस्थाओं में विशेष

प्रतिनिधित्व दिया जाता है। पंचायत सीधे गांव वालों द्वारा और उनमें से ही चुनी जाती है और कृषि उत्पादन, ग्रामीण उद्योग, चिकित्सा सहायता, प्रसूति एवं बाल-कल्याण, सार्वजनिक चरमाहों, सफाई आदि की जिम्मेदारियां संभालती है। कहीं-कहीं पंचायतें प्रारम्भिक शिक्षा, गांव के खाते रखने और लगान वसूली का भी काम करती हैं। गांवों के लोगों के लिये न्याय की जल्दी व सस्ती व्यवस्था करने के लिये कुछ राज्यों में न्याय पंचायतें काम कर रही हैं। जिला-स्तर पर गठित जिला-परिषद् एक ओर तो राज्य सरकार और दूसरी ओर पंचायतों एवं पंचायत समितियों के बीच सम्पर्क स्थापित करती है और पंचायत समिति की क्रियाओं का निरीक्षण करती व उनमें तालमेल स्थापित करती है।

लोकतान्त्रिक समाजवाद, नियोजन तथा धर्मनिरपेक्षता (Democratic Socialism, Planning and Secularism)

ये सभी आधुनिक युग में राजनीतिक परिवर्तन के कुछ अन्य उल्लेखनीय पक्ष हैं। आइये, इन्हें एक-एक करके समझें।

श्री जयप्रकाश नारायण ने कहा है—“मेरा विश्वास लोकतान्त्रिक समाजवाद में है जोकि एकमात्र सच्चा समाजवाद है।”² वास्तव में यदि हम लोकतान्त्रिक समाजवाद को एक साधारण रूप में समझना चाहें, तो उसे “प्रजातान्त्रिक सरकार के रहते हुए, प्रजातान्त्रिक तरीकों से, समाज में समाजवाद लाने” के रूप में समझा जा सकता है। दूसरे शब्दों में इसमें समाजवाद लाने के लिये किन्हीं युद्ध या क्रांति या रक्तपात, या हृदय-परिवर्तन आदि उपायों का सहारा नहीं लिया जाता है बल्कि इसमें जनतान्त्रिक तरीकों से ही समाजवाद लाने का प्रयत्न किया जाता है। साथ ही ऐसा समाजवाद बिना ‘राज्य’ (Government-State) के नहीं लाया जा सकता। दूसरे शब्दों में लोकतान्त्रिक समाजवादी ‘राज्यविहीन समाज’ (Stateless Society) में विश्वास नहीं करते अपितु राज्य को तो समाजवाद लाने में एक सहायक या साधन के रूप में मानते हैं। इस राज्य या सरकार का स्वरूप क्या हो, इस बारे में उनका स्पष्ट मत है कि “हम किसी की तानाशाही नहीं चाहते, हम जनता की सरकार चाहते हैं।” कहने का तात्पर्य यह है कि इस मत के अनुयायियों का विश्वास ‘प्रजातन्त्रात्मक सरकार’ (Democratic Government) में है। यदि केवल समाजवाद को ही लिया जाए तो, प्रो० आर० मैकडोनाल्ड (Ramsay Macdonald) के शब्दों में, “साधारण भाषा में समाजवाद की इससे अच्छी कोई परिभाषा नहीं दी जा सकती है कि इसका उद्देश्य समाज की भौतिक व आर्थिक शक्तियों का संगठन और मानवीय शक्तियों द्वारा उनका नियन्त्रण है।”³

भारतवर्ष में ही विशेषतः ऐसे समाजवाद की धारणा अधिक पतली है। स्वर्गीय पं० जवाहरलाल नेहरू, आचार्य विनोबा भावे, श्री जयप्रकाश नारायण, स्वर्गीय लालबहादुर शास्त्री आदि ने इस पर काफी प्रकाश डाला है। भारतीय राष्ट्रीय

2. “I have reaffirmed my faith in Democratic Socialism, which is the only true Socialism.”—J. P. Narayan, Edited by Dr. Bimla Prasad, *Socialism, Sarvodaya and Democracy*, Asia Publishing House, New York, 1964, p. 55.

3. “No better definition of Socialism can be given in general terms than that it aims at the organization of the material and economic forces of society, and their control by human forces.”—Ramsay Macdonald.

कांग्रेस भी लोकतान्त्रिक समाजवादी समाज लागे का प्रयत्न करती रही है। लोकतान्त्रिक समाजवादी समाज (Democratic Socialist Society) को संक्षेप में इस प्रकार परिभाषित किया जा सकता है कि "लोकतान्त्रिक समाजवादी समाज वह है, जिसमें कि पृथ्वी का नियम वहाँ के मनुष्यों द्वारा प्रकट की गई इच्छाओं पर आधारित हो; व्यक्तिगत, सांस्कृतिक एवं धार्मिक तौर पर पूर्ण स्वतन्त्रता की गारण्टी हो; जन्म और विशेषाधिकार के भेदभाव न हों, नागरिकों के समान अधिकार हों; सामाजिक न्याय व आर्थिक स्वतन्त्रता ही राज्य के राजनीतिक व आर्थिक संगठनों के आधार हों और बड़े पैमाने के सभी उत्पादन सामूहिक नियन्त्रण व स्वामित्व में हों।"⁴ इस सन्दर्भ में हम प्रमुख लोकतान्त्रिक समाजवादी पंडित जवाहरलाल नेहरू एवं बाबू जयप्रकाश नारायण के विचारों का उल्लेख कर सकते हैं।

वास्तव में पंडित नेहरू का इस सम्बन्ध में अत्यधिक योगदान रहा है। आप एक विचारक और साथ ही एक कर्मवीर भी थे। इसीलिए उनके समाजवाद पर सामाजिक तथा आर्थिक समस्याओं के विषय में उनके चिंतन की छाप डी हुई है। आपने भारत की आर्थिक समस्याओं को देखते हुए मार्क्सवाद का बहिष्कार किया। मनुष्य के गौरव तथा स्वतन्त्रता के मूल्य ने उन्हें साम्यवाद से दूर कर दिया। साथ ही आप अत्यधिक व्यवहार-प्रधान (pragmatic) भी थे। आपका 'मानव में विश्वास' अधिक था। 'डिस्कवरी ऑफ इण्डिया' (Discovery of India) में आप लिखते हैं कि "हम ईश्वर की सत्ता से तो इनकार कर सकते हैं, परन्तु यदि मनुष्य में विश्वास न रखें, तो क्या आशा रह जाएगी, इससे तो सब-कुछ निरर्थक हो जाएगा।" इसीलिए पंडितजी के लिए लोकतन्त्रात्मक तथा समाजवाद साध्य नहीं थे, वरन् साधन थे; साध्य तो व्यक्ति का कल्याण तथा प्रगति है।

बाबू जयप्रकाश जी ने भारत की एक बहुत जर्जर तस्वीर देखी—एक ऐसी तस्वीर, जिसमें कि भारत के करोड़ों जन भूख से तड़प रहे थे, गुलामी की जंजीरों में जकड़े हुए एवं निकल भागने को छटपटा रहे थे। बाबूजी का हृदय तड़प उठा। इसी कारण आप भारत को एक पूर्ण समाजवादी समाज बनाने का स्वप्न देख रहे थे। "आपके समाजवादी भारत की तस्वीर आर्थिक और राजनीतिक लोकतन्त्र की तस्वीर है, ऐसे लोकतन्त्र में मनुष्य न तो पूँजीवाद का ही दास होगा, न किसी दल का और न ही राज्य का, मनुष्य तो पूर्ण स्वतन्त्र होगा।"⁵

अभी हाल ही के एक लेख 'मेरे सपनों का भारत' में आपने एक स्वतन्त्र,

4. "Democratic Socialist society is one in which, the Law of the land to be based on the will of the people freely expressed by them; guarantee of full individual and civil liberty and cultural and religious freedom; abolition of all distinctions of birth and privilege and guarantee of equal rights to citizens; social justice and economic freedom to be the guiding principles of the political and economic organization of the State; all large scale production to be under collective ownership and control"

5. "Thus J. P.'s picture of a socialist India is the picture of an economic and political democracy. 'In this democracy,' he affirms, 'man will neither be slave to capitalism nor to a party or the State. Man will be free.' —Dr. Bimla Prasad, *Socialism, Sarvodaya and Democracy*, Asia Publishing House, New York, p. 17.

प्रगतिशील व गांधीवादी भारत का जो चित्र अंकित किया है, वह इस प्रकार है—

“मेरे सपनों का भारत एक ऐसा समुदाय है, जिसमें हरेक व्यक्ति, हरेक साधन निर्बल की सेवा के लिए समर्पित है—अंत्योदय तथा निर्बल और असहाय की बेहतरी को समर्पित समुदाय।

वह ऐसा समुदाय है, जिसमें लोगों की मानवता की कद्र है—वह समुदाय, जिसमें हरेक व्यक्ति का अपनी अन्तरात्मा के अनुसार कार्य करने का अधिकार मान्य है और सब उसका सम्मान करते हैं।

वह ऐसा समुदाय है, जिसमें अलग-अलग विचारों पर शान्तिपूर्ण ढंग से तर्क-वितर्क होता है। जिसमें मतभेद सभ्य तरीके से तय किये जाते हैं।

वह ऐसा समुदाय है, जिसमें सबके पास काम है—ऐसा काम, जिसमें उन्हें सन्तोष भी होता है और सुन्दर जीवनयापन भी। वह ऐसा समुदाय है, जिसमें हरेक को अपनी निजी रचनात्मक क्षमता को विकसित करने की पूरी गुंजाइश है; जिसमें हरेक दस्तकार की, फैक्टरी या फार्म जहाँ भी वह काम करता है, उसके स्वामित्व और प्रबन्ध में भागीदारी और दखल है।

वह ऐसा समुदाय है, जिसमें सबको बराबर के अवसर प्राप्त हैं—वह समुदाय, जिसमें शक्तिशाली, बहुसंख्यक स्वयं ही निर्बल वर्ग, अल्पसंख्यकों की बाधाओं को समझते हैं, और उनको तरजीही सुविधायें देने के लिए कोई कोर-कसर नहीं रखते, जिससे उनकी ऐतिहासिक बाधाएँ दूर हों।

वह ऐसा समुदाय है, जिसमें हरेक साधन जनता की आवश्यकताओं की पूर्ति में लगा है—उन्हें पर्याप्त भोजन, कपड़ा, मकान और पीने का पानी मुहैया करने में।

मेरे सपनों का भारत ऐसा समुदाय है जिसमें हरेक नागरिक समुदाय के कार्य-व्यापारों में हिस्सा लेता है, जिसमें हरेक नागरिक अपने निजी स्वार्थों से परे मामलों को समझता है और उनमें हिस्सा लेता है। वह ऐसा समुदाय है जिसमें नागरिक—खास तौर से निर्बल—सुधार लागू करने और शासकों पर निगाह रखने के लिए संगठित और जागरूक है।

वह ऐसा समुदाय है, जिसमें अधिकारी और निर्वाचित प्रतिनिधि जनता के सेवक हैं; जिसमें जनता को, उनके पथभ्रष्ट होने पर, उन्हें दंडित करने का अधिकार और अवसर प्राप्त हैं; जिसमें सत्ता को सुविधा नहीं माना जाता, बल्कि जनता द्वारा सौंपा गया भरोसा माना जाता है।

संक्षेप में, मेरे मन में एक स्वतन्त्र, प्रगतिशील और गांधीवादी भारत की तस्वीर है।

“चुनाव खत्म हो जाने पर, मैं स्वयं ही सारे वायदों को पूरा करवाने के लिए, हर स्तर पर, जनता समितियों को गठित करने के लिए अभियान शुरू करूँगा।”

6. धर्मयुग (3 अप्रैल 1977) से साधार।

सन् 1967 के आम-चुनावों से पूर्व भुवनेश्वर के 'कांग्रेस अधिवेशन' में भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस ने भारत में लोकतान्त्रिक समाजवाद को स्थापित करने के उद्देश्य से एक 10-सूत्री कार्यक्रम बनाया था जिसके अन्तर्गत निम्न कार्यक्रमों का समावेश था—

- (1) बैंक संस्थाओं पर सामाजिक नियन्त्रण । (2) आम बीमे का राष्ट्रीयकरण । (3) अनाज का राजकीय व्यापार । (4) सहकारिताओं को बढ़ावा । (5) एकाधिकारों का हनन । (6) समाज की न्यूनतम जरूरतों को पूरा करने का प्रबन्ध । (7) शहरी जमीन के व्यक्तिगत स्वामित्व पर नियन्त्रण । (8) ग्राम-कल्याण व भूमि-सुधार कार्यक्रम । (9) राजाओं के विशेषाधिकारों एवं प्रिवीपसों का अन्त । (10) वस्तु के अनुसार राज्य के आयात व निर्यात के व्यापार का विकास ।

कांग्रेस सरकार ने अपने शासनकाल में इनमें से अनेक सुधार-कार्यों पर अमल भी किया जैसे (i) जीवन बीमा व बैंकों का राष्ट्रीयकरण, (ii) प्रिवीपसों का अन्त, (iii) भूमि-सुधार, (iv) सहकारिताओं को बढ़ावा आदि जिसका कि प्रभाव केवल हमारे आर्थिक जीवन पर ही नहीं अपितु राजनीतिक जीवन पर भी पड़ा ।

राष्ट्रीय राजनीतिक परिवर्तनों के सन्दर्भ में नेहरूजी का बड़ा योगदान लोकतान्त्रिक समाजवाद के साथ-साथ आर्थिक नियोजन और धर्मनिरपेक्षता की नीतियों का पालन भी है । योजना आयोग के निर्माण में उन्होंने विशेष रुचि ली । इस आयोग के द्वारा ही इस देश में पंचवर्षीय योजनाएँ बनाई गईं । पंचवर्षीय योजनाएँ भारत के नियोजन का मूर्त रूप हैं । ये योजनाएँ प्रधानतः आर्थिक हैं, परन्तु इनमें सामाजिक उपलक्षणों का भी समावेश है । योजना आयोग के अनुसार, "प्रत्येक पंचवर्षीय योजना में अतीत का लेखा-जोखा भी होता है और भविष्य के लिये आह्वान भी । यह देश के लाखों व्यक्तियों की आशाओं और आकांक्षाओं को क्रियात्मक रूप देती है और गरीबी का अन्त करके तथा जीवन-स्तर को ऊँचा उठाने के कार्य में सबको सेवा करने का अवसर प्रदान करती है ।"

प्रथम पंचवर्षीय योजना द्वारा समाजवादी ढंग के समाज को स्थापित करने की नींव पड़ी है । योजनाएँ हमारे समाज में आमूल परिवर्तन करेंगी । इस परिवर्तित समाज में "एक ऐसी सामाजिक और आर्थिक व्यवस्था होगी जो स्वतन्त्रता और लोकतान्त्रिक मूल्यों पर आधारित होगी, जिसमें जाति, वर्ग तथा मर्यादागत भेदभाव न होगा और रोजी-रोजगार तथा उत्पादन में बहुत अधिक वृद्धि होगी एवं अधिक-से-अधिक सामाजिक न्याय उपलब्ध होगा ।"

'समाजवादी ढंग की समाज-व्यवस्था' का मोटे तौर पर यह अर्थ है कि "आगे बढ़ने का रास्ता चुनते समय हम सारे समाज के हित की बात सोचेंगे, किसी खास वर्ग या व्यक्ति के लाभ की नहीं । विकास-पद्धति और सामाजिक-आर्थिक सम्बन्ध का विधान कुछ इस तरह निर्धारित करेंगे कि न सिर्फ राष्ट्रीय आय और रोजगार के अवसर में वृद्धि हो, बल्कि लोगों की आय और सम्पत्ति में विषमता घटती ही चली जाये । आर्थिक उन्नति से समाज का वह वर्ग विशेष रूप से लाभान्वित हो जो अपेक्षाकृत कम सम्पन्न है । चारों ओर सुख और शान्ति का साम्राज्य हो और निम्न-से-निम्न आदमी को भी अपनी जिन्दगी सफल बनाने का पर्याप्त अवसर मिले ।" आर्थिक नियोजन के सामाजिक उपलक्षण का यह एक उत्तम निदर्शन है ।

पंचवर्षीय योजनाओं में राज्य की नीति के निदेशक सिद्धान्तों को मूर्त रूप देने का प्रयास किया गया है। भारत गाँवों का देश है इस कारण गाँवों के केवल आर्थिक ही नहीं, सामाजिक, राजनीतिक तथा सांस्कृतिक पुनर्निर्माण का भी पूरा ध्यान रखा गया है। शिक्षा, चिकित्सा की सुविधाएँ, जलपूर्ति और सफाई, पौष्टिक भोजन, मातृत्व और शिशु कल्याण योजनाएँ, परिवार-नियोजन, स्वास्थ्य-शिक्षा, गृह-निर्माण, गन्दो बस्तियों को हटाना, जनजाति तथा हरिजनों का कल्याण, भूतपूर्व अपराधियों का पुनर्वास, समाज-शिक्षा, विस्थापितों का पुनर्वास, शारीरिक तथा मानसिक दृष्टि से असमर्थ लोगों का कल्याण, युवक कल्याण, बाल-अपराधियों को सुधारने की योजना, नशा-निषेध आदि अनेक ऐसी योजनाओं और कार्यक्रमों का संग्रह पंचवर्षीय योजनाओं में किया गया है जो प्रत्यक्ष रूप से सामाजिक जीवन से सम्बन्धित हैं। ये सभी भारत के नियोजन के सामाजिक उपलक्षण हैं और राजनीतिक जीवन की पृष्ठभूमि। परन्तु पिछले 25 वर्षों के अनुभव ने हमें सिखाया है कि पंचवर्षीय योजनाओं से वास्तविक लाभ उतना नहीं हुआ जितना कि सोचा गया था। इस कारण जनता सरकार ने सत्ता संभालने के बाद सन् 1977 में यह फैसला किया कि वह चक्र योजना या अनवरत योजना (Rolling Plan) लागू करेगी जिसमें क्षणिक लाभ के बजाय स्थायी लाभ के लक्ष्यों को प्राप्त करने पर अधिक बल दिया जायेगा, पिछली प्रगति की समीक्षा करने का नया तरीका विकसित किया जायेगा, गत वर्षों की उपलब्धियों के आधार पर नये सुझाव दिये जायेंगे और विभिन्न सेक्टरों के एक-दूसरे पर निर्भर रहने की स्थिति में सुधार किया जायेगा। प्रधानमन्त्री ने यह घोषणा की है कि सरकार विस्तृत आयोजन में विश्वास रखती है और बिना योजना के सही तौर पर प्रगति होना सम्भव नहीं है। अनवरत योजना का सारा काम योजना आयोग ही देखेगा।

एक और उल्लेखनीय परिवर्तन राजनीतिक जीवन में धर्मनिरपेक्षता के आदर्श की स्थापना है। श्री वेंकटरमन के अनुसार, "भारतीय राज्य न तो धार्मिक है, न अधार्मिक और न ही धर्म-विरोधी; किन्तु यह धार्मिक संकीर्णताओं तथा संकुचित वृत्तियों से बिल्कुल दूर है और धार्मिक मामलों में तटस्थ है।" संविधान द्वारा भारत में धर्मनिरपेक्ष राज्य की नींव डाली गई है क्योंकि संविधान के अनुसार राज्य का अपना कोई धर्म नहीं है। प्रत्येक नागरिक को अपनी इच्छानुसार धर्म के पालन का अधिकार है। प्रो० डोनाल्ड यूजीन स्मिथ के अनुसार चूँकि भारत में अनेक सम्प्रदाय और मत-मतान्तर हैं, इसलिये भारत में राज्य द्वारा किसी विशेष धर्म को मान्यता देना अच्छा नहीं समझा गया। यद्यपि 'धर्मनिरपेक्ष' शब्द को संविधान में वही स्थान नहीं दिया गया है फिर भी श्री नारमन डी० पामर के अनुसार संविधान में वर्णित मूल अधिकार (अनुच्छेद 15) तथा अनुच्छेद 325 के अनुसार धर्मनिरपेक्ष राज्य की ही स्थापना होती है। भारत में धार्मिक अल्पसंख्यकों के हित में धर्मनिरपेक्षता का आदर्श ही सबसे बड़ा कारगर संरक्षण है।

इस देश में राजनीति में हिस्सा लेने का आधार धर्म नहीं है और न धर्म के आधार पर शासन में ही कोई भेदभाव किया जाता है। किसी भी धार्मिक समुदाय का व्यक्ति राष्ट्र के बड़े-से-बड़े पद को धारण कर सकता है। धर्म-निरपेक्षता के इस सिद्धान्त को धार्मिक, सामाजिक, आर्थिक व राजनीतिक सभी क्षेत्रों में लागू किया जाता है और इसके आधार पर न केवल हिन्दुओं व मुसलमानों, बल्कि सभी धार्मिक

समुदायों को राज्य की ओर से समान संरक्षण प्राप्त है। धर्मनिरपेक्षता की नीति के अनुसार राज्य किसी नागरिक के धर्म व उससे सम्बन्धित धार्मिक क्रियाओं में उसके विश्वास को उस नागरिक व ईश्वर के बीच का निजी मामला मानता है और इस कारण उसमें हस्तक्षेप करना अनुचित समझता है। वस्तुतः व्यक्ति के धर्म से राज्य सम्बन्धित नहीं है, इस कारण वह सभी धार्मिक स्थानों एवं धर्मों के प्रति सहिष्णुता व समानता का व्यवहार करता है। इस सन्दर्भ में अपने विचारों को व्यक्त करते हुए गांधीजी ने बहुत पहले ही यह स्पष्ट किया था कि धर्मनिरपेक्षता या 'सेक्यूलर' (Secular) का अर्थ धर्म-हीनता नहीं बल्कि 'सर्वधर्म-समभाव' है। वे चाहते थे कि स्वतन्त्र भारत में प्रत्येक नागरिक अपना धर्म पहचाने और दूसरे धर्मों के प्रति सद्भाव और आदर रखे। उनकी यह पक्की धारणा थी कि इस प्रकार के 'सर्वधर्म-समभाव' के द्वारा ही भारत की एकता मजबूत हो सकती है, धर्म-भावना की अवहेलना करके नहीं। भारत ने अपने राजनीतिक जीवन में गांधीजी के इस उपदेश का सम्मान किया है।

देशी रियासतों का विलय

(Unification of Princely States)

श्री नेहरू के अनुसार, "एक इतिहासकार जो राष्ट्र-जीवन के पिछले पृष्ठों का अवलोकन करता है, निःसन्देह यही निष्कर्ष निकालेगा कि भारतीय इतिहास की समकालीन, प्रधान एवं अति प्रभावशाली परिवर्तित घटना है देशी रियासतों का भारतीय संघ में विलय। वह वादा एकीकरण उतना महत्वपूर्ण नहीं जितना कि आन्तरिक एकीकरण अर्थात् इन राज्यों में प्रजातन्त्रात्मक संस्थाओं और उत्तरदायी शासन का विकास।" इन देशी रियासतों पर अत्यधिक घनी व प्रभावशाली नवाबों या महाराजाओं का आधिपत्य था जोकि अपने क्षेत्र में सर्वोपरि होने के कारण मनमाने ढंग से शासन करते और राज्य की जनता को अपने अधीन रखते थे। ये अत्यन्त शक्तिशाली थे और धन-शक्ति से भी समृद्ध थे। अतः उन्हें भारतीय संघ में मिलाना एक जटिल समस्या थी। नवाब भोपाल का दल भोपाल से करांची तक के राज्यों का एक ऐसा गुट बनाना चाहता था जिससे कि भारत के दो टुकड़े हो जायें। उस समय पाकिस्तान के प्रधान श्री जिन्ना ने राजाओं व नवाबों से यह वादा किया कि वे कराची को मुक्त बन्दरगाह के रूप में इस्तेमाल कर सकने थे। परन्तु लोह-पुरुष सरदार पटेल की सूझ-बूझ के परिणामस्वरूप भारतीय संघ के अन्तर्गत आने वाली सभी रियासतों ने अधिनियम-पत्र पर हस्ताक्षर कर दिए और इस प्रकार देश का दूसरा विभाजन टल गया। हैदराबाद के निज़ाम ने एक प्रकार से खुला विद्रोह करने को सोचा, पर सरदार पटेल ने सतोंरात सैनिक कार्यवाही द्वारा निज़ाम को आत्म-समर्पण करने को विवश किया। बाद में जनमत संग्रह द्वारा जूनागढ़ को भी भारत में मिला लिया गया। काश्मीर ने भी भारतीय संघ में अधिमिलन की इच्छा प्रकट की, जिसे भारतीय संविधान के अनुच्छेद 371 के अन्तर्गत विशेष राज्य का दर्जा देकर भारतीय संघ का घटक राज्य बना दिया गया। श्री माइकेल त्रेचर ने इस सन्दर्भ में लिखा है कि "यह एक महान् रक्तहीन क्रान्ति थी जिसकी तुलना इस शताब्दी में कहीं भी नहीं मिलती; इसकी तो तुलना केवल 19वीं शताब्दी में बिस्मार्क द्वारा जर्मनी में और केवूर द्वारा इटली में किए गए एकीकरण से की जा सकती है।" बाद में कांग्रेस के 10-सूत्री आर्थिक कार्यक्रम को क्रियान्वित करने के

उद्देश्य से इन्दिरा सरकार ने सितम्बर 1970 में इन नरेशों को प्राप्त होने वाले निजी कौष (प्रिवीपर्स), एवं उनके विशेषाधिकारों व सुविधाओं के उन्मूलन का निर्णय किया और लोकसभा में इस हेतु एक संविधान संशोधन विधेयक प्रस्तुत किया। पर यह विधेयक पास न हो सका। इस पर राष्ट्रपति ने एक अध्यादेश जारी करके नरेशों की मान्यता समाप्त कर दी, जिससे नरेशों को मिलने वाला प्रिवीपर्स स्वतः ही समाप्त हो गया। इस अध्यादेश की वैधता को उच्चतम न्यायालय में चुनौती दी गई जिसने कि उसे अवैध घोषित कर दिया।

राज व राष्ट्रभाषा के रूप में हिन्दी को मान्यता (Recognition of Hindi as State and National Language)

समकालीन राजनीतिक परिवर्तन में एक महत्वपूर्ण परिवर्तन राज और राष्ट्रभाषा के रूप में हिन्दी को मान्यता मिलना है। अनेक वर्षों तक एक विदेशी शासक का ही नहीं, अपितु एक विदेशी भाषा अंग्रेजी का हमारे ऊपर शासन रहा। हम अंग्रेजी भाषा के महान भक्त बन गए थे और यह मान बैठे थे कि भारत को समस्त प्रगति व जागृति अंग्रेजी भाषा पर ही निर्भर है। वह 'भूत' अब धीरे-धीरे उतर रहा है और डाक-तार विभाग, रेलवे तथा अन्य केन्द्रीय विभागों में भी हिन्दी का प्रयोग दिन-प्रति-दिन बढ़ता जा रहा है। पश्चिम बंगाल व दक्षिण के लोग जो हिन्दी का आरम्भ में घोर विरोध करते थे, अब धीरे-धीरे हिन्दी के प्रति उदार बनते जा रहे हैं। आज देवनागरी लिपि में लिखी जाने वाली हिन्दी भारतीय संघ की राजभाषा है। संविधान में यह व्यवस्था की गई थी कि 25 जनवरी 1965 तक संघ के सभी राजकार्यों के लिये अंग्रेजी का प्रयोग जारी रहेगा। लेकिन बाद में यह अनुभव किया गया कि इस निर्धारित अवधि में अंग्रेजी के स्थान पर पूर्णतया हिन्दी का प्रयोग व्यावहारिक नहीं होगा। अतः संशोधित रूप में 'राजभाषा अधिनियम, 1963' में व्यवस्था है कि हिन्दी के अतिरिक्त अंग्रेजी भाषा का प्रयोग उन सब सरकारी कार्यों के लिये, जिनके लिये वह 26 जनवरी 1965 से पहले प्रयोग की जाती थी, और संसद की कार्यवाही चलाने के लिये भी इसका प्रयोग जारी रहेगा। इसके अलावा, केन्द्र और एक ऐसे राज्य के बीच पत्र-व्यवहार के लिये, जिसने हिन्दी को अपनी राजभाषा के रूप में नहीं अपनाया है, अंग्रेजी का प्रयोग किया जाएगा। एक ऐसे राज्य, जिसने हिन्दी को अपनी राजभाषा के रूप में स्वीकार कर लिया है तथा दूसरे ऐसे राज्य जिसने ऐसा नहीं किया है, के बीच जब पत्र-व्यवहार में हिन्दी का प्रयोग किया जाएगा तो ऐसे पत्र के साथ उसका अंग्रेजी अनुवाद भी संलग्न किया जाएगा। ऐसा राज्य भी जिसने हिन्दी को राजभाषा नहीं बनाया है, संघ से और ऐसे राज्य से जिसने हिन्दी को राजभाषा बनाया है, पत्र व्यवहार हिन्दी में कर सकता है। कुछ भी हो, राजभाषा और राष्ट्रभाषा दोनों के ही रूप में हिन्दी का प्रयोग बढ़ता जा रहा है। हिन्दी के महत्त्व को स्वीकार करते हुए पण्डित नेहरू भी कहते थे कि "जनता के साथ हम अंग्रेजी के माध्यम से कदापि सम्पर्क स्थापित कर ही नहीं सकते।" अर्थात् हिन्दी अनिवार्य है। पर यह काम धीरे-धीरे और अहिन्दी प्रदेशों के लोगों की भावनाओं को ध्यान में रखकर ही किया जाना चाहिये। आज किया भी वही जा रहा है।

सिण्डीकेट का उदय व कांग्रेस का प्रथम विभाजन, 1969

(Emergence of Syndicate and The First Split of Congress, 1969)

सन् 1963 के ग्रीष्मकाल में अखिल भारतीय कांग्रेस के अन्दर ही 'सिण्डीकेट'

नामक एक दबाव गुट (Pressure Group) का उदय भारतीय राजनीति में हुआ जिसने कि कांग्रेस और समूचे देश की राज-व्यवस्था को प्रभावित व परिवर्तित करने का उल्लेखनीय कार्य किया। 'सिण्डीकेट' शब्द का प्रयोग कांग्रेस दल के उस समय के कतिपय अत्यन्त प्रभावशाली नेताओं के लिये किया जाता है जैसे सर्वश्री कामराज, मोरारजी देसाई, निजलिंगप्पा, पाटिल, अतुल्य घोष, चन्द्रभानू गुप्त, संजीव रेड्डी आदि जिन्होंने मिलजुलकर कांग्रेस संगठन तथा सरकार के निर्णय-प्रक्रिया को प्रभावित करने का निर्णय लिया था। वस्तुतः यह कतिपय मुख्यमन्त्रियों और केन्द्रीय मंत्रियों एवं उनके साथियों का गुट था। इस गुट ने यह तय किया कि वे साथ-साथ या तो तैरेंगे अथवा डूबेंगे और मिलजुलकर कांग्रेस दल की राजनीति को प्रभावित करेंगे। उन्हें सबसे बड़ी चिन्ता नेहरूजी के उत्तराधिकारी चयन करने की थी क्योंकि उनका भविष्य भी इससे जुड़ा हुआ था। जब भुवनेश्वर में नेहरूजी बीमार हो गए तो सिण्डीकेट ने श्री लालबहादुर शास्त्री को मन्त्रिमण्डल में शामिल होने में मदद की तथा बाद में श्री कामराज को कांग्रेस वरिष्ठ अध्यक्ष बनवाया। सिण्डीकेट के समर्थन से ही सन् 1964 में शास्त्रीजी और सन् 1966 में श्रीमती इन्दिरा गांधी प्रधानमन्त्री-पद पर आरुढ़ हुईं।

चतुर्थ आम चुनाव (फरवरी 1967) के समय सिण्डीकेट इन्दिराजी से नाराज थी। इस आन्तरिक फूट के कारण ही कांग्रेस की स्थिति इस चुनाव में डाँबाडोल हो गई—दिल्ली में उसके सात में से छः स्थानों पर उम्मीदवार पराजित हुए और उत्तर प्रदेश में जोकि श्रीमती गांधी का अपना प्रान्त है, कांग्रेस पार्टी बहुमत प्राप्त नहीं कर सकी। केरल और मद्रास में कांग्रेस पूरी तरह पराजित हो गई। राजस्थान में संकटपूर्ण परिस्थिति थी और पंजाब हाथ से निकल गया। लोकसभा में कांग्रेस पार्टी का बहुमत बहुत ज्यादा कम हो गया। श्री मोरारजी देसाई श्रीमती गांधी के विरुद्ध नेता-पद के लिये संघर्ष करने को तैयार थे। मध्य प्रदेश के मुख्यमन्त्री श्री डी० पी० मिश्रा ने श्री देसाई को उप प्रधानमन्त्री बनाने का सुझाव दिया जिसे मान लिया गया और इस प्रकार इन दो नेताओं को एक-दूसरे के निकट लाकर कांग्रेस पार्टी की एकता को बनाये रखा गया। पर यह एकता अधिक दिन तक बनी न रही। सिण्डीकेट द्वारा मनोनीत प्रत्याशी श्री संजीव रेड्डी के विरुद्ध श्रीमती गांधी ने श्री वी० वी० गिरि को राष्ट्रपति-पद के चुनाव में खड़ा किया और उनकी विजयी बनवाया तथा श्री मोरारजी से वित्त विभाग छीनकर श्रीमती गांधी ने सिण्डीकेट पर तीखा प्रहार किया। इससे दोनों गुटों में मतभेद बढ़ता गया। जुलाई सन् 1969 में कांग्रेस महासमिति के बंगलौर अधिवेशन में यह मतभेद जनता के सामने खुले रूप में आ गया और अन्ततः कांग्रेस दो टुकड़ों में बँट गई। इस विभाजन की मुख्य नायिका उस समय की प्रधान-मन्त्री श्रीमती गांधी थीं जिन्होंने अपने रास्ते के हर काँटे को दूर करने के उद्देश्य से ही सम्भवतः ऐसा किया।

अनेक नई राजनीतिक पार्टियों का उदय

(Emergence of Many New Political Parties)

स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद इस देश में एक उल्लेखनीय राजनीतिक परिवर्तन यह भी हुआ कि अनेक नई राजनीतिक पार्टियों का जन्म हुआ। सन् 1885 में भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस का जन्म 'राष्ट्रीय आन्दोलन' के रूप में हुआ। श्री रानी

कोठरी के अनुसार इसका संगठन चुनाव लड़ने के उद्देश्य से नहीं, विदेशी शासन के विरोध में किया गया था। इसी कारण स्वाधीनता प्राप्ति के तुरन्त बाद गांधीजी चाहते थे कि कांग्रेस का राजनीतिक रूप समाप्त कर दिया जाए और उसके स्थान पर जनता में रचनात्मक कार्य करने के लिये लोक सेवक संघ की स्थापना की जाये। पर वास्तव में ऐसा नहीं हो पाया। भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के जन्म के बाद मुस्लिम लीग, फारवर्ड ब्लाक, साम्यवादी दल तथा स्वराज्य दल आदि बने। भारत की स्वतन्त्रता प्राप्ति के समय उपरोक्त दलों के अतिरिक्त अखिल भारतीय दलित वर्ग संघ, हिन्दू महासभा आदि भी थे। सन् 1951 में प्रथम आम चुनाव के कुछ समय पहले जनसंघ नामक एक नई राजनीतिक पार्टी की स्थापना डॉ० श्यामाप्रसाद मुखर्जी ने की। उस समय यह एक दक्षिणपंथी राजनीतिक दल था और इसकी लोकप्रियता दिन-प्रतिदिन बढ़ती गई। सर्वश्री अटल बिहारी वाजपेयी, लालकृष्ण अडवानी आदि लोकप्रिय नेता इसी पार्टी के सदस्य तब तक थे जब तक अन्ततः 1977 जनसंघ का विलय जनता पार्टी में न हो गया। परन्तु 6 अप्रैल 1980 में जनता सरकार के पतन व लोक सभा चुनाव के बाद जनसंघ के लोगों ने जनता पार्टी से अपना सम्बन्ध विच्छेद करके श्री अटल बिहारी वाजपेयी की अध्यक्षता में एक नई पार्टी 'भारतीय जनता पार्टी' को जन्म दिया। भारतीय साम्यवादी दल (Communist Party of India) की स्थापना 26 दिसम्बर 1925 में श्री एम० एन० राय की प्रेरणा से हुई। पर सन् 1964 में यह दल अपने आन्तरिक विरोध के कारण दो-गुटों में विभाजित हो गया। सर्वश्री सुन्दरैया ज्योति बसु, भूपेश गुप्त, ए० के० गोपालन आदि वामपंथी गुट के नेता-गणों ने भारतीय साम्यवादी दल (C.P.I.) से अलग होकर एक नए दल भारतीय साम्यवादी दल (मार्क्सवादी) का गठन किया। श्री ज्योति बसु इस समय पश्चिम बंगाल में अपनी पार्टी के नेता के रूप में मुख्यमंत्री हैं। द्रविड़ मुन्नैत्र कक्षम (DMK) तमिलनाडु का क्षेत्रीय और राज्यस्तरीय दलों में महत्वपूर्ण और प्रभावशाली दल है। इस प्रदेश की सत्ता पर 1967 से 1976 के प्रारम्भ तक इसी दल का एकाधिकार रहा। नवम्बर 1972 में इस दल का विभाजन हो गया और श्री रामचन्द्र ने अन्ना द्रमुक की स्थापना की। इस समय इसी पार्टी (ADMK) की सरकार वहाँ है। सन् 1969 में कांग्रेस के विभाजन के बाद एक नया राजनीतिक दल संगठन कांग्रेस का जन्म हुआ जिसमें सर्वश्री मोरारजी देसाई, पाटिल, नीलम संजीव रेड्डी, चन्द्र-भानू गुप्त आदि नेतागण सम्मिलित थे। सन् 1977 में इस पार्टी का भी विलय जनता पार्टी में हो गया और इस समय श्री नीलम संजीव रेड्डी हमारे देश के राष्ट्र-पति हैं पर जनता पार्टी के टूटने के बाद यह अंग अव जनता पार्टी (जि० पी०) के नाम से जाना जाता है। नेहरूजी के समाजवाद की ओर बढ़ते हुये झुकाव को देखकर श्री राजगोपालाचारी ने सन् 1959 में स्वतन्त्र पार्टी की स्थापना की। उनका विचार था कि समाजवाद और उससे जुड़ी सरकार के हाथों में आधिक शक्तियों के केन्द्रीकरण की नीति भारतीय लोकतन्त्र के लिये घातक सिद्ध होगी। इसी प्रकार स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद अन्य अनेक राष्ट्रीय तथा राज्यस्तरीय राजनीतिक पार्टियों का उदय भारत में हुआ है। उनमें भारतीय लोक दल, समाजवादी दल (Socialist Party), अकाली दल, उत्कल कांग्रेस, नागालैण्ड यूनाइटेड फ्रण्ट, झारखण्ड पार्टी, विशाल हरियाणा पार्टी, केरल कांग्रेस तेलुगु देशम, कान्तिरंगा आदि उल्लेखनीय हैं।

भारत में राजनीतिक पार्टियों के उदय के तथा भारतीय लोकतन्त्र के इतिहास

समकालीन राजनीतिक परिवर्तन

में एक स्मरणीय व क्रान्तिकारी परिवर्तन तब हुआ जब, श्री गणेशमन्त्री के शब्दों में, 18 जनवरी 1977 की रात देश की राजनीति के ठहरे हुए जल में एकाएक हलचल शुरू हुई। राष्ट्र के नाम एक अप्रत्याशित संदेश में प्रधानमंत्री श्रीमती इन्दिरा गांधी ने मार्च 1977 में लोकसभा के चुनाव कराने की घोषणा की। अगले दिन लोकनायक जयप्रकाश नारायणजी ने चुनाव करवाने की घोषणा का स्वागत करते हुए आशा व्यक्त की कि नई परिस्थिति में विभिन्न विरोधी दल अपनी एक संगठित पार्टी बनाकर चुनाव लड़ेंगे। उन्होंने कहा, “अगर विरोधी दल अपने को विलीन कर एक दल बनाते हैं तो मैं उस दल का साथ दूंगा, अन्यथा मैं चुनाव-प्रचार से अलग रहूंगा।” राजनीति के जल में हलचल बढ़ने लगी और अन्ततः 23 जनवरी 1977 को चार विरोधी दलों—संगठन कांग्रेस, भारतीय जनसंघ, भारतीय लोकदल और सोशलिस्ट पार्टी ने अपने स्वतन्त्र अस्तित्व को समाप्त कर एक नई पार्टी में विलय का निर्णय किया—जनतन्त्र के उद्धारकर्ता के रूप में जनता पार्टी का उदय हुआ। इसके बाद एक और महत्वपूर्ण परिवर्तन 2 फरवरी 1977 को हुआ जब सर्वेथी जगजीवनराम, हेमवतीनन्दन बहुगुणा, नन्दिनी सत्पथी तथा अनेक कांग्रेसी नेताओं ने कांग्रेस पार्टी में आन्तरिक लोकतन्त्र के हनन का आरोप लगाते हुये कांग्रेस से त्यागपत्र दे दिया और अपनी एक नई पार्टी जनतान्त्रिक कांग्रेस (Congress for Democracy) के निर्माण की घोषणा की एवं जनता पार्टी के साथ मिलकर चुनाव लड़ी। चुनाव के बाद इन सभी पाँचों दलों ने विधिवत् अपने-अपने दलों को समाप्त करके अपना विलय कर लिया और इस प्रकार जनता पार्टी का गठन-कार्य पूरा हुआ। परन्तु सन् 1979 में जनता पार्टी अन्दरूनी झगड़ों और आपसी मतभेदों के कारण फिर चकनाचूर होकर कई पार्टियों में बँट गया जैसे लोकदल, भारतीय जनता पार्टी, जनता पार्टी (जे० पी०) जनता पार्टी (राजनारायण) आदि।

11 जनवरी, 1980 को गठित होने वाली सातवीं लोकसभा चुनाव के लिये चुनाव आयोग ने मान्यता प्राप्त राजनीतिक दलों की जो सूची प्रकाशित की भी उनमें छः दलों—जनता, जनता (सिक्थूलर), कांग्रेस (इन्दिरा), कांग्रेस (अस), भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी तथा भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी (मार्क्सवादी) को अखील भारतीय या राष्ट्रीय पार्टी के रूप में मान्यता और चुनाव चिह्न प्रदान की गई है। स्मरण रहे कि उक्त लोक सभा चुनाव के बाद ही जनता पार्टी दो दलों—जनता (जे० पी०) तथा भारतीय जनता पार्टी में तथा जनता (सिक्थूलर पार्टी) भी दो दलों—लोकदल तथा जनता (राजनारायण) पार्टी में पुनः विभाजित हो गई थी। राज्य स्तर की मुख्य पार्टियों की संख्या 22 है। इनमें पश्चिम बंगाल का आल इण्डिया फारवर्ड ब्लाक, मणिपुर पीपुल्स पार्टी, पीपुल्स पार्टी ऑफ अरुणाचल, नागालैण्ड की शॉल पार्टी हिल लीडरस् कानफ्रेन्स, नागालैण्ड की यूनाइटेड डेमोक्रेटिक फ्रन्ट, गोआ का महाराष्ट्रवादी गोमांतक दल, केरला कांग्रेस, केरला कांग्रेस (पिल्लई ग्रुप), द्रमुक, अन्ना द्रमुक, मुस्लिम लीग, पंजाब का अकाली दल, जम्मू-काश्मीर का नेशनल कांफ्रेंस—आन्ध्र प्रदेश का तेलुगु दशम, कर्नाटक का क्रान्तरंगा आदि प्रमुख हैं।

भारतीय राजनीति में प्रदेशवाद (Regionalism in Indian Politics)

जातिवाद व साम्प्रदायिकता की भाँति भारतीय राजनीतिक जीवन आज

प्रदेशवाद के पंजे में न केवल उत्तरोत्तर फँसता चला गया है अपितु उससे मीडित भी हुआ है। भारतीय उपमहाद्वीप विभिन्न प्रान्तों में बंटा है जहाँ न केवल प्राकृतिक भिन्नतायें अपितु भाषा, रहन-सहन, वेश-भूषा और विचारों में भी विभिन्नतायें हैं। इनमें से एकाधिक प्रान्तों में इन भिन्नताओं के आधार पर प्रदेशवाद देखने को मिलता है। प्रान्तीय वफादारी (provincial loyalty) तथा उससे सम्बन्धित क्रिया प्रतिमान (action pattern) को प्रदेशवाद की संज्ञा दी जा सकती है। भारतवर्ष में इसी प्रदेशवाद का एक राजनीतिक सिद्धान्त के रूप में विकसित होना आधुनिक समय में एक महत्वपूर्ण राजनीतिक परिवर्तन है जिसका कि उद्देश्य अपने प्रान्त के लिये अधिकाधिक राजनीतिक अधिकारों को प्राप्त करना है। उस अवस्था में प्रान्तीयता एक राजनीतिक आंदोलन का रूप ग्रहण कर लेती है और यह माँग पेश करती है कि उनके प्रान्त को भारत संघ के अन्तर्गत एक पृथक् राज्य मान लिया जाये और उसे स्वशासन का पूर्ण अधिकार प्रदान किया जाये। संकुचित मनोभाव से प्रेरित होकर जब प्रान्तीयता एक राजनीतिक आंदोलन के रूप में विकसित होती है तो उसमें पृथक्करण की एक प्रवृत्ति (a tendency for separatism) अवश्य ही छिपी होती है और उसका उद्देश्य उस प्रान्त के किसी प्रभावशाली या प्रमुख समूह की राजनीतिक आकांक्षाओं (political aspiration) की पूर्ति करना होता है। इस प्रकार के समूह लोगों को यह समझाते हैं कि उनके आंदोलन का आधार अपने प्रान्त की विशेषताओं या विलक्षणताओं को बनाये रखना उस प्रान्त के प्रति जो आर्थिक व राजनीतिक पक्षपात की नीति अपनायी जा रही है उसके विरुद्ध आवाज उठाना है। इस प्रकार का प्रचार करने पर राजनीतिक आंदोलन या सौदेबाजी के रूप में प्रान्तीयता को खूब बल मिलता है क्योंकि जनता की भावनायें उनके साथ हो जाती हैं। इस प्रकार का राजनीतिक आंदोलन चलाने वाले समूह अपने उद्देश्यों को इस प्रकार प्रस्तुत करते हैं—

(अ) प्रान्त के खोये हुये सांस्कृतिक गौरव को फिर से पुनर्जीवित करना ताकि लोग यह समझ सकें कि उनमें भी ऐसी सांस्कृतिक विलक्षणतायें उपलब्ध हैं जोकि किसी से भी किसी माने में हेय नहीं हैं। इस प्रकार के आत्म-गौरव का विकास प्रगति के लिये उरमावश्यक है।

(ब) प्रान्त के लिये स्वशासन के अधिकार को प्राप्त करना जिससे कि प्रान्त के लोगों के मन में राजनीतिक हीनता की भावना (political inferiority complex) विकसित न हो सके। एक प्रान्त का शासन उस प्रान्त के लोगों द्वारा ही सर्वोत्तम ढंग से हो सकता है, साथ ही लोगों के मन में यह भावना वास्तविक अर्थ में जागृत होती है कि वे एक ऐसे प्रान्त में रह रहे हैं जोकि वास्तव में उनका 'अपना' है। राजनीतिक अधिकार, विशेषकर स्वशासन में अधिकार, के बिना अन्य सभी अधिकार, के बिना अन्य सभी अधिकार अर्थहीन हैं।

(स) इस प्रकार के कुछ निदेशक सिद्धान्तों (Directive Principles) को प्रतिपादित करना जिससे कि राज्य तथा केन्द्र के बीच पारस्परिक झगड़े समाप्त हो जायें और उनमें एक-दूसरे को समझने (mutual understanding) की भावना का विकास सम्भव हो सके।

(द) राजनीतिक भ्रष्टाचार को दूर करना जिससे कि प्रान्त की शासन-व्यवस्था सुविधावादी राजनीतिक पार्टियों के हाथों से निकलकर उस ठोस राजनीतिक

संगठन के अधिकार में आ जाये जोकि प्रान्त के लोगों की सच्ची भावनाओं को समझ सके तथा उसे मान्यता प्रदान कर सके।

(य) प्रान्त के प्रति केन्द्रीय सरकार द्वारा अपनायी गई पक्षपातपूर्ण नीतियों का विरोध करना और उस पर इस प्रकार का दबाव डालना कि वह उस प्रान्त के लोगों को उनके न्यायोचित आर्थिक, सामाजिक तथा राजनीतिक अधिकारों से वंचित न करे।

इस सम्बन्ध में यह उल्लेखनीय है कि उपरोक्त उद्देश्यों की प्राप्ति के लिये जब उग्र आंदोलन चलाया जाता है अथवा जनता को भड़काया जाता है तो उससे कटुता बढ़ती है और राष्ट्रीय एकता व शान्ति के लिये खतरा उत्पन्न हो जाता है। दो-चार उदाहरणों द्वारा इसे स्पष्ट किया जा सकता है। तमिलनाडु के द्रविड मुन्नेत्र कणगम ने जून 1960 में मद्रास राज्य में पृथक्तावादी आंदोलन संगठित किया और मद्रास को भारतीय संघ से विलग करने की इच्छा प्रकट की। द्रमुक ने यहाँ तक कहा कि मद्रास, आन्ध्र प्रदेश, केरल और मैसूर को भारतीय संघ से अलग करके एक पृथक् सम्प्रभु 'द्रविडस्थान' राज्य बनाया जाना चाहिये। सन् 1970 में द्रमुक ने 'राज्य स्वायत्तता सम्मेलन' आयोजित किया और उसके नेता (मुख्यमंत्री श्री करुणानिधि) ने पृथक् झण्डे की माँग की। उसी प्रकार पंजाब में स्वतन्त्रता प्राप्ति के तुरन्त बाद मास्टर तारासिंह ने पृथक् 'सिक्ख राज्य' की माँग की। सन् 1950 से 1960 के बीच 'पंजाबी सूबे' की माँग को लेकर अकाली दल ने हिंसात्मक आंदोलन किया। अन्ततः 1 नवम्बर 1966 को पंजाब का विभाजन हो गया। आसाम राज्य के मिजो पहाड़ी जिलों के नेता भारतीय संघ से पृथक् होने की लगातार माँग करते रहे हैं। उसी प्रकार बम्बई राज्य के विभाजन की माँग सामने आई। यह कहा गया कि गुजराती और मराठी भाषा के आधार पर राज्यों को दो भागों में विभाजित किया जाना चाहिये। इसके लिये उग्र आंदोलन किये गये और अन्ततः सन् 1960 में बम्बई राज्य का विभाजन करके महाराष्ट्र और गुजरात राज्य की स्थापना हुई। उसी प्रकार पृथक् विदर्भ राज्य की माँग, तेलंगाना की समस्या को लेकर आन्ध्र राज्य के विभाजन की माँग भी उल्लेखनीय है। दक्षिण गुजरात के आदिवासी लोगों तक ने भी पृथक् राज्य की आवाज बलन्द की है। पिछले दिनों उत्तर प्रदेश को भी विभाजित करने की माँग तेजी पर थी।

राजनीति में जाति और धर्म का प्रयोग (Caste and Religion in Politics)

आधुनिक समय में राजनीति में जाति और धर्म को एक अस्त्र के रूप में प्रयोग किया जाता है। अजब राजनीतिक नेता जातीय भावना को इस प्रकार काम में लाते हैं कि उन्हें अपने लिये अपनी जाति का अधिकाधिक समर्थन प्राप्त हो। इस प्रकार आज एक उल्लेखनीय परिवर्तन यह है कि राजनीति में जातिवाद का प्रवेश हो रहा है जोकि वास्तव में जाति का राजनीतिकरण (Politicalization) है। भारत की राजनीति जाति के इर्द-गिर्द घूमती है। यदि एक राजनीतिक नेता राजनीति की दुनिया में ऊँचा उठना चाहता है तो उसे अपने साथ अपनी जाति को लेकर चलना होगा। भारत में राजनीतिक नेतागण जातीय समुदायों को इसीलिये संगठित करते हैं ताकि उनके समर्थन से उन्हें सत्ता तक पहुँचने में मदद मिल सके। स्वयं जातियाँ भी संगठित होकर प्रत्यक्ष रूप में राजनीति में भाग लेती हैं, इसी

कारण वे आज भारत में राजनीतिक शक्तियाँ बन गई हैं। स्वाधीनता प्राप्ति के तुरन्त बाद भारतीय राजनीति में सत्ता और लाभों के लिये संघर्ष उच्च जातियों तक ही मुख्यतः सीमित था। पर जैसे-जैसे राजनीतिक चेतना बढ़ती गई वैसे-वैसे निम्न जातियों के सदस्य भी अपने अधिकार व अवसर के सम्बन्ध में सचेत हो गए और अपनी-अपनी जाति को संगठित करके सत्ता-संघर्ष में प्रतिस्पर्द्धा करने लगे। इसके फलस्वरूप तमिलनाडु और महाराष्ट्र में ब्राह्मण बनाम गैर-ब्राह्मण, राजस्थान में राजपूत बनाम जाट, आन्ध्र में कामा बनाम रेड्डी, केरल में नायर बनाम एजवाहा एवं उत्तर प्रदेश तथा विहार के अलग-अलग क्षेत्रों में अलग-अलग जातियों में संघर्ष या प्रतिस्पर्द्धा देखने को मिलती है। अभी हाल ही में (नवम्बर 1977) में उत्तर प्रदेश के मुख्यमंत्री श्री रामनरेश यादव विधानसभा उपचुनाव के लिये एक ऐसी जगह (एटा जिले के निधौली कलाँ) से प्रत्याशी थे जहाँ सम्पूर्ण निर्वाचन-क्षेत्र में एक जाति विशेष का ही बोलबाला है, ऐसा आरोप एटा जिला कांग्रेस कमेटी के अध्यक्ष ने चुनाव आयोग को भेजा था। यह आरोप सच हो या झूठ, पर इस तथ्य को अस्वीकार नहीं किया जा सकता कि जातीय आधार पर गुटबन्दी भारतीय राजनीति का आज एक अंग बन गई है।

उसी प्रकार धर्म के आधार पर आज भी राजनीतिक संगठन बनाए जाते और वोट माँगे जाते हैं। उदाहरणार्थ, सन् 1961 में 'अखिल भारतीय मुस्लिम लीग' की स्थापना की गई और यह प्रचार किया गया कि भारत में मुस्लिम लीग ही मुस्लिम हिंनों का संरक्षण कर सकती है। सन् 1971 के माध्यावधि चुनावों के समय नई दिल्ली में देश के अधिकांश भागों के मुस्लिम प्रतिनिधियों ने अखिल भारतीय राजनीतिक सम्मेलन आयोजित किया। कहा जाता है कि इसके पीछे जमायत-ए इस्लाम का हाथ था। इसके विपरीत, 1977 के लोकसभा चुनाव में दिल्ली की जामा मस्जिद के शाही इमाम हिन्दू-मुस्लिम एकता के एक नए प्रतीक के रूप में उभरकर सामने आये हैं। इस पर भी यह कहा जा सकता है कि धर्म को भी राजनीतिक 'युद्ध' (चुनाव) में एक अस्त्र के रूप में प्रयोग करने की प्रवृत्ति आज भी विद्यमान है। मुस्लिम लीग की भाँति शिरोमणि अकाली दल या हिन्दू महासभा का आधार धर्म ही है।

दल-बदल की राजनीति (Politics of Defection)

चतुर्थ आम चुनाव (फरवरी 1967) में बहुत-कुछ पूरे देश में अब तक चली आ रही कांग्रेस शासन-सत्ता कुछ डोल गई। कई राज्यों में कांग्रेस को मात खानी पड़ी, कई राज्यों की शासन-सत्ता उसके हाथ से निकल गई और कई राज्यों व केन्द्र में उसका बहुमत तीव्र रूप से कम हो गया। इसके परिणामस्वरूप भारत राजनीति में जो एक उल्लेखनीय परिवर्तन हुआ वह था दल-बदल की राजनीति का बड़े पैमाने पर आरम्भ होना। विधायकों द्वारा भारी संख्या में और लगातार दल-बदल के कारण फरवरी 1967 और जुलाई 1969 के बीच 19 राज्य सरकारें उलट गईं, यद्यपि इससे पहले भी दल-बदल होते रहे हैं। सन् 1950 में उत्तर प्रदेश के 23 विधायकों ने दल-बदल करके 'जन-कांग्रेस' नामक एक नए दल की स्थापना की। सन् 1957 में उड़ीसा कांग्रेस पार्टी ने चार निर्दलीय सदस्यों को प्रलोभन देकर अपनी

और तोड़ लिया और मन्त्रिमण्डल का निर्माण किया। 2 सितम्बर 1964 को 15 कांग्रेसी विधायकों ने कांग्रेस दल से सम्बन्ध विच्छेद कर लिया जिसके फलस्वरूप केरल मन्त्रिमण्डल का पतन हुआ। चौथे आम चुनाव के बाद दल-बदल की राजनीति में बाढ़ सी आ गई। कई राज्यों में तो अनेक विधायकों ने कई-कई बार दल-बदला। सन् 1967 के चुनाव के बाद राजस्थान विधानसभा में कांग्रेस सदस्यों की संख्या 89 थी जो दल-बदलुओं की कृपा से बढ़ने-बढ़ते 110 हो गई थी। दल-बदल की राजनीति के क्षेत्र में हरियाणा ने तो कई नए कीर्तिमान स्थापित किए। सन् 1967 के चुनाव के बाद वहाँ की कुल 81 सदस्यों वाली विधानसभा के आठ महीने के जीवन-काल में कांग्रेस दल के 31 विधायकों ने दल बदल दिया। एक विधायक ने पाँच बार, दो ने चार बार तथा तीन ने तीन बार अपना दल बदला। नवम्बर 1967 में कांग्रेस और संयुक्त मोर्चा दोनों के प्रतिनिधि चौवीसों घण्टे इसी चक्कर में रहते थे कि विधायकों को जैसे भी हो अपनी ओर तोड़ लें। राज्यपाल के अनुसार उस समय हरियाणा ने “दल-बदल तथा प्रतिदल-बदल का झूमा-झूमी खेल चल रहा था।”

उसी प्रकार चौथे आम चुनाव के बाद उत्तर प्रदेश में भी चन्द्रभानू गुप्त के नेतृत्व में कांग्रेस ने अन्य दलों को छोड़कर आने वाले कुछ विधायकों के सहयोग से सरकार का निर्माण किया पर वह सरकार 18 दिन ही चल सकी जबकि श्री चरण-सिंह व उनके अन्य 17 साथी विधायकों द्वारा कांग्रेस छोड़कर विरोधी पक्ष में जा मिलने के कारण उत्तर प्रदेश में कांग्रेस सरकार धाराशाही हो गई और श्री चरण-सिंह ने संयुक्त विधायक दल के नेता के रूप में ‘संविद’ सरकार का गठन किया। बिहार राज्य में मार्च 1967 से अगस्त 1969 के बीच छः मन्त्रिमण्डल बदले। इन सभी में मुख्यमन्त्री स्वयं दल-बदलू थे और तीन मन्त्रिमण्डलों में तो शत-प्रतिशत मन्त्री दल-बदलू थे। कई विधायकों ने चार-चार बार दल बदला। इसी प्रकार का दल-बदल अन्य अनेक राज्यों में हुआ। प्रभावशाली दलीय नेतृत्व का अभाव, बहुमत बहुत क्लम होने के कारण प्रत्येक विधायक की निर्णायक स्थिति, गैर-कांग्रेसी दलों की स्थिति में सुधार, पदसंलुपता, घन का प्रलोभन एवं जनता की उदासीनता दल-बदल की इन देशव्यापी घटनाओं के मुख्य कारण हैं जिसके कारण शासन में अस्थिरता, नौकरशाही के प्रभाव में वृद्धि, मन्त्रिमण्डलों का अनावश्यक विस्तार, अल्पमत सरकारों का गठन आदि परिणामों के साथ-साथ सिद्धान्तहीनता तथा नैतिकताशून्य राजनीति का इस देश में सूत्रपात हुआ। यह राजनीतिक परिवर्तन व उसके परिणाम निश्चय ही देश के लिये ब्रह्म ही हानिकारक हैं।

मिली-जुली सरकार की राजनीति (Coalition Politics)

चौथे आम चुनाव के बाद मिली-जुली सरकार या संयुक्त मन्त्रिमण्डलों की राजनीति को स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद भारतीय राजनीतिक व्यवस्था में एक महत्त्वपूर्ण प्रवृत्ति या परिवर्तन कहा जा सकता है। अनेक राज्यों में मिली-जुली सरकारों का गठन हुआ और इन्हीं को कांग्रेस दल के राजनीतिक एकाधिकार का एक मात्र वांछनीय विकल्प समझा गया। सम्भवतः केवल केरल राज्य को छोड़कर अन्य सभी राज्यों में इन मिली-जुली सरकारों की एक बड़ी विशेषता यह रही कि जिस तत्परता और शीघ्रता से संयुक्त मन्त्रिमण्डलों का निर्माण होता है, उतनी ही तत्परता से

तूफानी राजनीति में उनका पतन भी हो जाता है। 24 मार्च 1967 को हरियाणा में 15 सदस्यों का एक संयुक्त मोर्चा मन्त्रिमण्डल बना था, पर एक वर्ष के अन्दर ही इसका पतन हुआ। उसी प्रकार उत्तर प्रदेश में 1967 में श्री चंद्रभानू गुप्त के नेतृत्व में कांग्रेसी सरकार के पतन के बाद श्री चरणसिंह के मुख्यमन्त्रीत्व में संयुक्त सरकार का गठन हुआ था, पर यह सरकार भी आपसी मतभेदों के कारण बहुत दिनों तक चल न सकी और उत्तर प्रदेश में राष्ट्रपति शासन लागू हुआ। केरल में भी सन् 1954 से 1970 तक कई बार मिली-जुली सरकार बनी और कुछ समय के बाद-बाद उनका पतन होता रहा। 17 सितम्बर 1970 को राज्य में पुनः चुनाव हुआ और श्री अच्युत मेनन के नेतृत्व में फिर नया मिला-जुला मन्त्रिमण्डल बना जिसमें 3 मन्त्रि साम्यवादी दल से, 2 मन्त्रि आर० एस० पी० से, 2 मन्त्रि मुस्लिम लीग से तथा एक मन्त्री 'प्रसोपा' से लिया गया। यह संयुक्त सरकार सन् 1976 तक सफलतापूर्वक कार्य करती रही। सन् 1977 के चुनाव के बाद भी जनता पार्टी ने कई राज्यों में अन्य दलों से तालमेल करके संयुक्त सरकार का गठन किया है, जैसे पंजाब में अकाली दल के साथ। उसी प्रकार पश्चिमी बंगाल में मार्क्सवादी कम्युनिस्ट बहुमत में होते हुए भी, वामपन्थी पार्टियों की एक संयुक्त सरकार इस समय क्रियाशील है।

आपातस्थिति की घोषणा (Declaration of Emergency)

आधुनिक समय में भारतीय राजनीतिक जीवन में सबसे उल्लेखनीय परिवर्तन आपातस्थिति की घोषणा थी। संविधान के अनुच्छेद 352 की धारा 1 द्वारा प्रदत्त अधिकारों का प्रयोग करते हुए राष्ट्रपति श्री फखरुद्दीन अली अहमद ने 25 जून 1975 को आपातस्थिति की घोषणा की। घोषणा में कहा गया था, आन्तरिक अशान्ति के कारण भारत की सुरक्षा खतरे में है, जिसके फलस्वरूप गम्भीर संकट उत्पन्न हो गया है।" सरकारी तौर पर बताया गया कि विरोधी मोर्चे ने लोकतन्त्र को नष्ट करने तथा संवैधानिक सरकार की व्यवस्थाओं को अस्त-व्यस्त करने के लिये सन् 1974 के आरम्भ में एक अभियान शुरू किया था। इस अभियान के चरम सीमा पर पहुंचने के पूर्व और विरोधी मोर्चे द्वारा देश के कानूनों का उल्लंघन करने के अखिल भारतीय स्तर का अभियान शुरू करने की घोषणा करने के कुछ घण्टों के अन्दर ही आपातस्थिति की घोषणा कर दी गई। 26 जून को प्रांतिकाल तत्कालीन प्रधानमन्त्री श्रीमती गांधी ने राष्ट्र के नाम अपने प्रसारण में कहा, "प्रजातन्त्र के नाम पर प्रजातन्त्र के काम को ही नकारने की कोशिश की जा रही है। विधिवत् रूप से निर्वाचित सरकारों को कार्य नहीं करने दिया गया"। कुछ लोग तो हमारे सशस्त्र सैनिकों तथा पुलिस को विद्रोह करने के लिये उकसाने लगे हैं... कुछ के कार्यों से अधिकांश लोगों के अधिकार खतरे में पड़ रहे हैं... राष्ट्र की अखण्डता के लिये कठोर कार्यवाही करना जरूरी है।"

आपातस्थिति के दौरान मीसा (MISA) के अन्तर्गत कुल 36,039 व्यक्तियों को गिरफ्तार किया गया था। इनमें से केवल 6,244 लोगों को सामान्य मीसा के अन्तर्गत जबकि 29,795 लोगों को मीसा की धारा 16 (ए) के अन्तर्गत गिरफ्तार किया गया। इस धारा के अन्तर्गत किसी भी व्यक्ति को बिना कारण बताये गिरफ्तार

किया जा सकता है। सबसे अधिक गिरफ्तारियाँ (7,049 व्यक्तियों की) उत्तर प्रदेश में हुईं। उसके बाद क्रमशः मध्य प्रदेश (6,212), महाराष्ट्र (5,475), पश्चिमी बंगाल (5,320), बिहार (2,630), गुजरात (1,028), तमिलनाडु (1,027), दिल्ली (1,011), केरल (786), असम (573), राजस्थान (543), जम्मू-काश्मीर (535), पंजाब (383), हरियाणा (200) आदि का स्थान है। सबसे कम सिर्फ 4 लोगों की गिरफ्तारियाँ सिक्किम में हुईं।

इस प्रकार की घटनाओं का कुछ आभास आपात्स्थिति की घोषणा के बाद की महत्वपूर्ण घटनाओं का जो क्रमिक ब्यौरा स्वयं भारत सरकार के सूचना और प्रसारण मन्त्रालय द्वारा प्रकाशित भारत 1976 में दिया गया है, उससे हो सकता है⁸—29 जून सन् 1975 को राष्ट्रपति द्वारा जारी अध्यादेश के अन्तर्गत आन्तरिक सुरक्षा बनाये रखना (संशोधन) अधिनियम में परिवर्तन किया गया जिसके अनुसार नजरबन्दी के लिये कारण बताना आवश्यक नहीं रहा; 4 जुलाई को केन्द्रीय सरकार ने राष्ट्रीय स्वयं सेवक संघ, जमात-ए-इस्लामी-ए-हिन्द, आनन्द मार्ग तथा नक्सलवादी गुटों सहित 26 संगठनों पर प्रतिबन्ध लगाया; 10 जुलाई को मध्य प्रदेश सरकार ने 16 वरिष्ठ अधिकारियों को, जिनमें 11 पुलिस के डिप्टी सुपरिंटेंडेंट भी हैं, समय से पूर्व सेवानिवृत्त कर दिया; 16 जुलाई को आन्तरिक सुरक्षा अधिनियम में और संशोधन के लिये अध्यादेश जारी किया गया जिसके अन्तर्गत विदेशी सहित कोई भी नजरबन्द व्यक्ति, नैसर्गिक या सामान्य कानून के आधार पर व्यक्तिगत स्वतन्त्रता का अधिकार नहीं माँग सकता; 2 सितम्बर को आन्ध्र प्रदेश में 15 राजपत्रित पुलिस अधिकारी अकुशलता और भ्रष्टाचार के आरोप में सेवानिवृत्त कर दिये गये; 25 सितम्बर को केन्द्रीय सरकार ने एक अध्यादेश के द्वारा न्यूनतम बोनस की सीमा घटाकर 4 प्रतिशत कर दी, अगर बचत बिल्कुल न हो तो बोनस नहीं मिलेगा; आपात्स्थिति लागू होने के बाद से 3 अक्टूबर 1975 तक 1,990 से भी अधिक केन्द्रीय सरकार के कर्मचारियों को अकुशलता या संदिग्ध निष्ठा के कारण सेवानिवृत्त किया गया; मध्य प्रदेश में इसी कारण 2,800 कर्मचारियों को नौकरी से निकाल दिया गया; प्रशासनिक ढाँचा सुधारने के प्रयत्नों के रूप में 5 दिसम्बर तक राजस्थान सरकार ने 1,900 सरकारी कर्मचारियों को बरबस सेवानिवृत्त किया; 8 दिसम्बर को आपत्तिजनक सामग्री के प्रकाशन पर तुरन्त रोक लगाने, 'संसदीय कार्यवाही (प्रकाशन की सुरक्षा) अधिनियम 1956' के द्वारा प्रदत्त प्रतिरक्षा (इम्यूनिटी) वापिस लेने और 'प्रेस परिषद् अधिनियम, 1965' को रद्द करने के लिये तीन अध्यादेश जारी किये गये; 11 दिसम्बर को कुशल और स्वच्छ प्रशासन सुनिश्चित करने के लिये वाणिज्य मन्त्रालय ने 60 कर्मचारियों को बरबस सेवानिवृत्त किया, इनमें 29 राजपत्रित अधिकारी थे।

लोकनायक श्री जयप्रकाशजी को सम्भवतः जेल में ही इन सब होने वाली घटनाओं का पूर्वाभास हो गया था। इसी कारण उन्होंने 21 जुलाई 1975 को चण्डी-गढ़ जेल से तत्कालीन प्रधानमन्त्री श्रीमती गांधी को एक पत्र लिखकर देश में आपात्काल की आड़ में तानाशाही फैलाने के विचार को त्याग देने का अनुरोध किया था। उन्होंने लिखा था—

8 भारत 1976, पृ० 503-508।

“क्या मैं जाते-जाते आपको परामर्श के कुछ शब्द कह सकता हूँ ? आप जानती हैं कि मैं एक बूढ़ा आदमी हूँ। मेरे जीवन के कर्तव्य-कार्य समाप्त हो चुके हैं और पत्नी प्रभा की मृत्यु के बाद तो मेरे लिए अब कुछ भी शेष न रहा और न ही ऐसा कोई है जिसके लिये मैं जीवित रहूँ। शिक्षा प्राप्त करने के बाद से मैंने अपना सम्पूर्ण जीवन देश को समर्पित कर दिया और बदले में कुछ भी नहीं मांगा। इस कारण आपके प्रशासन के अधीन एक जेल में मर जाने में मुझे सन्तोष ही होगा।”

“क्या आप मुझ जैसे एक व्यक्ति की सलाह मानेंगी ? कृपया उन आधारों (foundations) को नष्ट मत कीजिये जिन्हें हमारे राष्ट्रपिता तथा आपके महान् पिता ने रखा था। जिस रास्ते पर आप चल रही हैं उसमें विवाद और कष्ट के सिवा और कुछ भी तो नहीं है।”

“आपकी विरासत में एक महान् परम्परा, उदार मूल्य (values) तथा एक क्रियाशील लोकतन्त्र मिला है। अपने पीछे इस सबका एक शोचनीय ध्वंसावशेष मत छोड़ जाइये। उन सबको फिर से एक साथ जोड़ने में बड़ा समय लगेगा। उन सबको फिर से एकसाथ जोड़कर ठीक किया ही जायेगा, इसमें संदेह नहीं।”

“वे लोग जिन्होंने ब्रिटिश साम्राज्यवाद के विरुद्ध लड़ा और उसे नीचा दिखाया, वे सदा के लिये सर्वाधिकारवाद के अपमान व लज्जा को कदापि सहन नहीं करेंगे। मनुष्य की आत्मा को कभी पराजित नहीं किया जा सकता, चाहे उसे कितना ही अधिक दबाया क्यों न जाये। अपनी व्यक्तिगत तानाशाही को प्रस्थापित करते हुये आपने उसे बहुत गहरा दबा दिया है, पर कब्र से भी वह फिर उठ खड़ी होगी; यहाँ तक कि रूस में भी वह धीरे-धीरे ऊपर आ रही है।”

“प्रिय इन्दिराजी, कृपया अपने को राष्ट्र के समरूप मत समझिये। आप अमर नहीं, पर भारत अमर है।”¹⁰

लोकसभा चुनाव 1970—जनतन्त्र की जय (Parliamentary Election, 1977—A Victory for Democracy)

इस चुनाव के घटना-चक्र का विवरण देते हुये श्री गणेशमन्त्री ने लिखा है,¹¹ “18 जनवरी 1977 की रात देश की राजनीतिक चेतना में फिर उस समय हलचल शुरू हुई जब राष्ट्र के नाम एक अप्रत्याशित सन्देश में तत्कालीन प्रधानमन्त्री श्रीमती इन्दिरा गांधी ने मार्च 1977 में लोकसभा के चुनाव कराने की घोषणा की। उन्होंने यह भी कहा कि “आपात्स्थिति में ढील दी जा रही है, ताकि मान्य राजनीतिक दल उचित गतिविधियों में हिस्सा ले सकें।” दूसरे दिन के समाचारपत्रों में चुनाव-घोषणा पर विभिन्न प्रतिक्रियाओं के साथ ही था विरोधी पक्ष के दो प्रमुख नेताओं मोरारजी देसाई तथा लालकृष्ण अडवानी की रिहाई का समाचार। 19 जनवरी को लोकनायक जयप्रकाश नारायण ने चुनाव की घोषणा का स्वागत करते हुये समस्त विरोधी दलों

10 The Statesman Delhi Feb 25, 1977 p5,

11. धर्मपू, 3 अप्रैल 1977, पृ० 7-10।

को एक दल के रूप में संगठित होकर चुनाव लड़ने के लिये आह्वान किया और उस अवस्था में अपना सम्पूर्ण समर्थन देने का वादा किया। राजनीतिक क्षेत्र में हलचल बढ़ने लगी। एक ओर सरकार ने राजनीतिक बन्दियों की रिहाई और प्रेस सेंसरशिप खत्म करने के निर्देश दिये, तो दूसरी ओर श्री जयप्रकाश नारायण के विशेष सन्देश-वाहक के रूप में श्री धर महादेव जोशी श्री मोरारजी देसाई से मिलने पटना से नई दिल्ली पहुंचे। 23 जनवरी को जनता पार्टी के निर्माण की घोषणा हो गई। चार विरोधी दलों—संगठन कांग्रेस, भारतीय जनसंघ, भारतीय लोकदल और सोशलिस्ट पार्टी ने अपने स्वतन्त्र अस्तित्व को समाप्त कर नई पार्टी में विलय का निर्णय किया। श्री नारायण ने एक लम्बे प्रेस वक्तव्य के साथ जनता पार्टी का चुनाव अभियान शुरू किया। उन्होंने कहा कि इस बार जनता को लोकशाही और तानाशाही के बीच चुनाव करना है। जवाब में कांग्रेस की ओर से कहा गया कि यह स्थिरता और अराजकता के बीच चुनाव है। अधिकांश देशी-विदेशी राजनीतिक प्रेक्षकों की अभी तक यह राय थी कि कांग्रेस भारी बहुमत से विजयी होगी। इस सम्भावना पर सबसे गम्भीर प्रश्न-चिह्न 2 फरवरी को तब लगा जब सर्वश्री जगजीवनराम, बहुगुणा, नन्दिनी सत्पथी आदि ने कांग्रेस से त्यागपत्र देकर जनतान्त्रिक कांग्रेस के निर्माण का, साथ ही जनता पार्टी के साथ मिलकर एक ही चुनाव-चिह्न पर चुनाव लड़ने का फैसला किया।”

‘इस अपने ढंग के अनोखे वातावरण में ही देश के 32 करोड़ 1 लाख 41 हजार 573 मतदाताओं को अपने देश का भाग्य निर्णय करना था। और उन्होंने सचमुच ऐतिहासिक निर्णय किया। देश के अधिकांश भागों में कांग्रेस बुरी तरह पराजित हुई।” सबसे उल्लेखनीय पराजय थी रायबरेली में श्रीमती इन्दिरा गांधी की और अमेठी में उनके पुत्र श्री संजय गांधी की। अमेठी में श्री रवीन्द्रप्रताप सिंह ने श्री संजय गांधी को प्रायः 76 हजार मतों से हराया, जबकि रायबरेली से श्रीमती गांधी को श्री राजनारायण 55 हजार से भी अधिक मतों से पराजित करके ‘भारतीय जिमी कार्टर’ बन गए।

इस चुनाव के विषय में दैनिक समाचारपत्र अमर उजाला के एक सम्पादकीय लेख (23 मार्च, 1977) में लिखा है—

“भारत की छठवीं लोकसभा के आम चुनावों में प्रधानमन्त्री श्रीमती इन्दिरा गांधी, उनकी मन्त्रिपरिषद् के अधिकांश साथियों, उनके पुत्र श्री संजय गांधी सहित कांग्रेस पार्टी की जबरजस्त पराजय से स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात् के तीन दशकों से भारतीय राजनीति और शासन पर कायम कांग्रेस के निर्बाध आधिपत्य का खात्मा हो गया। अब हमारे राष्ट्रीय जीवन के इतिहास का एक नया पृष्ठ खुला है और एक नए अध्याय का सूत्रपात होने जा रहा है।

1977 के चुनावों में आवाल-वृद्ध जनता की जो लहर दिखाई दी वह पूर्व के दृश्यों से विलक्षण और अद्भुत थी। यह जागरण चुनाव-घोषणा के बाद केवल कुछ सप्ताहों में ही पैदा हो गया, क्योंकि इससे पूर्व की स्थिति में लोगों को यह भान ही नहीं था कि उनको अपने स्वाधि-अवसर जनता के हाथ आया और उसकी भावनाओं को जल्दी से जल्दी वेग से जग

उठी। पूर्व के चुनावों में कांग्रेस के साथ संघर्ष होते थे और विभिन्न पार्टियाँ मैदान में होती थीं। अब की बार कांग्रेस के साथ मुख्य संघर्ष जनता पार्टी का रहा, जिसका अस्तित्व चुनाव-घोषणा हो जाने के बाद ही सामने आया। अतः चुनाव का स्वरूप महाभारत के संग्राम जैसा हो गया। चुनाव के शान्तिपूर्ण महाभारत में जनता ने संग्राम की पहल स्वयं अपने हाथ में ले ली और राजनीतिक पक्ष उसके प्रतीक मात्र बन गए। चुनाव में मतदाताओं को प्रभावित करने के अनेक साधन अपनाए जाते हैं, इस बार के चुनाव में मतदाता ने अपनी भावना के साधन का ही इस्तेमाल किया है।”

चुनाव में कांग्रेस पार्टी के हार जाने के दूसरे दिन (21 मार्च को) ‘इन्दिरा सरकार’ ने आपात्काल को हटा लेने की घोषणा की और उसी दिन सरकार के उच्च अधिकारियों को सूचना दे दी गई कि सरकार बदल रही है। 22 मार्च 1977 मंगलवार की सुबह श्रीमती गांधी ने विधिवत् त्यागपत्र दे दिया। श्रीमती गांधी ने अपने निजी चुनाव-क्षेत्र के परिणाम को तथा कांग्रेस पार्टी की हार को जितने शान्ति और सद्भावपूर्ण ढंग से ग्रहण किया और त्यागपत्र देकर हट गई वह भारतीय प्रजातान्त्रिक पद्धति के गौरव के अनुकूल है। उन्होंने आशा प्रकट की कि धर्म-निरपेक्षता और समाजवाद आदि के मूल्यों को नई सरकार और बढ़ करेगी। उन्होंने कहा कि जनता के निर्णय को वे और उनका दल विनम्रता से स्वीकार करते हैं।

जनता सरकार का गठन

(Formation of Janata Government)

समकालीन राजनीतिक परिवर्तनों में एक और अति-उल्लेखनीय परिवर्तन केन्द्र में 30 वर्ष तक निर्बाध कांग्रेस शासन के बाद 24 मार्च 1977 को श्री जय-प्रकाश जी की तपस्या की सिद्धि के प्रतीक के रूप में पहली बार गैर-कांग्रेसी सरकार का गठन उसी दिन कार्यवाहक राष्ट्रपति श्री बासप्पा दानप्पा जत्ती ने राष्ट्रपति भवन के अशोक हाल में श्री मोरारजी देसाई को प्रधानमन्त्री-पद की शपथ दिलायी। “शाम को रामलीला मैदान में हुई विशाल आमसभा में नए प्रधानमन्त्री ने लोगों को निर्भय बनने की बात कही। भय के लम्बे दौर के बाद निर्भय बनने का यह आह्वान सचमुच देश की राजनीति में आए परिवर्तन का स्पष्ट संकेत दे रहा था।

जनता सरकार के नए केन्द्रीय मन्त्रिमण्डल के कुछ अन्य प्रमुख सदस्य श्री चरणसिंह (गृह मन्त्री), श्री जागजीवनराम (रक्षा मन्त्री), श्री अटल बिहारी वाजपेयी (विदेश मन्त्री), श्री राजनारायण (स्वास्थ्य एवं परिवार कल्याण मन्त्री), श्री लालकृष्ण अडवानी (सूचना एवं प्रसारण मन्त्री), डॉ० प्रतापचन्द्र चन्दर (शिक्षा मन्त्री) आदि।

सत्ता संभालने के बाद जनता सरकार ने देश की जनता से वादा किया— “एक दस साल के अन्दर देश में फैली बेरोजगारी की समस्या को मिटा देंगी, ‘गरीब की सतह के नीचे दबे आबादी के बहुत बड़े हिस्से को ऊपर उठाने’ का काम करेगी, अब तक उपेक्षित गाँवों, जहाँ ‘वास्तविक भारत रहता है, की ओर अधिक ध्यान देंगी और अपनी आर्थिक नीति को मुख्यतः ग्रामीण उन्नति की दिशा में मोड़ेंगी, एक साफ-सुथरी और ईमानदार शासन-संरचना को विकसित करेगी और कुछ ऐसी व्यवस्था करेगी कि इस देश के शासक भविष्य में फिर कभी आपात्स्थिति लागू करके

समकालीन राजनीतिक परिवर्तन

नागरिकों के, प्रेस के तथा न्यायपालिका के अधिकारों से खेल न कर सके। शासन की बागडोर संभालने के बाद जनता सरकार ने आपातकाल में हमसे छीन गए अधिकारों को हमें लौटा देने की दिशा में अति तत्परता से काम किया—प्रेस की सेंसरशिप तुरन्त समाप्त कर प्रेस, आकाशवाणी तथा दूरदर्शन की स्वतन्त्रता को बहाल कर दिया गया न्यायपालिका के समस्त पुराने अधिकारों को लौटा दिया गया तथा मीसा को भी समाप्त करने के लिये आवश्यक कदम उठाए जा गए —

लोकसभा चुनाव के बाद जुलाई 1977 में 22 में से 10 राज्यों तथा 2 केन्द्र-प्रशासित क्षेत्रों में विधानसभाओं के चुनाव कराए गए। वे राज्य थे—उत्तर प्रदेश, बिहार, राजस्थान, मध्य प्रदेश, हिमाचल प्रदेश, पंजाब, हरियाणा, पश्चिम बंगाल, उड़ीसा तथा तमिलनाडु। केन्द्र-प्रशासित क्षेत्र थे—पांडिचेरी तथा गोवा, दमण व दीव। इनमें से पश्चिम बंगाल में मार्क्सवादी कम्युनिस्ट पार्टी, तमिलनाडु में अन्ना द्रमुक (ADMK) एवं पंजाब में जनता-समर्थित अकाली दल और शेष राज्यों में जनता पार्टी सत्ता में आई। केरल में तो लोकसभा चुनाव के साथ ही हुए चुनाव में संयुक्त मोर्चा विजयी हुआ था। जनवरी 1978 में घोषित परिणामों के अनुसार त्रिपुरा विधानसभा में मार्क्सवादी कम्युनिस्ट पार्टी अपने तमाम प्रतिद्वन्द्वियों को पराजित कर प्रचण्ड बहुमत के आधार पर सत्तारूढ़ हो गई। 25 फरवरी 1978 को पाँच राज्यों—असम, आन्ध्र प्रदेश, मेघालय, महाराष्ट्र तथा कर्नाटक एवं केन्द्रशासित अरुणाचल प्रदेश में विधानसभाओं के चुनाव हुए जहाँ कि मतदाताओं ने अपनी नई विधानसभाओं के लिये 1052 प्रतिनिधियों का निर्वाचन किया। चुनाव के पश्चात् कर्नाटक व आन्ध्र प्रदेश में 'इन्दिरा कांग्रेस' की और असम व अरुणाचल में जनता पार्टी की सरकार, महाराष्ट्र में कांग्रेस व 'इन्दिरा कांग्रेस' की साझा सरकार तथा मेघालय में भी साझा सरकार का गठन हुआ है।

कांग्रेस का दूसरा विभाजन : 1978

(Second Split of Congress : 1978)

1977 अभूतपूर्व घटनाचक्रों का वर्ष रहा जिसके आरम्भिक महीनों में केन्द्र में (और कुछ हद तक उत्तर भारत के अधिकांश राज्यों में भी) 30 वर्ष पुरानी कांग्रेस सरकार अपदस्थ हो गई और वर्ष की समाप्ति पर 92 वर्ष पुरानी कांग्रेस पार्टी एक और विभाजन के कगार पर पहुँच गई। लोकसभा चुनाव मार्च 1977 में हार के बाद कांग्रेस-अध्यक्ष का पद अन्दरूनी खींच-तान का मुख्य केन्द्र रहा। पहले श्री देवकान्त बरुआ की जगह श्री स्वर्णसिंह अस्थायी अध्यक्ष बनाए गए, फिर मई 1977 में श्री ब्रह्मानन्द रेड्डी ने श्री स्वर्णसिंह से अध्यक्ष-पद संभाला। श्री रेड्डी को यह पद श्रीमती इन्दिरा गांधी के ही आग्रह व सुझाव के अनुसार प्राप्त हुआ। पर अध्यक्ष बनने के बाद ही श्री रेड्डी ने लोकतन्त्रात्मिक ढंग से पार्टी को संगठित करने तथा सामूहिक उत्तरदायित्व को उजागर करने का प्रयास किया अर्थात् व्यक्ति-पूजा के सिद्धान्त को त्यागना चाहा। इससे स्वतः ही श्रीमती गांधी का पार्टी में महत्त्व कम होने लगा तथा उनकी महदाकांक्षाओं को ठेस पहुँची। 15 अक्टूबर 1977 को दिल्ली के सप्रू हाउस में कांग्रेस सहासमिति की जो

बैठक हुई उसके अन्त में श्रीमती गांधी ने कांग्रेस नेतृत्व पर खुला आक्षेप किया और उनका कट्टर समर्थक श्री वसन्त साठे, श्री देवराज अर्से, श्री अंतुले आदि ने श्रीमती गांधी को अध्यक्ष बनाने की मांग की और श्री ब्रह्मानन्द रेड्डी से इस्तीफा देने को कहा। जब श्री रेड्डी नहीं झुके, तो कांग्रेस महासमिति का विशेष अधिवेशन बुलाने के लिए सदस्यों के हस्ताक्षर एकत्रित किए गए और कागजात श्री कमलापति त्रिपाठी के सुपुर्दे हो गए। उससे भी अन्त तक कोई परिणाम नहीं निकला। एकता बनाए रखने के सभी प्रयास भी विफल हुए। अन्ततः पहली-दूसरी जनवरी (1978) को इन्दिरा-समर्थकों ने कांग्रेस-जनों का एक सम्मेलन दिल्ली में बुलाया जिसे कि श्री रेड्डी ने पार्टी-विरोधी कार्रवाई माना और कहा कि इसमें कोई शामिल न हो, वरना अनुशासन की कार्रवाई की जा सकती है। पर इस निर्देश पर कोई ध्यान न देते हुए इन्दिरा-समर्थकों ने अपने को ही असली कांग्रेस पार्टी घोषित करते हुए श्रीमती गांधी को पार्टी-अध्यक्ष चुनकर आठ वर्षों में दूसरी बार कांग्रेस के विभाजन का ऐतिहासिक फैसला विट्ठलभाई पटेल भवन के उसी प्रांगण में उसी स्थान पर लिया जहाँ सन् 1969 में पार्टी का विखण्डन हुआ था। साथ ही दोनों ही बार इसके टूटने में मुख्य भूमिका निभायी भूतपूर्व प्रधानमन्त्री श्रीमती इन्दिरा गांधी ने। दूसरी ओर श्री ब्रह्मानन्द रेड्डी ने दावा किया कि कांग्रेसजनों का प्रचण्ड बहुमत उनके साथ है। साथ ही उन्होंने कांग्रेसियों के एक गुट द्वारा श्रीमती गांधी को कांग्रेस अध्यक्ष नियुक्त किए जाने के कदम को असंवैधानिक और अवैध बताया।

चुनाव आयोग ने 2 फरवरी 1978 को श्रीमती गांधी के नेतृत्व वाली कांग्रेस को भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस (इन्दिरा) के नाम से राष्ट्रीय पार्टी के रूप में मान्यता प्रदान की और उसके लिये 'हाथ, चुनाव चिन्ह आबटित किया। इस प्रकार कांग्रेस पार्टी के दूसरे विभाजन की प्रक्रिया पूरी हुई।

सातवी लोकसभा (1980) के लिये आम चुनाव

(General Election for Seventh Lok Sabha—1980)

24 मार्च 1977 से 22 जुलाई 1979 तक की अवधि में केन्द्र में श्री मोरारजी देसाई के नेतृत्व में 'जनता सरकार' ने राज्य किया। पर शीघ्र ही जनता पार्टी में राष्ट्रीय स्वयं सेवक संघ (RSS) से सम्बन्धित दोहरी सदस्यता व अन्य आन्तरिक मतभेदों के आधार पर पार्टी के टूटने का संकट उत्पन्न हुआ। 23 जून 1979 को जनता पार्टी के सांसद श्री राज नारायण ने दल से त्यागपत्र दे दिया और फिर एक-एक करके अनेक सदस्य दल से अलग हो गये और उन्होंने 'जनता (सिक्कूलर)' पार्टी का गठन किया जिसके नेता चौ० चरण सिंह हुये। फिर जोड़तोड़ की राजनीति चलती रही और किसी भी प्रकार 'देसाई सरकार' को हटा देने के लिये जनता

(एस) प्रयत्नशील हुई। फलतः 15 जुलाई 1979 को श्री देसाई ने अपना तथा अपने सरकार का त्यागपत्र राष्ट्रपति को दे दिया। इससे हास्यास्पद राजनीतिक परिवर्तन हो सकता है कि जिन नेताओं ने जनता पार्टी को जन्म दिया था, उन्हीं ने अपनी निजी महदाकांक्षाओं की पूर्ति के लिये उसका गला घोट दिया। कुछ भी हो, इसके बाद राजनीतिक परिवर्तन का चक्र बहुत तेजी से घूमने लगा। 18 जुलाई 1979 को राष्ट्रपति ने विपक्ष के नेता श्री यशवन्तराव चौहान को सरकार बनाने के

लेय आमंत्रित किया; पर वे सरकार बनाने में असमर्थ रहे। इस पर राष्ट्रपति ने 23 जुलाई 1979 को जनता पार्टी के नेता श्री मोरार जी देसाई तथा जनता (एस०) के नेता चौ० चरण सिंह को अपने-अपने समर्थकों की सूची पेश करने को कहा। 26 जुलाई को राष्ट्रपति चौ० चरण सिंह को सरकार बनाने का सशर्त निमंत्रण दिया और कहा कि वे अगस्त के तीसरे सप्ताह तक लोकसभा में विश्वास का मत प्राप्त कर लें। पर अन्त तक चौ० चरण सिंह लोकसभा का सामना न कर सके और उन्होंने 20 अगस्त 1979 को अपने सरकार का त्याग पत्र देते हुये लोकसभा का मध्यावधि चुनाव कराने की सिफारिश राष्ट्रपति से कर दी। राष्ट्रपति ने वैसा ही किया, जिसके फलस्वरूप जनवरी 1980 को सातवीं लोक सभा के गठन के लिये आम चुनाव हुये जिसमें कांग्रेस (इन्दिरा) पार्टी को दो-तिहाई का प्रचण्ड बहुमत प्राप्त हुआ एवं 10 जनवरी को राष्ट्रपति श्री नीलम संजीव रेड्डी ने कांग्रेस-इ० संसदीय दल के निर्विरोध नेता श्रीमती इन्दिरा गांधी को नई सरकार बनाने के लिये विधिवत आमंत्रित किया। इसके बाद 27 व 30 मई 1980 को देश के नौ राज्यों (उड़ीसा, उत्तर प्रदेश, गुजरात, तमिलनाडु, पंजाब, बिहार मध्य प्रदेश, महाराष्ट्र तथा राजस्थान) में, जहाँ के विधान सभाओं को फरवरी 1980 में राष्ट्रपति ने एक अधि सूचना जारी करके भंग कर दिया था, फिर चुनाव कराये गये जिसमें तमिल नाडु को छोड़कर अन्य सभी राज्यों में इन्दिरा कांग्रेस प्रचण्ड बहुमत से विजयी हुई और उन्हीं की सरकार बनी। तामिलनाडु में अन्ना द्रमुक ने सत्ता संभाली।

परन्तु 5 जनवरी 1983 को तीन राज्यों—आन्ध्र प्रदेश, कर्नाटक व त्रिपुरा—में हुए विधानसभा चुनावों में से आन्ध्र प्रदेश में इन्दिरा कांग्रेस पर गाज गिरी और कर्नाटक का गवित्तशाली दुर्ग तहस-नहस हो गया। आन्ध्र प्रदेश में फिल्म अभिनेता श्री रामाराव के नेतृत्ववाली क्षेत्रीय पार्टी तेलुगु देशम ने तथा कर्नाटक में जनता—क्रांतिरंगा पार्टी ने स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद पहली बार कांग्रेस से सत्ता छीन ली जबकि त्रिपुरा में मार्क्सवादी कम्युनिस्ट पार्टी ने नः सत्ता पर अधिकार कर लिया।

निष्कर्ष

(Conclusion)

ये हैं मार्च, मग १९८३ तक हुए समकालीन भारत में राजनीतिक परिवर्तन। इन परिवर्तनों के लाने में अनेक महान और साधारण दोनों ही प्रकार के नेताओं का योगदान रहा है जिनमे पूज्य बापू, नेहरू जी, सरदार पटेल, शास्त्री जी, श्रीमती इन्दिरा गांधी, श्री राजनारायण, चौधरी चरण सिंह, यहाँ तक कि संजय गांधी के नाम उल्लेखनीय है। पर इन सबके बीच एक दूसरा नाम—श्री जयप्रकाश नारायण—कुछ अलग ही चमकता है। “लोक नायक इस शताब्दी के महर्षि थे। सत्ता-और सन्त की टक्कर में सत्ता का पिटना निश्चित था।” लोग कहते हैं, “सभी नेता लोकनायक के सम्मुख बौने हैं। ईसा सिर्फ चौबीस घण्टे सलीब पर रहे थे। वह बूढ़ा हर तीसरे दिन सलीब (डायलिसिस) पर चढ़ता रहा। किसके लिये? देश की नई पीढ़ी के लिये।” पर अब तो भारत का वह मार्ग दर्शक, वह ‘गाइड’ भी न रहा। इसीलिये आज इतना अंधेरा है। फिर भी इसी अंधेरे में ही रोशनी को ढूँढ़ना होगा, प्रकाश को प्रकाशवान बनाना होगा क्योंकि उसका त्याग, उसकी तपस्या मर नहीं - ता। इसीलिये आज भी “अंधेरे में एक ही प्रकाश, जय प्रकाश !”

“गणों (समूहों या समुदायों) का विनाश फूट के कारण ही होता है। फट के कारण वे शत्रु द्वारा सुगमता से जीत लिये जाते हैं। अतः गणों को यह प्रयत्न करना चाहिये कि वे एक संघ में संगठित होकर रहें।” यह महाभारत के शान्तिपर्व में उल्लेखित उस समय का कथन है जबकि मृत्यु-शैल्या पर पड़े हुए भीष्म पितामह से युधिष्ठिर ने यह जानना चाहा कि गणों का पतन किस कारण होता है और उससे बचने का क्या उपाय है। आज इतने समय के बाद भी भीष्म पितामह का उपरोक्त कथन राष्ट्रीय एकीकरण के महत्त्व की ओर हमारा ध्यान आकर्षित करता है। भारतीय समाज व राष्ट्रीय जीवन के लिये यह एकीकरण और भी महत्त्व का है क्योंकि भारत भिन्नताओं का एक देश है और स्वतन्त्रता प्राप्त किए आज प्रायः 31 वर्ष बीत जाने के बाद भी हम यह अनुभव कर रहे हैं कि भारत की राष्ट्रीय एकता कुछ बुधली-सी है एवं उसे स्पष्ट-स्वच्छ रूप प्रदान करने की आज अत्यधिक आवश्यकता है। परन्तु इस सम्बन्ध में अधिक कुछ विवेचना करने से पूर्व राष्ट्रीय एकीकरण के वास्तविक अर्थ को समझ लेना आवश्यक होगा।

राष्ट्रीय एकीकरण का अर्थ

(Meaning of National Integration)

समाज एक अखण्ड व्यवस्था नहीं है। एक समाज या राष्ट्र का निर्माण अनेक परिवारों, समूहों, समितियों, संस्थाओं, समुदायों, यहाँ तक कि विभिन्न भूखण्डों (जिनमें कि समाज के सदस्य निवास करते हैं) को लेकर होता है। उसी समाज में अनेक लोग भी निवास करते हैं और यह भी हो सकता है कि उस समाज या राष्ट्र के उन सदस्यों में प्रजाति, धर्म, भाषा, प्रदेश और ऐसे ही अन्य आधारों पर अनेक भिन्नताएँ हों। इन भिन्नताओं के बीच भी उस राष्ट्र के सदस्यों में किन्हीं समानताओं के आधार पर, जैसेकि इसी आधार पर कि वे सब एक ही राष्ट्र के सदस्य हैं, एक प्रकार की एकात्मकता या एकता हो सकती है और उनके पारस्परिक व सम्मिलित क्रियाकलापों में उसे वास्तव में देखा भी जा सकता है। इस प्रकार भिन्नताओं के बीच भी राष्ट्रीय एकता बनाए रखने एवं विभिन्न प्रजातीय, धार्मिक, भाषा-भाषी व भौगोलिक समूहों को एक सूत्र में बँधे रहने की स्थिति को ही राष्ट्रीय एकात्मकता या एकीकरण कहते हैं। इस अर्थ में राष्ट्रीय एकीकरण भिन्नताओं के बीच भी समाज के लोगों में ‘एक होने’ की दृढ़ भावना की अभिव्यक्ति है, ताकि उनमें राष्ट्रीयता की भावना पनप सके और वे अपने को एक सामान्य (Common) सामाजिक सांस्कृतिक व राजनैतिक

1 “भेदे गण विनश्येयः भिन्नास्तु सुजयाः परे।

तस्मात्संघात् योगेन प्रयतेरन् गणः सदा।”

जीवन के सक्रिय हिस्सेदार समझ सकें। अतः हम कह सकते हैं कि राष्ट्रीय एकात्मकता या एकीकरण मिन्नताओं के बीच एकता के सूत्र को ढूँढ़ने और उसी सूत्र में जन-जीवन को पिरोने की प्रक्रिया है।

यह सच ही कहा गया है कि “आज हम एक स्वतन्त्र राष्ट्र हैं, पर यह याद रखना है कि राष्ट्रीयता केवल मात्र भूगोल या राजनीति की उपज नहीं है। शक्तिशाली बनने के लिए, राष्ट्रीयता को नागरिकों के मस्तिष्क में एक ठोस आधार प्राप्त होना चाहिये। एक प्रजातन्त्र में केवल प्रजाओं के होने से ही काम नहीं चलता, समाज के सदस्यों को नागरिक बनना होगा और नागरिकता केवल तभी सम्भव है जबकि प्रत्येक व्यक्ति यह अनुभव करे कि उसकी उस समग्र राष्ट्र या समाज से सम्पूर्ण एकात्मकता या एकीकरण है जिसका कि वह एक अंग है।”² राष्ट्रीय एकात्मकता या एकीकरण का यही आधार है।

राष्ट्रीय एकीकरण की आवश्यकता (Need for National Integration)

हमें स्वतन्त्र हुए आज प्रायः 31 वर्ष बीत चुके हैं, पर आज भी राष्ट्रीय एकीकरण के बारे में चर्चा की जाती है। परन्तु इसका तात्पर्य कदापि यह नहीं है कि राष्ट्रीय एकात्मकता या एकीकरण का इस देश में पूर्णतया अभाव रहा है अथवा है। इसका तात्पर्य केवल इतना ही है कि वर्तमान परिस्थितियों में राष्ट्रीय एकात्मकता या एकीकरण की आवश्यकता या प्रयोजन आज हमारे लिये जितना है उतना पहले नहीं था। आज इस देश में फिर से विघटनकारी शक्तियाँ अपना सिर उठा रही हैं। एक के बाद दूसरी दर्दनाक व भयावह दुर्घटनायें घटित होती जा रही हैं। उदाहरणार्थ, श्री विजयसिंह द्वारा प्रस्तुत विवरण के अनुसार, उत्तर-पूर्व सीमान्त रेलवे की तेजपुर एक्सप्रेस 30 मई 1977 को बेकी नदी का पुल पार नहीं कर सकी। बेकी नदी की उफनती जलधारा ने पुल सहित चार डिब्बे अपने आँचल में समेट लिए—85 यात्रियों की जल-समाधि लग गई। 11 अक्टूबर 1977 को नैनी में हावड़ा-दिल्ली डीलक्स, खड़ी मालगाड़ी से जा टकरायी—नौद में डूबे 57 यात्रियों के लिये फिर कोई सुबह नहीं हुई और फिर नवम्बर 1977... दुर्घटनाओं के इतिहास में एक बेहद स्याह महीना ! रिवाड़ी सहित 9 रेल दुर्घटनायें केवल एक माह में घटीं और दुर्घटनायें रेलों तक ही सीमित नहीं रहीं। 20 नवम्बर को हरदाऊगंज थर्मल पावर प्लांट के टरबाइन में विस्फोट हुआ;—ठीक पाँच दिनों बाद ‘आकाशवाणी भवन, दिल्ली’ का रिकार्ड रूम ‘इनफर्नो’ बना घण्टों धधकता रहा। 3 दिसम्बर को बड़ोदा के हेवीवाटर प्लांट में आग लग गई। तोड़-फोड़ की इन घट-

2, “We are an independent nation to-day it should be remembered that nationhood is not merely a product of geography or politics. To be strong, it must have a solid basis in the mind of the citizen. In a democracy, we cannot afford to have subjects; the members of society must be citizens and citizenship is possible only when the individual feels completely integrated with the whole, of which he is a part.”

Report of the Committee on Emotional Integration, 1962,

नाओं के पीछे कोई सुनियोजित साजिश नजर आ सकती है। पर साजिश किसके द्वारा ? क्या वे भारतीय नहीं हैं ? निश्चय ही हैं, तो फिर क्या उन्हें अपने राष्ट्र के ही जान और माल को इतना नुकसान पहुंचाते हिचक का अनुभव नहीं होता ? शायद इसीलिये नहीं होता क्योंकि उनमें अपने राष्ट्र के प्रति कोई लगाव या प्रेमभाव नहीं है। और वास्तव में यह सब राष्ट्रीयता की भावना के अभाव का ही परिणाम है। इसी की ओर संकेत करते हुये इस वर्ष (1978) 29वें गणतन्त्र दिवस पर राष्ट्र-पति श्री नीलम संजीव रेड्डी ने राष्ट्र के नाम अपने सन्देश में कहा कि "समाज के क्रुद्ध हताश और दुस्साहसी लोग हमारी लोकतान्त्रिक जीवन-पद्धति और हमारे धर्म-निरपेक्ष समाज के मूल ढाँचे को नष्ट करने पर तुले हुये हैं। हम में से प्रत्येक को उचित जगह पर उचित प्रकार से अपने विचार प्रकट करने की स्वतन्त्रता है, लेकिन किसी को भी प्रत्येक मामले को सड़कों पर ले जाने, भावनाओं को उभारने, कानून और व्यवस्था की अवहेलना की हिमायत करने और हिंसा को भड़काने की अनुमति नहीं दी जानी चाहिये। मामूली बातों की आड़ लेकर उकसाने वाली कार्यवाहियों से अनावश्यक टकराव की स्थिति लाने की नीति एक ऐसी चुनौती है जिसका कि हमें स्वतन्त्र देश के नागरिक होने के नाते दृढ़ता से सामना करना चाहिये।"

उपरोक्त सन्दर्भ में अब यहाँ हम राष्ट्रीय एकीकरण की चार प्रमुख आवश्यकताओं का उल्लेख कर सकते हैं—

(1) राष्ट्रीय एकीकरण राष्ट्रीय एकता, अखण्डता और व्यवस्था को बनाए रखने के लिये आवश्यक है। यह आवश्यकता भारतीय समाज के लिये और भी अधिक इसलिये है कि इस देश में भौगोलिक, प्रजातीय, धार्मिक, भाषा-सम्बन्धी आदि कितनी ही प्रकार की भिन्नताएँ देखने को मिलती हैं। भारत में अगर एक ओर बर्फ से ढकी हुई पर्वत श्रेणियाँ हैं, तो दूसरी ओर समूह की लहरों से खेलते हुए उपजाऊ मैदान, यदि एक ओर नीग्रिटो 'प्रजाति' के लोग रहते हैं तो दूसरी ओर नॉर्डिक प्रजाति के लोग भी। यहाँ हिन्दू इस्लाम सिक्ख, ईसाई बौद्ध व जैन सभी धर्म को मानने वाले रहते हैं। यहाँ आसामी, बंगाली, गुजराती, हिन्दी, मलयालम, मराठी, कश्मीरी, तमिल, तेलगू उर्दू आदि कितनी ही भाषायें बोलने वाले लोग निवास करते हैं; यहाँ पोषक, प्रथा, परम्परा, रहन-सहन, खान-पान आदि में भी असंख्य भिन्नताएँ देखने को मिलती हैं। ऐसी स्थिति में राष्ट्रीय एकीकरण की भावना ही राष्ट्रीय एकता, अखण्डता व सुव्यवस्था को बनाये रख सकती है।

(2) राष्ट्र के प्रति या सम्पूर्ण समाज के प्रति नागरिकों का क्या कर्तव्य है उसे याद दिलाने व उन कर्तव्य-कर्मों को करने की प्रेरणा देने के लिये भी राष्ट्रीय एकीकरण की बहुत आवश्यकता है। आज इस देश में फिर से विघटनकारी शक्तियाँ अपना सिर उठा रही हैं जिसके कारण एक के बाद दूसरी दर्दनाक व भयावह दुर्घनाएँ घटित होती जा रही हैं। रेल लाइनों का 'फिट्टा प्लेट' हटाकर ट्रैन को उलटा देना और सैकड़ों यात्रियों को मौत के गर्म में ढकेल देना, सार्वजनिक सम्पत्तियों में आग लगाकर नष्ट कर देना आदि घटनाएँ अक्सर घटित होती रहती हैं और घटित होती हैं, भारत के ही लोगों के द्वारा। स्पष्ट है कि उनमें अपने राष्ट्र के प्रति कोई लगाव, कोई कर्तव्य भाव नहीं है। इन विघटनकारी परिस्थितियों से बचने के लिये राष्ट्रीय एकीकरण की भावना को जाग्रत करना बहुत जरूरी है।

(3) भारत के विभिन्न प्रदेशों या क्षेत्रों में रहने वाले लोगों में परस्पर जो

विरोध तनाव व खींचातानी है उसे दूर करने के लिए भी राष्ट्रीय एकीकरण परमावश्यक है। यदि आज राजनीतिक, आर्थिक, सामाजिक व सांस्कृतिक विषयों व घटनाओं को पूर्व, पश्चिम, उत्तर और दक्षिण में रहने वाले लोग अलग-अलग ढंग से देखेंगे तो राष्ट्रीय जीवन की सामान्य धारा ही टूट जाएगी और हम प्रगति के पथ पर आगे बढ़ नहीं पायेंगे। अतः जरूरत इस बात की है कि लोग चाहे उत्तर प्रदेश, तमिलनाडु, महाराष्ट्र, बंगाल, असम या पंजाब कहीं के भी रहने वाले क्यों न हो 'हम सब एक है' की भावना उनमें विद्यमान हो और वे सब एकसाथ मिलकर राष्ट्र की प्रगति में अपनी क्षमतानुसार योगदान करने को सदा तैयार रहें। यह तभी हो सकता है जबकि लोगों में राष्ट्रीय मामलों में एकमत्य (Consensus) हो। इस दृष्टिकोण से भी राष्ट्रीय एकीकरण की अत्यधिक आवश्यकता है।

(4) देश में साम्प्रदायिक एकता व सौहार्द का वातावरण उत्पन्न करने के लिए भी राष्ट्रीय एकीकरण की बहुत आवश्यकता है। रांची, आलीगढ़, बनारस, मुरादाबाद, सम्भल, जमशेदपुर आदि स्थानों में हुए भीषण साम्प्रदायिक दंगों में जान-माल की जो अथाह हानि हुई उसके अतिरिक्त आपसी द्वेष व कटुता बढ़ना एवं राष्ट्रीय एकता के लिये खतरा उत्पन्न होना साम्प्रदायिकता के कुछ भयंकर दुष्परिणाम है। इसे राष्ट्रीय एकीकरण को पनपाकर ही कुछ हद तक टाला जा सकता है।

कुछ लोगों का मत है कि राष्ट्रीय एकीकरण की समस्या को लेकर इस देश में जितना बवंडर खड़ा किया जाता है, वह अतियुक्ति है। उसके अनुसार इस देश में अनावश्यक रूप से एक संघारण-सी समस्या को लेकर, उसको अत्यधिक महत्व देकर, उसके कारण व्यर्थ ही समय व शक्ति को नष्ट किया गया है। अनावश्यक रूप से हम भारत में विघनकारी तत्त्वों व घटनाओं को व्यक्तिगत या राजनीतिक दलगत दूरबीन से देखकर स्वयं ही काँप रहे हैं, जबकि ऐसी कोई गम्भीर बात नहीं है। पर हमें यह याद रखना होगा कि भारत भिन्नताओं का देश है जिसमें कि अनेक धर्म, जाति, भाषा, सम्प्रदाय, क्षेत्र व प्रान्त के लोग रहते हैं। साथ ही, अनेक राजनीतिक पार्टियाँ—जिनमें छः अखिल भारतीय एवं 20 राज्य-स्तरीय दल हैं—जोकि चुनाव आयोग द्वारा मान्यता प्राप्त हैं, इस देश में अलग-अलग सिद्धांतों, आदर्शों व मान्यताओं के आधार पर क्रियाशील हैं; जहाँ मार्क्सवादी कम्युनिष्ट पार्टी के पश्चिम बंगाल के मुख्यमन्त्री श्री ज्योति बसु राज्यों को अधिक स्वायत्तता देने के लिये संविधान में संशोधन की मांग कर रहे हैं। सरकार ने इस मांग को इस आधार पर स्वीकार नहीं किया है कि संविधान में राज्यों को जो अधिकार प्राप्त हैं, वे पर्याप्त हैं एवं उनका उचित रूप से पालन होना चाहिये। आज कतिपय राजनीतिक पार्टियाँ भी हरिजन व अल्पसंख्यकों पर हो रहे जुल्मों को ऐसा बढ़ा-चढ़ाकर प्रस्तुत कर रही है मानों वर्षों में इस प्रकार का कोई भी जुल्म हुआ ही न हो। उसी प्रकार हाल ही में लखनऊ तथा कानपुर में मुसलमानों के ही दो सम्प्रदाय शिया और सुन्नियों के बीच जो भीषण दंगे-फसाद हुए और उसके कारण जो जान-माल की हानि हुई वह भी कोई कम गम्भीर विषय नहीं था। ये सभी राष्ट्रीय एकता या एकीकरण की प्रक्रिया में बास्तव में बाधक हैं। केरल साहित्य एकादमी द्वारा आयोजित व्याख्यानमाला—“राष्ट्रीय एकीकरण में लेखकों का योगदान”—का उद्घाटन करते हुए रूस में

भारत के भूतपूर्व सचिव श्री के० पी० एस० मेनन ने बहुत पहले ही कहा था, "हमारी राजनीतिक शब्दावली में 'राष्ट्रीय एकीकरण' विशेष वेग के साथ प्रस्फुटित हुआ है। यह कितनी गम्भीर समस्या है, इसका अनुमान लगाना कठिन है।" भारत जैसे बहुजातीय, बहुभाषीय विशाल देश में राष्ट्रीय एकीकरण की समस्या सदा रही है और रहेगी भी।"

राष्ट्रीय एकीकरण की समस्या की पृष्ठभूमि

(Background of the Problem of National Integration)

अगर भारत के राजनीतिक इतिहास का विश्लेषण किया जाय तो यह स्पष्ट होगा कि भारत जैसे इतने बड़े देश में राष्ट्रीय एकता की समस्या बहुत पहले से ही किसी-न-किसी रूप में बनी हुई है और इसी राष्ट्रीय/एकता के अभाव के कारण अनेक बार विदेशियों से हमें पराजित होना पड़ा। भारत अनेक छोटे-छोटे राज्यों में विभाजित रहा और ये राज्य प्रायः एक-दूसरे के साथ लड़ते-झगड़ते रहते थे। इस परिस्थिति से ही लाभ उठाकर विदेशी आक्रमणकारियों ने इस देश को पराजित किया और स्वयं शासक बन बैठे। इसी ऐतिहासिक सत्य की चर्चा करते हुए डॉ० यादव ने लिखा है कि मौर्यकाल के बाद दूसरी शताब्दी ई० पू० से लेकर चौथी शताब्दी ईस्वी के प्रारम्भ तक राजनीतिक विच्छिन्नता का युग था जबकि पार्थियन, शक-शिथियन और कुषाण आक्रमणकारियों ने इस देश में अपने-अपने राज्य का विस्तार किया। गुप्तकाल को भारतीय इतिहास का स्वर्ण युग कहा गया है, पर सम्राट हर्ष की मृत्यु के बाद सातवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में भारत की राजनीतिक दुर्बलता चरम सीमा पर पहुँच गई और अनेक छोटे-छोटे राज्यों का उदय हुआ। मुस्लिम युग में भी राजनीतिक संगठन और विघटन की शक्तियाँ एक-दूसरे पर हावी होती रहीं। पुत्र ने सिंहासन या शासन पर कब्जा करने के लिये पिता को कैदखाने में डाल दिया या भाई की हत्या कर दी। इसके बाद कुछ हिन्दू राजाओं, मुसलमान शासकों एवं घना सेठों के विश्वासघातकता के कारण ही अंग्रेजों का शासनकाल आया। भारत अंग्रेजों का दास था, पर पुनर्जागरण के कारण देश में राष्ट्रीय चेतना का विकास होने लगा और स्वतन्त्रता-संग्राम का जन्म हुआ। पर ब्रिटिश कूटनीति के 'फूट डालो और शासन करो' (Divide and Rule) की नीति ने राष्ट्रीय एकता को कायम न होने दिया और हिन्दुओं व मुसलमानों में विभेद उत्पन्न कर दिया जिसका अन्तिम परिणाम यह हुआ कि 15 अगस्त 1947 में देश को स्वतन्त्रता तो मिली, पर उसका विभाजन हो गया और पाकिस्तान का राज्य अलग बन गया।

स्वतन्त्र भारत में राष्ट्रीय एकीकरण को संविधान के इस विचार से बड़ा बल मिला कि "हम सब भारतवासी हैं, हम सबका एक ही संविधान, एक ही राष्ट्रीय झण्डा और एक ही राष्ट्रीय चिन्ह है।" पर दुर्भाग्यवश उसी समय से राष्ट्रीय एकता की समस्या अपने नये रूप में प्रगट हुई। इस सन्दर्भ में सबसे पहले यह समस्या सामने आई कि भारत को अपने ही देश की छोटी-बड़ी पाँच सौ रियासतों को किस भाँति भारतीय संघ में सम्मिलित कर राष्ट्रीय धारा-प्रवाह के अन्तर्गत लाया जाये परन्तु लोह पुरुष सरदार पटेल की कुशल नीति के कारण सभी रियासतें भारतीय संघ में शामिल हो गयीं। श्री मेनन के शब्दों में, "राष्ट्रीय एकी-

करण की दिशा में किए गये प्रयत्नों में इसके जोड़ का कोई कार्य इतिहास में नहीं है।³

इसके उपरान्त एक गम्भीर समस्या देश-विभाजन के बाद पूर्व और पश्चिम पाकिस्तान से आये असंख्य शरणार्थियों को बसाने की समस्या थी। वे अपने साथ अपने सांस्कृतिक प्रतिमान को—खाने, पहनने, रहने, बोलने आदि के ढंग को भी साथ लाये थे। इन सांस्कृतिक समूहों को राष्ट्र की मूल धारा के साथ घुला-मिला देना सरल कार्य नहीं था।

इतना ही नहीं, 1 अक्टूबर 1956 को राज्य पुनर्गठन आयोग ने भारत की पुरानी राज्य पद्धति को समाप्त करके नवीन सुदृढ़ राज्यों की स्थापना की राय दी। आयोग ने 27 के स्थान पर 16 राज्यों की योजना केवल 'भाषा' के आधार पर बनाने के सिद्धांत को स्वीकार किया (इस समय भारत में 22 राज्य और 9 संघ राज्य-क्षेत्र हैं)। इससे एक बार फिर राष्ट्रीय एकीकरण की समस्या ने अपना सिर ऊँचा उठाया क्योंकि भाषा के आधार पर राज्यों का पुनर्गठन करने के कारण कुछ प्रान्तों के कुछ लोगों या समूहों की उच्चाकांक्षाओं व स्वार्थों को धक्का लगा। उनकी भावनाओं का लाभ उठाकर अनेक राज्य-स्तरीय राजनीतिक दलों व प्रतिक्रियावादी संगठनों ने भाषा और प्रान्तीयता के आधार पर नवीन आन्दोलनों का सूत्रपात किया। इन आन्दोलनों का रोचक तत्त्व यह था कि इसमें बुद्धिजीवी वर्ग का भी सक्रिय सहयोग रहा। परिणामस्वरूप स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद इस देश में खुले तौर पर विभिन्न राज्यों में हिंसक आन्दोलनों का ताँता बँध गया जिन्हें देखकर ऐसा मालूम होने लगा मानो भाषावाद, प्रान्तवाद, क्षेत्रवाद व सम्प्रदायवाद की ज्वालाओं में इस राष्ट्र का वह सब कुछ जलकर खाक हो जायेगा जिस पर हमें नाज है। महा-राष्ट्र और गुजरात के लिये रक्तपात हुआ। उड़ीसा में बंगालियों का कत्ले-आम हुआ या उन्हें मार-मारकर उनका सब कुछ छीनकर उन्हें राज्य से बाहर धकेल दिया गया, पंजाबी सूबे के निर्माण के लिये हिंसक आन्दोलनों को आयोजित किया गया, हिन्दू-मुसलमानों में आये-दिन साम्प्रदायिक झगड़े उभारे गये। आज की बदली हुई परिस्थिति में हो सकता है कि अनेक लोग इन घटनाओं को बिल्कुल अर्थहीन न मानें पर उस समय तो ऐसा ही लग रहा था जैसे कि राष्ट्र ने इतनी बड़ी चुनौती का सामना और कभी नहीं किया।

एक राष्ट्र के रूप में भारत अन्य अनेक गम्भीर चुनौतियों का सामना सफलतापूर्वक करता आया है, अतः उपरोक्त स्थिति भी एक समय राष्ट्र के जीवन से टल गई और इसका प्रमाण उसे उस समय मिला जब सन् 1962 में भारत पर चीन का और सन् 1965 व 1971 में पाकिस्तान का आक्रमण हुआ। इन आक्रमणों का सामना करने के लिये काश्मीर से लेकर कन्याकुमारी तक सम्पूर्ण भारत में उत्साह, वीरता एवं एकता की लहरें हिलोरें लेने लगीं। जातिगत या भाषागत स्वार्थों को भूलकर, साम्प्रदायिकता व प्रान्तीयता की संकीर्ण भावना को दफनाकर सभी भारतवासी भारत की स्वतन्त्रता की रक्षा के लिये मानो एक स्वर से घोषणा कर रहे हों कि "हम सब भारतवासी एक हैं, हमारा एक राष्ट्र, एक देश है। हमारी

3. "Here was a feat in national integration to which, let we repeat, there is no parallel in history."—K. P. S. Menon in Lecture Series of Kerala Sahitya Academy.

स्वतन्त्रता पर हमारे जीते-जी कभी तनिक भी आँच नहीं आ सकती।" उस समय देश की विभिन्नताओं के बीच भी एक ऐसी एकता का उदय हुआ जो विदेशियों के लिये ही नहीं अपितु स्वयं हम सबके लिये भी एक आश्चर्यजनक घटना बन गई। फिर भी इस कटु सत्य से इनकार नहीं किया जा सकता कि स्वाधीनता संघर्ष के समय देश में जो अपूर्व एकता विद्यमान थी उसका कारण था विदेशी शासन के प्रति रोष और दासता के बन्धनों से विमुक्त होने की उग्र आकांक्षा। पर विदेशी शासन से विमुक्ति के साथ ही लगता है एकता का वह सूत्र टूट गया और देश के विभिन्न भागों में पृथक्तावादी व विघटनकारी प्रवृत्तियाँ फिर उभरने लगीं। समस्या यह नहीं है कि विभिन्न भाषा, धर्म, जाति, सम्प्रदाय आदि से बने भारत को एकभाषी, एकधर्मी व एक जाति वाला देश कैसे बनाया जाय, अपितु समस्या यह है कि भारतीयों में एकता (oneness) की भावना कैसे जाग्रत की जाए जोकि वास्तव में राष्ट्रीय एकीकरण का ठोस आधार है। भारत में आज इसी भावना की अत्यधिक आवश्यकता है। सच तो यह है कि हमने स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद प्रशासनिक व आर्थिक विकास पर अधिक बल देते हुये इस राष्ट्रीय समस्या (राष्ट्रीय एकीकरण की समस्या) की उपेक्षा की है। परन्तु इस समस्या के हल के लिये हमें सर्वप्रथम उन बाधाओं या विरोधी तत्त्वों से परिचित होना होगा जोकि राष्ट्रीय एकीकरण के मार्ग में आज भी विद्यमान हैं। ये बाधाएँ अर्थात् राष्ट्रीय एकीकरण के विरोधी तत्त्व निम्नलिखित हैं—

राष्ट्रीय एकीकरण के विरोधी तत्त्व या राष्ट्रीय एकीकरण की समस्याएँ
(Forces hampering National Integration or Problems of National Integration)

1. जाति और जातिवाद (Caste and Casteism)—भारतीय पृष्ठभूमि में राष्ट्रीय एकता की विरोधी शक्तियों में जिसका नाम सर्वप्रथम दिमाग में आता है वह है जाति और जातिवाद। भारतीय जाति-प्रथा के विषय में यह लिखते हुये डॉ॰ घुरिये (Dr. Ghurye) ने लिखा है कि यह प्रथा समाज को विभिन्न खण्डों में विभाजित कर देती है। फलतः ऐसे समाज में सामुदायिक भावना सीमित होती है और समग्र समाज के प्रति न होकर एक जाति के सदस्यों का पहले अपनी जाति के प्रति नैतिक कर्त्तव्यबोध या वफादारी होती है। स्पष्ट है कि यह स्थिति राष्ट्रीय एकता को पनपाने में बाधक सिद्ध होती है। जाति-प्रथा का ही कटु रूप जातिवाद के रूप में प्रगट होता है जोकि विभिन्न जातियों के बीच पाई जाने वाली खाई को और भी चौड़ा करता है तथा एक-दूसरे के प्रति घृणा, द्वेष या प्रतिस्पर्धा आदि के रूप में अभिव्यक्त होता है। अपनी ही जाति के स्वार्थों को सर्वोपरि समझना जाति-वाद का सबसे सरल रूप है। डॉ॰ शर्मा ने लिखा है कि "जातिवाद या जाति-भक्ति एक जाति के व्यक्तियों की वह भावना है जो देश के या समाज के सामान्य हितों का ख्याल न रखते हुए केवल अपनी जाति के सदस्यों के उत्थान, जातीय एकता और जाति की सामाजिक प्रस्थिति (status) को दृढ़ करने के लिये प्रेरित करती हो।" जाति के आधार पर किसी के लिये भी कोई विशेषाधिकार या नियोग्यता नहीं होनी चाहिये। जाति के आधार पर कर्त्तव्यविहीन विशेषाधिकार एक बुरी चीज है, पर उससे भी बुरी स्थिति है जाति के आधार पर अधिकार या सुविधाविहीन कर्त्तव्यों का बोझ जिसका कि शिकार परस्परगत रूप में हमारे लाखों हरिजन भाई हैं। यह स्थिति निश्चय ही राष्ट्रीय एकता के लिये घातक है क्योंकि इससे लोगों में

कटुता, निराशा व द्वेष की भावना पनप जाती है। उदाहरणार्थ, ब्रिटिश काल में उच्च जातियों (ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, कायस्थ) के सदस्यों को शिक्षा सम्बन्धी सुविधायें प्राप्त होने के कारण व्यापार, नौकरी आदि में भी वे आगे रहे। फलतः निम्न जातियों (अथवा अनुसूचित एवं पिछड़ी जातियों) को समस्त सुविधाओं से वंचित रहकर अपनी दयनीय दशा में ही निवास करना पड़ा। इसके कारण उनमें एक विद्रोह की भावना स्पष्ट रूप में जागृत हुई और उन्हें भी अपने अधिकारों को प्राप्त करने के लिये एक आन्दोलन का सहारा लेना पड़ा और उन्हें विशेष सुरक्षा सरकार को प्रदान करनी पड़ी। इस प्रकार अधिकार के लिये छीना-झपटी के बीच एकता का वातावरण उत्पन्न नहीं हो सकता। उसी प्रकार आज विधानसभा, पंचायत आदि के चुनाव में जाति के आधार पर प्रत्याशी को खड़ा किया जाता है, चुनाव प्रचार किया जाता है और चुनाव जीता भी जाता है। यह स्थिति विभिन्न जातियों के बीच कटुभाव को घटाने के स्थान पर बढ़ाती ही जाती है। यहाँ तक कि अनेक हिंसात्मक अपराध भी हो जाते हैं। शताब्दियों तक गुलाम रहने के बाद एका-एक अनेक आर्थिक-सामाजिक-राजनीतिक अधिकारों को पाकर हमारे लिये थोड़ा-बहुत पथभ्रष्ट हो जाना स्वाभाविक ही है, फिर भी विघटन की इस स्थिति में राष्ट्रीय एकता की स्थापना कुछ कठिन-सी ही हो जाती है।

2. साम्प्रदायिकता (Communalism)—राष्ट्रीय एकता के रास्ते पर एक और भयंकर बाधा साम्प्रदायिकता है। कुछ लोग तो इसे उन बुराइयों (evils) की सूची में सर्वप्रथम स्थान देते हैं जिन्हें कि एकता की स्थापना के लिये हमें पहले दूर करना होगा। जब लोग साम्प्रदायिकता का उल्लेख करते हैं तो उनका संकेत विशेष रूप से हिन्दू और मुस्लिम 'समुदायों' के बीच पाये जाने वाले तनाव या कटु-भाव की ओर ही होता है। यद्यपि साम्प्रदायिकता केवल हिन्दू और मुसलमानों तक ही सीमित नहीं है, फिर भी इनकी संख्या अधिक होने के कारण ये ही प्रमुख रूप से सम्बन्धित माने जाते हैं। साथ ही यह सभी स्वीकार करते हैं कि 'फूट डालो और राज्य करो' (divide and rule) की ब्रिटिश नीति ने ही हजारों वर्षों से भाई-भाई के रूप में रहने वाले हिन्दू-मुसलमानों के दिल में फर्क डाल दिया और धर्म की पोशाक पहनाकर बीच-बीच में एक को दूसरे के विरुद्ध भड़काती रही। इसी नीति के फलस्वरूप भारत का विभाजन हुआ और दो राष्ट्र के सिद्धान्त (two-nation theory) ने जिस साम्प्रदायिकता की आग को भड़काया उसका उद्देश्य हिन्दू-मुस्लिम एकता को राख में बदलना था। पाकिस्तानी-प्रचार भी इस देश में साम्प्रदायिकता को और अधिक कटु बनाने में मदद कर रहा है जोकि न तो स्वयं उसके लिए और न ही भारत के लिये हितकर है। फिर भी जनसंख्या के दृष्टिकोण से भारत में हिन्दुओं की संख्या सर्वाधिक है, अतः साम्प्रदायिकताविहीन वातावरण को उत्पन्न करने तथा उसे बनाये रखने का उत्तरदायित्व भी उन्हीं का है, यद्यपि इस दिशा में प्रत्येक भारतीयवासी को क्रियाशील होना पड़ेगा। परन्तु वास्तविक स्थिति यह है कि स्वतन्त्रता-प्राप्ति के बाद साम्प्रदायिक दल एक नये रूप में सामने आये। मुस्लिम लीग, मजलिसे-मुशाविरात, हिन्दू

4. "The responsibility for maintaining a non-communal atmosphere in the country has to be shared by the Indian people as a whole, but the responsibility is greater on the Hindus because of their numerical superiority."
—Report of the Committee on Emotional Integration, 1962, p. 21.

महासभा आदि ऐसे दल रहे जिनकी कि आत्मा में साम्प्रदायिकता है, यद्यपि ऊपर से वे राजनीतिक चोला ही पहने हुए हैं। यही कारण है कि पंजाब में भाषा की आड़ लेकर एक सम्प्रदाय विशेष ने एक पृथक् साम्प्रदायिक राज्य बनाने के स्वप्न देखे, उसके लिये आन्दोलन चलाया; दूसरे ने विरोध किया—फलतः पंजाब साम्प्रदायिक तनाव का युद्धक्षेत्र बन गया। उधर केरल में साम्यवादी दल को पराजित करने के लिये कांग्रेस ने मुस्लिम लीग के गड़े मुर्दे में प्राण फूँके—फलतः मुस्लिम साम्प्रदायिकता सम्पूर्ण देश में सिर उठाने लगी। इधर हिन्दू प्रतिक्रियावादियों ने अवसर पाकर भोली जनता पर धर्म का मन्त्र फूँकना आरम्भ कर दिया। दिल्ली में 10-11 जून 1961 को हुए मुस्लिम सम्मेलन में यह विचार व्यक्त किया गया कि “भारत में मुसलमानों का जीवन, सम्मान और सम्पत्ति सुरक्षित नहीं है। नौकरियों में भर्ती के समय मुसलमानों से भेदभाव किया जाता है, तथा पुलिस और सेना के द्वार उनके लिये विशेष रूप से बन्द रहते हैं।” दूसरी ओर हिन्दू राष्ट्र का नारा लगाने वाली साम्प्रदायिक संस्थाएँ भी अपना-अपना राग अलापती हैं। आज हिन्दू या मुसलमान प्रत्याशी चुनाव के समय हिन्दू या मुसलमान होने के आधार पर हिन्दू या मुसलमान से वोट की मांग करता है। संकीर्ण साम्प्रदायिकता के पंजों में फंसे ये लोग अपने को ‘भारतवासी’ कहलाने से पूर्व हिन्दू या मुसलमान कहलाना अधिक पसन्द करते हैं। यही है वह साम्प्रदायिकता जोकि आज भारत के राष्ट्रीय एकीकरण के मार्ग में एक मजबूत चट्टान बनी खड़ी है।

3. भाषावाद (Linguism)—आज देश में एक अन्य गम्भीर समस्या ‘भाषा’ की है। ‘भाषा’ के प्रश्न को लेकर कुछ वर्ष पूर्व ही देश में जो उत्पात खड़ा हुआ था वह अभी भी किसी को चिन्ता-मुक्त नहीं कर पाया है। करोड़ों की सम्पत्ति एवं सैकड़ों की अनमोल जानें केवल इसी प्रश्न को लेकर नष्ट हुई हैं—और अभी भी यह विवाद समाप्त नहीं हो पाया है। इस सम्बन्ध में मुख्य प्रश्न ‘राष्ट्रभाषा’ का है। संविधान के अनुसार 1965 तक हिन्दी भारतीय राष्ट्रभाषा व शासकीय भाषा हो जानी चाहिये थी, परन्तु जैसे-जैसे समय निकट आता गया अहिन्दी-भाषी व्यक्ति तथा अंग्रेजी भाषा के ‘शुभचिन्तक’ हिन्दी का विरोध करने लगे क्योंकि उन्होंने अपने मन में यह गलत धारणा बना ली कि हो सकता है कि हिन्दी-भाषी उन पर शासन करने लगे। इसी कारण हिन्दी का विरोध हुआ। परन्तु हिन्दी-प्रेमी भी कब मानने वाले थे। उन्होंने भी अपना आन्दोलन शुरू किया। इन्हीं आन्दोलनों व मांगों की छत्रछाया में ‘उत्तर और दक्षिण’ (North and South) का प्रश्न आया। मद्रास एक पृथक् ‘तमिलनाडु’ प्रदेश की मांग करने लगा। पंजाब ‘पंजाबी सूबे’ का राग अलापने लगा। कहने का तात्पर्य यह है कि भाषावाद ने भी राष्ट्रीय एकीकरण के लिये विरोधी परिस्थितियों को उत्पन्न किया और उन्हें बनाये रखा।

4. राजनीतिक दलों का नैतिक पतन (Demoralization of Political Parties)—राष्ट्रीय एकीकरण के मार्ग में एक अन्य बाधा सभी राजनीतिक दलों का नैतिक पतन है। भारत में प्रजातान्त्रिक शासन-प्रणाली है और प्रजातान्त्रिक शासन-प्रणाली का आधार स्वस्थ व संयम राजनीतिक दल होते हैं। परन्तु भारत का यह दुर्भाग्य है कि इस देश में सभी राजनीतिक दल आज अपने नैतिक स्तर से गिर चुके हैं। ये दल राष्ट्रीय हितों की अपेक्षा दलगत स्वार्थों को अधिक महत्व देते हैं और उसी स्वार्थ-सिद्धि के लिये साम्प्रदायिकता, जातिवाद, क्षेत्रवाद व प्रान्तवाद को बढ़ावा देते

हैं और उसी आधार पर चुनाव लड़ते व लड़वाते हैं।⁵ इस स्थिति में सामाजिक एकीकरण दूर का सपना बन जाता है।

5. क्षेत्रीयवाद (Regionalism)—राष्ट्रीय एकता में बाधक एक और प्रमुख कारक क्षेत्रीयवाद है। क्षेत्रीयवाद एक भौगोलिक क्षेत्र में रहने वाले लोगों के मनोभाव को व्यक्त करता है जिसके अनुसार उस क्षेत्र के लोग यह सोचते हैं कि उनकी भाषा, संस्कृति, इतिहास तथा सामाजिक परम्परायें अन्य क्षेत्रों से श्रेष्ठ हैं और इसीलिये उन्हें अपना सर्वांगीण विकास करने का अधिकार है और उसके लिये किसी भी मूल्य पर उन्हें सब तरह की सुविधायें मिलनी चाहियें। इसके लिये यदि उन्हें सम्पूर्ण राष्ट्र से अपना नाता ढीला भी करना पड़े तो उसके लिये भी वे तैयार रहते हैं। क्षेत्रीयवाद का यह संकीर्ण रूप स्वतन्त्र भारत में भी देखने को मिलता है। उत्तर और दक्षिण भारत के बीच जो मतभेद बहुधा नाना ढंग से प्रकट होते रहते हैं वे क्षेत्रीयवाद के ही उदाहरण हैं। प्रत्येक क्षेत्र अपने को आर्थिक रूप से सबसे अधिक विकसित देखना चाहता है और इसीलिये एक क्षेत्र उस दूसरे क्षेत्र की ओर उँगली उठाता रहता है जिसे कि विकास कार्यक्रम के लिए केन्द्रीय सरकार से अधिक आर्थिक सहायता प्राप्त होती है। इससे विभिन्न राज्यों के बीच कटु ईर्ष्या व प्रतिद्वन्द्विता की भावना पनप जाती है जोकि अन्तिम रूप में राष्ट्रीय एकता की स्थापना में बाधक सिद्ध होती है। उसी प्रकार भाषा के आधार पर स्वतन्त्र राज्य की मांग (जैसे पंजाबी सूबा की मांग) क्षेत्रीयवाद का एक अन्य रूप है जोकि अन्य किसी दृष्टि से हितकर होते हुए भी राष्ट्रीय एकता के लिये अहितकर ही होती है। क्षेत्रीयवाद का एक तीसरा रूप प्रजाति (Race) तथा इतिहास के सम्बन्ध में कुछ बनावटी व भ्रान्त धारणाओं पर आधारित है। उदाहरणार्थ, तमिलनाडु के डी० एम० के० (Dravida Munnetra Kazhagam) ने एक विस्तृत सिद्धांत यह विकसित किया कि उत्तरी भारत के आर्य लोग साम्राज्यवादी (imperialists) हैं, संस्कृत व हिन्दी उनके प्रभुत्व स्थापित करने के हथियार हैं एवं दक्षिण भारत के ब्राह्मण उत्तरी भारत के उन्हीं आर्यों द्वारा किये गये शोषण के प्रतिनिधि हैं। इसी आधार पर डी० एम० के० ने एक उत्तर भारत-विरोधी, हिन्दी-विरोधी, ब्राह्मण-विरोधी एवं धर्म-विरोधी आंदोलन छेड़ा जिसका कि उद्देश्य द्राविडिस्तान (Dravidistan) नामक एक स्वतंत्र, प्रभुतासम्पन्न (sovereign) राज्य की स्थापना था।⁶ उनके द्वारा प्रस्तुत राष्ट्रीय झण्डे से पृथक् तमिलनाडु के लिये एक अलग झण्डे की मांग क्षेत्रीयता का ही एक अति उग्र रूप है। शायद कहने की आवश्यकता नहीं कि इन सब क्रियाकलापों का अति बुरा प्रभाव राष्ट्रीय एकता पर पड़ता है।

6. प्रांतीयता (Provincialism)—प्रांतीय वफादारी (provincial loyalty) एवं उससे सम्बन्धित क्रियाकलाप को ही प्रांतीयता की संज्ञा दी जा सकती है। प्रांतीयता की भावना से प्रेरित लोग अपने प्रांत के प्रति अपनी वफादारी पहले

5. "We have to get our votes and we set up candidates suited to the people who have to vote. If it is a Nadar constituency we set up a Nadar. If it is a Harijan constituency, we set up a Harijan. If it is a Kamma constituency, we set up a Kamma. That is what we have been doing to-day."
—Dr. S. Radhakrishnan, Former President of India.

6. *Report of the Committee on Emotional Integration*, op. cit., p. 23.

निभाते हैं, चाहे उसके लिये राष्ट्रीय हित की बलि ही क्यों न चढ़ा देनी हो। इसीलिये वे अपने प्रांत के आर्थिक, सामाजिक, सांस्कृतिक व राजनीतिक हितों की अधिकतम पूर्ति चाहते हैं और उसके लिये आवश्यक कदम उठाते हैं। प्रांत के प्रति इसी उग्र अनुराग के कारण अपने प्रांत में बसे अन्य प्रांतों के लोगों के साथ अत्यधिक पक्षपातपूर्ण व्यवहार किया जाता है और नौकरी आदि की नियुक्ति तथा राजनीतिक, सामाजिक व आर्थिक सुविधायें प्रदान करने के मामलों में अपने ही प्रांत के लोगों को सर्वोच्च प्राथमिकता दी जाती है। यहां तक कि शिक्षा संस्थाओं या प्रशिक्षण केन्द्रों (Training Centres) में दाखिला (admission) देने के मामले में भी अपने ही प्रांत के लोगों को सर्वोच्च प्राथमिकता प्रदान की जाती है। इससे भी राष्ट्रीय एकता के पनपने में बाधा की सृष्टि होती है।

7. राज्य-स्तरीय राजनीतिक पार्टियाँ व 'सेनायें' (State-Level Political Parties and 'Senas')—भारत अनेक राज्य-स्तरीय राजनीतिक पार्टियों का एक 'असमतल अखाड़ा' है जहाँ कि वे आपस में ही अपनी-अपनी लोकप्रियता को बढ़ाने तथा राजनीतिक सत्ता को हथियाने में ऐसे मस्त हैं कि उन्हें एक सूत्र में बांधना आज असम्भव हो गया है। इनमें से अधिकांश पार्टियाँ धर्म, प्रांत, भाषा आदि के आधार पर अपनी लोकप्रियता को बनाये रखने में सफल हो रही हैं। हिन्दू महासभा, डी० एम० के० आदि पार्टियाँ बृहत्तर राष्ट्रीय दृष्टिकोण को अपनाने में आज भी पूर्णतया सफल नहीं हुई हैं। अतः इनके द्वारा जो प्रचार-कार्य होते हैं वे बहुधा राष्ट्रीय एकता के अनुकूल नहीं भी हो सकते हैं। पर इससे भी अधिक क्षति राजनीतिक सेनाओं के द्वारा की जाती है। शिव सेना, नक्साल आदि का उद्देश्य कितना ही ऊँचा क्यों न हो, फिर भी उनके क्रियाकलापों के प्रति पूर्ण विश्वास सभी भारतवासियों को आज भी नहीं है। इससे एकता का वातावरण पनपने में बाधा उत्पन्न होती है।

8. युवा पीढ़ी में निराशा (Frustration among young generation)—पिछले बीस वर्षों में भारत में शिक्षा का अत्यधिक विस्तार हुआ है जिसके फलस्वरूप प्रति वर्ष लाखों की संख्या में शिक्षित युवक-युवतियाँ कॉलेज, मेडिकल कॉलेज, इंजीनियरिंग कॉलेज, प्रशिक्षण केन्द्र आदि से निकल रहे हैं नौकरी पाने का असीम आग्रह लेकर। पर व्यावहारिक क्षेत्र में उन्हें घोर निराशा ही होना पड़ता है क्योंकि नौकरी की सुविधाओं का विकास आज भी इस देश में अत्यन्त अपर्याप्त है। फलतः देश की युवा पीढ़ी बेरोजगारी के कुचक्र में फँसकर निराशा का शिकार बनती जा रही है। जब अपनी ही समस्या को सुलझाने में वह अपने को असमर्थ पाते हैं तो वे राष्ट्र के हित की चिन्ता भला कैसे कर सकते हैं? उनमें निराशा के साथ-साथ अविश्वास की भावना भी पनपती है और वे समाज में जिस वातावरण की सृष्टि करते हैं वह केवल उनके ही जीवन को नहीं अपितु स्कूल, कॉलेज, विश्वविद्यालय आदि में पढ़ते वाले विद्यार्थियों के जीवन को भी धुंधला बना देता है और उनमें अनुशासन-हीनता, समाज-विरोधी क्रियाकलाप व राष्ट्र-विरोधी विचारों को पनपाता है। कुछ लोगों का कहना है कि बंगाल के नक्सलवादियों का एक बड़ा अंग रोजगारविहीन शिक्षित-युवकगण ही हैं जोकि सम्पूर्ण वर्तमान राजनीतिक, सामाजिक व आर्थिक व्यवस्था को घृणा की दृष्टि देखता है और उसी घृणा-भाव को सम्पूर्ण समाज में फैलाकर वर्तमान व्यवस्था को पूर्णतया पलट देना चाहता है। है। यह स्थिति राष्ट्रीय एकता कदापि नहीं ला सकती।

9. दोषपूर्ण शिक्षा व्यवस्था (Defective Educational System)—यह दुःख का विषय है कि स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद इतने वर्ष बीत जाने के बाद भी हम उस शिक्षा व्यवस्था को त्याग नहीं पाये हैं जोकि अंग्रेज शासकों द्वारा हम पर लादी गई थी। आज भी हम सम्पूर्ण देश के लिये भारतीय पृष्ठभूमि व संस्कृति पर आधारित एक सामान्य शिक्षा व्यवस्था को विकसित नहीं कर पाये हैं, आज भी पाश्चात्य साहित्य व संस्कृति का अध्ययन हमारे लिये गौरव का विषय बना हुआ है, आज भी 'शिक्षक दिवस' मनाने का ढोंग रचते हुए शिक्षकों की समस्त समस्याओं के प्रति हम आँख मूंदे हुए हैं। ऐसी अवस्था में शिक्षित 'प्राणियों' की संख्या तो बढ़ सकती है और बढ़ी भी है, पर शिक्षित 'भारतवासियों' की संख्या शायद घटती ही रही है। वर्तमान शिक्षा ने लोगों को घोर स्वार्थी बना दिया है। शिक्षक, विद्यार्थी, व्यापारी, उद्योगपति, राजनीतिज्ञ, नेता, समाजसुधारक सब अपना-अपना राग अलाप रहे हैं और कोई भी अपने स्वर को 'एकतारा' में बाँधने के प्रति प्रयत्नशील नहीं है। ऐसी स्थिति में राष्ट्रीय एकता कैसे सम्भव हो सकती है जबकि स्वयं हमारी शिक्षा व्यवस्था में हमें भारतीय समाज व संस्कृति की समान (common) बातें और एकता के सूत्रों से परिचित होने का अवसर नहीं मिलता है।

10. आर्थिक विषमता एवं निर्धनता (Economic disparity and poverty) — राष्ट्रीय एकीकरण के मार्ग में एक बहुत बड़ी बाधा देश की भारी निर्धनता एवं आर्थिक असमानता है। जो अधिक निर्धन या अभावग्रस्त हैं, जिन्हें दिन-भर मेहनत करने पर पेट-भर भोजन नहीं मिलता वे यदि महलों में ऐश व आराम के सब साधनों के साथ मौज करने वालों के प्रति या मेहनतकश सर्वहारा वर्ग का खून चूसने या आर्थिक शोषण करने वाले शोषक वर्ग (पूँजीपति वर्ग) के प्रति ईर्ष्या-द्वेष का भाव रखें एवं अपने न्यायोचित हिस्से पर अधिकार जमाने के लिये वर्ग-संघर्ष की स्थिति पर उतर आयें तो उसे अस्वाभाविक नहीं कहा जा सकता। इस प्रकार आर्थिक विषमता ने वर्ग-संघर्ष की स्थिति को जन्म दिया है और वर्ग-संघर्ष की स्थिति राष्ट्रीय एकता के लिये घातक है। इस आर्थिक विषमता का इस देश में एक अन्य स्वरूप यह है कि यहाँ कुछ राज्य आर्थिक दृष्टि से समृद्ध हैं तो कुछ राज्य पिछड़े हुए हैं। यहाँ तक कि एक ही राज्य के अलग-अलग भाग में समृद्धता और पिछड़ेपन की स्थिति मौजूद है। अतः राष्ट्रीय एकता का सपना भला कौन देखे? इतना ही नहीं, आज भी देश में लाखों व्यक्ति बेकार हैं, जिनको कि दिन में पेट-भर भोजन नहीं मिलता है। दूसरी ओर कुछ व्यक्ति ऐसे भी हैं जिनको कि लाखों रुपयों की आय होती है; घन उनके पास बेकार ही तिजोरियों में पड़ा रहता है। अमीर-गरीब का यह अन्तर दिनों-दिन बढ़ता ही जा रहा है। समाजवादी समाज के उद्देश्यों की प्राप्ति की घोषणा के उपरान्त भी और पाँच पंचवर्षीय योजनाओं के बाद भी देश की आर्थिक प्रगति बहुत कम हुई है, और जो हुई भी है उसने अमीर व गरीब के अन्तर को बढ़ाया ही है, घटाया नहीं। निश्चय ही यह निर्धनता व आर्थिक असमानता समाज में असन्तोष को जन्म देती है। यह असन्तोष समाज व सामाजिक व्यवस्था एवं शासन, सभी के प्रति अविश्वास के भाव में वृद्धि करता है। इससे हिसात्मक प्रवृत्तियों को बल मिलता है। साथ ही, असन्तुष्ट व्यक्ति जीने और सन्तोष प्राप्त करने की आशा में किसी भी आश्रय का सहारा लेने के लिये तत्पर रहता है, चाहे. यह आश्रय भाषा, जाति या धर्म के विकृत रूप में ही क्यों न मिले।

11. प्रेस की गलत नीति (Wrong policy of Press)—देश के अनेक समाचारपत्रों ने भी राष्ट्रीय एकता के महत्वपूर्ण उद्देश्य को भुला दिया है। और मजे की बात तो यह है कि इन्हीं पत्र-पत्रिकाओं को अनेक बड़े-बड़े व्यक्तियों का आशीर्वाद प्राप्त है। अनेक पत्र पूँजीपतियों के हाथ में एक खिलौना हैं। अनेक समाचारपत्र तो खुले-आम जातिवाद, सम्प्रदायवाद, धर्म व क्षेत्रीय भावना को उभारते रहते हैं। इस प्रकार की भावना को उभारकर अपना स्वार्थ सिद्ध करना इस पत्र-पत्रिकाओं का उद्देश्य होता है। ऐसी स्थिति में राष्ट्रीय एकीकरण कठिन दीखता है।

12. अल्पसंख्यकों में असुरक्षा की भावना (Sense of insecurity among minorities)—आज देश में राष्ट्रीय एकीकरण के विकास में जो तत्व बाधक हैं उनमें अल्पसंख्यक समुदायों में पाई जाने वाली असुरक्षा की भावना भी उल्लेखनीय है। आजादी के तीस वर्ष बाद भी देश के लगभग सभी भागों से हरिजनों पर जुल्म होने, देहातों में सामाजिक तनाव के निरन्तर बढ़ने तथा भूमिहीन हरिजन मजदूरों और सम्पन्न वर्गों के बीच खुली भिड़न्तों की खबरें बराबर मिलती रहती हैं। बिहार का बेलछी गाँव हरिजनों पर अत्याचारों और गाँवों में सशक्त वर्गों की बढ़ती हुई हिंसा का प्रतीक बन गया है। इस गाँव में ही 21 मई 1977 को 11 हरिजनों की गोली दागकर हत्या कर दी गई और उनको जला दिया गया। मध्य प्रदेश के रतलाम जिले के एक गाँव में गत 4 अगस्त 1977 को जमीन को लेकर हुए संघर्ष में 4 हरिजनों को भीत के घाट उतार दिया गया। महाराष्ट्र के सांगली जिले के एक गाँव में एक मामूली चोरी के सन्देह में तीन हरिजनों को बड़ी बेरहमी से पीटा गया, जिसमें एक की मृत्यु हो गई तो उसकी लाश एक कुएँ में डाल दी गई। इसी प्रकार की घटनाएँ उत्तर प्रदेश, गुजरात आदि अन्य राज्यों में भी घटित हुई हैं। ये बेचारे हरिजन इन अत्याचारों को आखिर कब तक सहें, किससे कहें? समस्या की गम्भीरता और विकटता पर लोकनायक जयप्रकाश नारायण जी ने चिन्ता व्यक्त की है और चेतावनी दी है कि शोषण और उत्पीड़न का यह कुचक्र वर्ग-संघर्ष को जन्म देगा। फलतः राष्ट्रीय एकीकरण व प्रगति की सम्भावनाएँ स्वतः ही घटेंगी। समस्या केवल हरिजनों की ही नहीं है, अन्य अल्पसंख्यक समुदायों की भी है। महाराष्ट्र में गुजरातियों का विरोध हुआ है, पश्चिमी बंगाल और तमिलनाडु में मारवाड़ियों का विरोध किया गया। महाराष्ट्र में शिव सेना और असम में लच्छित सेना जैसे उग्र संगठनों का गठन करके राज्य के इन अल्पसंख्यक समुदायों के विरुद्ध हिंसक व उत्तेजनात्मक कार्रवाइयाँ की गई। ऐसी संकीर्ण भावनाएँ व क्रियाकलाप निश्चय ही राष्ट्रीय एकीकरण या एकात्मकता को उत्पन्न नहीं कर सकते।

राष्ट्रीय एकीकरण के तीन महत्वपूर्ण पहलू

(Three Aspects of National Integration)

उपरोक्त विवेचना के आधार पर अब हम राष्ट्रीय एकीकरण के तीन महत्वपूर्ण पहलुओं की विवेचना कुछ विस्तारपूर्वक कर सकते हैं—

अल्पसंख्यक वर्गों का एकीकरण

(Integration of the Minorities)

भारतीय जनसंख्या में हिन्दू बहुसंख्यक वर्ग है, क्योंकि सन् 1971 की जनगणना के अनुसार देश की कुल जनसंख्या का 82.72 प्रतिशत लोग (अर्थात् प्रायः

45-34 करोड़) हिन्दू हैं। पर इनके अलावा भी इस देश में कुछ अल्पसंख्यक वर्गों जैसे मुसलमान, ईसाई, पारसी आदि का भी निवास है। इन अल्पसंख्यक वर्गों में मुसलमानों की जनसंख्या सबसे अधिक (प्रायः 6-14 करोड़) है। अर्थात् भारत की कुल जनसंख्या का 11-21 प्रतिशत लोग मुसलमान हैं, जबकि ईसाईयों का प्रतिशत 2-60 (प्रायः 1-43 करोड़ लोग) है। समस्या यह है कि इन अल्पसंख्यक वर्गों का बहु-इस कारण बनी हुई है क्योंकि इन सभी वर्गों में आचार-व्यवहार, संस्कार, धर्म, सामाजिक मूल्य आदि के आधार पर पर्याप्त भिन्नताएँ हैं। उदाहरणार्थ, हिन्दू, मुसलमान तथा ईसाई धर्म व धार्मिक आचारों के आधार पर एक-दूसरे से पर्याप्त भिन्न हैं। अतः उन्हें एक सूत्र में बांधना अगर असम्भव नहीं तो कठिन तो अवश्य ही है। इसीलिये ये अल्पसंख्यक वर्ग भारतीय समाज के अभिन्न अंग होते हुये भी अपने को कुछ अलग-अलग महसूस करते रहे हैं। फलतः वे समय-समय पर अपने-अपने वर्ग के लिये पृथक् सुविधाओं व सुरक्षाओं की मांग करते रहे हैं। वे चाहते रहे हैं कि विधान-सभा, लोकसभा तथा सावजनिक नौकरियों में उनके लिये स्थान सुरक्षित रहें। यह कहने की आवश्यकता नहीं है कि बहुसंख्यक वर्ग द्वारा अल्पसंख्यक वर्गों को समुचित संरक्षण देने पर ही उनमें विश्वास की भावना को पनपाया जा सकता है और इस विश्वास के बिना राष्ट्रीय एकीकरण का सपना कभी देखा नहीं जा सकता। इसके लिये यह आवश्यक है कि अल्पसंख्यक वर्गों के प्रति सामाजिक या सरकारी तौर पर किसी भी प्रकार की भेदभाव की नीति न अपनायी जाये। उनके पिछड़ेपन को दूर करने के लिये विशेष प्रयत्न किये जायें तथा उन्हें इस बात का अधिक-से-अधिक अवसर प्रदान किया जाये कि वे राष्ट्र के मूलधारा-प्रवाह के साथ उचित ताल-मेल रख सकें और इस रूप में राष्ट्र के विकास में सक्रिय योगदान कर सकें। उनमें यह भावना भर देने की आवश्यकता है कि वे भी भारतीय सामाजिक व राष्ट्रीय जीवन के अभिन्न व अत्यावश्यक अंग हैं, अतः उन्हें भी भारतीय समाज व राष्ट्र के प्रति न केवल वफादार रहना है अपितु उचित कर्तव्य-कर्मों को भी अपना धर्म समझकर करना होगा। स्मरण रहे कि अल्पसंख्यक वर्गों का एकीकरण कोई एकतरफा प्रक्रिया नहीं है कि केवल बहुसंख्यक वर्ग ही उनके प्रति न्यायोचित व्यवहार करें और उनकी भावनाओं का आदर करें, अपितु यह भी आवश्यक है कि अल्पसंख्यक वर्ग भी समाज व राष्ट्र के प्रति अपने कर्तव्यों को समझें और उन्हें निष्ठापूर्वक निभायें एवं ऐसा कोई कदम न उठायें जिससे कि वृहत्तर सामाजिक व राष्ट्रीय हितों को ठेस पहुंचे। वे भारत के हैं और भारत उनका—इस भावना के जागृत होने पर ही अल्पसंख्यक वर्गों के एकीकरण की प्रक्रिया द्रुत व सरल हो जायेगी।

धार्मिक एकीकरण

(Religious Integration)

भारत धर्मों का देश है। धार्मिक विविधताओं की चर्चा करते हुए हमने पहले ही इस सत्य को स्पष्ट किया है कि हिन्दू धर्म के अगणित स्वरूपों और सम्प्रदायों के अतिरिक्त इस देश में बौद्ध, जैन, सिक्ख, इस्लाम, ईसाई आदि-आदि अनेक धर्मों का प्रचलन है। इनमें सर्वाधिक संख्या हिन्दू धर्म के मानने वालों की है (45-34 करोड़)। उसके बाद क्रमशः इस्लाम (6-14 करोड़), ईसाई (1-43 करोड़), सिक्ख (1-04 करोड़), बौद्ध (38-75 लाख) व जैन (26-5 लाख) धर्म को मानने वालों का स्थान

भारत एक धर्मनिरपेक्ष (secular) राज्य है। धर्मनिरपेक्षता का अर्थ धर्म-हीनता नहीं, अपितु गांधीजी के अनुसार 'सर्वधर्म-समभाव' है। धार्मिक क्षेत्र में इसी समभाव को विकसित करने की आवश्यकता है। जैसाकि पहले ही लिखा है कि गांधीजी की यह इच्छा थी कि इस देश का प्रत्येक नागरिक अपना धर्म पहचाने और दूसरे धर्मों के प्रति सद्भाव और आदर रखे। गांधीजी की यह पक्की धारणा थी कि इस प्रकार के 'सर्वधर्म-समभाव' के द्वारा ही भारत की एकता मजबूत हो सकती है, धर्म-भावना की अवहेलना करके नहीं।

भौगोलिक, प्रजातीय एवं सांस्कृतिक दृष्टि से भारत का उत्तर और दक्षिण एक-दूसरे से अत्यधिक भिन्न है। उत्तरी भारत संसार का सबसे घना बसा क्षेत्र है, और व्यापार-वाणिज्य के दृष्टिकोण से भी समान महत्व का है। यह भारत का वही भाग है जो प्राचीन युग में आर्यावर्त के नाम से विख्यात था, जो भारतीय सभ्यता व संस्कृति का उद्गम-स्थल है, जहाँ आर्य लोगों के सदस्य निवास करते हैं और जहाँ मुख्यतः इण्डो-आर्यन भाषा बोली जाती है। दूसरे छोर पर भारत का दक्षिणी भाग है जो कि वनावट की दृष्टि से भारत का सबसे प्राचीन भाग है। यह भाग भारत की आदि या मूल सभ्यता का आगार है। इस दक्षिण भारत में द्राविडों की सभ्यता,

राष्ट्रीय एकीकरण की समस्याएँ

संस्कृति और भाषायें सर्वोपरि रही हैं। प्राचीन भारतीय संस्कृति के अनेक मौलिक तत्व आज भी इस प्रदेश में विद्यमान हैं। इसीलिये इस प्रदेश के निवासियों के रीति-रिवाज, रहन-सहन, आचार-विचार, वेश-भूषा, सामाजिक व सांस्कृतिक संस्थाएँ उत्तरी भारत के रीति-रिवाज आदि से भिन्न रहे हैं। उत्तर और दक्षिण का सामाजिक एकीकरण आज भी पूर्णतया नहीं हो पाया है। इन दोनों प्रदेशों के बीच पृथक्ता की भावना दो क्षेत्रों में उभरकर सामने आई है—एक तो भाषा के क्षेत्र में और दूसरी राजनीतिक क्षेत्र में। दक्षिण भारत अहिन्दीभाषी प्रदेश है क्योंकि वहाँ द्राविडियन भाषा जैसे कन्नड़, तमिल, तेलगू, मलयालम आदि का प्रचलन है। अतः राष्ट्रभाषा के रूप में हिन्दी का दक्षिणवासियों ने डटकर विरोध किया। उनका कहना था कि उनकी संस्कृति व भावनाओं का अनादर करते हुये उन पर हिन्दी भाषा को जबरदस्ती उनकी इच्छा के विरुद्ध लादा जा रहा है। अतः हिन्दी का विरोध होना ही चाहिये। यह विरोध कभी-कभी तो अपने बड़े ही कटु व उग्र रूप में प्रगट हुये। राजनीतिक क्षेत्र में उत्तर भारत का विरोध दक्षिण भारत के लोगों ने 'उत्तर की तानाशाही' (Dictatorship of the North) का नारा लगाकर किया। उनका कहना था कि वस्तुतः उत्तरी भारत केवल दक्षिण पर ही नहीं अपितु सम्पूर्ण भारत पर राज्य कर रहा है; भारत के अधिकांश राष्ट्रपति उत्तरी भारत के ही रहे एवं सब-के-सब प्रधानमंत्री भी उत्तर भारत के ही निवासी थे या हैं। राजनीतिक तौर पर दक्षिण की अवहेलना का इससे बढ़कर और क्या प्रमाण हो सकता है। इस प्रकार के भ्रान्त तर्कों को प्रस्तुत करके राजनीतिक तौर पर पृथक् व स्वतंत्र राज्य-सत्ता की मांग तक की गई। परन्तु वास्तविक व व्यावहारिक स्तर पर किसी भी प्रकार का मतभेद खोजना मुश्किल है। जब संविधान में हिन्दी को ही राष्ट्रभाषा मान लिया गया है तो हिन्दी का विरोध राष्ट्रहित के प्रतिकूल है। हिन्दी अगर राष्ट्रभाषा न भी हो तो भी हिन्दी सीखना दक्षिणवासियों के लिये किसी भी रूप में अगौरव की बात नहीं है। अधिक-से-अधिक नई भाषा को जानना तो गौरव की बात है। उसी राजनीतिक क्षेत्र में भी दक्षिण की अवहेलना उत्तरी भारत के लोग कर रहे हैं, इसे प्रमाणित नहीं किया जा सकता। असंख्य उच्चतम प्रशासनिक पदों पर दक्षिण के लोग ही काम कर रहे हैं। केन्द्रीय सचिवालय इसका प्रमाण है। अतः उत्तर-दक्षिण का एकीकरण हमारे लिये कोई वास्तविक समस्या नहीं होनी चाहिये और न ही है।

राष्ट्रीय एकीकरण को प्रभावशाली बनाने के लिये सुझाव

(Suggestions formaking National Integration Effective)

विश्वविद्यालय अनुदान आयोग (University Grants Commission) द्वारा आयोजित 'सेमिनार' में राष्ट्रीय एकीकरण को प्रभावशाली बनाने के सन्दर्भ में प्रस्तुत सिफारिशों के सारांश को इस प्रकार प्रस्तुत किया जा सकता है।¹

(1) समूहों में सामाजिक एवं आर्थिक असमानता को भावात्मक एकता के विरोध का एक प्रमुख कारण माना गया। अतः इस आर्थिक असमानता को तुरन्त दूर करने के लिये राष्ट्र की आर्थिक प्रगति होनी आवश्यक है और साथ ही असमा-

7. Report of Seminar on National Integration, University Grants Commission, New Delhi, pp. 102-104.

नता को समाप्त करने के लिये प्रारम्भिक व द्वितीयक शिक्षा को सार्वभौमिक (universal) बनाना होगा।

(2) भारतीय एकता के आवश्यक तत्वों के ज्ञान के लिये सामाजिक व आर्थिक जीवन में भारतीय इतिहास का अध्ययन आवश्यक है। अतः इस सम्बन्ध में विश्वविद्यालयों को विभिन्न समाजशास्त्रीय व मनोवैज्ञानिक शोध-कार्यों का प्रबन्ध करना चाहिये।

(3) भारत की प्रायः प्रत्येक भाषा का एक आयोजित विकास आवश्यक है। इसके लिये पुस्तकों का भारत की प्रत्येक भाषा में अनुवाद करना चाहिये ताकि प्रत्येक व्यक्ति भारत में ही विभिन्नता में एकता के तत्वों का अध्ययन कर सके। समूहों में प्रत्येक भाषा की सबसे अच्छी कम-से-कम 100 पुस्तकों को प्रत्येक भाषा में अनुवाद करने की शिफारिश की। इस सम्बन्ध में विश्वविद्यालय अनुदान आयोग, राष्ट्रीय पुस्तक ट्रस्ट व साहित्य अकादमी का अपना एक अलग महत्त्व है।

(4) विश्वविद्यालयों को अनुवादकों को प्रशिक्षण देने की व्यवस्था करनी चाहिये। एक भाषा-भाषी क्षेत्र के विद्यार्थी को दूसरे भाषा-भाषी क्षेत्र में भेजकर वहाँ अनुवाद की शिक्षा दी जा सकती है। विश्वविद्यालय अनुदान आयोग इस सम्बन्ध में छात्रवृत्तियाँ भी दे सकता है।

(5) विभिन्न राज्यों में पाठ्य-पुस्तकें चुनते समय इस बात का पूर्ण ध्यान रखा जाय कि उन पुस्तकों से राष्ट्रीय एकता की भावना को प्रोत्साहन मिले, न कि विरोधी तत्वों को। इसके लिये एक राष्ट्रीय सलाहकार बोर्ड की स्थापना की जाये, जिसका कार्य पाठ्य-पुस्तक निर्धारण करना एवं उनमें संशोधन करना हो।

(6) विभिन्न भाषाओं के व्याकरण को सरल करने के यथासम्भव प्रयत्न होने चाहिये ताकि नई भाषा को सीखना सरल हो जाये। हो सके तो एक सामान्य शब्दावली का निर्माण कर लिया जाय।

(7) ऐसे साहित्य का सृजन किया जाये जिसमें कि भारत के प्रत्येक भाग के जीवन के तरीके (way of life) का वर्णन हो। अतः द्विभाषा, त्रिभाषा और यदि हो सके तो बहुभाषा शब्दकोषों का निर्माण किया जाय ताकि प्रत्येक राज्य के साहित्य का अध्ययन प्रत्येक व्यक्ति कर सके। विश्वविद्यालय ऐसे शब्दकोषों के निर्माण में सहायक हो सकते हैं।

(8) प्रत्येक विश्वविद्यालय को क्षेत्रीय भाषा के अतिरिक्त कम-से-कम एक अन्य भारतीय भाषा और यदि हो सके तो अधिक-से-अधिक भारतीय भाषाओं के अध्ययन का प्रबन्ध करना चाहिये।

(9) विश्वविद्यालयों को व्याख्यानमालाएँ (lecture series), सायं कक्षाये (evening courses) व अन्य सामाजिक सेवा कार्यक्रम आयोजित करने चाहिये ताकि जनता व विश्वविद्यालय निकट आएँ। सरकार को भी वित्तीय सहायता देनी चाहिये।

(10) जनता में एकता की भावना आदि का प्रसार रेडियो, सिनेमा व अन्य साधनों से किया जाना चाहिये। लेखक भी इस सम्बन्ध में अपना सहयोग प्रदान कर सकते हैं।

(11) शैक्षिक संस्थाओं में महत्वपूर्ण उत्सव राष्ट्रीय गान आदि से शुरू होने चाहिये ।

(12) साम्प्रदायिकता, जातिवाद, भाषावाद आदि को विश्वविद्यालयों व कॉलेजों में निरुत्साहित किया जाना चाहिये । होस्टल व भोजनालय में जाति का आधार समाप्त करना चाहिये । विद्यार्थियों व अध्यापकों का अन्तर्राज्यीय व अन्तर-विश्वविद्यालयीय आदान-प्रदान होना चाहिये । साथ ही, विद्यार्थियों व अध्यापकों को दूसरे विश्वविद्यालयों में जाने के लिये प्रोत्साहन देना चाहिये । इसके अतिरिक्त ऐसी संस्थाओं का निर्माण करना चाहिये, जो कि जातिवाद, धर्मवाद या भाषावाद की जंजीरों को तोड़ें ।

(13) विश्वविद्यालयों के विद्यार्थियों व अध्यापकों को वैषयिकता (Objectivity), बुद्धिवाद व वैज्ञानिक मनोवृत्ति का विकास करना चाहिये ताकि वह अन्ध-विश्वासों, असहनीयता (intolerance) एवं सुधार-विरोधता (obscurantism) आदि तत्वों का विरोध कर सकें । यह प्रजातन्त्रीय जीवन व राष्ट्रीय एकता के लिये जनमत पाने में सहायक होगा ।

इसके अतिरिक्त राष्ट्रीय एकीकरण को प्रोत्साहित करने के लिये कुछ अन्य सुझाव इस प्रकार हैं—

(क) समाज के सब वर्गों का राज-व्यवस्था में प्रवेश हो—प्रो० रजनी कोठारी का मत है कि “भारत जैसे विशाल देश में, जहाँ इतने विविध प्रकार के लोग रहते हैं, एकता की स्थापना इसी से हो सकती है कि सब तत्वों को राजनीतिक सत्ता व अधिकार में भाग दिया जाय और सबको साथ लेकर चला जाये । राजनीति की इस रचनात्मक भूमिका से ही एकीकरण की प्रवृत्तियों को बल मिलता है ।” यदि सत्ता और राजनीति में एक ही वर्ग या कुछ वर्गों का एकाधिकार होगा तो निश्चय ही अन्य वर्गों में निराशा और अलगाव की भावना उत्पन्न होगी ।

(ख) सहकारी व सहयोगी संघवाद का निर्माण—भारत एकाधिक राज्यों का एक संघ है । राष्ट्रीय एकीकरण के विकास के लिये इन राज्यों में संघर्षात्मक और प्रतिस्पर्धात्मक भावनाओं को समाप्त कर सहकारी व सहयोगी संघवाद के भव्य भवन का निर्माण करना चाहिये । राज्यों को नदी, पानी, सीमा, वित्तीय साधनों तथा राष्ट्रीय सम्पदा के वितरण को लेकर उग्र आन्दोलनात्मक रुख नहीं अपनाना चाहिये ।

(ग) आर्थिक विषमता को दूर करना—देश में व्याप्त आर्थिक विषमता को समाप्त करने के लिये यथाशीघ्र प्रयास किया जाना चाहिये । सभी प्रकार के विशेषाधिकार वर्गों का अन्त हो तथा अमीर-गरीब में बढ़ती हुई खाई को पाटकर यथाशीघ्र आर्थिक असमानताओं को दूर किया जाय । पिछड़े हुये राज्यों के आर्थिक विकास पर विशेष ध्यान देना जरूरी है । तेलंगाना के आन्दोलन से हमें यह सीख ग्रहण करनी चाहिये कि एक राज्य के भीतर भी अगर किसी भाग या क्षेत्र की पूर्णतया उपेक्षा की गई तो वहाँ के लोगों में भी आन्दोलन व अलगाव की प्रवृत्ति अवश्य ही पनपेगी ।

(घ) अन्तर्राज्यीय परिषद् की स्थापना—संविधान के अनुच्छेद 263 के अन्तर्गत राज्यों के पारस्परिक सहयोग के लिये एक अन्तर्राज्यीय परिषद् का प्रावधान

किया गया है। यह परिषद् राज्यों के बीच उत्पन्न विवादों का परीक्षण कर उन पर समुचित परामर्श देगी और आपसी तनाव को घटायेगी।

(ड) विघटनकारी तत्त्वों पर प्रतिबन्ध—आज भी कई संगठन जनता में विघटनकारी प्रवृत्तियाँ उत्पन्न करते हैं एवं हिंसात्मक आन्दोलन का सहारा लेकर देश में अराजकता फैलाते हैं। ऐसे संगठनों पर यथाशीघ्र नियन्त्रण पाने की जरूरत है।

(च) सशक्त-लोकमत का निर्माण—आकाशवाणी, समाचारपत्रों, चलचित्रों, प्रदर्शनियों तथा पत्र-पत्रिकाओं के माध्यम से विघटनकारी तत्त्वों का पर्दाफाश किया जाना चाहिये तथा भारतीय राष्ट्र की एकता के अनुकूल सशक्त जनमत का निर्माण किया जाना चाहिये।

(छ) सांस्कृतिक आदान-प्रदान—विभिन्न प्रदेशों व भाषायी राज्यों के बीच अधिकाधिक मात्रा में सांस्कृतिक आदान-प्रदान होना चाहिये ताकि भारत के सभी राज्य एक दूसरे के अधिक निकट आ सकें और एक दूसरे को अधिक अच्छी तरह पहचान सकें। इससे पारस्परिक तनाव खत्म होगा और एकता बढ़ेगी।

(ज) राजनीतिक पार्टियों की रचनात्मक भूमिका—देश में राष्ट्रीय एकीकरण तब तक वास्तविक अर्थ में सम्भव न होगा जब तक कि यहाँ कि सभी अखिल भारतीय व राज्यस्तरीय राजनीतिक पार्टियाँ अपने दलगत स्वार्थों को राष्ट्रीय हितों की तुलना में अधिक महत्व देना छोड़ न देंगी। इन्हें राष्ट्रीय एकता के लिये रचनात्मक भूमिका अदा करनी ही होगी।

(झ) भाषा और धर्म के मामलों में सहिष्णुता—प्रो० एम० एन० श्रीनिवास का स्पष्ट विचार है कि “पूरे देश और सभी क्षेत्रों में त्वरित आर्थिक विकास, भाषा और धर्म के मामलों में सच्चे अर्थों में सहिष्णुता तथा जातिवाद को समाप्त करने की सुझाव देना यदि की गई तो भारत सशक्त व संगठित देश के रूप में उठ खड़ा होगा।” वस्तुतः इस देश में अधिकांश झगड़े और तनाव भाषा और धर्म को ही लेकर हुये हैं। अतः भाषागत एवं धर्मगत एकता बनाये रखने का प्रयास किया जाना चाहिये।

राष्ट्रीय एकीकरण की दिशा में किये गये सरकारी प्रयत्न (Governmental Efforts for National Integration)

डॉ० लक्ष्मीमल्ल सिंघवी के मतानुसार, “राष्ट्रवाद केवल एक राजनीतिक रुढ़िवादी विचारधारा नहीं है। हमें इसे लोकतन्त्र की व्यापक भावभूमि पर सामाजिक और आर्थिक न्याय का रूप देना होगा और यही वह वास्तविक नींव है जिस पर राष्ट्रीय एकता का भव्य भवन खड़ा किया जा सकता है।” भारत में राष्ट्रीय एकता के इसी भव्य भवन के निर्माण हेतु वर्षों से जो सरकारी और गैर सरकारी प्रयास किये गये हैं, वे इस प्रकार हैं—

1. राष्ट्रीय एकीकरण पर संगोष्ठी, 1958—(Seminar on National Integration)—अप्रैल 16 व 17 सन् 1958 को विज्ञान भवन दिल्ली में श्री देशमुख (C. D. Deshmukh) की अध्यक्षता में विश्वविद्यालय अनुदान आयोग (University Grants Commission) द्वारा एक संगोष्ठी (Seminar) का आयोजन किया गया। प्रमुख विश्वविद्यालयों के प्रतिनिधियों के अतिरिक्त अन्य अनेक संस्थाओं के प्रतिनिधियों एवं विद्वानों ने भी इसमें भाग लिया। इस संगोष्ठी

में मुख्यतः तीन विषयों पर अपना ध्यान केन्द्रित कर उन पर विचार किया गया— प्रथम राष्ट्रीय एकीकरण के लिये आर्थिक एवं सामाजिक उत्पादन; द्वितीय राष्ट्रीय एकीकरण में शिक्षा संस्थाओं का योग एवं तृतीय, राष्ट्रीय एकीकरण के सम्पादन में साहित्य और अन्य सांस्कृतिक माध्यमों का उपयोग। जैसाकि हम पहले विस्तार-पूर्वक विवेचना कर चुके हैं, इस संगोष्ठी में राष्ट्रीय एकीकरण के विकास के लिये सभी राष्ट्रीय भाषाओं की उन्नति, एक प्रदेश में दूसरी प्रादेशिक भाषाओं के अध्ययन को प्रोत्साहन, शिक्षा संस्थाओं में भाषा, सम्प्रदाय और जाति-पाँति के भेदभाव के उन्मूलन इत्यादि पर विशेष बल दिया गया।

2. राष्ट्रीय एकीकरण समिति, 1961—(National Integration Committee, 1961)—जवलपुर में भीषण साम्प्रदायिक दंगों के परिणामों को देखते हुये अखिल भारतीय कांग्रेस के सन् 1960 के अधिवेशन में श्रीमती इन्दिरा गांधी की अध्यक्षता में एक 'राष्ट्रीय एकता समिति' की स्थापना की गई। 13 मई सन् 1961 को इस समिति ने कांग्रेस कार्य-समिति को अपनी रिपोर्ट पेश की। इस रिपोर्ट में कहा गया कि वास्तव में राष्ट्रीय एकता भारत के लिये मुख्य प्रश्न है, यद्यपि अब तक इस समस्या की अत्यधिक उपेक्षा की गई है। इस रिपोर्ट में कुछ सुझाव भी पेश किये गये जोकि निम्नवत् हैं—

(अ) शिक्षा को राष्ट्रीय एकता का एक महत्वपूर्ण आधार माना जाना चाहिये। अतः विशेषतः प्रारम्भिक शिक्षा पर अत्यधिक जोर देना चाहिये। सरकार को शिक्षा के प्रति अधिक विशाल एवं गम्भीर कदम उठाने चाहियें। शिक्षा का उद्देश्य केवल 'धन कमाना' ही नहीं बल्कि देश के विभिन्न पहलुओं का ज्ञान होना चाहिये। और इन सबके लिये रिपोर्ट में कहा गया, कि पाठ्य-पुस्तकों के पाठ्य-क्रमों में संशोधन करना होगा। राष्ट्रीय वीरों के चरित्र-चित्रण वाली पुस्तकें हों, राज्यों में सांस्कृतिक संस्थायें राष्ट्रीय एकता की प्रेरणा दें—इत्यादि।

(ब) व्यक्ति एवं सम्पत्ति की सुरक्षा के महत्व को भी इस रिपोर्ट में काफी मान्यता प्रदान की गई। इसके लिये तुरन्त ही सतर्कता की सिफारिश की गई। प्रत्येक स्थान पर जहाँ झगड़े होने की सम्भावना हो, स्थायी निरीक्षक समितियाँ नियुक्त की जानी चाहिएँ।

(स) समिति का मत था कि भारत के संविधान के अनुसार सभी व्यक्तियों को समानता का अधिकार प्राप्त है, तथा राज्य, धर्म, जाति व लिंग के आधार पर कोई भेदभाव नहीं होना चाहिये। परन्तु वास्तव में यह सब बातें नहीं हो पा रही हैं। अतः पिछड़ी जातियों का स्तर ऊँचा करना होगा। इसके लिये नौकरियों में भी उनके स्थान सुरक्षित होने चाहियें। लोक-सेवा-आयोग आदि संस्थाओं का संगठन इस प्रकार किया जाए कि जनता में उनके प्रति आस्था बनी रहे। देश की आर्थिक प्रगति की भी सिफारिश की गयी।

(द) समिति ने इस सम्बन्ध में कांग्रेस के योग को अत्यधिक महत्व दिया। कांग्रेस को चाहिये कि राज्यों के विधानमण्डलों तथा केन्द्रीय संसद् में अल्पसंख्यकों का पर्याप्त प्रतिनिधित्व रखने का प्रयत्न करे, साथ ही स्थानीय कांग्रेस समिति में उनका पर्याप्त प्रतिनिधित्व हो। इतना ही नहीं, कांग्रेस को तो राष्ट्रीय दृष्टिकोण के निर्माण के लिए अभियान प्रारम्भ करना चाहिये।

3. मुख्यमन्त्री सम्मेलन, 1961 (Chief Ministers' Conference, 1961)—10-12 अगस्त सन् 1961 को 'मुख्यमन्त्री सम्मेलन' में राष्ट्रीयता एकता के

महत्वपूर्ण पहलू—भाषा समस्या—पर विचार किया गया, तथा अनेक महत्वपूर्ण निर्णय लिये गये। 'मुख्यमन्त्री सम्मेलन' में किये गये निर्णय के अनुसार तीन-भाषा-सूत्र का निर्माण किया गया, जिसके अनुसार उच्चतर माध्यमिक कक्षाओं में शिक्षा की व्यवस्था भाषा की दृष्टि से इस प्रकार होनी चाहिये—

(अ) क्षेत्रीय भाषा तथा मातृभाषा में—जबकि मातृभाषा क्षेत्रीय भाषा से भिन्न हो।

(ब) हिन्दी तथा हिन्दी सीखने वाले क्षेत्रों में कोई अन्य भारतीय भाषा।

(स) अंग्रेजी अथवा कोई आधुनिक योरोपीय भाषा।

यद्यपि हिन्दी के प्रचार के लिये काफी प्रयत्न किया गया, फिर भी जब तक हिन्दी का अखिल भारतीय भाषा के रूप में विकास नहीं हो जाता, अंग्रेजी ही शासकीय भाषा रहेगी। विश्वविद्यालयों में भी अंग्रेजी व हिन्दी दोनों ही भाषाओं में शिक्षा प्रदान करने की सिफारिश की गई। इस सम्मेलन ने केन्द्रीय शासन के उस निर्णय का, जिसके अनुसार अंग्रेजी को अनिश्चित काल तक भारत की सह-शासकीय भाषा के रूप में जारी रखा जाए, स्वागत किया; यद्यपि डॉ० सम्पूर्णानन्द ने इसका तीव्र विरोध किया। उनके शब्दों में, “अंग्रेजी को इस प्रकार अनिश्चित काल तक सर पर डोना, राष्ट्रीय सम्मान की दृष्टि से डूब मरने की बात है।”

सम्मेलन ने 'राष्ट्रीय एकता' की समस्या को अत्यधिक महत्वपूर्ण बताकर एक राष्ट्रीय स्तर पर सम्मेलन बुलाने की भी सिफारिश की जिसमें मुख्यमन्त्रियों के अतिरिक्त केन्द्रीय मन्त्रियों, शिक्षाविदों व अन्य महत्वपूर्ण व्यक्तियों को भी आमन्त्रित करने को कहा गया।

4. राष्ट्रीय एकीकरण सम्मेलन, 1962 (National Integration Conference, 1962)—प्रधानमन्त्री पं० जवाहरलाल नेहरू के संयोजन में दिल्ली में, विज्ञान भवन में, 28 सितम्बर से 1 अक्टूबर सन् 1962 तक 'राष्ट्रीय एकीकरण सम्मेलन' बुलाया गया। इस सम्मेलन में 130 व्यक्तियों ने भाग लिया, जिनमें सभी क्षेत्रों के व्यक्ति थे। डॉ० राधाकृष्णन् ने सम्मेलन का उद्घाटन-समारोह सम्पन्न किया। सम्मेलन में कांग्रेस की 'राष्ट्रीय एकीकरण समिति' व 'मुख्यमन्त्री सम्मेलन' के सुझावों का अध्ययन किया गया। साथ ही 1958 में विश्वविद्यालय अनुदान आयोग द्वारा आयोजित राष्ट्रीय एकीकरण के विषय पर हुई संगोष्ठी पर भी विचार किया गया।

सम्मेलन में राष्ट्रीय एकता पर महत्व दशति हुए कहा गया कि भारत विभिन्नता में एकता का देश है, जिसमें कि सांस्कृतिक एकता सबको बाँधे है। सम्मेलन में विघटनकारी तत्वों की निन्दा की गयी। शिक्षा के महत्व को स्वीकार करते हुए 'मुख्यमन्त्री सम्मेलन' द्वारा प्रस्तावित तीन-भाषा-सूत्र का समर्थन किया गया। साथ ही, शिक्षा-नीति में क्रान्तिकारी सुधारों को तुरन्त लागू करने की माँग की गई। अध्यापकों का भी एक विशेष कर्तव्य स्वीकार किया गया—अध्यापकों को चाहिये कि वे रुढ़िवाद एवं असहिष्णुता की भावना को कुचलकर वैज्ञानिक पद्धति पर राष्ट्रीयता व उद्देग्यमूलकता की भावना का निर्माण करें।

राष्ट्रीयता की भावना के प्रसार के लिये सम्मेलन ने राजनीतिक दलों, समाचार-पत्रों, विद्यार्थियों तथा जनता के लिये एक व्यवहार-संहिता का निर्धारण आवश्यक समझा। राजनीतिक दलों के लिये व्यवहार-संहिता इस प्रकार है—

(1) कोई भी राजनीतिक दल ऐसे कार्य नहीं करेगा, जिससे विभिन्न धर्मों, जातियों, सम्प्रदायों और भाषा-भाषियों में घृणा फैले।

(2) प्रत्येक राजनीतिक दल कोई भी आन्दोलन चलाते समय इस बात का आश्वासन दे, कि आन्दोलन किसी भी हिंसात्मक घटना को प्रोत्साहन नहीं देगा। और हिंसात्मक घटना होने पर, वही राजनीतिक दल उत्तरदायी होगा।

(3) कोई भी राजनीतिक दल ऐसे जातिगत, भाषागत, साम्प्रदायिक या क्षेत्रीय हित के लिये आन्दोलन नहीं करेगा, जिससे शान्ति-व्यवस्था भंग होने या विभिन्न सम्प्रदायों में वैमनस्य फैलने की सम्भावना हो।

(4) राजनीतिक दल दूसरे राजनीतिक दलों द्वारा आयोजित सम्मेलनों व सभाओं को भंग करने का प्रयास नहीं करेंगे।

(5) यद्यपि शासन का कार्य शान्ति की व्यवस्था करना है, किन्तु उसको इस बात का ध्यान रखना है, कि राजनीतिक दलों एवं नागरिकों की स्वतन्त्रता में हस्तक्षेप न हो।

(6) राजनीतिक शक्तियों का उपयोग किसी दल-विशेष के व्यक्तियों के लाभार्थ अथवा दल-विशेष के व्यक्तियों की हानि के लिये नहीं किया जायेगा।

इतना ही नहीं, सम्मेलन में राष्ट्रीय एकता, आर्थिक प्रगति व समानता के महत्व को भी स्वीकार किया गया। अतः पिछड़ी जातियों को अत्यधिक सुविधायें, आर्थिक शक्तियों का विकेन्द्रीकरण, व ग्रामीण क्षेत्रों का विकास किया जाना चाहिये।

5. राष्ट्रीय एकता परिषद्, 1968 (National Integration Council, 1968)-20, 21, तथा 22 जून 1968 को श्रीनगर में हुए राष्ट्रीय एकता परिषद् के तीन-दिवसीय अधिवेशन में एक घोषणा-पत्र को स्वीकार किया गया था। इस घोषणा-पत्र में भारतीय लोकतन्त्र के धर्मनिरपेक्ष स्वरूप की पुष्टि की गई है और कहा गया है कि विविधता में एकता तथा धर्मों के मामले में पूर्ण स्वतन्त्रता और भाईचारा देश की राष्ट्रीय एकता की बुनियादें हैं।

राष्ट्रीय एकता की जड़ों पर कुठाराघात करने वाली साम्प्रदायिकता, क्षेत्रीय संकीर्णता आदि अनेक विघटनकारी प्रवृत्तियों की कड़ी निन्दा करते हुए परिषद् ने उन्हें कड़ाई के साथ कुचलने का संकल्प व्यक्त किया और कहा कि राष्ट्रीय एकता को बनाए रखना सरकार और जनता दोनों की सामूहिक जिम्मेदारी है। अतः दोनों ने सहयोग से इस दिशा में कदम उठाना चाहिये।

परिषद् ने देश की जनता के सभी वर्गों, समस्त राजनीतिक दलों, स्वैच्छिक संस्थाओं और समाचारपत्रों से अपील की कि वे साम्प्रदायिक दुर्भावनाओं और क्षेत्रीय संकीर्णताओं को किसी प्रकार का बढ़ावा न दें तथा उनके विरुद्ध कार्रवाइयों में सहयोग दें।

परिषद् ने निर्णय किया कि सरकार को, क्षेत्रीय भावनाओं को भड़काने वाली देश के विभिन्न भागों में 'सेनाओं' के नाम पर स्थापित संगठनों के विरुद्ध कड़ी कार्यवाही करनी चाहिए। तदर्थ गठित समिति ने अपनी रिपोर्ट में उक्त सुझाव दिया था जिसे परिषद् ने स्वीकार कर लिया।

परिषद् ने यह फैसला किया कि साम्प्रदायिक हुरकतों को दण्डनीय घोषित किया जाए और इस सम्बन्ध में सरकार से सिफारिश की गयी है कि इस निर्णय को अमल में लाने के लिये वह भारतीय दण्ड विभाग (I. P. O.) की धारा 153 में यथा-

योग्य संशोधन करे। परिषद् ने यह भी फैसला किया कि साम्प्रदायिक आरोपों में अभियुक्त को प्रतिनिधित्व के अधिकारों से भी वंचित कर दिया जाए। एकता परिषद् ने आन्ध्र प्रदेश के मुख्यमंत्री श्री ब्रह्मानन्द रेड्डी की अध्यक्षता में गठित समिति की रिपोर्ट पर विचार करने के बाद उपरोक्त निर्णयों के अतिरिक्त यह भी फैसला किया कि साम्प्रदायिक प्रचार पर हर तरह की रोक लगाई जाए, साम्प्रदायिक उत्तेजना पैदा करने वाले समाचारों का प्रकाशन रोकने के लिये कड़ी कार्यवाही की जाए और सरकारी परामर्शों के बावजूद अगर कोई समाचारपत्र ऐसे समाचार प्रकाशित करता है और उसे सजा मिलती है तो उसके बाद उस समाचार पत्र को विज्ञापन और अखबारी कागज का कोटा बन्द कर दिया जाए। परिषद् ने यह भी फैसला किया कि किसी धार्मिक स्थान पर कोई राजनीतिक सभा न की जाए। ब्रह्मानन्द रेड्डी-समिति ने अपनी रिपोर्ट में साम्प्रदायिकता को रोकने के लिये कहा था कि केन्द्र और राज्य-स्तरो पर विशेष गुप्तचर विभाग की स्थापना की जाए और उसके सदस्यों को विशेष प्रशिक्षण देकर तैयार किया जाए। जिला-स्तरो पर इन गुप्तचरों का सम्बन्ध जिला मजिस्ट्रेट और पुलिस सुपरिटेण्डेंट से हो और वे निरन्तर उस सम्बन्ध में उन अधिकारियों को रिपोर्ट दिया करें। साम्प्रदायिक शान्ति की जिम्मेदारी जिला मजिस्ट्रेट की होनी चाहिये और उन्हें अधिकार मिलना चाहिये कि इसके लिये वे जैसा उपयुक्त समझें तत्काल करें।

6. राष्ट्रीय एकता परिषद्, 1969—सितम्बर 1969 में राष्ट्रीय एकता परिषद् की स्थायी समिति ने गुजरात में हुए गम्भीर साम्प्रदायिक दंगों की स्थिति पर विचार किया। स्थायी समिति ने सभी राजनीतिक दलों से अनुरोध किया कि वे साम्प्रदायिक मेल-मिलाप तथा आपसी सहयोग हेतु जन-अभियान चलाएँ।

7. राष्ट्रीय एकता परिषद्, 1970—नवम्बर 1970 में प्रधानमंत्री की अध्यक्षता में दिल्ली में परिषद् की स्थायी समिति की बैठक हुई। साम्प्रदायिकता के विरोध में एक 'संगठन समिति' का निर्माण किया गया। समिति का सुझाव था कि किसी भी प्रकार की साम्प्रदायिकता को बढ़ावा नहीं दिया जाना चाहिये और 'अल्प-संख्यकों की समस्याएँ' दूर की जानी चाहिए।

8. इन्सानी बिरादरी, 1970—अगस्त 1970 में एक गैर-सरकारी संगठन 'इन्सानी बिरादरी' का गठन किया गया। इस संगठन का अध्यक्ष श्री जयप्रकाश नारायण जी को बनाया गया। इस संगठन का बुनियादी उद्देश्य सहिष्णुता, भाईचारा तथा आपसी मेल-जोल की भावना विकसित करना था। इसका ध्येय साम्प्रदायिक और विघटनकारी तत्वों के विरुद्ध जेहाद छोड़ना था।

9. अखिल भारतीय साम्प्रदायिकता विरोधी समिति, 1970—श्रीमती सुभद्रा जोशी के नेतृत्व में इस समिति का गठन दिसम्बर 1970 में किया गया। जनवरी सन् 1974 के अपने छठे सम्मेलन में समिति ने यह सुझाव दिया कि साम्प्रदायिक संगठनों पर कानूनी प्रतिबन्ध लगा दिया जाए। समिति के विचार में शिव सेना, आनन्द मार्ग, जमायते इस्लामी आदि उग्र संगठनों पर प्रतिबन्ध अनिवार्य है।

निष्कर्ष (Conclusion)

उपरोक्त विवेचना से यह स्पष्ट है कि वर्तमान परिस्थितियों में भारत के लिये राष्ट्रीय एकता को बनाए रखने के महत्व को पूर्णतया स्वीकार करते हुये सरकार ने इस दिशा में कदम उठाये थे। पर दुःख की बात केवल इतनी ही है कि पिछले 30

वर्षों की अवधि में कांग्रेस सरकार द्वारा किए गए सभी प्रयत्न व्यावहारिक कम और सैद्धान्तिक अधिक थे। सरकार सम्मेलन आयोजित करने, एकता समिति गठित करने अथवा संगोष्ठी का आयोजन करने में ही अपना सारा उत्साह समाप्त करती रही। उधर उन सिफारिशों पर अमल शायद ही किया गया। वास्तव में ये सब रिपोर्टें तथा सिफारिशें सरकारी फाइलों में गूँ दब गईं कि उन्हें फिर सांस लेने तक का अवसर नहीं मिला। इस स्थिति को बदले बिना राष्ट्रीय एकता की वृद्धि एक दूर का सपना रहेगा।

कहने का तात्पर्य यह है कि राष्ट्रीय एकता-वृद्धि के लिये रचनात्मक प्रयास भी किया जाना चाहिये और इसका सबसे अच्छा माध्यम शिक्षा और चलचित्र है। सरकार इन दोनों साधनों का उपयोग भावात्मक एकता बढ़ाने के लिये कितना कर पाती है; यह पुनः देखने की बात होगी। इस देश की शिक्षा इस प्रकार की होनी चाहिये जो प्रत्येक बच्चे के मन में यह भावना दृढ़ करे कि वह सर्वप्रथम भारतीय है, उसके बाद और कुछ। जब इस देश के बच्चे भारत को अपना देश और धर्म को एक 'व्यक्तिगत' बात समझने लगेंगे तब साम्प्रदायिकता स्वतः ही समाप्त हो जायेगी। हमें नई पीढ़ी को यह बतलाना और समझाना है कि गैर-मुल्कों के प्रति वफादारी—चाहे वह पाकिस्तान के प्रति हो, चाहे लाल चीन के प्रति—ऊँचे दर्जे की गद्दारी है। ऐसी राष्ट्रीय भावना वाले बच्चे जब तरुण होंगे, तब साम्प्रदायिकता, क्षेत्रीयता और जातीयता की संकीर्ण भावनायें स्वतः ही समाप्त हो जायेंगी और राष्ट्रीय एकीकरण की प्रक्रिया पूर्ण होगी; सार्थक होगी। हम अपने देश के लिये जियेंगे और उसी देश के लिये ही मरना भी सीखेंगे। आइये, अपने राष्ट्रीय जीवन के उस मंगलमय दिन की हम सब लोग अधीरता से अपेक्षा करें।



